कहो व्यास, कैसी कटी ?

गोपालप्रसाद व्यास

मेरा मुझको अर्पण

प्राथमिकी

- आपुन मुख हम आपुन करनी
- यह विस्फोट अहम् का है
- तो सुनो मेरी कहानी

आपुन मुख हम आपुन करनी

कहते हैं वे कि आत्मकथा लिखना अत्यंत कठिन कार्य है।

मैं कहता हूं कि इससे सरल और प्रिय कार्य कोई दूसरा है ही नहीं। मैं-मैं करते जाओ, आत्मकथा बन जाएगी। मिर्च-मसाले लगाते चलो तो चटपटी हो जाएगी। कुछ काम-कथाएं गढ़ डालो, लोगों को स्वाद आने लगेगा। लिखो कि मैंने यह तीर मारा, वह तीर मारा। यह रिकार्ड तोड़ा, वह कीर्तिमान स्थापित किया। चंद असत्यभाषियों को छोड़कर अधिकांश लोग इसे सत्य मान लेंगे और आपके प्रति विनम्र एवं श्रद्धालु बन जाएंगे।

न बनें, न पढ़ें, न कहें—आपको तो आत्मसंतोष होगा ही। संतोष तुलसीदासजी को भी होगा कि लेखक ने 'तुम' की जगह 'हम' का प्रयोग करके उनकी चौपाई को धन्य कर दिया—

आपुन मुख 'हम' आपुन करनी।
वार अनेक, भांति बहु बरनी।।

जी, इस पुस्तक में मैंने यही किया है। अब आप कुछ भी सोचें और कुछ भी कहें। आप मानें या न मानें, मुझे तो प्रशंसा बहुत प्रिय है। कभी कुछ लिखता हूं तो यही लालसा रहती है कि इसे किसको सुनाऊं और किसको पढ़ाऊं ? मेरे लिए वह क्षण सबसे अधिक आनंददायक होता है, जब लोग कहते हैं—"वाह! वाह!! क्या शब्द-विन्यास है! कैसी अनुपम भावाभिव्यक्ति है! ऐसा ललित लेखन तो हिन्दी में आपके बाद ही समाप्त हो जाएगा।" जब किसी सभा में भाषण देता हूं तो मेरी कोशिश यही होती है कि तालियां बार-बार बजें। सिर्फ तालियों से भी संतोष नहीं होता। जो मिलता है, उससे पूछता हूं कि भाई, मेरा भाषण कैसा रहा ? ठीक था

न ? अगर वह मन-प्रसन्न बात कहे तो मेरा प्रिय और चुप रह जाए तो बुद्धू तथा मीनमेख निकाले तो उसका नाम भी अप्रिय लोगों की सूची में डाल देता हूं। ऐसा स्वभाव मेरा ही है, ऐसी बात नहीं। अपनी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न न होनेवाला व्यक्ति मुझे तो मिला नहीं। यह बात दूसरी है कि वह मुझसे भी अधिक गुरुघंटाल हो और प्रसन्नता के रस को मन ही मन पचा जाए। प्रशंसा के बल पर किस-किसने कितने काम निकाले हैं, यह कौन नहीं जानता ! और तो और, अब ईश्वर भी अपनी प्रशंसा सुनने का आदी हो गया है, तब मुझ जैसे की क्या औकात ?

यह पुस्तक भी मैंने प्रशंसा प्राप्त करने के लिए लिखी है। अब उतरती उम्र में और कर भी क्या सकता हूं ? चाहता हूं कि लोग आएं, कहें और लिखें मेरे संबंध में अपने प्रशंसनीय उद्‌गार। परंतु विडंबना देखिए कि मेरे जीते-जी लोगों ने मेरी प्रशंसा करना बंद कर दिया है। मेरे रहते ही मुझे भूले जा रहे हैं। तब मैं कालजयी कैसे बनूंगा ? मैंने तो समझा था कि मैं अमरता का वरदान लेकर अवतरित हुआ हूं। लेकिन ये क्या हो रहा है ? उठाओ कलम ! बताओ दुनिया को कि मैं क्या हूं ? भाई, मेरे रहते ही मुझको समझ लो न ! बाद में पछताओगे और लोगों से पूछते फिरोगे। जो गलती सूरदास, तुलसी, कबीर या दूसरे साहित्यकारों ने की है वह मैं नहीं करूंगा कि ये लोग अपने बारे में किसी को कुछ नहीं बता गए। इसलिए अब लोगों को माथापच्ची करनी पड़ रही है। ढूंढ़-ढूंढ़कर संबद्ध और असंबद्ध बातों के पोथे लिखे जा रहे हैं और उन पर प्रश्नचिन्ह लग रहे हैं। मैं इस संबंध में शुरू से ही सावधान रहा हूं। कोई माने या न माने, मैंने अपनी पुस्तकों पर अपने नाम से पहले प्रकाशकों को हास्य रसावतार लिखने दिया है। लोगों को टंडनजी का उत्तराधिकारी कहने दिया है। किसी ने मुझको ब्रज का भीष्म पितामह कहा तो मैंने सुझाया कि हो जाए इस पर एक उत्सव। मेरे जन्मस्थान को देखने के लिए लोग तीर्थयात्रा पर निकलें और उनको कुछ पता नहीं चले, मैंने इसलिए मित्रों से कहा कि बनाओ व्यास-जन्मस्थान। पधराओ ऊंचे शिखर के नीचे सरस्वती की प्रतिमा। कागज तो बहुत काले कर लिये, अब श्वेत पत्थरों को काला करो और जड़ दो इनमें मेरा जीवनवृत्त। मकान बनाओ पीछे, पहले लिख दो–'व्यास-निवास'। मैं बहुत शीघ्र महाकवि और महाप्राण बननेवाला हूं। संभालकर रखो मेरे जूतियां से लेकर टोपियां तक। चित्रों से लेकर पनडब्बे और पीकदान तक। देखो, ये अलभ्य वस्तुएं विदेश न चली जाएं। भारतीय संस्कृति और साहित्य की धरोहर देश में ही रहनी चाहिए।

हां, तो मैं कह रहा था कि आत्मकथा-लेखन बहुत सरल कार्य है। नाटक लिखो तो पहले रंग-सज्जा और मंच-निर्देशों के बारे में सोचो। किस पात्र को किस पात्र से कैसी भाषा बुलवानी है। उसकी कैसी सुगति या दुर्गति करनी है ? कब पर्दा उठना है, कब गिरना है ? किस समस्या को उभारना है ? लिखो तो उससे पहले यह सोच लो कि दर्शकों का उससे मनोरंजन भी होना चाहिए। हीरो कैसा हो, विलेन कैसा

हो, नायिका कैसी हो और प्रतिनायिका कैसी हो, उनकी वेशभूषा क्या हो और जब वे मंच पर उपस्थित होते हों तो उस कक्ष का या उस राह का वातावरण कैसा हो ? कितने झंझट हैं नाटक-लेखन में ? फिर नाटक लिखना ही पर्याप्त नहीं। उसका अभिनीत होना भी आवश्यक है। किसी नामधारी प्रकाशन से उसका छपना तो बहुत ही जरूरी है। नाटक छपा और पुरस्कृत न हुआ तो परिश्रम बेकार। करो जोड़-तोड़। मिलाओ कुलाबे। बनाओ अपनी खाल को मोटी जो पेशेवर नाट्य-समीक्षकों की नुक्स निकालनेवाले तीखे तीरों की बौछार को सह सके। इसीलिए हमने नाटक नहीं लिखे। नाटकीय बनाया अपने जीवन को ही नहीं, अपने लेखन को भी।

कथा-लेखन तो और भी दुष्कर कार्य है। पूर्ववर्ती और समकालीन कथा-लेखकों से अलग हटकर कुछ सोचो। परंपराओं को तोड़ने का साहस संजोओ। कथानक का ताना-बाना बुनो। समाज के अनमोल या बेमोल पात्रों का चुनाव करो। लिखने से पहले यह तय करो कि कहानी या उपन्यास कितने पृष्ठों के होंगे। उससे पहले तय करो उसकी प्रासंगिकता को, उसकी आंचलिकता को। बचो प्रेमचंद से। बचो वृंदावनलाल वर्मा से। बचो रेणु से। बचो अमृतलाल नागर से। भूलो जैनेन्द्र और अज्ञेय को। देखना कहीं तुम्हारे कथा-लेखन पर निर्मल वर्मा, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव या कमलेश्वर की छाया न पड़े। खबरदार यदि 'गुनाहों का देवता' पढ़ने का गुनाह किया ! याद रखो कि तुम्हारी तुलना देश के कथा-लेखकों से ही नहीं, पाश्चात्य कथा-लेखकों से भी की जाएगी। टालस्टाय तो अप्रासंगिक हो गए, लेकिन गोर्की की 'मां' अभी जिंदा है। मोपासां, समरसेट माम और कामू जैसे अनेक लेखक तुम्हारे लेखन के लिए खतरे बने हुए हैं। न बाबा, हमने ऐसी जोखिम नहीं उठाई। दूसरों की कहानी क्या लिखना ? लिखनी हो तो अपनी लिखो। झूठ के साथ थोड़ा सच मिलाओ। सपाट इतिवृत्त में साहित्य का रस घोलो। अपने जीवन के लालित्य को आपबीती में घोलकर कहो कि यह आपबीती ललित साहित्य की विधा में लिखी गई है। क्यों, ठीक है न ?

और कविता ! वह तो जी का जंजाल है। कविता जिसके जीवन में आई तो समझो कि वह आदमी नहीं रहा, कुछ और हो गया है। रात-रात भर तारे गिनकर तुकों और काफियों, प्रारंभ और क्लाइमेक्स के बारे में सोचता रहता है। रात अंधेरी हो तो उसकी कविता में अंधकार आ जाता है। चांद-तारों को देखकर उसके मन में तरह-तरह की तस्वीरें उभरती रहती हैं। दिन में वह पढ़ता नहीं, लिखता नहीं, कोई और काम करता नहीं। या तो किसी अनदेखी प्रेयसी के संबंध में दिवास्वप्न देखता रहता है या प्रतीकों और बिम्बों अथवा इनके मानवीकरण के संबंध में सोचता रहता है। बड़ी मुश्किल से कविता बन पाती है जो बिना जान-पहचान के या गुटों से संबद्ध हुए बिना पत्रों में छप ही नहीं पाती। पत्रों में छप जाए तो पुस्तकाकार नहीं हो पाती। पुस्तकाकार हो जाए तो बिक ही नहीं पाती। बिकती नहीं तो अर्थ

से भी गए और यश से भी। या तो आपस में तू मेरी पढ़ और मैं तेरी पढ़ता हूं की रीति पर चलो या मंचीय कवियों को कोसो। मंचीय कविता तो कविता रह ही नहीं गई। लिख मारी शताधिक कविताएं। सोचा, बड़ा तीर मार लिया। लेकिन धीरे-धीरे वे विस्मृति के गर्त में मेरे सामने ही विलीन होती जा रही हैं। लोग कहते हैं कि अब नया लिखो। पागल हैं–"आखिरी वक्त में क्या खाक मुसलमां होंगे ?'

इसीलिए हमने अपनी आत्मकथा लिखी है। फिर आत्मप्रशंसा करता हूं कि इसमें पग-पग पर कविता है। एक-एक लेख अपने-आपमें ललित निबंध है। हर लेख मेरी एक कहानी है। पूरी पुस्तक पठनीय नाटक है, समूचा उपन्यास है। भला-बुरा जैसा भी हूं, अपनी पूर्ण क्षमता से इस पुस्तक में हूं।

महर्षि चाणक्य ने कहा है कि जो अपने मुंह से अपनी प्रशंसा करता है, वह प्रशंसनीय नहीं है। प्रशंसा का पात्र तो वह है जिसकी तारीफ दूसरे लोग करें। चाणक्य यदि आज होते तो मैं उनसे कहता कि गुरुवर, प्रशंसा करनेवालों का युग समाप्त हो गया। आजकल निंदा-युग चल रहा है। अब प्रशंसा की नहीं जाती, कराई जाती है। मैंने जीवन-भर यह शुभ कार्य किया है। आपको तो चन्द्रगुप्त मिल गया, लेकिन मेरी प्रशंसा कराने की कला को सीखने और समझनेवाला अभी तक कोई नहीं आया किसी को आज किसी की प्रशंसा करने की फुरसत है ही कहां ? कोई हो तो उसे भेजो। नहीं तो यह पुस्तक भी मैंने लोगों से अपनी प्रशंसा कराने के लिए ही लिखी है। यह मेरी कला का प्रशंसनीय उदाहरण है। जो इसे पढ़कर प्रशंसा करने को बाध्य न होंगे तो मैं यही कहूंगा–"गुन न हिरानौ, गुन-गाहक हिरानौ है।" •

यह विस्फोट अहम् का

मेरी आत्मकथा 'सत्य के प्रयोग' नहीं है। न असत्य को गल्प रूप देनेवाली कोई सत्यकथा। 'विश्व इतिहास की झलक' भला मैं कैसे लिख सकता हूं ? 'मेरी कहानी' नेहरूजी की जुबानी भी नहीं है। न यह राम-कहानी है और न कृष्ण-कथा। आधुनिक साहित्य के नाम पर रोमांटिक काम-कथा भी नहीं है। यह तो एक कामगार की कहानी है। एक मसिजीवी लेखक के जीवन का लेखाजोखा है।

यह कहानी उस व्यक्ति की है जिसने बीस वर्ष की अवस्था तक बनियान का मुख नहीं देखा था। जब उसके पिता ने गौना करके अलग किया तो उसके पास केवल एक रुपये की पूंजी थी। जो एक रुपये माहवार के टूटी छतवाले कमरे में जाकर बसा था। यहीं उसकी मधुयामिनियां मनीं।

यह उस व्यक्ति की कहानी है जिसने चवन्नी से अपना रोजगार शुरू किया था। संयोग देखिए कि जब दिल्ली को चला तो टिकट के पैसे चुकाने के बाद उसके पास एक चवन्नी ही बची थी। उस व्यक्ति जैसे न जाने कितने लोग होंगे जो एक रुपये पर प्रतिदिन चार आने का ब्याज देते थे। मैं तो एक मुनीमजी से पर्चा लिखकर दस रुपये लेता और महीने-भर बाद पंद्रह लौटाता। लेना आसान था, पर देना बड़ा कठिन था। इस देनदारी में पत्नी के टूम-छल्ले तक चुक गए। खाना एक बार बनता था। बचा तो शाम को खा लिया, नहीं तो—हरिओम तत्सत ! मैं तो एक जोड़ा धोती-कुर्ते से काम चला लेता था, परंतु अठहत्थी धोती में पत्नी के लिए अपने अंगों को छिपाना मुश्किल हो जाता था। पीहर से प्राप्त बिछुओं की डंडियां टूट-टूट जातीं और उन्हें वे डोरों से बांध-बांधकर पहना करती थीं। पहली नौकरी आठ रुपये महीने की मिली। न-पानी के लिए बीस की आवश्यकता थी, तो चार-आठ आने पानी के और अंकों

के सट्टों पर लगाता। कभी बढ़कर मिल जाते, कभी डूब जाते।

लेकिन क्या मजाल कि मेरे या मेरे घर की हालत की भनक किसी को पड़ जाए। बाजार में अंगोछा पहनकर ताश खेलता। कहीं चौपड़ के फड़ जमते तो कहीं शतरंज की बिसात। सती बुर्ज पर रोज छनती। यमुना पार बगीची जाता। सूखे दंड पेलता। जिन-जिन दुकानों पर, मकानों पर, मंदिरों और मठों पर, घाटों के ठाठों पर और पेड़ों के सहारे कवियों की जमात जुड़ती तो ऐसी जोर-जोर से कविताएं पढ़ता जो फर्लांगों तक सुनी जा सकती थीं।

मेरे चाहनेवालों की शुरू से ही कमी नहीं रही। इत्रवाला मुफ्त में फोया देता। मालिन कलाई में खुशबूदार फूलों का कड़ा पहना देती। हलवाई कहते—गुपालजी, आज चमचम बढ़िया बनी है। चखकर देखो। मैं कहता कि पिताजी बाजार में खाता देखेंगे तो बरस पड़ेंगे। दो टुकड़े एक दोने में रख दो। एक मेरा और एक मेरी पत्नी का। मटके में भरा हुआ कुएं का जल। चमचम खाई और जल पिया—हो गई ब्यालू।

यह कहानी उस व्यक्ति की है जो स्टूल पर बैठकर आठ घंटे कंपोज करता। बगल से बहने वाली नाली की सड़ांध नाक से सीधे दिमाग तक पहुंचती। साथियों की परस्पर गाली-गलौज और अश्लील रसियों और लोकगीतों के टुकड़े सुनता। प्रतीक्षा करता रहता कि वेतन किस दिन मिलेगा और कितना मिलेगा। नेहरूजी अक्सर कहा करते थे—

"इस तरह तय की हैं हमने मंजिलें,
गिर पड़े, गिरकर उठे, उठकर चले।"

होंगे नेहरूजी बड़े बाप के बेटे, मैं भी किसी से कम नहीं था। घर में ओढ़ने-पहनने के कपड़े न के बराबर थे। लेकिन कंधे पर खादी के थान लटकाकर उन्हें बेचकर शाम को पैसे जमा कराया करता था। "घर में भूंजी भांग नहीं, कठौती में चून नहीं, पैसा-धेला पास नहीं, गोझा हिलावैं।" लेकिन कांग्रेस का मेंबर बनाने के लिए चवन्नियां इकट्ठा किया करता था।

मेरी कमाई का महीना वर्ष में एक बार आता था, तब जब रामलीला हुआ करती थी। तब छह आने या आठ आने रोज मुझे सीता-लक्ष्मण और राम बनने पर मिला करते थे। पहले तालीम में और बाद में लीला में जमकर खिलाई-पिलाई होती थी। एक महीने पहले से दूध बंध जाया करता था। आज इसके यहां तो कल उसके यहां स्वरूपों की पधरावनी होती थी। चकाचक भोजन और ऊपर से ताम्बूल तथा दक्षिणा भी। भरत-मिलाप और राजगद्दी के दिन जो आरती की थाली में पड़ जाए वह स्वामी का और जो स्वरूपों के हाथ में आ जाए वह उनका, इस प्रकार पच्चीस-पचास मिल ही जाया करते थे। साथ में बड़े-बड़े श्रीमंतों और साधु-संतों द्वारा चरणस्पर्श और जय-जयकार अलग से।

कविता शुरू की थी ब्रजभाषा से। नुमायश के कवि-सम्मेलन में तो एक रुपया

मिल गया, बाकी ठन-ठन पाल मदन गोपाल। आगरा में मुंशी प्रेमचंद के सान्निध्य में बच्चन के साथ कविता पढ़ी, मिला सिर्फ किराया। इंदौर से प्रकाशित होनेवाली 'वीणा' ने मेरी पहली चार व्यंग्य-विनोद की कविताएं लगातार छापीं, कैसा पारिश्रमिक! छप गईं यही क्या कम था ? कविता पर पहला पुरस्कार मिला पांच रुपये का दैनिक हिन्दुस्तान से। जब प्रति सप्ताह छपने लगीं तो मेहनताना हो गया तीस रुपये माहवार। कविता से मन तो भर सकता है, पेट नहीं भर सकता। पहला लेख छपा प्रयाग के देशदूत साप्ताहिक में। मनीआर्डर आया सात रुपये का। दूसरा छपा साप्ताहिक वीर अर्जुन में। मिले दस रुपये। तीसरा छपा दिल्ली के नवयुग साप्ताहिक में। पांच रुपये की वृद्धि हो गई, यानी कुल पंद्रह रुपये मिले। यह था उस समय के साहित्य-लेखन का हाल।

तव कुंजियां लिखीं। ट्यूशन किए। पहली पुस्तक निकली 'उन' का पाकिस्तान, लेकिन रायल्टी के नाम पर एक मीठी मुस्कान। हूं न कामगार और श्रमजीवी ! ऐसा कामगार जिसे कभी भरपेट सदाम काम नहीं मिला। ऐसा श्रमजीवी कि जिसने श्रम तो किया, लेकिन उससे जीविका नहीं चली।

ऐसे साधारण व्यक्ति की कहानी को लिखकर मैं असाधारण बनना चाह रहा हूं। इससे बढ़कर और गलतफहमी क्या हो सकती है ? गलतफहमी माने भ्रम। मेरी यह पुस्तक भी लोगों को भरमानेवाली है कि वैसा आदमी ऐसा हो सकता है ? अच्छा है, भ्रम बना रहे। कविता की दो पंक्तियां–

ब्रह्म नाम ही भ्रम का है,
यह विस्फोट अहम् का है।

और अहम् के बिना क्या व्यक्तित्व और क्या कृतित्व ? आत्मकथा तो बिना अहंता के लिखी ही नहीं जा सकती। इसीलिए संत-समीक्षक कह गए हैं कि आत्मकथा लिखना बहुत कठिन है। क्योंकि इसके लेखन में अहंकार से नहीं बचा जा सकता। मैं भी नहीं बचा। क्योंकि जब ढेर सारे अहंकार मेरे पास जमा हैं तो जाते-जाते मैं उन्हें आप पर क्यों न लुटा दूं ?

तो, सुनो मेरी कहानी

सुनेंगे, मेरी कहानी ? इतनी फुरसत है आपको ? लोग आम खाते हैं, पेड़ नहीं गिनते। अखबार पढ़ते हैं, लेकिन पत्र-पत्रिकाओं के लिए कितने लोग मर-खपकर नींव की ईंट बन गए हैं, इसे नहीं जानते। जानना कोई जरूरी भी नहीं। ताजमहल सुंदर है। कुतुबमीनार बहुत ऊंची है। चित्तौड़गढ़ का किला बड़ा विशाल है। ब्रह्मपुत्र नदी बड़ी लंबी है। प्रयाग में किले के नीचे यमुना बहुत गहरी है। इतना जान लेना ही क्या कोई कम है। दुनिया में एक-से-एक बड़े शिल्पी, चित्रकार, कवि, कलाकार और महापुरुष हो गए हैं। कौन इन्हें खोजे और कौन इनके करतबों पर जाए ? आज के आदमी को अपनी रामकहानी से ही फुरसत कहां है ? फिर मेरी कर्म-कहानी ! न मैं कोई बड़ा कवि, न उल्लेखनीय लेखक और न ही ऐसा पत्रकार कि जिसकी कलम ने कोई धुआंधार करिश्मा ही करके दिखा दिया हो, फिर ऐसी क्या मुसीबत आ पड़ी है कि मेरी कहानी आप सुनें-ही-सुनें ?

फिर भी सुन ही लीजिए। आखिर विविध भारती के गानों के बीच आप अवांछित विज्ञापन सुनते ही हैं। जनसभाओं में मनपसंद वक्ता से पहले, समय काटनेवाले नेताओं, उपनेताओं और भीड़ को बहलानेवाले जोकरों की तकरीर सुनने और देखने की भी तकलीफ आप गवारा कर ही लेते हैं। दावतों में मिष्ठान्न से पहले भांति-भांति के खट्टे-चरपरे और पेट-भराऊ पदार्थों से काम निकालते ही हैं। राम-राज्य की लालसा में स्वराज्य से पूर्व तथा स्वराज्य के बाद सब कुछ झेलते-सहते ही आए हैं, तो एक मुसीबत यह भी सही।

मेरी कहानी में शैतानों का जिक्र आएगा। लेकिन ये शैतान की आंत नहीं है। यह एक छोटे-से आदमी की छोटी-सी कहानी है। ऐसे आदमी की कहानी, जिसने

पढ़ाई की कोई डिग्री प्राप्त नहीं की। जो किसी बड़े बाप का बेटा, या किसी बड़े या मझोले नेता की पत्नी का सगा या मुंहबोला भाई भी नहीं। जिसका संबंध राजनीति के इस या उस दल के साथ भी नहीं जुड़ा। या जो स्वराज्य से पहले या उसके बाद किसी आंदोलन में जेल जाने का सर्टिफिकेट भी प्राप्त नहीं कर सका। हमारे देश में बिना जेल गए कोई बड़ा आदमी बना है ? बिना पद से हटे, या हटाए कोई चर्चित हुआ है ? पत्रकार तो हमारे देश में बस वही उल्लेखनीय होता है, जिसे या तो सरकार अपना ले, या उसे किसी महाशक्ति का प्रत्यक्ष या परोक्ष समर्थन प्राप्त हो। वह प्रायः नामधारी प्रधान संपादक होता है या मालिक संपादक या राजनीतिक दलों और विदेशी एजेंटों का चहेता। उसी की आजादी पर अखबार की आजादी निर्भर है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का आंदोलन भी सिर्फ इसी वर्ग के लिए है। अगर मैं वह हो गया होता, तो मेरी कहानी भी कहने और सुनने योग्य बन जाती।

मैं आपको अच्छी तरह जानता हूं कि आप ऐसे रोग के रोगी हैं, जो अपना ध्यान एक जगह केंद्रित नहीं कर सकते। दैनिक पत्रों, साप्ताहिकों और मासिकों में आपकी रुचि सिर्फ इतनी ही रह गई है कि चलते-फिरते उनके शीर्षक देख लिए, कला के नाम पर कोई नंगी-अधनंगी तस्वीर मिली तो उसे घूर लिया, कहीं कोई निंदा-रस प्राप्त हुआ तो उसकी चुस्की ले ली और जुट गए बैल की तरह जीवन के कोल्हू में। मरीज अच्छा हो या न हो, मरे या तड़फड़ाता रहे, मेरे हाथ कलम का इंजेक्शन लग गया है, मैं उसे आपके टोकूंगा ही। क्योंकि मैं यह भी जान गया हूं कि आपकी सहनशक्ति बड़ी अद्भुत है। कितनी महामारियां इस देश में आईं, आप बच ही गए। हर साल सूखा, बाढ़, लू और शीतलहर आती है और चली जाती है, फिर भी आप जिंदा हैं। अन्याय, जुल्म और सितम तो आप हजारों वर्षों से सहते रहे हैं। आपने अंग्रेज भी सहे और अंग्रेजी भी सह रहे हैं। आपको पराधीनता का भी अहसास है और आज की स्वतंत्रता का भी, आपात्काल में भी आप शांत रहे और महंगाई, मुद्रास्फीति तथा लूटमार और बलात्कार भी आपको क्लांत नहीं कर सके हैं। आपकी स्थितप्रज्ञता को नमस्कार करते हुए मैं अपनी कलम उठा रहा हूं।

फिर कहीं आप दोष निकालने लगें, इसलिए पहले स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि पढ़ाई के नाम पर मुझे मिडिल का भी सर्टिफिकेट प्राप्त नहीं। न मैंने पूरी तरह गांधी को पढ़ा है और न मार्क्स को। पूंजी एकत्र करने की तमन्ना आपकी तरह मेरे मन में भी अवश्य रही है, लेकिन न मेरे पास साहित्य की पूंजी है और न पूंजीवाद का तत्त्वज्ञान ही है। पंडितजी के घर में पैदा हुआ हूं, पर संस्कृत का पंडित नहीं। मुस्लिम जनसंपर्क साधा है, लेकिन उर्दू अदब में मेरी पैठ नहीं। बाबू श्यामसुंदर दास, बी. ए., बाबू गुलाबराय, एम. ए. और अंग्रेजी पढ़ाते-पढ़ाते हिंदी के डॉक्टर बने नगेन्द्र के साथ मेरी अच्छी-खासी बनी है। पत्रकारिता के पच्चीसों प्रकाश स्तंभों जैसे नेशनल हेरल्ड के चलपति राव, हिंदुस्तान टाइम्स के दुर्गादास, इंडियन एक्सप्रेस के मुलगांवकर,

टाइम्स ऑफ इंडिया के श्यामलाल एवं कार्टूनिस्ट शंकर, अहमद, संतानम कृपानिधि, कल्हण और श्यामाचरण काला आदि से मेरी भेंट कामचलाऊ रही है। मेरे अंग्रेजी अज्ञान को दूर करने के लिए संपादक शिरोमणि पं. बनारसीदास चतुर्वेदी ने एक नुस्खा तजवीज किया था कि मैं किसी एंग्लो-इंडियन लड़की से दोस्ती कर लूं, तो मेरी अंग्रेजी फर्राटेदार बन जाएगी, लेकिन इसका भी डौल नहीं बैठा।

मैं क्या हूं, इसे आप पहले अच्छी तरह से जान लें। साहित्यकार मुझे पत्रकार समझते हैं और वे पत्रकारिता को साहित्य नहीं मानते। पत्रकार मुझे साहित्यकार मानते हैं। उनका निश्चित मत है कि साहित्यिक भाषा, कला-कल्पना की उड़ान और खयाली दुनिया का आदमी, पत्रकारिता के लिए 'मिसफिट' है। इतना ही नहीं, कांग्रेसी मुझे भूतपूर्व जनसंघी समझते हैं। जनसंघियों का कहना है कि हम धोखा नहीं खा सकते, यह ऊपर से नीचे तक कांग्रेसी है। समाजवादी कहते हैं कि मैं 'टंडनाइट' हूं और 'टंडनाइट' कहते हैं कि भाषा के मसले पर यह लोहियावादी है। साम्यवादी समझते हैं कि मैं पूंजीपतियों का एजेंट हूं और पूंजीपतियों ने यह खबर खोज निकाली है कि मैं मुंशी प्रेमचंद के जमाने से ही प्रगतिशील लेखक संघ से कभी सीधा और कभी तिरछा संबद्ध रहा हूं। आज के लेखक मुझे पुराणपंथी या रीतिकालीन कहते हैं और पुराने लेखक यह मानते हैं कि मैं सींग कटाकर नये बछड़ों में शामिल होने का प्रयत्न करता रहा हूं। बात यहीं तक होती तो गनीमत थी। ब्रजवासी कहते हैं कि मैं ब्रज का हूं। राजस्थानी मानते हैं कि गौड़ ब्राह्मण और व्यास तो राजस्थान से गए हैं। आगरा, इटावा, इलाहाबाद और बनारस जहां-जहां मैं थोड़े-बहुत दिन रहा हूं, वे मुझे दिल्लीवासी मानने के लिए तैयार ही नहीं। दिल्ली के दिलवाले लोग तो अब मुझे दिल्लीवाला ही कहने लगे हैं। यानी एड़ी से लेकर चोटी तक मैं विवादग्रस्त आदमी हूं। यदि विवादग्रस्तता अपने-आपमें कोई गुण है, यदि नहीं है तो वह मान ली जानी चाहिए, तो निस्संदेह मैं गुणी आदमी हूं। क्योंकि यदि मैं गुणी नहीं होता तो अपने लेखन और करतबों से लाखों-लाखों नर-नारियों को कैसे मूर्ख बना सकता था ? कोई-न-कोई करामात मुझमें है अवश्य। इसी करामात को एक कथा के रूप में प्रस्तुत करने जा रहा हूं।

लेकिन ठहरिए, एक बात और सुन लीजिए। पिताजी मुझे संस्कृत का पंडित और मर्यादी वैष्णव बनाना चाहते थे। नहीं बना। ब्रज के महान संगीतज्ञ ग्वारिया बाबा मुझे संगीत, नृत्य और नाटक में पारंगत देखना चाहते थे। उनकी साध पूरी नहीं हुई। भारत प्रसिद्ध चंद्रसेन उर्फ 'भौंरा' पहलवान ने मुझे अपना उत्तराधिकारी बनाने की ठानी थी, पर किसी से कुश्ती न हारनेवाले मुझसे हार गए। भारत प्रसिद्ध शतरंज मार्तण्ड कृष्णकवि ने मुझे बड़ी चालें सिखाईं, वे भी मात खा गए। चक्रधारी नागा बाबा हरिदास मुझे तलवार, बनैटी, धनुर्विद्या और लाठी भांजने में अपने अखाड़े का खलीफा बनाने चले थे। बेचारे खुद अखाड़ा छोड़ गए। बाबू

गुलाबराय, डा. सत्येंद्र, प्रो. प्रकाशचंद्र गुप्ता, नंददुलारे वाजपेयी और शांतिप्रिय द्विवेदी सोचते थे कि यह व्यक्ति हिंदी समीक्षा साहित्य में कुछ करके दिखाएगा, उनकी आशाओं पर भी तुषारापात हो गया। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार और 'रसाल' जी सोचते थे कि मैं ब्रजभाषा और ब्रज साहित्य के लिए निश्चय ही कुछ कर पाऊंगा, वह भी संभव नहीं हुआ। बन गया मैं लुढ़कते-लुढ़कते, उठते-गिरते, घिस-पिटकर मन से कवि, ललक से लेखक और कर्म से पत्रकार।

कभी सोचा भी नहीं था कि मैं अपनी आपबीती लिखूंगा। वह तो भाई धर्मवीर भारती ने शुरू करा दी–7 जून, से मेरे सात लेख लगातार 'धर्मयुग' में छापे। उनके बाद श्रीगणेश मंत्री आए तो उन्होंने भी धर्मयुग के लिए पांच लेख मांग लिये। इन्हें देखकर कुछ अन्य पत्र-पत्रिकाओं ने भी मुझसे संस्मरण चाहे। इस तरह पूरे बारह वर्षों में एक-एक करके, समय निकाल-निकालकर मैंने इस आपबीती को 'कहो व्यास, कैसी कटी ?' के रूप में पूरा किया है। क्योंकि ये निबंध अलग-अलग लिखे गए हैं, इसलिए घटनाओं और व्यक्तियों की चर्चा और पुनरावृत्ति आपको देखने को मिलेगी। जब इसे पुस्तकाकार करने का विचार मन में आया तब तक स्मृति तो जाग्रत् थी, लेकिन सन्-संवत् और व्यक्तियों के नाम कभी-कभी तो बहुत सोचने पर भी याद नहीं आए। यह बात आपको खटक सकती है।

एक बात और–यह पुस्तक बोलकर लिखवाई गई है। इसलिए बोलचाल की भाषा का मजा इसमें है। जब जो शब्द मन में आया वही लिखवाया। वह चाहे ब्रज का हो, हिन्दी का हो, उर्दू का हो या अंग्रेजी का। वैसे भी मैं यह मानता हूं कि शब्द-संपदा को एकत्र करने के मामले में उदारता बरतनी चाहिए। यह भी मानता हूं कि हिन्दी भाषा को बहुभाषाओं के प्रचलित शब्दों से संपन्न होना जरूरी है।

एक बात और बता दूं कि इन बारह वर्षों में मेरे बोले को लिखनेवाले बार-बार बदले हैं। मेरे लिखियाजनों की श्रेणी में कुमारी भी रही हैं और श्रीमती भी। कुछ ने कहने पर लिखा है और कुछ ने कर्तव्य मानकर रस लेकर लिखा है। महत्त्व व्यास का ही नहीं, सरस्वती और गणेश का भी है। मेरा एक स्वभाव यह भी है कि मेरा लिखिया प्रबुद्ध और आत्मीय होना चाहिए। यह प्रबुद्धता और आत्मीयता मुझे इस पुस्तक को अंतिम रूप देनेवाले श्री देव राजेन्द्र से मिली है। गलतियां आप उनके खाते में डालिए और गुन-औगुन मेरे मत्थे मढ़िए। बहुत हो गया, अब पुस्तक पढ़िए!

–गोपालप्रसाद व्यास

क्रम

प्रथम उल्लास

चंद्र सरोवर से चांदनी चौक तक

द्वितीय उल्लास

मेरी कविता-यात्रा

तृतीय उल्लास

कंपोजीटर से संपादक तक

चतुर्थ उल्लास

वंदे ब्रज वसुंधराम

पंचम उल्लास

झोले से हिन्दी भवन तक

षष्टम उल्लास

ओम शांति

प्रथम उल्लास

चंद्र सरोवर से चांदनी चौक तक

जन्मभूमि नमोस्तुते !

मेरा जन्म देश की सुरम्य पुण्यस्थली व्रजभूमि में हुआ। अगर जैसलमेर के किसी प्यासे, उड़ीसा के किसी भूखे और धुर दक्षिण के किसी बेहाल गांव में होता तो मैं क्या कर लेता ? मुझे ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक कालजयी कृष्ण द्वैपायन व्यास का वंशधर कहलाने का अवसर मिल गया। न मिलता तो मैं क्या कर लेता ? मैं हरिजन, गिरिजन, आदिवासी या किसी अनुसूचित जाति में पांचवां, छठा या आठवां फटेहाल पुत्र भी तो हो सकता था ! अल्लाताला मुझे किसी मुसलमान के घर में भी तो पैदा कर सकता था। ईसाई-परिवार में जन्म लेने पर भी कोई पाबंदी नहीं थी। तब मेरे आचार-व्यवहार, संस्कृति और धर्म संबंधी मान्यताएं वही नहीं होतीं, जो आज हैं। तब शायद मैं अपने सम्प्रदाय को ही सर्वश्रेष्ठ समझता और विधर्मियों को काफिर, अंधविश्वासी, अशिक्षित और बेवकूफ कहने में शायद औरों से भी अधिक गर्व का अनुभव करता। यह भाग्य का खेल है या पूर्वजन्म में अर्जित कर्मों का प्रतिफलन है अथवा मानवता की यह विकृति है, जिसने मनुष्य जाति को फिरकों, कबीलों और सम्प्रदायों में बांटकर एक-दूसरे का शत्रु बना दिया है। कभी-कभी मैं सोचता हूं कि आज का कट्टर हिन्दू, यदि अगला जन्म मनुष्य जाति में होना तय है, मुसलमान परिवार में ले तो वह बकरीद पर कुर्बानी के लिए बेजुबान पशुओं की बलि भी दे सकता है और हिन्दुओं को नापाक समझने वाला मुसलमान कल हिन्दू के घर में जन्म ले ले तो क्या वह प्रेम-मग्न होकर 'जय जगदीश हरे !' गाता हुआ किसी मूर्ति की आरती नहीं उतारेगा ? लोग इतनी दूर की बात नहीं सोचते। वे तो आज की दुनिया के राग-द्वेष, आडंबर, पाखंड आप्तवाक्य और फतवों में ही फंसे रहते हैं। निष्ठा ने कट्टरता का स्थान ले लिया है। धर्म ईश्वर-प्राप्ति का साधन नहीं, अहंकार और स्वार्थों के पोषण का माध्यम बन गया है। कभी-कभी मैं सोचता हूं कि धर्म बांधनेवाला है या मुक्त करने वाला ? मैं तो यह मानता हूं कि अपनी आत्मा को जानना ही परमात्मा को पहचानना है और मानवता से बढ़कर इस जगत में कोई धर्म नहीं है। सब धर्मों का निचोड़ भी यही है।

•

पर छोड़ो इसे। प्रवचन करना मेरा उद्देश्य नहीं है। हां, तो मैं कह रहा था कि मेरा जन्म ब्रज में हुआ। वृहत्तर ब्रज में नहीं, चौरासी कोस में। ब्रज चौरासी कोस में तो सैकड़ों गांव, कस्बे और नगर हैं। मैं तो अंतरंग ब्रज में पवित्र गिरि-गोवर्धन की सप्तकोसी परिधि में, किसी ऐसी-वैसी जगह नहीं, वहां पैदा हुआ जहां पाराशर ऋषि ने तपस्या की थी। जहां सत्यवतीनंदन व्यासजी महाराज का लालन-पालन और प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा हुई थी। जो कभी पलाश वृक्षों की अरुणाई से सुशोभित होने के कारण पलाशपल्ली बन गया होगा। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने इसे श्रीकृष्ण की परम रासस्थली माना। परम रासस्थली ही बाद में परासौली कहलाया। आज भी जहां न कोई मस्जिद है और न मुसलमान, लेकिन मथुरा, वृंदावन की तरह इस गांव का भी मुसलमानों के शासनकाल में नाम मुहम्मदपुर या महमदपुर कर दिया गया। मथुरा, वृंदावन आदि के नाम तो अपने पूर्व रूप में आ गए, लेकिन परासौली या परम रासस्थली अथवा आदिवृंदावन अभी तक आक्रांताओं की बर्बर यादों को अपने सिर पर ढो रहा है।

ब्रज में अनेक कुंड, सरोवर और एक से एक सुंदर जलाशय हैं, परंतु मेरी जन्मभूमि की चन्द्र सरोवर का अठपहलू स्थापत्य, इसका जलमहल, इसका निर्मल जल, सरोवर के बीच में यदाकदा फूटनेवाली दूध की धारा और उसके जल तथा निकटवर्ती क्षेत्र पर जब-तब चंदन की बूंदों की वर्षा अलौकिक और आश्चर्यजनक है। यह कोई प्राकृतिक चमत्कार है या इसके आदिवृंदावन होने का प्रमाण है ? कोई पता लगाए।

मैंने तो इसके निकट मुगलकालीन ककइया ईटों से बनी सूरकूटी का पता लगाया है ? पता तो लोगों को पहले भी होगा, पर उसे प्रचारित करने और मान्यता दिलाने में मेरा थोड़ा-बहुत हाथ रहा है। उत्तर प्रदेश सरकार से उसका जीर्णोद्धार कराया है। वहां प्रतिवर्ष वैशाख शुक्ला पंचमी को सूर-जयंती मनाने की परंपरा डाली है। वहां सूरदास के नाम पर एक विद्यालय की स्थापना में भी सहयोग दिया है। सूरदासजी की बावड़ी, सूरदास का बाग, कुंभनदास की कदमखंडी और बाजनी शिलाएं, जिन्हें ग्रामवासी इन्द्र के नगाड़े कहा करते थे, को देखा है। उस मार्ग पर भी चला हूं, जहां से सूरदासजी प्रतिदिन गोवर्धन पर्वत स्थित श्रीनाथजी के मंदिर में कीर्तन करने जाया करते थे। गांव के बीचों-बीच अब मेरे जन्मस्थान पर एक ऊंचे शिखरवाला सरस्वती मंदिर भी बन गया है। यहां विराजमान सरस्वती की प्रतिमा अपने शाश्वत वीणावादिनी के रूप में नहीं, ब्रज के अलौकिक वाद्य बांसुरी को धारण किए हुए है। मंदिर के द्वार पर लिखा हुआ है–

शंभु यहां नाचे, ब्रह्मा वेदपाठ भूल गए,
देवता चकित, भूले इन्द्र प्रभुताई है।
चन्द्रमा सरोवर भौ, नखत प्रसून भए,
रवि-रथ थाक्यौ, रैन भई छैमाही है।
इत-उत गोपी, बीच-बीच कृष्ण परब्रह्म,
रास-रस-राच्यौ 'व्यास' बरनि न जाई है।
शरद जुन्हाई, आई शारदा ब्रजांगन में,
बीनावादिनी नैं यहां बांसुरी बजाई है।

अब मेरा गांव और मेरा ब्रज वैसा नहीं रहा, जैसा मैंने बचपन में देखा था। छोटे-मोटे कुंड-सरोवरों के नामोनिशान मिट गए और अब वहां खेती होती है। गायों का स्थान भैंसों ने ले लिया है। लोग दूध पीते नहीं, बेचते हैं। न गोचर रहे हैं और न वे बड़े-बड़े वट-वृक्ष जिनके नीचे गायें विश्राम किया करती थीं। पहले हर किसान के पास एक गौथ हुआ करता था, जिसमें गायें बंधती थीं और उपलों के बड़े-बड़े बिटौरे बनाए जाते थे। वहां अब पेड़ों और पोखरों को काट-पाटकर लोगों ने अपने कच्चे-पक्के मकान बना लिए हैं। चौपालें खत्म हो गईं। झांझ, मृदंग, अलगोजे और नगाड़े विदा हो गए। सड़कें नंगी पड़ी हुई हैं। जलाशयों में कमल-कुमुदिनी के स्थान पर काई, सिवार और जलकुंभियां छाई हुई हैं। पुरातात्विक महत्त्व के महलों, मंदिरों और धर्मशालाओं को लोगों ने अपनी जागीर बना लिया है। पंचायतों में रोज झगड़े होते हैं। दुथोकी होती है। जरा-जरा-सी बातों पर लोगों के हुक्का-पानी बंद कर दिए जाते हैं। हरिजनों और जाटवों के साथ जो भाईचारा था, उसने घृणा का रूप ले लिया है। खेती की उपज बढ़ी है, लेकिन लोगों में मेलजोल का माद्दा जाता रहा है। राग-रंग, रसिया और मस्ती में झूमता ब्रज आज ईर्ष्या, कलह, आपाधापी और अहमन्यता का शिकार बन गया है। ब्रज की सुंदर, नृत्य-गीत में प्रवीण और नारी-स्वातंत्र्य का आदिकाल से उपभोग करनेवाली नारियों की स्थिति आज बद से बदतर होती जा रही है। न उन्हें भरपेट खाना मिलता है और न कपड़े। शिक्षा-प्रसार के इस युग में कन्याओं के शिक्षा-संस्कार की किसी को फिक्र नहीं है। स्वतंत्रता के बाद गांवों में गंदगी, बीमारी और छोटी जातियों तथा छोटे किसानों की बेरोजगारी इतनी बढ़ी है कि लिखते कलम कांपती है। पढ़े-लिखे लड़के या तो आवारा हो गए हैं या शहरों में भाग गए हैं। दहेज का अभिशाप तो जितना आज ब्रज के गांवों में व्याप्त है, उतना बड़े-बड़े नगरों में भी नहीं। तोल-तोलकर रुपये दहेज में दिए जाते हैं। पंसेरी को अब कोई नहीं पूछता। दस सेर, मन-भर, ढाई मन सिक्कों की बोरियां बेटियों के ब्याह में पालकियों के साथ लाद दी जाती हैं या उनके बदले करेंसी नोट चुपके से सरका दिए जाते हैं। अब मृतक-भोज में कोई बारह बामन करके संतुष्ट नहीं होता। होड़ लगी है, उसने अपने बाप के मरने में पूरा गांव जिमाया था तो मैं पांच गांव जिमाऊंगा। उसने पांच गांव जिमाए थे तो मैं दस जिमाऊंगा, चौबीसी करूंगा, चालीसी करूंगा। अच्छे कपड़े नहीं पहनेंगे। अच्छा खाना नहीं खाएंगे। बच्चों को अच्छी शिक्षा नहीं देंगे। लेकिन दरिद्र दिखाई देनेवाले इन ग्रामवासियों पर करनी-कारज के समय रुपया कहां से आ टूटता है, इसे या तो खर्च करनेवाले जानें या उनका भगवान। यह हालत ब्रज की ही नहीं, कदाचित समूचे भारत की है।

पर तब मेरा गांव ऐसा नहीं था। हमारे गांव में दूध बेचने का रिवाज नहीं था। हर घर में छाछ बनती थी। पानीवाली नहीं, मक्खनवाली। सुबह खेतों पर जाने से पहले लोग छाछ के साथ 'महेरी' (जौ आदि से बना पौष्टिक तरल आहार) का कलेऊ करते थे और रात को कांसे की थाली भरकर गेहूं या बाजरे का दलिया तथा उसके ऊपर लबालब निपनिया दूध, खाते नहीं थे, पी जाते थे। एक से नहीं झिके तो एक और। मेरी दादी सवेरे मुझे अंगीठी में भुने दो 'अंगा' (नान जैसा) और उन पर ताजा मक्खन कलेऊ में दिया

करती थीं। रात को खाने में अन्न नहीं देती थीं। कहती थीं कि जितना पी सके उतना दूध पी ले। रोता-मचलता तो पेट पर छोटे-छोटे दो परांठे बांध दिया करती थीं। कहतीं—नींद खुले और भूख लगे तो खा लेना। पर कैसा नींद का खुलना। आंख लगी और सवेरा हो जाया करता था।

गांव में शायद कोई आदमी ऐसा होगा जो छह फुट से लंबाई में कम हो। तना हुआ वक्ष, गोलाकार पुष्ट जांघें, बड़ी-बड़ी आंखें और घुटनों को छूते हुए लंबे-लंबे हाथ। मंगनी ताऊ के हाथ तो इतने लंबे थे कि लोग कहते थे कि हम तो कपड़ा मंगनी ताऊ के हाथों से नापकर ही खरीदेंगे। जमीन और खेतों की नपाई भी मंगनी ताऊ के हाथों से हुआ करती थी। मंगनी ताऊ बड़े गुनी थे। जड़ी-बूटियों और औषधियों का उन्हें बड़ा ज्ञान था। उनके पास एक ऐसी दवाई थी, जिसे वह संजीवनी कहा करते थे। आदमी मर रहा हो और उसका बोल बंद हो गया हो तो उसे चटाकर उसकी वाक्-शक्ति को वह दस-पंद्रह मिनट के लिए जाग्रत कर दिया करते थे। तब मरणासन्न व्यक्ति यह बता दिया करता था कि रुपये कहां गड़े हैं ? किससे क्या लेना है और देना है ? और बच्चो, बंटवारा इस तरह करना। मंगनी ताऊ पढ़े-लिखे नहीं थे, लेकिन उन्हें परंपरागत वैद्यक का अद्भुत ज्ञान था। उन जैसा नाड़ी विशेषज्ञ आसपास के गांवों में कोई नहीं था। रोगी की नब्ज पर हाथ रखकर वह बता दिया करते थे कि वह इतने दिन, इतने घंटे और इतने मिनट बाद देह छोड़ देगा। उनकी भविष्यवाणी पत्थर की लकीर हुआ करती थी। होली और फूलडोलों के मौकों पर मंगनी ताऊ बड़ी-बड़ी 'बम्बों' (विशाल नक्कारों) को रात-रातभर बजाया करते थे। उन्हें भजन, जिकरी, रसियें आदि बड़ी संख्या में याद थे। मैंने उनका संग्रह करके डॉ. सत्येन्द्रजी को एक बार दिया था।

हमारे गांव में सांप बहुत निकलते थे। लेकिन मंगनी ताऊ के जीवित रहते सांप के काटने से किसी की मृत्यु नहीं हुई। सांप काटे की खबर सुनते ही वह सौ काम छोड़कर दौड़े आते। पहले अपनी पगड़ी उतारकर जगह-जगह कसकर बंधेज बांधते। फिर जितना घी मिल जाए उतना उसे जबरन पिला देते। घी पिलाकर सीधे जंगल की ओर दौड़ जाते। वहां से एक रूखड़ी उखाड़कर लाते। उसे घिसकर काटे हुए स्थान पर चिपका दिया करते थे। देखते-देखते रूखड़ी फूलती, नीली कच्च पड़ जाती और जहर चूस लेने के बाद खुद-ब-खुद छूट जाती। तब मंगनी ताऊ उस घाव पर घी का फाहा चढ़ाकर पट्टी बांध दिया करते थे। इसके एवज में बंदरों को चने और गुड़, गायों को घास और चन्द्र सरोवर के तट पर भजन करते हुए महात्माओं को 'सीदा' (खाने-पीने का कच्चा व सूखा सामान) पहुंचवा दिया करते थे।

गांव के लोगों में तब कुश्ती-कसरत का बड़ा शौक था। अखाड़ा था। हनुमानजी की मूर्ति थी। बड़े-बड़े मुदगर थे। पांच मन, ढाई मन और उससे छोटी 'नालें' (चक्की के पाटनुमा भारी पत्थर जिसके बीच पत्थर का डंडा लगा होता था) जगह-जगह रखी रहती थीं। लोग उन्हें टांगों के बीच झुला-झुलाकर सिर के ऊपर तक तान दिया करते थे। जलसिंह बाबा का तो कहना ही क्या था ! वह मुंह में अंगोछा दबाकर, दांतों से पकड़कर ढाई मन की नाल को ऊपर तानते और थूक की तरह उसे पांच-सात हाथ दूर फेंक दिया करते थे।

कुश्ती-कसरत करने वाले नौजवानों के लिए उनके घरवाले अलग से एक-एक भैंस बांध दिया करते थे। उन भैंसों का दूध वे दुहकर नहीं, थनों से मुंह लगाकर चूस जाया करते थे। धुलेंड़ी के दिन कुश्तियां होती थीं। फाले कूदे जाते थे। जीतनेवालों को सिर्फ एक लंगोट ईनाम में दिया जाता था। कुश्तियों के बाद लोग गाते-बजाते गांव की परिक्रमा को निकलते थे। जब हमारे घर की ओर आते तो सामनेवाले बड़े चौक में एकत्र हो जाते थे। नृत्य-गान का समां बंध जाता। हमारी दादी (आनंदी) पखवाड़ों से इनके स्वागत की तैयारी में जुट जाती थीं। पापड़ी, सैंलडू और गुंझिया परातों में भर-भरकर तैयार रहते थे। उन्हें गांव के हुरिहारों को बांटा जाता। हमारे घर-परिवार को आशीष देकर टोली आगे बढ़ जाया करती थी।

होली हमारे गांव का विशेष त्यौहार था। यह पूरे एक महीने तक चलता था। रात-रात भर नक्कारों, ढोलकों और मंजीरों की धुन पर कभी एकल, कभी जुगलबंदी में तथा कभी सामूहिक रूप में स्त्री-पुरुष मिलकर नाचा करते थे। इन दिनों मेरी मां का गांव में महत्त्व बढ़ जाया करता था। वह गाती ही नहीं, नृत्य भी बहुत अच्छा किया करती थीं। गांव के कम लोग ही उनके साथ उनकी तरह से नब-नवकर, लप-लपकर और घूम-घूमकर एक पैर से नाच पाते थे। वह नाचते-नाचते पीछे की तरफ झुककर अपनी चोटी को भूमि से छुआ देती थीं। गांव में एक ही आदमी (मुकद्दम) ऐसा था, जो एक-दो बार ऐसा कर पाता था। मेरी मां राधाकुंड के सुप्रसिद्ध रासधारी नंदन गिरिवर की बड़ी बेटी थीं। नृत्य-संगीत उन्हें विरासत में मिले थे। थीं तो पतली-दुबली, लेकिन जब पनघट पर पानी भरने जातीं तो सिर पर तीन-तीन जेहर (मिट्टी के बड़े-बड़े घड़े) और उनके ऊपर पीतल का लोटा लेकर निकलती थीं। मेरे चाचाओं के विवाहों में उन्होंने बीस-बीस मन आटा पहले से पीस-पीसकर इकट्ठा कर लिया था। ज्यौनार के खातिर हलवाई के लिए तथा लोगों के पीने के लिए सुबह तीन बजे से उठकर तांबे-पीतल की बड़ी-बड़ी तामड़ियां पहले से ही भरकर तैयार कर देती थीं। तब पनिहारियां का रिवाज नहीं था। गांव की सभी औरतें अपनी देवरानी-जिठानियों के साथ मिलकर ऐसा किया करती थीं। एक गीत प्रचलित था–

गोरी-धन पानीरा कूं जाय,
याकी कमर लचोका खाय।
आगै जिठानी, पीछै दौरानी,
बीच में नागिन-सी लहराय
गोरी-धन पानीरा कूं जाय।

पर मेरी मां घर की अकेली बहू थीं। स्वाभिमानी भी थीं। उन्होंने अपने दमखम पर समूची गृहस्थी और ढोर-डांगरों को संभाला हुआ था।

कहां गए ब्रज के ऐसे गाते-नाचते गोपी-ग्वाल ? कुएं गए। पनघट गए। यह कहावत भी खत्म हो गई–"पनघट जाय वाकौ 'पन' घट जायगौ"। पनघटों के साथ अनेक रसीले प्रसंग जुड़े हुए हैं। गांव की महिलाओं के परस्पर बतियाने और सुख-दुःख की कथा कहने

के केन्द्र में थे ये पनघट। कहां गए ऐसे भोजनी लोग जो लड़की को विदा कराने दसईं पर जाते थे तो घी को चावलों के कूंड़ में नहीं डलवाते थे, ओक लगा दिया करते थे। घी पानी की तरह गटागट पी जाया करते थे। थोड़ा नहीं, दो-ढाई सेर तक। चालीस लड्डू खाना तो मामूली बात थी। इतना तो आज भी खाते हैं। पंगत में अस्सी-अस्सी लड्डू खाते हुए लोगों को मैंने देखा है। जब परोसनेवाले छबड़ियों में मालपुए लाते थे और हाथों में दबा-दबाकर उन्हें परोसते थे तो ऐसे कहनेवाले लोग भी मिल जाते थे–"का एक-एक करिकैं टपकाय रहयौ है। सबरे घीऐ तौ हाथन में ही निचोरे लेय है। रख जा छबरियाय यहां और आगै बढ़।"

हां तो, मैंने कहा न कि हमारा गांव ब्रज-वृंदावन है। तब इसी भाव से यहां के गोपी-ग्वाल रहते और आचरण करते थे। वे रसिक थे। आनंदी जीव थे। पूरा गांव एक ही गोत्र का और परिवार का है। इसलिए सब एक-दूसरे के चाचा-ताऊ और दादा-दादी हैं। आज तक इनका कोई मामला अदालत में नहीं गया। आजकल तो जमीन-जायदाद के मामलों पर परस्पर फौजदारियां भी हो जाती हैं। खून भी टपक जाता है। लेकिन न तब और न अब लोग थाने जाते हैं और न कचहरी में। गांव के बड़े-बूढ़े और पंचायत सारे मामलों को निपटा दिया करती थी। आज तो सब अपने घर के पंच हैं। कोई किसी की नहीं सुनता। जो लड़के पढ़-लिख गए हैं, वे अपने बड़े-बूढ़ों का आदर करना भूल बैठे हैं। परंतु तब न लोग झगड़ालू थे और न ईर्ष्यालु। रसिक थे, पर कामुक नही थे। जब चांदनी खिलती तो भरी रात में नर-नारी गाते-बजाते, वन-विहार को निकल पड़ते थे। महिलाओं के हाथ में पेड़ों की छोटी-छोटी टहनियां या डंडियां हुआ करती थीं। इसलिए कि यदि कोई सीमा से आगे बढ़ जाए तो उसकी मरम्मत कर सकें। पर ऐसा कभी सुनने में नहीं आया। पिछले दिनों ऐसी हरकतें देखी गईं तो लोगों ने अपनी बहू-बेटियों को रात में निकलना ही बंद कर दिया। वन-विहार की लीला समाप्त हुई।

आप स्वयं अनुमान लगा सकते हैं कि ऐसे गांव में, ऐसे मोद-विनोद के वातावरण में, नृत्य-गीत के माहौल में, देह-संवर्द्धन के युग में जन्म लेकर मैंने क्या सीखा होगा और क्या पाया होगा ? मेरे चरित्र में जो मस्ती, रसिकता, कविता, कल्पना, नृत्य-संगीत, सौंदर्य-बोध और प्रकृति की रमणीयता के जो तत्त्व हैं, वे सब मेरी जन्मभूमि की देन हैं, ब्रजभूमि के वरदान हैं। जिस आदमी ने गांव नहीं देखे, ग्राम्य-जीवन को निकट से नहीं पहचाना, वह देश को और उसकी समस्याओं को जान ही नहीं सकता। गांवों को जानना ही भारत को जानना है।

ब्रज के वन-बाग-तड़ाग निहारे

'ब्रज' एक ऐसा शब्द है, जिसे सुनते ही मन एक ऐसे सुरम्य, बोधमय, भक्तिमय और नैसर्गिक छटा से युक्त उस भाव-लोक में पहुंच जाता है, जिसे पुराणों के अनुसार अपने जन्म लेने से पूर्व भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी ललित लीलाएं करने के लिए धरा-धाम पर उतारा था। ब्रज की रज, कदम की छइयां, तमाल-तरु, करील की कुंजें, पुण्यतोया कृष्णप्रिया यमुना और वह गिरि गोवर्धन, जिसे—"कियौ नख छत्र पुरंदर धारन।" आंखों के सामने अपनी दिव्य छटा से लहराने लगते हैं। अनेक पुराणों, संस्कृत सुभाषितों, काव्य-ग्रंथों के सहस्रों पृष्ठों में ब्रज-महिमा बिखरी हुई है। शताब्दियों से लाखों-लाख तीर्थयात्री और पर्यटक भक्ति-भावना तथा सौंदर्य-बोध की डोर से बंधे हुए ब्रज की ओर खिंचे चले आते हैं।

भारत में अनेक तीर्थ हैं, जिनके विशद महात्म्य वर्णित हैं। परंतु ब्रज में जैसे यात्रियों के बहुमासी पड़ाव पड़ते हैं, वैसे अन्यत्र नहीं। पुष्कर और प्रयाग के मेलों की अवधि भी इनके सामने छोटी पड़ जाती है। श्रावण से लेकर कार्तिक के चार महीनों तक देश के चारों कोनों से, विविध प्रदेशों से, अलग-अलग भाषा बोलनेवाले, अलग-अलग गाने-नाचने और कीर्तन करनेवाले, एक मोटे अनुमान के अनुसार पचास लाख यात्री ब्रज में आते हैं। वे श्रावण में मथुरा, वृंदावन, गोकुल और रावल में श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी और राधा-जन्मोत्सव मानते-मनाते हैं। भादों के उतरते-उतरते वैष्णव सम्प्रदायों की एक-दो नहीं, चार-पांच 'ब्रज चौरासी कोस' की पदयात्राएं प्रारंभ हो जाती हैं। इनमें एक-एक यात्रा में बीस-बीस, चालीस-चालीस हजार नर-नारी पैदल ब्रज की यात्रा करते हैं, लगातार पूरे ढेढ़-दो महीनों तक। जहां यात्रा रुकती है, वहां तंबुओं के नगर बस जाते हैं। अहर्निश कथा-कीर्तन और प्रवचन चलते रहते हैं। दीवाली की रात को गोवर्धन कस्बे में दीपदान का लक्खी मेला होता है। दूसरे दिन प्रतिपदा को जतीपुरा में अन्नकूट होता है। वहां चावल के भात का इतना ऊंचा ढेर लगता है कि सूरदास लिख गए हैं—

"लग्यौ भात कौ कोट ओट गिरिराज छिपान्यो।"

दूसरे दिन, यानी भाई-दूज अथवा यम-द्वितीया के दिन मथुरा के विश्राम घाट पर लाखों भाई-बहिन हाथ पकड़कर यमुना में स्नान करते हैं। उसके बाद मथुरा में कार्तिक के मेले प्रारंभ होते हैं। कार्तिक शुक्ला सप्तमी को श्रीकृष्ण-बलराम मथुरा में प्रवेश करते ही कंस के धोबी को मारते हैं। अष्टमी को गोपाष्टमी होती है और गायों के जुलूस के साथ श्रीकृष्ण-बलराम की सवारी निकलती है। अक्षय नवमी को मथुरा की पंचकोसी परिक्रमा लगती है। दशमी को कंस का मेला होता है। उस दिन मथुरा में लाठियां ही लाठियां दिखाई देती हैं। कंस-वध करके लौटे हुए ग्वाल उसके सिर को एक बल्ली पर उठाए हुए नाचते-गाते निकलते हैं–

कंसा मार मधुपुरी आए,
कंसा के घर के घबराए।

एकादशी को मथुरा, गरुड़-गोविंद और वृंदावन की लंबी परिक्रमा को हजारों नर-नारी निकलते हैं। उसी दिन से कार्तिक-स्नान के 'पंचभीकम' (पांच के दिन व्रत-स्नान) शुरू हो जाते हैं। यह स्नान मथुरा के विश्राम घाट पर होता है। मथुरा के घाट पर हमारा श्री राधा दामोदर का पैतृक मंदिर हैं। अनिवार्य रूप से मथुरावासी इस मंदिर में दर्शनों को आते हैं। यमुना तट, विश्राम घाट तथा हमारा मंदिर गूंज उठता है, भक्ति-गीत के इन मधुर स्वरों से–

राधा दामोदर बलि जइयै।
पांच दिना पंचभीकम नहियै,
तो धुर वैकुंठै जइयै।।

उसके बाद यात्री और पर्यटक मथुरा की नामी चीजों को खरीदते हैं। तीर्थ-पुरोहितों को दक्षिणा देते हैं। अपनी गांठ का सब कुछ समर्पित कर हृदय में व्रज-भक्ति को धारण करके अपने-अपने स्थानों को लौट जाते हैं।

यह सब विस्तार से मैंने इसलिए लिखा कि इन यात्राओं, मेलों, स्नान और व्रत-पर्वों में मैं बड़े उत्साह से शामिल हुआ हूं। इनसे कुछ सीखा भी है कि हमारे देश के लोग किस प्रकार धर्म के नाम पर राष्ट्र की एकता को द्योतित करते हैं। यह भी कि वे कैसी भाषा बोलते हैं, कैसा आचरण करते हैं और रुचियों की भिन्नता होते हुए भी विभिन्न सम्प्रदायों में बंटे हुए लोग निराकार श्रीकृष्ण को साकार और अद्वैत मानते हुए राधिकाजी के साथ उनकी छवि के दर्शन करके ईश्वर की द्वैत कल्पना को भी नमन करते हैं। यह भी कि मेलों का क्या महत्त्व है, केवल भक्ति ही नहीं, वे तो ब्रज के लोकोत्सव हैं, मिलनोत्सव हैं। सबसे बड़ी बात यह कि भारतीय आदिकाल से यायावरी वृत्ति के लोग रहे हैं। वे धुर दक्षिण से हिमालय तक, बंगाल से वृंदावन तक, गुजरात से गोकुल तक देश-दर्शन और पुण्य-लाभ के लिए प्रायः निकलते रहते हैं। ब्रज-प्रदेश अनादिकाल से भारतीयों का संगम-स्थल रहा है।

ऐसे ब्रज में माघ शुक्ला दशमी, संवत 1972 और अब प्रचलित 13 फरवरी, 1915

ई. को माता चमेली देवी के गर्भ से मेरा जन्म हुआ। हमारे पूर्वज कभी राजस्थान से आए होंगे, पर पीढ़ियों से वे ब्रज के भिन्न गांवों में निवास करते आए हैं। कभी ये लोग कामवन के जागीरदार हुआ करते थे। घोड़े पर सवारी किया करते थे। तलवार बांधते थे। मेरे पिता पं. ब्रजकिशोर शास्त्री ने कामवन में हमारे पुरखों की हवेली और बाग का पता भी लगाया था। हमारे यहां दशहरे के दिन आज भी घोड़े और तलवार का पूजन होता है। लेकिन इस जागीरदारी के कोई निश्चित प्रमाण आज उपलब्ध नहीं हैं। परंतु मुझे इतना ज्ञात है कि मेरे परदादा खेरा ग्राम (करहला के निकट) में रहते हैं। यहां के घर-जमीन, खेत और कुएं पिताजी अपने वंश के लोगों को सौंप आए थे। लेकिन अब उनमें से कोई नहीं बचा है। मेरे दादा पं. मुरलीधर व्यास जतीपुरा में मथुरेशजी के मंदिर में भंडारी थे। वह परिवार सहित जतीपुरा में ही रहते थे। वह परम वैष्णव तथा श्रीमद्भागवत के प्रकांड पंडित थे। श्रीमद वल्लभाचार्य की 'सुबोधिनी' टीका के आधार पर वह श्रीमद्भागवत की कथा कहते थे। गिर्राजजी के वह अनन्य भक्त थे। उनके चार पुत्र थे। जब कोई बीमार पड़ जाता तो वह उसे ब्रज-रज में लिटा दिया करते थे। उनके विश्वास के अनुसार बच्चे स्वस्थ भी हो जाया करते थे। मेरे पिताजी को वंदर ने क़ाट खाया। बांह में से काफी मांस नोंचकर ले गया। दादाजी किसी वैद्य-डाक्टर के पास दौड़े नहीं गए। ब्रज की रज उनकी बांह में भर दी। उस दो-तीन इंच चौड़े घाव को अंत तक मैंने उनकी दाहिनी भुजा पर देखा था। जब मेरे पिताजी की सगाई राधा-कुंड निवासी, ब्रज के विख्यात और समृद्ध रासधारी श्री नंदन गिरिवरजी के यहां हुई तो उन्हें चिंता हुई कि भिड़ तो गए, अब सुलटेंगे कैसे ? उन्हें चिंतित देखकर बंवई का एक सेठिया उन्हें अपने साथ लिवा ले गया। अपने घर पर उसने दादा मुरलीधरजी व्यास से भागवत की कथा सुनाने का अनुरोध किया। कथा तो उन्होंने सुनाई, पर ब्रज के विरह से वह मन ही मन व्याकुल थे। जब दशम स्कंध के 'गोपी-गीत' का प्रसंग आया तो उनकी आंखों से अविरल अश्रुधारा वह चली। गोपियों की विरह-व्यथा का वर्णन करते-करते उनके मन में ब्रज की हूक उठी और व्यास-गद्दी पर उन्होंने अपना शरीर त्याग दिया। दादाजी के मरणोपरांत मेरी विधवा दादी अपने चारों बच्चों को लेकर परासौली आ गईं। इस गांव में मेरे दादा के ननिहालवाले रहते थे। गांव वाले गाड़ियां जोड़-जोड़कर मेरी दादी और पिताजी सहित तीनों चाचाओं को अपने गांव ले आए। इस प्रकार हमारा यायावरी परिवार परासौली में बस गया।

यदि आप इस परिवार-कथा से ऊबे न हों तो परासौली के माध्यम से ब्रज की रमणीयता का कुछ वर्णन करूं ? यह इसलिए करना चाहता हूं कि तब ब्रज वैसा नहीं था, जैसा आज है। हमारे घर के बराबर एक सघन करील का वृक्ष था। जब उसमें फूल खिलते तो बहुत ही सुहावना लगता था। वह इतना सघन था कि उसके अंदर बैठकर ग्रामवासी हुक्का पिया करते थे। जब ब्रज में करीलों की बहुतायत रही होगी तो उनमें कुंजें भी रही होंगी। ऐसी कुंजें कि रसखान के शब्दों में—

कोटिनहू कलधौत के धाम,
करील के कुंजन ऊपर वारौं।

केवल करील ही नहीं, उसके पीछे एक पोखर भी थी। पोखर से कुछ हटकर दुर्मिल कुंड के चिन्ह थे। दुर्मिल कुंड के चारों ओर सघन वृक्षावली थी। दुर्मिल कुंड से लेकर चंद्र सरोवर तक विपुल वृक्ष-राशि थी जिनमें मोरछली, खिरनी, पापड़ी, जामुन, नीम, कदंब, तमाल और फरास आदि के वृक्ष लगे हुए थे। भांति-भांति के पक्षी इन पर कलरव करते रहते थे। सारसों के जोड़े इस पोखर के तट पर कभी-कभी उतरते थे। इन्हें 'बीलों' कहा करते थे। दिन में यहां गायें, बछड़े-बछिया चरते-विचरते और उछल-कूद करते रहते थे और रात को कभी-कभी सियार भी बोला करते थे। चंद्र सरोवर के चारों ओर भी वृक्षों की कतारें थीं। एक ओर बहुत बड़ा बरगद का वृक्ष था। उसके नीचे चालीस-पचास गायें विश्राम किया करती थीं। इस स्थान को 'रांभन' (गायों के रंभाने का स्थान) कहते थे। सूरकुटी और महाप्रभु वल्लभाचार्य की बैठक के चारों ओर वृक्ष ही वृक्ष थे। इनमें अन्य वृक्षों के अतिरिक्त पीलू, झरबेरी (छोटे-छोटे बेरों की झाड़ियां) और हीस के वृक्ष भी थे। कुछ अन्य जंगली फलदार वृक्ष भी थे। जो पक्षियों, विशेषकर मोरों का आहार थे। चंद्र सरोवर के आसपास मोरों के झुंड मोरनियों के साथ विचरते, उड़ते और नाचते देखे जाते थे। सूरकुटी के पीछे और बगल में चौरासी-चौरासी कदंबों की 'कदम खंडियां' थीं। जिनमें से एक अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि कुंभनदास के नाम से थी। सूरदासजी का एक बाग भी था। जब कभी हम लोग परासौली से गोवर्धन या गोवर्धन से पैंठा गांव तक क्षीर सागर और बैकुंठनाथ के दर्शन करने जाते थे तो सड़क के दोनों ओर बड़े-बड़े वृक्ष लगे हुए थे। वसंत ऋतु में जब दोनों ओर के खेतों में सरसों फूलती और पलाश फूलते तो दृश्य बड़ा ही मोहक और रंगीन हो उठता था। ऐसा लगता था कि ब्रज-वसुंधरा पीले और लाल रंगों से होली खेल रही है।

पैंठा गांव में एक ऐंठा कदंब था जिसके पत्ते दोने के आकार के हुआ करते थे। उनमें दही भरकर आराम से खाया जा सकता था। गोवर्धन की मानसी गंगा में काली बतखें या कोई ऐसे जलजीव रहते थे कि जब वे सिर उठाकर तैरते थे तो लगता था कि फन उठाकर सांप तैर रहे हों। मानसी गंगा के चारों ओर मनोहर चित्रकारियों से युक्त भरतपुर के राजाओं की छतरियां थीं। वे आज भी हैं, परंतु देखभाल के बिना वे जीर्णशीर्ण हो रही हैं और चित्रों के रंग उखड़ रहे हैं। भरतपुर नरेशों ने ब्रज के वैभव को बढ़ाने में बड़ा योगदान किया है। पैंठे का क्षीर सागर, परासौली की चंद्र सरोवर, गोवर्धन की मानसी गंगा तथा गोवर्धन और राधाकुंड के बीच ब्रज की सबसे सुंदर सरोवर (कुसुम सरोवर) भरतपुर नरेशों द्वारा बनवाई हुई हैं। राधाकुंड और कृष्णकुंड को बीच में प्लेटफार्म बनाकर विभक्त किया गया है। तब कृष्णकुंड में मगर छोड़े गए थे। इसलिए उसमें कोई नहाता नहीं था। सब राधाकुंड में ही स्नान करते थे। राधाकुंड और कृष्णकुंड की परिक्रमा पक्की पत्थर की बनी हुई है। इसके चारों ओर असम, उड़ीसा, बंगाल और मणिपुर के भक्तजन मंदिरों, मठों और कुटियों में रहते हैं। संध्या के समय हर मंदिर में आरतियां होती हैं। मृदंग और झांझ बजते हैं। कीर्तन के सामूहिक स्वर गूंजते हैं तो उसकी ध्वनि से कृष्णकुंड और राधाकुंड लहराने लगते हैं। भक्तजन विभोर हो जाते हैं और गांववासी इन दोनों कुंडों की परिक्रमा के लिए 'जय राधे' और 'श्री राधे' कहते हुए निकल पड़ते हैं। पहले यहां ललिता और

विंशाखा कुंड भी थे। वे अव सूख गए और वहां खेती होती है। यहां के ललिता कुंड के तट पर हमारे नानाजी के पूर्वज शेरगढ़ से आकर बसे थे। इसलिए उन्हें शेरगढ़िया कहा जाता था।

राधाकुंड की दो विशेषताओं का वर्णन करना मैं नहीं भूल सकता। एक तो कुंड की परिक्रमा में लगे तमाल वृक्ष की बात आपको बताना चाहता हूं जो नैसर्गिक रूप से इतना सुचिक्कण था कि उसकी गांठों पर हाथ फेरते समय ऐसा लगता था कि जैसे शालिग्राम की वटिया का स्पर्श पा रहे हों। अब वहां यह वृक्ष नहीं है। केवल महाप्रभुजी की बैठक पर एक छोटा-सा तमाल वृक्ष अपने आप फूट पड़ा है। बाकी तो तमाल वृक्ष ब्रज से शायद गायब ही हो गए। दूसरी अविस्मरणीय मनोरम बात यह है कि राधाकुंड से गोवर्धन तक का पूरा मार्ग और उसके आसपास का क्षेत्र सुरभित पुष्पवाटिका के रूप में विकसित था। तरह-तरह के पुष्पों की झाड़ियां सड़क के दोनों ओर पुष्पित थीं। नीले, हरे, पीले, सफेद और बैंगनी फूल इन झाड़ियों में आते थे। कुछ चमेली और मोतिया की झाड़ियां भी थीं। सड़क के किनारे अधिकतर चम्पा के पेड़ थे। जहां-तहां रातरानी और हार-सिंगार भी महकते और झरते रहते थे। अक़्सर मुझे इस पथ पर गुजरते हुए विशेषकर कुसुम सरोवर के पास यह पद याद आ जाया करता था–

अरी ! तुम कौन हो री !
फुलवा वीननहारी।

पौराणिक मान्यता यह है कि राधाजी अपनी सखियों के साथ यहां फूल चुनने आती थीं और यहीं श्रीकृष्ण से उनका मिलन हुआ करता था। तव कुसुम सरोवर अपने स्थापत्य, सुंदर महल और मंदिर तथा विस्तृत निर्मल जलाशय के कारण ही नहीं, चतुर्दिक पुष्पों से आच्छादित होने के कारण वास्तव में कुसुम सरोवर थी। लेकिन अब न वहां कुसुम हैं, न कुंज, न चम्पा, न पलाश। कुसम सरोवर पर बंदरों का स्थायी अड्डा है जो वहां दालबाटी बनानेवालों के चूरमा-वाटियों पर ऐसे झपटते हैं कि खाद्य-सामग्री को तो छोड़िए, बर्तन-कपड़े भी बचाने मुश्किल पड़ जाते हैं।

ब्रज में आकर आपने अगर दीग (दीर्घवन) को नहीं देखा तो कुछ नहीं देखा। दिल्ली को लूटकर भरतपुर के जाट राजाओं ने पहले दीग को अपनी राजधानी बनाया था। वहां का जैसा महल विश्व में कहीं नहीं है। वह एक तरफ से तिमंजिला दिखता है तो दूसरी तरफ से एक मंजिला। महल के पीछे दो जलाशय हैं, जिन्हें सावन-भादों कहते हैं। भादों में यहां फुहारों का मेला लगता है। इस महल के ऊपर सावन-भादों के जलाशयों से पानी आता है। फिर यह जल विभिन्न स्रोतों से नीचे फुहारों के द्वारा अपनी छटा बिखेरता है। इन स्रोतों में रंग भरकर फुहारों को रंगीन बना दिया जाता है। भांति-भांति के रंगीन फुहारे महल के चारों ओर चलने लगते हैं। वास्तुकला का, जल की नैसर्गिक प्रणाली का, रंगीन फुहारों की ऐसी सुनियोजित छटा तो आगरा व दिल्ली के मुगलकालीन सम्राटों के महलों में भी कभी नहीं रही थी। दिल्ली के 'तख्त-ए-ताउस' को तो नादिरशाह ले गया बताते हैं, लेकिन जिस काले संगमूसा पत्थर पर वह 'तख्त-ए-ताऊस' रखा जाता था, उसे जाट

राजा दिल्ली से उठा लाए थे और वह दीग के महलों में अभी तक रखा है। दिल्ली के लाल किले के बड़े-बड़े फाटक आज भी दीग के महलों के द्वारों पर लगे हुए हैं और याद दिला रहे हैं जाटों के शौर्य और पराक्रम की कहानी आज भी।

हां, गोवर्धन से दीग तक का मार्ग कदंब के वृक्षों से आच्छादित था। गोवर्धन पर्वत की सप्तकोसी परिक्रमा में भी कदंब और तमाल के सैकड़ों वृक्ष पाए जाते थे। पर न अब दीग के मार्ग में और न परिक्रमा-मार्ग में इन वृक्षों का क्या, साधारण वृक्षों का भी नामोनिशान नहीं मिलता। वहां धूप पड़ती है। धूल उड़ती है। गर्म रेत तपती है। कंकड़ चुभते हैं। कांटे लगते हैं। भला हो उत्तर प्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल और गुजराती के प्रख्यात साहित्यकार श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी का जिन्होंने हम लोगों के आग्रह पर गोवर्धन पर्वत पर सघन वृक्षावली और उसकी तलहटी में विविध प्रकार के वृक्षों का बीजारोपण करा दिया जो आज फल-फूल रहे हैं और गिर्राज महाराज की प्राकृतिक शोभा में चार चांद लगा रहे हैं।

ऐसे सुरम्य, सात्विक और लोकजीवन के आनंदी वातावरण में मेरा पालन-पोषण हुआ। नाचते-गाते और यथालाभ संतोषी ब्रजवासियों का सत्संग मुझे प्राप्त हुआ। यही मेरे व्यक्तित्व और कृतित्व की भूमिका है, जीवन-कथा का प्रथम अध्याय है।

आजकल हमारे साहित्यकार लिखते कम और झगड़ते अधिक हैं। कुछ तो ऐसे भी हैं जो अपने विरोधी के घर के दरवाजे पर रात को कच्चे दूध का कुल्हड़ रख आते हैं कि सांप आकर पिये और उसके घर में घुस जाए। लिख तो आजकल व्यासजी रहे हैं। बड़े-बड़े महत्त्वपूर्ण ग्रंथ और उनकी तीन-तीन, छह-छह पुस्तकें एक साथ छपती हैं। मैं उन्हें चाव से पढ़ती हूं। वह नहीं भेजते तो मंगवाकर। हमारे व्यासजी आनन्दमूर्ति हैं। आनन्द ही जीवन और साहित्य का परम लक्ष्य है।

—महादेवी वर्मा

मेरी जीजी–मां

मैं इस समय उदास हू। भाव उमड़ रहे हैं, पर पकड़ाई नहीं आते। चित्र बनते हैं, पर हर बार आंखें नम हो जाने से धुंधले पड़ जाते हैं। मेरी समझ में नहीं आ रहा कि अपनी मां का पुण्य-स्मरण कैसे करूं ? कभी उनकी ममता याद आती है तो कभी करुणा। कभी उनकी नाचती-गाती छवि उभरती है तो कभी जवानी में ही रोग-जर्जर कराहों से कान फटने लगते हैं। कभी अपने बचपन और उनके वात्सल्य के क्षण याद हो आते हैं तो कभी उनकी थकी, निराश, उपेक्षित और टूटी हुई आशा जैसी खंडित प्रतिमा का स्मरण करके अपनी असमर्थता और नियति पर सिवाय पश्चाताप के अब और कुछ हाथ नहीं लगता। मैथिलीशरण गुप्त की ये पंक्तियां भी मुझे अधूरी जान पड़ती हैं–"अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी। आंचल में है दूध और आंखों में पानी।" उनके आंचल का दूध न जाने कितने दिन मुझे प्राप्त हुआ और आंखों का पानी तो भरी जवानी में ही सूख गया था।

न जाने परिवार की किन कलहों के कारण वह अबोध अवस्था में ही मुझे छोड़कर मायके चली गई थीं। स्वयं तो कौन माता अपने पुत्र को छोड़कर जाती है, उन्हें निश्चय ही मुझे छीनकर मायके जाने को विवश कर दिया गया होगा। मैंने सुना है कि वह बार-बार मुझे निहारने के लिए अंधेरे-उजाले अपनी एक पुरानी सहेली के यहां गांव में आया करती थीं और दुलार-पुचकारकर, आंसुओं से नहलाकर दबे पांव निकल जाया करती थीं। मातृभक्त मेरे पिताजी ने इस कार्य में मेरी कोई सहायता नहीं की। जब मैं लगभग सात वर्ष का होने को आया और मेरे पिताजी मुझे मथुरा लिवा लाए तो मैंने एक दिन देखा कि वह अपने छोटे भाई के साथ मथुरा आ गई हैं, तब मैंने जाना कि वह मेरी मां हैं। मेरे मामाजी ने उन्हें जीजी कहा था। मैं तभी से उन्हें 'जीजी' कहने लगा।

दूसरे दिन मैं क्या देखता हूं कि पिताजी मेरी 'जीजी' की अग्नि-परीक्षा ले रहे हैं। अंगीठी में कोयले धधक रहे थे। पिताजी कह रहे थे–"इतने दिनों बाद आई है तो सतीत्व

की परीक्षा देनी पड़ेगी। तब मैं तुझे स्वीकार करूंगा।" कहते-कहते उन्होंने चिमटे से एक दहकता हुआ बड़ा कोयला उठा लिया और मैंने आश्चर्य से देखा कि मां ने अपने मेंहदी रचे हरी-हरी चूड़ियोंवाले गोरे-गोरे हाथ प्रणामांजलि की मुद्रा में आगे पसार दिए। पिताजी की कठोरता पानी-पानी हो गई। कोयला जमीन पर गिर गया और चिमटा भी। मैं अवाक् सा इस दृश्य की अनबूझ पहेली को देखता ही रह गया। पिताजी आंखों को पोंछते से बाहर निकल गए। मेरी जीजी (मां) ने पकड़कर मुझे छाती से चिपटा लिया। उनकी आंखें छलछला रही थीं। मुंह से केवल यही सुनाई पड़ रहा था—"मेरे गोपू! मेरे लाल! मेरे लाड़ले गुपाल! तू अब तक कहां था?"

मेरे पिताजी ने कभी किसी की नौकरी नहीं की। दासता तो उन्होंने केवल दामोदर भगवान की थी। कर्तव्य सबके प्रति निभाए, लेकिन निस्संग होकर। गांव में दो-दो मकान बनवाए। भाइयों में जिसकी रुचि खेती में थी, उसे खेती करवाई और जो पढ़ना चाहते थे उन्हें पढ़ाया। सबकी शादियां कीं। अपनी बुआजी (फूलकुंवर) जो मथुरा ब्याही थीं और निःसंतान होने पर जिन्होंने मेरे पिताजी को गोद ले लिया था उनका तथा मेरी दादी का गांव की प्रचलित परंपरा के अनुसार खूब मन से 'कारज' किया। खेरा गांव में पिताजी के दूर के भाई रहते थे। अपने हिस्से के घर, खेती और बाग-बगीचे सब उनको सौंप आए। लेकिन ये सब अर्थसाध्य कार्य उन्होंने किसी की दासता स्वीकार करके नहीं, आकाशवृत्ति से पूरे किए। पहले उन्होंने रास मंडली बनाई। वह नहीं चली तो हारमोनियम लेकर परदेस निकल जाया करते थे। रुक्मिणी मंगल और रामायण की कथा कहते थे। फिर श्रीमद्भागवत का अभ्यास किया और उसकी कथा बांचने बाहर जाने लगे। जब जाते तो कर्जे का भार उनके सिर पर होता। किराया भी उधार लेकर जाते थे। पहले उधार चुकाते, फिर साल-छह महीने बैठकर खाने का प्रबंध करते, तब लौटते। गांव की तो मुझे याद नहीं, लेकिन मथुरा में मैंने देखा कि जब वह परदेस से लौटते तो मां के नए-नए गहने गढ़ते। हम लोगों के कपड़े सिलते। जूते-चप्पल भी पहनाए जाते। भोजनों में भी विविधता और स्वाद बढ़ जाता। लेकिन परदेस को निकलने से पहले मां का छल्ला-छल्ला बिक जाता। पांच-सात दिन पहले से घर में लड़ाई-झगड़ा शुरू हो जाता। मां कहतीं कि 'ये' लड़ते-झगड़ते इसलिए हैं कि बाहर जाकर इन्हें हम लोगों की याद नहीं आए। किराए के लिए जुटाए गए पैसों में से कुछ जीजी को थमाकर वह चले जाते और हम लोग मनाते कि कब उनकी कथा बैठे और कब मनीआर्डर आए? दो-तीन साल तक यही क्रम चलता रहा। न जौ जुड़ते और न पूरा पड़ता। परंतु जीजी को इससे कोई शिकायत नहीं थी। मेरे चाचा (श्यामलाल) जो पहले से ही मथुरा की सुख संचारक कंपनी में काम करते थे और हमारे घर से सटे हुए एक अलग मकान में रहते थे, वह हम लोगों की देखभाल करते थे। उनके बहुत दिनों तक कोई संतान नहीं हुई थी। मुझे तो उन्होंने कभी कोई अभाव खलने नहीं दिया। जब पिताजी लंबी यात्रा पर चले जाते या कोई भक्त उन्हें विदेशों में ले जाता तो पिताजी की अनुमति लेकर मां मुझे अपने मायके ले जातीं। नानाजी तब भरतपुर में रहने लगे थे। उनके घर में भी कोई छोटा बालक नहीं था। जब मैं जाता तो नई गाय खरीदी जाती। हलवाई की दुकान से मुझे पेड़े प्राप्त करने की सुविधा मिल जाती। भरतपुर के पेड़े-रबड़ी के क्या

कहने ! मैं बड़ा होने लगा था। मेरी पढ़ाई का क्रम गांव, मथुरा और भरतपुर में रह-रहकर टूट जाता था। अब जीजी ने कमर कसी।

मथुरा में जिस 'बाखर' (हवेली) में हम रहा करते थे, उसमें अधिकतर स्वर्णकार रहते थे। वहां एक परित्यक्ता थी और चार विधवाएं। सुनारों की पत्नियां पायलों में घुंघरू टांकतीं, पैरों की 'चुटकियों' में 'रौने' कसतीं' या फिर सब मिलकर साड़ियों पर बेलबूटे और तार भी काढ़ा करती थीं। पहले तो संभ्रांत कुल की थोथी मर्यादा के कारण मां ने ये सब काम नहीं उठाए। पिताजी भी पसंद नहीं करते थे। लेकिन बाद में जीजी ने ये धंधे अपना लिए। मेरी पढ़ाई विधिवत् चलने लगी। वक्त पर फीस जाने लगी। खेल-तमाशों के लिए पैसे मिलने लगे। जब दंड-कसरत का शौक लगा तो मालिश के लिए तेल और खाने के लिए घी का भी जुगाड़ बैठ गया। इसके लिए मां को दिन और देर रात गए तक कंठियों में गांठें लगानी पड़ती थीं। पहले सूत की गुंडियों को पीले रंग में रंगना। फिर उन्हें सुलझाना। तीन-तीन तारों में मनकों को पिरोना। एक-एक मनके के बाद तीन-तीन गांठें लगाना। ऐसी जब एक कोड़ी यानी बीस मालाएं तैयार हो जातीं, तब कहीं देर-सबेरे बीस पैसे मिलते थे। यानी एक पैसे में एक माला तैयार होती थी। चौंसठ मालाएं पूरी होने पर एक रुपया मिला करता था। ये चौंसठ मालाएं मुश्किल से ढाई दिन में पूरी हुआ करती थीं। लेकिन जब चांदी का कलदार एक रुपये का सिक्का हाथ में आता तो ऐसा लगता मानो एक गिन्नी (स्वर्णमुद्रा) मिल गई हो। आजकल की बढ़ी हुई महगाई को देखते हुए उस समय एक रुपये की कीमत आप स्वयं आंक सकते हैं। उस एक रुपये से बीस काम सधते थे। लेकिन जीजी को इस कमाई की भारी कीमत चुकानी पड़ती थी। सतत कठिन परिश्रम के कारण उनका स्वास्थ्य गिरता जाता था। तंबाकू-चूना खाने की उनकी आदत थी। इस कारण पहले उनकी खांसी बढ़ी। फिर कमर झुकाए-झुकाए काम करने के कारण उदर शूल हुआ। फिर तपेदिक हुई। उसके बाद वही हुआ जो उन दिनों हुआ करता था। तपेदिक उन दिनों लाइलाज बीमारी थी।

केवल शारीरिक व्याधि ही नहीं, उनका कुटीर उद्योग भी पिताजी के क्रोध का एक बड़ा कारण था। उनके परदेस से लौटने से पहले ही मां यह काम बंद कर दिया करती थीं। फिर भी पिताजी को पता चल जाता था। वह अवश्य ही इसकी वजह से क्लेश करते होंगे। कई बार तो मैंने जीजी के माथे पर गोले पड़े देखे और चूड़ियां मौरने के कारण उनकी कलाई में छोटे-छोटे जख्म भी नज़र पड़े थे। जीजी ने अपने स्वास्थ्य को और अपनी मिथ्या कुल-परंपरा को मेरे कारण दांव पर लगा दिया था। वह दिन-दिन सूखती जाती थीं, उनकी बड़ी-बड़ी आंखों से दिखना कम हो गया था। खुद नहीं खाती थीं, मुझे खिलाती थीं। खुद नहीं पहनती थीं, मुझे पहनाती थीं। स्कूल के कपड़े अलग और खेल के कपड़े अलग। जूते भी अलग। हॉकी, फुटबॉल, शतरंज, चौपड़, ताश, लाठी और काठ की तलवार सब उन्होंने मेरे लिए जुटा दिए थे। वह एक ही आशा और एक ही तमन्ना लेकर जी रही थीं कि कब मैं पढ़-लिखकर नौकरी करूं और कब उनके आंगन में बटुए से मुखवाली सुंदर बहू रुनक-झुनक करती उनके आगे-पीछे फिरे। लेकिन उनके जीवन-काल में ये दोनों तमन्नाएं पूरी नहीं हुईं।

•

मैं अपनी मस्ती में था। सोचता था कि सभी औरतें ऐसा कर रही हैं तो जीजी भी कर रही हैं। बाखर की सभी औरतें जर्जर और कृशकाय हैं तो उनमें जीजी भी एक हैं। अपना काम पढ़ना-लिखना, खाना-पीना, ताश-चौपड़ खेलना, पतंगबाजी से लेकर कवित्तबाजी तक करना था। नए-नए साथी बनाना और बड़ों-बड़ों की संगत में बैठना। बस, मेरी दुनिया यहीं तक सीमित थी। मां के प्रति कर्त्तव्य का बोध मुझे तब हुआ ही नहीं। हुआ तब, जब बाजी हाथ से निकल चुकी थी। एक दिन जब मैं मां को डॉक्टर के पास ले गया और उसने बताया कि यह चंद दिनों की मेहमान हैं तो मेरे होश उड़ गए। मैं एक हकीम की दुकान पर आठ रुपये महीने में खरल घांटने लगा। उसने ढाई महीने बाद भी पैसे नहीं दिए। एक प्रेस में 'पाई' छांटने लगा। उसने ढाई महीने काम कराकर ढाई रुपये भी नहीं दिए। उन्हीं दिनों दीवाली पर मैंने एक व्यक्ति के साझे में लक्ष्मी-गणेश की मूर्तियां और खील-खिलौने भी बेचे। पता चला कि उसमें भी घाटा हुआ और मुझे सिर्फ दस रुपये प्राप्त हुए, जो मां की दवाई का उधार चुकाने में खर्च हो गए। मैंने मां को एक सरकारी अस्पताल में भरती करा दिया। और मैं कर भी क्या सकता था ?

मुझे याद आते हैं वे दिन जब मैं मथुरा की रामलीला में 'सरूप' बना करता था। सीता से लेकर राम तक का पार्ट मैंने बखूबी अदा किए थे। जीजी बड़े चाव से अपनी सखियों को लेकर धनुष-यज्ञ देखने जाती। बारात में मुझे घोडे पर बैठा देखकर फूली नहीं समाती थीं। प्रतिदिन ढेर-ढेर प्रसाद की मिठाइयां लाता तो वह सिहा-सिहाकर घर-घर बांटतीं। जिस दिन छोटी-छोटी सुनहरी कटोरियों का शृंगार होता तो मैं उन्हें चिपकाए हुए ही रात को घर लौटता। सुबह जागता तो देखता कि जीजी आसपास के लोगों को लिवा लाई हैं और वे मेरे दर्शन कर रहे हैं। जिस दिन रावण मरता और राम-लक्ष्मण की मां होने के कारण उन्हें विशेष कुर्सी पर बिठाया जाता तो वह फूली नहीं समातीं। कहीं उसके गुपाल को नजर न लग जाए, इसलिए वह मेरी धोती की फेंट में दो पके-पके नींबू बांध दिया करती थीं। सुबह नींबू एकदम काले निकलते थे। उन्हें सबको दिखातीं और कहतीं—"हाय ! देखो तो कैसी नजर लगी है !" उन दिनों सरूपों को छह से लेकर आठ आने तक प्रतिदिन मिला करते थे। आठवें दिन 'परचे' चुकते थे। जब ये पैसे लाकर मैं उनके हाथ पर रखता तो वह उन्हें सिर से लगातीं और ठाकुरजी के सिंहासन के सामने रख देतीं। भरत मिलाप और राजगद्दी पर विशेष भेंट मिलती तो वह मुहल्लेभर में प्रसाद बांटा करती थीं। अकेला बेटा, पहली कमाई और वह भी वाहवाही के साथ। उन दिनों उनका स्वास्थ्य असाधारण रूप से सुधर जाता था।

ऐसी मां, ममतामयी मा, पुत्र के भविष्य के लिए जीने वाली मां। बचपन में कभी सुख पाया हो तो पाया हो, लेकिन संतोषी मां, सती-साध्वी मां, जब परलोक सिधारीं तो अंतिम सांस लेते समय उनके पास न पति थे और न पुत्र। मेरी नानी उन्हें लिवाकर ले गई थीं। बजाय इलाज कराने के लिए टोने-टोटके शुरू हुए। भूत-व्याधा बताई गई। जब शरीर छोड़ने लगीं तो मुझे मेरे मुरलीधर मामा ने बताया कि वह बड़ी जोर से चीखीं थीं—"मेरे गुपाल को बुला दो !" मामा उसी [illegible] मुझे लेने मथुरा के लिए रवाना हो गए। रात के एक बजे पहुंचे। पिताजी बाहर गए हुए थे। मैं सपना देख रहा था कि कुएं पर नहाते-नहाते

मेरे मकान की चाबी कुएं में जा पड़ी है। तभी मामा का रोना सुनाई पड़ा—"गुपाल, जीजी गई !" सपना सच हुआ। घर में ताला पड़ गया।

जब मैं अपने चाचा के साथ मां के अंतिम दर्शनों को पहुंचा तो देखा उनकी अर्थी तैयार थी। लोग कंधों पर उठाकर चलने वाले थे। सिर झुकाए-झुकाए मैं भी पीछे हो लिया। उधर जीजी की चिता जल रही थी और इधर मेरा कवि-कल्पनामय मन कह रहा था कि इस चिता के साथ ही मां के अरमान भी जल गए।

मां के बिना शादी भी हुई, बच्चे भी हुए, देश-विदेश में शोहरत भी मिली, मंदिर-मकान भी बने, लोग मुझे भाग्यवान कहते हैं, लेकिन जब कभी मुझे अपनी जीजी (मां) का खयाल आता है तो मैं सोचने लगता हूं कि कितनी अभागी थी वह और कितना अभागा हूं मैं ?

व्यासजी का हास्य निःसंदेह परिमार्जित तथा सुरुचिपूर्ण है। जीवन-संघर्ष तथा युग समस्याओं की झांकियां होने पर भी उनमें कटुता नहीं। यत्र-तत्र व्यंग्य की तीव्रता होने पर भी वह विषाक्त नहीं, सर्वत्र उन्मुख, प्रसन्न, प्राणों को गुदगुदानेवाला हलका-फुलका वातावरण है जो इसे और भी मनोहर बना देता है। भाषा मे प्रवाह है, सजीवता है। व्यासजी बधाई के पात्र हैं।

—सुमित्रानंदन पंत

हां, सुनाओ तो अपनी वह कविता—'आदमी नेता हो सकता है, नेता आदमी नहीं'।

—सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

परम आत्मन् पिताश्री

पिताजी ने लंबी उम्र पाई। सौ वर्ष के बाद भी वह कुछ महीनों तक जीवित रहे। अपने पहले की तीन और बाद की भी तीन पीढ़ियों को उन्होंने देखा था। कहते थे कि मुझे अपनी सात पीढ़ियों का पता है। अंतिम दिनों में उनकी कमर जरूर झुक गई थी, फिर भी लाठी या छडी लेकर नहीं चलते थे। आंखों ने अंत समय तक उनका साथ दिया। गीता और श्रीमद्भागवत के छोटे-छोटे गुटकों से प्रतिदिन दो घंटे पाठ किया करते थे। चेतना भी अंतिम क्षणों तक कायम रही। देह छोड़ने से पूर्व मुश्किल से महीने-बीस दिन ऐसे रहे जिनमें उन्हें बीमार कहा जा सकता था। वैसे कभी उन्हें बुखार तक नहीं आया। सुबह-शाम यमुना पार दो-दो तीन-तीन मील तक टहलने जाया करते थे। पहले दंड-कसरत भी किया करते थे। बाद में कुछ आसन भी करने लगे। जीवनपर्यंत नल का पानी नहीं पिया। हमेशा कंतान की एक डोलची उनके साथ रहा करती थी। मथुरा में रहते तो केवल यमुना-जल पीते। भले ही वह वर्षा या बाढ़ का हो अथवा सूख गई और आज की भाषा में प्रदूषित हो गई क्षीण धारा का हो। देश का कोई शहर, कोई तीर्थ–तीर्थस्थान, कोई पुरातात्विक केन्द्र ऐसा नहीं बचा जो उन्होंने न देखा हो। पश्चिमोत्तर प्रदेश में वह उस सीमा तक गए जहां भारत, रूस और चीन की सीमाएं मिलती हैं। कश्मीर, मानसरोवर, तिब्बत, नेपाल और श्रीलंका तो गए ही, बर्मा के रास्ते उस स्थान को भी उन्होंने देखा जहां बर्मा, चीन और भारत की सीमाएं मिलती हैं। जहां यमुना-गंगा नहीं होती, वहां कुएं के जल का प्रयोग करते और जब स्वदेश से बाहर जाते तो गंगाजल से भरे तांबे के घड़े उनके साथ चला करते थे। श्रीमद वल्लभाचार्य ने एक बार समस्त भारत की परिक्रमा की थी। पिताजी ने न जाने कितनी बार भारत की परिक्रमा की होगी। हमेशा श्रीमद्भागवत उनके साथ रही। वह कहा करते थे कि मैंने यात्रा और मात्रा दोनों साथ-साथ उपलब्ध की हैं। यानी, यात्राओं पर उन्होंने खर्चा नहीं किया। हर जगह उनके रूप-स्वरूप और पांडित्य को देखकर वैष्णव और भक्त लोग मिल जाया करते थे और उनका यथोचित सत्कार भी होता रहता था।

• पिताजी को मैं 'दादाजी' कहा करता था। हमारे गांव में पिता को दादा और पितामह को बाबा कहने का चलन है। पोते को नाती (दौहित्र, यानी नवासा) कहा जाता है। दादाजी का रंग अवश्य श्यामल था, लेकिन उनकी 'लौन छवि' आकर्षक थी। तना हुआ वक्ष, सुरीला कंठ, बड़ी-बड़ी आंखें, उन पर धनुषाकार भौंहें, प्रशस्त ललाट पर गोकुलिए वैष्णवों जैसा तिलक, एकदम श्वेत दंत-पंक्ति, काले घुंघराले बाल और बाएं कंधे तक लहराती हुई काली नागिन-सी उनकी लंबी चोटी, प्रथम दर्शन में यह आभास करा देती थी कि यह कोई दिव्य पुरुष हैं।

मेरे दादाजी अपनी उम्र में खाने, पहनने, घूमने, नए-नए स्थानों को देखने और सरकस देखने के शौकीन थे। वह सिर में हमेशा मसालेवाला खुशबूदार तेल लगाया करते थे। उनके कपड़ों में से हमेशा ठाकुरजी के प्रसादी इत्र की महक आया करती थी। पिताजी को भांग-ठंडाई का भी शौक था। जब परदेस जाते तो उनके साथ बेंतों से बनी झांपी में श्रीनाथजी की छवि और श्रीमद्भागवत के साथ-साथ नीले कंकड़ों से बनी सिल-लोढ़ी भी हुआ करती थी। ठंडाई में भांग की तो दो-चार पत्तियां ही हुआ करती थीं, लेकिन जब भगवान जैसा दें, तब बादाम, पिश्ता, मगज के बीज आदि के अतिरिक्त कभी संतरे, कभी लीची, कभी भुनी हुई अमिया, और कुछ नहीं तो दूध ही सही। लेकिन खांड या बूरा चकाचक होना चाहिए। दादाजी को मीठा खाने का बड़ा शौक था। वह हंसकर कहा करते थे कि मेरी मिष्ठान्नप्रियता को देखकर मेरे पिता मुझे मथुरा का चौबे कहा करते थे। अंत समय में वैद्य और डॉक्टरों ने उन्हें मीठा खाने की सख्त मनाही की थी। परंतु वह कहते थे—"खांड बिना सब रांड़ रसोई।" और कुछ नही तो गुड़ ही सही।

दादाजी का मैंने वह रूप भी देखा है, जब उनके पैरों में पंप शू, कमर में कलकतिया पाड़ की मलमली धोती, चिकन की बगलबंदी, हाथ में चांदी की मूठ की एक दर्शनीय छड़ी और सिर पर फैल्ट कैप शोभायमान हुआ करती थी। कंधों पर वह उत्तरीय भी डालते थे। उनका कहना था कि जूता और टोपी हमेशा चमकते रहने चाहिए, क्योंकि शत्रु पैरों की ओर देखता है और मित्र मुख की ओर। मैं घोषणा कर सकता हूं कि मेरे दादाजी जितेन्द्रिय थे। उनका सभी इन्द्रियों पर काबू था। बाहर जाते और कोई भक्त या सेवक नहीं मिलता तो पांच-सात दिन का अनशन उनके लिए मामूली बात थी। वह किसी से मांगते नहीं थे। किसी के यहां भोजन नहीं करते थे। वह स्वयंपाकी थे। कथा-प्रवचन सुनने के लिए किसी से कहते नहीं थे। उनके ठाकुरजी ही उनकी परीक्षा के बाद तरस खाकर किसी को भेज दिया करते थे। एक बार मैं भी उनके चक्कर में फंस गया। मां ने दो किलो पेड़े रख दिए थे। कुछ मठरियां सेंक दी थीं। पर वे कब तक चलतीं ? घटना इंदौर की है। एक धर्मशाला में ठहरे थे। पांचवें दिन शाम को वल्लभ संप्रदाय के जूना मंदिर के गोस्वामी बच्चू बाबा को पता चला कि मथुरा से पंडित ब्रजकिशोरजी आए हैं तो उन्होंने घोड़ा-गाड़ी भेजी। हम दोनों उनके दर्शनों को पहुंचे। पिताजी के साथ बच्चू बाबा का सत्संग हुआ। गाड़ी वापस हमें धर्मशाला छोड़ गई। लेकिन हमारे धर्मशाला पहुंचने से पहले वहां बाबा के मंदिर से शयन भोग के लड्डू-मठरी और पूड़ियां पहुंच चुके थे। इसे संयोग कहूं या चमत्कार ? जो भी हो, उस दिन जो भोजन में आनंद आया और जिस तरह क्षुधा शांत

हुई, वैसी फिर कभी नहीं हुई। अब समझ में आया कि "अन्नं वै प्राणः" क्यों कहा गया है।

एक घटना और। पिताजी कलकता से मथुरा लौट रहे थे। उन दिनों कलकत्ता से मथुरा तक पहुंचने में लगभग तीन दिन लग जाया करते थे। गर्मी के दिन थे। खाना-पीना तो छोड़िए, दादाजी रेल में छोटी-बड़ी शंकाओं से भी निवृत्त नहीं हुआ करते थे। उस दिन जेठ की दोपहरी तप रही थी। कंठ सूख गया था। जुबान तालू से चिपक गई थी। परंतु कोई स्टेशन ऐसा नजर नहीं आ रहा था कि जहां कुआं हो। एक छोटे-से स्टेशन पर गाड़ी रुकी। कुआं दिखाई दिया। पिताजी डोलची लेकर दौड़े। गार्ड अंग्रेज था। पिताजी ने डोलची दिखाकर प्यासे होने का संकेत किया। अंग्रेज गार्ड बोला—"ट्रेन दो मिनट स्टे करता है।" पिताजी तार फांदकर कुएं पर पहुंचे। पहले दो बाल्टी पानी सिर पर डाला। गाड़ी ने सीटी दे दी। फिर एक बाल्टी पानी पिया। गाड़ी ने दूसरी सीटी दे दी। अंग्रेज गार्ड चिल्लाया—"ओ मैन, भागो-भागो !" पिताजी ने एक डोलची और भरी तथा लेकर डिब्बे की ओर भागे। गार्ड बोला—"मैन, तुम्हारे वास्ते गाड़ी को हमने पांच मिनट लेट किया है।" पिताजी ने झुककर 'जय श्रीकृष्ण !' कहा और डिब्बे में चढ़ गए। आज भी अनेक गुसाईं, वैष्णव, संत और योगी रेल और हवाई जहाजों से यात्राएं करते हैं। मुझे मालूम नहीं कि ऐसे कठोर नियमों का अब कौन कितना पालन करता है ?

सयम-नियमों का पालन दादाजी ने जीवनपर्यंत बड़ी कठोरता से किया। जब शादी के लिए कन्या-पक्ष वाले मुझे देखने आ रहे थे, तब लोग पिताजी से भी कह रहे थे कि ब्रजकिशोर, पहले तू अपनी शादी कर ले। अभी तेरी उम्र ही क्या है। कुछ आकर्षक प्रस्ताव भी आए थे। परंतु उन्होंने दृढ़ता से इनकार कर दिया। मेरा ब्याह रचाया, अपना नहीं। मेरी मां के प्रति उन्होंने चाहे जैसा, जान या अनजान में, लाचारी में या परिस्थितियों में, व्यवहार किया हो, लेकिन उनके न रहने पर जैसे विधवाएं अपना जीवन व्यतीत करती हैं, वैसे ही नियम-संयम उन्होंने साध लिए। कलेऊ छोड़ दिया। रात्रि का भोजन ब्यालू छोड़ दी। खाट छोड़ दी। पान-इत्र-ठंडाई छोड़ दिए। रोज की ठोड़ी बनाना भी छोड़ दिया। ठाकुरजी के दर्शन करने आएं तो बात दूसरी है, नहीं तो महिलाओं से बातें करनी भी छोड़ दीं। एक बार तो उन्होंने पूरे बारह वर्षों तक अन्न भी छोड़ दिया था।

क्या कहूं उनके जप-तप की बातें। सुबह-शाम वह हजारों माला से भगवन्नाम जपा करते थे। कभी-कभी मध्यान्होत्तर में भी माला हाथ में आ जाती थी। एक बार भरी गर्मी में उन्होंने अपने चारों ओर कंडे जलाकर पंचाग्नि तपी थी और इक्कीस लाख गायत्री मंत्रों का जाप भी किया था। अस्सी वर्ष की अवस्था तक उन्होंने प्रयाग का कोई कुंभ और कल्पवास नहीं छोड़ा। वर्ष में एक बार यथासंभव नाथद्वारा में श्रीनाथजी के दर्शनों के लिए अवश्य जाते थे। महीने में एक बार गोवर्धन की परिक्रमा देते थे। एकादशी का व्रत रखते और उस दिन मथुरा, जिसे वह बैकुंठपुरी कहा करते थे, की परिक्रमा भी करते थे। श्री कृष्ण के अतिरिक्त उन्होंने किसी देवी-देवता को नहीं माना। नहीं माना क्या, नमस्कार भी नहीं किया। केवल मथुरा के प्राचीनतम मंदिर गोकर्णेश्वर में वह प्रांगण में लटके घंटे को बजाते हुए रावण द्वारा रचित 'धगद् धगद् धगद् ज्वलल ललाट पट्ट पावके।" स्तुति

की सस्वर पाठ किया करते थे। दादाजी कहते थे कि महादेवजी परम वैष्णव हैं। वह नमन के योग्य हैं।

यमुनापार एक पुराने साधु रहा करते थे। उनकी जटाओं के बाल बांस-बांस-भर लंबे थे। उन्हें पतली-पतली वेणियां बनाकर वह पग्गड़ की तरह सिर पर ऐसे लपेटते थे कि ऐसा लगता था कि जैसे सिर पर चक्की का पाट रखा हुआ हो। उनकी उम्र का कोई अनुमान नहीं था। पिताजी से उनकी मित्रता थी। जब कभी दोनों मिलते तो बड़ा आनंद आता। दादाजी कहते–"राधेश्याम !" और बाबा उत्तर देते–"सीताराम !" दादाजी कहते–"जय श्रीकृष्ण !" और बाबा उत्तर देते–"जय श्रीराम !" देर तक दोनों में यह मोद-विनोद चलता रहता। पिताजी घर में मां को बासोड़ा, अहोई, दुर्गाष्टमी, अनंत चौदस, शिवरात्रि आदि नहीं मनाने देते थे। कहते थे–"भूतों को सेनेवाला मरकर भूत बनता है। देवी दुर्गा को माननेवाला इसी जन्म में मद्यपी और हिंसक बन जाता है। "ओम नमः शिवाय" क्यों जपते हो ? शिवजी स्वयं जिनका ध्यान धरते हैं और जिनकी लीलाओं का स्मरण करने के लिए समाधि लगाते हैं, उनका नाम जपो और उनकी शरण में जाओ–"कृष्णस्य भगवान स्वयं।"

जब वह तिहत्तर वर्ष के हुए तो उन्होंने 'क्षेत्र संन्यास' ले लिया। फिर कभी वैकुंठपुरी मथुरा से बाहर नहीं गए। कपड़े नहीं रंगे, मन रंगा। दंड धारण नहीं किया, दृढ़तापूर्वक सत्य को धारण कर लिया। मथुरा के विश्रामघाटी चतुर्वेदियों से उनका मंदिर को लेकर प्रायः झगड़ा चलता रहता था। मुकदमेबाजी भी होती थी। परंतु वह किसी के सताने और अपशब्द कहने पर भी कठोर वचन नहीं कहते थे। मुकदमा भले ही कमजोर हो जाए, पर झूठ नहीं बोलते थे। एक दिन में लगभग अठारह घंटे उनके ठाकुर सेवा, भगवन्नाम जाप, गीता-भागवत पाठ और कीर्तन में बीतते थे। सवेरे ठाकुरजी के पट तब खोलते जब आधा घंटा तानपूरे पर कीर्तन कर लेते।

एक बार की बात है कि जन्माष्टमी के दूसरे दिन कीर्तन करते-करते उन्होंने मंदिर के पट खोले। देखते क्या हैं कि एक बड़ा लंबा-चौड़ा सांप कुंडली मारे और फन फैलाए ठाकुरजी के सिंहासन के सामने बैठा हुआ है। पिताजी तुलसी में जल देकर और गिर्राजजी के शिलाखंड को नहलाकर कीर्तन करने बैठते थे। उन्होंने सर्प देवता को नमस्कार किया और तानपूरे के तार छेड़ दिए। आधा घंटा तक वह कीर्तन करते रहे तथा सांप अपने स्थान पर लहरा-लहराकर मंगला के पद सुनता रहा। पिताजी नयन मूंदकर कीर्तन किया करते थे। उस दिन उन्होंने एक-दो बार आंखें खोलकर देखा कि वासुकिदेव विराजमान हैं और संगीत श्रवण कर रहे हैं। दादाजी ने मुझे बताया कि जैसे ही मैंने तानपूरा नीचे रखा और ठाकुरजी के सामने दंडवत करके सिर ऊपर उठाया तो देखा कि सर्प देवता अदृश्य हो गए हैं। ऐसा सुंदर सांप उन्होंने जीवन में कभी नहीं देखा था। कहा कि उन्हें सर्प रूप में गिर्राजजी के दर्शन हो गए। यह 'रज्जोर्यथा हे भ्रम," था या वास्तव में सांप निकला और विलीन हो गया अथवा पिताजी के विश्वास के अनुसार स्वयं गोवर्धननाथ ने उन्हें दर्शन दिए ? इस पर जो विश्वास करना चाहें करें और जो न करना चाहें, न करें। लेकिन एक ऐसी ही अन्य घटना, जिसके साक्षी मंदिर के आसपास के बीसियों पंडे, पुजारी और

लोग हैं तथा उनमें से कुछ अभी तक जीवित हैं, उसके लिए आप क्या कहेंगे ? एक दिन की बात है कि दादाजी मंदिर की तिबारी की बगल में ठाकुरजी का भोग सिद्ध कर रहे थे (रसोई बना रहे थे) कि एक काला भुजंग, लंबा और तगड़ा सांप सीढ़ियां पार करता हुआ सीधा मंदिर में घुसा तथा राधा और दामोदर के बीच फन फैलाकर खड़ा हो गया। वह इतने जोर से और लगातार फुंकार रहा था कि आसपास के लोग तथा बाद में कुछ रिश्तेदार भी लाठी, बल्लम और फरसे लेकर आ डटे। वे चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगे–"गुसाईंजी, भागो ! निकलो यहां से। यह करैत बड़ा विषधर है। हम इसे अभी ठिकाने लगाए देते हैं।" दादाजी उठे। युगल मूर्ति के मध्य में छत्र बने हुए नाग देवता के दर्शन किए। शीश झुकाकर दंडवत की। लोगों से कहा–"भगवान शेषावतार पधारे हैं। दर्शन करो और अपने-अपने घर जाओ।" लोगों ने बहुत समझाया, पर दादाजी टस से मस नहीं हुए। करैत फुंकारता रहा और पिताजी रसोई बनाते रहे, फिर मंदिर में घुसकर ऊंची चौकी पर ठाकुरजी का भोग रखा। पट बंद किए। गाने लगे–"आगै आओ री छकिहारी।"

लोग फिर जुड़ आए। कहने लगे–"सांप ने भोग में मुंह मार दिया होगा। इसे खाना मत। रात को मंदिर में सोना मत।" दादाजी मुस्करा दिए। बोले–"प्रभु की लीला को कौन जान पाया है ? जाओ भाई, जो होना होगा हो जाएगा।" भोग के बाद पट खोले। सर्प देवता यथावत डटे हुए थे। भोग सामग्री बाहर निकाली। चौकी हटाई। 'झारी' बदली। पान का बीड़ा रखा। बाहर आए और प्रेम से प्रसाद ग्रहण किया। रात को भी मंदिर के सामने जमीन पर सोते रहे। सांप थक गया था या देवता जो परीक्षा ले रहे थे वह समाप्त हो गई, करैत न जाने कहां विलुप्त हो गया ? बाहर से किवाड़ बंद। भीतर से मंदिर पक्का। कोई छिद्र नहीं। इसे आप चमत्कार कहेंगे या क्या ? भ्रम तो यह हो नहीं सकता। एक हो, दो हों, बीसियों लोग भ्रमित नहीं हो सकते। जो भी हो, इस घटना से पिताजी की निर्भीकता और अटल विश्वास की पुष्टि तो होती ही है। वह कहा करते थे–"विश्वास फलदायक !" रात्रि को ठाकुरजी को शयन कराकर गाया करते थे–"भरोसौ दृढ़ इन चरनन केरौ।" मुझसे कहा करते थे–"ठाकुरजी कूं पत्थर की मूर्ति मत समझौ। जे जमुनाजी में ते प्रकट भए हैं। साक्षात् दामोदर प्रभु हैं जे। मथुरा कौ जि सबते प्राचीन मंदिर है। यामें बल्लाभाचार्य हू पधारे हैं और स्वामी दयानंद हू। पर तू तो नास्तिकन के संग में रहै है। तेरी बुद्धि भ्रष्ट है गई है। प्रभु तोय सुमति देंय।"

ऐसे ही एक बार बोले–"मैं तौ अकेलौ या मंदिर में निर्भय रहू हूं। कोई चोर-बदमास कौ खटका होय तौ कहूं हूं–देखियो लाला दामोदर, जि कौन है ? और दुष्ट भाग जाय हैं। ठाकुरजी मेरी रक्षा करैं हैं। कोऊ विश्वास नाय करैगौ। मैं काहू ते कहूं हू नहीं हूं। तोते तौ यातें कहि रह्यौ हूं कि तेरौ विश्वास ठाकुरजी के चरनन में बढ़ैगौ। मैं तो साक्षात् अनुभव करूं हूं कि लाला, मेरे आगे-पीछे रुनक-झुनक डोलै है।"

मुझे याद नहीं पड़ता कि बचपन में मुझे कभी पिताजी ने मारा हो। मेरी शैतानियों पर भी उन्होंने एक-दो बार सख्त-सुस्त कहा तो अवश्य था, लेकिन मुझसे क्या किसी के भी प्रति उनके मुख से अपशब्द नहीं निकलते थे। वह अपने आक्रोश को अपनी मुद्राओं से ही ऐसे प्रकट कर दिया करते थे कि मैं उनसे डरा-डरा रहता था। कभी उनको जवाब

देने की जुर्रत तो मैंने अपनी सत्तर वर्ष की अवस्था तक नहीं की। प्रारंभ से ही मेरा स्वभाव छेड़छाड़ और हंसी-मजाक का रहा है। वही आगे चलकर व्यंग्य-विनोद में प्रकट हुआ। जैसे-जैसे अवस्था बढ़ती गई, मेरे बोल-व्यवहार व्यंग्य-विनोदी होते गए। राजर्षि टंडनजी, स्वर्गीय प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्रीजी, उससे पहले स्व. जवाहरलालजी और स्व. बाबू राजेन्द्रप्रसाद तक से चुटकियां लेने में मैं नहीं चूका। परंतु पिताजी के सामने ऐसा साहस मैं कभी नहीं कर पाया। केवल एक बार मामूली-सा विनोद किया, लेकिन उसका उत्तर उन्होंने बड़ी गंभीरता और आत्मबल के साथ दिया कि मैंने आगे के लिए कान पकड़ लिए।

एक बार उन्होंने मुझसे पूछ लिया—"गुपाल, बहुत कमजोर है गयौ है। रात कूं दूध नांय लेय का ?" मैंने सहज विनोद में कह दिया—"आपसे पहले ही आपकी व्यवस्था करने के लिए मेरा परलोक पहुंचने का इरादा है।" तो वह बोले—"असंभव। जब तक मैं जीवित हूं तब तक तेरौ कछु नहिं हांयगौ। आगै तू जानैं और तेरे करम। और सुन मैंनैं या जीवन में कोई पाप नहीं करे हैं। जि मेरी आखिरी जौन है। अब या लोक या परलोक में कहूं नहिं जाऊंगौ।" मैं पछताया कि हे भगवान, मैंने क्या कह दिया !

ऐसे ही एक बार उन्होंने बातों-बातों में चेतावनी दे दी—"देख गुपाल, तैनैं या जनम की कमाई तौ बहुत कर लई। अब आगै की सोच। या कमाई से वहां काम नहीं चलैगौ।" बात मन में गहरै पैठ गई। कुछ करना चाहता हूं। करता भी हूं, पर मन को इतना विकृत और चंचल कर लिया है कि वह स्थिर ही नहीं होता। अब कौन ऐसा है जो मुझे इसका उपाय बताएगा ? उनका एक बार का कहा बस याद है—"कछू न बन सकै तो प्रभु कौ ध्यान राखनौ। प्रभु के चरणारविंदों में विश्वास रखौगे तौ "विश्वास फलदायक।" परंतु इसको क्या करूं युग के प्रवाह ने अडिग विश्वास को भी तर्क के तीरों से घायल कर रखा है।

दादाजी माया-मोह से एकदम निरासक्त हो गए थे। जब कभी मैं दिल्ली से जाता तो पूछते—"कौन गुपाल आयौ, आ !" वह अपरस में रहते थे। मैं उनके चरणस्पर्श नहीं कर सकता था। दंडवत करता तो कहते—"राजी रहौ। बालक राजी हैं ? कैसे आनौ भयौ ? कब तक मुकाम है ? भोजन-भाजन भए ?" बस, मौन। मतलब यह कि अब जा सकते हो। न ऊधो का लेन, न माधो का देन। पत्नी जाती। घर-गृहस्थी की बातें करती तो कहते—"मोय जि सब मत सुनावै।" पत्नी कहना जारी रखती तो कहते—"फालतू बातें मत करै। अब तू जा।" उन्हें एकांत प्रिय था। आने वाले का स्वागत प्रेम से करते। कुशल-क्षेम पूछते और शीघ्र ही उसे प्रस्थान भी करा देते। वह भले और उनके ठाकुरजी भले। उन दोनों के बीच में कोई घर-बाहर का व्यक्ति नहीं आ सकता था।

वह सभी एषणाओं को त्याग चुके थे। न उन्हें धन चाहिए था, न वित्त। मैंने मंदिर के खर्च के लिए मथुरा में मकान बनवा दिया था। उसके किराये से अपना नहीं, ठाकुर सेवा का काम चलाते थे। जब कभी मैं उन्हें कुछ रुपए देने का यत्न करता तो कहते—"मैं पइसा कौ का करूंगौ ? जो मिलै है वाई में आनंद करूं हूं।" स्वास्थ्य के बारे में भी उनका यही कहना था—"मैंने बचपन में खूब आनंद लिए। जवानी भी आनंद में बीती और बुढ़ापे

में भी आनंद मानूं हूं।" यह कथन तो उनका तब था जब तिवारी का खंभा पकड़कर खड़े हो पाते थे। चलते में चक्कर आते थे। बाजार-कचहरी जाते तो कहीं भी गिर पड़ते थे। लोग बताते थे, लेकिन उन्होंने कभी नहीं बताया। ऐसी अवस्था चार-छह महीने रही। उसे भी वह आनंद से काट ले गए। न डॉक्टर की दवाई खाई और न उस वैद्य की दवा ली जो अपनी औषधियां यमुना-जल से न बनाता हो। मरते समय उन्होंने अपना आसन ठाकुरजी के सामने जमा लिया था। वह उनके दर्शन करते रहते और मनन-चिंतन करते रहते। मैं पूछता- "दादाजी, कैसी तबियत है ?" तो कहते-"सब चलै है। एक ही कष्ट है कि जि ठाकुर मोते निष्ठुर है गयौ है।"

उनके अंतिम दिनों में जब एक रात हम दोनों पति-पत्नी उनकी अगल-बगल में सोये हुए थे तो वह अचानक जोर से बोले-"कौन है ? क्यों आयी है ? तेरे सिर पै तो मोर-मुकुट नायं। छड़ी-बंसी कहां गई ? जा, भाग जा। तेरे संग नायं चलूंगी।" हम दोनों ने जागकर देखा कि वहां कोई नही था। दादाजी से कहा-"यहां तो कोई नहीं है। किससे बात कर रहे हो ?" तो उन्होंने खुले हुए दरवाजे की ओर इशारा करके कहा-"वह देखो, सफेद कपड़ान में कोऊ ठाडौ है।" पत्नी बोली-"दादाजी, वहां तो कोई नहीं है। सो जाओ !" बोले-"अच्छौ ! अरे आए और सारे चले गए।"

मा की तरह ही मै पिताजी की इहलीला सम्पन्न होने के अवसर पर उनके पास नहीं था। उन्होंने मुझसे कहा था-"अपनौ काम करौ। जल्दी ते जल्दी "व्रज विभव" ग्रंथ कूं पूरौ कर दो। जब जानौ होयगौ तौ तोय बुला लुंगौ।" मृत्यु से एक दिन पूर्व उन्होंने कहा-"गुपाल कू टेलीफून करौ।" पहले दिन करनेवाले ने लापरवाही की, दूसरे दिन रात के दस बजे फोन मिला। तब तक वह दिवंगत हो चुके थे। लेकिन फोन पर सिर्फ इतना ही बताया गया कि "तबियत ज्यादा खराब है। फौरन आ जाओ। दादाजी ने कहलवाया है।" हम सब लोग कारों और रेलों से दौड़ पड़े। मेरी पत्नी और दो सेवक उनके पास ही थे। पिताजी नश्वर शरीर छोड़ चुके थे। मेरी पत्नी ने मुझे बताया कि "मृत्यु से आधा घंटा पहले उनकी जुबान लड़खड़ा गई थी। बोले-अप्पी (अशर्फी) ! गुपा ऽ ऽ आ ऽ ऽ ! गोविन ऽ आ ऽ आ !" पत्नी ने कहा-"सब आ रहे हैं। फोन कर दिया है।" फिर अचानक जुबान साफ हो गई। रटना लग गई-"गोपाल गोविंद ! गोविंद गोपाल ! !" उस समय विश्राम घाट पर यमुनाजी की आरती हो रही थी। घंटे-घड़ियाल बज रहे थे। आरती समाप्त होते ही बड़े जोर से जयकारा लगता है। उस दिन भी लगा-"बोल जमुना मइया की जै !" पिताजी ने भी कहा-"जै !" और उनके प्राण न जाने किस अज्ञात यात्रा पर निकल गए।

अपने पिता, अपने गुरु, अपनी आत्मा में साक्षात् श्रीकृष्ण का दर्शन करनेवाले, आज की पीढ़ी के लिए सर्वथा दुर्लभ, तपःपूत, परम वैष्णव, परम आत्मन् पिताश्री के चरणों में प्रणिपात ! प्रभु से प्रार्थना है, पिताजी की पुण्यात्मा का भरोसा है कि वे मुझे सुपथ पर चलने और सत्कर्मों में सतत् प्रवृत्त रहने की प्रेरणा देते रहेंगे।

गुपाल की मथुरा

पहले-पहल मैंने शहर देखा। मुश्किल से उम्र रही होगी कोई छह साढ़े-छह साल। पत्थर के बाजार। दोनों ओर सजी-धजी कतारबद्ध दुकानें। आलीशान इमारतें। ऊंची-ऊंची हवेलियां। कदम-कदम पर मंदिर। उनके बड़े-बड़े दरवाजे। चढ़ने के लिए छोटी-बड़ी सीढ़ियां। जगह-जगह मिठाइयों और पान की दुकानें। कहीं सर्राफा तो कहीं बजाजा। कहीं खेल-खिलौने तो कहीं घंटे-झालर। कहीं मालाएं तो कहीं मुकुट-शृंगार और मूर्तियां। कहीं चना-चनौरी तो कहीं परातों में लड्डू-पेड़े। बड़ी-बड़ी परातों में एक के ऊपर एक जमाए हुए बर्फियों के ऊंचे-ऊंचे कोट। उन पर लगे हुए चांदी के चमकीले वर्क। खाने की बात तो पीछे, देखते ही मन उछल पड़े। एक गंवई बालक के लिए यह सब एकदम नया, आश्चर्यजनक और ललक से भरा हुआ था।

मुझे आज की-सी याद है जब मैं गांव से चला तो मेरी दादी जिनका नाम आनंदी था, पीछे-पीछे दो मील तक अपने पल्लू से आंसुओं को पोंछ-पोंछकर कहती जाती थीं—"ब्रजकिशोर, इसे मत ले जा। गुपाल के बिना मैं कैसे रहूंगी ?" यों पिताजी हर चार भाई थे। तीन बहुएं थीं। गाय-बैल और बछड़े-बछिया थे। भरा-पूरा घर था। गांव में एक ही पक्का मकान था—हमारा। गांव-भर के लोग दादी का सम्मान करते थे। लेकिन बालक के रूप में घर में अकेला ही था। घर में भी सबका लाड़ला और ननिहाल में भी सबका दुलारा। मेरे मामा भी निस्संतान थे। दादी मुझे बड़ा प्यार करती थीं। सुबह-सवेरे एक बड़े मटके में मठा बिलोतीं और मुझे मक्खन खिलाया करती थीं। वह गोवर्धन के अड्डे तक रोती-कलपती दो मील तक पैदल आई थीं। मेरे इक्के में बैठने से पूर्व उन्होंने मेरे सिर पर और पीठ पर हाथ फेरा, बार-बार पुचकारा और चुपचाप मुट्ठी में चवन्नी रख दी। कुदर-कुदरकर इक्का चल पड़ा। मैं मुड़-मुड़कर दादी की ओर देखता जाता था और दादी मथुरा जाते हुए इक्के की ओर। धीरे-धीरे मेरी आंखों से दादी ओझल हो गईं और दादी की आंखों से इक्का ओझल हो गया। आज उस दृश्य पर मुझे अपने ही गांव में गाए जानेवाला

एक लोकगीत याद आ रहा है–

अब रथ पहुंचौ संवरिया कौ दूर,
ऐसी खबर जो होती,
मैं रथ के नीचे सोती,
मेरौ है जातौ चकनाचूर।
अब रथ पहुंचौ संवरिया कौ दूर।

यशोदा मइया की भी अपने गुपाल के मथुरा-गमन के समय में ऐसी ही हालत रही होगी।

हां, तो मैं मथुरा का वर्णन कर रहा था। तब मथुरा अधिक साफ-सुथरी थी। लोग लंबे-चौड़े थे। प्रायः सबके हाथ में छोटी-बड़ी लाठियां रहती थीं। पढ़े-लिखे लोग भी निहत्थे नहीं चलते थे। उनके हाथों में मुड़े हुए बेंत या मूठदार छड़ियां हुआ करती थीं। ब्राह्मण कंधों पर दुपट्टे (उत्तरीय) या अंगोछा रखते थे और वैश्य महाजनों के कंधे भी सूने नहीं रहते थे। पहलवान सिर पर सेले बांधते थे और वैश्य तथा भार्गव जाति के लोग टोपियां पहना करते थे। पुराने लोग पगड़ी बांधते थे। पंडे-पुरोहित, वैश्य-महाजन से लेकर नाई-ठाकुर तक के बड़े-बूढ़े पगड़ी पहनते थे। इन्हें समाज में बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। बटनदार कपड़ों का रिवाज कम था। प्रायः लोग बगलबंदिया पहनते थे। अधिकतर स्त्री, पुरुष नंगे पैर चला करते थे। मथुरा में उन दिनों कछुओं, बंदरों और चौबों का जोर था। गायें बाजारों में फिरती रहती थीं। सांड लड़ते रहते थे। बंदर उठाईगिरी करते थे। चीलें झपट्टे मारती थीं। गिलगिलियां इधर से उधर फुदकती फिरती थीं। सुबह तोतों के झुंड के झुंड यमुनापार से पश्चिम दिशा की ओर जाते और शाम को पूर्व दिशा की ओर से लौटा करते थे। लोगों को कबूतर पालने का शौक था। लोग फुरसत के समय घाट-किनारे ही नहीं, बाजारों में टाट बिछाकर शतरंज, चौपड़ और ताश खेला करते थे। बात-बात में लकब लगाना और गालियां देना आम था। नागरिक दो श्रेणियों में बंटे थे–एक अपढ़ यानी कुबड्डु और दूसरे सुसंस्कृत और सुपठित। परंतु, व्यावहारिक दर्शन और पारंपरिक ज्ञान की थाती कुबड्डों के पास भी थी। प्रायः सभी लोग बिंदी-बिंदा और तिलक लगाया करते थे। गले में छोटी-बड़ी कंठी पहना करते थे और रह-रहकर यमुना मइया, राजाधिराज द्वारिकाधीशजी, रंगेश्वर और भूतेश्वर, महाविद्या या चामुंडा आदि देवी-देवताओं का स्मरण करते और दर्शनों को जाया करते थे। जगह-जगह भांग घुटती और छनती दिखाई देती थी। लोग दूध, दही और रबड़ी के शौकीन थे। शाम को दुकानें बंद होते ही लोग उनके पट्टों पर आ जमते थे। स्तुति-निंदा और गप्पें चलती थीं। हलवाइयों की दुकानों पर कड़ाहियों में खालिस दूध औटते रहते थे। मलाइयां पड़ती रहती थीं। प्रायः सभी को रात में दूध पीकर कुल्ले फोड़ने का शौक था।

मथुरा की चाट-पकौड़ी बड़ी नामी थी। तरह-तरह की टिकियां (पानी के बताशे) बनती थीं। तेल की ही नहीं, देशी घी की भी। सादा ही नहीं, सोंठ, जीरे और अजवाईन की भी।

आवाजें लगती थीं—आ पीले सांट का पानी, तेरी जाती रहे गिरानी। किशमिश-छुहारों के खोमचे भी लगते थे। सुबह जलेबी-कचौड़ी का नाश्ता। शाम को भांग-ठंडाई और चाट-पान। रात को मलाईदार दूध। खाना-पीना और मस्त रहना, यही मथुरा के लोगों का धर्म-कर्म था।

मथुरा में गुणियों की भी कमी नहीं थीं। अलग-अलग वेदों के कंटाग्री विद्वान उन दिनों विद्यमान थे। धाराप्रवाह संस्कृत बोलनेवालों की भी कमी नहीं थी। एक-से-एक बढ़कर ज्योतिषी, व्याकरणाचार्य, साहित्याचार्य और बड़ी संख्या में भागवती पंडित उस समय मथुरा में विद्यमान थे। ब्रजभाषा का तो मथुरा गढ़ ही था। साधारण-से-साधारण लोगों को भी दस-बीस कवित्त-सवैये याद होते थे। अंत्याक्षरी और ब्रजभाषा की कविताओं की पढ़ंत का जोर था। संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला और काव्यकला के अनेक धुरंधर व्यक्तित्व उस समय मथुरा में थे।

मथुरा मेलों और उत्सवों की नगरी है। आज वहां झांकी बन रही है—चलो ! आज वहां घटा पड़ रही है—चलो ! आज वहां फूल-बंगला सजा है—चलो ! आज वहां का फूलडोल है—चलो ! आज दुर्वासा का मेला है—चलो ! आज वहां अन्नकूट है—चलो ! आज वहां छप्पन-भोग हैं—चलो ! आज वहां की डंडेशाही निकल रही है—चलो ! आज वहां नौटंकी या भगत हो रही है—चलो ! आज वहां रास हो रहा है—चलो ! आज वहां कथा हो रही है—चलो ! आज वहां कुश्तियां हो रही हैं—चलो ! राम की ही नहीं, रावण की लीला हो रही है—चलो ! अरे पास ही तो है। वृंदावन में रथ का मेला देखने चलो। चलो, आज बांकेबिहारी के दर्शन कर आएं। आज अखै नौमी है। आज कंस का मेला है। आज देवउठनी एकादशी है। उठो, परकम्मा देने चलो। उठते क्यों नहीं। विश्व-विजयी गामा पहलवान आया है, बालों से पांच मन का पत्थर उठानेवाली ताराबाई आई है, और दोनों हाथों से दो-दो शेवरलेट गाड़ियों को रोके रखनेवाले राममूर्ति आए हैं—देखने चलो। बंगाले का जादूगर, अलफ्रेड नाटक कंपनी, मनहर वर्वे का गायन, बच्चूगुर की आशु कविताएं, मथुरा में रोज-रोज कुछ-न-कुछ नित्य नवीन होता रहता था। कभी गांधीजी आते तो कभी नेहरूजी। कभी आते नेताजी सुभाषचंद्र बोस और कभी जगती क्रांतिकारी लाल पलटन। हल्ला मच जाता चलो—चलो। इनके कारण लोग अभावों को भूले रहते थे। गरीब और अमीर सबके लिए मथुरा दर्शनीय, श्रवणीय, मनोरंजनीय तो थी ही, वह पग-पग पर भक्ति और ज्ञान के फूल की महक भी बिखेरती रहती थी।

कुछ बड़े लोगों के नाम याद आ रहे हैं—चंदन और बलदेव पहलवान, ध्रुपद-धमार के गायक चंदन चतुर्वेदी और ग्वारिया बाबा, शिवप्रसाद ज्योतिषी बाबा, दुर्लभराम वैद्य, महाकवि नवनीत चतुर्वेदी, शतरंज मार्तण्ड कृष्ण कवि, पद रचयिता बल्लभ सखा, नौटंकी कथनेवाले नथन, सुख संचारक कंपनी के संस्थापक पं. क्षेत्रपाल शर्मा, भर्तृहरि की रचनाओं को हिन्दी में लोकप्रिय बनानेवाले वैद्य हरिदास, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, भारत विद्याविद् वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रसिद्ध समालोचक डॉ. सत्येन्द्र तथा संस्कृत-साहित्य, व्याकरण, दर्शन और कर्मकांड के महापंडित गोस्वामी लक्ष्मणाचार्य एवं श्रीवर चतुर्वेदी, जगतसेठ लक्ष्मीचन्द के वंशज जिन्होंने मथुरा को राजाधिराज का मंदिर दिया। उनकी विशाल हवेली भी मंदिर

द्वारिकाधीश के सामने थी। उनके पूर्वजों ने ही वृंदावन में दाक्षिणात्य शैली का रंगजी का मंदिर बनवाकर उसमें सोने का विशाल स्तंभ खड़ा किया और जैन तीर्थ चौरासी का निर्माण भी इन्हीं के द्वारा हुआ। सेठ चार घोड़े की वग्घी में निकलते थे। गले में मोटे-मोटे पन्ने का कंठा पहनते थे। उनके गौरवर्ण पर इंदौरी पगड़ी वड़ी फबती थी। जब उनकी सवारी निकलती तो दुकानों पर और राह चलते लोग जुहार करने लगते थे।

मैं कहां-से-कहां बह गया। हां, तो मैं पिताजी के साथ बाजारों से गुजरता हुआ मथुरा के प्रसिद्ध विश्रामघाट पर पहुंचा, वहीं पर हमारा श्री राधा-दामोदरजी महाराज का मंदिर है। मेरे पिताजी यहीं रहकर ठाकुरजी की सेवा, भजन और मनन किया करते थे। उनके कथनानुसार नई मथुरा का ये सबसे पुराना मंदिर है। आज का विश्रामघाट बाद में बना। ये मंदिर उसके पहले का है। द्वारिकाधीश का मंदिर भी बाद में वना। राधा-दामोदरजी के दर्शन श्रीमद् वल्लभाचार्यजी ने भी किए थे और इसकी बगलवाली तिबारी में स्वामी दयानंदजी भी यदाकदा विश्राम किया करते थे। इस मंदिर के बगल में एक कुआं था, जिसे अकबरकालीन राजा वीरबल ने बनवाया था। उसका जल बड़ा ही मीठा और शीतल होता था। मैं उसे ही पिया करता था। शायद इसी के ही कारण मुझमें हाजिरजवाबी और विनोदवृत्ति उभरी होगी।

विश्रामघाट जैसा भारत में कोई सुंदर, सुव्यवस्थित और कलात्मक घाट दूसरा मैंने नहीं देखा। इसका निर्माण महादजी सिंधिया ने कराया था। इसके चारों ओर तिबारियां हैं, जहां माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण भजन करते हैं और यात्री ठहरते हैं। लंबा-चौड़ा प्रांगण है। बीच में अष्टदल कमलवाला एक छोटा-सा मंडल था। ये शायद किसी महापुरुष की समाधि रहा होगा। संध्या को इस मंडल में दो मुकुट सजाकर रखे जाते थे। कहा जाता है कि कंस को मारकर श्रीकृष्ण-बलदेव ने यहीं पर विश्राम किया था। इसी से इस स्थान का नाम विश्रामघाट पड़ा था। घाट के बाईं ओर समर्थ स्वामी रामदास की समाधि के रूप में एक विशाल छतरी है। दाहिनी ओर भी एक वैसी ही छतरी बनी हुई है। घाट पर कई तुलाएं (महराबदार द्वार) हैं। ये भूतपूर्व नरेशों की तुलादान की स्मृति में निर्मित कराई गई हैं। इनमें बड़े-बड़े वजनी घंटे लटके हुए थे। प्रातः-संध्या आरती के समय लोहे की छड़ें डालकर इन्हें बजाया जाता था। विश्रामघाट की आरती प्रसिद्ध है। उन दिनों प्रातः पांच बजे और संध्या को सात बजे के लगभग आरती हुआ करती थी। सैकड़ों देसी-परदेसी लोग इस अवसर पर उपस्थित हो जाते थे। दूर-दूर से चलकर यमुना में कछुए और छतरियों तथा तिबारियों के ऊपर बंदर भी आ जमते थे। बंदरों को चने और कछुओं को राम नाम की आटे की गोलियां डाली जाती थीं। छोटी-छोटी छतरियों में दीपक सजाकर यमुना में तैराए जाते थे। आरती के समय विश्रामघाट के सामने कोई नाव नहीं चल सकती थी। नावें दोनों तरफ कतारबद्ध खड़ी रहती थीं और यात्री दोनों ओर से आरती का दृश्य देखा करते थे। आरती कमल के आकार की कई फलकोंवाली बड़ी वजनी होती थी। इसमें एक साथ बीसियों बत्तियां जलाई जा सकती थीं। शिरोभाग पर कर्पूर के लिए एक सुंदर कटोरी होती थी। आरती करनेवाले पुजारी इसे बीसों बार घुमाते और ऊपर की ओर ले जाते थे। यह दमखम का काम था। विशेषकर प्रातःकालीन आरती तो एक घंटे तक चलती

थी। आरती के समय नौबत बजा करती थी। नौबत बजानेवाले मुसलमान हमारे मंदिर के बाहरवाली सीढ़ियों से गुजरकर जाते थे। पहले ये नौबत झालरा-पाटन रियासत की ओर से बजती थी। बाद में भरतपुर के राजाओं की ओर से बजने लगी। रास्ते के एवजाने के रूप में मंदिर को एक पंटियां दिया जाता था। आरती का यह दृश्य बड़ा मनोरम और भव्य होता था। जन्माष्टमी पर आकाशवाणी द्वारा जब पहले-पहले मथुरा से सीधा प्रसारण हुआ तो पहले आरती का दृश्य ही घंटे-झालरों की गूंज के साथ प्रसारित किया गया। तब रेडियो के उपकरण हमारे मंदिर से ही परिचालित किए गए थे। आरती की प्रथा तो आज भी उसी तरह प्रचलित है। लेकिन जन्माष्टमी का कार्यक्रम अब द्वारिकाधीश मंदिर और श्रीकृष्ण जन्मभूमि से प्रसारित किया जाता है।

यमुना के घाट बहुत सुंदर और तरतीब से बने हुए हैं। इनमें उत्तर में कृष्ण गंगा-घाट, स्वामी घाट, असिकुण्ड घाट और विश्रामघाट से दक्षिण की ओर सती घाट, राजाघाट, भैरव-घाट, कदम घाट, दाऊजी मदनमोहनजी का घाट, दण्डीघाट, बंगालीघाट तथा रेलवे पुल के आगे सूर्य घाट, ध्रुव घाट प्रसिद्ध हैं। जब मैं मथुरा आया तो यमुना की धारा इन सभी घाटों को स्पर्श करती हुई बहती थी। जल बड़ा निर्मल और प्रदूषण रहित था। सहस्रों मन दूध प्रतिदिन यमुना में चढ़ाया जाता था। ध्रुव घाट के आगे श्मशान घाट था। यहां मुर्दे जलाए जाते थे और चिताओं को यमुना के जल से शीतल किया जाता था। शव की हड्डियां यमुना में ही विसर्जित कर दी जाती थीं। मथुरा को वैकुंठपुरी मानते हैं और यमुना को यम की बहन। इसीलिए कार्तिक शुक्ला द्वितीया को विश्रामघाट पर यम द्वितीया का स्नान होता है। लाखों भाई-बहन हाथ पकड़कर नहाते हैं। माना जाता है कि इस दिन जो विश्रामघाट पर स्नान करता है वह यमलोक नहीं जाता। मथुरा में देह छोड़नेवालों को मोक्ष की प्राप्ति होती है। उनकी अस्थियों को हरिद्वार या प्रयाग में नहीं डाला जाता। उनकी अर्थी को सिर्फ एक बार विश्रामघाट पर विश्राम दिया जाता है।

आप कभी मथुरा जाएं तो नाव में बैठकर या यमुनापार खड़े होकर मथुरा की छवि के दर्शन करें। ऐसा लगेगा कि जैसे कोई वृहत्तर जहाज मथुरा के निकट आकर ठहर गया है। मथुरा यमुना पर तैरती हुई दिखाई देगी। मथुरा शहर टीलों पर बसा है। इन पर बने हुए मकान घाट की सीढ़ियों की तरह ही ऊंचे-ऊंचे उठते दिखाई देते हैं। मैंने देश-विदेश के अनेक शहर देखे हैं, पर मथुरा सुव्यवस्थित, सुंदर, अलंकृत और एक ही घूमते हुए बाजार के चारों ओर बसा हुआ है। सुबह-शाम द्वारिकाधीशजी की मंगला और शयन के समय बाजार में आ जाइए, आपके सभी इष्ट मित्र यहां मिल जाएंगे। पूरी मथुरा सुबह-शाम विश्रामघाट के इर्द-गिर्द के बाजारों में स्वयं एकत्र हो जाती है। मैं अपने को बड़भागी मानता हूं कि मेरा बाल्यकाल, किशोरावस्था और जवानी का कुछ समय मथुरा में बीता। मेरे जीवन का ये समय मेरे व्यक्तित्व के निर्माण का समय था। इसी समय मेरा देह-सौष्ठव बना। मुझमें मथुरिया संस्कार पड़े। पढ़ा-लिखा, सीखा-गुना और सद्गुरुओं की कृपा प्राप्त की। स्वभाव ने अल्हड़पन और मस्ती पाई जो जीवन-संघर्ष में बडे काम आई। श्रीकृष्ण की जन्मभूमि ने मुझे रास-रंग ही नहीं, गीता का कर्मयोग भी सिखाया। मथुरा मेरे रोम-रोम में बसी है। अपनी भावनाओं को मैंने छंदबद्ध भी किया है, जो इस प्रकार हैं–

कृष्णपुरी है तऊ उजरी,
पथरी है तऊ रस की गगरी है।
मल्लपुरी है तऊ मधुरी, ध्रुव—
धारना, भावना भक्ति भरी है।
कै व्रजवास के कारन 'व्यास',
धरा पै पुरी अलका उतरी है।
मानो कलिंदजा के तट पै,
हटरी-सी धरी मथुरा नगरी है।

पार चलौ कै चढ़ौ पुल पै, कहुं
नाव में वैठिकै देखौ अगाड़ी।
सीढ़िन मंदिर वुर्ज अटान पै,
जात अकास लौ वाढ़-सी वाढ़ी।
'व्यास' खरीदत पेड़ा प्रसाधन,
चांदी के भूषण, छापे की साड़ी।
झुण्ड के झुण्ड चढ़ें-उतरें,
मथुरा नगरी है जहाज-सी ठाड़ी।

भक्त दिए ध्रुव जैसे महान,
अकास ते देत दिसान कौ ज्ञानें।
कृष्ण द्विपायन 'व्यास' दिए, "जय—
काव्य" रच्यौ इतिहास प्रमानें।
स्वामी दिए दयानंद महर्षि—से,
आर्य समाज लह्यौ जनता नें।
नंद कौं आनंदकंद दिए अरु,
कृष्ण कौं गीता दई मथुरा ने।

रांड नहीं सांड़ नहीं, साहित के भांड़ नहीं,
व्याकरण घोंटू नहीं पंडित कहय्या।
वूढ़े विश्वनाथ वहां, भैरों—भूत-प्रेत वहां,
यहां ग्वालवाल वलराम औ' कन्हैया।
भारतेन्दु, जैशंकर, प्रेमचंद जैसे 'व्यास'
कैसे वहां पैदा भए, अचरज भय्या ?
मथुरा है जन्मभूमि, काशी है मसान भूमि,
यहां रासलीला तौ वहां नक-कटय्या।
आदमी बनारसी हैं, साड़ी हूं बनारसी
आम हूं तौ लंगड़े भए, दय्या रे दय्या !

गंगा घहरावैं, यमुनाजी मंद-मंद वहैं,
वहां रोड़ी-रोड़ा, यहां कदमन की छय्या।
वहां पड़ैं हड्डी, यहां चढ़ै दीप-दूध-फूल,
वहां चंडी चेतै, यहां महाविद्या मय्या।
वहां कूंडी-सोटा और चीमटा-चिलम चलैं,
यहां ठौर-ठौर जमें विजया घुटय्या।
वहां मिलें साधूजन, यहां मिलें स्वादू 'व्यास'
वहां हर की पैड़ी, यह हरि-जनमय्या।

प्रात उठि मंगला कौ धावैं मथुरा के लोग,
कोऊ रंगेश्वर जाय बोल उठै बम-बम।
आचमन करैं कोऊ, गीता लैंय गिन-गिन,
कोऊ बुरजन चढ़ि कूद परैं धम-धम।
कर कलेऊ ये जलेबी—कचौरिन के,
मस्ती में कटैं हैं दिन, कैसौ रंज काकौ गम।
तोकू कहा जानैं, तेरे बाप की न मानैं,
यमुना के पूत हम, मामा हमारे यम।

मधु की पुरी है, भूमि लवणासुरी है यह,
कंस नगरी है, लोग लट्ठ लियें डोलैं।
अटक लड़ाई लैंय, बोलै ताहि गारी दैंय,
हाथ के मिलावत ही भुजबल तोलैं।
पट्टन पै छानें, बैठ पट्टन पै गिल्ला करैं,
दूध पीकैं कुल्ला फोड़, चलैं छाती खोलैं।
जैबें में परम सुख, देवे में महान दुख,
खूंटी तान सोवैं, आंख पांच बजे खोलैं।

इत झूलत हार उरोजन पै,
बनमाल उतैं उर लेत हिलोरे।
झुमका झमकैं इत कानन में
उत मोरपखा में उठैं हैं मरोरे।
इत राग मल्हार, उतैं बंसिया,
इत ताल मृदंग, उतैं घनघोरे।
उतैं यमुना, इत भीड़ में 'व्यास,'
चलौ द्वारिकाधीश के देखैं हिंडोरे।

भागे बौद्ध मठ छोड़, शस्त्र छोड़ भागे शक,
कृष्ण भागे बंसी छोड़, कुब्जा विसारी है।
पंडित प्रवीन भागे, माथुर कुलीन भागे,
यमुना हू भागी 'व्यास', जल-कष्ट भारी है।
चातक-चकोर भागे, शुक-पिक-मोर भागे,
कदम-तमाल भागे, झाड़-झंकारी है।
तऊ याहि देखिबे कूं भागैं दुनिया के लोग,
मथुरा हमारी तीन लोकन ते न्यारी है।

मधु बिखरै हौ, अब तेल निखरै है यहां,
फूल बरसै है, अब वरसत गारी है।
मीठौ खानवारे तब मीठौ ही वोलत हे,
वानी की चलावै कौन, पानी भयौ खारी है।
वांचिबै की कौन कहै, दरस न करैं हैं 'व्यास'
ऐसे चारवेदिन की भीड़भाड़ भारी है।
काहू सांची ही कही है, वात परख लई है हम,
मथुरा हमारी तीन लोकन ते न्यारी है।

पेड़ कट गए, पर पेड़ा यहां खूब बिकैं,
खुरचनें वतावैं मिठाई वड़ी भारी है।
द्वारिका धकेलौ कृष्ण, राधा की न लीनी सुधि,
अब जाहि देखौ श्यामाश्याम कौ पुजारी है।
धर जा और मर जा, नहीं कारौ मौंह कर जा,
"तू न सही, और सही" है जा बिहारी है।
स्वारथ पगी है, नहीं काहू की सगी है 'व्यास'
मथुरा हमारी तीन लोकन ते न्यारी है।

पं. गोपालप्रसाद व्यास सच्चे मित्र और फक्कड़ स्वभाव के पुरुष हैं। उनमें जीवन है, लगन है, निर्माण-शक्ति है और सरलता है।

—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

यादें भरतपुर की

राजस्थान मेरा परमप्रिय प्रदेश है। मैंने इसके चप्पे-चप्पे को छाना है। भरतपुर, करौली, अलवर, धौलपुर, जयपुर, अजमेर, उदयपुर, जोधपुर, बीकानेर और कोटा-बूंदी तो मैं बार-बार गया हूं। यहां के किले, महल, मंदिर, हवेलिया और यहां का शिल्प और स्थापत्य मुझे हमेशा इनकी बुलंदियों का अहसास कराता रहा है। राजस्थान की हर रियासत की अलग पहचान। अलग वेशभूषा। अलग शौक-मौज और अलग से अनोखी अदा। जब ये रियासतें अपने पूरे जोम में थीं और यहां के राजे-महाराजे जब बड़ी शान-शौकत से रहते थे, उनमें से कुछ को मैंने निकट से देखा है। भरतपुर की रबड़ी, जयपुर का मिश्री-मेवा (कलाकद), जोधपुर की खांये की कचौड़ियां और बीकानेर के गाय के दूध के रसगुल्लों का स्वाद मैंने खूब चखा है। दाल-बाटी के आनंद लिये है। तिलपापड़ी खाई है। बीकानेरी भुजिया तो अब तक मुंह लगी हुई है।

ऐसा लगता है कि मेरी रग-रग में राजस्थान का रक्त प्रवाहित हो रहा है। मैं ऐसा इसलिए लिख रहा हूं कि हो न हो हमारे पूर्वज राजस्थान से ब्रज में आए थे। क्योंकि गौड़ ब्राह्मण अधिकतर राजस्थान में ही पाए जाते हैं। ब्रज तो सनाढ्य ब्राह्मणों का केन्द्र है। व्यास भी अधिकतर राजस्थान और गुजरात में ही पाए जाते हैं। पुष्कर के कारण वे पुष्करणा हो गए, यह वैसा ही है जैसे सरस्वती नदी के किनारे रहनेवाले ब्राह्मण सारस्वत, सरयू के किनारे रहनेवाले सरयूपारीण और कन्नौज से संबंध रखने के कारण कनौजिये या कान्यकुब्ज कहलाने लगे। हमारी अधिकतर रिश्तेदारियां भी राजस्थान में ही हैं। पुरानी बातों को छोड़िए, मेरे बड़े लड़के की शादी धौलपुर से हुई। बड़ी लड़की अजमेर के हरिभाऊ उपाध्याय के परिवार में गई। बिचला लड़का अलवर रियासत में रहनेवालों के यहां ब्याहा गया। सबसे छोटी लड़की की शादी जयपुर के कौशिक परिवार मे हुई। मेरे चाचा भरतपुर में ब्याहे थे। मेरी पत्नी के पूर्वज करौली रियासत के भाखरी गांव से चलकर हिंडौन में आ बसे थे। जो भी हो मेरे पुरखे रोजी-रोटी की तलाश

में ब्रज के खेड़ा गांव से स्थान बदल-बदलकर वसते रहे और मैं मथुरा, आगरा होता हुआ दिल्ली बस गया। यह राजस्थानी परंपरा ही तो है जहां के कारीगर, महाजन घर से लोटा-डोर लेकर निकले और देश-विदेशों में जाकर परम उद्योगी सावित हुए। हम लोगों में जो अकड़ या जिसे स्वाभिमान भी कह सकते हैं, वह ठीक वैसी ही है जैसी कि राजस्थानियों में होती है। हमारे पूर्वजों में कोई बौना या कुरूप नहीं हुआ। छह फुट से कम तो शायद ही किसी का कद रहा हो। यह सारी भूमिका इसलिए है कि मुझे भरतपुर के संवंध में कुछ लिखना है।

मेरे नाना नंदन रासधारी को, जिनकी अपने जमाने मे वड़ी ख्याति थी, भरतपुर के राजा ब्रज के राधाकुंड से अपने राज्य की राजधानी में ले गए थे और उन्हें दो मंदिर भेंट कर दिए थे। इसलिए आठ-नौ वर्ष की अवस्था से लेकर छह-सात साल तक जव तक नानाजी जीवित रहे मैं उनके पास ही अधिकतर रहा हूं। दो-दो तीन-तीन महीने तो कई वार और एक बार तो पूरे दो वर्ष। तव का भरतपुर मेरी स्मृति में मथुरा, आगरा और इटावा की तरह ही अपनी मोहक छवि के रूप में मेरे मन-मानस में वसा हुआ है।

भरतपुर अपनी विशेषताओं में राजस्थान की सभी रियासतों से भिन्न है। यहां के जाट राजा अपने को राजस्थानी नहीं, ब्रजाधिपति कहलाने में गर्व का अनुभव करते हैं। भरतपुर के राजाओं ने ब्रज के कई तीर्थस्थलों का बड़ा ही कलात्मक निर्माण कराया है, जैसे—कुसुम सरोवर, चंद्र सरोवर, क्षीर सागर, मानसी गंगा और उसके आसपास वनी हुई भरतपुर नरेशों की चित्र-विचित्र छतरियां। भरतपुर के राजवंश के लोगों के स्मारक गोवर्धन और राधाकुड के वीच में ही वने हुए है।

नाम है इसका भरतपुर, लेकिन मंदिर हैं यहां लक्ष्मणजी के। यहां गंगा मंदिर तो है ही, लोहागढ़ के विशाल किले के चारों ओर जो नहर वहती है, उसका नाम सुजान गंगा है। चित्तौड़गढ़ से लेकर वूंदी और वयाना तक जितने किले राजस्थान के राजाओं ने वनवाए, वे या तो पहाड़ों पर थे या पहाड़ों के पत्थरों से निर्मित कराए गए हैं। लेकिन भरतपुर ही एक ऐसी जाटवंशी राजाओं की राजधानी है, जिसका परकोटा मिट्टी की लंवी-चौड़ी और ऊंची दीवारों से वनवाया गया है। इस परकोटे के चारों ओर भी पहले खाई थी जिसमें पानी भरा रहता था। वड़े-बड़े मजबूत दरवाजे और विशालकाय तोपें चढ़ी रहती थीं। अनाह दरवाजे की विशाल तोप को मैंने देखा है। इसमें वह हौज भी देखा है जिसमें तोपची पलीता लगाकर कानों में अंगुली डालकर डूब जाता था। मिट्टी का किला इसलिए बनवाया गया कि इसमें तोपों के गोले फंसकर धुस्स हो जाया करते थे। यही कारण था कि यहां पर किसी मुस्लिम वादशाह ने चढ़ाई नहीं की। अंग्रेजी फौजें बहुत दिनों तक डेरा डाले हुए ही पड़ी रहीं और अंदर घुसने का साहस नहीं कर सकीं। दुरभिसंधि के द्वारा ही, भरतपुर विना लड़े ही अंग्रेजों के अधीन हो गया। मैं जिन दिनों भरतपुर में रहा और आया-गया, उन दिनों राजा किशनसिंह का राज था। वह बड़ी शान-शौकत से रहनेवाले राजा थे। मैसूर के दशहरे को मात देने के लिए उनके दशहरे की शोभायात्रा में पूरे डील-डौलवाले इक्यावन हाथी निकला करते थे। हर हाथी पर सुनहरी और रुपहली झूलें हुआ करती थीं। उन पर

चांदी और सोने के पत्तर जड़े हौदे जमाए जाते थे। ये हाथी जब एक कतार में घंटे घनघनाते हुए निकलते थे तो समा बंध जाया करता था। शोभायात्रा में केवल हाथी ही नहीं, बड़े-बड़े पिंजरों में बंद बब्बर शेर, केहरी और धारियोंवाले चीते भी निकलते थे। एक बब्बर शेर को हाथ से रबड़ी चटाने का दृश्य भी देखा जा सकता था। गाड़ी में हिरन जुड़े होते थे। जब कहीं-कहीं कोई शेर दहाड़ उठता तो दर्शक भाग खड़े होते थे। मैं हर दशहरे पर भरतपुर अवश्य जाया करता था।

राजा किशनसिंह शौकीन और अपव्ययी तो अवश्य थे, लेकिन विलासी नहीं थे। वह बड़े कलाप्रिय थे। विद्वानों का सम्मान करते थे। उन्होंने महामना मालवीयजी को आमंत्रित किया था। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ टैगोर भी उनके निमंत्रण पर भरतपुर पधारे थे। जब रवीन्द्रनाथ टैगोर भरतपुर आए तो चहारदीवारी से उचक-उचककर मैं उनको देखने पहुंच गया था, परंतु देखने में सफल नहीं हो पाया। हां, जब प्रिंस ऑफ वेल्स भरतपुर आए तो उनके स्वागत का दृश्य मैंने कोठी खास की छत पर चढ़कर अवश्य देखा था। उनके स्वागत के लिए राजा ने बॉडीगार्ड पलटन बनाई थी। उसकी वेशभूषा ठीक वैसी थी जैसी कि लंदन के बकिंघम पैलेस के बॉडीगार्डों की हुआ करती है। मैंने सुना था कि तब एक-एक बॉडीगार्ड की वर्दी पर चार-चार हजार रुपये खर्च हुए थे। राजा पूरा सनकी था। या यों कहें कि अपने आपको सर्वश्रेष्ठ कहलाने का भूत उसके सिर पर सवार था। रायल्सराय जैसी बेशकीमती कारों से वह कूड़ा-करकट ढुलवाया करता था।

राजा किशनसिंह ने कुछ काम अच्छे भी किए। जैसे आयुर्वेद चिकित्सा को सम्मानित किया। अपने पोथीखाने (पुस्तकालय) में दुर्लभ पुस्तकें एकत्र की। कोठी खास में हैदराबाद के सालारजंग म्यूजियम की तरह देश-विदेश की बहुमूल्य कलात्मक कृतियां और चित्र संजोए। मुझे वहां की एक घड़ी अब तक याद है। जब एक घंटा व्यतीत होता तो घड़ी में एक पुतला ऊपर से नीचे उतरता और जितने बजे होते उतनी ही चोटें घड़ियाल पर मारता। राजा ने स्कूल बनवाए। अस्पताल खुलवाए। हिन्दी साहित्य समिति की स्थापना की और अपने तथा जनता के मनोरंजन के लिए एक नाटक कंपनी भी खड़ी कर दी जो उस समय अल्फ्रेड नाटक कंपनी से टक्कर लेती थी। नानाजी के कारण मैं किसी भी महल, मंदिर, अजायबघर, पोथीखाना आदि में बेरोक-टोक जा सकता था। मेरे मामा मुरलीधर राजा की बॉडीगार्ड पल्टन के एक रौबीले सैनिक थे। तब नवासे और भांजे को रोकने की हिम्मत किसमें हो सकती थी ?

बड़ा सस्ता जमाना था। कच्चा दूध छह पैसे सेर। रबड़ी तीन आने सेर। दो आने में दोना-भर पेड़े। चार पैसे में भरपेट गजक। तब पाई, धेला, पैसा, अधन्ना तो चलते ही थे, लेकिन लेन-देन कौड़ियों और कनेर के गुटकों से भी होता था। जमाना सस्ता था तो क्या ? ऊंट टके में बिक रहा था तो क्या ? राजा का ठाठबाट बढ़ रहा था और प्रजा गरीब से गरीब होती चली जा रही थी। न उद्योग-धंधे थे और न नौकरियां। गेहूं, चना और जौ से बनी बेझर यद्यपि एक रुपये में दस सेर बिकती थी, लेकिन रुपया हो तब न। गरीब जनता के पास दाल-सब्जी खरीदने तक को पैसे नहीं होते थे। वह जंगल से कैथ के फल तोड़ लाती थी और चटनी से बाजरे की रोटियां खाया करती थी। लोग मेहनत-मजदूरी

करने के लिए साल में नौ महीने बाहर रहते थे। तब ही बाल-बच्चे पल पाते थे। अनाह दरवाजे में, जहां नानाजी का मंदिर था, उसके चारों ओर कारीगरों की बस्ती थी। ये लोग पत्थर पर काम करते और जहां काम मिलता वहां निकल जाते थे। इनके छोटे-छोटे लड़के बचपन से ही चकले. लोढ़ी और पत्थर की कूंडियां बनाया करते थे। मैं भी इनके साथ कभी काम में जुट जाया करता था। लेकिन मुझे अधिक आनंद आता था अपने किसी मित्र के साथ किसी टट्टू पर सवार होकर भरतपुर से बाहर जंगलों में घूमने मे। इन्हीं दिनों मैंने 'चंद्रकांता संतति' और 'भूतनाथ' पढ़े थे और कल्पना किया करता था या कहूं कि खोज में रहता था कि कहीं किसी मिट्टी या पुराने खंडहर में कोई खजाना मिल जाए। पर मिलते थे वहां सांप और मैं भाग आता था।

भरतपुर की हरियाली, ऊंचे-ऊंचे वृक्षों की कतारें, पानी की छोटी-मोटी झीलें उन दिनों भी पक्षियों को आमंत्रित करती रहती थीं। तितली, भौंरें, सारस, जिन्हें बीलो कहा करते थे, मैंने भरतपुर में ही देखे। घना पक्षी विहार का नाम जो दिल्ली में आकर सुना, वह तब भी होगा, लेकिन उन दिनों उसका विकास नहीं हुआ था। लोग केवलादह जरूर जाते थे। हमारे नानाजी जब चिड़ियां को धूल में नहाते देखते और घोर गर्मी में जब चीलों को आकाश में बहुत ऊंचा उड़ते पाते तो भविष्यवाणी करते कि बरसात आ रही है। वह एक-दो दिन में आ भी जाती थी। उन्हें कौओं के समय-समय पर बोलने और भिन्न भिन्न चिड़ियों की भिन्न-भिन्न आवाजों से भी मौसम की जानकारी हो जाती थी। वह मुझे भी ये सब बातें बताया करते थे। उनके संग्रह से मैंने ज्योतिष का 'होड़ा चक्र' और 'शकुन-विचार' पुस्तकों को पढ़ा। 'ब्रज-विलास' ग्रंथ भी उन्हीं के संग्रह से देखने को मिला। मंदिर गोपालजी के नाम से प्रसिद्ध था। परंतु उसमें मैंने शालिग्राम की दुर्लभ से दुर्लभ शिलाएं देखी। कोई तो एक-एक फुट लंबी थी। इन पर तरह-तरह की धारियां पड़ी हुई थी। ये लंबी भी थीं, चौकोर भी थीं और एक शालिग्राम की शिला तो ऐसी थी जिसमें मानवाकृति दिखाई देती थी। हो सकता है कि पुराने राजाओं को लोग ये चीजें जगह-जगह से लाकर दिया करते थे और राजा इन्हें मंदिरों में भेंट कर दिया करते थे।

अब भरतपुर की प्राचीनता नष्ट हो गई। मिट्टी का किला जगह-जगह से टूट गया और उसके ऊपर मकान बन गए। दुर्लभ लोहे की तोपें टुकड़े-टुकड़े कर दी गईं। कोठी खास और पोथीखाने की वस्तुएं भी गायब हो गईं। सुनते हैं कि रह गया है एक सोने का बहुत बड़ा कटोरा, जिसमें आज का राजा शराब भर-भरकर पिया करता है।

यह कहानी भरतपुर की ही नहीं, लगभग सारे राजस्थानी नरेशों की है। जिसमें राजाओं की जय-जयकार होती थी, उनके खजाने भरते और खाली होते थे, लेकिन उनकी शान-शौकत में कोई कमी नहीं आती थी। सब अपने राज्य के एकछत्र राजा थे, लेकिन अंग्रेजी शासकों के सामने भीगी बिल्ली बने रहते थे। हर रियासत में अंग्रेजों का एक प्रतिनिधि रहता था। राजाओं को उसी के इशारे पर चलना होता था। न चलने पर पागल करार दे दिए जाते थे। गद्दी से उतार दिए जाते थे। भरतपुर के शासकों की भी यही कहानी है। इसीलिए मैंने 'देशी राज्य लोक परिषद्', जिसके नेता शेख अब्दुल्ला और

जयनारायण व्यास थे, में दिलचस्पी लेना प्रारंभ कर दिया। जब दैनिक 'हिन्दुस्तान' में आया तो रियासतों की राजधानी में ही नहीं, उनके छोटे-बड़े कस्बों में भी संवाददाता बनाने में अपना सहयोग दिया।

जब सरदार पटेल के द्वारा देशी राज्यों का विलय हुआ और छोटी-सी रियासत भरतपुर ने विलय-पत्र पर हस्ताक्षर करने से मना कर दिया तो उस समय के नेता और बाद में केन्द्रीय मंत्री श्री राजबहादुर के नेतृत्व में जब जनता लोहागढ़ किले पर कब्जा करने के लिए बढ़ी तो उस भीड़ में मैं भी शामिल था।

श्री गोपालप्रसाद व्यास हिन्दी जगत की एक अद्भुत विभूति हैं। श्री व्यास ने जो कुछ प्राप्त किया है, अपने बूते, परिश्रम, सूझबूझ और सद्भाव द्वारा प्राप्त किया है। वह एक कुशल आयोजक, संगठनकर्ता, सफल कवि और हास्य-लेखक तथा बुद्धिमान पत्रकार हैं। उनका व्यक्तित्व उनके एक-दूसरे कार्यों से शक्तिशाली हुआ है। और यह सब उन्होंने इस कठोर संसार में कठिन प्रतिद्वन्द्विता के उपरांत प्राप्त किया है।

—जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी

पांडेजी की पौं-पौं-पौं

मेरी पढ़ाई देर से शुरू हुई। वह रुक-रुककर आगे बढ़ी। दर्जा सात भी पास नहीं कर पाया था कि वह अचानक टूट भी गई। फिर जो कुछ पढ़ा और गुना वह स्कूल की छत के नीचे नहीं, यमुना की सीढ़ियों पर। खुले हुए बुर्जों पर। बाजार के पट्टों पर। परंपरागत रीति से पढ़ानेवाले गुरुओं की शालाओं में। उस्तादों से। कलाकर्मियों से। बगीची-अखाड़ों में। गली-कूचों में। मंदिरों और महात्माओं के द्वारा। अधिकतर जो सीखा, वह सुनकर, बड़ों के सत्संग में बैठकर। टाट-पट्टियों, कुर्सी-बेंचों पर बैठकर नहीं। घर में भी नहीं। दिन में भी नहीं। अधिकतर बिजली के खम्भों के नीचे बैठकर। स्मरणशक्ति शुरू से ही अच्छी थी। एक-दो बार फेर लेने पर श्लोक, कवित्त, सवैये, दोहे, लोकगीत, गजलें, रुबाइयां, लोक कथाएं और कहावतें कंठस्थ हो जाती थीं। इस तरह मैंने स्कूली शिक्षा के अधूरे ज्ञान को सद्गुरुओं, कलाकारों और साहित्यकारों की संगत से ऐसे पूरा कर लिया कि मेरे स्कूल के साथी जो बाद में उच्च शिक्षा प्राप्त करके, वकील, अध्यापक, जिलाधीश और विभिन्न सरकारी-गैरसरकारी संस्थाओं में निदेशक से लेकर सचिव तक हो गए, वे भी मुझ अकिंचन को मान देने लगे। मान लो मैं जैसे-तैसे मैट्रिक कर भी लेता तो ज्यादा से ज्यादा कहीं क्लर्क हो जाता। वह भी बड़ा मुश्किल था। क्योंकि मेरा कोई रिश्तेदार ऐसा नहीं था, जो मेरी कहीं कोई सिफारिश कर देता। कभी-कभी किसी बत्तीस दांतवाले की बात पत्थर की लकीर बन जाती है। कुछ ज्योतिषी या सिद्धपुरुष ऐसे भवंग बोलनेवाले होते हैं कि जिनके मुंह से अच्छी बातें निकलती ही नहीं। वे सदैव बुरी भविष्यवाणियां ही किया करते हैं। मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ। एक बार मेरे पिताजी मुझे अपने साथ दक्षिण की यात्रा पर ले गए। तब एक सिद्ध पुरुष से मिलने के लिए पिताजी एक रात उनके निवास पर गए। उनके साथ में मैं भी था। पिताजी ने उनसे पूछा कि इस बालक का भविष्य बताइए ? बतानेवाले ने आव देखा न ताव, देखा मेरे ललाट की ओर। फिर तपाक से बोले–"पंडितजी, आप कितनी ही कोशिश कर लें, यह लड़का मैट्रिक पास नहीं कर पाएगा। बीच में ही

उसकी• मां परलोक सिधार जाएगी और इसकी पढ़ाई खत्म हो जाएगी।"

मैं उन दिनों दर्जा चार में पढ़ता था। बड़ा गुस्सा आया उस सिद्ध के बच्चे पर। क्योंकि वह महाशय पिताजी के मित्र थे, इसलिए मन मसोसकर रह गया। लेकिन तय कर लिया कि पंडित की बात को झूठी सावित करके रहूंगा। परंतु दुर्भाग्य से यह संकल्प पूरा नहीं कर सका। स्कूल छूटने के बाद मैंने कई बार प्रयत्न किया कि मैट्रिक का प्राइवेट इम्तहान दूं, लेकिन कामना पूरी नहीं हुई। माताजी का भी स्वर्गवास हो गया। सिद्धजी का पता नहीं, वह स्वर्ग में हैं या नरक में ?

कहने को मेरा पट्टी-पूजन यानी विद्यारंभ पांच वर्ष की आयु में ही हो गया था। हमारे गांव से दूर भवनपुरा गांव में एक छोटी-सी पाठशाला थी। वहां मैं अपने मित्रों के साथ पढ़ने जाने लगा। पट्टी बड़े धूम से पुजी। दादी ने गांव-भर में गुड़धानी लड्डू बांटे। काठ की पट्टी पर तरह-तरह के चित्र सजाए गए। मुझे नए-नए कपड़े और जूते पहनाए गए। माथे पर नजर का दिठौना भी लगाया गया। वीच में छुट्टी के समय खाने के लिए आलू के परौठे भी थैले में रख दिए। पाठशाला कोई तीन-चार मील की दूरी पर थी। वीच में एक वाग पड़ता था। वहां हम लोग मिल-वांटकर नाश्ता कर लिया करते थे। कभी-कभी तो पाठशाला न पहुंचकर वाग से ही लौट आते थे। शाला में पढ़ाई कम होती, पट्टियों की घिसाई ज्यादा की जाती थी। लड़के पट्टियों पर घोटा घिसते हुए गाते थे—

सूख-सूख पट्टी, चंदन गट्टी।
आवैगौ राजा, महल चिनावैगौ,
महल के ऊपर, डंडा चिनावैगौ
डंडा गयौ टूट, पट्टी गई सूख।

शाला में पढ़ाई से पूर्व और छुट्टी से पहले प्रार्थना होती थी। मुझे लिखने-पढ़ने के वजाय इन सस्वर प्रार्थनाओं में अधिक आनंद आता था। खड़िया और स्याही से हाथ-मुंह पोतकर तथा पट्टी पर चील-विलउआ काढ़-काढ़कर घर लौटता तो दादी-चाचियां वड़ी प्रसन्न होतीं कि गुपाल पढ़ रहा है। लेकिन एक दिन पिताजी ने पट्टी देख ली। हाल पूछ लिया। डांट पड़ी—"इतने दिनों से जा रहा है, लेकिन आ-ई भी नहीं सीखा"। पाठशाला से छुट्टी हो गई।

मथुरा आया तो पहले-पहल मुझे राम पांडेय की पाठशाला में बैठाया गया। राम पांडेय अफीम के आदी थे। गांजे की दम भी लगाते थे। वच्चों को ओलम या वारहखड़ी के कुछ अक्षर लिख देते थे या पट्टी पर कोई पहाड़ा अंकित कर देते थे। कहते थे— जाओ, याद करो। सारे बच्चे अपने-अपने पाठ को जोर-जोर से दुहराने लगते। पंडितजी को पीनक लग जाती और वह सो जाते थे। पांडेजी सो गए और वच्चे नौ-दो ग्यारह हो गए। जैसे ही पंडितजी का जगने का समय होता, हम सव लौट आते। पंडितजी एक-एक कर सबको बुलाते, धमकाते, चपतियाते और "जाओ, कल याद करके लाना" कहकर छुट्टी कर देते। हम बच्चे आपस में पट्टियां लड़ाते, धक्का-मुक्की करते और समवेत स्वरों में गाते भागते—

राम पांडे की पौं-पौं-पौं,
बहू बड़ी तुम छोटे क्यों ?
बहू ने मारा रोए क्यों ?
राम पांडे की पौं-पौं-पौं ।

इस पाठशाला में सालभर में आंलम, बारहखड़ी और बीस तक के पहाड़े पढ़े। वह भी तब जब उनके गणेश मंदिर की चीटोंवाली कोठरी में रह-रहकर बंद कर दिया गया।

शिक्षा की इस मंद गति को देखते हुए मुझे गिरजाघर स्कूल के पीछे दौलतराम की पाठशाला में बैठाया गया। दौलतराम बड़े सख्त किस्म के मास्टर थे। सबक याद न होने पर पहले कान मरोड़ते, फिर पीठ में घूंसे मारते, इस पर भी लड़का सीधा न होता तो मुर्गा बनाते और कंधे पर दस-बीस पट्टियां चढ़ा देते। लड़का इसके बावजूद सबक याद करके न देता तो हाथ-पैर रस्सी से बांधकर छत के आंकड़े में उलटा लटका देते। इस सजा को घोड़ी बनाना कहते थे। मार से भूत भागता है। साथियों को पिटता देखकर, मैं अब पढ़ने में ध्यान लगाने लगा। लेकिन पहाड़े और गणित हमेशा मेरे लिए काफी मुश्किल रहा है। मैं अंत तक गणित में कमजोर रहा और प्रमांशनों से पास होता रहा। जब बार-बार सिखाने पर भी 'हूंटा, ढ्यौंचा या विकट पहाड़ा' याद नहीं हुए तो मुझे भी मुर्गा बना दिया गया। ऊपर तीस पट्टियां चढ़ा दी गईं। थोड़ी देर तो मै बना रहा और सहता रहा। जब नहीं सहा गया तो पट्टियों को फेंककर स्कूल से भाग आया। दौलतरामजी रोज सवेरे हमारे मंदिर के बगलवाले कुएं पर नहाने आया करते थे। पिताजी मथुरा से बाहर गए हुए थे और मैं प्रतिशोध से भरा हुआ था। जैसे ही पंडितजी नहाकर चलने लगे तो मैंने ऐसी कसकर ईंट मारी कि उनका घुटना हमेशा के लिए टूट गया।

जब मैं आगरे से एक बार मथुरा लौटा तो लंगड़ाते हुए पंडितजी मुझे बाजार में मिल गए। बोले–सुना है तुम आगरे में संपादक हो गए हो ? देखो, ये घुटना तुम्हारी ही कृपा से टूटा है।" मैं शर्म से गढ़ गया, लेकिन दौलतरामजी बोले–तुमने जो सबक दिया था, उससे मेरी आंखें खुल गईं। तब से मैंने किसी बच्चे को न तो मारा है और न सख्ती ही की है। मैंने पंडितजी के चरण छुए और उन्होंने आशीर्वाद दिया–"खूब तरक्की करो।"

पिताजी इस बार लंबी यात्रा पर निकले। वह कलकत्ता से बर्मा जा पहुंचे। वहां रंगून, मौलवीन आदि नगरों में उनके सप्ताह पाठ हुए। फिर कलकत्तेवालों ने रोक लिया। काशी, इलाहाबाद होते हुए कोई दो वर्ष बाद मथुरा आए। इस बीच मेरी मां मुझे अग्रवाल पाठशाला से उठाकर मेरी ननसाल भरतपुर ले गईं। भरतपुर में मुझे लक्ष्मणजी के मंदिर के पीछे नत्थी बंडा की पाठशाला में भर्ती कराया गया। फिर से वही आंलम, बारहखड़ी और पहाड़े। मथुरा में मैंने और कुछ न सीखा हो, लेकिन पहाड़ों को गा-गाकर सुनाना अवश्य सीख लिया था। भरतपुर के लिए यह प्रयोग नया था। इसलिए मुझसे ही गिनती-पहाड़े कहलवाए जाते थे। उदाहरण के लिए–

पन्द्रह
दूनी तीस

तिया पैंतालीस
चौकें साठ
पंना पिचत्तर
छिक्के नब्बे
साम पिचोत्तर
अट्ठे वीसा
नौ पैंतीसा
धूम धड़क्के डेढ़ सौ।

इसी तरह जब गिनती खत्म करता तो जोर से हाथ उठाकर कहता—एक कड़ा पर दो बिंदी तो रामजी के पूरे सौ। कक्षा ही नहीं बंडाजी भी सुनकर खिलखिला उठते। मैं भरतपुर में सरकारी अस्पताल के सामनेवाले मिडिल स्कूल में भी दर्जा एक में कुछ दिनों पढ़ा हूं। पढ़ाई का काम चालू हुआ ही था कि पिताजी मथुरा लौट आए और हम मां-बेटे भी मथुरा लौट गए।

अब मेरी मां (जीजी) ने निश्चय किया कि मेरे पिताजी को धनोपार्जन के लिए भले ही थोड़े समय या ज्यादा देर के लिए बाहर जाना पड़े, वह मथुरा में रहकर ही मेरी पढ़ाई जारी रखेंगी। उन्होंने कमर कस ली कि मेरी शिक्षा के मामले में अर्थ-कष्ट को आड़े नहीं आने देंगी। उन्होंने छोटे-छोटे घरेलू उद्योग-धंधे प्रारंभ कर दिए। वह साड़ियां काढ़तीं, गोटे टांकतीं, तकियों के गिलाफों पर बेलबूटे काढ़तीं और कंठी-मालाएं बनाती। इस तरह जब तक वह जीवित रहीं तब तक मेरे खाने-पहनने, किताबों और फीस के मामले में कोई कमी न आने दी। मैं भी अब शिक्षा के महत्त्व को समझने लगा था। मेरे पुराने साथी बड़ी-बड़ी कक्षाओं में पढ़ने लगे थे। मुझे पुनः अग्रवाल विद्यालय में फिर कक्षा एक में ही दाखिल होना पड़ा। वह भी इस आधार पर कि उक्त विद्यालय की 'अ' और 'ब' कक्षाओं में दौलतराम की पाठशाला के बाद कुछ दिन पढ़ चुका था। उन दिनों अग्रवाल विद्यालय में बड़े योग्य, अनुभवी और राष्ट्रीय विचारों के अध्यापक नियुक्त थे। वे सामान्य पढ़ाई-लिखाई के अतिरिक्त विद्यार्थियों को संगीत, साहित्य, नाटक आदि कलाओं के साथ-साथ चरित्र-निर्माण और राष्ट्रीयता का पाठ भी पढ़ाया करते थे। उनमें कई तो ऐसे थे जो सीधे स्वतंत्रता आंदोलन से जुड़े थे। संस्कृत अध्यापक को छोड़कर शेष सभी अध्यापक आर्यसमाजी और कांग्रेसी विचारधारा से जुड़े हुए थे। उनमें श्री कामेश्वरनाथ तो जेल-यात्रा भी कर चुके थे। बाद में वह श्री रफी अहमद किदवई के निजी सचिव हुए। एक अध्यापक श्री हरप्रसाद शर्मा फुटबॉल के बड़े अच्छे खिलाड़ी थे (जो अब वृष्टि-यज्ञ कराने लगे हैं)। जब मथुरा छावनी के अंग्रेज खिलाड़ियों के विरुद्ध फुटबॉल का मैच होता तो वह गेंद को लेकर अर्जुन की तरह अंग्रेज-कौरवों की सेना में निर्बाध घुस जाते थे। उन्हें रोकना बड़े-बड़े खिलाड़ियों के लिए कठिन था। वह पैरों से ही नहीं, सिर से भी गेंद को उछाला करते थे। एक अन्य अध्यापक थे श्री जगदीशशरण अग्रवाल। वह मथुरा-भर में गणित के विशेषज्ञ माने जाते थे। हॉकी के बड़े अच्छे खिलाड़ी थे। वह जिला स्तर की हॉकी टीमों में हमेशा

बैक के रूप में खेला करते थे। उनके हिट को रोक पाना और उनसे गेंद निकालकर गोल में मारना अच्छे-अच्छे खिलाड़ियों के लिए बहुत मुश्किल था। हिन्दी के अध्यापक थे—श्री रामस्वरूपजी। पत्रिका 'ज्योति' के संपादक हुआ करते थे। इन चारों की मुझ पर विशेष कृपा थी।

कहना चाहिए कि इस चतुष्टयी ने ही मेरे जीवन में कविता, संगीत, खिलाड़ीपन, समाज-सुधार और राष्ट्रीयता के गहरे संस्कार डाले। विद्यालय में चौथे दर्जे से अंग्रेजी-उर्दू भी पढ़ाई जाने लगी। संगीत की शिक्षा के लिए भी एक अतिरिक्त कक्षा लगने लगी। संगीत सिखाने के लिए ग्वारिया बाबा आया करते थे। विद्यालय में एक सोशल यूनियन हुआ करती थी। यह विशेष पर्व और त्यौहारों पर आयोजन किया करती थी। वैसे भी हर महीने इसकी नियमित बैठकें हुआ करती थी। इनमें विद्यार्थी भाषण करते, कविताएं सुनाते, गाना गाते और अध्यापक उन्हें किसी एक विषय पर सरल भाषा में सुबोध व्याख्यान दिया करते थे। इस यूनियन का मंत्री कोई बड़ी कक्षा का छात्र होता था। वही यूनियन की गतिविधियों का संचालन करता था। उसके चुनाव के लिए वोट पड़ते थे। मैं अपनी कविता, संगीत और खिलाड़ीपन में अगुआ होने के कारण विद्यालय के छात्रों में लोकप्रिय था। शायद इसीलिए जब मैं पांचवीं कक्षा में पढ़ता था तो मुझे यूनियन के मंत्री पद के दसवीं के छात्र के मुकाबले खड़ा कर दिया गया। मैं जीत भी गया। विद्यार्थी और शिक्षक मुझे क्यों पसंद करते थे ? इसके कुछ और भी कारण थे। मैं शहर में होनेवाले नाटकों में भी भाग लिया करता था। मथुरा की रामलीला में भी सीता-लक्ष्मण और राम के पार्ट लोगों के कथनानुसार कुछ खूबी से ही निभाए थे। वृंदावन गुरुकुल के वार्षिक उत्सव में 'स्काउट' के रूप में पहुंचा करता था। वहां रात-रात-भर जागकर पहरे देता था। आर्यसमाज और कांग्रेस के जलसे-जुलूसों में प्रायः मुझे देखा जा सकता था। गणेश चतुर्थी पर हमारे विद्यालय की हारमोनियम और नक्कारे पर डंडे बजाती शोभा-यात्रा निकला करती थी। मैं उसका बनचट्टा (प्रमुख गायक) होता था। मेरे इस गीत को विद्यार्थी ही नहीं, जुलूस देखनेवाले भी जोर-जोर से गाने लगते थे—

इन डंडों की चटकार ने,
सोतों को आन जगाया।
चट-चट बोल रहे हैं डंडे,
छोड़ो, अब तो विचार गंदे।
उठकर बोलो मातरम् वंदे,
माता का सत्कार कर,
क्यों बिरथा समय गंवाया ?
सोतों को आन जगाया।

गणित को छोड़कर कक्षा के अन्य विषयों में ठीक-ठीक ही चलता था। घर पर मास्टर लगाने पर भी गणित कभी फलित नहीं हुआ। हमेशा ऊपर कही हुई तथाकथित विशेषताओं के कारण मुझे अगली कक्षा में चढ़ा दिया जाता था। सातवीं कक्षा में जब मैं सोशल यूनियन

का मंत्री था तो यूनियन के चंदे में कथित धांधली को लेकर मेरी हेडमास्टर से अनबन हो गई। वे शायद अंग्रेज परस्त थे। उन्हें मेरा स्वदेशी आंदोलन में काम करना पसंद नहीं था। एक बार लड़कों को स्वराज आंदोलन में हिस्सा लेने के लिए उकसाने पर उन्होंने प्रार्थना के समय जब पूरा स्कूल एकत्र था, तब मुझे 'पब्लिक केनिंग' की सजा भी दी थी। लगभग सारा स्कूल मेरे कहने पर चलता था और हेडमास्टर साहब की एक प्रकार से उपेक्षा होने लगी थी। इसलिए अचानक परीक्षाओं के समय जब मेरी मां का असमय देहांत हो गया तो मैं स्कूल नहीं जा सका। छुट्टियों के बाद स्कूल खुलने पर जब मैंने दोबारा परीक्षा देने की अर्जी दी तो वह मंजूर नहीं हुई। पिताजी भी अब मुझे पढ़ाने के मूड में नहीं थे। उन्होंने मेरा चट-मंगनी पट ब्याह रचा दिया। अब पिताजी गृहस्थी के झंझटों से अपने को अलग कर लेना चाहते थे। इस तरह मेरी स्कूली शिक्षा का बीच में ही अंत हो गया—

किस्मत की बात देखिए टूटी कहां कमंद,
दो-चार हाथ जबकि लबे बाम रह गया।

व्यासजी का साहित्य अपने विनोद-आवरण में एक गहरी जीवन-दृष्टि का परिचय देता है। अपने क्षेत्र में वह बिना किसी प्रतिद्वन्द्वी के आज तक सुस्थित हैं। वह हिन्दी के मर्मज्ञ साहित्यकार और ब्रज-क्षेत्र की महत्वपूर्ण उपलब्धि हैं।

—माखनलाल चतुर्वेदी

वंदहु गुरु-पद-कंज

अच्छा ही हुआ जो मेरी स्कूली शिक्षा बीच में ही समाप्त हो गई। घिस-घिसकर यदि मैट्रिक परीक्षा पास कर भी लेता तो अधिक से अधिक क्या बनता—क्लर्क। इंट्रेंस परीक्षा से अधिक मेरे घर के लोग उस समय सोच ही नहीं सकते थे। निम्न मध्यवर्ग के लोगों के लिए दसवीं तक पढ़ लेना ही ऐसा था कि मानो परम लक्ष्य प्राप्त कर लिया हो।

अच्छा ही हुआ कि पढ़ाई छूट जाने के बाद मैं बुरी सोहबत में नहीं पड़ा। उन दिनों बेरोजगार लड़के आज की तरह आतंकवादी तो नहीं बनते थे, बैंक नहीं लूटते थे और न बच्चे उठानेवाले गिरोहों में शामिल हुआ करते थे। समाज में बड़े-बूढ़ों का काफी प्रभाव होता था और वे दृढ़ता से युवकों को बुरी राह पर चलने से रोका करते थे। मथुरा में ब्राह्मणों के लड़के या तो घाटों पर यात्रियों से भीख मांगा करते थे अथवा थोड़ी-सी संस्कृत पढ़-सुनकर वैश्यों के घर पर सत्यनारायण की कथा या पूजन आदि कराया करते थे। इस पर भी वृद्ध पंडितों का एकाधिकार था। युवक छोटी-मोटी नौकरियों की तलाश में इधर-से-उधर सेठों के चक्कर लगाया करते थे। मैंने भी शुरू के कुछ महीनों में हकीमों के यहां खरल में दवाइयां कूटी हैं, गोलियां बनाई है और मिट्टी के खिलौने उधार लाकर जब-तब बेचे हैं। जब इनसे गुजर नहीं चली तो अंकों के और पानी के सट्टे भी लगाए हैं, परंतु ये भी लाभ के धंधे साबित न हुए। ये सब कार्य मैंने अपनी इच्छा से नहीं किए थे। किए थे परिस्थितियों और घर के दबाव के कारण। विशेषकर इसलिए कि अपनी रुग्ण मां की दवाओं और पथ्य के लिए कुछ जुगाड़ कर सकूं। मां के देहांत के बाद यह लाचारी समाप्त हो गई। नियति मुझे नई-नई डगरों की ओर इशारा करने लगी और मैं चिर-आकांक्षित शिक्षा एवं संस्कृति की गलियों से गुजरने लगा।

लुटते-लुटते, मिटते-मिटते मथुरा में फिर भी बहुत कुछ बाकी रह गया था। उन दिनों मथुरा नगरी विद्वानों और उस्तादों से भरी पड़ी थी। संस्कृत के पंडित, उर्दू-फारसी के आलिम और अंग्रेजी के ऐसे ज्ञाता उस समय मथुरा में थे जिनकी विद्वता को देखकर भारतीय क्या,

विदेशी भी दांतों तले अंगुली दबा जाया करते थे। ऐसे ही एक सज्जन थे—रामदयाल चतुर्वेदी, जिन्हें बनियान, कमीज और कुर्ते से परहेज था। केवल धोती पहने बाजार, हाट और घाटों के चक्कर लगाया करते थे। कोई अंग्रेजी का जिज्ञासु छात्र मिल गया तो घाट की सीढ़ियां और दुकानों के खाली पट्टों पर उसे लेकर बैठ जाते थे और निःशुल्क शिक्षा देने लगते थे—महीनों, वर्षों, दिन-रात, जब छात्र के पास समय खाली हो। मैंने भी कुछ दिनों तक उनसे अंग्रेजी पढ़ी।

तब तक मथुरा में केन्द्रीय संग्रहालय नहीं बना था, लेकिन पुरातत्त्व के ज्ञाता मथुरा में मौजूद थे। यहां के मंदिर कला, संस्कृति और संगीत के केंद्र थे। इनमें संस्कृत की निःशुल्क पाठशालाएं थीं। निःशुल्क ही कई मंदिरों में संगीत सिखाया जाता था। इनमें झांकियां बनती थीं। हिंडोले और पालने सजते थे। सूखे रंगों की सांझियां बनती थीं और बनते थे फूलों के बंगले तथा बड़े-बड़े महल। मल्ल-विद्या और पटा-बनेटी के ही नहीं, ख्यालगोई, डंडेशाही, स्वांगों के भी कई अखाड़े थे। मथुरा की ऐतिहासिक रामलीला तो काशी (रामनगर) की रामलीला से टक्कर लेती थी। रासलीलाओं का तो कहना ही क्या था ? श्रावण-भर मथुरा में उनकी धूम मची रहती थी। राजाधिराज द्वारिकाधीशजी के मंदिर में एक रासमंडली हुआ करती थी। ऊपर कही गई सभी विधाओं से मैंने कुछ-न-कुछ प्राप्त किया है। कहना नहीं होगा कि मैंने मथुरा के लोकजीवन और उसकी कलाओं का आनंद जीवन के निठल्ले दिनों में पूरी तरह उठाया है।

मैंने गोस्वामी लक्ष्मणाचार्य से विधिवत् त्रिकाल गायत्री, पंचपूजन पद्धति, सारस्वत चंद्रिका और लघु सिद्धांत कौमुदी के बाद श्रीमद्भागवत को कंठस्थ करने के लिए रोजाना पाठ लेने प्रारंभ किए। परंतु रटंत विद्या से मेरा जी ऊब गया और मैं अपने पुरखों की तरह भागवती पंडित बनने से बाल-बाल बच गया। मथुरा में ब्रजभाषा की कविताओं, पढ़ंत परंपरा का प्रचलन उन दिनों जोरों पर था। सभी जातियों के, सभी आयुवर्ग के लोगों को ब्रजभाषा की पुरानी कविताएं याद करने, कहने और सुनने का शौक था। मुझे भी इस रस का चसका लग गया। पहले पढ़ंत में पढ़ने लगा, फिर कुछ-कुछ लिखना भी शुरू किया। लेकिन ब्रज में कविता लिखना हंसी-खेल नहीं था। जिसे मात्रा, अक्षर, शब्द-मैत्री, यति-गति-लय और विराम का ज्ञान नहीं होता था, वह कवि समाज में 'हंस मध्ये बको यथा' समझा जाता था। इसलिए मैंने नवनीतजी चतुर्वेदी से विधिवत् पिंगल पढ़ा। पहले चतुर्वेदियों के गुरु छोटे लालाजी से और बाद में सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार से अलंकारों की बारीकियां ही नहीं, रस-रीति, वृत्तियां और ध्वनि का मर्म भी समझा। हिन्दी में जो काव्यशास्त्र उपलब्ध था जैसे, छंद-प्रभाकर, काव्यप्रभाकर, दास बोध, रसिकप्रिया, आदि तो पढ़े ही, संस्कृत के भी 'साहित्य-दर्पण' आदि ग्रंथ पढ़ गया। पोद्दारजी ने अलंकार आदि पर तो ग्रंथ लिखे ही थे, उन्होंने संस्कृत साहित्य का इतिहास भी लिखा था। इस ग्रंथ को पढ़ने के बाद मेरा ध्यान इस श्लोक की ओर गया—

उपमा कालिदासस्य, भारवे अर्थ-गौरवम।
दाण्डिनाम पद-लालित्यं, माघे संतु त्रयोगुणाः।।

मैंने पोद्दारजी के बृहद् संदर्भ पुस्तकालय से संस्कृत के इन महान ग्रंथों का रसास्वादन भी किया है। पं. जवाहरलाल चतुर्वेदी के निजी विशाल व्रजभाषा पुस्तकालय को भी चट कर गया। चाहता तो मथुरा में काव्यशास्त्र का प्रशिक्षण केन्द्र खोल सकता था, परंतु उसमें फीस देकर पढ़ने कौन आता ?

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल तब तक मथुरा आ चुके थे। वह अक्सर पोद्दारजी से मिलने आया करते थे और मुझे देखा करते थे। जान-पहचान हो गई। बढ़ते-बढ़ते ऐसी बढ़ी कि रोज का उठना-बैठना हो गया। वह साक्षात् बोधिवृक्ष थे। उनके सत्संग से मैंने भारत-विद्या का दुर्लभ पाठ पढ़ा। मूर्तिकला, चित्रकला, मुद्राओं और मूर्तियों पर लिखी हुई लिपियों को पढ़ना सीखने लगा। कौन पुरानी पांडुलिपि मूंज के कागज पर लिखी गई है अथवा बांस के कागज पर, उसकी पहचान पाई। यह मथुरा में बना हुआ पुराना कागज है, वह ताम्र पत्र है और यह भोजपत्र है तथा ये सब चीजें कितनी पुरानी हैं, इसका ज्ञान मुझे वासुदेवजी से ही हुआ। वह मुझे महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी पढ़ाना चाहते थे और मुझसे सूरसागर का व्युत्पत्ति कोश लिखवाना चाहते थे। परंतु, मैं उनकी ये दोनों इच्छाएं पूरी नहीं कर सका। वह ऋषि के समान तत्त्वज्ञाता थे। मैं काशी तक जा-जाकर उनसे मिलता रहा। अंतिम दिनों में वह दधीचि की तरह अस्थिशेष रह गए थे। ऋषियों के समान वह तब भी भारत-विद्या और साहित्य की तपस्या में अहर्निश लगे थे। एक बड़ा कमरा, एक छोटा तख्त और असंख्य पुस्तकों के बीच घिरे हुए वासुदेवजी अपने जीवन के अंतिम क्षणों में भी चहुंदिसि ज्ञान का प्रकाश बिखेर रहे थे। मेरा सौभाग्य ही था कि मैं उनके संपर्क में आया और बहुत कुछ पाया।

मैंने मूंगाजी के लक्ष्मीनारायण मंदिर में संगीत की शिक्षा ली है। हारमोनियम, बेला और तबला बजाना भी सीखा है। संगीतशास्त्र का अध्ययन वृंदावन के ग्वारिया बाबा की अनुकंपा से 'ब्रह्म संहिता' के आधार पर किया है। रासलीला में कृष्ण भी बना हूं। रामलीला में सीता, लक्ष्मण और राम भी। लाठी, तलवार और पटेबाजी के अतिरिक्त मैंने थोड़ी-सी कत्थक नृत्य की भी शिक्षा ली है। प्यारेलाल और नारायणदास जड़िया के साथ मैंने सरवर सुल्तान के मंदिर में रंगों की सांझियां भी बनाई हैं, जिन्हें देखने के लिए मथुरा-भर के लोग आया करते थे। मथुरा के गोविंददेवजी और द्वारिकाधीशजी के मंदिरों में मैंने फूल-बंगले भी सजाए हैं। एक बार गुसाईं ब्रजवाल लालजी महाराज ने यमुना की रेतिया में विशाल फूल-महल बनवाकर उसमें ठाकुरजी पधराए थे और छप्पन भोग किया था। मथुरा-वृंदावन के अनेक कलाकारों के साथ मैं भी उक्त फूल-महल के निर्माण में लगा था। मैंने एक अधूरा 'पद्मिनी' नामक स्वांग भी लिखा है। विश्रामघाट की डंडेशाही में भी निकला हूं और क्या-क्या बताऊं ? उन दिनों मथुरा में जो कुछ सीखने योग्य था, उन सबमें मैंने चंचु-प्रवेश अवश्य किया है। जैसे तैराकी, पतंगबाजी, कबूतरबाजी, चौपड़ के फड़, शतरंज का शौक, होली की तानें, फूलडोलों की सजावट, रसिये, चौबोले, मैंने कहा न क्या-क्या गिनाऊं ? इस मामले में मैं सवाया चौबे, ड्योढ़ा सनोढ़िया और दूना भोजनी रहा हूं।

ये सब विधाएं सीखकर मन तो भरा, लेकिन पेट नहीं भरा। उसके लिए मैंने कंपोजिंग कला सीखी। दिन में प्रेसों में कम्पोज करके रोटी-रोजी का जुगाड़ करता और

सुवह-शाम तथा रातों-रात जाग-जागकर अपने कला और ज्ञान के रिक्त कोश को भरता रहता।

इन्हीं दिनों कम्पोजीटर व्यास जव एक दिन भूतेश्वर अखाड़े से भौंहों के बीच हनुमानजी की सिंदूरी आढ़ लगाए, अखाड़े की रज में लिपटा और हाथ में एक डंडा लिये हुआ घूमता हुआ घर को लौट रहा था तो मुझे रास्ते में मास्साब मिल गए। मैं चंपा अग्रवाल हाईस्कूल में उन्हें इसी नाम से संबोधित करता था। उनका असली नाम था—गौरीशंकर सत्येंद्र। सत्येंद्रजी कई दिनों से मेरी तलाश में थे। वह मेरी पढ़ाई छूटने से दुखी थे। जब उन्होंने सुना कि मैं घाटों और बाजारों में ताश, चौपड़, शतरंज खेलता फिरता हूं, भांग पीने लगा हूं और अखाड़े जाने लगा हूं, मुसलमानों के लड़कों के साथ तैराकी में निकलने लगा हूं तो और भी चिन्तित हो गए। उन्होंने मेरे वालमित्र, सहपाटी और कवि भारतभूषण से पूछताछ की तथा उस दिन रास्ते में एकाएक सामने आ गए। मैं उन्हें देखकर सकपका गया। उनके बिना कहे ही मुझे अपनी आवारागर्दी पर शर्म आ गई और आंखे झुक गईं। लेकिन सत्येंद्रजी ने केवल इतना ही कहा—"व्यास, तुम इस सवके लिए पैदा नहीं हुए हो।" फिर आदेश दिया—"कल घर पर आना ! अवश्य !"

जल मिले सो हरि मिले। सत्येन्द्रजी मिले तो सद्गुरु मिले। जल अर्थात् जीवन। सत्येन्द्रजी अर्थात् नवजीवन। नया दृष्टिकोण। नई दिशा—"व्यास, पुराने में बहुत जी लिए। आधार के लिए इतना पर्याप्त है। लो, यह 'पल्लव' ले जाओ। इसे पढ़कर आओगे तव बातें करेंगे।"

पंतजी की नई पुस्तक 'पल्लव' उन दिनों निकली ही निकली थी। हिन्दी जगत में इसकी वड़ी चर्चा थी। परंतु मै व्रज-सागर में गोते लगानेवाला छोटा-सा कवि इससे अनजान था। हां, व्रजभाषा के विद्वान साहित्यकारों से इसकी भूमिका की कटु आलोचना अवश्य सुनी थी। पहले मैंने उसे ही पढ़ा। इसमें रीति-रूढ़ कविता पर जमकर कशावात किया गया था—"भूमिका पढ़कर पड़ा रो, यह गगन स्वप्नाभिलाषी।" (वच्चन) परंतु जब 'पल्लव' की कविताएं पढ़ने लगा तो लगा—"धोए-धोए पातन की बात ही निराली है।" इसकी चार पंक्तियां मन में वस गईं—

कौन-कौन तुम पर-हित वसना ?
म्लानमना, भूपतिता-सी।
वात-हता, विच्छिन्न लता-सी।
रति-श्रांता, व्रज-वनिता-सी !

इस तल के नीचे सोई
हाय, तुम्हें भी छोड़ गया क्या,
अलि, नल-सा निष्ठुर कोई !

भारतभूषण के बड़े भाई विद्याभूषण खड़ीबोली की कविताओं को बड़े मधुर स्वरों में गाकर पढ़ते थे। खड़ीबोली कविता के बड़े समर्थक थे। जब मैंने उनके साथ बैठकर

उनके मुख से 'पल्लव' की कुछ रचनाएं सुनीं तो आनंदविभोर हो गया। पहली बार लगा कि खड़ीबोली में भी रस है, कविता है। सत्येन्द्रजी से पूछने पर मैंने उन्हें यही बताया। उन्होंने कहा—"यह तो प्रशंसा हुई। समीक्षा करो।" मैंने अपने मन के भाव उनसे कह दिए—"कवि के पास नई कल्पना है। नए विषय हैं। नए तरीके से कहने का ढंग भी है। परंतु भाषा नहीं है। संस्कृत के शब्दों को ज्यों का त्यों रखकर उनमें ब्रजभाषाई पुट देने का प्रयत्न किया गया है। इसी के कारण कविता सरस बनी है।"

सत्येन्द्रजी प्रसन्न हुए। फिर उन्होंने मुझे हरिऔधजी का 'प्रिय प्रवास' दिया। बच्चनजी का 'निशा निमंत्रण' दिया। कहा—"तुम विशारद की परीक्षा में बैठ जाओ।' उन दिनों हिन्दी साहित्य सम्मेलन की विशारद परीक्षा में वही बैठ सकता था, जिसने या तो मैट्रिक पास किया हो अथवा सम्मेलन की प्रथमा परीक्षा उत्तीर्ण की हो। सत्येन्द्रजी ने रजिस्ट्रार को प्रयाग पत्र लिखकर सीधे विशारद होने की अनुमति दिलवा दी। कहा—"रात को नौ बजे आ जाया करो।" सत्येन्द्रजी स्कूल में गेम्स इंचार्ज भी थे। स्काउटिंग, स्कूल-पत्रिका आदि के कामों से घर देर से लौटते। खाना खाकर वह मुझको लेकर बैठ जाते और कम-से-कम दो घंटे मुझे सिखाते-पढ़ाते रहते। कागज भी उनके, कलम भी उनकी, पुस्तकें भी उनकी। पूरे छह मास मेरे साथ उन्होंने रात्रि-जागरण किया। ऐसा पढ़ाया कि आंखें तो खुलीं ही, विशारद भी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हो गया।

परीक्षाफल सत्येन्द्रजी को पहले ही मालूम हो गया होगा। क्योंकि जब मैंने उत्तीर्णावस्था में उनके चरण छुए तो मुझे मिठाई के साथ-साथ एक लेटरपैड मिला। उसमें मेरे नाम के नीचे छपा था—कवि, लेखक और पत्रकार। मैं इसे पाकर विनत ही नहीं, चकित भी हो गया। क्योंकि सही अर्थों में उस समय मैं न कवि था और न लेखक। पत्रकार की परिकल्पना तो मुझसे कोसों दूर थी। परंतु यह मात्र प्रोत्साहन नहीं था। गुरु का आशीर्वाद था, जो उनके जीवन-काल में ही चरितार्थ हो गया।

मास्साब मुझे खोया-खोया देखकर बोले—"अब साहित्यरत्न की तैयारी करो।" मैं उत्साह से भर उठा। फिर वही क्रम। फिर वही समय। फिर वही उनकी तरफ से लेखन सामग्री और साहित्य का जुगाड़। इस बार यह क्रम अखंड रूप से ग्यारह महीने चला। गुरुपत्नी भी नई आई थीं और मेरा भी द्विरागमन उन्हीं दिनों हुआ था। परंतु दोनों ही नवोढ़ाओं के कारण अध्ययन में कोई व्यतिक्रम नहीं पड़ा। विशारद में मेरे सहपाठी थे स्वर्गीय कृष्णाचार्य और साहित्यरत्न में श्री विद्याभूषण अग्रवाल। सत्येन्द्रजी मुझे रात में तो पढ़ाते ही थे, एक बार उन्होंने पूरे सप्ताह-भर साहित्यरत्न की परीक्षा को दृष्टि में रखते हुए एक सेमीनार आयोजित किया। इसमें समीक्षा, कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, विशेष कवि सूरदास और भाषा-विज्ञान पर उनके दो-दो घंटे के धारावाहिक प्रवचन हुए। श्रोता थे—भाई विद्याभूषण, उनके अनुज भारतभूषण, कृष्णाचार्य, चुन्नीलाल 'शेष', शर्मनलाल अग्रवाल, नरोत्तमलाल गुप्त, कई स्कूलों के हिन्दी अध्यापक और कभी-कभी जवाहरलाल चतुर्वेदी भी। पता नहीं उस समय टेप रिकार्डिंग की व्यवस्था थी या नहीं। होगी तो मथुरा में ऐसी सुविधा नहीं थी। कोई आशुलिपिक भी नहीं था। नहीं तो ये दुर्लभ व्याख्यान लिपिबद्ध होकर पुस्तकाकार हो जाते और साहित्य के विद्यार्थियों के लिए बड़े काम की चीज बन

जाते। जब परीक्षा में एक महीना शेष रह गया तो सत्येन्द्रजी ने मुझे विद्याभूषण के पास आगरा भेज दिया। तब वह सेन्ट जांस कॉलेज में एम. ए. (अंग्रेजी) का अध्ययन कर रहे थे और साहित्यरत्न की तैयारी भी कर रहे थे। हम दोनों ने लगभग सौ पुस्तकें एकत्र कीं। एक पुस्तक वह पढ़कर मुझे उसका सार बताते और दूसरी पुस्तक मैं पढ़कर उन्हें जानकारी देता। लेकिन हम दोनों के सामने एक ही जटिल प्रश्न था, वह था भाषा-विज्ञान। उन दिनों साहित्यरत्न का स्तर एम. ए. हिन्दी से कुछ ऊंचा ही था। बड़े-बड़े लोग अपने नाम के आगे साहित्यरत्न लगाने के लिए लालायित रहते थे। परीक्षा में भी बैठते थे। 'प्रताप' के स्व. गणेशंकर विद्यार्थी और 'सैनिक' के श्रीकृष्णदत्त पालीवाल दोनों ने साहित्यरत्न परीक्षा उत्तीर्ण की थी। मैं भी इसे ससम्मान उत्तीर्ण करने के लिए उत्सुक था। भाषा-विज्ञान के लिए सत्येन्द्रजी को लिखा गया। वह छुट्टी लेकर तीन दिन के लिए आगरा आए। जटिल को ऐसा सरल बना दिया कि विद्याभूषण और मैं दोनों ही प्रथम श्रेणी में साहित्यरत्न हो गए। विद्याभूषण तो प्रथमातिप्रथम होकर स्वर्णपदक से विभूषित हुए और मैं ठाठ से अपने नाम के आगे साहित्यरत्न लिखने लगा।

उस समय की एक अविस्मरणीय घटना है कि हम लोगों की मौखिक परीक्षा लेने के लिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल आए थे। उनके दल के अन्य विद्वान थे बाबू गुलाबराय, आगरा कॉलेज के हिन्दी विभागाध्यक्ष पं. जगन्नाथ तिवारी और केंद्र व्यवस्थापक महेन्द्रजी। इन सबने सबसे अधिक मेरी एक घंटे से भी ऊपर रगड़ाई की। सत्येन्द्रजी की कृपा से मैं पूरी तैयारी पर था। काव्यशास्त्र का पारंपरिक अध्ययन मेरे बहुत काम आया। अंत में तो स्थिति यह आ गई कि मैं बजाय उत्तर देने के उलटे प्रश्न पूछने लगा। शुक्लजी और गुलाबरायजी बहुत प्रसन्न हुए। महेन्द्रजी को लगा कि मैं उनके काम का आदमी हूं। मुझे वापस मथुरा नहीं जाना पड़ा। आगरा में महेन्द्रजी के साहित्यरत्न भंडार से 'साहित्य संदेश' नामक नया-नया मासिक पत्र निकला था। महेन्द्रजी सत्येन्द्रजी के बड़े मित्र थे। मैं आगरा नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से व्रज में पांडुलिपियों की खोज तथा लोकगीतों और लोककथाओं के संग्रह का काम सत्येन्द्रजी के निर्देशन में कर चुका था। उसका जो विवरण मैंने भेजा था, उसे भालेकरजी, गुलाबरायजी, हरिशंकरजी शर्मा और हरिहरनाथजी टंडन ने पढ़ा था तथा सराहा था। मुझे कंपोजीटरी से निजात तो मिली, मथुरा की मस्ती और आवारागर्दी से छुटकारा तो मिला, मन का काम भी पा गया, परंतु गुरुवर सत्येन्द्रजी की एक साध मैं पूरी नहीं कर पाया। वह मुझे साहित्यरत्न के बाद सीधे एम. ए. की परीक्षा में बैठाना चाहते थे। कुछ विश्वविद्यालयों ने साहित्यरत्न करनेवालों को ऐसी सुविधा भी दे रखी थी। परंतु–"मेरे मन कछु और है कर्ता के कछु और।" घर के लोगों की यह बात मैंने स्वीकार कर ली कि "करौ रे बेटा सोई। जातें हंडिया खदबद होई।"

इस तरह शिक्षा का यह अध्याय समाप्त हुआ। व्रजभाषा से निकलकर मैं खड़ीबोली के गढ़ में आ गया और शिक्षा का नया दौर इस तरह आगे चलकर प्रारंभ हुआ।

ग्वारिया बाबा

गाय कभी नहीं चराई। पर नाम था ग्वारिया। उसके पीछे जुड़ गया बाबा। इसलिए कि लोगों को उनकी उम्र मालूम नहीं थी। बीसियों वर्ष से उन्हें जस का तस देखते चले आ रहे थे। कोई कहता था–सौ के हैं। कोई कहता था–नहीं, सवा सौ से कम के नहीं होंगे। लेकिन लगते वह पचास वर्ष जैसे ही थे। गौरवर्ण, मझोला कद, पैरों में कपड़े के जूते, जमुना-जल में पखारकर पहने हुए धोती-कुर्ते, सिर पर चांदी जैसे सफेद बाल। बिना लाठी के तेज चाल से चलते थे। रहते थे वृंदावन में। लेकिन प्रायः वहां से रोज पैदल मथुरा आते और वापस लौटते, यानी बारह मील। मथुरा में भी कहीं टिककर नहीं बैठते थे। वह क्या करते हैं, क्या खाते हैं, बच्चों से लेकर बड़ों तक को संगीत का साज किस तरह से जुटाते हैं, यह रहस्य ही बना हुआ था।

अजीब शख्सियत थे ग्वारिया बाबा। संगीत की शिक्षा देना और संस्था-संस्था और घर-घर में उसका प्रचार करना, यही उनका एकमात्र व्यसन था। व्यसन की बजाय धुन कहना ज्यादा अच्छा होगा। पहले-पहल मैंने उन्हें मथुरा के चम्पा अग्रवाल हाईस्कूल में संगीत के निःशुल्क शिक्षक के रूप में देखा। वह हारमोनियम द्वारा हमें स्वर साधना, सरगम के विविध प्रकार के छोटे-छोटे सरल शास्त्रीय रागों की शिक्षा दिया करते थे। हमारी संगीत-कक्षा के सभी छात्रों को उन्होंने हारमोनियम की काठ की एक-एक डमी अपनी तरफ से दे रखी थी। उस पर अंगुली चलाकर हमसे अभ्यास कराया करते थे। जो छात्र स्वर ताल और वाद्य में साल-छह महीने में निपुणता प्राप्त कर लेता तो वह गुरु-दक्षिणा लेने की बजाय छात्र-पुरस्कार के रूप में उसे असली हारमोनियम भी अपनी तरफ से दे डालते थे। नगर की कई पाठशालाओं और संस्थाओं में इसी तरह वह घंटे-घंटे, दो-दो घंटे के लिए जाते थे। सिखाते और चल देते। न ऊधो का लैन, न माधो का दैन। संगीत का प्रारंभिक पाठ मैंने इन्हीं से पढ़ा था। इन्हीं की प्रेरणा से बाद में तबला सीखा, वायलिन सीखा। बाद में भटक गया। फिर न संगीत रहा और न ग्वारिया बाबा। ऐसी आत्मीयता

और लगन के साथ मुझ जैसे उचाट तबियतवाले व्यक्ति को कौन सिखाता और कौन सीखता ? आप सोचते होंगे कि यह भी कोई कागज काले करने की बात है। संस्कृत, हिन्दी और संगीत आदि के दीवाने इस देश में हजारों हुए हैं, आज भी हैं, और आगे भी होते रहेंगे। इसमें अनोखी बात क्या है ?

अनोखी बात सुनिए। वह बुंदेलखंड की एक रियासत के किसी एक छोटे से कस्बे से भरी जवानी में घरबार और सुंदर पत्नी को छोड़कर वैरागी होकर जंगल में निकल गए थे। छह-सात दिन से भूखे-प्यासे एक पेड़ के नीचे पड़े थे कि एक तपस्वी साधु अचानक आए। कमंडल से जल छिड़ककर उन्हें चैतन्य किया। कहा–"मनुष्य को जीवन इस प्रकार खोने के लिए नहीं मिलता। उठो और कर्म करो।" यह पूछने पर कि "क्या करूं ?" उन्होंने कहा, "संगीत का प्रचार करो।" "यह भी कोई काम है ? इससे भगवान मिलेंगे ? मुक्ति मिलेगी ?" साधु ने कहा–"हां, संगीत का अर्थ है नाद-ब्रह्म की साधना।" साधु ने नाद जगाया और बाबा ने अपने ब्रह्म को पाया। उनके ब्रह्म बने श्रीकृष्ण। वह बन गए उनके सखा। यह कृष्ण-सखा जब कभी विह्वल होते, यानी साधना में कोई रुकावट आती तो अपने कृष्ण-सखा के नाम पर नोटिस जारी किया करते थे। उसे तामील करने के लिए जहां-जहां कृष्ण का वास समझते थे या जिस जगह उनके मिलने की संभावना उन्हें लगती थी, वहां-वहां उसे छपवाकर चिपकवा दिया करते थे। उन्हें जो व्यक्ति भगवत्स्वरूप लगता, उसे थमा दिया करते। नोटिस में बड़ी खरी-खोटी सुनाई जाती थीं कन्हैया को कि तू छलिया है। चोर है। अपनों को कष्ट देनेवाला है। तुझे दीनों की कोई चिंता नहीं। तुझ पर क्यों न मुकदमा कायम कर दिया जाए ? आदि-आदि।

आप कहेंगे कि यह तो सनकीपन है। ऐसे अर्द्धविक्षिप्त लोगों की भारतीय समाज में कोई कमी नहीं। ब्रज में तो ऐसे लोग बहुतायत से पाए जाते हैं। न ऐसे नोटिसों से उनकी भगवद्भक्ति प्रकट होती है और न संगीत-निष्ठा।

तो और सुनिए। ग्वारिया बाबा गाते कम थे, सिखाते अधिक थे। शिक्षक अच्छा गायक भी हो, यह कोई जरूरी नहीं है। परंतु बाबा जब हारमोनियम बजाते थे तो लगता था कि गोपियों के मन को विह्वल बनानेवाले कन्हैया की वंशी भी ऐसी ही बजती होगी। जब वृंदावन के निधिवन में या मथुरा के शिवताल पर वह रात के सन्नाटे में स्वर-साधना करते तो कभी लगता कि सिंह दहाड़ रहा है, तो कभी लगता कि बादल गरज रहे हैं। कभी-कभी कोई राग छेड़ देते और सुरीली तान भरते तो ऐसा लगता कि मानो स्वर्ग से अप्सराएं अब उतरीं और अब उतरीं। कभी-कभी तो सचमुच छम-छम की आवाज भी सुनाई देने लगती थी। बाबा की यह कीर्ति-कथा जब उनकी रियासत के राजा के पास पहुंची तो वह वृंदावन में आया और बाबा के चरणों में लोट गया। बोला–"अपने घर को, अपने राज्य को, अपने देश को धन्य करो। मेरे साथ पधारो।" बाबा ने उत्तर दिया, "मेरे कृष्ण-सखा कह गए हैं–"ब्रज तज अनत न जाइहौं। अब ब्रज-वृंदावन से बाहर नहीं जाऊंगा।" राजा ने चरण नहीं छोड़े। उसके आंसुओं ने बाबा के चरण गीले कर दिए। बाबा बोले–"राज-हठ करते हो। अच्छा एक दिन के लिए आऊंगा।" वचन लेकर राजा लौट गया।

एक दिन बाबा अचानक उसके दरबार में प्रकट हुए। राजा सिंहासन से उठकर दौड़ा और खाली सिंहासन पर उन्हें बिठाने का आग्रह किया। बाबा बोले—"ग्वारिया के बैठने की जगह वह नही है।" धरती पर बैठ गए। बोले—"कोई हारमोनियम हो तो लाओ।" हारमोनियम आया। बाबा ने फिर कहा—"तुम्हारे राज्य में कोई निरंकुश हाथी हो तो उसे मंगवाओ।" हाथी आया। बाबा ने हारमोनियम पर न जाने क्या बजाया, कैसे बजाया, कि अनहोनी हो गई। हाथी हारमोनियम की लय-ताल पर नाचने लगा। जब तक बाबा बजाते रहे हाथी नाचता ही रहा। दरबारी और नगरवासी इस अद्भुत दृश्य को रोमांचित और मुग्ध होकर देखते रहे। अचानक बाबा ने एक साथ पांच सुरों पर अगुलियां रख दीं और धौंकनी बंद कर दी। हाथी पहले तो चिंघाड़ा। फिर सूंड़ ऊपर और नीचे उठाकर तीन बार प्रणामांजलि दी और बैठ गया। हाथी बैठा और बाबा उठे। रमते राम को रोकने वाला कहीं कोई पैदा हुआ है ?

इस घटना को सुनकर आपको आश्चर्य तो हुआ होगा, लेकिन मैं समझता हूं कि पूरी तरह विश्वास नहीं। नहीं, तो और सुनिए—ग्वारिया बाबा के मथुरा के एक प्रिय शिष्य थे—मूंगाजी। वह भी बाबा की तरह संगीत के प्रचार में जुट गए थे। बाबा जब कभी मथुरा आते तो उन्हीं के लक्ष्मीनारायण मंदिर में रुकते। मैं भी वहां प्रतिदिन जाया करता था। संगीत के साथ नृत्य भी सीखने लगा था। बाबा का विश्वासभाजन भी हो चला था। वह बाजार से मुझे कुछ-कुछ चीजें लाने को कहते रहते थे। कभी हल्दी के साथ नौसादर। तो कभी रांगे के साथ तेजाब। और चक्कर में डालने के लिए चीनी और मिठाई भी। एक बार वह तीन दिन अपने कमरे में बंद रहे। चौथे दिन उन्होंने मेरे हाथ में एक पीली-पीली चमकदार छोटी-सी छड़ दी। कहा—"इसे किसी सर्राफ के यहां बेच आओ।" सर्राफ ने उसे कसौटी पर कसा, तोला और चालीस रुपये तोले के हिसाब से मेरे हाथ में अस्सी रुपये पकड़ा दिए। मैंने बाबा को वे रुपये सौंप दिए। मूंगाजी से पूछा—"यह क्या रहस्य है ?" उन्होंने ओंठों पर अंगुली रखकर कहा—"चुप !" फिर एकांत में ले जाकर बोले—"खबरदार ! किसी से कहना मत। बाबा सोना बनाना जानते हैं। जितनी जरूरत होती है उतना ही बनाते हैं और किसी को इसका रहस्य नहीं बताते। तुम इस घटना को और मेरी बात को सुनकर पी जाओ और भूल जाओ।" मैं भी साठ बरस बाद आज आपसे पहली बार यह बात कर रहा हूं।

अब तो यकीन हुआ होगा। वह भी कुछ-कुछ। तो आंखों देखी उनकी अंतिम कथा को अंत में कहकर इस प्रसंग को समाप्त करना चाहता हूं। इजाजत है, तो ध्यान से सुनो। विश्वास न हो तो मथुरा-वृंदावन के किसी वयोवृद्ध से पूछ लेना। घटना यह है कि एक दिन बाबा ने मथुरा-वृंदावन के अपने शिष्य-प्रशिष्यों को वृंदावन में अपने स्थान पर बुलाया और कहा—"कृष्ण-सखा का बुलावा आ गया है। बारह बजे हम जाएंगे। बगलवाले कमरे में मेरे संगीत के विविध साज रखे हुए हैं। जो जिसमें माहिर हो, वह उसे ले जाए।" किसी ने वीणा उठाई, किसी ने तम्बूरा। किसी ने बेला लिया तो किसी ने मृदंग। कोई मंजीरे लेकर ही धन्य हो गया। किसी के हाथ केवल खड़तालें ही पड़ीं। जब सब अपने-अपने वाद्यों को लेकर उपस्थित हुए तो बाबा बोले—"कल ठीक बारह बजे आ जाना। मेरी कोई

अर्थी न सजाई जाए। न चिता जलाई जाए। मेरे दोनों पैरों में रस्सियां बांधकर तुम लोग मुझे वृंदावन की गलियों में कढ़ेरते-कढ़ेरते जमुना-तट पर ले जाना और शव को कृष्णप्रिया की गोद में सौंप देना।" ठीक बारह बजे हम लोग पहुंचे। बाबा जा चुके थे। लेकिन कोई उनके पैरों में रस्सियां बांधकर खींच-खींचकर ले जाने के लिए तैयार नहीं था। वृंदावन के साधु-संन्यासी भी उन्हें अपने संप्रदाय का मतावलंबी बताने लगे। विमान सजाने की तैयारी हुई। लेकिन हम कुछ नौजवानों ने विद्रोह कर दिया। बाबा का शव ब्रज की कुंज गलियों में ब्रज-रज में लोटता हुआ यमुना-तट की ओर चल पड़ा। लेकिन यह क्या ? वहां पहले से ही चिता तैयार थी। लोगों ने जबरन उनके शव को चिता पर रख दिया और अग्नि-संस्कार की तैयारी होने लगी। अब कहता हूं–"आंखिन देखी परशुराम कबहु न झूठी होय।" जैसे ही चिता पर शव रखा गया बड़े जोर से अंधड़ आया। मूसलाधार पानी गिरने लगा। लोग चिता को छोड़कर इधर-उधर बचने के लिए भाग खड़े हुए। कुछ देर बाद जब हम सब लौटे तो देखते क्या हैं कि यमुना किनारे सजी हुई चिता ढह गई है और शव नदारद है। अदृश्य ने बाबा की अंतिम इच्छा पूरी की। बाबा यमुना महारानी की गोद में जाने थे, चले गए।

श्री गोपालप्रसाद व्यास मूलतः ब्रजभाषा के कवि हैं। हास्यरस में तो वह बहुत बाद में आए। आज हिन्दी में उनके हास्यरस की ही चर्चा अधिक है, पर यह भी सत्य है कि ब्रजभारती भी इन्हें इतनी ही सिद्ध है। इन्होंने ब्रजभाषा की प्रसिद्ध चटसार में पिंगल, अलंकार, रस और नायिका-भेद आदि का परम्परागत अध्ययन किया था। यह चटसार थी मथुरा के भारतेंदु समाज के आचार्य कविश्री नवनीत चतुर्वेदी की। किशोरावस्था में ही इन्हें रस-रीति के लक्षण उदाहरण सहित लगभग ढाई हजार कवित्त-सवैये याद हो गए थे।

यही कारण है कि व्यासजी को छंद और ब्रजभारती की अजस्र माधुरी पर सहज अधिकार है। मंजे हुए छंदों में वह टकसाली भाषा का प्रयोग करते हैं। उनका समर्थ कलापक्ष भावानुगामी ही नहीं, विषय को चमत्कार प्रदान करनेवाला होता है। व्यासजी की भाषा गढ़ी हुई नहीं, अलंकृत या जड़ी हुई भी नहीं, सहज, सरल और बोधगम्य है। उन्होंने ब्रजभाषा की टकसाल के चालू सिक्के ही अपनाए हैं। व्यासजी की यह विशेषता है कि वह प्राचीन विषयों को नवीन परिवेश में और नवीन विषयों को प्राचीन परिपाटी में प्रस्तुत करते हैं।

–डॉ. नगेन्द्र

चक्रधारी बाबा हरिदास

साधु मैंने वहुत देखे हैं। नुकीली कीलों पर सोनेवाले। गहरा गड्ढा खोद, उसमें बैठ और ऊपर से सीमेंट लगाकर समाधि लगानेवाले। ऐसे-ऐसे कि जिनके सिर की लटें कई-कई गज लंबी होती थीं और जो उन्हें पगड़ी की तरह लपेटा करते थे। असली नागा भी देखे हैं और वे भी देखें हैं जो कुंभों के अवसरों पर नागा बनने के लिए किराए पर भरती किए जाते हैं। विंध्य की पहाड़ियों और हिमालय की गुफाओं में तप करते हुए साधुओं को भी देखा है तथा साधुओं के नाम पर उनके रूप में ऊंचे अध्यात्म की बातें करनेवाले इंद्रिय-लोलुप साधुओं से मिलने का अवसर भी मुझे मिला है। अपने गांव और ननिहाल में बस्ती से अलग धूनी तापते, रातभर जागते, बांसुरी बजाते और गांजे की चिलम में लौ उठाते, भक्तजनों से घिरे हुए साधुओं के दर्शन किए हैं। ऐसे कई साधुओं को ग्रामवासियों द्वारा पिटते हुए भी देखा है और वे साधु भी देखे हैं जो धूनी तापते-तापते एक दिन अचानक किसी युवती के साथ गायव हो गए थे। शिव-रात्रि के दिन साधुओं का वेश भरनेवाले, गले में जीवित सांप लटकानेवाले, त्रिशूल गाड़े और डमरू वजाते साधुओं को तो शायद आपने भी देखा हो। परंतु जिस साधु की बात मैं करने जा रहा हूं, वह विलक्षण थे, अद्‌भुत थे, पहले कभी देखे नहीं थे और अब तो देखने में आते ही नहीं। मूंज का लंगोट। मूंज का ही यज्ञोपवीत। सारे शरीर पर धूनी की राख, यानी भभूत की तह पर तह। बिना भांग, गांजे और चरस के लाल-लाल वड़ी आंखें। क्लीनशेव परंतु सिर पर जटाजूट। यह तो हुई साधारण रूपरेखा। लेकिन सुगठित मझोले कद के शरीर पर कमर के दोनों ओर गोरखाई कृपाणें, कंधे पर पीतल का धनुष, हाथ में परशु यानी फरसा, मस्तक पर त्रिपुंड, बीच में दैवीशक्ति का चिन्ह लाल बड़ा बिंदा और गले में लोहे का चक्र। उन्हें आते देखकर ऐसा लगता था जैसे शिवधनुष के टूटने की आवाज सुनकर साक्षात् परशुराम चले आ रहे हैं। काठ के मोटे-मोटे गुटकों की सुमिरिनी से भजन करते थे। उनके साथ शस्त्रों का भंडार चलता था जिसमें लंबी-लंबी एकधारी और दुधारी तलवारें, भाले, तरह-तरह

की कटारें, तीखे बाणों से भरा हुआ तरकश, पटा, बनैटी और भिन्न-भिन्न जंगलों से प्राप्त धुएं से लाल, तेल से रमी हुई छोटी-बड़ी मजबूत लाठियां तथा लोहे के छोटे-बड़े गोले हुआ करते थे। वह शस्त्रधारी साधु थे। नाम था—बाबा हरिदास चक्रधारी।

बात मथुरा की है। मथुरा में यमुना-तट के स्वामी घाट पर एक अखाड़ा था। जहां नए-नए पट्ठे दंड-बैठक लगाते, मालिश करते-कराते बड़े-बड़े, कलात्मक ढंग से अखाड़े गोदते, उनकी लहरों पर गुलाब की पंखुरियां बिखेरते, गुलाबजल छिड़कते और सुगंधित धूप दिखाते रहते थे। खलीफे दांवपेंच सिखाते। जोटें छूटतीं। कुश्तियां होतीं। हार-जीत के लिए नहीं, बलवर्द्धन के लिए। अखाड़े में पटा-बनैटी और लाठियां चलाने का भी प्रशिक्षण दिया जाता था। वर्ष में एक बार राम की बारात में इस अखाड़े की काली निकलती थी। दो असली और दो नकली हाथों में तलवार लिये हुए। काली को छोटे-बड़े खलीफे भरे बाजार में नचाते थे। यह युद्ध-नृत्य का प्रदर्शन होता था। काली झपट-झपटकर वार करती और खलीफा उसके वारों को बचाते-बचाते कभी पीछे हटता और कभी अपने वारों से काली को भी पीछे हटा दिया करता था। अखाड़े के उस्ताद सहित सब चेलों का शस्त्र प्रदर्शन इस तरह बाजारों में हुआ करता था। मैंने भी एक बार एक हाथ में ढाल और दूसरे में तलवार, कमर में लंगोट या रूमाली के ऊपर मां की चांदी की कौंधनी पहनकर ऐसी ही एक काली को नचाया था और छोटी उम्र का होने के कारण नगरवासियों की वाहवाही भी लूटी थी। ऐसे अखाड़े में बाबा हरिदास कुछ दिन ठहरे थे। उन्होंने मुझे लाठी चलाना, तलवार भाजना, पटे को टांग से नीचे निकालकर नींबू काटना आदि सिखाया था।

भगवान श्रीकृष्ण के सुदर्शन चक्र के बारे में सुना था, पढ़ा था। पर चक्र कैसा होता है, कैसे चलाया जाता है और उसकी मार कैसी अचूक और अकाट्य होती है, यह बाबा हरिदास के चक्र-संचालन से ही जाना। जिस समय बाबा अंगुलियों पर फिरा-फिराकर चक्र चलाते थे उस समय यमुना नदी में नावों का चलना बंद हो जाता था। इस पार से उस पार तक के लोगों को सावधान कर दिया जाता था कि वे चक्र की राह से दूर रहें। बायां पैर पीछे, दाहिना पैर आगे, हाथों की पूरी शक्ति तर्जनी अंगुली में, अंगुली की पूरी शक्ति चक्र में और यह शक्ति-पुंज चक्र जब बाबा छोड़ते तो भरी हुई यमुना का पूरा पाट सिवाय चक्र की गति के एकदम निस्तब्ध हो जाता था। दुर्भाग्य से उड़ता-उड़ता कोई पंछी बीच में आ जाता तो दो टूक होकर गिर पड़ता। पार के जिस वृक्ष से वह चक्र टकरा जाता उसकी शाखा भी कट जाती थी। पूरी मथुरा घाटों की सीढ़ियों पर उतरकर इस दृश्य को देखा करती थी। कमी सिर्फ एक ही रहती थी कि चक्र लौटकर वापस बाबा की अंगुली में नहीं आता था। आप अनुमान लगा सकते हैं कि दूर तक मार करनेवालों में यह अमोघ हुआ करता होगा। श्रीकृष्ण के जमाने में इसका वापस अंगुली में लौट आना असंभव प्रतीत नहीं होता। तब यह कला विकसित थी, अब लुप्त हो गई है।

बाबा का एक अपूर्व प्रदर्शन भी मैंने अपनी आंखों से देखा था। मथुरा नगर तब लाठीधारी नगर था। चौबे, सनौढ़िये ही नहीं, नगर की अन्य जातियों के लोग भी लाठी बांधते थे, चलाते थे। यमुना के उस पार रेत में उतरकर दो जातियों का लाठी-युद्ध भी

कई बार हुआ है और सुना है कि उसमें एक बार दो सौ लठैत मारे भी गए थे और उनकी लाशें यमुना में बहा दी गई थीं। ऐसे लठैतों को बाबा ने चुनौती दी। ललकारा कि जो सर्वोत्तम लाठी चलानेवाले हों वे आठ की संख्या में पुरानी कोतवाली के मैदान में अमुक दिन और अमुक समय मुकाबले के लिए आ जाएं। वे आठ और बाबा अकेले। मथुरा के आठ प्रबल लठैतों ने बाबा को आठों दिशाओं से घेर लिया। बाबा एक आदमकद मजबूत लाठी लेकर केन्द्र में खड़े हो गए और कहा–"मारो ! जितना मां ने दूध पिलाया हो, कसर न छोड़ो।" लाठियां बरसने लगीं–तड़ातड़-तड़ातड़-तड़ातड़। बाबा की निगाह आठों दिशाओं में घूम रही थी और शत्रु-पक्ष के निकट आते हुए वारों को अदम्य साहस के साथ झेल रही थी अपनी लाठी पर। मौका मिलते ही वे एक-एक करके उस चक्रव्यूह को तोड़ते जाते थे। जो पकड़ में आ जाता उसका मुरंडा बांध देते थे। 'मुरंडा' वह प्रक्रिया है जिसमें दोनों घुटनों को ऊंचा उठाकर शत्रु की लाठी से ही उसकी टांगों के बीच गर्दन को इस तरह फंसा दिया जाता है कि उठना तो दूर, वह हिलडुल भी नहीं सकता। इस तरह दो घंटे के इस लाठी-युद्ध में बाबा ने आठों लठैतों के मुरंडे बांध दिए। लटैत पसीने-पसीने हो रहे थे और चोटों से कराह रहे थे, लेकिन बाबा के चेहरे पर पसीने की एक बूंद नहीं थी। उनकी चुस्ती, फुर्ती और कौशल, यानी बचाव और आक्रमण आदि से अंत तक वैसा ही बना रहा। हजारों दर्शक इस दृश्य को मैदान में देख रहे थे। छज्जों, झरोखों और छतों पर भी भारी भीड़ थी। सब तालियां बजा रहे थे और बाबा की जय-जयकार कर रहे थे। परंतु बाबा निर्विकार थे। उन्होंने विजय के बाद तीन बार भूमि का स्पर्श कर अपने हाथ को मस्तक पर लगाया और ऊंचे स्वर में केवल एक शब्द बोले–"जय शंकर !" हम लोग विजय-गर्व से प्रेरित जुलूस बनाकर बाबा को अखाड़े तक ले आए। न जाने कहां से बैंडवाले भी आ गए। अपूर्व शोभायात्रा थी वह। पर बाबा सिर झुकाए हुए बिना लाठी के चलते रहे, चलते रहे और अखाड़े में आकर उन्होंने अपनी कोठरी के कपाट बंद कर लिए। ध्यानमग्न होकर अपनी मोटी माला पर कुछ जपने लगे। क्या जपने लगे, यह हम लोगों ने नहीं सुना।

ब्रज में नागाओं की परंपरा बहुत पुरानी रही है। वे बड़ी संख्या में ब्रज में वास करते थे। कुछ इतिहासकारों का कहना है कि इन्हीं नागों के राजा कालीनाग से श्रीकृष्ण का युद्ध हुआ था और उन्होंने उसे नाथकर या वश में करके यमुना के अंचलों से उन्हें खदेड़ दिया। इस पुराण कथा और ऐतिहासिक तथ्य में कितना सत्य है, यह मैं नहीं कह सकता। लेकिन इतना अवश्य कह सकता हूं कि दिल्ली के यवन शासकों ने जब महावन, गोकुल, वृंदावन आदि नगरों पर हमला किया था तो शस्त्रधारी नागाओं ने ही उनका डटकर मुकाबला किया था। इन शस्त्रधारी नागाओं के अखाड़े कई जगह देश में आज भी हैं। वृंदावन के प्राचीन मठों में कुंभ के अवसर पर आज भी ऐसे साधु और अस्त्र-शस्त्र मिल जाएंगे। पहल-पहल राम जन्मभूमि को मुक्त करने के लिए ऐसे शस्त्रधारियों ने ही अलख जगाया था। शायद बाबा हरिदास भी देश के नगरों में घूम-घूमकर लोगों में आत्मबल के साथ-साथ देहबल और शस्त्रबल की शिक्षा देने के लिए अपने किसी अखाड़े से निकल पड़े होंगे। जब किसी जाति में हीनता घर कर जाती है। लोग पौरुष को भूल जाते हैं।

कायर हो जाते हैं। तब आततताई का वध करना पाप नहीं है। उसके विरुद्ध हथियार उठाना भी जरूरी है। कदाचित् यही बाबा हरिदास चक्रधारी का संदेश रहा होगा। परंतु मैं तो तब अबोध था। बारह-तेरह वर्ष का ही रहा होऊंगा। न इतना ज्ञान था और न ज्ञान को ग्रहण करने की शक्ति। हां, उनसे जो कुछ पाया, वही शायद सन् 42 के 'भारत छोड़ो' संग्राम में काम आया।

यह निश्चय है कि श्री गोपालप्रसाद व्यास बहुत सुन्दर लिखते हैं। प्रसन्नता की बात यह है कि हिन्दी में आपके समान हास्य-रस के लेखक एक अंगुली पर गिनने की संख्या में समुचित वृद्धि करने में समर्थ हुए हैं।

—मैथिलीशरण गुप्त

चिर जीवहु व्यास विनोद वपू,
ब्रजवासिन के चित के हित वारे।
नित माद लहौ अवनी-तल पै,
चतुराई गहौ विभुताई पसारे।

कविता की कलान कला-निधि से,
विध बानि के बानिक नीक दुलारे।
दृग तारे सितारे पिताश्री के,
सब मीतन के तुम प्रानन प्यारे।

जांय जहां छबि पांय तहां, नित,
साहित ढाल कमाल कहामें।
त्योंसु 'लला' कवि कोविद वृन्दहि
पानिप - पोत प्रवाल कहामें।

राज की राज मरालन में हितु,
राजत राज मराल कहामें
लाल कहामें ब्रजांगन कुंज के,
ब्रजवासिन हूं के गुपाल कहामें।

—'कविरत्न' रामलला

शतरंज मार्तण्ड कृष्ण कवि

कवि बहुत देखे। लेकिन अपने कृतित्व और व्यक्तित्व के प्रति इतना उदासीन कोई नहीं देखा। वह कोई मामूली व्यक्ति या साधारण कवि नहीं थे। ब्रजभाषा के मान्य महाकवि बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' तक उनके काव्यशास्त्र के अध्ययन और सशक्त रचनाओं का लोहा मानते थे। परंतु वह थे कि साधारण-सा एक तहमद और लंबा कुर्ता पहने या तो घर में बैठे चुपचाप कविताएं लिखते रहते थे या मथुरा के सती घाट पर शतरंज खेलते या लोगों को खिलाते रहते थे। न किसी से लेना, न किसी को देना। लंबे कद और पक्के रंग का यह आदमी अपने से बेखबर था और चाहता था कि लोग भी उससे बेखबर रहें। वह जाति के माहौर वैश्य थे और मथुरा के साधारण लोग उन्हें किशन पापड़वाले के नाम से जानते थे। उनके पूर्वज शायद पापड़ का धंधा करते होंगे।

एक दिन अचानक उनकी भारत-भर में ख्याति फैल गई। उन्होंने तत्कालीन वायसराय का शतरंज कप जीत लिया था। राष्ट्र ने उनको शतरंज मार्तण्ड की उपाधि से सम्मानित किया। इस बात को सुनकर मथुरा में एक जलसा हुआ। लेकिन शतरंज मार्तण्ड उसमें नहीं पहुंचे। यमुना के घाट पर शतरंज खेलते-खिलाते रहे। मैंने शतरंज खेलना उन्हीं से सीखा था।

पहले शतरंज की ही बात करें। मैंने नहीं सुना और न कभी ऐसा देखने का अवसर प्राप्त हुआ कि जब उन्होंने किसी से शतरंज में बाजी हारी हो। क्या कहने थे उनकी शतरंज कला के! घाट के बाहर शतरंज के तीन-तीन फड़ जमवा देते और स्वयं अकेले एक कमरे में बैठ जाते। वहीं से बैठे-बैठे वह तीनों फड़ों के खिलाड़ियों में से एक-एक का पक्ष लेते और बताते जाते कि इस पैदल को आगे बढ़ा। घोड़े को इस घर में ला। वजीर को इस कोठे में बिठा। ऊंट को इस करवट ले। शाह को अरदब से बचा। दे वजीर से किश्त और यह मात। यह खेल मैंने कई बार अपनी आंखों से देखा है। तीन-तीन शतरंजों के नक्शे उनके दिमाग में रहते थे। अपनी ही नहीं, प्रतिपक्षी की चाल भी उन्हें पता होती

थी कि वह अब क्या सोच रहा है और कौन-सा मोहरा आगे बढ़ाएगा ? कैसी विलक्षण प्रतिभा थी उनमें। घाट पर लोग नहाते। पूजापाठ करते। लला कवि के कारण कवित्तबाजी भी होती। लेकिन किशनजी दोपहर से शाम होती। शाम से रात हो जाती। मिट्टी के तेल की कुप्पियां या लालटेनें जल जातीं, परंतु वह स्वयं सब कुछ भूलकर शतरंज में ही डूबे रहते। नए-नए लोगों को शतरंज सिखाने का उन्हें शौक था। मथुरा में कोई धुरंधर खिलाड़ी उनका नाम सुनकर आता तो उसके सामने किसी नौसिखिए को बिठाकर चालें चलवाते मात देते। आगंतुक उन्हें उस्ताद मानता। पेड़े आते। हम सब में बंट जाते। वह एक टुकड़ा भी मुंह में नहीं डालते थे। जब तक जिंदा रहे, तब तक मथुरा से बाहर नहीं गए। मानते थे कि मथुरा वैकुंठपुरी है। यहीं पैदा हुए हैं और यहीं मरना है। सिर्फ घर से घाट तक उनका आना-जाना था। महीने में केवल एक बार अपना बंधान लेने जाते थे। कलकत्ता के स्वर्गीय हनुमानप्रसाद पोद्दार ने उनकी शतरंज कला पर मुग्ध होकर दो सौ रुपए मासिक की वृत्ति बांध दी थी। उसे वसूलने वह चूड़ीवाली टेक के नाम से मशहूर चुरूवाले सेठों की गली, यानी पोद्दार के मुहल्ले में जाते थे। रस-अलंकार-ध्वनि और साहित्यशास्त्र के ज्ञाता और विद्वानों के भक्त सेठ कन्हैयालाल पोद्दार उन्हें दिख जाते और उन्हें बुला लेते तो कुछ देर उनके पास अवश्य बैठ जाते। नहीं तो वह भले और उनका नित्य कर्म भला।

वह ब्रजभाषा-काव्य का अंतिम दौर था। मथुरा उस समय ब्रज-कविता का एक बड़ा गढ़ था। ग्वाल और उरदाम के बाद नवनीत चतुर्वेदी उस गढ़ के किलेदार थे। पिंगल और काव्यशास्त्र में प्रवीण, समस्यापूर्ति के धनी, छंद-नवनीत सहित अनेक ग्रंथों के रचयिता, तत्कालीन कई राजाओं, रईसों और गोस्वामियों द्वारा सम्मानित नवनीतजी ने कानपुर, काशी, कलकत्ता, नाथद्वारा और काकरौली आदि स्थानों में अपने कवित्व की धाक जमाई थी और सम्मान प्राप्त किए थे। रत्नाकरजी और आचार्य पद्मसिंह शर्मा भी उन्हें गुरुजी कहते थे। वही किशनजी के भी गुरु थे। मैंने भी नवनीतजी से उनकी उत्तरावस्था में उनसे पिंगल पढ़ा था। इस नाते मैं उनका गुरुभाई था और वह भी मुझे छोटे भाई की तरह ही बहुत स्नेह करते थे। जब घर से निकलकर घाट की ओर जाते तो रास्ते में गली दशावतार में मेरा घर पड़ता था। आवाज लगाते—"गोपालजी, क्या कर रहे हो ?" मैं उतरकर आता। मेरे साथ मेरा बड़ा लड़का जो उस समय चार-पांच वर्ष का ही रहा होगा, दौड़ा चला आता। किशनजी का कुर्ता पकड़ मचलकर कहता—"बाबा, जवेली !" किशनजी एक पैसा उसके हाथ पर रखते और सिर पर हाथ फेरते। उन दिनों एक पैसे में देशी घी की एक जलेबी आ जाया करती थी। जब तक वह जिये और मैं मथुरा में रहा, यह क्रम अखंड रूप से चलता ही रहा।

हां, तो बात कविता की हो रही थी। जब-जब रत्नाकरजी मथुरा आते तो अपने गुरुजी को नई-नई कविताएं सुनाया करते थे। मथुरा की कवि-मंडली स्वयं उपस्थित हो जाती थी। बहुत से साहित्य-रसिक रत्नाकरजी के दर्शन को भी चले आते थे। बैठक भर जाया करती थी। गुरुजी समस्या देते और रत्नाकरजी सहित मथुरा के कवि उसी समय उसकी पूर्ति करके सुनाया करते थे। एक बार की याद है कि समस्या दी गई—"कहत

चले यों कान्ह बांसुरी बजावै है" रत्नाकरजी सहित कई कवियों ने इसकी उत्कृष्ट पूर्तियां प्रस्तुत कीं। परंतु कृष्ण कवि की पूर्ति अत्यंत चमत्कारिक और अनूठी थी। उसकी अंतिम दो पंक्तियां ही अब याद रह गई हैं। प्रसंग था कृष्ण के महारास का। हिमालय में जब शिवजी ने वंशी की तान सुनी तो–

कूंडी फोड़ सोटा तोड़ मुख गिरिजा सौं मोड़,
कहत चले यों कान्ह बांसुरी बजावै है।

बिहारी सतसई की टीका करनेवाले एक अन्य कृष्ण कवि भी हुए हैं। परंतु मथुरा के कृष्ण कवि ने एक महान् अद्भुत पराक्रम किया। उन्होंने संपूर्ण महाभारत कथा ब्रजभाषा की कविता में लिख डाली। मैंने बीच-बीच में से उसे सुना था। छपता तो वही ब्रजभाषा का पहला और अंतिम शास्त्रोक्त, रस-रीति से युक्त टकसाली महाकाव्य होता। लेकिन देखता क्या हूं कि एक दिन वह एक मजदूर के सिर पर बोरी में कुछ रखवा कर यमुना की ओर चले जा रहे हैं। मुझसे बोले–"आओ, नाव की सैर करा लाऊं।" मैं चल दिया। उन्होंने बोरी नाव में रखवा ली। मुझे पास में बिठा लिया। जब भरी हुई यमुना का मध्य भाग आया तो उन्होंने वह भारी-भरकम बोरी यमुना में विसर्जित कर दी। मैंने आश्चर्य से पूछा कि–"यह क्या ?" तो बोले–"यही कुछ महाभारत के पन्ने थे। उन्हें जमुना मैया की भेंट कर दिया है।"

"हाय ! यह क्या किया ?"–मेरे कहने पर वह बोले कि ब्रजभाषा में एक से एक बड़ा कवि हुआ है। एक से एक उत्तम ग्रंथ रचे गए हैं। उन्हें ही लोग पढ़ लें तो बहुत है। भगवान कृष्ण के इस जयकाव्य का उनकी चिरसंगिनी और अब तक साक्ष्य के रूप में बह रही यमुनाजी से अधिक और कौन गुणग्राहक हो सकता है।" अपनी रचनाओं के प्रति ऐसा निरासक्त, अपने रचनाई अहम् को स्वयं अपने हाथों से पानी में बहा देनेवाला कोई कवि आपने देखा-सुना है ? आजकल तो अपनी दो-दो चार-चार कविताओं और तिकड़मों से छपाई हुई पुस्तकों को, कवि-सम्मेलनों के चित्रों को ऐतिहासिक धरोहर मानकर युगों-युगों तक सुरक्षित करनेवाले लोग गली-गली में मिल जाएंगे।

पहले मुझे ब्रजभाषा की कई हजार कविताएं कंठस्थ थीं। पावस के, नखशिख के, नायिका-भेद के, नवरस के छंद पर छंद कई-कई रातों तक पढ़ंत-दंगलों में सुनाया करता था। किशनजी की कविताएं मुझे याद थीं। पर न अब सुननेवाले रहे और न समझनेवाले। संगत भी समाप्त हो गई। पढ़ंत-दंगल के अंतिम जुझारू कवि मेरे मित्र रामलला यानी लला कवि भी चले गए। धीरे-धीरे मेरी स्मृति भी जा रही है। अब कृष्ण कवि का केवल एक छंद याद रह गया है–

आए भोर उठिकैं बिताई पिय रैन कहां ?
आलस उनीदें दृग लाजन ते छूटी है।
'कृष्ण कवि' कहैं माल बिन गुन मुक्तन की,
ठौर-ठौर अंगन में राजत सुकूटी है।

अंजन अधर छवि देत मनों नीलम की,
जावक लिलार प्रभा मानिक की झूटी है।
सांच कहि दीजै, हा-हा नैकु न दुराव कीजै,
कौन से नवीन जौहरी की हाट लूटी है ?

यह कौन-सी नायिका है, और सुरति का कैसा अंग-प्रत्यंग वर्णन है–कितने लोग समझेंगे इसे अब ?

ऐसे वाल ब्रह्मचारी, परमयोगी, निरासक्त और निष्काम कर्म में विश्वास रखनेवाले कवि का जब अंतिम समय आया तो सवेरे-सवेरे आठ बजे मेरे पास आए। बोले–"नहा लिए ?" मैंने कहा–"अभी नहीं", कहा–"जल्दी से नहा-धोकर और खा-पीकर निवृत्त हो लो। आज चार बजे मुझे इस दुनिया से जाना है।" मेरा हाथ पकड़कर उन्होंने अपने माथे से लगाया। तवे की तरह जल रहा था। मैंने कहा–"डॉक्टर के पास ले चलता हूं। ठीक हो जाओगे।" तो बोले, "टूटी को कही बूटी मिली है। ठीक बारह बजे आ जाना और समझ लेना," इतना कहकर वह वापस लौट गए।

मैं ठीक घड़ी के टाइम पर पहुंचा। वह खजूर की चटाई पर सीधे लेटे थे। मैंने सहारा देकर उठाया। पानी पिलाया। पीकर बोले, "इस संदूक में कुछ किताबें हैं। उन्हें सैंयाजी के लड़के चुन्नीलाल 'शंप' को दे देना। मैंने उसे बेटे की तरह प्यार दिया है। इस मटके में मेरी पुरानी शतरंज और कई तरह के मोहरे हैं, इन्हें बंदर चौबे (वालमुकुंद चतुर्वेदी) को दे देना। वह मेरा शतरंज का सबसे अच्छा शार्गिद है। और देखो, उस आले में कागज के नीचे दो सौ रुपये के नोट रखे हुए हैं। इनसे मेरा क्रिया-कर्म कर देना। मेरे 'जवेली' वाले बेटे को कहना कि वावा की अर्थी के पीछे घंटी बजाता चले। वस, अब जाओ। ठीक चार बजे आ जाना और सूर्यास्त से पहले इस देह को अग्नि में समर्पित करके इसकी भस्मी को जमुना में वहा देना। बोलो मत। किवाड़ भेड़ जाओ और जाओ।"

उठने को मन नही कर रहा था। पैर मन-मन के हो गए थे। मुश्किल से उठा। दीवार का सहारा लेकर कठिनाइ से जीना उतरा। राम-राम करके समय काटा। चार बजे जब दोवारा उनके चौबारे पर पहुंचा तो देखता क्या हूं कि उनका मस्तक फट गया है। खून बह गया है। योगिराज के प्राण मस्तक फोड़कर निकल गए हैं।

फिर तो मथुरा उमड़ आई। शायद ही कोई कवि, साहित्यकार, कलाकार, शतरंज का खिलाड़ी या शौकीन, उनकी बिरादरी के लोग और योगियों की तरह अपने प्राणों को मस्तक के रास्ते ऊर्ध्वगामी करनेवाले के दर्शनों के लिए एकत्र हो गए। उनके उत्तराधिकार को लेकर भी कुछ विवाद चला। कवि कहते थे कि यह हमारे हैं। शतरंजी कहते थे कि नहीं, यह हमारे हैं। बिरादरीवाले कहते थे कि यह हमारे ताऊ हैं, बाबा हैं। पर हमने किसी की एक नहीं सुनी। सबने मिलकर अर्थी सजाई। चार की जगह आठ उनके प्रिय उस अर्थी में लगे। बदल-बदलकर सैकड़ों आदमियों ने उन्हें कंधा दिया। ध्रुव घाट पर उनकी अंत्येष्टि हुई। अंतिम संस्कार कौन करे, इस पर फिर विवाद हुआ। मैंने कहा–"किस बात पर विवाद करते हो। उन्होंने सिर्फ दो सौ रुपए छोड़े हैं। अपनी अमूल्य संपत्ति पुस्तकें

और शतरंज के मोहरे भी अपने प्रिय शिष्यों को दे गए हैं। मकान किराए का है। न कपड़े हैं, न बर्तन। कोई एक आदमी संस्कार नहीं करेगा। सब मिलकर संस्कार करो। केवल भस्मी को मैं जमुनाजी में प्रवाहित करूंगा।" और मैंने उस महाप्राण, महायोगी, महाकवि की भस्मी-भूत देह की राख को जमुनाजी में यह कहकर विसर्जित कर दिया कि "हे माते ! तुमने उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति को जैसे स्वीकार किया था, उनकी भस्मी को भी स्वीकार करो।" किशनजी गए। मथुरा की. ब्रज की, कहूं कि देश की एक अनुपमेय निधि लुट गई।

श्री गोपालप्रसाद व्यास निज मातृभूमि-आराधक हैं,
स्नेह, सरलता, भव्य भावना युत साहित्यिक साधक हैं।
कविता-कला कलित-कानन में प्रतिभा-प्रभा दिखाई है,
व्यंग्य-विनोदमयी वाणी से जीवन-ज्योति जगाई है।
पत्रकारिता की प्रभुता का उच्चादर्श निभाया है,
ललित लेखनी द्वारा सत् सेवा कर सुयश कमाया है।
'पद्मश्री' ऊंची उपाधि से राज्य-प्रतिष्ठा पाई है,
हिन्दीप्रेमी जन-जनता की सादर स्नेह बधाई है।
प्रभु-करुणा से बंधु व्यासजी हों शतायु, सानंद रहें,
सदा सफल शुभ, कीर्तिमान हों, कभी न कोई कष्ट सहें।

–डॉ. हरीशंकर शर्मा

जब मैं राम बना

नाम हमारा गुपाल है तो क्या हुआ। कथनी पर यदि विश्वास किया जाए तो बचपन से ही हम राम-स्वरूप हैं। यह बात दूसरी है कि हम "नील सरोरुहै स्याम" नहीं हैं और न हमारे नयन ही हमारी याद में कभी "तरुन अरुन वारिज" रहे हैं। इससे क्या होता है। हमने भी धनुष धारण किया है। पीठ पर तरकस बांधा है। मुकुट-कुंडल पहने हैं। हमारे जटाजूटों पर भी फूलों का शृंगार हुआ है। आज पचपन वर्ष बाद भी मथुरा के लाखों लोगों में से हजारों ऐसे नर-नारी अभी जीवित बचे होंगे जिन्होंने हमारे दर्शन करके अपना जीवन कृतार्थ किया होगा और "बोल राजा रामचन्द्र की जय" के हर्षमूलक जयकारे लगाए होंगे। बहुत दिनों तक हमने अपनी इस राम-छवि (फोटो) को संभाल कर रखा था। लेकिन जैसे यार लोगों ने गांधीजी की घड़ी को पार कर दिया, वैसे ही हमारी यह दुर्लभ तस्वीर भी कहीं अमरीका, फ्रांस, जर्मनी या इंग्लैंड के किसी राम-भक्त के घर में शोभायमान हो गई हो तो कोई आश्चर्य नहीं !

जी, तो हम रामलीला में राम बने हैं। राम ही क्यों, जब ग्यारह वर्ष के थे तो महाराज जनक ने हमारा कन्यादान भी लिया था। एक वर्ष बाद क्षत्रिय वेशधारी पराक्रमी परशुराम से भी हमारा चुटीला संवाद हुआ था। तेरह वर्ष की अल्पायु में भगवान राम की कृपा हमें प्राप्त हो गई थी। आज इस पवित्र कथा को याद करके हमारा मन अपनी छवि पर स्वयं मोहित हो रहा है। भूतपूर्व राष्ट्रपतियों, प्रधानमंत्रियों, राज्यपालों और छोटे-बड़े मंत्रियों की तरह अपने लोगों में यह कहने में कम गर्व का अनुभव नहीं करते कि जनाब ! कभी हम भी कुछ थे। जब भी कभी रामलीला के दिनों में मथुरा जाते हैं और लाखों रुपयों की कीमतवाले चांदी के विशाल और सुंदर सिंहासन को देखते हैं तो स्मरण हो आता है कि कभी इसी सिंहासन पर हमारा राजतिलक हुआ था। यही वह मथुरा की मिथिला है जहां हमने धनुष तोड़ा था। यही वह पंचवटी है जहां बिलख-बिलख कर हमने "हे खग-मृग हे मधुकर श्रेनी !–तुम देखी सीता मृगनैनी" की चौपाइयां गाई थीं। यही वह महाविद्या

का मैदान है जहां हमारे छोटे-छोटे हाथों से निकले हुए सरकंडे के तीरों ने बांस-खपच्ची और रंग-बिरंगे कागजों से मढ़े दैत्याकार रावण का वक्षस्थल वेध डाला था। आश्चर्य होता है कि अपनी बारात में कैसे बारह घंटे तक लगातार हमने लगाम पकड़कर एक चंचल घोड़े पर सवारी की थी। कैसे सुनहरे दिन थे हमारे कि लोग हमें जमीन पर चलने ही नहीं देते थे। कंधों-कंधों पर उठाए फिरते थे। वन जाते समय जब मथुरा के बाजारों से हमारी पदयात्रा शुरू हुई थी तो हमारे आगे-आगे गलीचे पर गलीचे और मारकीन के थान पर थान बिछते चले जा रहे थे। आज तो हमारे पढ़े-लिखे बच्चे हमारी थाली में छोड़ी हुई स्वच्छ मिठाई भी छूना पसंद नहीं करते, लेकिन तब सैकड़ों लोगों की कतारें लगी रहती थीं कि किसी प्रकार रामजी की जूठन पाने का सौभाग्य उन्हें प्राप्त हो जाए। वे हमारे मुंह में बरफी का एक टुकड़ा देते और उसका आधा भाग हमारे मुंह से निकालकर स्वयं अपने मुंह में डाल लेते। पीने से बचे हुए जल का आचमन करके अकाल मृत्यु से बचने की गारंटी प्राप्त कर लिया करते थे। क्या फिर कभी किसी जन्म में हमें ऐसा सुयोग प्राप्त हो पाएगा ? शायद नहीं। हालांकि हमने ऐसे कर्म तो नहीं किए, लेकिन क्या पता हमें मुक्ति मिल ही जाय और फिर जन्म धारण करना ही न पड़े। यदि कर्म-विपाक से 'पुनरपि जननं, पुनरपि मरणं, पुनरपि जननी जटरे शयनं' का चक्र चल ही जाए तो इस बात की क्या गारंटी है कि हमें दोबारा मनुष्य योनि ही प्राप्त होगी और मथुरा के ब्राह्मण परिवार में ही जन्म लेने का सुअवसर मिल जाएगा। मान लो यह सब भी भगवत-कृपा से सुलभ हो जाए और हम फिर से राजा रामचंद्र बन भी जाएं तो भी भक्ति-भावना का वह वातावरण शायद तब संभव न हो। रामलीला में तब महात्मा महाकवि तुलसीदासजी का मानसपाठ और उसके दोहा-चौपाइयों के आधार पर सम्पूर्ण रामलीला का संचालन तो कदापि देखने, सुनने और अभिनय करने को सुलभ नहीं हो सकता। रामलीलाओं में फिल्मी गीत और पारसी थियेटर जैसे कथोपकथन तो आजकल भी चालू हो गए हैं। तब तो शायद राजा रामचन्द्र पैंट-बुशर्ट पहनने लगें और बॉब्ड हेयर वाली सीताजी जीन्स धारण करने लगें तो कोई आश्चर्य नहीं। भारत में जिस तेजी से अंग्रेजी का प्रचार हो रहा है उसे देखते हुए कोई आश्चर्य नहीं कि 'हे तात' की जगह राम-लक्ष्मण परस्पर 'माई डियर ब्रदर' का संबोधन करने लगें। तमिलनाडु और श्रीलंका में जिस तरह रावण-वध का विरोध हो रहा है उसे देखते हुए तब शायद दशहरे के दिन रावण मारा या फूंका ही न जाए और केंद्रीय सरकार के हस्तक्षेप से वार्ता की मेज पर बैठकर राम-रावण में 'अयुद्ध-संधि' हो जाए। इसलिए अच्छा ही हुआ कि हम पहले राम बन लिए। नहीं तो अगले सौ-पचास वर्षों में जिस तरह से आज नारी-आंदोलन तेजी पकड़ रहा है उसे देखते हुए उर्मिला चौदह वर्षों तक लक्ष्मण के लिए नहीं बैठी रह सकती। तब के रामलीलावाले उसे 'डाइवोर्स' दिलाकर उसका दूसरा विवाह रचा दें तो कोई ताज्जुब नहीं।

रामलीला के यह मनोहारी दृश्य, क्योंकि आगे आनेवाली पीढ़ियों को देखने तो क्या सुनने को भी दुर्लभ हो जाएंगे, इसीलिए हमने राष्ट्रीय अभिलेखागार में सुरक्षित रखने के लिए यह दस्तावेज तैयार करने का महत्वपूर्ण निश्चय किया है। जब छोटे-छोटे नेता और लेखक बड़े-बड़े नेताओं और लेखकों से येन-केन प्रकार से छोटी-छोटी चिट्ठियां लिखवाकर

अपने जीते जी उन्हें राष्ट्रीय संग्रहालयों को सौंप रहे हैं तो हम मर्यादा पुरुषोत्तम की लीला के पावन प्रसंगों को क्या अपनी मृत्यु के बाद भी राष्ट्रीय धरोहर नहीं बना सकते ? देखिए, हमारा पब्लिक स्कूल में पढ़नेवाला शांतनु व्यास बीच में ही बोल उठा–"क्यों नहीं बना सकते ? बाबा साहब, आपने रामलीला में राम का पार्ट किया था। इस 'स्टोरी' को मुझे भी सुनाइए, प्लीज !"

तो सुनिए साहब, आप भी वह स्टोरी। यों तो उत्तर भारत के सभी छोटे-बड़े शहरों में रामलीलाएं होती हैं, लेकिन इनमें रामनगर (वाराणसी) और मथुरा की रामलीलाओं का विशेष महत्त्व है। यह इसलिए कि यह दोनों लीलाएं गोसाईंजी कृत 'रामचरित मानस' के आधार पर होती हैं। समाजी रामायण की चौपाइयों का पाठ करते हैं और स्वरूप उनका स्थानीय भाषाओं में अर्थ करते हैं। पाठ भी शुद्ध और अर्थ भी प्रामाणिक। मथुरा की रामलीला में ब्रजभाषा का पुट होने से यहां के संवाद अधिक ललित बन जाते हैं। चाहे राम हो या रावण, दशरथ हो या वशिष्ठ, हनुमान हो या अंगद, लक्ष्मण हो या मेघनाद पाठ करते-करते और सुनते-सुनते सभी को सम्पूर्ण रामायण कंठस्थ हो जाती है। केवल कंठस्थ ही नहीं, वे उसके अर्थ भी समझ जाते हैं। इस प्रकार मथुरा की रामलीला में बननेवाले स्वरूप भाषा, साहित्य, संस्कृति और धर्म का सार्थक पाट खेल-खेल में सीख जाते हैं। किसी और की नहीं कहता, मेरे साथ तो यही हुआ है। यह मेरी अविस्मरणीय धरोहर है। तुलसीदास ने 'नाना पुराण निगमागम' का सार परिश्रमपूर्वक अपने रामचरित मानस में संजोया था, वह मुझे अनायास ही सुलभ हो गया।

तब रामलीला में स्वरूप बननेवालों को प्रतिदिन 'रामरक्षा स्तोत्र' के साथ-साथ दो घंटे रामायण का भी नियमित पाठ करना अनिवार्य था। रामलीला की तैयारी छह महीने पहले से ही प्रारंभ हो जाया करती थी। दोहे-चौपाइयों के आधार पर स्वरूपों को उनके पाठ याद कराए जाते थे। रामलीला अठारह दिनों तक चलती थी। पोशाक यानी ड्रेस पहनने के अलावा इस तालीम में सब कुछ वैसा हुआ करता था, जैसा कि रामलीला में कहके और करके दिखाया जाता। चालीस दिन पहले से केवल राम, लक्ष्मण, जानकी आदि स्वरूपों का ही नहीं, अंगद, हनुमान, मेघनाद, भरत, शत्रुघ्न और रावण का भी बलवर्धन के लिए दूध-घी बंध जाया करता था। हनुमान एक मोहल्ले के बना करते थे और रावण व उसकी सेना के लोग दूसरे मोहल्ले के। मुझे याद है कि युद्ध में दम-खम कायम रहे, इसलिए रामदल के लोग हनुमान को और रावण दल के लोग मेघनाद को एक-एक कनस्तर घी और यथाशक्ति बादाम चंदा एकत्र करके खिलाया करते थे। मथुरा का जो सबसे बड़ा पहलवान होता था, वह हनुमान बना करता था। अच्छे कुलों के संस्कारी ब्राह्मणों के पुत्र राम, लक्ष्मण, भरत शत्रुघ्न और जानकी बना करते थे। भारत प्रसिद्ध पहलवान चन्द्रसेन उर्फ भौंरा भी मथुरा की रामलीला में हनुमान बन चुके हैं। उनके लिए बनी वर्दी को पहनने योग्य कोई व्यक्ति बाद में हनुमान बना ही नहीं।

मैं भटक गया। संस्मरण लिखते समय लेखकों को दूसरों की बजाय अपने बारे में ही अधिक कहना चाहिए न ? 'माडर्न ट्रेंड' यह है। अपने को प्रतिष्ठित करने के अतिरिक्त संस्मरण लेखन की और सार्थकता भी क्या हो सकती है ? हां, तो जब मैं राम बना तो

मेरे लिए पीली धोती रंगाई गई, नाप का केसरिया कुर्ता और गुलावी टोपी सिली। पैरों में जूतियों की बजाय काठ की चट्टियां पहनने को दी गईं। इन्हें पहनकर मैं रामलीला स्थल पर जाता और वहां से देर रात गए लौटता। मुझे लिवाने के लिए कमर में तलवार बांधे और हाथ में सिर से ऊपर वाला एक भारी-भरकम भाला उठाए वह व्यक्ति चलता जो लीला में महाराज दशरथ के मंत्री सुमंत का पार्ट किया करता था। आगे-आगे वह तांगों-इक्कों, वग्घियों और नर-नारियों को यह कहकर हटाता जाता था—हटो, रामजी आ रहे हैं! लीला की समाप्ति पर जब घर को लौटता तो मेरे साथ हनुमान, अंगद, सुग्रीव आदि का पार्ट करनेवाले पहलवान टाइप चौवे-सनाढ्य हाथ में लाठियां लिये-लिये चला करते थे। घर की अंधेरी देहरी पर मां थाली में दीपक लिये प्रतीक्षा करती होतीं। हवेली और मुहल्ले के स्त्री-वच्चे भी जमा होते। मां आरती उतारतीं, बलाएं लेतीं। वृद्धाएं राई-नोन उतारतीं। युवतियां इकटक मुझे निहारतीं। मैंने आज कैसा पार्ट किया इस पर टीका-टिप्पणी करतीं। मैं अपने साथ प्रसाद की एक छोटी-बड़ी पोटली लाया करता था, जिसे जीजी (मेरी मां) सबको बांट दिया करती थीं। शायद इसी प्रसाद-महिमा के कारण ही वहां स्त्री-वच्चे देर रात तक जमे रहते थे। कमरे में घुसते ही मां मेरी जेब और अंटी टटोला करती थीं। दान-दक्षिणा से प्राप्त रुपयों के लिए नहीं, उन नींबुओं के लिए जो सयानों से पढ़वाकर मेरी जेब और फंट में रख दिये जाते थे। आश्चर्य की बात है कि यह सभी पके हुए रसदार नींबू काले-स्याह और निचुड़े हुए निकला करते थे। हर रोज मां यही कहा करती थीं—हाय, कैसी बुरी नजर लगी है। नींबू छत पर जाकर चारों दिशाओं में फेंक दिए जाते। तब मां तेल की वत्ती जलाकर दीवार से उसे उल्टी चिपका दिया करतीं। वत्ती में चिड़-चिड़ शब्द निकलते। तेल की बूंदों के साथ उसमें से अग्नि के कण भी झरते। हर रोज मां यह कहतीं कि आज सबसे ज्यादा बुरी नज़र लगी है। फिर मां पैरों से चप्पल निकालकर तड़ातड़ बत्ती के सिर पर मारतीं और कहती जातीं—"फिर लगेगी ? डायन कहीं की !"

मैं थका हुआ आता और पड़ते ही सो जाता। बीच में यदि कभी आंख खुल जाती तो अक्सर देखता कि मां पंखा झल रही हैं। उनकी बड़ी-बड़ी आंखें मेरे तिलक, कपोल तथा चिवुक शृंगार को मुग्धभाव से देखे जा रही हैं। उन दिनों बड़ा शृंगार सुनहली और रुपहली छोटी-छोटी कटोरियों से हुआ करता था। इसे देखने के लिए सुबह-सुबह पास-पड़ोस की परिचित और अपरिचित महिलाएं भी जुड़ आती थीं। मां को इनका आना अच्छा नहीं लगता था। उनका कहना था कि अक्सर ऐसी ही औरतें नजर लगाया करती हैं। किन्तु व्रजवालाओं की सफाई कुछ इसी प्रकार की हुआ करती थी—

लाल कौ मुख देखन कौ आई,
कल मुख देखि गई दधि वेचन,
जात ही गयौ विकाई,
दिन से दूनों लाभ भयौ,
घर काजर वछिया ब्याही,
इतनी वात सुनत उठ वैठे,

नंदनंदन जदुराई
'सूरदास' प्रभु चतुर ग्वालिनी,
सैन संकेत बुलाई ।

बहुत दिनों तक, कम-से-कम एक वर्ष तक अवश्य लोग मेरा असली नाम ही भूल गए। वे मुझे 'रामजी' कहकर पुकारा करते थे। उन दिनों मैं चौथी-पांचवीं कक्षा में पढ़ता था। छात्रों पर ही नहीं, अध्यापकों पर भी मेरा रौब गालिब हो गया था। होमवर्क न करने पर भी मुझे डांट नहीं पड़ती थी। गणित में मुझे हर बार प्रमोशन मिल जाया करता था। और तो और मेरे विरक्त और अनन्य कृष्णभक्त पिताजी जब कथावार्ता के लिए दशहरे के दिन 'परदेस' जाने लगे तो मैंने देखा कि वे दूर से ही करबद्ध होकर मेरे राम-रूप का अभिवादन कर रहे थे। उस दिन एक विशेष घटना घटी दशहरे के मेले में। जब मैदान में तिल-भर जगह भी नहीं बची, तब कलक्टर साहब की सवारी आई। लोगों को धकेल-धकेल कर उनके लिए रास्ता बनाया गया। कलक्टर साहब राम को सिर झुकाए बिना सीधे अपनी ऊंची कुर्सी पर विराजमान हो गए। हाकिम-हुक्काम और शहर के धनीमानी व्यक्ति सब राम को भूलकर उनके पास जा-जाकर सलाम झुकाने लगे। राजाओं के राजा राम को यह बात कैसे सह्य हो सकती थी ? जब राम-रावण में घनघोर युद्ध हो रहा था और मेरे धनुष से दनादन तीरों की बौछार हो रही थी तो राम-कृपा से एक तीर कलक्टर साहब की फेल्ट कैप पर ऐसा लगा कि आंख तो बच गई, लेकिन टोपी उतर गई। कोई यह जान भी नहीं पाया यह तीर राम ने चलाया था या रावण ने। मुझे भी इस बात का पता तब लगा जब रावण को मारकर हम लोग अपने सांध्य शिविर में लेटे हुए थे। मेरा एक पैर हनुमान दबा रहे थे, दूसरा अंगद। तभी बूढ़े जामवंत ने अपना चेहरा उतारकर मेरे चरण छूते हुए कहा–"रामजी महाराज, आज तो आपने कमाल ही कर दिया। यह कलक्टर अपने-आपको समझता क्या है ?"

उन दिनों राम-लक्ष्मण बननेवालों को दण्ड, कसरत, कुश्ती और लंबी-लंबी दौड़ों के साथ निशाने पर तीर मारना और तलवार चलाना भी सिखाया जाता था। रावण में आग लगने से पूर्व लीला के अधिकारी और नए-पुराने स्वरूप घेरा बांध कर खड़े हो जाते थे और राम-लक्ष्मण को चुनौतियां दिया करते थे–"हां, तो लगे आंख में तीर ! अब के ठोंड़ी को छेद दो महाराज !" जब तक गधे पर लगी हुई छतरी में तीर नहीं लगता था तब तक बाण-विद्या अधूरी मानी जाती थी। एक बात कान में कहूं ? हर तरह की निशानेबाजी मुझे रामलीला में पार्ट करते हुए आई है।

यदि कहूं कि मेरे हास-परिहास का जन्म भी रामलीला से हुआ है, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। रामलीला के स्वामी थे–बद्री बाबा। वह एक साथ कई-कई पात्रों की भूमिका निभाया करते थे। ये भूमिकाएं प्रायः एक-दूसरे से विपरीत हुआ करती थीं। वह एक क्षण वशिष्ठ और विश्वमित्र बनते तो दूसरे ही क्षण परदे के पीछे जाकर रावण के दरबार के विदूषक राक्षस बनके निकल आया करते थे। अभी मुनि बनकर गए हैं तो राक्षस बनकर लौटे हैं। अभी विश्वमित्र बनकर राम-लक्ष्मण की उपस्थिति में यज्ञ कर रहे हैं तो दूसरे

ही क्षण निशाचर वने ताड़का के मारे जाने पर परिहासी रुदन कर रहे हैं–

चाची किन्नै मारी, किन्नै मारी, किन्नै मारी रे !
खाय-खाय ऋषियों को चाची मोटी हो गई रे।
काम पड़ा लड़ने का चाची सींधी सो गई रे !
चाची किन्नै मारी, किन्नै मारी, किन्नै मारी रे !

वद्री वाबा वाल ब्रह्मचारी थे। कोई सत्तर-पिचहत्तर के होंगे तव इन्होंने ही मुझे राम का पार्ट याद कराया था। दंगल की रामलीला में तुलसीदास की चौपाइयां बोल-बोलकर लीला का संचालन किया करते थे। लेकिन जव काली वर्दी के राक्षस और लाल वर्दी के वानर आपस में भिड़ जाते तो बद्री वावा चौपाई का पाठ छोड़कर उनसे दौड़-दौड़कर कहते–"अरे मर जा, अरे गिर जा"। 'धनुष-यज्ञ' वाले दिन वह मोटे पेटवाले राजा वना करते। बहुत सारे कपड़े की पोट बनाकर पेट से बांध लेते थे। मुकुट की जगह एक रंगीन छतरी सिर पर लगा लिया करते थे। अन्य राजा लोग कुर्सियों पर वैठते, ये कुर्सी की पीटिका पर बैठते थे। चाहे रावण की सभा हो या धनुष-यज्ञ इनकी बात-बात पर हंसी के फौव्वारे फूटा करते थे। लेकिन जव व्रह्मा वनकर भगवान की स्तुति करते, वशिष्ठ बनकर भरत और राम को ज्ञान देते और भीलनी बनकर ऐसे भक्तिमय हो जाते कि कोई अनुमान ही नहीं लगा सकता था कि यह वही व्रदी वावा हैं जो जोकर का पार्ट भी किया करते हैं। कोप भवन वाले दिन जव वह कैकेयी बनते तो गजब ढा दिया करते थे। मथुरा की बड़ी-बड़ी सेठानियों के आभूपण उनके लिए उतरे चले आते थे। उस दिन कैकेयी ऊपर से नीचे तक स्वर्णाभूपणों से लद जाती थी। जब वद्री वाबा कोप भवन में दशरथ का हाथ झटकते, रूठकर पीठ फेरकर बैठते, एक-एक करके अपने जेवरों को उतार फेंकते तो उनकी मानिनी छवि देखते ही वनती थी। उस दिन वे मूंछें मुड़ा लिया करते और ऐसी जनानी आवाज में वोलते थे कि कोई उनके पुरुप होने का अन्दाज ही नहीं लगा पाता था। उसके बाद कई रामलीलाएं देखीं परन्तु उन जैसा कैकेयी का पार्ट कहीं नहीं देखा। वह मनुष्य की वदलती हुई प्रकृति और मुखौटे, भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में वदलते हुए चरित्र और मनोभावों के कुशल अभिनेता थे। हास-परिहास के लेखक को भी स्वभाव से संजीदा होना चाहिए और उसकी गंभीरता में भी मोद-विनोद की लोल लहरियों का अभाव नहीं रहना चाहिए। जो इन दोनों भूमिकाओं को निभा सकता है वही व्यंग्य-विनोद का कुशल कलाकार हो सकता है। और की और जानें, मथुरा की रामलीला से तो मैंने यही सीखा है और इसे निबाहने की यथासंभव कोशिश करता रहता हूं।

रामलीला में ही मुझे नारदजी के चरित्र ने सर्वाधिक प्रभावित किया। वह शहर को लीलाओं का समाचार देनेवाले संवाददाता थे। भक्ति और ज्ञान के स्रोत थे। वे संगीत और नृत्य में भी विशारद थे। नंगे पैर, पैरों में घुंघरू, पीतांबर पर खीनखाप की अलफी, गले में, हाथों में और जटाओं में फूलों और फूलमालाओं के शृंगार, हाथ में सितार लेकर सुबह से शाम तक नाचते-गाते बाजारों के चक्कर लगाते और कहते जाते–"आज आकाशवाणी होगी। आज रामजी धनुष तोड़ेंगे। आज कोप-भवन की लीला है। आज

भरतजी राम को मनाने जाएंगे। आज नकटी की नाक कटेगी। भाइयो, आज रावण मारा जाएगा। आज राजगद्दी होगी।" तब पोस्टर नहीं छपते थे। अखबारों में रामलीला के समाचार नहीं छपते थे। लाउडस्पीकरों पर भी सूचना देने का रिवाज नहीं था। तब नारदजी ही मथुरा शहर को यह सूचनाएं दिया करते थे। उस दिन तो मेरी आंखों में आंसू आ गए। मैं राम बना वन को जा रहा था। विवश पुरवासी मेरे दर्शनों को घिरे थे और साथ-साथ चल रहे थे। उनका नेतृत्व कर रहे थे नारदजी। वह बड़े करुण स्वरों में गा रहे थे–

कैकेइया जुलम करि डारो री
बादल बरसै, बिजरी चमके पवन चलै पुरवाई
काहू री बिरछ तर भीजत होइगें, राम लछन दोऊ भाई
राम बिना मेरी सूनी अजुध्या लछमन बिन ठकुराई
सिया बिना मेरी सूनी रसुइया यह दुख कह्यो न जाई
वन चले राम रघुराई।

मैं पिछले पच्चीस वर्षों से कई दैनिक पत्रों में "नारदजी खबर लाए हैं" के नाम से एक स्तंभ लिखता रहा हूं। जब-जब इस कालम को लिखने के लिए कलम उठाता हूं, तब-तब रामलीला के नारद मेरे सामने मूर्तिमान हो जाते हैं। वह भांति-भांति की खबरें तो देते ही हैं, भेद-भरी बातें भी अनायास बता जाया करते हैं। उनकी रामभक्ति मेरे लेखन में राष्ट्रभक्ति बनकर उतरी है। असुरों के संहार करनेवाली पौराणिक प्रक्रियाएं ही मुझे जाने-अनजाने देश और देश से बाहर बसे राष्ट्रद्रोहियों का पर्दाफाश करने को प्रेरित किया करती हैं। मैं कहने के लिए नहीं कहता, यह वास्तविकता है कि मैं आज जो कुछ हूं वह राम की ही कृपा से हूं। यह मेरी नहीं, रामलीला की महिमा है।

मैं यह अनुभव करता हूं कि यदि भारतीय संस्कृति, साहित्य और अपने भारतीयपन का सम्यक् बोध प्राप्त करना है तो बच्चों को रामलीला अवश्य दिखानी चाहिए। मेले के साथ उन्हें रामकथा का मर्म भी बताना चाहिए। यदि उसमें अभिनय करने का अवसर आज के माता-पिता अपने बच्चों को दिला सकें तो कहना ही क्या है। शर्त यही है कि ये रामलीलाएं नौटंकी या थियेटर न हों। उनके शब्द-शब्द में गोस्वामी तुलसीदास की राम-रसायन घुली-मिली हो। मैंने स्वयं इसका प्रयोग किया है। एक बार जब मथुरा की रामलीला करनेवालों को लक्ष्मण का अभिनय करने के लिए कोई पात्र नहीं मिल रहा था तब मैंने पिलानी में पढ़ रहे अपने सबसे छोटे पुत्र बृजमोहन को बुलाया और उसे लक्ष्मण बनने के लिए राजी कर लिया। मैंने स्वयं उसे लक्ष्मण की भूमिका सिखाई। मथुरा की रामलीला में वह तीन वर्षों तक लक्ष्मण बना। घर-बाहर सभी जगह उसे आज लछमनजी कहा जाता है। उसके संस्कार भी वैसे ही बन गए हैं–रामभक्त, राममय और अग्रजों और गुरुजनों के प्रति अनन्य सेवा-भावना। इसे आज के नेताओं की तरह पुत्रपरस्ती न समझिए, आपको वास्तविकता बता रहा हूं। यह सब तुलसीदासजी के सिखावन का फल है। विश्वास न हो तो आजमा कर देख लो।

तुलसीदास का उद्देश्य था–राम को जानना। हमारा परम उद्देश्य भी 'लोकाभिरामं

श्रीराम' को जानना ही है। जो राम को जान गया वह राम ही बन गया। परन्तु क्या कहूं मेरा दुर्भाग्य कि राम बनकर भी मैं राम के आदर्शों को अपने जीवन में ठीक से नहीं उतार सका। रामायण पढ़ी है। वह बहुत कुछ आज भी कंठस्थ है। उसके मर्म को भी जानता हूं, लेकिन मेरी स्थिति यह है कि–

जानामि धर्मं, न च मे प्रवृत्तिः
जानाम्यधर्मं, न च मे निवृत्तिः

अर्थात् मैं धर्म को जानता हूं, लेकिन उसमें प्रवृत्त नहीं हो पाता। अधर्म को भी जानता हूं, लेकिन उससे अलग नहीं हो पाता। यह तो तभी हो सकता, जब राम की कृपा हो जाय–

वह जाने जिहि देहु जनाई।
जानति तुमहि तुमहि होई जाई।।

गोरस–शुद्ध, प्रचुर यद्यपि है जिसमें पानी
पानी को भी निर्जी साख देता जो दानी।
ललित वचन पर जिसके अरि भी लट्टू बनते,
प्रखर प्रहारों से खच्चर भी टट्टू बनते।
सावन रोदन को भी जो मकरंद बनाता,
दर्पण जिसका काव्य, कलमुंहों को कलपाता।
व्यावहारिकता बनी संगिनी रहे विजयप्रद,
सधें मनोरथ सभी, जियो हे मित्र ! सौ शरद।

–रामगोपाल 'रुद्र'

मथुरा : मल्ल : अखाड़े और ईं जानिब

कैसे मस्ती के दिन थे वे भी। यमुना में कूद-कूदकर नहाना। दूर-दूर तक घंटों तैरना। दिन-भर ताश, चौपड़ और शतरंज खेलना। व्रज-कविता के पढ़ंत-दंगलों में भाग लेना। सूखे रंगों की सांझी बनाना। फूलों के बंगले सजाना। बाजारों में अंगोछा-बनियान पहनकर घूमना। नियमित भांग छानना। शाम होते ही बगीची-अखाड़े पहुंच जाना। पट्टों (सूखी समतल जमीन) पर पानी छिड़कना। निबटना-नहाना। अखाड़ा गोदना। दंड-बैठकें लगाना। जोर करना। थककर पानी छिड़की जमीन पर लेट जाना नंगे बदन। धरती की सौंधी-सौंधी और अखाड़े के आसपास के सुरम्य वातावरण एवं तरु-लता-पुष्पों से आती हुई भीनी-भीनी सुगंध का आनंद लेना। मोटे-मोटे, नमकीन, घी से चुचुआते परांठों का, छटाक-आध पाव घी जो भी मिल जाए, बूरे और कालीमिर्च के साथ अखाड़े पर ही भोजन करना। भौंहों के बीच बजरंग बली का सिंदूर लगाकर हाथ में लाठी, कंधे पर जांघिया, मलमल का कुर्ता पहने रात को दस-ग्यारह बजे लौटना। नकद मिले तो नकद और उधार मिले तो उधार, दूध में रबड़ी डालकर गटागट बाजार में ही पी जाना और फटाक से कुल्ला फोड़ देना। चुपके से पिताजी की निगाह बचाकर गर्मी हुई तो छत पर और सर्दी हुई तो रजाई में दुबक जाना। ऐसी बिना सपनों की नींद तब खुलती थी, जब यमुनापार दुर्वासा के मंदिर से शंख बजता था और बड़े-बड़े घंटों में टंकार देते हुए कोई यमुना-पुत्र अपनी मइया को जगाता हुआ जोर-जोर से कहता था—"जमुना मइया हो ! जमुना मइया हो ! ! जमुना मइया हो ! ! !"

मथुरा में घाट-किनारे ऊंची-ऊंची ठेकों, टीलों और घाटियों पर जो वर्तमान मथुरा बसी हुई है, वह तो नई है। पुरानी मथुरा तो वह है, जहां कटरा केशवदेव है, प्राचीन कृष्ण-जन्मभूमि है, महाविद्या का मंदिर और अखाड़ा भूतेश्वर है। इस पुरानी मथुरा को मल्लपुरा कहा जाता है। मल्ल और मथुरा एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। अखाड़ा भूतेश्वर ब्रज का प्राचीनतम व्यायाम और कुश्ती कला केन्द्र है। कभी इसकी शाखाएं समूचे ब्रज

में फैली हुई थीं। आगरा और हाथरस में अब भी इसके अवशेष बचे हुए हैं। मैं इसी भूतेश्वर अखाड़े के किशोर पट्ठों में से एक रहा हूं। यह अखाड़ा हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतीक रहा है। शागिर्द पहलवान गनी भी थे और कलकत्ता के मारवाड़ी, जिन्हें दाव-पेंचों का भंडार कहा जाता था, नथिया पहलवान भी थे। श्रावण के महीने में हरियाली तीजों और सलूनों (रक्षाबंधन) पर यहां हिन्दू और मुसलमानों की छोटी तथा बड़ी जोड़ों की कुश्तियां हुआ करती थीं। एक बार छोटी जोड़ में मेरी एक तगड़े मुसलमान पट्ठे से कुश्ती हुई थी। उसने मुझे दबाकर खूब रगड़ा था। लेकिन पहलवान चन्द्रसेन की हुंकार पर कि "गुपाल उठ ! लगा जोर !" मैं उठ खड़ा हुआ था और 'हो गई ! हो गई !' के शोर में कुश्ती बराबर की घोषित कर दी गई थी।

पुरानी स्मृतियां तथा पहलवानी का सुना हुआ और पढ़ा हुआ ज्ञान इस समय जोर मार रहा है, तो क्यों न लगे हाथों आपका भी उससे ज्ञानवर्द्धक मनोरंजन कर दूं।

मथुरा पुराने जमाने से ही भारतवर्ष की विख्यात मल्ल केन्द्र रही है। भगवान श्रीकृष्ण से पहले ही इस नगरी में क्या, समस्त व्रज में मल्ल-कला प्रतिष्ठित हो चुकी थी। वाराह, नृसिंह और बजरंगबली हनुमान ये सभी पौराणिक देवता सर्वोत्तम कोटि के मल्ल थे। लड़ंत में इन तीनों की मल्ल-कला का प्रयोग किया जाता है—वाराह की तरह टांगों में घुसकर, नृसिंह की तरह दहाड़कर और पछाड़कर तथा बजरंगबली की तरह उछल-उछलकर मुष्टि-प्रहार करके प्रतिपक्षी पहलवान को धराशायी कर दिया जाता है। मानवता के आदिकाल में जब शस्त्रों का निर्माण नहीं हुआ था, तब शारीरिक बल ही शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के काम आता था। यहीं से मल्ल-विद्या का विकास हुआ। मनुष्य मनुष्यों से ही लड़कर नहीं, हिंसक, बलवान पशुओं से भी भिड़कर विजय प्राप्त करने लगा। कुश्ती-कला के लुप्त होते हुए कोष में कुछ दांव-पेंचों के नाम देखिए—शुंडामोटन (करमोट), उड़ी, कालपाश आदि। श्रीकृष्ण और बलराम ने कंस के हाथी के साथ गज-युद्ध किया था। उन्होंने उसे शुंडामोटन तथा उड़ी नामक दांवों से धराशायी कर दिया था। भीमकाय कंस को पछाड़ने के लिए श्रीकृष्ण ने उड़ी तथा कालपाश नामक दांवों का प्रयोग किया था। कंस की निगाह बचाकर उड़ी दांव लगाकर कृष्ण उसकी गर्दन पर सवार हो गए। फिर कालपाश दांव द्वारा उसकी गर्दन के पीछे अपनी जंघाओं तथा गलवियर के आगे पिंडली की फांसी डालकर चोटी से लटक गए और झटके से गर्दन सीधी करते ही कंस के प्राण-पखेरू उड़ गए। एक शताब्दी पूर्व मथुरा के देविया पहलवान ने सिंह-युद्ध किया था। ये देविया पहलवान नौफुटे थे। वजन ? भगवान झूठ न बुलवाए, केवल पन्द्रह मन था। अपने आश्रयदाता के साथ शिकार पर गए थे। राजा ने सिंह पर गोली चलाई। सिंह झाड़ी में घुस गया। देविया पहलवान उसे टांग पकड़कर झाड़ी से बाहर खींच लाए और राजा ने गोली दागकर उसका शिकार कर लिया। सिंह ने देविया की पिंडली चबा डाली। राजा ने बहुत इलाज कराया। ठीक नहीं हुए। जब बरसात का मौसम आया, बादल गरजने लगे तो रुग्ण देविया सिंह की तरह जोर से दहाड़े और प्राण छोड़ दिए।

मैंने बड़े-बड़े पहलवानों की कुश्तियां देखी हैं। एक पंजाबी पहलवान थे—साईं। उनकी तोंद बड़ी ठोस थी। वह तोंद के बल पर ही कुश्ती लड़ा करते थे और बड़े-बड़े पहलवानों

को चित कर दिया करते थे। एक पहलवान थे–कमरुद्दीन, जो अपनी प्रेमिका के साथ दंगलों में कुश्ती लड़ने जाया करते थे। वह जिस तरफ मुंह करके कुश्ती लड़ते, प्रेमिका उधर ही पहुंच जाती और कमरुद्दीन उसे देख-देखकर बल प्राप्त करते तथा सामने वाले को चारों कोने चित पछाड़ देते। मैंने ऐसे पहलवानों को भी देखा है जो नेश्ती की कुश्ती लड़ा करते थे। उन्हें शरीर के मर्मस्थलों का अद्भुत ज्ञान था। कनपटी पर, कान के पीछे, गर्दन के अगले उस हिस्से में जिसमें मुजरिम को फंदा डालकर फांसी पर लटकाया जाता है, ऐसे मुक्के मारते थे कि प्रतिपक्षी पहलवान चीखकर गिर पड़ता था। पेट की बूंक में, अंडकोषों में निशाना साधकर ऐसी लात जमाते थे कि पहलवान की जान ही बच जाए, यही गनीमत है। इस प्रकार की कुश्ती लड़ने को अच्छा नहीं माना जाता था। इसीलिए उसे 'नेश्ती' कहकर पुकारा जाने लगा। ब्रज में एक लोकगीत प्रचलित हो गया था–

"मथुरा मत जइयो, प्यारे !
यहां बसैं मल्ल हत्यारे।"

मथुरा में अनेक पहलवान हुए हैं। उनके मनोरंजक नाम देखिए–हौआ गुरू, दंगी गुरू, मोथा गुरू और चूंचूं पहलवान। अपने बचपन में मैंने चूंचूं पहलवान के दर्शन किए हैं। मथुरा के विश्रामघाट पर हमारे मंदिर के सामने यमुना के किनारे एक छोटी-सी चबूतरी पर गोमुखी में हाथ डालकर वह प्रतिदिन भजन किया करते थे। पद्मासन स्थिति में इन चूंचूं पहलवान की बैठे हुए ऊंचाई साढ़े चार फुट की थी। कान टूटे हुए थे और अच्छे-तगड़े आदमी के हाथ के पंजे के बराबर लंबे थे। लंबी नाक, उन्नत ललाट, बड़ी-बड़ी आंखें, तनी हुई छाती और गौर वर्ण। उम्र उस समय रही होगी इनकी चौरासी-पिचासी वर्ष की। बड़ा आकर्षक और भव्य स्वरूप था इनका। केवल तोंद नीचे लटक गई थी, जो जंघाओं पर आकर टिकती थी। यमुना में नहाते समय तोंद उठाकर कमर को अंगोछे से रगड़ रहे थे कि एक छोटी मछली फंस गई और तोंद के नीचे दब गई। पता रात को लगा, जब घर के लोगों को बदबू आने लगी। तब दो लोगों ने मिलकर तोंद उठाई और मछली को निकालकर बाहर फेंका।

• एक बार गामा पहलवान विश्व-विजय करके मथुरा के पहलवानों का नाम सुनकर यहां आए। भूतेश्वर अखाड़े में ठहरे। चन्द्रसेन पहलवान से कहा कि यदि कोई पुराना पहलवान बचा हो तो उसके दर्शन करना चाहता हूं। चन्द्रसेन उन्हें विश्रामघाट पर भजन करते हुए चूंचूं के पास ले आए। गामा उनके व्यक्तित्व को देखकर नतमस्तक हो गया। सीढ़ी को तीन बार छूकर उसने उन्हें सलाम किया। यह घटना मेरी आंखों देखी है। चूंचूं गुरू ने पूछा–"बेटा चंदन, जि कौन है ?" उत्तर मिला–"बाबा, ये गामा पहलवान है। नाम सुन्यौ होयगो।" चूंचूं गुरू बहुत प्रसन्न हुए, बोले–"वाह बेटा ! तैनैं देस कौ खूब नाम कियौ। शाबास ! धन्य है तेरी मइया कूं !" फिर गोमुखी से हाथ निकालकर गामा से कहा–"आ भई, तेरौ हाथ तौ देखूं। कैसौ है ? कोई बात नांय, नहाय कै फिर भजन कर लेंगे।" गामा अदब से झिझके। इसरार करने पर हाथ में हाथ दे दिया। चूंचूं गुरू बोले–"ऐसे नांय। अंगुरियान में अंगुरिया डार। मैंऊं तौ देखूं तोमैं कितेक कस है।" गामा ने मन में

सोचा होगा कि बुड्ढे को क्या सनक सवार हुई है। कस लगाया तो पौंहचा उतर जाएगा। पर चूंचूं गुरू ने पंजा अड़ा दिया। गामा ने पहले हल्के-हल्के और फिर जरा जोर से, फिर और जोर से तथा बाद में शायद पूरी ताकत से पंजे को मरोड़ने की कोशिश की, मगर सफल नहीं हुआ। हाथ छुड़ाकर उसने बूढ़े पहलवान की कदमपोशी की और चन्द्रसेन से कहा—"दरअसल, मथुरा मल्लपुरी है। जैसा सुना था, वैसा ही पाया।"

जिन दिनों का मैं जिक्र कर रहा हूं, तब मथुरा के चारों ओर अखाड़ों और बगीचियों का जोर था। सनौढ़ियों के कई अखाड़े तो शहर के बीचों-बीच थे। इनमें से घाट-किनारे के सती अखाड़े, स्वामीघाट अखाड़े और लखपतराय के अखाड़े तो ऐसे थे, जिनमें कुश्ती व्यायाम के अतिरिक्त पटा-बनेटी, लाठी-तलवार और मुगदर आदि भी रहते थे तथा इनके चालन की शिक्षा दी जाती थी। चौबे समाज का तो शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति बचा होगा जो शाम को बगीची-अखाड़े न जाता हो। इन बगीचियों के कुओं की अलग-अलग खासियत थी। नसबारी, पीपरबारी, गोविंदगढ़, मुकुंदगढ़, मोहनबाग आदि के बगीची-अखाड़े बड़े नामी थे। जो लोग किसी कारण से बगीची-अखाड़े नहीं जा पाते थे, वे अपने-अपने घरों में ही देहरी की चौखट पकड़कर दस-बीस दंड जरूर लगा लिया करते थे। घर-घर में लाठी रहती थी। कुछ इन्हें बांधते थे और कुछ तेल, मेंहदी, धूप और धुआं देकर इन्हें मौके के लिए तैयार रखते थे। छोटी-बड़ी जातियों में पहलवानी की प्रतिस्पर्धा चलती थी। चौबों और सनौढ़ियों में तो यह लाग-डांट तक पहुंच गई थी। खिला-पिलाकर उस्तादों द्वारा 'ज्वान' तैयार किए जाते थे। जातियों के समर्थ लोग इन्हें कनस्तरों घी और बोरियों बादाम भेज-भेजकर सांड बनाया करते थे तथा डू-डू करके उकसाया करते थे। तीज-सलूनों पर तो कुश्तियां होती ही थीं, वर्ष में एक या दो बार अखिल भारतीय दंगल भी आयोजित होते थे। चंदन पहलवान, जिसे भौंरा या टिकियावाला भी कहते थे, का लंगोट पूरे भारतवर्ष में फहराता था। चंदन के पिता पानी की टिकिया (गोलगप्पे) का खोमचा लगाते थे। उन्होंने चंदन उर्फ चन्द्रसेन को बचपन से ही इन टिकियों में पानी की जगह घी भर-भरकर पिलाया था। इसलिए इनका बैंक टिकियावाला पड़ गया। जिंदगी-भर चंदन पहलवान लड़ते रहे, मगर कोई कुश्ती नहीं हारी। कलकत्ता में गामा ने अपने भाई के साथ इनको लड़वाया था। कहते हैं कि वह गामा से सवाया था। कुश्ती तीन घंटे चली। चन्द्रसेन उसे दबाएं रहे। नीचे पड़े पहलवान ने उनकी गाई (अंगूठे तथा अंगुली के बीच का स्थान) फाड़ दी। खून की तुर्री बंध गई। उसे अखाड़े की रज भरकर ही रोका गया। कुश्ती बराबर पर छूटी। चन्द्रसेन का डंका बज गया। मैंने चंदन पहलवान की कई कुश्तियां देखी थीं। इनमें भारत-विख्यात और चतुर्वेदी शिरोमणि पहलवान बल्देव के साथ इनकी कुश्ती वर्षों की तैयारी और जोरदारी के साथ हुई। श्याम वर्ण के गठीले और वजनी पहलवान बल्देव को चन्द्रसेन ने हाथ मिलते ही मिनटों में चित कर दिया था। तब बैंड-बाजे के साथ उनका जुलूस शहर में निकला था। रास्ते में घी के कनस्तर और बादाम की बोरियों से उनका स्वागत जगह-जगह होता रहा। कुश्ती की धज में ही अखाड़े की रज में लिपटे पहलवान, जो सात फुट लंबे, सात मन वजन के गौरवर्णी तथा आकर्षक व्यक्तित्व वाले थे, नंगे पैरों और नंगे बदन आगे-आगे और पीछे पचासों पट्ठे लाठियां लिये चल रहे थे। दुकानों

से चांदी के रुपयों की बौछार हो रही थी। तब एक, दो या पांच के नोट होते होंगे, परंतु दैनिक व्यवहार में उनका प्रचलन नहीं था। जब जुलूस विश्रामघाट पर पहुंचा तो चन्द्रसेन ने यमुनाजी का आचमन किया और ऊपर चौक में आकर जांघ पर टाल मारी–"है कोई मथुरा शहर में...पहलवान तो आ जाए !" झगड़े की आशंका थी, लेकिन गारद साथ-साथ चल रही थी। जुलूस राजी-खुशी गुजर गया। इस कुश्ती पर उन दिनों बड़े कवित्त-सवैये लिखे गए। वे अधिकतर जातीय विद्वेष को फैलाने वाले थे और भड़उआ शैली में लिखे गए थे। जिन्हें जीवन और साहित्य में अच्छा नहीं माना जाता। आप भी उन्हें अच्छा नहीं बताएंगे। एक कवित्त का आखिरी पद उद्धरण के लिए क्षमा मांगते हुए लिख रहा हूं–

मारा बलदेव को, बिगाड़ा मान दुश्मन का,
आलम पुकारा–ये मारा सांड़ काला है।

इन्हीं चन्द्रसेन पहलवान के भूतेश्वर अखाड़े पर मैंने महीनों दंड पेले हैं, बैठकें लगाई हैं, अखाड़े में पानी छिड़का है और गुलाब की पंखुरियां बिखेरी हैं। हनुमानजी पर चोला चढ़ाया है। बराबरवालों से जोर किए हैं। उन दिनों मैं एक-एक सपाटे में झूल के पचास-पचास दंड लगा लिया करता था। दो-चार चक्कर दंड भी निकाल लेता था। चंदन पहलवान प्रति दिन दस-बारह मील की दौड़ लगाया करते थे। एक-दो दिन मैं भी उनके पीछे लगा था। सबसे अधिक मजा तो मुझे तब आता था, जब चंदन चचे अखाड़े में अपने ऊपर 'थांग' लगाया करते थे! थांग कहते हैं भरी हुई बोरी को। वह अखाड़े में पेट के बल लेट जाते थे और उनकी पीठ पर छोटे-बड़े पहलवानों की बोरियां पर बोरियों की थांग लगाई जाती थी। कोई दस-पंद्रह मन के पहलवान उनकी पीठ पर एक-एक करके लद जाते थे। मैं सबसे छोटा और कम वजनी था। इसलिए सबसे ऊपर रहता था। पहलवान सबको लेकर ऊपर उठते थे और बोरियां एक-एक करके नीचे लुढ़कने लगती थीं। मैं तो सबसे पहले कूद जाता था। क्योंकि अगर कोई भी पहलवान मेरे ऊपर आ गिरता तो कचूमर निकल जाता।

चंदन पहलवान जब सेला बांधकर शहर में निकलते तो सबकी निगाहें उनके दिव्य और सुडौल शरीर पर जम जाती थीं। दुकानों के आगे लगे सायबान और परदे उनके लिए छोटे पड़ते थे। वह बाजार के बीचों-बीच चलते थे। अकेले नहीं, दस-बीस पट्ठों के साथ। पहलवान क्या थे, मथुरा की शोभा थे। वैसा सुदर्शन और कद्दावर पहलवान मथुरा में तो क्या, उन दिनों देश में भी नहीं था। बाद में उनके पुत्र मोहन पहलवान ने भी नाम कमाया। पांच मन वजन भी पाया। कुश्तियां भी लड़ीं और अविजित भी रहे। पर वह बात कहां ?

चंदन पहलवान के जाते ही भूतेश्वर अखाड़े की रौनक जाती रही। अब तो मथुरा में कोई पहलवान ही नही रहा। बगीची-अखाड़े बिक गए। वहां कोठियां, दुकान, मकान और बाजार बन गए। मल्लपुरा कहने को एक मुहल्ला-भर रह गया। रह गया मथुरा का नाम और बच गईं उसके मल्लों की कहानियां। इनको सुन-सुनकर आज भी सीना तनने

लगता है, बाजू फड़कने लगते हैं और उस स्वर्णिम युग की सुधियां मन में फिर से पौरुष की एक लहर उठाकर गिर जाती हैं।

व्यासजी की कीर्ति मैंने उस दिन से सुन रखी थी, जब उन्होंने किसी कवि-सम्मेलन में अपनी सुप्रसिद्ध कविता— 'मेरी कुटिया में घुस आई वह बाबूजी की डबल भैंस' सुनाई थी। इस कविता की आगरे के साहित्य-जगत् में काफी चर्चा रही थी। व्यासजी के संघर्षमय जीवन का मुझे कुछ-कुछ पता था। ब्रज साहित्य मंडल के लिए उन्होंने जो असाधारण परिश्रम किया, उसके कारण भी हम दोनों अधिकाधिक निकट आते रहे और फिर उसके बाद तो दिल्ली में हम लोगों ने बारह वर्ष साथ-साथ भाड़ झोंका।...

मथुरा में चतुर्वेदी पंडों तथा अन्य जातीय पुरोहितों में यजमानों के लिए अक्सर झगड़े हुआ करते हैं और कभी-कभी तो फौजदारी भी हो जाती है। इसलिए हम दोनों मथुरियों में भी मतभेद होना सर्वथा स्वाभाविक था। व्यासजी मुंहफट आदमी ठहरे। वह किसी की रियायत नहीं करते। एक बार उनकी हरकतों से तंग आकर मैंने 'नवीनजी' से उनकी शिकायत की, तो नवीनजी ने कहा, "है तो व्यास बड़ा औंटपाई। पर तुम्हें उसकी बात का बुरा नहीं मानना चाहिए और उसे अपने साथ ही रखना चाहिए।" इसके बाद मैंने व्यासजी की बातों का बुरा नहीं माना।

यद्यपि दिल्ली में अनेक ऐसे व्यक्ति विद्यमान हैं जो मुझ पर कृपा भाव बनाए रखते हैं तथापि दिल्ली पहुंचने के लिए मेरे मन में कोई विशेष उत्साह नहीं। फिर भी भूले-भटके कभी दिल्ली का स्मरण हो आता है तो नवीनजी के 'औंटपाई' व्यासजी को मैं नहीं भूल पाता—

"याद मोहि आवैं वे झगरे गुपाल के।"

—बनारसीदास चतुर्वेदी

व्रज के रंग-गुलाल

अपनी आप जानें, हमने तो व्रज के बड़े ही आनंद लिये हैं। होगा गोलोक कहीं, अपनी धरती का आनंदलोक तो व्रज चौरासी कोस ही है। यहां का हर माह 'मासानाम मासोत्तमे मासे' है। यहां की कोई भी तिथि खोटी या कमवख्त नहीं होती। मेले-तमाशों का तो कहना ही क्या ? आज अखै नौमी (अक्षय नवमी) है–चलो ! आाज कंस का मेला है–चलो ! आज रथ का मेला है–चलो ! आज मुड़िया पूनौ (व्यास पूर्णिमा) है–चलो ! आज हाथरस की वलदेव छट है–चलो ! आज वरसाने की रंगीली होली है–चलो ! आज वृंदावन में बसंती कमरा खुल रहा है–चलो ! आज दुर्वासा ऋषि का मेला है–चलो ! आज यहां का फूलडोल है, कल वहां का फूलडोल है–चलते ही चलो ! आज यहां के हिंडोले हैं, कल वहां के हिंडोले हैं। आज यहां हरियाली घटा है, कल वहां काली घटा। चलो-चलो, देर न करो। आज कुनवाड़े का उच्छव है, कल छप्पन भोग का मनोरथ है। आज ठाकुरजी हटरी में वैठे हैं, कल फूल-वंगला में विराजेंगे, परसों जलयात्रा है, अतरसों रथयात्रा है, नरसों ठाकुरजी नाव में विराजेंगे। आज विस्रांतवालों की नौटंकी है, कल लाल दरवाजेवालों का स्वांग है, परसों वृंदावन में भगत होगी–चलो भई, जल्दी करो ! गोवर्धन में रसिया हो रहे हैं–चलो ! हाथरस में कुश्तियां हो रही हैं–चलो ! कहीं लड़ंत, कहीं कुदंत, कहीं गवंत, कहीं पढ़ंत और कहीं घुटंत और कहीं पिवंत। इस प्रकार अंत नहीं व्रज के मौज-मजों का और मेलों का। फटेहाल रहकर भी यहां लोग मस्ती में जीते हैं। इसीलिए तो व्रज की महिलाएं बड़े सुर में गाती हैं–

बिरज की रज हम क्यों न भए वीर ?
बिरज की रज होतीं रामा, हरि के चरनन लगतीं,
उड़ि-उड़ि लागतीं हम सांवरे शरीर,
बंसीवारे के शरीर, मोहन प्यारे के शरीर,
बिरज की रज हम क्यों न भए वीर ?

यह ब्रज की रज भक्तों के अनुसार देवों को भी दुर्लभ है, महादेवों को भी दुर्लभ है। इसलिए फाग प्रतिपदा को ब्रज में धूल खेली जाती है, यानी सब ब्रजवासी इस दिन ब्रज की रज को अपने मस्तक पर धारण करते हैं और वैष्णव शास्त्रकारों ने इस दिन का नामकरण कर दिया है—धूलि-वंदन।

दो दिन की होली तो देश में सभी जगह मनाई जाती है—एक दिन जलानेवाली और दूसरे दिन खेलनेवाली। कानपुर में रंग का खेल अवश्य कई दिन होता है, लेकिन ब्रज के चौरासी कोस ऐसे हैं, जहां होली पूरे सत्तर दिन खेली जाती है। वसंत पंचमी को होली का डांडा गाड़ा जाता है और रंग-गुलाल का, नृत्य-गीत का यह आलम चैत्र मास की पूर्णिमा तक कहीं-न-कहीं, किसी न किसी रूप में चलता ही रहता है। कहीं संगीत की समाजें बैठती हैं, कहीं रसियों के दंगल जुड़ते हैं तो कहीं फूलडोल होते हैं। इनमें जगह-जगह की मंडलियां एकत्र होकर नृत्य और गीतों के प्रदर्शन करती हैं। चौपाई यहां गाई नहीं जाती—चौपइयां यहां चलती हैं, जमती हैं। चार पहियोंवाली चार डंडों की हाथ से खींची जानेवाली गाड़ियों पर बड़े-बड़े नक्कारे रखकर लोग एक मैदान में एकत्र होते हैं। प्रौढ़ और वृद्ध पुरुष नक्कारे, ढप, झांझ, मंजीरे बजाते हैं और गाते हैं—

जुग-जुग जिओ मेरी नाचनहारी
नाचनहारी के दो-दो हूजों
मुकदम और पटवारी
जुग-जुग जिओ मेरी नाचनहारी

इनकी ताल पर कभी अकेली गोपियां और कभी— 'द्वै द्वै गोपी विच विच माधव' —नृत्य करने लगते हैं और कभी कोई स्त्री किसी पुरुष का हाथ खींचकर या कभी कोई पुरुष किसी स्त्री का पल्लू पकड़कर उन्हें जोड़ों में नाचने के लिए बरबस खींच लेता है, तब जो समां बंधता है उसके सामने आज के फिल्मी युगल नृत्य और पश्चिमी तर्ज के 'बाल डांस' बिल्कुल फीके लगने लगते हैं।

शहरों की चौपई का रूप दूसरा है। यहां नए-नए लोकगीत कहे जाते हैं, हफ्तों रात-रात-भर उनकी तालीमें होती हैं और होली पर धुलैंडी के दिन इन चौपइयों के अपने-अपने क्षेत्रों में सामूहिक प्रदर्शन किए जाते हैं। महिलाओं द्वारा कोड़े बटे जाते हैं। डंडों को तेल पिलाया जाता है। पुरुष अपनी ढालों, बारहसिंघों की मरम्मत करते हैं। सिर के ऊपर तवे बांधकर ऊपर से साफा लपेटते हैं कि गोपियों के मस्तक-भंजन से अपने को बचा सकें। बड़ी-बूढ़ियां हफ्तों पहले अपने नाती-पोतों के लिए गोबर की ढालें और गूलरियां बनाने लगती हैं। लकड़ी की तलवारें भी बनाई जाती हैं और होली के लिए घर-घर में पकवान बनने लगते हैं। इनमें प्रमुख हैं सैंलड्डू (सेव के लड्डू), गूंझे और नमकीन पपड़ियां। हफ्तों पहले से भांग बीनी, भिगोई और भूंजी जाती है। निठल्ले रसियों को रसिकाएं ताना देती हैं—

घर में भुंजी भांग नांय,
कठौती में चून नांय,
पैसा-धेला पास नांय,
गांझा हिलावैं
नजरियों से मार-मार हमको रिझावैं।

शायद नई कविता का आरंभ ऐसे ही पद्यों से हुआ होगा। आजकल के हास्यरस के कवि अपने-आपको बड़ा तीसमार खां समझते हैं, लेकिन ब्रज के हास्यरस के लोकगीतों और तानों के मुकाबले इनका करतब पासंग के बराबर भी नहीं है। दूसरों पर तो फबतियां सभी कस लेते हैं, परंतु अपने घर, अपने समाज पर मीठी चुटकियां लेने का साहस ब्रजवासियों में ही है। मथुरा के पंडा समाज की एक तान बाअदब पेश करता हूं–

होली पै नांय आयौ बड़ौ नादान
जब तें गयौ कोई परचा न आयौ
आइबे की चरचा, न खरचा पठायो
जाने कौन देस रह्यौ छान
हॉरी पै नांय आयौ बड़ौ नादान
मैं वाकौ जानूं पुरानौ ठिकानौ
करनौ परैगौ लिफाफौ रवानौ
वाके भलई हंसौ जिजमान
होरी पै नांय आयौ बड़ौ नादान।

विषयवस्तु की दृष्टि से भी ये तानें निराली होती हैं। निरालाजी ने "कुकुरमुत्ता' लिखा है। पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी उर्फ विनोद शर्मा ने "करेला-लोचनी" का चुहचुहाता वर्णन किया है, लेकिन मथुरा के बुधौआ (बुद्धिमान) चतुर्वेदियों ने अपनी एक प्रसिद्ध तान में शाक-भाजियों का जो मजा लिया है, उससे आप वंचित क्यों रहें ? अर्ज है–

पंच जिमींकंद सभा कौ बनाय देउ
सब सागन के दसखत कराय लेउ
आलू-रतालू करें ठट्ठा, गुंय्यन सौं नाहक लड़ैं गट्ठा
ये रूठौ बंडा मनाय लेउ।। पंच जिमींकंद...
सेम भिंडी मटर सौ कहै कौला, करुऔ करेला करै रौला
कचनारिन को वेगि ही बुलाय लेउ।। पंच जिमींकंद...
ये दीखत के टिंडे बड़े गुंडे और तासीर के बड़े ठंडे
इनकौ घीया से जिया मिलाय देउ। पंच जिमींकंद...
कुलफा चौरई हे रहते मगन सोया, क्या मीठे कठर के लगे कोया
पोदीना धनिये की चटनी घुटाय देउ। पंच जिमींकंद...
सकरकंदी सौ चूरा रहे गोभी, कहै सेंगरी ये सेंगर, बड़ौ लोभी

सूम बधुआ कौ रायतो घुराय देउ।। पंच जिमींकंद...
ये सुनकै सभा में धंसे हैं भटा, इन वातन में काहू दिन चलिहै लठा
"चंद" याके तन की तो खुजरी मिटाय देउ।। पंच जिमींकंद...

कहिए तो लगे हाथ अपने कवि-जीवन की प्रारंभिक मस्ती का एक संस्मरण होली के बहाने आपको सुना डालूं। मैंने मथुरा की होली के बड़े मजे लिये हैं। वहां की चौपइयों में मैंने गाया भी है, बजाया भी है, नाचा भी है और कूदा भी है। मेरी लिखी तब की कुछ तानें आज भी मथुरा की मंडलियों में प्रचलित हैं, लेकिन उनका जिक्र यहां नहीं करूंगा। इस समय तो मुझे मथुरा के एक प्रसिद्ध अखाड़े मोहन बाग की चर्चा करनी है। मथुरा में हर मुहल्ले और हर बगीची अखाड़े की एक होली-मंडली है। इनमें मोहन बाग का बड़ा नाम है। चतुर्वेदी समाज की यह सबसे बड़ी संगीत-नृत्य मंडली है। इसमें ब्रज के प्रमुख संगीतज्ञ, वादक और नृत्य-शिरोमणि बड़े रस के साथ भाग लिया करते हैं। इसका आनंद लेने के लिए लोग दूर-दूर से आया करते हैं। मैंने कई वर्षों तक इस मंडली के लिए तानें कथी हैं। जैसे फिल्मों के निर्देशक गीत के मुखड़े और शेरों के टुकड़े आज के गीतकारों के सामने प्रस्तुत करके यानी तर्जें दे-देकर गीत लिखवाते हैं वैसी ही मश्क वहां के तान-लेखकों को करनी पड़ती है। जैसे फिल्मों के गीतकार से अधिक संगीत-निर्देशक और आर्केस्ट्रा का महत्व होता है वही हालत मोहन बाग अखाड़े के उस्ताद, वादक तथा नर्तकों की होती है। पहले तान उस्ताद के कान से निकलती थी। वे कहते थे ऐसा नहीं, ऐसा लिखो। फिर वादक मंडली नृत्य और ताल के तोड़ों के आधार पर शब्दों के साथ तोड़-मरोड़ करती थी। फिर नर्तक-प्रमुख अपने भाव-प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से हेर-फेर कराया करते थे। एक-एक तान को तैयार करने में कभी-कभी तो तीन-तीन महीने लग जाते थे। फिर भी मजा यह कि नाम उस्ताद के अखाड़े का होता था, लेखक का नहीं। जबकि फिल्मों में गीतकार को पैसे कम मिलें, लेकिन नाम तो उसका चलता ही है। उस समय मोहन बाग अखाड़े के उस्ताद नरसी मुंशी नामक एक वृद्ध सज्जन थे। बड़ी बढ़िया ठुमरी गाते थे। मुझे पेड़े और खुरचन खिला-खिलाकर मुझसे हर साल तान लिखवाया करते थे और उन्हें अपनी कथी हुई बताकर अखाड़े में और श्रोताओं पर अपना रंग बांधा करते थे। एक बार यह चौपई गाती-नाचती चौबों के मुहल्ले से गुजर रही थी। स्वर्गीय जवाहरलाल चतुर्वेदी अपने कोठे के छज्जे पर बैठे हुए इसका आनंद ले रहे थे। जब नर्तक-वादक-दल उनके छज्जे के नीचे आया तो उन्होंने आवाज लगाई, "नरसी गुरू, कोई नई चीज कथी होय तो सुनवाओ।" मुंशीजी ने अपने पट्ठों को इशारा किया और उस वर्ष की नई तान गाई जाने लगी। तान के बोल थे—

मानो जी मानो रसिया कि मोसौं ऐसी होरी न खेलौ
होरी न खेलौ, रोरी न रेलौ
हौं तो तिहारी दसिया कि मोसौं ऐसी होरी न खेलौ
मानो जी मानो रसिया कि मोसौं ऐसी होरी न खेलौ

घोड़ा चौबे हारमोनियम बजा रहे थे। प्रसिद्ध संगीतज्ञ शिवकुमार चतुर्वेदी के पास सितार था। भारत-प्रसिद्ध गायक वासुदेव चतुर्वेदी अलाप ले रहे थे और पं. केदारनाथ चतुर्वेदी सखी-भाव से चेहरे पर दुपट्टे का घूंघट ओढ़े लड़कों के साथ भाव बता-बताकर नाच रहे थे। बीसियों मजीरे और खड़तालें साथ में बज रही थीं। सजी-धजी मथुरिनें नृत्य-गीत से उत्पन्न रस-माधुरी मे झूम-झूम उठती थीं। मेला जम रहा था कि तभी जवाहरलालजी अपने छज्जे से ललकारे, "मुंशीजी ! जे तान तिहारी नांय है। कौन की है, बताऔ ?"

मुंशीजी पर यह आकस्मिक हमला था। आज तक किसी ने उनको ऐसी चुनौती नहीं दी थी। भरे समाज में वे ऐसा अपमान कैसे बर्दाश्त कर सकते थे। अपनी बगल में लगे हुए डंडे को फटकारते हुए उन्होंने कहा, "जवाहरलाल ! मेला खराब न करो। तान हमारी है और हमारी है।"

जवाहरलाल भी कम दबंग नहीं थे। शरीर भी उनका पहलवानी था और आवाज भी लड्डूखानी थी। वे ललकारे, "भइयाऔ ! जे तान नरसी मुंशी की नांय है। जामें कथैया (कवि) ने अपनी छाप दै दई है।"

नीचे से आवाजे आने लगीं–"नाम बताऔ, नाम बताऔ ?"

जब जवाहरलालजी ने छज्जे पर खड़े होकर घोषित किया, "तान में जो 'दसिया' शब्द आयौ है वाही में कथैया की छाप छिपी है। जानौ हौ कि दासी-पुत्र कौन कूं कहै हैं ? वाको नाम व्यास है। व्यास ऋषि धींवर-कन्या दासी तै पैदा भये हैं। जे तान हमारे गुपाल व्यास की है।"

मुंशीजी इस सच्चाई से हतप्रभ हो गए। कुछ ने मुंशीजी को तो कुछ ने जवाहरलालजी को कोसा और चौपई आगे बढ़ गई।

आज के शहरी समाज को इस प्रकार के गाने, नाचने और लोकधुनों पर तुकबंदी लिखने की बात हास्यास्पद लग सकती है, लेकिन मेरा तो मानना यह है कि जो गा नहीं सकता, जिसे नाचना नहीं आता, जिसने अखाड़े में कभी ताल नहीं ठोकी, जो शतरंज नहीं खेल पाता, जिसे कलियों की कसमसाहट और फूलों के खिलने का अहसास नहीं है, जिसे रत्नों की परख और इत्रों का मिजाज समझ में नहीं आता, जिस पर सुंदरियां नहीं रीझीं और जिसके ईर्ष्यालु मित्रों की सूची लंबी नहीं है वह और कुछ हो सकता हो, प्राचीन संदर्भ में ब्रज के रसिया और आज संदर्भ में सही लेखक तो नहीं हो सकता। इसमें कुछ अपवाद भी होते हैं, जैसे मैं। ऊपर की सभी क्वालीफिकेशनों (योग्यताओं) में मैं भले ही क्लीयर पास हुआ हूं, लेकिन लेखक जैसा मुझे होना चाहिए था, वैसा नहीं हूं। न सही लेखक, कलाकारी के मजे तो मैंने लिये ही हैं।

मैंने रातोंरात जागकर होली के दिनों में इटावा का नंग-नाच देखा है। बनारस में स्वर्गीय कृष्णाचार्य के साथ वहां की कई महफिलों के मजे लिये हैं। पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' के साथ होली के दिन मिर्जापुर में चक छानी है। कानपुर में सनेहीजी के यहां पूरी एक रात कनपुरियों के साथ होली के कवित्त-सवैये पढ़े हैं। लाहौर में प्रेमीजी और उदयशंकर भट्ट के साथ ऐसी छनी कि भट्टजी और हम दिल्ली की गाड़ी में लगनेवाले डिब्बों में

पहले से आकर सो गए और सवेरे धूप निकलने पर जागकर देखा कि गाड़ी दिल्ली कभी की पहुंच चुकी, लेकिन हमारे डिब्बे जैसे-के-तैसे लाहौर के रेलवे यार्ड में खड़े हुए थे।

मैं बहक गया। नशा चाहे चाय का हो, कॉफी का हो, भांग का हो और मोरारजी के जीवनजल का, नाम न लिवाए उसका, बुरा ही होता है। लेखकों को तो खासकर यह बहुत ही चढ़ता है। अगर लेखक हिन्दी का हो तो समझ लीजिए कि करेला और नीम चढ़ा। भोगे हुए यथार्थ के नाम पर काम-कुंठा की बखिया उधेड़ने की सनक में जीवन की नैसर्गिक इच्छाओं को अभिव्यक्ति देने के बहाने न जाने क्या-क्या लिख डाला है और क्या कुछ चित्रित नहीं किया जा रहा आज के चितेरों और कलाकारों द्वारा। नंगी-मूर्तिकला, अधनंगी चित्रकला, साहित्य में नंगेपन और इन सबके वरदान-स्वरूप स्वीडन, पश्चिम जर्मनी, लंदन, पेरिस के उद्यानों, सड़कों, थियेटरों, नाइट क्लबों और मेहमाननवाजी के विविध केन्द्रों और अड्डों की नकल पर क्या-क्या नहीं हो रहा हमारे यहां। लेकिन भारत ने, विशेषकर व्रज ने, इस काम-कुंठा को जिस सामाजिकता के साथ अभिव्यक्त करके उनके विकारों से मुक्ति पाई है, उसका उदाहरण विश्व में कहीं नहीं है। तो आइए व्रज के अंतरंग में प्रवेश करें।

बरसाने की रंगोली गली आपने देखी है ? नंदगांव के होली-मैदान के भी दर्शन करने का सौभाग्य कभी प्राप्त हुआ है ? यदि नहीं तो आप नंदगांव-बरसाने की रंगीली होली और वहां की अभूतपूर्व लटामार होली के वर्णनों का भरपूर आनंद नहीं ले सकते। आपने शायद वृंदावन में टेढ़े खंभों वाले शाहजी का मंदिर भी नहीं देखा ? हमारा अनुरोध है कि यहां के वसंती कमरे को अवश्य देखिए। लखनऊ के नवाव वाजिद अली शाह की दौलत, वहां का कला-शिल्प और झाड़-फानूस इसी मंदिर में सिमट आए हैं। वसंत पंचमी को यहां का वसंती कमरा खुलता है और यहीं से व्रज का होली मेला प्रारंभ होता है। आप और कुछ न देखिए, लेकिन वलदेव में दाऊजी का हुरंगा अवश्य देखिए। अधिक आनंद लेना हो तो चंद्र सरोवर पर चांदनी रात में चमकती हुई होली को देख ही लें। जाव और वठैन के होली-नृत्य-गीतों में तो आप क्या जा पाएंगे, लेकिन फारेन गांव के उस दृश्य को देखना कभी न भूलें जहां का पंडा बीसियों हाथ लंबी-चौड़ी होली में से सवस्त्र गुजरता है। होली जल जाती है, लेकिन इस आधुनिक प्रह्लाद का बाल भी बांका नहीं होता।

एक समय था जब मथुरा के बाजारों में दाऊजी और मदनमोहनजी होली खेलते हुए निकला करते थे। आगे-आगे ठाकुरजी का डोला और कीर्तनिया समाज, पीछे-पीछे गुलाल और अबीरों से भरी गाड़ियां। उन पर बैठे हुए गुसाईं वालक, मंदिर के मुखिया और रसिया लोग। अटा-अटारियों, कोठे-तेवारियों पर व्रज-नारियों के हुजूम-के-हुजूम। इधर से पोटलियों में भर-भरकर, ताक-ताककर गुलालों के निशाने और उधर से रंग-भरी होली के गाने और तराने। होली के गीतों में यह जो बार-बार दुहराया जाता है कि 'उड़त गुलाल लाल भए बादर'-उसे हमने मथुरा की इस होली में साक्षात् चरितार्थ होते देखा है। बाजार की दुकानों के आगे गुलाल की मार से बचने के लिए परदे तान दिए जाते थे तो फिर सायबानों, छज्जों और छतों पर इतना गुलाल जम जाता था कि उसे अगली बरसात की

तेज बौछारें ही मुश्किल से साफ कर पाती थीं। आज भी मथुरा क्या ब्रज के सभी मंदिरों में पूरे एक महीने रंग-गुलाल बरसता है, ध्रुपद-धमार गाए जाते हैं और चौपई तथा डंडेशाही निकलती हैं। हां, मजा तो ब्रज में ही है। अगर आपने इसे नहीं देखा तो इसे देखने के लिए सत्कर्मी होने पर पुनः मनुष्य-देह धारण करनी पड़ेगी। और यदि इससे विपरीत सिद्ध हुए तो फिर चौरासी लाख योनियों में करोड़ों वर्ष में जाकर इसका नंबर आएगा।

हमारी आंखों से देखिए। होली के दिनों में किसी के पुत्रोत्सव पर महिलाएं यमुना-पूजन को जा रही हैं या किसी विवाह से दावत खाकर लौटी हैं तो रास्ते में क्या गाती चलती हैं, सुनिए–

चिड़ी तोय चामरिया भावै
तेरे घर में सुंदर नार
वलम तोय पर परनारी भावै।

इस टोली के पीछे ही कोई दूसरी टोली है। उसमें प्रौढ़ा ही नहीं, किशोरियां और युवतियां भी शामिल हैं। वड़े ललित कंठ से वोल उठाती हुई कहती हैं–

चना के लड्डुआ चौं लायौ
मेरे पीहर में जलेवी रसदार।

दूसरी टोली तत्काल इसका तुर्की-ब-तुर्की उत्तर देती है–

शहर के सोय गए हलवाई
अव तो मुखड़ा खोल
कलाकंद लायौ हूं प्यारी

जब इन गीतों को गाती हुई महिलाएं वाजारों में से आज भी निकलती हैं तो दुकानदारों की तराजू की डंडियां थम जाती हैं, ग्राहक माल लेना भूल जाते हैं। रिक्शे और तांगे रुक जाते है तथा पढ़े-वेपढ़े सभी लोग दत्तचित्त होकर इन गीतों का आनंद लेने लगते हैं। ऐसे दृश्य मथुरा, हाथरस, अलीगढ़, भरतपुर, वृंदावन, गोवर्धन आदि सभी जगह आए दिन देखे जा सकते हैं। गोवर्धन, नंदगांव, वरसाना, परासौली, चंद्र सरोवर, कुसुम सरोवर और राधाकुंड की तो बात ही अलग है। यहां गोपियों का तत्काल जवाब ग्वालों की मंडलियां और ग्वालों का उत्तर ब्रज-ललनाएं वेधड़क रूप से देने में कभी नहीं हिचकतीं। उदाहरण के लिए होली के दिनों में गोवर्धन की परिक्रमा करते हुए जब ब्रज के लौठा नाचते-गाते और अपनी ही जगह पर दस-दस हाथ कूदते यह गाते हैं–

कदम तर आय जइयो
कटीले काजरवारी
नेक मुखड़ा सुघर दिखाय जइयो
कटीले काजरवारी

तो उसी सरसता के साथ ब्रज की लौठियों से उन्हें उत्तर मिलता है कि—

लाला, तोइयै बुलाय गई नथवारी
या नथवारी की ऊंची अटरिया
पंचरंग पलंग परौ है संवरिया
करकै इसारौ वताय गई री
लाला, तोइयै वुलाय गई नथवारी

लेकिन आज तक किसी अखबार में यह खबर पढ़ने को नहीं मिली और न किसी गली-मुहल्ले में या चौपाल-पंचायत में ही इसकी चर्चा सुनी गई है कि कोई 'नथवारी' किसी ब्रज के छैला के साथ भाग गई हो या पकड़ी गई हो। ब्रजवासी लोग अपने आनंद के लिए गाते हैं। उनके आनंद का आश्रय कोई पर-पुरुष या परकीया नहीं है। ब्रज में पुरुष तो एक ही है। वह है नंदनंदन श्रीकृष्ण और स्वकीया अथवा परकीया भी एक ही है और वह है वृंदावनवारी या बरसानेवारी राधारानी। भलाई-बुराई राधा-कृष्ण के मत्थे, ब्रजवासी तो सिर्फ गाते ही हैं और इस गाने के बहाने ही उसकी लीलाओं का स्मरण करते हैं तथा उसका वार-वार नाम लेते हैं। अभी तो सैकड़ों वर्षों से यही क्रम चल रहा है। भगवान वचाए ब्रज को इस लिपी-पुती आधुनिक सभ्यता से।

ब्रज के लोकमानस को समझने के लिए दो शब्दों का समझना बहुत आवश्यक है। उनमें से एक शब्द है 'छैल' और दूसरा है 'रसिया'। ब्रज की होली को 'छैला' ही खेल सकते हैं और 'छैल' ही इसे समझ सकते हैं। रसिया इस अवसर पर गाए ही नहीं जाते, होली में ब्रज का हर व्यक्ति चाहे वह जवान हो या बूढ़ा, देवर हो या जेठ, रसिया वन जाता है। इसीलिए तो ब्रज के एक कवि ने गाया है—"फागुन में जेठ कहे भाभी।" ब्रज की चौपइयों में देवर ही भाभी के साथ नहीं नाचते, जेठ ही नहीं नाचते, वरन् कभी-कभी तो आनंदातिरेक में बहू के साथ ससुर भी नाचने लगते हैं। अगर फाग में कहीं काम के विकार की आग होती तो ये दृश्य कहीं संभव हो सकते थे ?

होली का उत्सव प्राचीन, अति प्राचीन मदन-महोत्सवों का ही रूपांतर है। वसंतागम पर जब ब्रज की धरती सरसों के पुष्पों से पीतांबरधारिणी वन जाती है और जब प्यारी को आशीष देने के लिए वसंत-रूपी ब्रह्मचारी गुलाब की कलियों के खड़ाऊं चटखाते हुए चलता है तो गृहीजनों की कौन कहे, मुनी-मन भी डोलने लगते हैं। कहिए तो आपको पीछे ले चलूं और वेद-पुराणों की वात बताने लगूं और कहूं कि इन मदन-महोत्सवों का विधान हमें सृष्टि के सृजन-रहस्य की ही सुधि दिलाता है तो आप चौंकिएगा नहीं। वसंत ऋतु में मधु-मक्खियां फूलों से रस-ग्रहण करतीं तो आपने देखी होंगी, परंतु ये पुष्पों के परागों को मादा पुष्पों के रज से संपर्क कराकर नवीनोत्पत्ति का कारण भी बनती हैं, शायद इसका पता आपमें से कुछ ही को हो। इतना ही क्यों शिव और पार्वती के सम्मिलन की कहानी भी दो अलग-अलग स्थानों पर खिलनेवाले पुष्पों के सम्मिलन की ही कहानी है। पर पंचशर कामदेव मादक वसंत की सहायता से इन दोनों का समागम कराता है और इससे कार्तिकेय-रूपी फल की प्राप्ति होती है। शिव-पार्वती के प्रतीक रूप में सृजन की

कहानी घर-घर, नगर-नगर और देश-देशांतर में दोहराई जा रही है। यही सृजन-रहस्य है, और यही वसंत-महिमा है। इसी को कुछ अज्ञानी काम-विकार कहकर झुठलाया करते हैं। लेकिन कालिका पुराण अध्याय चार में वसंत के जन्म की कथा इस प्रकार कही गई है कि जब परमयोगी शिव सृष्टिवर्धन के लिए तैयार नहीं हुए तो पितामह ब्रह्मा ने बैरागी शिव को सम्मोहित करने के लिए वसंत की सहायता आमंत्रित की और इस वसंत ने बैरागी भोले बाबा के मन में राग उत्पन्न कर दिए। इसीलिए वसंत का एक नाम कंदर्पसखा भी है। परंतु इस कहानी को छोड़िए। इस कंदर्पसखा के फूलने-फलने पर ब्रज में बूढ़े बाबा विश्वनाथ पर भी होली खेलने की उचंग सवार हो जाती है। वे भी ब्रजललनाओं से फाग खेलने का आग्रह करते हैं, लेकिन इस औघड़नाथ के साथ कौन होली खेले। ब्रजबालाएं कहती हैं–

मैं कैसे होरी खेलूं री, या वावरिया के संग
अंग भभूत, गले विषमाला, लटन विराजै गंग
मैं कैसे होरी खेलूं री, या वावरिया के संग

होली तो छैलों का त्योहार है। छैला नंद का लाल ही नहीं, उसके बड़े भाई दाऊजी भी हैं। वे भी ब्रज की छैल-संस्कृति के प्रतीक हैं। कहा गया है "अलवेलो छैल छकनिया ब्रज में ठाकुर दाऊदयाल," अर्थात् जो अपने-आप में अलवेला नहीं है, छैला नहीं है, छकनिया यानी मधुरस छकनेवाला नहीं है, वह न तो छैला है, न ब्रजरसिक है और न ब्रजवासी। ब्रज के सैकड़ों लोकगीत इस छैल-महिमा से भरे पड़े हैं। होली का तो शुभारंभ ही किसी छैल के ढप-वादन से प्रारंभ होता है–

ढप वाजौ है छैल मतवारे कौ
ढप की गरज मेरौ सव घर हालौ,
हालौ है खंभ तिवारे कौ
ढप की गरज मेरौ तन-मन हालौ,
झुव्वा हालौ है नारे कौ।
ढप वाजौ है छैल मतवारे कौ।

जैसे-जैसे ढप की धुन ताल पकड़ती है वैसे ही रसिया के साथ-साथ गोरी के अंग-प्रत्यंग भी लहकने लगते हैं और ये शिकायत करती हैं कि–

होरी के दिन छैला दूनौ-दूनौ मटकै
सालिगराम कौन याहि वरजै
अंग लिपट हंसि हा-हा खाय
पैयां परि जाय मेरी वलि-वलि जाय
होरी खेली न जाय

ठीक ही तो है। जब छैला नैनों ही नैनों में गारी, भर-भरके पिचकारी,

'औचक कुचन कुंकुमा' मारते हैं, रंग-सुरंग शीश पर ढारते हैं तो होली कैसे खेली जा सकती है ? पानी की चोट और रंग की खोट तो सह भी ली जाए, लेकिन नैनों की मार कैसे सही जा सकती है। इसीलिए उनका कहना है–

होरी में मेरे लग जायगी
मत मारै दृगन की चोट
पहली चोट बचाय गई रे लाला
कर घूंघट की ओट
होरी में मेरे लग जायगी
मत मारै दृगन की चोट

पदमाकर इस चोट से भलीभांति परिचित थे, इसीलिए उन्होंने कहा था–"ए री मेरी वीर, जैसे-तैसे इन आंखिन तें कढ़ि गयौ अबीर पै अहीर कौ कढ़ै नहीं–" लेकिन रसियों को रसिकाओं के इस दर्द की क्या चिंता है ? उन्होंने तो आज घोषणा कर दी है कि–"रसियन के पल्ले पड़ी आज नहिं सहज निकसि जायगी।"

यों तो इस राग-अनुराग-भरी होली के अनेक रंग हैं, परंतु व्रज के छैला की छकानेवाली छवि का जो वर्णन ग्वाल कवि की दो पंक्तियों में हुआ है, उसका अनूठापन देखिए–

'ग्वालकवि' स्यामै गहि कोउक नचावै कोऊ,
कोउक छुड़ावै फैरि आवै धंसि-धंसिकै।
तान ललिता पै मूंठ डारै राधिका पै,
चढ़ि चौंतरा पै देति गारी हंसि-हंसिकै।

दुनिया में सभी तरह के लोग हैं। या यों कहें कि हर चीज के दो पहलू हैं। व्रज के लोकजीवन की मस्ती को और होली के इस रंगारंग आलम को जहां कुछ जीवन की सरसता, हृदय की सुरंग हिलोर, साहित्य का सामाजिक संदर्भ और यौवन की अनूठी अठखेली मानते हैं वहां ऐसे जीवों की भी कमी नहीं जो ऐसे उल्लासपूर्ण क्षणों में भी कुरुचि, अश्लीलता और असामाजिकता के दर्शन कर लेते हैं। एक बार गुजराती साहित्य के मूर्धन्य कथाकार और उस समय उत्तर प्रदेश के राज्यपाल श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने मुझसे कहा था, "रंग-गुलाल से उतरकर तुम्हारे ये व्रजवासी धूल-कीचड़, गाली-गलौज और लट्ठमारी पर क्यों उतर आए हैं ?" वह तो भीड़ में ऐसा कहकर आगे बढ़ गए, परंतु मैं सोचता रहा। व्रज के गांव-गांव में आज भी औरतें होली खेलने आए मर्दों का अक्सर लाठियां से स्वागत क्यों करती हैं ? वे रंग फेंकनेवालों पर कोड़े क्यों चलाती हैं ? नंदगांव-बरसाने की तो लट्ठमार होली प्रसिद्ध है ही कि जहां बरसाने की गुसाइनें नंदगांव के छैलों की और नंदगांव की अहीरों की छोहरियां बरसाने के छैलों की लाठियों से कसकर मरम्मत करती हैं, लेकिन यह प्रथा लगभग व्रज के सभी गांवों में फैली हुई है। मैंने इसे चंद्र सरोवर में देखा है, राधाकुंड में देखा है और मुझसे अधिक देखा है आज से एक सौ पांच वर्ष पूर्व एक अंग्रेज विद्वान श्री.ग्राउस ने, जो उस समय मथुरा के जिलाधीश थे। उन्हें नंदगांव

और बरसाने की, कोसी के पास गोमती-कुंड की और जाव-बठैन की होलियां कृत्रिम युद्ध के समान लगीं। चाकू और छुरियों से लैस नर्तकों को जब लाठी लिये हुए नर्तकियों ने खदेड़ दिया तो उन्हें यूनान के 'एटिका' और 'एथेंस' में मनाए जानेवाले 'डायनीसिया' उत्सव की याद आ गई और लिखा कि "होली खेलनेवाली हुरिहारिनें चमकदार आभूषणों से सजी-धजी हुई, घूंघट डाले और हाथ में डंडे लेकर 'मधु-देवता' की भक्त 'वैकेंटिस' नामक मधुवालाओं की भांति 'थिरमस' नामक डंडा लिये सुशोभित हो रही थीं।" एक अन्य स्थान पर ग्राउस महोदय कहते हैं कि "होली का यह उत्सव 'साटरनलिया' उत्सव की भांति मनाया जाता है। 'साटरनलिया' उत्सव प्राचीन रोम में 'सैटर्न' नामक देवता को प्रसन्न करने के लिए 17 दिसंबर से प्रारंभ होकर एक सप्ताह पर्यंत मनाया जाता है। यह समय फसल के पक जाने और अंगूर की लताओं से शराव निकाले जाने का होता है। यह उत्सव अश्लीलताजन्य आनंद एवं उल्लास के साथ संपन्न होता है। उसमें अश्लील भाषण की पूर्ण स्वतंत्रता है।"

देश को विदेशी चश्मे से देखनेवाले और पश्चिम की हवा में से भारतीय संस्कृति को असभ्यता की सीमारेखा में ले आनेवाले हमारे होली के परंपरागत त्योहार को भी यूनानी संस्कृति की देन मान सकते हैं, परंतु हमारा विचार यह है कि ब्रज ने अपनी रसिकता की रक्षा सदैव अपने बाहुवल और लाठी से की है। ब्रज के हर देहाती के हाथ में आज भी आप लाठी पाइएगा। मथुरा में कार्तिक शुक्ला सप्तमी और दशमी के दिन वहां के सनौढ़िये और चौवे लाठियों का सामूहिक प्रदर्शन आज भी करते हैं। ब्रज के अहीर आज भी व्याह-वारातों में डंडे वजाते हैं। पुरुष ही नहीं, ब्रज की लट्ठमार होलियों में गांव-गांव में नारियों का भी लाठी-प्रदर्शन होता है। इसके लिए इन महिलाओं की सालभर खिलाई-पिलाई की जाती है। स्वयं पति और देवर इन्हें लाठी चलाना सिखाते हैं। गांव-गांव में होली पर डंडे चलते हैं और इनमें स्त्रियों को अपने हाथ दिखाने का अवसर मिलता है। इस प्रथा के पीछे भारतीय परतंत्रता की काली कहानियां छिपी हुई हैं। पहले मुगलों और वाद में अंग्रेजों के जमाने में जव किसी नारी की इज्जत सुरक्षित नहीं थी और पंजाब, हरियाणा तथा राजस्थान में आए दिन सुंदरियों के डोले छीने जाते थे एवं रूपसी वालाओं पर नजर पड़ते ही उन्हें घर से उठा लिया जाता था, तो ब्रजवासियों ने इसका सामना करने के लिए लट्ठ उठा लिए। उन्होंने नारियों को भी लाठी चलाने में निपुण कर दिया और ग्राउस साहब, जिन्हें कृत्रिम युद्ध कहते हैं, उनमें अपने वल का प्रदर्शन करके यह जता दिया कि यदि किसी ने ब्रजललनाओं की तरफ आंखें उठाईं तो उन्हें 'मार-मार लट्ठन धूर कर आए' का दिन देखना पड़ेगा। आज भी जब नंदगांव और बरसाने की होली में कोई हुरिहारिनों को छेड़ देता है, तो वे उसका कसकर हाथ पकड़ लेती हैं और कहती हैं कि "भैया के सारे, जो मइया ने दूध पियाऔ होय तो हाथ छुड़ायकै देखि लै" और यदि उस गरीब को अपनी कलाई टूटने से बचानी होती है, तो वह 'बहनजी' कहकर ही अपनी मुक्ति पाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रज में होली भी है और ठिठोली भी है। गुलाल से भरी झोली भी है और मीठी-मीठी बोली भी है। अगर शौक हो तो घुटी गोली भी हैं और

केवड़े में घोली भी है। खेलनेवाली शरारतिन भी है और भोली भी है। अकेली नहीं, उसके साथ सखियों की टोली भी है। चाहिए आप में दम। बताते हैं हम, होली है मन की उमंग। हाथ में ही नहीं, चेहरे पर ही क्यों, मन में भी घुला हुआ हो टेसू का रंग। फिर बजे-न-बजे चंग, लेकिन संग रहना चाहिए अनंग। वह अनंग जिसकी पत्नी है रति, जिसकी प्रतिकृति है लज्जा और जिसके संबंध में प्रसादजी कह गए हैं–

मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूं
मैं शालीनता सिखाती हूं।

हास्य लिखना जितना आसान समझा जाता है, उतना ही कठिन है। प्रायः मन की कलुषता ही हास्य के आवरण में व्यक्त होती है। यह कहना कठिन है कि शुद्ध हास्य और घी में कौन अधिक दुर्लभ है।

श्री व्यास जी की कविताओं की विशेषता है कि उन्होंने दूसरों के सिर पर होली नहीं खेली है। समाज की गहरी चुटकियां ली हैं, उसे चिकोटियां काटी हैं, किंतु सभी अपने को ही निशाना बनाकर। इस प्रकार का साहित्य हिन्दी में लगभग है ही नहीं।

–भदंत आनंद कौसल्यायन

सांपों से साबका

ऐसे स्थान मिल जाएंगे, जहां भुवन भास्कर का प्रकाश न पहुंच पाता हो। लेकिन जल-थल से लेकर रज-कण तो क्या, उत्तंग शैल शृंगों में ढूंढ़े भी ऐसी जगह नहीं मिलेगी, जहां हमारे सर्प देवता विराजमान न हो। मुझे मालूम नहीं संसार में ऐसा कोई जीव है कि जिसकी दो-दो जीभें हों। मैंने तो बिना पांवों के दौड़नेवाला कोई प्राणी आज तक देखा नहीं। यह वरीयता तो तक्षक के वंशजों को ही प्राप्त है। इसीलिए संस्कृत में सर्प का अर्थ है–जल्दी-जल्दी दौड़ो। ऐसे तपस्वियो का पता चलता है जो वर्षों तक बिना खाए-पिए अपनी साधना में रत रहते है, लेकिन धरती पर रेंगनेवाले, पृथ्वी पर विचरण करनेवाले और आकाश में उड़नेवाले ऐसे किसी प्राणी को नहीं देखा जो महीनों अपनी बिल-कंदराओं में बिना भोजन-पानी के अपनी मस्ती में चुपचाप लेटा रहता हो। यह क्षमता तो शेषनाग के उत्तराधिकारियों को ही प्राप्त हुई है, जो केवल वायु का भक्षण करके ही जीवित रह सकते हैं। आपको पता ही होगा कि सांप का एक नाम वायु-भख भी है।

पुराणों का प्रवचन करनेवालों का कहना है कि भगवान विष्णु अनंत काल से शेषनाग की सुख-शैया पर ही शयन कर रहे हैं। लोग नाहक सांपों से डरते हैं। सांपों जैसा कोमल, सुचिक्कण, बहुरंगी और सुंदरतम जीव इस धरती पर कोई दूसरा शायद ही हो। तभी तो भगवान शिव ने अपने आभूषणों के रूप मे इन्हें शरीर पर धारण किया है। उनके जटाजूट पर फन उठाए सर्प का मुकुट, दोनों कानो में सांपों के कुंडल, नीलकंठ में सर्प का सुंदर हार, उन्हीं के बाजूबंद, और तो और शिवजी महाराज का यज्ञोपवीत भी सर्प का ही। प्रमाण के लिए तुलसीकृत रामचरित मानस में शिव-विवाह का प्रसंग पढ़ जाइए। यह वासुकि वंशजों की महिमा का बखान मैंने अपने लेख की भूमिका के रूप में किया है। अब विषधरों के परम पराक्रम को विनत प्रणाम करते हुए अपनी बात कहता हूं।

सांपों से मेरा साबका जन्म से ही है। मेरी दादी और मां बताती थीं कि जब मेरी छटी पुज रही थी और बाहर के कमरे में बधाए गाए जा रहे थे तो मेरी दादी मुझे नए

लाल रंग के कपड़े पहनाकर एक गुदगुदी गद्दी पर आंगन में लिटा आई थीं। महिलाओं को बताशे बांटने के लिए जब वह आंगन से कोठार में जाने लगीं तो धक से रह गईं। मेरे सिरहाने एक सर्प देवता कुंडली मारे फन फैलाए बैठे हुए थे। कोहराम मच गया। लोग लाठियां लेकर सांप को मारने दौड़े। लेकिन दादी ने उन्हें रोक दिया। उन्होंने हाथ जोड़कर गृह-देवता को प्रणाम किया। दूर हटकर एक कटोरे में कच्चा दूध रख दिया। भुजंग महोदय ने पयपान किया और विलायमान हो गए। ऐसे कि सांप पकड़नेवालों को भी उनका पता नहीं चला। यह हुआ कथा-प्रवेश।

जिस गांव परासौली में मेरा जन्म हुआ, वहां कोई ऐसा घर नहीं था जिसमें सांप न पाए जाते थे। कोई चक्की के पास बैठा मिलता तो कोई चूल्हे के पास। कोई पंडहरी की तराई में तरी लेता मिल जाता तो कोई छत से लटकता हुआ। गैल-गलियारों में लेटे-बैठे भी उनके दर्शन प्रायः हो जाया करते थे। लेकिन आश्चर्य की बात कि उन दिनों हमारे गांव में किसी की भी मृत्यु सांप के काटने से नहीं हुआ करती थी। महिलाएं उसे लकड़ी से धीरे से अपने स्थान से हटा दिया करती थीं। न हटने पर कटोरे में दूध भरकर उन्हें पिला दिया करती थीं। वे घरों में परिवार के सदस्यों की तरह रहते थे और उनके डर के मारे सर्वशक्तिमान गणेशजी के वाहन अनाज के कोठी-कुठीलों के पास भी नहीं फटक पाते थे।

गांव के सांपों का यह आलम घरों तक ही सीमित नहीं था। उपलों के गौंतों, खेतों और खलिहानों तक में वे स्वच्छंद विचरते थे। अब से सत्तर वर्ष पूर्व गांव के अस्सी-पिचासी वर्ष के बड़े-बूढ़ों का कहना था कि उन्होंने खेत-खेत लंबे सांप देखे हैं—बल्लियों जैसे मोटे और उतने ही लंबे। काले, पीले, चितकबरे, आसमानी ही नहीं, हरे रंग के सांप भी तब गांव में पाए जाते थे। इस बात में आज मुझे अतिशयोक्ति कम मिलती है। क्योंकि सन् पचास में मैंने दिल्ली में ऐसा ही काला, मोटा सांप स्वयं देखा है। इसे इन्द्रप्रस्थ के जंगलों से सपेरे तीन भैंगियों में रखकर लाए थे। वह बीस फुट से कम लंबा नहीं था। मरा नहीं, जीवित था। चल रहा था।

लेकिन एक घटना पर शायद आपको विश्वास न हो और मैं भी आज तक विश्वास नहीं कर पाया हूं कि हमारे गांव में एक मणिधर सांप भी था। चंद्र सरोवर के उस पार सूरकुटी और महाप्रभुजी की बैठक के मुखिया ने मुझसे कहा कि यह जो बैठकजी के बाहर दाहिने हाथ को हवेली है न, वह सांपोंवाली हवेली है। उसमें घुसना तो दूर वर्षों से डर के मारे उसका ताला भी नहीं खुला है। भयंकर करैत उसमें भरे पड़े हैं। यह बात तब की है जब मैं सोलह-सत्रह साल का था और गांव में पुरानी पोथियों तथा लोकगीतों का संग्रह करने गया था। मुखियाजी ने मुझे बताया कि एक रात मैं अपनी छत पर लेटा हुआ था। मैंने देखा कि एक काला लंबा सांप हवेली की छत पर चक्कर लगा रहा है। थोड़ी देर बाद उसने ऊंचा उठकर चारों ओर देखा तथा फिर झुककर अपने मुंह से एक छोटे दीवले जितनी लाल अंगारे जैसी मणि उगली और हवेली से उतरकर शिकार को चला गया। मैं विस्फारित नेत्रों से उस चमकती हुई रत्नराशि को देखता रहा। मैं देख ही सकता था, जाने की हिम्मत तो मुझ बूढ़े में क्या, अच्छे-अच्छों में नहीं थी। थोड़ी देर बाद वह

सांप लौटा। मणि वापस मुंह में रखी और जहां से आया था, चला गया। गांव के किसी अन्य निवासी ने इस घटना की पुष्टि नहीं की। परंतु मैं सोचता हूं कि उस परम भगवदीय जीव को मुझसे अकारण झूठ बोलने की क्या जरूरत थी ? यह हुई गांव की बात।

अब मथुरा की सुनिए। उन दिनों की जब मैं कसरती पट्ठा हो गया था। चढ़ी हुई यमुना के उस पार बहाव के सहारे तैरकर पहुंचना और फिर वैसे ही लौट आना मेरा लगभग रोज का व्यायाम था। एक बार तो कुछ साथियों को रस्से और फरसे थमाकर नाव में चढ़ा दिया तथा मैं वृंदावन से मथुरा तक नाव पीछे-पीछे और मैं आगे-आगे तैरता हुआ आया था। विशेष बात यह तब मथुरा में इस बात की चर्चा जोरों पर थी कि वृंदावन की खादर के निकट यमुना में 'भौंट' आ गई हैं। भौंट एक खूंख्वार जल-जंतु होता है। मेरे इस साहस को मथुरा के चेयरमैन ने सम्मानित भी किया था। लेकिन मैं यह नहीं, उस दुस्साहस की घटना बता रहा हूं। एक शाम मैं मथुरा के सती घाट पर उफनती हुई यमुना की लहरों का आनंद ले रहा था कि तभी दूर से मुझे एक हंडिया आती हुई दिखाई दी। जो लोग पास बैठे थे, उन्होंने कहा–हांडी में किसी का गढ़ा हुआ धन है, जो बाढ़ में बहकर आ रहा है। कपड़े उतारकर हम दो लड़के फौरन यमुना में कूद पड़े। आगे भंवर पड़ रहा था, जिसमें अगर आदमी फंस जाए तो फर्लांगों दूर बह जाता है और फिर जाकर उसकी लाश ही निकलती है। उसे देखकर दूसरा लड़का तो लौट गया। लेकिन भंवर-जाल से हटकर मैंने हंडिया पकड़ ली। उसका ढक्कन खोला। अरे, बाप रे ! एक भुजंग काला सांप फन फैलाकर खड़ा हो गया और मेरी तरफ लपका। जिस हाथ से मैंने हांडी खोली थी, उसे वह काटना चाहता था। पर मारनेवाले से बचानेवाला बड़ा होता है। मैंने हाथ झटककर उसे दूर फेंक दिया और पानी में गोता मार गया। लेकिन जब भीतर-भीतर कुछ दूर जाकर बाहर सिर निकाला तो पाया कि सांप मेरा पीछा कर रहा है। मुझे लगा कि आज गए गुपाल तुम। दोनों डर रहे थे और दोनों बह रहे थे। कभी वह आगे तो कभी पीछे। कभी दाएं तो कभी बाएं। फर्क इतना था कि मैं गोता मार सकता था, वह नहीं मार सकता था। इस नाग युद्ध में हम दोनों रेलवे पुल के पास तक पहुंच गए। रेलवे के पुल के नीचे पानी बहुत तेजी से बहता है और आदमी मुश्किल से निकल पाता है। नावें भी बाढ़ में पुल के पार नहीं जा पातीं। अब क्या होगा ? तभी कालियादमन ने मेरी रक्षा की। बड़े जोर से पानी का रेला आया। सांप बह गया और मैंने पुल की कोठी को दोनों हाथों से थाम लिया। बंगाली घाट पर बैठे चौबे इस दृश्य को देख रहे थे। उन्होंने तलाश करके एक रस्सा मेरी तरफ फेंका। डूबते को तिनके का सहारा होता है, लेकिन वह तो रस्सा था। मैंने रस्सा पकड़ लिया और रक्षा करनेवालों ने खींचकर मुझे किनारे लगा दिया–"जानकी नाथ सहाय करैं, तब कौन बिगार करै नर तेरौ।"

मैंने चांदनी रात में यमुना पार सांपों को आपस में लड़ते और नाचते भी देखा है। पेड़ पर चढ़े हुए भी देखा है। मैं दातुन तोड़ रहा था और सांप मुंह फाड़े हुए मुझे घूर रहा था। पहली बार मुझे उसका विषदंत दिखाई दिया। मैं भाग खड़ा हुआ। इसी तरह जब यमुनापार बगीची से अपने मित्र जगन्नाथप्रसाद महेश्वरी के साथ-साथ हाथ पकड़कर रेल की पटरियों पर हम दौड़ लगा रहे थे तो एक सांप रेल की पटरी पर फन रखे हुए

अपनी गर्मी शांत कर रहा था। हमें उसका आभास तब हुआ जब एक पांव पीछे और एक पांव आगे और बीच में सांप का फन धोती से टकराया। अब क्या हो ? मैंने पटरी छोड़कर कभी इस तरफ के कंकड़ों पर तो कभी उस तरफ के कंकड़ों पर आड़े-तिरछे भागना शुरू किया। सांप भी लहराता हुआ उसी तरह चलने लगा। मेरे पैरों में जूते थे, लेकिन सांप कंकड़ों से छिद रहा होगा। पर न मैंने हिम्मत हारी, न उसने। लेकिन जब ईश्वर किसी को बचाता है तो रास्ता निकल ही आता है। पुल पार करके उधर से दूधिए अपने खाली कनस्तरों को बजाते हुए धम-धम चले आ रहे थे। सांप ने समझा होगा कि अब तो ये कई सारे हो गए और वह नीचे सरक गया। इस तरह मैं बच गया।

ऐसे ही मथुरा की गली दशावतार में हम जिस मकान में रहते थे वह कोई ढाई सौ-तीन सौ वर्ष पुराना था। उसमें एक बूढ़ा सांप रहता था। उसके दर्शन प्रायः सीढ़ियों या छज्जों में हो जाया करते थे। लेकिन उस वृद्ध तपस्वी ने न किसी को कष्ट दिया और न काटा। घर में बसे हुए लोगों का कहना था कि जिसने यह घर बनवाया है, यह वही गृहपति है। मैंने तो नहीं देखी, लेकिन अन्य किरायेदारों का कहना था कि इसके दाढ़ी भी है। उसी मकान की एक लंबी अंधेरी कोठरी में एक तहखाना भी था। इसके ऊपर एक पत्थर की शिला ढकी हुई थी। लोगों का कहना था कि इसमें खजाना है। उस मकान में अधिकतर सुनार बसे हुए थे। लंबे-तगड़े और कसरती। एक दिन हम सबने सोचा कि इस तहखाने को खोला जाए और माल बांट लिया जाए। किसी ने टॉर्च ली तो किसी ने हथौड़ा। एक आदमी फावड़ा लिये हुए भी साथ में था। हम चार थे। तहखाना तक पहुंचे। पत्थर सरकाया। पर देखते क्या हैं कि वहां खजाने के बजाय लाल सांपों का एक जोड़ा लेटा हुआ था। पत्थर सरकने की आवाज सुनते ही वे दोनों खड़े हो गए और हम चारों मारे डर के उल्टे पांव भाग लिए। बाद में किसी की हिम्मत नहीं हुई कि उस तहखाने को फिर उस पत्थर से ढक दे। किसी ने सच ही कहा है कि लालच बुरी बला।

इस तरह भरतपुर के हीरादास के कुंडा में भी एक सांप से मुलाकात हो गई। इटावा के किले में भी एक सांप ने मुझे दर्शन दिए। फिर जब आगरा से दिल्ली आया तो मेरा साबका बिना पैरवाले सांपों की बजाय आस्तीन के सांपों से पड़ा। ये अधिक विषैले साबित हुए। जिनको दूध पिलाया वही काटने को दौड़ पड़े। जिन्हें मित्र समझा वे सामने खड़े होकर फुंकारने लगे। लेकिन जैसे भगवान ने असली सांपों से रक्षा की थी, वैसे ही ऐसे नकली, स्वार्थी और मौसमी सांपों से अब तक बचता ही रहा हूं। आगे की ऊपरवाला जाने।

मैंने सांपों की कहानी तो कही, परंतु मुझे बचपन में कही हुई मां की बात याद आ रही है कि रात में सांप का नाम नहीं लेना चाहिए, क्योंकि वह नाम लेते ही आ जाता है और सब बातें सुन लेता है। तो भाई विषधरो और हे निर्विषो, बहुत गई, थोड़ी रही, अब तो कही-सुनी माफ।

मेरे भुतिहा संस्मरण

आप न मानें। मैं तो मानता हूं। मानता ही रहूंगा कि भूत हैं अवश्य। जब तक पृथ्वी पर भूतनाथ हैं, भूतों का कौन विगाड़ सकता है। भविष्य तो जिसका होगा, उसका होगा, लोग तो अपने वर्तमान से ही जूझ रहे हैं। पुरानी पीढ़ी के कहने पर विश्वास करना ही पड़ रहा है कि आज से अच्छा तो भूत ही था। क्या कहने हैं भूत के कि एक रुपये में चार पसेरी नाज। एक आने में कच्चा दूध सेर-भर। तीन आने सेर रबड़ी। एक पैसे में दो पेड़े। वस रुपया नहीं था, मालों के तो ढेर लगे थे। भूतों की कृपा होती तो यह रुपया भी छप्पर फाड़कर बरसने लगता था।

आपके न मानने से क्या होता है। मैं फिर कहता हूं कि भूत हैं और अवश्य हैं! फर्क सिर्फ इतना पड़ा है कि उल्टे से उनके पैर सीधे हो गए हैं। काले से उनका रंग निखरकर गोरा हो गया है। पूर्व से अधिक अव वे पश्चिम में मिलते हैं। विकास का युग है न! जव आदमी की जाति विकास को प्राप्त हो रही है तो समर्थ भूत क्यों नहीं ? वे तो पैदा ही विकसित होकर हुए हैं। कितने दयालु हैं ये भूत कि इस खोखली मनुष्यता को भूत बनाने में जी-जान से जुटे हुए है।

आपने नहीं देखे तो क्या हुआ। आपकी दादी-नानी ने भूत अवश्य देखे होंगे। हमारी स्वर्गीय मां भी कहा करती थीं कि जबसे ये मरी रेल निकली है, भूत अदृश्य हो गए हैं। नहीं तो यमुनापार रात को उनकी वारात निकला करती थी–मशालों के जुलूस के साथ। रात को वारह बजे के बाद उनके प्रतिनिधि अमुक दुकान से पेड़े खरीदने आया करते थे। उनकी इस बात की पुष्टि और भी कई बड़े-बूढ़ों ने की। एक तो कहने लगे कि अंग्रेजी के चार अक्षर क्या पढ़ गया कि अफलातून हो गया। अमावस की रात को ठीक बारह बजे अंधेरी गली में से पूजा की थाली में दीपक जलाए छम-छम करती आती है। बिना सीढ़ियों के सती के बुर्ज पर चढ़ जाती है और जमुना में कूद पड़ती है–धम्म ! सुनते ही कलेजा दहलने लगता था। कोई कहता कि मरघट के पीपल पर बैठे रहते हैं। रात

को मसान जगाने उतरते हैं। बेटा, ग्यारह बजे के बाद उधर से मत जाना। कौन जाए ? मरना थोड़े ही था।

लोगों के मन से विश्वास उठ गया है। आस्था जाती रही है। इसी का परिणाम है कि दुःख भोग रहे हैं। नहीं तो विश्वास कर लो कि भूत हैं। इससे न भूतों का कुछ बिगड़ेगा, न आपका। लेकिन भूत सिद्ध हो जाएं तो अवश्य ही बिगड़ी बात बन सकती है। कसम महाशय भूतलिंग की कि जिसने भूत वश में किए तो समझो कि दुनिया वश में कर ली। लेकिन भूत पहले डराता है। डरना नहीं। हमारे परदादा के दादा बड़े पहलवान थे। गांव की एक बारात में गए तो शाम को अखाड़े में भिड़ गए एक भूत से। वे बार-बार भूत को पटकनी देकर नीचे दबा लेते, लेकिन थोड़ी देर में ही वह फट से नीचे से निकल आता और कहता कि आ जा ! तीन-चार घंटे तक तो उसे पछाड़ते रहे। लेकिन जैसे ही उन्हें मालूम हुआ कि यह आदमी नहीं भूत है तो पसीने-पसीने हो गए। सुबह लोगों ने देखा कि वह अखाड़े में मरे पड़े हैं।

हमारे पिताजी भूतों को नहीं मानते थे और लोगों से कहते थे कि भूत-ऊत कुछ नहीं होते। होते हैं तो दिखाओ। लोगों ने कहा—"होते हैं। बड़े बहादुर बनते हो और नहीं मानते हो तो चलो हमारे साथ श्मशान में तथा गाड़कर दिखाओ वहां खूंटा।" पिताजी अपने चार मित्रों के साथ खूंटा और हथौड़ा लेकर जा पहुंचे और खूंटा गाड़कर दिखा दिया। लौटने लगे तो एक आदमी चिल्ला उठा—"भूत-भूत ! देखो, उसने मेरी धोती पकड़ ली है।" पिताजी सहित सब लोग भाग खड़े हुए, क्योंकि सचमुच धोती किसी ने पकड़ ली थी। मित्रों की सहायता से वह आदमी गाव में तो आ गया, परंतु बुखार में पड़ गया। सुबह जाकर देखा तो रात के अंधेरे में धोती का छोर खूंटे के नीचे आ गया था और खूंटे के साथ ही जमीन में धंस गया था। खूंटे के साथ धोती मैदान में पड़ी हुई थी। पिताजी ने लाख समझाया, दिखाया, पर लोग नहीं माने। कहने लगे कि यह भूत की ही करामात है—"ऊधो, मन-माने की बात।"

हमारे ननिहाल में भूतों की बड़ी मान्यता थी। वहां घर के दादा, परदादा, लक्कड़ दादा और सकल दादा मरकर भूत बन गए थे। गांव के छोर पर उनके लिए थान (स्थान) बना दिया गया था। उस पर आए दिन चादर चढ़ा करती थीं। शीरनी के बताशे बंटा करते थे। मरनेवालों के एक मित्र सैयद भी थे। जब चादर चढ़ाने के लिए हमारी नानी, मामियां जाया करती थीं तो गाती चलती थीं—"सैयद मेरो लाढ़लो। याकी आंचर ढोरुंगी ब्यार।"

ननिहाल के ये घर के भूत अपने नाती-पूतों के सिर पर भी आया करते थे। मैंने कई बार यह दृश्य देखा है कि घर के आंगन में जगन्ना (जागरण) होता रहता। औरतें गीत गाती रहतीं। अरदासी लोग बैठे रहते। जोत जलती रहती। सामने गद्दी बिछी होती। मध्यरात्रि होते ही बाहर हुक्के के लिए चिलम भरते मेरे तगड़े मामा अचानक डमरू की डमकार पर हुंकार भरते। चिलम फेंक देते। आदमकद दीवार को उड़कर लांघ जाते और भारी भीड़ के बीच में ठीक अपनी गद्दी पर छलांग मारकर घुटनों के बल बैठ जाते। सिर के बल झुकते और उठते जाते और हूं-हूं करने लगते। महिलाएं और मर्द कहने

लगते–"बाबा आ गए ! बाबा आ गए !" कोई पूछता–"छोरा की आंख आ गई हैं। बाबा, कैसे ठीक होंगी ?" बाबा कहते–"नीम की डाली का झाड़ा दे। परसों ठीक हो जाएंगी।" कोई बुढ़िया अपनी बहू को आगे करके कहती–"बाबा, तीन साल हो गए। इसके बच्चा नहीं हुआ।" बाबा बताते–"इसकी कोख पर चुड़ैल बैठी हुई है।" बुढ़िया घिघियाकर कहती–"बाबा, मारकर भगाओ इस रांड़ को।" बाबा जोर से जमीन पर झापड़ मारते। दूर बैठी हुई बहू चीख उठती। जय-जय की धुन गूंज उठती। बाबा ने चुड़ैल मारकर भगा दी। कोई परदेस जाने का मूहूर्त पूछता। कोई बेटी के ब्याह के लिए वर मांगता। कोई अपने आर्थिक कष्ट की बात कहता। बाबा सिर झुकाते और उठाते, सभी शंकाओं का समाधान करते और सवालों के जवाब भी देते। उनकी अधिकतर बातें सही भी हो जाया करती थीं। मामा अनपढ़ किसान थे। लेकिन उस समय न जाने कहां से उनमें बल और बुद्धि आ जाया करती थी। मामा को लोग 'घुड़ला' कहते थे। जिसके सिर पर भूत सवार होकर आता है उसे घुड़ला ही कहा जाता था। जब भूत उतर जाता था तो चिरंजी मामा निढाल हो जाते थे। उनके घुटने और कुहनियां फूट जाती थीं। सिर में गोले पड़ जाते थे। कमर दोहरी हो जाती थी। दो लोग पकड़कर उठाते तो उठ पाते थे। उन्हें माचे (बड़ी खाट) पर लिटा दिया जाता था। ऊपर से खोर उढ़ा दी जाती थी। भूतई भाषा में "खोर-खुटक" उस विपत्ति को कहते हैं, जो भूतों द्वारा ही मनुष्य पर आती हैं और उन्हीं के द्वारा दूर की जाती हैं। बाहर के भूतों को घर के भूत एक हांडी में बंद करके उसे दूर जंगल में गहरे गढ़वा दिया करते थे। इस प्रक्रिया को 'गढ़ंत' कहते हैं। इसी तरह की एक क्रिया 'उतारा' भी होती थी। इसके द्वारा मनुष्य पर चढ़े विराने भूत को या भूतनी को उतारा जाता था।

एक बार जब मैं ऐसे ही जगन्ना के समय मौजूद था और उम्र रही होगी यही कोई सात-आठ साल की तो मेरी नानी ने सिर पर आए हुए बाबा से कहा–"बाबा, यह नवासा (लड़की का लड़का) आया है। आपको दंडौत कर कर रहा है।" बाबा ने पूछा–"यह किसका लड़का है ?" नानी ने कहा–"आपकी परपोती चमेली का।" बाबा ने अपना दाहिना हाथ ऊपर किया। मुट्ठी बांधी और फिर मेरी हथेली पर खोल दी। कुछ हरी-हरी किशमिशें थीं उसमें। पहली घटना राधाकुंड की थी और यह घटना भरतपुर की। राधाकुंड के मामा तो अपढ़ देहाती थे, लेकिन यह भरतपुरिया महाशय यानी घुड़ला पढ़े-लिखे थे और एक स्कूल में मास्टर भी थे। तब मैंने हिप्नोटिज्म का नाम नहीं सुना था। मुट्ठीभर किशमिशें एक साथ खाईं तो मजा आ गया। मजा ही नहीं आया, भूतों के अस्तित्व पर विश्वास भी हो गया। अब आप भी यकीन कर लीजिए न !

लेकिन फिर भी मेरे पिताजी को यकीन नहीं हुआ। बोले–"ये सब भूत-पोंगड़े हैं। आदमी की जैसी मति होती है, वैसी ही गति भी हो जाती है। ईश्वर को माननेवाले उसकी शरण में पहुंचते हैं और देवी-देवताओं को माननेवाले मरकर उनके पास जाते हैं। इसी तरह भूतों को माननेवाले भी भूत बन जाया करते हैं।" मेरे मन से भूत-भावना भगाने और ईश्वर-भक्ति में लौ लगाने का उनका यह अनुपम तरीका था। उनके इस तर्कपूर्ण विश्वास को मैंने चरितार्थ होते हुए भी देखा। दूर नहीं, अपनी ननिहाल में ही। मेरे नानाजी

के परिवार को राधाकुंड छोड़कर भरतपुर भागना पड़ा। क्योंकि हर रात उनके आंगन में भूत अंगारे बरसाया करते थे। मेरे बड़े मामा कुंजविहारी के हाथ-पैरों की अंगुलियां गल गई थीं। उन्हें इस भूत-प्रकोप के कारण राधाकुंड से मिर्जापुर भागना पड़ा। मेरे छोटे मामा मुरलीधर ने फिर भी भूतों के प्रति अपनी आसक्ति नहीं छोड़ी। वह अपने बावाओं के लिए शीरनी और उनके मित्र सैयद के लिए एक मुसलमान गड़रिये को बुलाकर थान पर चढ़ाकर कलेजी खिलाया करते थे। भरी जवानी में वह भी चल बसे। उन्हें रक्तशोथ हो गया था। मुंह एकदम सूजकर लाल पड़ गया था। यह बात तब की है जब मैं तेरह-चौदह साल का था। मथुरा में आर्यकुमार सभा का सदस्य भी बन गया था। मैंने मामा को समझाया कि भूतों के चक्कर को छोड़ो। भूतों को भगाने के लिए अंत में वह हनुमानजी की शरण में गए। हर मंगलवार-शनिवार को चोला चढ़ाते और सुंदरकांड का पाठ करते। लेकिन तब तक बहुत देर हो चुकी थी। मेरे दोनों मामा भूतों के ही चक्कर में गए। मेरी मां को भी अंत समय इलाज कराने वे अपने यहां ले गए। नानी ने बताया कि मरते समय वह बड़े जोर से चीखी थीं। उनका कहना था कि उनकी जान किसी भूत ने ही ले ली। मेरे नाना नंदनजी रासधारी ने अपने जीवन में बड़े-बड़े स्वांग भरे थे। बुढ़ापे में जब कभी उन्हें खीर खानी होती तो भूत का भी स्वांग भरते थे। भरतपुर में अपने गोपालजी के मंदिर के आंगन में बैठे वह एकाएक हूं-हूं करने लगते थे। लोग दौड़ पड़ते कि बाबा के सिर पर बाबा आ गया है। बहुत-सी बातें पूछीं और बताई जातीं। लेकिन तोड़ यह होता कि नानाजी के सिर पर बाबा नहीं, कोई 'क्वांरा भरूआ' होता। क्वांरा भरूआ उसे कहते हैं जो बिना शादी के ही मर कर भूत बन जाए। नानाजी का यह क्वांरा भरूआ कहता—"सब ठीक हो जाएगा। मुझे खीर खिलाओ।" घर में खीर बनती और मेरे भी मजे आ जाते। भगवान करे ऐसे भूत मेरे सभी आतिथ्यों के सिर आया करें।

स्वस्तिस्तते कुशलमस्तु चिरायुरस्तु

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

दियौ काठ में पांय

पैरों में पीला पायजामा। ऊपर लाल रंग का झंगा। मुंह पर पोती गई हल्दी। आंखों में मोटा-मोटा पटलीदार काजल। रोली की भरवट। कानों में वाले। सिर पर पीले रंग की पगड़ी। उसमें फंसाया गया पीतर पन्नीदार मौर। चेहरे को ढके हुए फूलों का सेहरा। कमर में पटुका। उसमें खोंसी गई कटार। हाथ में पकड़ा दिया लोहे का छड़वाला एक छल्लेदार बेंत। नाम धर दिया दूल्हे राजा। ऐसा राजा जिसे अधिक वोलने, जोर से हंसने और अकेले-दुकेले निकलने की इजाजत नहीं थी। ऐसा राजा जिसे हुकुम देने का नहीं, मानने का आदेश था। पत्तल साफ करने का नहीं, उसमें जूठन छोड़ने की ताकीद थी। जिसे पराई क्या, अपनी भावी पत्नी तक की ओर देखने की मनाही थी। वह आदमी नहीं गुड्डा था। गुड्डा क्यों, आज की भाषा में कार्टून था। यह और कोई नहीं स्वयं मैं था। जब मैं मातृ-वियोग में नाशाद था, तब मेरी शादी हो रही थी। पत्नी तेरह वर्ष की और मैं पंद्रह से थोड़ा ऊपर। मातृ-विछोह के दुःख से, शिक्षा अधूरी रह जाने के रंज से, पत्नी को खिलाऊंगा क्या, इस गम से गमगीन था तो मेरा आरता हो रहा था। परिचित-अपरिचित महिलाएं गा रही थीं–

झारे झमकन बरसेगौ मेह,
झमकारेन मागर वाजैगौ।
तुम वैठो लाढ़-लढ़ी के चौक,
तिहारी बहन करैगी आरतौ।
भातइया के पूजेंगे पांव,
काहर लादौ है लादनौ।
लादी-लादी है मुहर पचास,
रूपइया तौ लादें हैं डेढ़ सौ।

चौकी पर विठाकर मेरा आरता उतारा जा रहा था, पर मेरे बहन कहां थी ? वह तो डेढ़ वर्ष की अवस्था में ही गुजर गई थी। मुझे लाड़ लड़ानेवाली मां कहां थी, उसे गुजरे तो एक वर्ष भी नहीं बीता था। भातई कहां थे, वह तो अपनी बहन के गुजरने के गम में आए ही नहीं थे। कैसी मोहरें और कैसे रुपये ? पचास मोहरों और डेढ़ सौ रुपयों के बजाय रह-रहकर मेरी आंखों से अनगिनत आंसू गिर रहे थे। आजकल जितने रुपयों में विवाह के निमंत्रण-पत्र भी नहीं छप पाते, उतने रुपयों में मेरी पूरी शादी हो गई। यानी कुल साढ़े सात सौ रुपये में।

बारात चली बस में बैठकर हिन्डौन। बयाना से आगे जयपुर राज्य की एक तहसील में। नदी-नाले पार करते हुए सुबह से चले और अंधेरा हो आया तब जाकर कहीं पहुंचे। लड़की की पहली शादी छूट गई थी। इसलिए ससुरालवाले परेशान थे कि बारात क्यों नहीं आई ? कहीं ये संबंध भी तो टूट नहीं जाएगा। हम पहुंचे तो उनकी जान में जान आई। तालाव के किनारे एक मंदिर में ठहराया गया। चाय का प्रचलन नहीं हुआ था। दूध-शक्कर का शरवत पिलाया गया। गिलास और कुल्लड़ों में नहीं, ओक लगाकर। जो जितना चाहे उतना पी ले।

वारात मथुरा की थी। इसलिए भांग-टंडाई का इंतजाम किया गया। तांवा भरनी भांग (तांवे के बर्तन में औटाई हुई) छनी। थोड़ी नहीं, पूरी सेर-भर भांग। पानी की जगह दूध मिलाया गया था। शक्कर, काली मिर्च और इलायचियों ने इसे वेहद सुस्वादु बना दिया था। रंग लगाकर छानी गई और ओक लगाकर कंठ में उतारी गई। तालाव में नहाने के वाद ऐसी चढ़ी-ऐसी चढ़ी कि कुछ पूछो मत। वारातियों को पता नहीं था कि वे कहां हैं और क्या कर रहे है ? पिताजी को पता नहीं था कि फेरों का सामान कहां रखा है और कौन-सा है ? चाचाजी हंसे ही हंसे चले जा रहे थे। मुझे भी जवरन थोड़ी-सी पिला दी गई थी। लेकिन मैं कुछ-कुछ होश में था। रह-रहकर यही सोचे जा रहा था कि कहीं कुछ ऐसा न हो जाए कि दूल्हे राजा की किरकिरी हो जाए।

जनवासे के दरवाजे पर दम-दम और भौं-भौं, पैं-पैं होने लगी थी। मुश्किल से वाराती तैयार हुए। मुझे तो आदमियों ने पकड़कर पालकी पर वैठाया। गैस के हंडे कहां थे, मशालें चलने लगीं। कुछ तो भांग का सुरूर, कुछ उबड़-खाबड़ रास्ता। वाराती उठ-उठकर गिरने लगे। मुझे ऐसा लग रहा था कि पालकी आगे की ओर नहीं, पीछे की ओर लौट रही है। खैर, जैसे-तैसे बारात वेटीवाले के दरवाजे पर पहुंची। आधा हिंडौन शहर, जिसमें नाजिम सहित बड़े-बड़े अफसर भी थे, स्वागत के लिए आया हुआ था। हवेली की छत पर महिलाएं गा रही थीं। गौखां और खिड़कियों से किशोरियां झांक रही थीं। क्या पता इनमें मेरी पत्नी भी रही हो।

मुझसे तोरण मारने को कहा गया। नकली राजा था न ! बारात लेकर चढ़ाई करने आया था न ! तब मुझे दरवाजे पर लगी चिड़ियों जैसी लकड़ी की एक पट्टी को अपना कटार छुवाना जरूरी था। तोरण ऊंचा था, कटार छोटी पड़ी। मैंने लोहे के बेंत से उस नकली तोरण को खींचकर जमीन पर डाल दिया। बारातियों ने खुश होकर तालियां बजाईं। बारातियों ने भी समझा होगा कि लड़का दमदार नहीं, समझदार भी है। अंग्रेजी बाजे फिर

भौं-भौं, पैं-पैं कर उठे। तब-तक गोधूली की विवाह वेला निकल चुकी थी। हमें सीधे विवाह मंडप में ले जाया गया। ब्राह्मणों की बारात थी। जैसे नाइयों की बारात में सब ठाकुर ही ठाकुर होते हैं, वैसे ही ब्राह्मणों की बारात में, वह भी मथुरा की, पंडित ही पंडित थे। लड़कीवालों का एक बूढ़ा पंडित और बारात के पच्चीसों पंडित जोर-जोर से मंत्रोच्चार करने लगे। मथुरा के लड्डुआ खानेवाले बाराती पंडितों ने हिंडौन के अकेले बूढ़े पंडित को नक्कारखाने की तूती बना दिया। दूल्हे राजा भी इस विजय-गर्व से गद्‌गद हो गए। कहां मथुरा के मल्ल और कहां हिंडौन के रूखे-सूखे, भोले-भाले, दीन-हीन घराती। लेकिन देखते-ही-देखते यह गर्व गरूर काफूर हो गया। भांग का सुरूर भी थर्मामीटर के पारे की तरह पिचानवे डिग्री पर आ गया। अगहन का महीना था। शुक्ल पक्ष की एकादशी की रात थी। ठंड बढ़ने लग जाती है इन दिनों। लेकिन मुझे पसीने आ गए। मैं विवाह मंडप में एक पटरे पर बैठा था। मैंने देखा कि कन्या के रौबदार बाबा जिनकी भीष्म पितामह के समान श्वेत दाढ़ी थी और कमर में हरदम तलवार बंधी रहती थी, उनकी आंखों से झर-झर आंसू झर रहे थे और बार-बार वह उन्हें साफे के छोर से पोंछते जाते थे। कन्या के चाचा की भी हिलकियां बंध गई थीं। अंदर मेरी सास भी कुछ अधिक जोर से रो रही थीं। नाई जब भावी वधू को गोदी में उठाकर मेरी बगल में बैठाने ला रहा था तो सौभाग्यकांक्षिणी का रोना-विसूरना और मेरी बगल में बैठकर भी हिचकियां लेना लगातार जारी था। मैंने किसी शादी में ऐसा दृश्य नहीं देखा था। एकाएक लगा कि शायद इन सब लोगों ने मुझे पसंद नहीं किया है। कन्या मांसल थी और उसके जो अंग खुले दिखाई दे रहे थे वे निश्चय ही गोरे और सुंदर थे। वह कमर झुकाकर बैठी थी। मुझे लगा कि शायद वह मुझसे अधिक लंबी है। मैं घबरा गया कि कहीं ये रुदन समारोह विवाह-विच्छेद में तो परिणत नही हो जाएगा। मेरे सोच में कुछ तो कवि-कल्पना थी और कुछ भांग का खुमार भी था। यह भी सच था कि मां के न रहने और पिताजी के 'परदेस दूर गमन' के कारण मेरे खान-पान, कुश्ती-कसरत में कमी आ गई थी। भविष्य की चिंताओं के कारण मेरा गोरा रंग पक गया था। भरा हुआ चेहरा लंबोतरा हो गया था। मैं हीन-भाव से ग्रस्त हो गया, पर चुपचाप मौन साधे बैठा रहा। लेकिन तब तो हद हो गई, जब मेरे चचिया श्वसुर और चचिया सास ने कन्या का हाथ मेरे हाथ में हथलेवा के साथ दिया। पत्नी एकाएक बड़ी जोर से चीख उठी। दूसरी ओर से मेरी सास की भी हिचकियां बंध गई। मेरा मन हुआ कि हाथ पर रखे हुए हाथ को उठाकर खड़ा हो जाऊं और घोषणा कर दूं कि "आप रोते रहिए मैं तो चला।" कवि-मन में विद्रोह के स्वर उभरने लगे। युवक कांग्रेसी और आर्यकुमार सभा का सदस्य विद्रोही बनने को मचलने लगा। तभी दोनों ओर के पंडितों ने हम दोनों को खड़ा होने का आदेश दिया। हम खड़े हो गए और यंत्रवत् कपड़ों को बचाते हुए अग्नि के फेरे लेने लगे। पर मेरी दुविधा शांत नहीं हुई थी क्योंकि महिलाएं हर फेरे के बाद गा रही थीं—"अबहूं तो बेटी बाप की।" आखिरकार सात फेरे पूरे हो ही गए। मैंने चैन की सास ली। सोचा खतरा टल गया।

बाद में रोने-धोने का रहस्य मालूम हुआ। दो प्रमुख कारण थे इस रुदन-कांड के। पहला तो ये कि वहां ऐसी ही परंपरा थी कि लड़की रोती हुई आती थी और मंडप में

भी रोती थी। पत्नी का जब नकली रुदन थम गया और पाणिग्रहण की वेला आई तो कन्या के पीछे बैठी नाइन ने उसकी पीठ में चिकोटी काटी। मतलब था–"अरी रो ! भूल गई क्या ?" मेरे ददिया ससुर असमय अपने जवान बेटे के वेटे के उठ जाने के कारण, मेरे चचिया ससुर अपने समर्थ भाई की याद में और मेरी विधवा सास इस मांगलिक अवसर पर पति के विछोह के कारण विह्वल हो उठे थे। कन्या भी अपने पिता की याद में हिलकियां भर रही थी। धत् तेरी की ! समझा था कुछ और निकला कुछ। भांग के चुल्लू ने उल्लू बना दिया।

आगे चलकर मेरी समझ में एक बात और आई कि दूल्हे को पीला और ढीला पायजामा इसलिए पहनाया जाता है कि उसकी टांगें पतली या टेढ़ी हों तो वह उसमें छिप जाएं। झंगा इसलिए पहनाया जाता था कि लड़का लंबा और कद्दावर दिखाई देने लगे। चेहरे पर हल्दी और रोली की मरवट इसलिए लगाई जाती थी, यदि उसका रंग काला या पक्का हो तो वह छिप जाए। पगड़ी पर मौर इसलिए वांधा जाता था कि वह राजा लगने लगे और उसकी लंबाई अधिक वढ़ जाए। काजल इसलिए मोटा-मोटा लगाया जाता था कि आंखें बड़ी-बड़ी लगने लगें। इसका एक सामाजिक कारण भी था। ये पोशाक उस समय सभी गरीब-अमीर दूल्हे राजाओं को पहननी पड़ती थी। यानी शादी में वर्ग-भेद परिलक्षित नहीं होता था। जिसे मैंने तब अपने को कार्टून समझा था, वह समाजवादी लोककला का एक उत्कृष्ट उदाहरण था, जो अव लुप्त हो गया है। आज की विवाह-शादियां तो धन-वैभव को प्रदर्शित करनेवाली और निम्न तथा मध्यम वर्ग पर व्यंग्य करनेवाली होती हैं। उनमें समाज के समतामूलक सिद्धांत का नितांत अभाव है।

वारात तीन दिन ठहरी। बदल-बदलकर नाश्ते, वदल-वदलकर मध्यान्ह भोजन और रात्रि के भोजन में मिठाइयों की भरमार। वारातियों को और क्या चाहिए ? वर की माता चाहती है दहेज, जो थी नहीं। पिता चाहते हैं सम्मान और पति चाहता है सुंदर पत्नी। लेकिन वाराती तो सिर्फ खातिरदारी चाहते हैं जो मेरे ससुराल पक्ष के लोगों ने खूब जमकर की। एक विशेष उल्लेखनीय वात और। दूसरे दिन वारातियों ने ढ़ाई सेर भांग छानी। मैंने कान पकड़ लिए। पिताजी और चाचाजी भी इधर-उधर हो गए। नशे में वारातियों ने कोई उत्पात तो नहीं किया, लेकिन मिठाई खाने में ऐसी होड़ लगी कि हिंडौनिए दंग रह गए। वारात में पंसेरा भी कई थे और ढाई सेर मिठाई खानेवालों की भी कमी नहीं थी। इस खातिरदारी से प्रसन्न होकर मथुरियों ने विदा होते समय नाच-गाने का ऐसा समां बांधा कि आज के भंगड़ा नाचनेवाले नवयुवक यदि इन प्रौढ़ों और बूढ़ों को नाचते-गाते देख पाते तो दंग रह जाते।

बारात विदा हुई। पत्नी हिंडौन से भरतपुर तक लगातार तीन घंटे रोती हुई आई और एक वाराती ऐसे लौटे कि उनकी भांग बड़े इलाजों के बाद छह महीने में जाकर उतरी।

पत्नी आईं। सुख-समृद्धि और सुहाग-भाग लेकर। जब वह आईं, तब हमारे विश्रामघाट के मंदिर का हमारा हिस्सा कच्चा और टूटा हुआ था। गौने के बाद एक रुपये महीने का जो कमरा पिताजी ने हमें दिलवाया था, उसकी छत टूटी हुई थी। मिट्टी भी झरती थी और पानी भी टपकता था। पत्नी आई मेरे लिए कर्मयोग की प्रेरणा लेकर।

मैंने नौकरियों पर नौकरियां बदलीं, शहर पर शहर बदले और अंत में दिल्ली आ पहुंचा। पत्नी हर दुःख-सुख में मेरे साथ रहीं। आज जो भौतिक और साहित्यिक यश की पूंजी मेरे पास है, वह पत्नी का ही प्रताप है। उन्हीं के भाग्य से मैं आगे ही आगे बढ़ता गया। मंदिर पक्का हुआ। मथुरा में अपना मकान बना। दिल्ली में गुलमोहर पार्क में कोठी भी बन गई। अपने जन्म-स्थान परासौली चंद्र सरोवर में एक ऊंचा शिखरदार तिमंजिला सरस्वती मंदिर भी बना। उसके साथ एक बना सुंदर सभागार। इसमें गांव की बारातें ठहरती हैं। पंचायतें होती हैं। उसके भीतर और बाहर छोटे-बड़े उत्सव होते हैं। कहना नहीं होगा—

"हम तो पाया परम पद, पत्नी के परताप।"

इसीलिए मैंने सार्वजनिक रूप से घोषित किया है—

पत्नी को परमेश्वर मानो,
यदि ईश्वर में विश्वास न हो,
उससे कुछ फल की आस न हो,
तो अरे नास्तिको, घर बैठे—
साकार ब्रह्म को पहचानो।
पत्नी को परमेश्वर मानो।

वे अन्नपूर्णा जग-जननी
माया हैं, उनको अपनाओ,
वे शिवा, भवानी, चंडी हैं,
कुछ भक्ति करो, कुछ भय खाओ।
सीखो पत्नी-पूजन-पद्धति,
पत्नी-अर्चन, पत्नीचर्या,
'पत्नीव्रत' पालन करो और
पत्नीव्रत शास्त्र पढ़ जाओ,
अब कृष्णचंद्र के दिन बीते,
राधा के दिन बढ़ती के हैं,
ये सदी बीसवीं है भाई,
नारी के ग्रह चढ़ती के हैं।

तुम उनका छाता, कोट-बैग ले,
पीछे-पीछे चला करो,
संध्या को उनकी शैया पर
नियमित मच्छरदानी तानो,
पत्नी को परमेश्वर मानो।

और इस तरह हिन्दी-साहित्य में 'जग्गो की जीजी' (मेरी पत्नी) के नाम से पत्नीवाद प्रचलित हो गया। वह मेरी संतानों की ही जननी नहीं, मेरे 'पत्नीवाद' की भी जन्मदात्री हैं। भगवान ऐसी पत्नी सबको दे।

मेरी ये–लाला अशर्फीलाल

औरत आदमी को तार भी देती है और मार भी देती है। चढ़ा भी देती है और उतार भी देती है। घर को स्वर्ग भी बना सकती है और नरक भी। आदमी बिना औरत के अपूर्ण है, आधा है। ब्रज के भक्त लोग कृष्ण-कृष्ण कम कहते हैं, राधे-राधे अधिक। गांववासी रात को पहरा देते हुए 'जागते रहो' कहने के स्थान पर 'जय राधे, श्री राधे' की टेर लगाते हैं। इतना ही क्यों, पवित्र गोवर्द्धन की सप्तकोसी परिक्रमा देते हुए मनसुखों की टोली यह टेर भी लगाती जाती है–"राधे ! बिना लुगाई आधे ! ! गर्ज पड़े तो ब्याह दे ! ! !"

आज्ञा हो तो अपनी पत्नी पर लिखने से पूर्व कुछ भूमिका और बांध दूं। वैदिक काल में पत्नी को आर्ये कहा जाता था। जब पति श्रीमान हुआ तो पत्नी श्रीमती हो गई। पति तो देवता नहीं बन सका, लेकिन पत्नी देवी हो गई। पति भले ही श्री-संपदा से युक्त न हो सका हो, पत्नी फिर भी गृहलक्ष्मी मान ली गई। शौहर भले ही बावर्ची हो, लेकिन घर-बाहर अपनी उनको दाअदव बेगम ही कहता है। साहित्य में आपने भी प्राणधन के साथ प्राणप्रिये और प्रियतम के साथ प्रियतमा के विशेषण अवश्य पढ़े होंगे। मैंने भी संबोधन के रूप में पत्नी को अनेक विशेषणों से याद किया है–

'ए जी' कहूं कि 'ओजी' कहूं ?
'सुनोजी' कहूं कि 'क्योंजी' कहूं ?
'अरे ओ' कहूं कि भाई कहूं ?
कि सिर्फ 'भई' ही काफी है ?

या 'जग्गो की जीजी' कह दूं ?
'ऐ शीला की साथिन' बोलो !
तुम 'चंद्रकला की चाची' हो !

तुम 'भानामल की भूआ' हो !
तुम हो 'गुपाल की वहू !'
कहो क्या कहूं ?

कि 'वुलवुल' कहूं कि 'मैना' कहूं ?
कि मेरी 'सोनचिरय्या' वोलो तो,
ये रसमय अपनी चोंच,
कोयलिया खोलो तो !

मैं 'हनी' कहूं या 'डियर' कहूं ?
या 'डार्ल' पुकारूं अंग्रेजी ?
या स्वयं देवता वन जाऊं,
और तुम्हें पुकारूं 'देवी जी' ?

कहा न कि पत्नी की महिमा अनंत है। जैसे प्रकृति के रहस्यों का पार नहीं पाया जाता, वैसे ही ऋषि-मुनि से लेकर साधारण और असाधारण कवि मर गए, मर रहे हैं और मर जाएंगे, फिर भी नारी के मन की पर्तों को खोल नहीं पाएंगे। इसलिए कह गए हैं कि "तिया चरित जानैं नहिं कोई।"

मैंने नायिका-भेद पढ़ा है। पदमिनी, चित्रणी, हस्तिनी और शंखिनी के गुण जाने हैं। मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा के पचासों लक्षण पढे है। उनमें एक आनंद सम्मोहिता भी हे और एक कलहनतरिता भी। लेकिन समय के साथ इन सव भेदों में छेद हो गए हैं। तब स्त्री क्या है ? वह जो अत्यंत गर्म होकर पतिरूपी वस्त्र को प्रेस करके फ्रेश वना देती है या वह जो उसकी कमीज के वटन तक नहीं टांकती ? क्या वह जो चुपड़ी और दो-दो आग्रह करके वार-वार परोसती जाती है या वह जो डाइनिंग टेविल पर वगल में वैटकर नौकर को हुक्म देती है कि खाना लगा दे ? आप चक्कर में न पड़ें। नारी वह भी है और यह भी है। वह राम की सीता भी है और एक प्रसिद्ध रूसी लेखक की वह पत्नी भी है जो गर्म चाय का प्याला पति के मुंह पर दे मारती थी।

आप इस तरह समझिए कि प्रेयसी कल्पना है, लेकिन पत्नी यथार्थ है। पत्नी काया है, माया है। वह वचाती है, बनाती है। वह अनुगामिनी है और अग्रगामिनी भी। सहचरी है, सहयोगिनी भी। संयोगिनी भी है और वियोगिनी भी। वह सुख की संगिनी है और दुःख में भी दूर नहीं। वह दवंग भी है और अवला भी। परंपरा भी है और प्रगति भी। क्या नहीं है वह ? औरों के लिए कुछ हो, मेरे लिए सव कुछ है। मैंने ऐलानिया कहा है-"पत्नी को परमेश्वर मानो।" भूमिका समाप्त। अव अपनी पर आता हूं।

मेरी पत्नी ने काया कुछ अधिक ही अच्छी पाई है। लंवी, मजबूत, गोरी, सुचिक्कण, मांसल, किन्तु रोमांसल नहीं। राजस्थान के हिंडौन कस्वे से राजधानी दिल्ली तक आ पहुंचीं, लेकिन न इन्होंने ऊंची एड़ी की सैंडल पहनी, न उल्टे पल्ले की साड़ी। लंबे-लंबे बालों को कटवाना तो दूर, न जूड़े में गजरे बांधे न दो चोटियां बनाईं। न ओठों पर सुर्खी, न

चेहरे पर पावडर। न माथे पर तरह-तरह की टिकुलियां। न बाजार जाकर मनपसंद साड़ी खरीदी। मैंने नख से शिख तक जेवर बनवाकर दिए, पर ये बामनी कभी सुनारी (स्वर्णकार की पत्नी) नहीं बनी। फिर भी इनकी रूपराशि हजारों में एक है। जिस समय मैं यह लेख लिख रहा हूं, मेरी आयु सतहत्तर की सीमा को छूने वाली है और ये पिचहत्तर के लगे-ढगे हैं। लेकिन बहू-बेटियां जो भी पहना देती हैं वह उन्हें फबता है। यद्यपि बाबा तुलसीदास लिख गए हैं–"मोंहि न नारि नारी के रूपा।" परंतु अशर्फी तो अशर्फी ही है। आज भी नारियां उन्हें मुग्धभाव से एकटक निहारती रहती हैं। मेरे लिए तो ये "गुल लाला" हैं और जब मैं मूड में होता हूं तो इन्हें लाला कहता हूं। जब ब्रज की मस्ती सवार होती है तो इन्हें 'रडुआ पछाड़" कहकर छेड़ा भी करता हूं।

विचित्र संयोग है कि मैं भी इकलौता और ये भी इकलौती। जब शादी हुई तो मेरी मां गुजर चुकी थीं और इनके पिता परलोक सिधार चुके थे। लेकिन लाला की लीला देखिए कि ये सास बनीं, दादी बनीं, नानी बनीं, परदादी बनीं और क्या पता परनानी भी बन जाएं। अकेली आई थीं, अब पच्चीस परिवारियों की 'अम्माजी' हैं। दस बच्चे हुए। इनमें से छह नजर के सामने हैं। और माया ? जब गौने पर आई थीं तो सबसे ऊपर की छत पर एक कमरा था रहने को। उसकी भी सोट नीचे लटकी हुई थी। बरसात में पानी और जाड़ों में सर्द हवा। पिताजी के मंदिर की भी यही हालत थी। दिल्ली में शुरू-शुरू में हम एक टीन की छत के नीचे रहते थे। इनकी सूझबूझ, इनका परिश्रम, शाक-भाजी से बचाए हुए पैसे, छोटे-मोटे कहने भर को आभूषण, पर गृहलक्ष्मी की माया ऐसी फैली कि मथुरा में भी एक मकान बन गया और दिल्ली में भी। पिताजी का मंदिर भी तिमंजिला हो गया। इन्होंने रुपये जोड़-जोड़कर मंदिर में संगमरमर भी ठुकवा दिया। हमारे गांव का पुश्तैनी घर जो गिरकर भूमिसात हो गया था और वहां बबूल-छोंकरें उग आए थे, वहां व्यास-जन्मस्थान बन गया और ऊंचे शिखरदार संगमरमरी मंदिर में मां सरस्वती विराजमान हो गई। लक्ष्मी तो गृहलक्ष्मी के भाग्य की ही होती है।

अपने राम तो सदा से निठल्ले और अल्हड़ रहे हैं। यश की कामना तो की, अर्थ की नहीं। सृजन के प्रति तो आसक्त रहे, पर धन के अर्जन के प्रति निरासक्त। घी घना में भी मस्त और मुट्ठी-भर चना में भी मस्त। परंतु अशर्फी देवी तो जिस दिन पैदा हुई थीं, इनके पिता एक थैली में भरकर अशर्फियां लाए थे। इनके सामने अपने पितृकुल की समृद्धि का स्वप्न था कि किस तरह उनके परिवार में सोने के ठोस वाराह-अवतार की पूजा होती थी। कि किस तरह उनके परदादाओं को अपने पिता के द्वारा सवा-सवा सेर सोना और एक-एक बोरी रुपया देकर अलग किया गया था। कि किस तरह उनकी परदादियों को नवरत्नों से जड़ी एक-एक नथ उपहार में दी गई थी। इसलिए इन्होंने हमारे फक्कड़पन को बदलने की ठान ली। सुबह-शाम कोंचने लगीं। पड़ौसियों और रिश्तेदारों के उदाहरण देने लगीं। अपने राम तो मथुरा में ही पड़े रहते, इन्होंने ही आगरा ठेला। आगरा की कमवेतनी नौकरी पर भी हम संतुष्ट थे, इन्होंने ही हमारे मन में असंतोष जाग्रत किया। इन्होंने ही कष्टों की परवाह न करके दिल्ली रवाना किया। हम तो दिल्ली की फ्रीलांसिंग से भी संतुष्ट हो गए थे, परंतु ये संतुष्ट होनेवाली ब्राह्मणी नहीं थीं–बंधी हुई

आमदनी के लिए नौकरी करो। लिखने का शौक है तो किताबें लिखो। घर में नहीं तो पड़ोस में जाकर लिखो। किताबें छपाओ और लाओ। कवि-सम्मेलनों में जाओ, लाओ और लाओ। बिरलाजी से मिलो और कहो। राजबहादुरजी तथा जगजीवनरामजी तुम्हें मानते हैं, उनसे काम निकालो। युद्धवीर सिंह कोयले का परमिट दे रहे हैं, ले क्यों नहीं लेते ? अब तो शास्त्रीजी प्रधानमंत्री वन गए हैं, खाली पद्मश्री लेकर क्या चाटोगे ? कहूं कि प्रेरणा भी दी। प्रोत्साहन भी दिया। भर्त्सना भी की। अभावों का रोना भी रोया। ऐसे करते-करते अपनी छहों संतानों को पाल लिया। पढ़ा-लिखा दिया। कामों पर लगवा दिया। धूम-धड़ाके से शादियां कर दीं।

ये कभी वर्तमान से संतुष्ट नहीं रहीं। भविष्य की चिंता इन पर सदा सवार रही। हरदम यही कहती रहीं कि बुढ़ापे में क्या खाओगे ? इसकी फिक्र करो, उसकी फिक्र करो। मुझ आसमान की ओर ताकनेवाले को इन्होंने धरती दिखा दी। विरक्त पिता के पुत्र को घोर संसारी और गांधीजी व टंडनजी वाले आदर्शोन्मुखी को व्यवहारी बनाने में इन्होंने कोई कसर नहीं छोड़ी। आज जो कुछ भी है, वह मेरा नहीं, इनका है। इनका गढ़ाया हुआ है। इनका वनाया हुआ है। हम तो 'निमित्त मात्रेण भव सव्य साचिन' ही हैं।

एक बात और कि व्रज के वातावरण ने, रीतिकालीन कविता की परंपरा ने हमें जो स्वभाव से रसिक बना दिया था और जब व्यंग्य-विनोद की कविता का ग्लैमर हम पर चढ़ा तो कामिनियां और कैरियर वनानेवाली छोकरियां डोरे डालने लगीं। कहना नहीं होगा कि इनके रूप-शील-गुण के अतिरिक्त इनकी पैनी नजर और दबंग व्यक्तित्व के कारण मैं पतन के गर्त में गिरते-गिरते कई बार बचा हूं। ये उड़ती चिड़िया को दूर से ही भांप लेती थी और उसे फुर्र कर देती थीं। इसीलिए मैंने आपको 'पत्नीव्रत पालक' लिखकर संतोष किया है।

मेरी पत्नी भली तो हैं, लेकिन क्या विडंबना है कि हास्यरस के लेखक की पत्नी को कभी खुलकर हंसी नहीं आती। हमेशा शालीन और गंभीर मुद्रा में रहती हैं। राजस्थानी हुकूमत की बू इनकी नस-नस में है। उसका प्रयोग ये बेटों पर ही नहीं, मुझ पर करने से भी नहीं चूकतीं। बहुओं को तो ये बेटियों के समान मानती हैं। बेटों से कहती रहती हैं कि जिस घर में बहुएं दुःखी रहती हैं, वह घर-परिवार कभी सुखी नहीं रह सकता।

पुराने संस्कारों की ये महिला ज़माने के साथ जिस तरह बदली हैं उसे देखकर सुखद आश्चर्य होता है। बहुओं और बेटियों को बढ़ावा देती रहती हैं कि जो गलती हम लोगों ने की वह तुम मत करना। देश का यह नारा अक्सर उनकी जुबान पर रहता है—"छोटा परिवार, सुखी परिवार।" भगवान ने जो प्यारे-प्यारे बच्चे दिए हैं उन्हें ही पालो, पढ़ाओ और काबिल बनाओ। इतना ही नहीं वे बहुओं और बेटियों को यह प्रेरणा भी देती रहती हैं कि वह जमाने गए जब एक कमाता था और दस खाते थे। आजकल एक की कमाई से पूरा नहीं पड़ सकता। तुम पढ़ी-लिखी हो। व्यापारी घराने की हो। नौकरी करो। रोजगार करो। बेटे-बहुओं को ये पुरानी सासों की तरह रोकती-टोकती नहीं। अपने-अपने मालिकों के साथ कहीं भी जाओ, कुछ भी पहनो, लेकिन अपने श्वसुर और माता-पिता की प्रतिष्ठा का ख्याल रखकर चलो। नाती-पोतों से अंग्रेजी के शब्द सीखने की कोशिश करती हैं।

मैं अखबार सुनता हूं तो पास आकर बैठ जाती हैं और सोने-चांदी के भावों के साथ-साथ देश, दुनिया के हालचाल भी सुनती हैं और अपनी राय बनाती हैं। चुनावों में वोट देती हैं, लेकिन आमतौर से यह नहीं बतातीं कि किसे देंगी ? देश के नैतिक पतन पर, महिलाओं के शोषण पर, महिलाओं की बुराई करने पर, महंगाई पर और नेताओं के कारनामों पर खुलकर टिप्पणी करती हैं। मैंने 'सलवार चली' कविता लिखी। कविता में इनको भी सलवार पहना दी। लेकिन ये मुसलमानी और पंजाबी मोहल्लों में रहकर भी इसे नहीं अपना सकीं। शादी से पहले मुझे सूचना मिली थी कि लड़की गोरी है। बड़ी-बड़ी आंखे हैं। चेहरा गोल है। दर्जा चार में पढ़ रही है। पर पढ़ी सिर्फ इतनी हैं कि रामायण बांच लेती हैं और बहुत जरूरी होने पर चिट्ठी भी लिख लेती हैं। जोड़-बाकी तो आते हैं, गुणा-भाग नहीं। सौ का नोट बन जाने में कितने रुपये बाकी हैं यह बता सकती हैं। जोड़ी हुई रकम कितनी है, इसका हिसाब तो किसी को नहीं बतातीं, लेकिन मन ही मन जोड़ लगाती रहती हैं। घर की किसी चीज को बाहर नहीं फेंकती। आलपिन से लेकर डिब्बी-डिब्बे, कनस्तरी-कनस्तर, लोहे का कबाड़ तो क्या लकड़ी की फंसट तक को संभालकर रखती हैं। कबाड़ी को मेरे अखबारों की रद्दी बेचती हैं, बाकी कुछ नहीं। कागज उनके लिए रद्दी ही है। भले ही उनमें मेरी रचनाएं, आयोजन के समाचार या चित्र ही क्यों न छपे हों, इससे इन्हें कोई सरोकार नहीं। इनके पास सास के जमाने की वस्तुओं और साड़ी-कपड़ों का एक अच्छा-खासा संग्रहालय भी है। वह दर्शकों के लिए इनके न रहने के बाद ही देखने को सुलभ होगा। कभी बहुत सुरीला गाती थीं। नाचती भी थीं। एक बार जब सूरस्थली की यात्रा पर प्रमुख साहित्यकारों एवं हिन्दीप्रेमियों के साथ ये भी गई थी, तब गोवर्धन में दानघाटी के गिरिराजजी के दर्शन करके इनका हिया उमड़ पड़ा और मूर्ति के सम्मुख ऐसी नाचीं, ऐसी नाचीं कि लोग आश्चर्यचकित हो गए। जिस गीत पर नाचीं, उसके बोल थे—"श्री गोवर्धन महाराज, तेरे माथे मुकुट विराज रह्यौ।"

भक्ति-भावना की बात चली तो बताऊं कि ये प्रतिदिन मानसी रूप में अपने मथुरा के मंदिर श्रीराधा-दामोदर के दर्शन करने जाती हैं और उन्हें माला पहनाती है। गुलमोहर पार्क में पलंग पर लेटे-लेटे ही मथुरा की यमुना का आचमन करती है, द्वारिकाधीशजी की मंगला करती हैं तथा हमें पता भी नहीं चलता कि वे वृंदावन पहुंच जाती है और बांकेबिहारी की छवि निहारने लगती हैं। फिर पलंग पर बैठकर आंखें बंद कर लेती है। मैं पूछता हूं कि क्या सोच रही हो ? तो बताती हैं कि गोवर्धन की सप्तकोसी परिक्रमा करके लौटी हूं। फिर हाथ जोड़कर प्रार्थना करती हैं कि हे प्रभो, पहले सबका भला करना, पीछे हमारा। सिवाय द्वारकापुरी के देश के सभी तीर्थ कर आई हैं। अब पैरों में शक्ति नहीं रही। ब्लड प्रेशर ने आंखें भी खराब कर दीं। रक्ताल्पता के कारण मस्तिष्क में भी खून का प्रवाह रुक-रुक जाता है और बड़ी असह्य पीड़ा से गुजर रही हैं आजकल। इनके कारण अब भगवान में ध्यान कुछ ज्यादा ही लग गया है। अब मेरी जेब नहीं कटती। ताने-तिश्ने और तकाजे भी बंद हो गए हैं। क्रोध भी समाप्त हो गया है। लोभ भी जाता रहा। लेकिन मोह और चिंता ने इनका साथ अभी भी नहीं छोड़ा है। मेरे स्वास्थ्य को लेकर ही नहीं, परिवार के हर सदस्य की चिंता इन्हें सालती रहती है। कौन आया ? कौन गया ? किसने

खाया ? किसका अनशन है ? किसकी किससे बन रही है ? किसकी किससे बिगड़ रही है ? ये बेकार की चिंताएं नहीं छोड़ पाई हैं। इसलिए शारीरिक ही नहीं, मानसिक रोग से भी ये अकारण ग्रस्त हैं।

ऊपर मैंने ज्ञान-ध्यान की बातें कहीं। अब कर्मकांड। प्रतिदिन आटे की एक लोई बनाकर उन दूधियों की गायों को खिलाती हैं, जो उनका बूंद-बूंद दूध निचोड़कर और पानी मिलाकर ऊंचे दामों पर बेचते हैं और गोमाताओं को दुहकर खुली चरने छोड़ देते हैं—चाहे जहां मुंह मारो और शाम को बछड़े-बछियों के मोह से दूध देने के लिए घर लौट आओ। पहले पिछली रोटी कुत्तों के लिए डालती थीं। अब गुलमोहर पार्क में चार पैरोंवाले कुत्ते रहे ही नहीं। लेकिन चिड़ियों के लिए दाना डालना जारी है। गर्मियों में पानी के घड़े भरवाकर दरवाजे पर रखवा देती है। जो प्यासों से अधिक बच्चों के खेलने और तोड़ने के काम आते हैं। अतिथियों की सेवा तो प्रायः सभी भारतीय महिलाएं करती हैं, पर हमारी श्रीमतीजी घर पर आए किसी भी मांगनेवाले को खाली हाथ नहीं जाने देतीं। भले ही वे रंगे कपड़ोंवाले कपट मुनि हों या झूठी रसीदों पर चंदा उगाहनेवाले पेशेवर समाजसेवी अथवा बैल के साथ शंख फूंकनेवाले कोई ढोंगी योगी महाराज! कई लोग तीर्थों के पंडे बनकर इनके पास आ जाते हैं और दक्षिणा पा जाते हैं। जब मथुरा या गोवर्धन जाती हैं तो मेरे कुर्ते, पाजामे, धोती, टोपियां, अपनी और बहुओं की साड़ियां बटोरकर ले जाती हैं और उन्हें जरूरतमंदों में बांट आती हैं। मथुरा और परासोली के हमारे मंदिरों की सेवा-पूजा और उत्सवों के लिए इनके हाथ खुले हुए हैं। मेरे सिवाय ये सबको देती है। मेरे लिए इनके कोश में आजकल सिर्फ दो ही शब्द हैं—कंजूस और कंगाल।

ये मेरी ब्रजभाषा और हिन्दी की सेवा को निरर्थक मानती है। कहती हैं कि जवानी ब्रज साहित्य मंडल को दे दी और अब तक हिन्दी साहित्य सम्मेलन, हिन्दी भवन और हिन्दी के पीछे पड़े हो। लेकिन तुम्हारे ब्रज साहित्य मंडल और हिन्दी साहित्य सम्मेलन का क्या हुआ ? कोई तुम्हें पूछता है ? तुम सेवा नहीं, अपने नाम के लिए काम कर रहे हो। कोई आज टंडनजी का नाम लेता है ? सेठ गोविंददास को याद करता है ? हिन्दी भवन बनाने के लिए घर-घर से भीख मांग रहे हो, क्या तुम बनने के बाद उसमें घुस सकोगे ? कोई याद रखेगा कि इसके पीछे मरने-खपनेवाला कौन था ? आदि-आदि।

जो भी हो, इन्होंने सहा है तो कहने का अधिकार भी है। देखा है जमाने को तो आलोचना भी कर सकती हैं। जब मैंने छककर अमरस प्राप्त किया है तो कच्ची खट्टी अमियों का पना भी आनंद से पीना चाहिए। क्योंकि ये मात्र मेरी पत्नी नहीं, सखी भी हैं और प्रेमिका भी। भले ही इश्क शब्द का अर्थ और मर्म इन्हें ज्ञात न हो। एक बार स्वयं इन्होंने मुझसे पूछा था—क्योंजी, इश्क किसको कहते हैं ?

ये मेरी प्रेरणा भी हैं और निर्माता भी। इसीलिए मैंने लिखा है और सच लिखा है— 'हम तो पाया परमं पद पत्नी के परताप'। भगवान ऐसी पत्नी सबको मिले। इनके साथ जैसी हमारी कटी और पटी वैसी सबकी कटे और पटे। 'कहो व्यास, कैसी कटी ?' नामक मेरे नाटक की नायिका भी यही नटी हैं।

आजादी का कलमवरदार

मेरी पीठ पर मित्रों ने बड़े-बड़े भारी विशेषण लाद रखे हैं। इतने कि मैं बोझ से दबा जा रहा हूं, सांस फूल रही है और सिर ऊपर को नहीं उठता। इस भौतिकवाद और नास्तिकता के युग में मुझे 'हास्य-रसावतार' कहते हैं। भई, मैंने न कोई लंका फतह की और न महाभारत कराया। मैं अत्यंत साधारण आदमी हूं, कोई अवतार-ववतार नहीं। मुझे वरिष्ठ पत्रकार भी कुछ लोग भ्रमवश कह देते हैं। वरिष्ठ छोड़ मैं तो साधारण पत्रकार भी नहीं हूं। वरिष्ठ पत्रकार तो हिन्दी में केवल पराड़करजी और गणेशशंकर विद्यार्थी जी ही हुए हैं। जिन्होंने हिन्दी-पत्रकारिता की कायापलट कर दी और सोए हुए राष्ट्र को अपने अलखनाद से जगा दिया। बाकी तो हम सब पत्रों के स्वामियों के 'कलमघिस्सू वीर' हैं।

मैं सुप्रसिद्ध साहित्यकार भी नहीं हूं। यह श्रेय तो हिन्दी में प्रसाद, निराला, महादेवी, पंत, प्रेमचंद और मैथिलीशरणगुप्त को ही प्राप्त हुआ है। बाकी तो हम सब पत्र-पत्रिकाओं का पेट भरनेवाले, पाठ्यक्रमों में अपनी पुस्तकें खपानेवाले या कला-कौतुक और मनोरंजन के नाम पर लोगों को ठगनेवाले ही हैं।

तो फिर मैं हूं क्या ? मेरा इष्ट क्या है ? क्या बनना चाहता था ? क्या हूं ? सवाल सीधे हैं और जवाब भी सीधा और संक्षिप्त है कि—मैं स्वतंत्रता-संघर्ष की उपज हूं। इसी के लिए मैंने यथाशक्ति अपने जीवन और लेखन का उपयोग किया है। राष्ट्र ही मेरा देवता है। उसकी आराधना मैं हिन्दी सेवा के माध्यम से करता हूं। और अगर आप मेरे लिए कुछ कहना ही चाहते हैं तो कहिए और लिखिए—आजादी का कलमवरदार। यह सुनकर और पढ़कर मेरी आत्मा गद्गद हो जाएगी। मेरे यह कहने और लिखने पर आप शायद कुछ हंसेंगे। आपमें कुछ शायद मुंह भी बिचका दें। फतवा दें कि इसी का नाम है अपने मुंह मियां मिट्ठू बनना। पर आप जो भी कहें या सोंचे, मेरी कामना यही है। मेरा इष्ट यही था और यही है। आगे भी यही रहे, ऐसी प्रभु से विनीत प्रार्थना है। याद आ रही हैं आज कुछ पुरानी बातें। मैं किशोर भी नहीं हो पाया था कि मेरे नगर में दौरा

करते हुए महात्मा गांधी आए। मैं कांग्रेस की बालचर सेना का सदस्य था। मेरी ड्यूटी गांधीजी के कमरे के सामने लगी। गांधीजी कमरे से बाहर आए। मेरे सिर पर हाथ रखकर नाम पूछा। कमीज खादी की थी, देखकर प्रसन्न हुए। नेकर जीन्स का था, बोले–"गोपाल, छिः छिः !" आगे बढ़ गए। मैं तभी से खादी पहनने लगा। मन स्वदेशी में रम गया। खादी की गांठें कंधे पर लाद-लादकर मोहल्ले-मोहल्ले बेचीं। सत्याग्रहियों के लिए हांडियों में आटा जमा करने लगा। एक-दो तुकबंदियां भी लिखीं। लोगों ने पसंद कीं। फिर देशप्रेम के गीत बनाए, जो जलसों और प्रभातफेरियों में गाए और गवाए। जवानी के साथ आजादी का नशा चढ़ता ही चला गया।

मथुरा से पहुंचा आगरा। व्यक्तिगत सत्याग्रह आंदोलन शुरू हुआ। बापूजी से शरीक होने की अनुमति मांगी। नहीं मिली। काम मिला आगरा सेंट्रल जेल में आनेवाले स्वतंत्रता-सेनानियों की सेवा करना। आए उस जेल में मैथिलीशरण गुप्त और रायकृष्णदास जैसे साहित्यकार और अनेक सुप्रसिद्ध नेता। छिपाकर चिट्ठियां लाता और पहुंचाता। जेलर से लेकर जमादार तक से दोस्ती साधी। कुछ सेवा का सुख मिला और कुछ राजनीति का पदार्थ-पाठ भी। कलम में भी निखार आया। देश में भारत रक्षा कानून लागू था। लिखने और बोलने पर पाबंदी थी। व्यंग्य फूट पड़ा। फिर कंट्रोलों पर, प्रतिबंधों पर, विदेशियों के जुल्म और अन्याय पर जमकर लिखा। लेकिन साहित्य का बाना पहनाकर। पत्नी को माध्यम बनाकर 'हे मजिस्ट्रेट महाराज, हमारी पत्नी पर कंट्रोल करो', 'पत्नी को परमेश्वर मानो', 'सब गांधीजी की माया है', 'उनको अपनी चर्चिल समझो, हिटलर सा डिक्टेटर जानो' आदि रचनाएं फूट पड़ीं। लोकप्रिय भी हुईं। हिन्दी में पत्नीवाद तो चला ही, उसके सहारे-सहारे विदेशी हुकूमत के विरुद्ध अंदर-अंदर एक मीठा दर्द भी उठा। कवि-सम्मेलनों में मेरी लोकप्रियता बढ़ी। लेकिन अंग्रेजों के विरुद्ध छपे हुए व्यंग्य से डिफेंस एक्ट की निगाह में भी आ गया। पर मेरे साहित्यप्रेमी अधिकारियों ने बार-बार मुझे बचा लिया।

आया सन् 42 का अंग्रेजों की कमर तोड़ देनेवाला आंदोलन। मैं भी इसमें कूद पड़ा। एक दिन जब स्वयं अंग्रेज कलक्टर ने मुझे लाठियों से घायल कर दिया तो मुझमें भी हिंसा की अग्नि प्रज्वलित हो गई। रात के सन्नाटे में, भरी हुए यमुना में कूद पड़ा। मैं पानी के अंदर और सिर पर गोलियां। बच निकला। भूमिगत हो गया। पहले इधर से उधर आजादी के दीवानों को पेम्फलेट और पोस्टर पहुंचाया करता था, बाद में कुछ और भी। रेलों की पटरियां भी उखाड़ीं। एक-दो थाने भी फूंके। कुछ सरकारी दफ्तर भी जलाए। खुद भी जल गया। भागकर भिंड के जंगलों में छिप गया। वहां से इटावा में प्रकट हुआ। इटावा में पता लगा कि माखनलालजी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के हरिद्वार अधिवेशन के सभापति हुए हैं। उन्हें रुपयों से तोला जा रहा है। मैं भी चल पड़ा। रात को गंगा की असली धारा का आनंद लेकर जब पुल से गंगा पार कर रहा था तो अंग्रेज पहरेदारों ने ललकारा। मेरे साथ भाई विष्णु प्रभाकर और देवेन्द्र सत्यार्थी भी थे। इनकी कृपा से सम्मेलन का प्रतिनिधि बताकर साफ बच गया। नहीं तो जेब में एक छोटा-सा तमंचा था। पकड़ लिया जाता तो और जो कुछ होता सो होता मैं भी एक ताम्रपत्र और पेंशन पाने का अधिकारी बन जाता।

फिर आ गया दैनिक 'हिन्दुस्तान' में उप-संपादक बनकर। मेरे साथ ही आजाद हिन्द फौज के शाहनवाज खां, कर्नल ढिल्लों और सहगल भी लाल किले में आ गए। उधर उन पर लाल किले में मुकदमा चला, इधर मेरी कलम चली। आजाद हिन्द फौज की शौर्य गाथाओं के ऊपर इधर प्रतिदिन मेरी कविताएं दैनिक हिन्दुस्तान में छप रही थीं और उधर दिल्ली का अंग्रेज चीफ कमिश्नर मुझ पर दांत पीस रहा था। तब मैं लाल कुएं में रहता था। जी. बी. रोड के गुंडों से मुझे पिटवाया गया। देवदास गांधी को धमकियां देकर कविताएं छपना बंद कराने की कोशिश की गई। इन कविताओं का संग्रह छापने की हिम्मत दिल्ली के किसी प्रकाशक में नहीं हुई। तब "कदम कदम बढ़ाए जा" के नाम से ये कविताएं लाहौर से छपीं, देखते ही देखते इनके कई संस्करण आरंभ हो गए। सैंतालीस वर्ष बाद भी हजारों लोगों को ये कविताएं आज भी कंठस्थ हैं–

वह खून कहो किस मतलब का
जिसमें उबाल का नाम नहीं,
वह खून कहो किस मतलब का
आ सके देश के काम नहीं,
वह खून कहो किस मतलब का
जिसमें जीवन न रवानी है,
जो परवश होकर बहता है,
वह खून नहीं है, पानी है।

देश आजाद हुआ। सपने साकार हुए। मुझे शहीदों की याद आई, लिखा–

वह देश, देश क्या है जिसमें
लेते हों जन्म शहीद नहीं,
वह खाक जवानी है जिसमें
मर मिटने की उम्मीद नहीं,
वह मां बेकार सपूती है
जिसने कायर सुत जाया है,
वह पूत, पूत क्या है
जिसने माता का दूध लजाया है,
बेटा हो तो फिर ऐसा हो,
ज्यों भगतसिंह बलवान हुआ,
आजादी की बलिवेदी पर
हंसते-हंसते कुर्बान हुआ।

बड़ी लंबी कविता थी यह। स्वतंत्रता के नव विहान पर भी मैंने बहुत से गीत लिखे। बहुत से आज भी लोगों को याद हैं, बहुत से विस्मृति के गर्भ में डूब गए। मुझे भी अब वे याद नहीं रहे। याद रह गई हैं–साली, साला, सलवार, सास और पत्नीवादी कविताएं।

क्योंकि अव देशभक्ति कहां रही ? लोग अब मनोरंजन के लिए ऐसी ही कविताएं सुनना चाहते हैं। अपनी लोकप्रियता के लोभ में मैंने ऐसी रचनाएं काफी संख्या में लिखीं। परंतु उनमें गोपालप्रसाद बोलता है, व्यास नहीं। व्यास तो बोला था पाकिस्तान के साथ हुए भारत के युद्धों के समय अथवा भारत पर हुए चीन के धूर्ततापूर्ण आक्रमण के वक्त।

आज सोचता हूं कि वह मेरा साहस, वह ओज और दुर्धर्ष राष्ट्रप्रेम कहां गया ? क्या उसे भी जमाने की जंग लग गई है ? नहीं, वह आज भी अपने तरकश से ऐसे व्यंग्य बाण छोड़ रहा है, जो समाज की विषमता, नेताओं की आपाधापी और समाज की दुर्दशा पर कशाघात कर रहे हैं।

इसलिए आपसे अनुरोध है कि मेरा चरित्रहनन न कीजिए। मुझे हास्य-सम्राट, विशिष्ट व्यंग्यकार, सुप्रसिद्ध लेखक और हिन्दी का नेता न कहकर, अगर कह सकते हों तो आजादी का कलमवरदार कहिए, नहीं तो चुप रहिए।

श्री गोपालप्रसाद व्यास से मेरा परिचय काफी पुराना है। आरंभ से मैं उन्हें हास्य विनोद के अच्छे लेखक के रूप में देखता आया था। उन्होंने दिल्ली केन्द्र में हिन्दी-लेखकों के संगठन और हिन्दी भाषा के उन्नयन के लिए जो गंभीर कार्य किया है उससे उनके कुशल संगठनकर्ता और सहृदय साहित्यकार होने की पुष्टि होती है।

–नंददुलारे वाजपेयी

व्यासजी की भाषा इतनी सरल और खरी हिन्दुस्तानी है कि हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक देवकीनन्दन खत्री की याद आ जाती है। उनकी भाषा वैसी ही है, जैसी गांधीजी चाहते थे।

–गोपीनाथ 'अमन'

इटावा आया : वहुत कुछ पाया

सन् वयालीस की अगस्त क्रांति के दिनों में कुछ दिनों मैं इटावा रहा हूं। अगर श्रद्धा-भाव से यहां कोई इष्ट साधन करे तो उसे अवश्य सफलता प्राप्त होती है। महाकवि देव ने यहां साहित्य-साधना करके अपने इष्ट को प्राप्त किया था। जब मराठे इटावा के रास्ते से दिल्ली-विजय को निकले तो उन्होंने यहां के प्राचीन महादेव मंदिर के संबंध में संकल्प किया था कि अगर उनके इष्ट की पूर्ति हुई तो वे इस मंदिर को ऐसा भव्य और विशाल बना देंगे जो इटावा का ही नहीं, आसपास का दर्शनीय देवस्थान बन जाएगा। जब वे दिल्ली से मुगल बादशाह से चौथ वसूल करके लौटे तो उन्होंने बड़ा-ऊंचा और शिखरदार मंदिर बनाकर इसमें शिवलिंग की स्थापना की थी। जो आजकल टिकसी महादेव के नाम से प्रसिद्ध है। ये टिकसी नाम कैसे पड़ा और इष्टिकापुरी अर्थात् इसे इष्टिका यानी ईंटों की पुरी क्यों कहा जाता है, यह शोध का विषय है। इसी प्रकार यहां के देवी मंदिर को कालीवाहन क्यों कहा जाता है, यह भी मैं मालूम नहीं कर सका।

परंतु मैं इष्टिका या ईंटों की नहीं, इष्ट की बात करूंगा। गांधीवादी अर्थशास्त्र के प्रकांड विद्वान श्री मन्नारायण अग्रवाल ने यहां से कौन-सा इष्ट साधा कि प्रगति करते-करते गुजरात के राज्यपाल के पद तक पहुंच गए। हिन्दी साहित्य के यशस्वी लेखक बाबू गुलाबराय की जन्मभूमि भी इटावा ही है। गोपालदास 'नीरज' की इष्ट-साधना तो सबको विदित ही है कि इस प्रौढ़ोत्तर अवस्था में भी कवि-सम्मेलनों में गीतों के राजकुमार कहे जाते हैं। फिल्मों में उनके गीत छाए। वहां से चले आए। सुना है अब फिर पहुंच गए हैं। यही बात गोपालकृष्ण कौल के संबंध में भी है। इटावा से दिल्ली आए। पत्रकार और कवि के रूप में पहचाने गए। काफी दिनों तक आकाशवाणी में छाए रहे। प्रगतिशील हो गए।

औरों की क्या, मैं अपनी बात कहता हूं। यद्यपि मेरी व्यंग्य-विनोदी कविताओं का सिलसिला आगरा से ही शुरू हो गया था, लेकिन उनमें निखार इटावा में आया। बड़ी

कड़की के दिन थे उन दिनों। इटावा में मैं पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी के पिता पं. द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी से मिला। वह ब्रजभाषा का शब्दकोष निकालना चाहते थे। परंतु इसके लिए उन्हें साहित्य-सहायक नहीं मिल रहा था। मैं उनके पास गया। मैंने अपना परिचय दिया। उन्होंने मुझे रख लिया। पांच रुपये महीने में एक अंधेरी कोठरी रहने के लिए मुझे उन्होंने दिलवा दी। पगार निश्चित कर दी तीस रुपये मासिक। द्वितीय महायुद्ध चल रहा था। महंगाई और कंट्रोल चरमसीमा पर थे। आगरा में जिस ढाबे में मैं खाता था, उसे आठ रुपये देता था। लेकिन इटावा में अठारह रुपये देने पड़े। सूखी रोटी और दाल, बस ! केवल सात रुपये में नाई-धोबी का भी खर्चा नहीं चल पाता था। मेरी पत्नी अपने दो बच्चों को लेकर मायके से भी अपनी पहाडी ननसाल में चली गई थी। बच्चे बीमार हुए और मर भी गए। लेकिन मैं कुछ नहीं कर पाया। फिर भी मस्ती कायम थी। छिपैटी मुहल्ला चौबों का मुहल्ला था। वहां भांग-ठंडाई का डौल बैठ जाता। बगल में पुरबिया टोला था। उसमें कूर्मवंशी क्षत्रिय (कुर्मी) रहते थे। अच्छे महाजन थे। बड़े गुणग्राहक थे। वहीं रहते थे गोपालकृष्ण कौल। इनसे मित्रता जुड़ी। साहित्य के आदान-प्रदान के साथ-साथ खान-पान की भी सुविधा होने लगी।

मैंने अभावों की ओर न देखकर सद्भावों का आनंद लेना शुरू किया। संपूर्ण वाल्मीकि रामायण, महाभारत, सूरसागर और जहां-तहां से श्रीमद्भागवत के हिंदी अनुवाद पढ़ डाले। मेरा स्वास्थ्य भी सुधर गया। इटावा उन दिनों उत्तर प्रदेश में एक बेहतर स्वास्थ्य केंद्र माना जाता था। यहां के कुओं का पानी बहुत स्वास्थ्यप्रद था। यहां बड़ी संख्या में अच्छे-अच्छे वैद्य रहा करते थे। उनकी बनाई हुई दवाएं दूर-दूर तक जाती थीं। ज्ञानेंद्र फार्मेसी के श्री कैलाश और रत्नाकर फार्मेसी के श्री रत्नाकर शास्त्री से मेरा प्रगाढ़ परिचय हुआ। स्वास्थ्यवर्द्धक औषधियां मुफ्त मिलने लगीं। फिर से व्यायाम करना शुरू कर दिया।

लेकिन कड़की तो कड़की ही थी। वह कोरी मस्ती से नहीं जाती। उसके लिए कर्म करना पड़ता है। मन में श्रद्धा संजोनी पड़ती है। किसी का इष्ट रखना पड़ता है। क्योंकि–"इष्ट बिना सब भ्रष्ट हैं–ज्योतिष, वैद्य, कवित्त !" तो खोजते-खोजते इष्टिकापुरी में मुझे इष्ट मिल गया।

आयी चैत्र मास की नवरात्रि। इटावा के हजारों लोग शहर से दूर जंगल में नवरात्रि के दिनों में कालीवाहन के दर्शनों को जाया करते थे–पान-फूल, नैवेद्य और दक्षिणा लेकर। परंतु मैं तो ठन-ठनपाल मदनगोपाल था।

ब्रह्म मुहूर्त में जब वृश्चिक (नक्षत्र समूह) की पूंछ सप्तऋषि के सातवें तारे के साथ सीधी लंबाई में आती है। यानी कि ठीक सवेरे के चार बजते तो मैं "या देवी सर्वभूतेषु विद्यारूपेण संस्थिता" कहता हुआ उठ पड़ता। लोटा और अंगोछा लेता और यमुना नदी की ओर चल देता। इटावा में यमुना का जल बड़ा निर्मल और सुखद है। वहां स्नान करता। लोटे में यमुना-जल भरता। रास्ते में जो वनफूल मिलते, उन्हें लोटे में डालता जाता। राह चलते-चलते देवी की स्तुति में एक कविता भी बन जाती। देवी की मूर्ति पर श्रद्धापूर्वक जल-फूल चढ़ाता। अपना नवनिर्मित पद्य-निवेदन करता और लौट पड़ता। रास्ते में पड़ता था टिकसी मंदिर। उसकी अनगिनत सीढ़ियों को एक ही सांस में दौड़कर चढ़ जाता।

महादेव की स्तुति के जो श्लोक और छंद मुझे याद थे, उनका सस्वर पाठ करता और लौटकर अपने काम में जुट जाता। यह क्रम आठ दिनों तक निर्बाध रूप से चलता रहा। नौवें दिन मेरे जीवन की एक ऐतिहासिक घटना घटी।

मैं सड़क के बाएं किनारे अपनी धुन में चला जा रहा था कि तभी दाहिने किनारे से एक वृद्ध सज्जन आकर मेरे सामने खड़े हो गए। बोले—"नौजवान, तुम कहां के रहने वाले हो ?" मैंने उत्तर दिया—"आपको कहां का लगता हूं ?" वह बोले—"इटावे के तो नहीं हो। तुम्हारी खादी की वेशभूषा आदि को देखकर मैं तुम्हारे बारे में जानने को उत्सुक हूं।" सोच में पड़ गया कि क्या बताऊं ? पता नहीं यह कौन हैं ?

तभी उक्त सज्जन ने कहा—"संकोच न करो, डरो मत, मैं श्रीमन्नारायण अग्रवाल का चाचा हूं, देवनारायण। आओ, मेरे साथ घर चलो और सारी बातें बताओ।"

मैं उनके साथ हो लिया। मथुरा से कैसे भागा ? क्या-क्या किया ? इटावा मैं कैसे आया ? आजकल क्या करता हूं ? सब बता दिया। वह "साहित्य संदेश" के पाठक रहे थे। 'वीणा' में लगातार प्रकाशित मेरी व्यंग्य-विनोदी कविताएं भी उन्होंने पढ़ी थीं। मुझसे मिलकर और मेरा हाल जानकर बहुत प्रसन्न हुए। इटावा के मशहूर सोहन पपड़ी और हलवाई हरदू के पेड़े खिलवाए। ऊपर से दूध। बहुत दिनों बाद आनंद का अनुभव किया।

दूसरे दिन उन्होंने मेरे सम्मान में एक गोष्ठी का आयोजन अपने घर पर किया। मुझसे कविताएं सुनी गईं। श्रोता मंडली में दिल्ली के दैनिक 'हिंदुस्तान' के साहित्य संपादक श्री शंभूनाथ तिवारी भी उपस्थित थे। गोष्ठी के बाद उन्होंने मुझसे कहा—"अपनी दो कविताएं मुझे दे दो। मैं उन्हें दैनिक 'हिंदुस्तान' में छापूंगा। मेरा पता भी ले लिया। उन दो कविताओं में से जब पहली कविता 'हिंदुस्तान' में छपी तो वह श्री देवदास गांधी को बहुत पसंद आई। कविता थी "हे मजिस्ट्रेट महाराज, हमारी पत्नी पर कंट्रोल करो।" देवदासजी ने पत्र के संपादक को कहा कि इस कवि को पत्र लिखो और इसकी कविताएं छापते रहो। श्री मुकुटबिहारी वर्मा का पत्र मुझे मिला। इस तरह 'हिंदुस्तान' का द्वार मेरी कविताओं के लिए खुल गया। कविताएं प्रति सप्ताह 'हिंदुस्तान' में निकलने लगीं। तभी खबर मिली कि हरिद्वार में हिंदी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हो रहा है। इसमें श्री माखनलाल चतुर्वेदी को चांदी के सिक्कों से तौला जाएगा। उन दिनों साहित्य सम्मेलन के अधिवेशनों में साहित्यकारों का अच्छा जमावड़ा होता था। मित्रों ने टिकट के पैसों का प्रबंध किया। मैं हरिद्वार चल दिया। वहां मिले भाई जैनेंद्र कुमार। उन्होंने कहा, "दिल्ली आ जाओ। मेरे साथ काम करो।" मैं हरिद्वार से मथुरा आया। एक लिफाफा पाया। इसमें दस-दस के पांच नोट थे। एक पुर्जे पर केवल एक पंक्ति लिखी थी—"बहुत हुआ। अब दिल्ली आ जाओ।—जैनेंद्र"

मैं दिल्ली आ गया। जो कभी सोचा भी नहीं था, वह पा गया। मैं आज भी मानता हूं कि यह इष्ट साधन इष्टिकापुरी की देन है और कालीवाहन की कृपा है। नवरात्रि में जो प्रतिदिन पद्य लिखे, उनमें से एक लिख रहा हूं। यह सिद्ध छंद है। पढ़िए—

जय जगदम्ब, दयामयि, भारती,
ब्रह्म की प्रेरक शक्ति, अनन्या।

जीवन के थिति, पालन, अंत की--
कारणभूत तुही-तुही धन्या।
मो जन के इन पाप पहारन,
तूही विदार सकै, नहीं अन्या
तूही उमा, रमा, शारदा है,
तुही राधिका है, वृषभानु की कन्या।

लेकिन ठहरिए। लेख अभी समाप्त नहीं हुआ। अभी आनंदातिरेक आना बाकी है। मैंने उसे पाया तो आप उससे क्यों वंचित रहें ? किस्सा यों है कि होली आई। उससे पहले पं. बनारसीदास चतुर्वेदी की चिट्ठी आई—"मेरे जासूसों ने खबर दी है कि तुम इटावे में हो और श्रद्धेय द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी के साथ रह रहे हो। देखो, होली के अवसर पर इटावे में 'नंगनाच' होता है। उसे देखना न भूलना। केवल देखना ही नहीं, मुझे उसकी पूरी-पूरी रिपोर्ट भी भेजना—जरूर-जरूर।"

बनारसीदासजी आयु में मुझसे बड़े थे, लेकिन मुझसे सदा मित्रवत् व्यवहार करते थे। छेड़छाड़ भी चलती रहती थी। एक बार उन्होंने मुझे आगरे में कहा था कि "अंग्रेजी में अगर महारत हासिल करनी है तो किसी एंग्लो-इंडियन लड़की से इश्क लड़ा लो। अंग्रेजी रवां हो जाएगी।" अब वही चतुर्वेदीजी मुझे नंगनाच देखने की प्रेरणा दे रहे थे।

'नंगनाच' इटावे का ऐतिहासिक लोकोत्सव था। यहां रंगमंच की अप्सराएं (वेश्याएं) नाचती थीं, गाती थीं और इस मदनोत्सव में वे अपने ग्राहकों पर काम-शर चलाया करती थीं तथा ग्राहक माल को जांचा-परखा करते थे। एक से एक कमसिन और खूबसूरत नृत्यांगना महीनों की तैयारी के बाद इस मदनोत्सव में उतरती थी। यह उत्सव व्यंग्य-विनोद का असाधारण दृश्य उपस्थित करता था। इसमें बड़े महाजनों, पोंगा पंडितों, क्रूरकर्मा अधिकारियों, भ्रष्ट नेताओं और चंदाचट्टू सामाजिक कार्यकर्ताओं के मुखौटे उतारे जाते थे। बड़ी व्यंग्यात्मक शैली में उनकी करतूतों का सार्वजनिक बखान किया जाता था। इन वर्गों के लोग न इस त्रिदिवसीय आयोजन में जाते थे और न इसमें लोगों को जाने देते थे। स्वयं पं. द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी ने कई बार मुझसे कहा था कि इस भोंड़े प्रदर्शन में भूलकर भी मत जाना। निस्संदेह इसमें कुछ भौंड़ी बातें भी हुआ करती थीं। जैसे नकली संभोग, फूहड़ जोकरी, पुरुषों के अश्लील नृत्य आदि। लेकिन जनता इन्हें देखने के लिए उमड़ पड़ती थी। स्त्रियां आसपास के मकानों की छतों, झरोखों से देखा करती थीं। मैंने तीनों दिन पूरी-पूरी रात जागकर इस जन-मेले का आनंद लिया।

लेकिन 'नंगनाच' कुछ और ही था। वह दिन के उजाले में होता था। सरेबाजार सड़कों से गुजरता था। एक जटाजूटधारी व्यक्ति हाथ में त्रिशूल लिए दिगंबर वेश में आगे-आगे चलता और उसके पीछे नितंग नग्न उसके चेले होते थे। ये लोग गजब के जितेन्द्रिय थे। एक की पुरुषेन्द्रिय दूसरे, तीसरे से लेकर ग्यारहवें तक एक मजबूत डोरी से बंधी रहती थी। पीछे एक आदमी उस डोरी को बार-बार झटका देता रहता था। लेकिन क्या मजाल कि किसी को उत्तेजना हो जाए। स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े सब इस अनोखी शोभायात्रा को देखते। वे शायद इसे आध्यात्मिक रूप में ग्रहण करते थे। विश्व के किसी भी कोने

में ऐसा 'नंगनाच' और लोकोत्सव शायद ही कहीं होता हो।

शहर के सभ्य कहे जानेवाले लोगों ने इसे बंद कराने की बड़ी कोशिशें की। दिल्ली के बादशाहों ने इस जुलूस पर और रात के उत्सव के लिए मशालों के लिए तेल पर प्रतिबंध लगा दिए। लेकिन लोगों ने घी से मशालें जलाईं और 'नंगनाच' नहीं रुके। आजादी से पहले अंग्रेजों ने भी इसे बंद करने की कोशिशें कीं और आजादी के बाद उत्तर प्रदेश की सरकार ने भी। पर इटावे के रंगीले लोगों ने जान लगा दी और इसे बंद नहीं होने दिया। यह बंद तब हुआ, जब जमात में निकलनेवाले नंगे लोग काल-कवलित हो गए और रामगंज मोहल्ले की वेश्याएं उजड़ गईं। उनके ग्राहक जमींदार और महाजन भी नहीं रहे। सुना है कि इटावा में आजकल यह आयोजन नहीं होता।

न हो, परंतु मैंने इसकी आंखों देखी रिपोर्ट बनारसीदासजी को भिजवा दी। मैं जब उन्हें ज्यादा परेशान करता तो वे धमकी दिया करते थे कि तुमने ज्यादा गड़बड़ की तो मैं तुम्हारी 'नंगनाच' वाली रिपोर्ट प्रकाशित करा दूंगा। चतुर्वेदीजी अपना बहुमूल्य पत्र-व्यवहार राष्ट्रीय संग्रहालय को सौंप गए हैं। शायद उसमें नंगनाच का विवरण हो। जिसे उत्सुकता हो, वह उसे तलाश ले—"जिन खोजा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ।"

व्यास को राजनीति में मत खींचिए। इन्हें पत्रकारिता और हिन्दी-सेवा का कार्य करने दीजिए। राष्ट्रसेवा के लिए इन दोनों की बहुत आवश्यकता है। मैं इनके दोनों कार्यों से प्रसन्न हूं।

—महात्मा गांधी

शोषण कि पोषण ?

जबसे मैंने रोजी-रोटी के दुर्गम पथ पर चलना प्रारंभ किया, तभी से मैं शोषण पर शोषण का शिकार होता रहा हूं। ये शोषण उन्होंने भी किए जो स्वतंत्रता-संग्राम के दौरान बड़े नेता माने जाते थे। मेरा शोषण उन्होंने भी किया जो समाज, धर्म, मानव-कल्याण, दानी-मानी, छोटे-बड़े उद्योग चलानेवाले और अपने वर्ग तथा समाज में प्रतिष्ठित समझे जाते थे। प्रसिद्ध पत्रकार, लेखक और अपने को मजदूर नेता कहनेवालों को भी जब-जब मौका मिला, वह मेरा शोषण करने से बाज नहीं आए। कुछ इसे अपना अधिकार मानते थे। कुछ मुझे सेवा का उपदेश देते थे। कुछ समझते थे कि इस नालायक को रोजी और एवजाना देकर वे मुझ पर बड़ा उपकार कर रहे हैं। जब मैं अपने अभिन्न मित्रों से इसका जिक्र करता तो वह कहते—"नौकर है तो नाचाकर, न नाचे तो ना चाकर।" कुछ समझाते—"नौकरी, क्यों करी ? गौ पड़ी त्यों करी।" गो मायने जरूरत। जरूरत मायने मजबूरी। मजदूरी मजबूरी का ही तो नाम है। इसीलिए नीतिज्ञ कह गए हैं—

> *उत्तम खेती, मध्यम बान,*
> *निखद नौकरी भीख निदान।*

ऐसे लोगों का मानना था कि "नौकरी न करिये, चाहे भीख मांग खइये।" मथुरा के मस्त लोग कहा करते थे—"करै चाकरी आवै चोट, सबते भले भीख के रोट।" जो बडे भिक्षुक, यानी पुजारी या महंत थे, उन्हें जब अपार अन्न-वस्त्र, नैवेद्य, पुगीफल और आवश्यकता से कहीं अधिक दक्षिणा प्राप्त हो जाती थी तो वे उसमें से कुछ अपने चहेतों, गरीब भक्तों और दिखावे के लिए अपंग और निर्धनों को बांटकर यह अनुभव करते थे कि "पुण्य में से पुण्य कीनौ, तीनों लोक जीत लीनौ।" क्योंकि मैं निर्धन नहीं, धन के प्रति अनासक्त स्वाभिमानी ब्राह्मण पिता का पुत्र था और प्रारंभ से ही मेरा साहित्य के प्रति लगाव रहा है, इसलिए मुझे हमेशा कृष्ण के ब्राह्मण मित्र सुदामा की याद आया करती थी। याद करता

था नरोत्तमदास की उन पंक्तियों को—"औरन को धन चाहिये वावरी, बामन कौ धन कंवल भिच्छा।" परंतु मैंने अपने जीवन में भूखों मरना स्वीकार किया, भीख मांगकर जीना नहीं। अपने लिए दान लेकर भी नहीं।

यद्यपि उक्त दोनों वृत्तियों के लिए मुझे पर्याप्त सुविधा थी। मथुरा का अधिकांश ब्राह्मण समाज तब दान पर ही जीवित था। जव मथुरा में वाहर से आए हुए भक्तजन ब्राह्मणों को यथाशक्ति रुपये-पैसे बांटा करते थे तो उनके हाथ दाता के आगे फैल जाया करते थे। इस भिक्षा को उन्होंने धर्म के साथ भी जोड़ दिया था और इसे 'भूरिश्री' दक्षिणा कहा करते थे। मैं तो मथुरा के प्रसिद्ध विश्रामघाट पर रहता था, जहां दिन-दिन में कई-कई वार भूरिश्री बंटा करती थी। विश्रामघाट पर ही हमारा श्री राधा-दामोदर का मंदिर है। उसके द्वारा हमारे पूर्वजों ने भेंट-पूजा के रूप में कभी काफी धन एकत्र किया था। परंतु मेरे पिताजी मंदिर के बाहर का दरवाजा बंद करके सेवा-पूजा व भजन करते रहते थे। सिवाय कार्तिक महीने के, जो राधा-दामोदर का महीना कहलाता है, अपने मंदिर के पट यात्रियों के लिए नहीं खोलते थे। इन संस्कारों के कारण मैं भी दान-दक्षिणा के अभिशाप से वच गया।

लेकिन पेट तो पालना ही था। पिताजी ने छोटी उम्र में ही पढ़ाई समाप्त कराकर और मेरी शादी करके कह दिया था कि मैंने अपने कर्तव्य का पालन कर दिया, अव तुम अपने कर्तव्य का पालन करो। मैं किस तरह अपने कर्तव्य का पालन करता? जो मिडिल भी पास न हुआ हो, उसे कौन नौकरी देता? पिताजी तो लोकसंग्रही थे ही नहीं। मुझ सुदामा का कोई कृष्ण जैसा मित्र भी नहीं था। न ऐसा कोई रिश्तेदार था, जो मुझे किसी हिल्ले से लगा देता। हिंदुस्तान गुलाम था। लाखों-करोड़ों लोग रोजी-रोटी के लिए दर-दर मारे फिर रहे थे। न कल-कारखाने थे, न कोई अन्य प्रकार के उद्योग। अव तो मथुरा में तेल शोधक कारखाना भी वन गया है। छोटे-वड़े धनिकों ने कई तरह के उद्योग भी चालू कर दिए हैं। लेकिन उस समय तो मथुरा में तीन ही उद्योग थे—पहला, पेड़ा-खुरचन यानी हलवाईगीरी, दूसरा कंठी-माला और तीसरा छापाखाना। कहने को चूरन-चटनी, साड़ी-छपाई और औषधि-निर्माताओं के भी कुछ उद्योग थे। इनमें सुख संचारक कंपनी एक बड़ी कंपनी थी। उसमें मेरे चाचा श्यामलाल औषधि-भंडारी के रूप में काम भी करते थे। लेकिन उनकी भी अपनी अलग दुनिया थी। तव मुझे अपना रास्ता स्वयं चुनना पड़ा। मैंने प्रेस उद्योग को उचित समझा और मैं कैसे कंपोजीटर वना, इसका उल्लेख मैं एक अन्य लेख में कर चुका हूं। यहां तो कुछ शोषण के ही उदाहरण दूंगा।

जी करता है कि अपनी शोषण-कथा नेताओं से शुरू करूं। विवेक कहता है कि ऐसा करना ठीक नहीं होगा। क्योंकि स्वराज से पूर्व जो कुछ भी मैंने किया या मुझ जैसे हजारों-लाखों लोगों ने किया, वह कर्तव्य मानकर किया। जो कुछ सहा, वह हंसते-हंसते सहा। उन दिनों हमें शिकायत गोरी सरकार और उसकी पिट्ठू नौकरशाही के शोषण के विरुद्ध थी। हमारा शोषण हो रहा है। हम मर-मिट रहे हैं। पिट रहे हैं और लाठी-गोली खा रहे हैं। न हमें इसकी परवाह थी और न डर। ऐसा नहीं कि साधारण कार्यकर्ता यह नहीं जानते थे कि अधिकांश नेता अपने व्यक्तिगत जीवन में सुख-चैन से रह रहे हैं। उनके बच्चे उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। उनकी वकालत, उनके छोटे-बड़े उद्योग यथावत् चल

रहे है। जेलों में भी उन्हें ए क्लास, बी क्लास मिल जाती है और कारावास की यातनाओं से प्रायः मुक्त रहते हैं। जबकि उस समय का स्वयंसेवक मुट्ठी-भर चने और प्याऊओं पर पानी पीकर मस्ती से झूम-झूमकर नेताओं को घोड़ों और जीपों पर बिठाकर, उनके पीछे ललकारता हुआ चलता था—"नहीं रखनी सरकार, जालिम नहीं रखनी ! भूखे मरें किसान देश के मजा करे सरकार, जालिम नहीं रखनी ! वीर जवाहर दिए जेल में भगत सिंह दिए मार, जालिम नहीं रखनी !" जब नेता के सामने लाठियां और बंदूकें तन जाती थीं तो उन्हें सिरों तथा छाती पर झेलने के लिए नेता को पीछे करके स्वयंसेवक आगे आ जाया करते थे। ऐसे अनेक मौके सामने भी आए हैं। मैंने भी घर-घर आटा इकट्ठा करने के लिए हांडियां रखी है। खादी की हुंडिया बेची हैं। भरे बाजारों में नमक बनाया है। सन् बयालीस में तो नेता जेल में धर लिए गए थे, तब गांधीजी का एक ही मंत्र हमारे मन में गूंज रहा था—"करो या मरो !" तब झंडे उठानेवाले हमारे हाथों में रेल की पटरियां उखाड़नेवाले औजार, थाने फूंकनेवाले पलीते और मुठभेड़ का मौका आ जाए तो छोटे-बड़े हथियार भी आ गए थे। आजादी आई तो जेल जानेवालों को पेंशन मिली, नेताओं को ओहदे मिले और हम जैसे लोग जो जेल जाने को पलायन और कायरता समझते थे, कहीं के नहीं रहे। सन् बयालीस के बाद जिन दिनों मैं फाकामस्ती की हालत से गुजर रहा था। पत्नी इधर से उधर भाग रही थी। बच्चे कुपोषण, उपचार और पथ्य के अभाव में मर रहे थे। जेवर बिक रहे थे। बर्तन बिक रहे थे। यहां तक कि महत्वपूर्ण और मूल्यवान पुस्तकें भी रद्दी के भाव बिक रही थीं, तब किसी नेता ने मुझसे यह नहीं पूछा—"व्यास, तुम किस हालत में हो ?" आजादी के बाद सबको अपने-अपने ठीये-ठिकाने ढूंढने की पड़ी थी। सब अपने सुयश को भुनाने में लग गए थे। उन दिनों मेरे मन में भी रह-रहकर यह ख्याल आता था कि व्यास, तेरा कैसा शोषण हो रहा है। पर नहीं, मैं अवसरवादी और निकृष्ट नेताओं की ओर न तब और न अब देखता हूं। मेरे मन-मानस में तो महात्मा गांधी की निर्मल, सत्यनिष्ठ, अहिंसक, किंतु तेजस्वी छवि अंकित थी। मैं जवाहरलालजी के बीरोचित उत्साह, जोश, बार-बार की उनकी जेलयात्राओं और त्याग एवं बौद्धिक विद्रोहवृत्ति से प्रभावित था। नेताजी सुभाषचंद्र बोस की बलिदानी-भावना और सशस्त्र विद्रोह से मेरी लेखनी ही नहीं, भुजाएं भी फड़क उठी थीं। मेरे प्रेरणा के स्रोत गणेशशंकरजी विद्यार्थी, रफी अहमद किदवई और त्यागमूर्ति राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन थे। नेहरूजी की एक बहन कृष्णा हठीसिंह ने स्वतंत्रता-संग्राम और नेहरूजी पर एक पुस्तक लिखी है—'कोई शिकायत नहीं'। मेरा भी यही कहना है कि इस संबंध में मुझे कोई शिकायत नहीं। मैंने जो कुछ किया अपनी मातृभूमि के प्रति कर्तव्यपालन की दृष्टि से किया। पाने के लिए नहीं, खोने के लिए किया।

मैंने कभी भी मिशन के साथ जीविका को नहीं जोड़ा, चाहे स्वतंत्रता-संग्राम हो या स्वराज के बाद हिंदी की सेवा हो। कमाता था प्रेस से और काम करता था कांग्रेस में। कमाता था पत्रकारिता से और काम करता था पहले 'ब्रज साहित्य मंडल' में ब्रजभाषा और उसके साहित्य का। उसके बाद दिल्ली में जमकर हिन्दी का और साहित्य सृजन का। तो पहले प्रेस की बात करूं। प्रेस की कहानी ही मेरे शोषण की कहानी है। प्रेस की काली स्याही ने मेरा शरीर और कपड़े ही काले नहीं किए, उसकी कालिमा को भी मैं अभी तक

भुला नहीं सका हूं।

सबसे पहले मैंने एक मथुरा के अर्द्ध सरकारी साप्ताहिक अखबार में काम किया। पहले मैंने प्रेस के मालिक को परखा और फिर मालिक ने मुझे। महीना बीत भी नहीं पाया था कि मैंने काम छोड़ दिया। मैं किसी अंग्रेजों के अमलवरदार 'अमन सभाई' का साथ नहीं दे सकता था। परिणाम यह हुआ कि वेतन मुझे नदारद और सी. आई. डी. की संदिग्ध लोगों की सूची में मेरा नाम। फिर तो कई प्रेसों में कंपोजीटर के रूप में काम किया। कहीं ठेकेदार खुद छह आने पेज लेता था और मुझे कंपोजिंग के चार आने पेज देता था। मैं झगड़ पड़ा और छुट्टी। मालिक लोग दस या बारह रुपये महीने देते थे और काम लेते थे पूरे दस घंटे। पैसे बढ़ाने पर वह मुंह बिगाड़ लेते थे और कुछ ऐसे वाक्य बोलते थे कि तुम इतने के भी काबिल नहीं हो। मैंने कहा--जय रामजी की, और छुट्टी। कंपोजीटरी का सबसे अंतिम कार्य मैंने श्री प्रभुदयाल मीतल के अग्रवाल प्रेस में किया। तब तक मैं सम्मेलन की विशारद परीक्षा उत्तीर्ण कर चुका था। साहित्यरत्न की तैयारी कर रहा था। मैंने चौदह के सोलह रुपये मांगे। नहीं मिले। साहित्यरत्न की मौखिक परीक्षा के लिए आगरा जाने की छुट्टी मांगी, नहीं मिली। मीतलजी मेरे पारिवारिक मित्र थे, इसलिए झगड़ा नहीं और मीतलजी को ही नहीं, कंपोजीटरी को भी नमस्कार करके आगरा चला गया। इन्हीं दिनों श्री मीतलजी ने बाद में मुझसे ब्रजभाषा में नायिका-भेद पर एक पुस्तक लिखवाई। निश्चय हुआ था कि वह मेरे और मीतलजी के नाम से छपेगी। लेकिन मैं सन् बयालीस में मथुरा से भागा तो मेरी अनुपस्थिति में पुस्तक छपी। उस पर मेरा नाम नहीं था। पहले संस्करण की भूमिका में मेरा नाम जरूर लिया गया था, बाद के संस्करणों में वह भी हटा दिया गया। आप पूछेंगे कि कुछ तो मिला ही होगा ? जी हां, केवल तीस रुपये। यही तरीका उन्होंने ब्रज के अन्य लेखकों पर भी आजमाया। शिकार हुए सर्वश्री चुन्नीलाल 'शेष', द्वारिकादास पारीख, भगवानसहाय पचौरी आदि। इस तरह मीतलजी की कई पुस्तकें प्रकाशित हुईं और उनकी गिनती ब्रजभाषा के मूर्धन्य विद्वानों में होने लगी। मीतलजी को डॉक्टरेट की उपाधि भी मिली और उत्तर प्रदेश का राजकीय सम्मान भी। आप इसे शोषण कहना चाहें तो कह लें, लेकिन मैंने ऐसे शोषणों को सदैव कैकेयी का वरदान मानकर स्वीकार किया है। पीछे मुड़कर देखा ही नहीं, निगाह आगे ही आगे रखी।

आगरा पहुंचा। आगरा में महेन्द्रजी का साहित्यरत्न भंडार उन दिनों हिन्दी-पुस्तक विक्रय का एक प्रमुख केंद्र था। पुस्तक विक्रय केंद्र के साथ-साथ महेंद्रजी का अपना साहित्य-प्रेस भी था। मेरे पहुंचने से दो महीने पूर्व वहां से 'साहित्य संदेश' नामक हिन्दी समीक्षा का एक मासिक भी निकलना प्रारंभ हो गया था। महेन्द्रजी बड़े सज्जन व्यक्ति थे। आगरा के राष्ट्रीय नेताओं में उनका विशिष्ट स्थान था। जैन समाज के तो वह सर्वमान्य नेता थे ही। आगरा नागरी प्रचारिणी सभा के विकास और उत्थान में उन्होंने सर्वाधिक योगदान दिया था। वह 'आगरा पंच' नामक एक साप्ताहिक भी निकालते थे। मुझे उनके निर्देशन और सान्निध्य से, साहित्य रत्न भंडार की विपुल पुस्तक-राशि से, 'साहित्य-संदेश' और 'आगरा पंच' से बहुत कुछ सीखने को मिला। एक प्रकार से मेरा हिन्दी साहित्य-जगत में प्रवेश आगरा के ही साहित्यिक परिवेश और महेंद्रजी के साहित्यिक संस्थान से ही हुआ। इसके लिए

महेन्द्रजी और 'साहित्य सदेश' के संपादक बाबू गुलाबरायजी का मैं चिरऋणी हूं। यह हुआ उज्ज्वल पक्ष। परंतु लेख तो मैं शोषण पर लिख रहा हूं। कुछ चर्चा उसकी भी।

मुझे 'साहित्य संदेश' में तीस रुपये मासिक पर रखा गया और कई वर्षों तक कार्य करने पर भी मुझे चालीस रुपये से अधिक नहीं मिले। महेन्द्रजी बड़े कर्मठ और व्यवस्थित व्यक्ति थे। वह प्रातः नौ बजे ही अपने कक्ष में आ बैठते थे। मेरी सीट ठीक उनके सामने बरामदे में थी। मैं भी नौ बजे आकर उस पर जम जाता। वह बारह बजे तक बैठते, खा-पीकर तीन बजे फिर आ जमते। जैनी होने के कारण शाम को छह बजे ही भोजन कर लेते थे। सायंकालीन भोजन के बाद वह प्रायः दस बजे तक काम करते रहते थे। मुझे भी तब तक बैठना पड़ता था। मैं साहित्यरत्न भंडार में रहता था। सार्वजनिक शौचालय में निवृत्त होता। अहाते के सार्वजनिक नल पर नहाता। एक ढाबे मे खाना खाता। भंडार से लगी बालकनी में जहां रद्दी फेंकी जाती थी वहां सोता और पूरे समय काम में जुटा रहता। काम था रैपरों पर पते टाइप करना, चिट्ठिया लिखना और अंको को डिस्पैच करना, लेखों को पढ़ना, छांटना और बाबूजी (गुलाबरायजी) को जो दिन मे आधे घटे के लिए चक्कर लगाया करते थे, दिखाना। वाद में उनका संपादन करना। प्रायः सपादकीय भी लिखना। उनके तीन बार प्रूफ देखना, लेखको से संपर्क करना। लेख मंगाना और लौटाना आदि के साथ-साथ महेंद्रजी कभी-कभी मुझे पुस्तकों की बिक्री का पैसा वसूल करने या उनकी सरकारी खरीद के लिए जब-तब बाहर भी भेजा करते थे। दम मारने की फुरसत नही थी। यह जो कहावत है न कि "ला री बाटी, ऐसा नर। पीर, बवर्ची, भिश्ती, खर।" प्रकारांतर से मुझ पर पूरी तरह लागू थी। मेरे मित्र कालेजो के प्राध्यापक, श्रमजीवी आदोलनों के सचालक, मुझे प्रायः उकसाते रहते थे कि इतना काम ओर ये दाम। परतु मैं एक कान से सुनता, दूसरे से निकाल देता था। अपने श्रम को रुपयो से न आककर ज्ञानार्जन के विविध आयामो से आंकता रहता था। मैं ही क्या, उस समय अधिकांश पत्रों मे काम करनेवालो की यही दशा थी। मेरे सामने एक उदाहरण भी था कि मुझे तो तीस रुपये मासिक फिर भी मिल जाते हैं, लेकिन बाबू गुलाबराय को तो वर्ष मे केवल अस्सी रुपये ही मिलते हैं। मेरे चालीस हुए तो उनके दो सौ। जब मूर्धन्य विद्वान, साहित्यकारो की यह स्थिति थी तो मेरी क्या औकात ? मुझे इस बात से भी बहुत सतोष था कि महेन्द्रजी मुझे व्यास नही, व्यासजी कहा करते थे। जब कोई बड़ा साहित्यकार या नेता आता तो उमसे मेरा परिचय बडे सम्मानसूचक शब्दों में कराया करते थे–"तनखा चाहे आधी कर दै, पर नाम दरोगा धर दै।" मेरा नाम 'साहित्य संदेश' के संपादक के रूप मे छपने लगा। यह उपलब्धि क्या कोई कम थी ? नाम के पीछे तो लोग मर मिटते हैं, लेकिन मैं तो जीवित था और सम्मान के साथ। 'साहित्य संदेश' की उन दिनों हिन्दी जगत में बड़ी प्रतिष्ठा थी। हिन्दी का लेखक समाज यह देखता रहता था कि उसमें क्या छपता है ? हिन्दी साहित्य की भावधारा किस ओर जा रही है ? किस कृति पर 'साहित्य-संदेश' की क्या प्रतिक्रिया है और उसके संबंध में क्या लिखा गया है ? मेरे लेख, समीक्षाएं और विशेषांकों के संपादन के कारण उस समय के समीक्षकों में मेरे नाम की भी गणना होने लगी थी। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की साहित्य परिषदों में, अध्यक्षीय भाषणों और चर्चाओं में मेरा नाम भी आ जाता था और मैं मन ही मन गर्वोल्लास से भर

उठता था। लेकिन 'शुक्ल अंक' के प्रकाशन को लेकर दरार पड़नी शुरू हो गई। महेन्द्रजी तब जेल में थे। मेरे मित्र नगेन्द्रजी, जो महेन्द्रजी तथा गुलाबरायजी के भी निकट संपर्क में थे, चाहते थे कि उन्हें उस अंक का संपादक बना दिया जाए। मैं इसके लिए तैयार नहीं हुआ। तब तक मेरी ऐसी मनःस्थिति बन चुकी थी कि काम मैं करूं और नाम किसी और का जाए, यह एकदम गलत है। पहले बाबूजी से कहा गया और फिर जेल में महेन्द्रजी से भी कहा और कहलवाया गया। परंतु ये दोनों महानुभाव उन दिनों पूरी तरह मुझ पर निर्भर थे, इसलिए चुप रहे। पर जब जेल से महेन्द्रजी लौटे तो मैंने देखा कि उनके व्यवहार में कुछ फर्क आया है। मैंने 'साहित्य संदेश' की प्रसार संख्या उनकी अनुपस्थिति में काफी बढ़ा दी थी। साहित्यरत्न भंडार की पुस्तकों की बिक्री भी बढ़ी थी। इसी आधार पर मैंने उनसे वेतन बढाने की बात कही तो वह बोले—"आपके विरुद्ध कड़ी शिकायतें हैं।" मैंने उत्तर नही दिया और घर में जाकर बैठ गया। मुझे मनाने पहले बाबूजी आए, फिर महेन्द्रजी भी। पर मैंने साहित्य रत्न भंडार की चौखट पर वापस पैर नहीं रखे और एक दिन चुपचाप अपना सामान समेटकर मथुरा चला आया। महेन्द्रजी कई महीनों तक मुखपृष्ठ पर मेरा नाम छापते रहे। मेरी पत्नी के नाम से हर माह कुछ समय तक रुपये भी भेजते रहे। लेकिन पानी जब एक बार घाट छोड देता है, फिर उस पर वापस नही आया करता। मेरे इस विवरण को पढकर लोग इसे शोषण की संज्ञा दे सकते है, परतु मैं नहीं। साहित्यरत्न भडार मेरे लिए पत्रकारिता का प्रशिक्षण केन्द्र था। आगरा का मोद-विनोदमय वातावरण मेरे हास्य-व्यग्य के लिए उर्वर भूमि था। बाबू गुलाबराय ने ही नही, उनकी भैस ने भी मुझे प्रेरणा दी है। बाबूजी की भैस की पीठ पर सवार होकर ही मेरे व्यग्य-विनोद का देशव्यापी जुलूस निकला है।

अब दिल्ली चले। जैनेन्द्रजी ने बुलाया तो दिल्ली चला आया। कोई सन् तैतालीस मे। जैनेन्द्रजी से कुछ तय हुआ था, वह पूरा नही हुआ। जब भाईचारा सेव्य-सेवक भाव में बदल गया तो मैंने कहा—जय-जिनेन्द्र !

मैं जैनेन्द्रजी के साथ बना रहू, इसके लिए नगेन्द्रजी और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने प्रयत्न किए। जैनेन्द्रजी ने भी पश्चात्ताप प्रकट किया। परतु—"फाटे पीछे ना मिले—मोती, मानस, चून, ।"

छोड़ तो दिया, पर न दिल्ली मे रहने का ठिकाना और न कोई दूसरा धधा। जैसे-तैसे पुरानी दिल्ली की एक मुस्लिम बस्ती गली खातियान, मोहल्ला रोदगरान और बुधसिह ठेकेदार के मकान में टीन का सायबान मिल गया और फिर शुरू हुआ—"उदर निमित्त बहुकृत वेशः।" मैने नई सड़क (बाजार) की राह पकड़ी। वहां परीक्षोपयोगी पुस्तकों के कई प्रकाशक थे। कहना चाहिए कि वह कुंजी बाजार था। मैंने छंद और अलंकारों के लंबे-लंबे चार्ट बनाकर केवल पचास-पचास रुपये में बेच दिए। प्रेमचंद के 'गोदान' से लेकर जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' तक के और साहित्य तथा दुरूह समीक्षात्मक ग्रंथों के सरल अध्ययन (कुंजियां) लिखे। ऐसी प्रत्येक कृति का सौ रुपये से अधिक मेहनताना नहीं मिला। रेडियो पर तब महीने में मेरी एक वार्ता होती थी। मानदेय मिलता था मात्र पंद्रह रुपये। प्रयाग के साप्ताहिक 'देशदूत', कलकत्ता के मासिक 'विश्वमित्र', दिल्ली के 'वीर अर्जुन' और 'नवयुग' में छठे-छमाहे

लेख छप जाते थे। पारिश्रमिक दस से पद्रह रुपये। दैनिक 'हिन्दुस्तान' में पूर्णकालिक सेवा में आने से पहले ही मेरी प्रति सप्ताह कविताएं निकला करती थीं और पारिश्रमिक मिलता था प्रति कविता पांच रुपये। जब पैसा बढ़ाने को कहा गया तो उत्तर मिला कि हम इतना ही सोहनलाल द्विवेदी और निरालाजी को देते हैं। मुश्किल से पांच के सात हुए। कविताओं का पहला संग्रह निकला—"उन' का पाकिस्तान' । वह एक मित्र 'अनजान' ने छापा था। कैसा पारिश्रमिक और कैसी रायल्टी ? उसकी एक प्रति भी आज मेरे पास नहीं है। लेकिन इतना सब होते हुए भी मन मे यह संतोष था कि मैं कलम के बल पर जिंदा हूं और स्वतंत्र लेखन की ओर बढ़ रहा हू। यदि टिका रहता तो शायद भाई विष्णु प्रभाकर, जैनेन्द्रजी, भगवती बाबू और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि की तरह मसिजीवी लेखक बन जाता। परंतु इसी बीच आ गया श्री देवदास गांधी का बुलावा और मुझे दैनिक 'हिन्दुस्तान' के संपादकीय विभाग में नौकरी मिल गई। तय हो गया कि मैं नाइट ड्यूटी नहीं करूंगा और मेरा स्वतंत्र लेखन जारी रहेगा। 'हिन्दुस्तान' की कहानी आपको इस पुस्तक में जगह-जगह मिलेगी। उसे क्या दोहराऊं ? इतना अवश्य कहता हूं कि श्री मार्तण्ड उपाध्याय के मैत्रीपूर्ण प्रोत्साहन से, श्री देवदासजी के सान्निध्य और प्रेरणा से, पहले वाबू घनश्याम दास और वाद मे श्री कृष्णकुमार विरला की सहृदयता और सौजन्य से, पाठको के अपार प्रोत्साहन से और कुछ मित्र पत्रकारो के आतरिक सहयोग से मेरा व्यक्तित्व भी निखरा और कृतित्व भी। भाषा, साहित्य और समाज मे लोकप्रियता भी 'हिन्दुस्तान' के कारण ही मिली। 'हिन्दुस्तान' में रहकर ही मैने हिन्दी के लिए जन-बल ओर धन-बल एकत्र किया। मेरी कविताओं और स्तभो ने मुझे देशव्यापी वना दिया। वडे-वडे लोगों से संपर्क हुए। पद्मश्री भी 'हिन्दुस्तान' के माध्यम से की गई हिन्दी सेवा के कारण मिली। विदेश-यात्रा भी 'हिन्दुस्तान' के कारण ही हुई। मैने जो देशव्यापी कवि-सम्मेलन किए, बडी-वड़ी राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं की रिपोर्टिंग की, गांधीजी व नेहरूजी के व्याख्यान विना आशुलिपि जाने ज्यों के त्यो प्रस्तुत कर दिए, एक वाक्य मे यह कि मै आज जो कुछ भी हू वह 'हिन्दुस्तान' के कारण ही हूं। यहा भी शुरू-शुरू में कई वर्षो तक ऐसा हुआ कि मुझे मन का काम और उचित वेतन नही मिला। देवदासजी में जहा वडे वाप के गुण थे, वहा वह मोढ़ जाति के बनिये भी थे। लोग उन्हें कजूस कहा करते थे। लेकिन उन्होंने कंजूसी से काम न लिया होता तो 'हिन्दुस्तान टाइम्स' की मासिक आमदनी आज करोड़ो रुपयों तक नहीं पहुंचती। 'हिन्दुस्तान' व 'हिन्दुस्तान टाइम्स' राष्ट्रीय पत्र नहीं बनते। उनके 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में आने से पहले स्थिति यह थी कि कर्मचारियों को वेतन भी समय पर नहीं मिलता था। अधिकारी लोग उगाही के लिए दौड़ते और मालिक मदद करते, तव कहीं जाकर तनख्वाहें चुका करती थीं। पूर्ववर्तियों ने नींव खोदी थी। उस पर ईट पर ईट रखनेवाले तो देवदास गांधी ही थे। सौभाग्य से उन्हें श्री गिरिजानंदन साही जैसा कर्मठ मैनेजर भी मिल गया था। साहीजी हिन्दी के प्रख्यात लेखक श्री पारसनाथजी सिन्हा के भांजे थे। पारसनाथजी तथा साहीजी दोनों सदैव मुझ पर सानुकूल रहे और विमुख पत्रकार साथियों के प्रकोप से हमेशा वचाते रहे। देवदासजी के समय में भी और बाद में भी मेरे वेतन तथा मान में वृद्धि साहीजी की अनुकूलता के कारण ही हुई। एक उदाहरण देता हूं कि जब मुझे पद्मश्री मिली और

उसके उपलक्ष में दफ्तर में पार्टी हुई तो साहीजी उसमें आए और घोषणा की—"आज 'हिन्दुस्तान' का गौरव बढ़ा है तो इसका दर्जा भी क्यों न बढ़ा दिया जाए। आज से अखबार बी श्रेणी में आया।" मेरी पदोन्नति की घोषणा तो उन्होंने की ही। यहां इतना ही।

अब कहें तो प्रकाशक बंधुओं की भी चर्चा कर दूं। अब तक छोटी-बड़ी मेरी पचास के लगभग पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। लेकिन जानते हैं कि मेरी रायल्टी से आज आमदनी कितनी है ? सौ रुपये मासिक भी नहीं। एक प्रकाशक ने तो छह पुस्तकें एक साथ छापीं और कह दिया कि बिक ही नहीं रहीं। जाओ मुकदमा कर दो। एक प्रकाशक ने मेरे अभिनंदन ग्रंथ के साथ दो पुस्तकें भी छापीं। एक साल पुस्तकों की रायल्टी न के बराबर दी और बाद में कह दिया कि ये पत्थर के अचार मुझसे नहीं बिक रहे। लेकिन सभी ऐसे नहीं हैं। श्री रामलाल पुरी जब तक जीवित रहे तब तक आत्माराम एंड संस से मुझे नियमित रायल्टी ही नहीं, जरूरत होने पर पेशगी रुपये भी मिले। श्री कन्हैयालाल मलिक के नेशनल पब्लिशिंग हाउस ने मेरी तीन पुस्तकें छापीं। धीरे-धीरे बेचीं और कौड़ी-कौड़ी रायल्टी चुकाई। मेरी पाकेट बुके वहुत छपीं। उनसे जो तय हुआ वह सब रुपया मुझे मिलता रहा। इसी प्रकार प्रभात प्रकाशन के व्रजवासी श्यामसुंदर भाईचारे में मेरी पुस्तकें छापते हैं। मैं उनसे तय नहीं करता। जो जद मिल जाता है, उसे स्वीकार कर लेता हूं। दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन सं मेरे वड़े-बड़े ग्रथ और छोटी-वड़ी पुस्तकें निकलीं। मैंने सम्मेलन से किसी पुस्तक की भी रायल्टी नही ली। अतिम ग्रंथ 'व्रज विभव' निकला। उसकी बिक्री से प्राप्त समस्त आय मैने 'हिन्दी भवन' को भेंट कर दी। अव मेरी पुरानी पुस्तकों के कोई नए संस्करण नहीं निकालता। पाठक मांगते है। मैं क्या करूं ? इस संबंध मे एक दुःखद प्रसंग लिख रहा हूं। लाहौर में मेरे एक मित्र थे श्री देवचंद नारंग। वह हिन्दी भवन प्रकाशन संस्थान के मालिक थे। जब अग्रेजों के डर से मेरी 'कदम-कदम बढ़ाए जा !' पुस्तक को कोई नहीं छाप रहा था, तो उन्होंने हिम्मत करके दो संस्करण निकाले। रायल्टी भी दी। लेकिन जब मैं 'साहित्य संदेश' में था, तब उन्होंने मुझसे बाबू गुलाबराय के 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' की तरह किसी अन्य नाम से हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास लिखने को कहा। बाबू गुलावराय ने आज्ञा दी कि लिख दो। मैंने 'हिन्दी साहित्य का सरल अध्ययन' नाम से पुस्तक लिखी। उसके दो रूप थे—एक, प्रश्नोत्तर के रूप में और दूसरा, इतिहास के सरलीकरण के रूप में। इसके पहले संस्करण के शायद दो सौ रुपये के लगभग मुझे दिए गए। दूसरा संस्करण जब निकला तो मुझसे संशोधन और परिवर्द्धन करने को कहा गया। वह कर दिया। उसके भी कुछ रुपये मुझे प्राप्त हुए थे। इस बीच भारत का विभाजन हो गया। श्री देवचंद को लाहौर में छुरों से गोदकर मार दिया गया। लाहौर से उखड़कर उनका परिवार जहां-तहां बस गया। हिन्दी भवन का प्रकाशन उनके भाई के पास आया। वह इलाहाबाद से पुस्तकें छापने लगे। सुनता हूं मेरी पुस्तक के भी कई संस्करण हुए। यह पुस्तक कुछ जगह सहायक पुस्तकों के रूप में भी लगी। लेकिन जब-जब उनसे रायल्टी मांगी गई, तब-तब कोई उत्तर नहीं मिला। एक बार उत्तर मिला तो यह कि पुस्तक आपने हमको बेच दी है। उसके प्रमाण हमारे पास हैं। किंतु वे प्रमाण बार-बार मांगने पर भी आज तक मुझे नहीं मिले। बताइए, अब क्या करूं ? किस-किससे मुकदमेबाजी करूं ? अपना काम करूं या कचहरी के चक्कर

काटूं ? फिर यह भी डर है कि किसी एक प्रकाशक पर दावा दायर करके रायल्टी वसूल कर भी ली तो प्रकाशक बिरादरी समझेगी कि यह तो झगड़ालू लेखक है। इससे बचो। तब यही मानकर संतोष करना पड़ता है कि इन्होंने पुस्तकें छाप दीं, यही बड़ी 'कृपा' की! न्याय और अन्याय का फैसला तो आज की न्याय-व्यवस्था भी मुश्किल से ही कर पाती है। इससे भी ऊपर कोई अदालत होगी तो वह शायद फैसला करे। परंतु 'का वर्षा जब कृषी सुखाने ?"

यद्यपि व्यंग्य-लेखक होने के कारण मुझे अवगुणों को उछालने की कला आ गई है। इस उछाल को आजकल प्रोत्साहन भी मिल रहा है। कॉपीराइट एक्ट भी कहने को लेखकों के अनुकूल है। लेकिन प्रायः लेखकों का प्रकाशकों द्वारा शोषण जारी ही है। तब ऐसे समय यही दोहा आनंद प्रदान करता है–

गोधन, गजधन, वाजिधन, और रतन धन खान।
जब आवै संतोषधन, सब धन धूरि समान।।

तो मित्रो, मैं भी इस कहावत पर चल रहा हूं कि "संतोषी परम सुखी।" शोषण नहीं, पोषण, शोषण नहीं, परितोषण। जिसने दिया उसका भी भला, जिसने न दिया उसका भी भला। साथ में यह भी कि अगर ऐसे शोषण न हुए होते तो ऐसा लेख लिखने का अवसर मुझे कैसे मिलता ? शोषण कर्मयोगी को गिराता नहीं, संघर्ष करने और आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है।

जहां तक मेरा प्रश्न है मैंने ऊपर कहे हुए शोषणों को शोषण माना ही नहीं। शोषण तो कमजोर, लाचार और मूर्खों का होता है। परंतु मैंने अपने को कभी कमजोर नहीं माना। लाचारी आई तो मैंने उसे लात मार दी। मुझे मूर्ख आप कह सकते हैं। मुझे मूर्ख बनने में आनंद भी आता है। परंतु अभी तक ऐसा कोई माई का लाल नहीं जन्मा जो मुझे मूर्ख बना सके। यह गर्वोक्ति नहीं, वास्तविकता है। मैंने तो जो भी काम सामने आए उन्हें निष्ठा से किया। रस लेकर किया। उन्हें करने से आनंद की अनुभूति हुई। लेकिन शोषण से किसी को आनंद नही मिलता। इसलिए कहता हू कि कैसी भी परिस्थिति क्यों न हो, उसमें काम करो और किए जाओ। कर्म से आनंद की प्राप्ति होती है और आनंद से उस परमानंद की जिसके अभाव में दुनिया आज अपने को शोषित, अशांत और पीड़ित अनुभव कर रही है। किसी पुराने शायर का यह कथन हमेशा मेरे सामने रहा है और आज भी है–"दिल दे तो इस मिजाज का परवरदिगार दे, जो रंज की घड़ियां भी खुशी से गुजार दे।"

मैं हूं लाला अग्गरवाला

ब्राह्मण तो हम सिर्फ जन्म के ही है। नहीं तो गुण, कर्म और स्वभाव से निन्यानवे प्रतिशत पक्के लाला ही हैं। हमारे एक पत्रकार साथी, जो जन्म से लाला और इलाका विशेष में पैदा होने के कारण अपने को जाट मानते है, हमेशा हमें "आइए, लाला गोपालप्रसादजी !" कहकर समादृत करते हैं। उनका कहना भी कोई विशेष गलत नहीं है। जो आदमी चूड़ीदार पायजामे पर पशमीने की शेरवानी पहनता हो, ढीली धोती पर लंबा कोट लादता हो, और दर्जी नाप लेते समय जिसकी छाती को छत्तीस और पेट को चालीस इंच बताता हो, वह लाला नहीं तो और क्या है ?

एक बार लक्ष्मी से किसी ने पूछा कि आप ब्राह्मणों पर कृपालु क्यों नहीं हैं तो उन्होंने बताया कि जो मेरे पिता को सोख गया हो (अगस्त्य), जिसने मेरे पति की छाती में लात मारी हो (भृगु), जो मेरे आसन के कमलों के पत्रों को तोड़-तोड़कर पत्थर के शिवलिंग पर चढ़ाता हो और जो मेरी शत्रु (सरस्वती) के अहर्निश गीत गाता रहता हो, उसे मैं कैसे पसंद कर सकती हू ?

यदि उक्त बात सच है तो शायद ही कोई ऐसा मूर्ख होगा जो ब्राह्मण के घर में जन्म लेना पसंद करे। फिर आज के संरक्षणवाद के युग में कुछ राजनीति के कृपा-पात्र ब्राह्मणों को छोड़कर, अपने को ब्राह्मण बताना, जानबूझकर अभिशप्त जीवन को वरण करना है। पाठशाला में दर्जा अ के रजिस्टर में हमारा नाम गोपालदास लिखा गया था। अगर वही नाम चलता रहता तो हम भी न जाने कितनी सुविधाओं के हकदार हो गए होते। किन्तु कर्म-विपाक से जब हम हम संस्कृत की एक पाठशाला में प्रविष्ट हुए तो वहां के आचार्य, हमारे गायत्री दीक्षा-गुरु गोस्वामी लक्ष्मणाचार्य ने हमारा नाम ही पलटकर धर दिया–गोपालप्रसाद व्यास। इस 'व्यास' शब्द ने भविष्य की सारी संभावनाएं चौपट कर दीं। कविताएं कीं, पर महाकवि नहीं बन सके। पत्रकारिता में पड़े, चालीस वर्ष तक भाड़ झोंका, लेकिन संपादक नहीं बने। पद्मश्री ही मिली, लेकिन राज्यसभा तक नहीं पहुंचे। यह

इसलिए हुआ कि हम जन्म से ब्राह्मण हैं। अगर लाला होते तो हमें यह कहना न पड़ता—"किस्मत की बात देखिए टूटी कहा कमद, दो-चार हाथ जबकि लब-ए-बाम रह गया।" लेकिन इससे क्या होता है ? नाम मे क्या रखा है ? काम पर जाइए ! मेरे हर काम में लालापन की वृत्ति वैसी ही छिपी हुई है, जैसे कि हर झडा उठानेवाले स्वयंसेवक में मंत्री बनने की ललक।

अब जो बात मैं लिखने जा रहा हू वह आयकर वसूल करनेवालो के लिए नहीं है। इसे सिर्फ मुझसे सहानुभूति रखनेवाले पाठक ही पढ़े। भला जिसका सप्तपुरियो में से एक विशेष पुरी (मथुरा) मे मकान हो, दुकान हो, मदिर हो, जिसके जन्मस्थान पर उसके नाम से धर्मशाला हो, भारत की राजधानी की एक आलीशान बस्ती मे जिसकी तिमजिली कोठी हो, जिसके बैंक मे हजारो रुपये जमा हो, वह लाला नही तो और क्या है ? यह सब ब्राह्मण विद्या के कारण सभव नही हुआ। यह चमत्कार तो लालाओ के अखड सत्सग, उनके अनुकरण और आशीर्वादो का ही सुफल है। इसलिए मे अपने को लाला ही नही, उनमे भी प्रमुख अग्गरवाला मानता हू। मेरे साहित्यिक ओर पत्रकार मित्र ता बस कहने को ही हैं। मेरे जीवन के सच्चे साथी तो बसल, कसल, गोयल, मित्तल और गुप्ता ही है। जिदगी में सबने धोखा दिया, लेकिन अभी तक मैंने इन लालाओ से धोखा नही खाया। दर्जनो सस्थाए चलाई लेकिन अपने बल पर नही, लालाओं के बूते पर। उन्ही के बल पर मे साहित्य और पत्रकारिता मे चला हू। लालाओ ने मुझे सराहा हे। उन्हाने ही मेरा साहित्य खरीदा हे।

जिन-जिन अखबारा म गया, उनके व धडाधड ग्राहक बनते गए। मुझे पद्मश्री मिली तो लालाओ ने अभिनदना और सम्मान-समारोहो के ताते वाध दिए। मैं विदेश गया तो उन्होने पार्टियों-पर-पार्टिया जमा दी। किस भड़ुए साहित्यकार या पत्रकार का केवल पचास वर्ष की अवस्था मे ऐसा मोटा अभिनदन ग्रथ निकला जेसा कि मेरा। कही टलुए साहित्यकारों के अभिनदन हुआ करते हे। यह ता लालाओ की ही महरवानी थी कि आए दिन मेरी गर्दन फूलमालाओ से झुकी रहती थी।

मजाक करने की मेरी आदत हे, किंतु कृपाकर मेरी इस वात का मजाक मे मत लीजिए। एक कर्मेष्ठी ब्राह्मण के घर पैदा होकर भी, यानी यज्ञोपवीत होने तक वनियो को ब्राह्मणों से श्रेष्ठ मानता रहा हू। उसके पीछे एक महत्त्वपूर्ण घटना हे। वह यह कि मेरी शिक्षा अथ से इति तक अग्रवाल पाठशाला, अग्रवाल मिडिल स्कूल ओर अग्रवाल हाईस्कूल में हुई। मथुरा का ब्रज साहित्य मडल भी मेने अग्रवालो के बल पर चलाया है और दिल्ली का हिन्दी साहित्य सम्मेलन भी इन्ही के सहारे चला है। जैसा कि मेरे साहित्यिक मित्र कहते हैं, और ठीक ही कहते हैं कि वह लालाओ की सस्था हे। पर छोडिए, मैं आपको एक घटना बता रहा था। जुबान ही नही, मेरे हाथ भी खूब चलते थे। मैंने उस दिन एक बडे लाला के लड़के को किसी बात पर जरा जमकर पीट दिया। लालाओ की पाठशाला और उसमे पीट दिया जाए किसी बडे लाला का होनहार लाला। हगामा मच गया ? लडकों ने मुझे घसीटकर मास्टरजी के सामने हाजिर कर दिया। मास्टरजी भी सौभाग्य से अग्गरवाला लाला थे। उन्होंने मेरे कान खींचते हुए पूछा—"क्या बात थी ?" मैंने रोते-रोते बताया—"मास्टरजी, यह कह रहा था कि बनिये बड़े होते हैं और ब्राह्मण छोटे। उसने मुझे धक्का दिया। मैंने भी उसको

मारा।" इस पर मास्टरजी ने मेरे एक की जगह दोनों कान पकड़ लिए और बोले–"यह ठीक ही तो कह रहा था। ब्राह्मण छोटे और बनिये बड़े होते हैं।" कसम आपकी इस घटना के बारह वर्षों तक मैं वर्ण-व्यवस्था में बनियों को ही बड़ा मानता रहा। आज भी मास्टरजी की कान पकड़कर दी हुई शिक्षा भूली नहीं है। दुनिया कुछ कहती रहे, मैं जातियों में सबसे बड़ी जाति लालाओं की ही मानता हूं।

ला-ला ! वर्णमाला में अनेक अक्षर हैं, लेकिन 'ल' उन सबमें लाजवाब है। जब मैं पटा-बनैटी सीखा करता था तो उसमें उड़ी लगाने की एक कला सिखाई जाती थी। इसमें सिर के बल उड़ान भरकर फिर धरती पर आया जाता है। 'ल' अक्षर की बनावट को देखिए। यह भी एक बार नहीं, दो बार उड़ान भरकर डंडे को पकड़ता है। इसलिए सत्ता किसी के हाथ में रहे, उसका डंडा लाला के ही हाथ में रहता है। वित्तमंत्री कोई बन जाए, दो उड़ानों की घुंडी लाला के ही पास है।

अजी, 'ल' के बिना न लता लहराती है और न लहर लहर लेती है। न जीवन में ललक पैदा होती है, न व्यवहार और नृत्य में लचक। ललित कलाओं का जन्मदाता 'ल' ही तो है। थैली और कुर्सी के लिए लपक ल ने ही तो पैदा की है। अगर ल न होता तो न लोग होते और न लुगाई। जी, न लखनऊ बचता और न लंदन, लायलपुर न लिवरपूल। ल का पराक्रम देखना हो तो राम के छोटे भाई लक्ष्मण में देखिए। और तो और, मजदूरों को लाल झंडा भी हमारे ल ने ही प्रदान किया है। लोकदल भी 'ल' से बना है और जिसमें हम मर-मर कर जी रहे हैं लोकतंत्र भी 'ल' की ही देन है। आपका किसी से कभी 'लव' हुआ है। वही लव, जो उर्दू में चुम्बन का आधार है और अंग्रेजी मे यौनाचार का प्रारंभिक व्यापार है। बाबा तुलसीदास भी सत्संग के संबंध में जिसका प्रयोग करते हुए लिख गए हैं– 'जो मिल लव सत्संग' वह लव भी 'ल' का ही लालित्य है।

हमारे राष्ट्रपिता कोई बामन-आमन नहीं थे। शुद्ध मोढ़ जाति के लाला थे। कामायनी किसी विप्रवंश अवतंश की लिखी हुई नहीं है। राष्ट्रकवि की उपाधि देश में उसी को मिली जो अपने आपको 'मैं थैलीशरण' कहते थे। चंद्रभानु गुप्त से लेकर देशबंधु गुप्त तक कैसे-कैसे प्रतापी लाला हो गए हैं इस देश में। मैं आपसे पूछता हूं कि लाला हनुमंत राय के समान कोई क्रांतिकारी हुआ है ? लाला हरदेव राय के समान गोरक्षक किसी ने देखा है या लाला जगतनारायण के समान कोई देशधर्म पर दूसरा शहीद हुआ है ? भारत की श्रीसम्पदा की कहानी तो हमारे लालाओं के पुरुषार्थ की ही कहानी है।

हे मेरे पत्रकार बंधुओ, मेरी बात कान लगाकर सुनो। मैं अपने दोनों हाथ उठाकर पूरे जोर से कहता हूं कि जिसने लालाओं को नहीं जाना, उसने देश को नहीं जाना। अर्थशास्त्र पुस्तकों को पढ़ने से नहीं आता। बिना पढ़ा-लिखा लाला भी ऊंचा अर्थशास्त्री होता है। तर्कशास्त्र पढ़ना चाहते हो तो लालाओं की शरण जाओ। भावों को गिराने और उठाने में जैसे-जैसे तर्क वे देते हैं उनके सामने सी. डी. देशमुख से लेकर सी. सुब्रह्मण्यम तक और मोरारजी से लेकर प्रणव मुखर्जी तक सब पानी भरते नजर आते हैं। मनोविज्ञान पढ़ना है तो उनका शिष्यत्व स्वीकार कीजिए। छोटे-छोटे अफसरों से लेकर बड़े-बड़े मंत्रियों तक से परमिट, लाइसेंस और ठेके प्राप्त करने में जैसी मनोवैज्ञानिकता वे बरतते हैं और जिस तरह

सामनेवाले की कमजोरी का पता लगाकर साम-दाम से उससे अपना काम निकालते हैं, वह क्या किसी प्राचीन या आधुनिक चाणक्य, फ्रायड, एडलर जुंग और डी. एल. कारनेगी के बूते की बात है ?

राजनीति तो हमारे लालाओं की चेरी है। किसी को बना देना या बिगाड़ देना उनके बाएं हाथ का खेल है। श्रीमानजी, भारत में सरकारें बनती या बिगड़ती हैं, वे वोटों के कारण नहीं, हमारे लालाओं के नोटों के कारण आती और जाती हैं। इसलिए हे राजनीतिशास्त्र के अध्येताओं, भारत की आंतरिक राजनीति को जानना चाहते हो तो पहले लाला-नीति को जानो। शासन के सूत्र आफिसों की गुप्त फाइलों में बंद नहीं हैं। वे लालाओं की बहियों और बस्तों में छिपे हुए हैं।

क्या अद्‌भुत स्वभाव पाया है हमारे लालाओं ने ? जब तक काम न निकले उन जैसा नम्र व्यक्ति आपको देखने को नहीं मिलेगा। और, मतलब निकल गया तो पहचानते नहीं। देना होता है तो सबको देते हैं—गांधी को भी और गोडसे को भी। कांग्रेस को भी और मार्क्सवादी को भी। संघी को भी और साम्यवादी को भी। नहीं देना हो तो बड़े-बड़े लौहपुरुषों को भी अंगूठा दिखा देते हैं।

आपसे क्या छिपाऊं। मैंने लालाओं की नौकरी की है और लाला देवदास गांधी से पत्रकारिता का पदार्थ पाठ पढ़ा है। मेरे एक समाचार-सपादक थे लाला जगन्नाथ गुप्ता। मुझसे बड़े नाराज रहते थे। खाना-पीना उनकी कमजोरी थी। मैंने उनको महीनों घी-बूरा खिलाया था। जब तक घी-बूरे की चसक रहती, वह मुझसे और मेरे मित्रों से मीठा बोलते थे। जैसे ही उसका असर समाप्त होता और मेरे लिए कोई फोन आता या पूछता कि व्यास कहां है, तो उनका उत्तर होता—जहन्नुम में। इसलिए भाइयो, सबसे बिगाड़ो, लालाओं से नहीं।

पत्रकार कला का दूसरा नाम है—प्रचार कला। इस कला को कोई लालाओं से सीखे। वह संस्थाओं को रकम तब देते है जब जलसे में कोई मंत्री आए और वे उसकी बगल में बैठें। फोटो सिर्फ खिंचे ही नहीं, अखबारों में छपे भी। रेडियो और टी. वी. का डौल हो तो रकम और ले जाओ। इसी प्रचार के लिए वे रामलीला कराते हैं, भंडारे लगाते हैं, रजाई-कम्बल बांटते हैं, महामारी और अकाल के समय मोटी-मोटी रकमें देते है। बेचारे साहित्यकार, कलाकार और रात-दिन अखबारों में खपनेवाले पत्रकार अखबारों में अपना नाम देखने के लिए तरस-तरस कर मर जाते हैं। लेकिन हमारे लाला किसी भी दिन किसी भी अखबार के मुखपृष्ठ को धन्य कर सकते हैं। मैं अपने साहित्यिक और पत्रकार मित्रों में बड़ा प्रोपैगेन्डिस्ट माना जाता हूं। यह गुण मैंने कहां से सीखा ? निश्चय ही पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी से नहीं, न समाचार एजेंसियों और न अखबारों के बिके हुए संवाददाताओं से। जी, यह गुण मैंने अपने सुविज्ञ लालाओं से सीखा है। जो लाला-बिरादरी को नहीं जानता, वह पत्रकार-बिरादरी में रहने योग्य नहीं है। जो लालाओं को पटा सकता है, उसे मंत्रियों को पटाने में देर नहीं लगती। जो लालाओं से काम निकाल सकता है, वह जमाने से काम निकाल सकता है।

लाला की डिक्शनरी में लाचारी शब्द नहीं होता। लेकिन लाचारी का ज्ञान जितना

लाला को है उतना तो चौधरी चरणसिंह को भी नहीं था। बाबू जगजीवनराम को भी नहीं था। हमारे नेता और मंत्री भी जनता की लाचारी का भरपूर लाभ उठाते हैं। फर्क इतना है कि ये दोनों जल्दी बदनाम हो जाते हैं, लेकिन हमारे लाला हमेशा नेकनाम बने रहते हैं और परोपकारी समझे जाते हैं। एक घटना याद आ रही है। जब मैं दैनिक हिन्दुस्तान में आया ही आया था तो...जी व्यापार पृष्ठ संभालते थे। वर्षों से नाइट ड्यूटी करते चले आ रहे थे। लेकिन वेतन के नाम पर उन्हें सिर्फ अस्सी रुपये ही मिलते थे। परिवार बड़ा था। दो लड़कियां विवाह योग्य भी हो गई थीं। परंतु न वेतन बढ़ता था और न ऊपर की आमदनी। बड़ी लाचारी और निराशा में दिन कट रहे थे। इससे क्या ? संगत तो उनकी लालाओं की थी। मंडियों के भाव लेने तो वह उनके पास आते-जाते ही रहते थे। कुछ सहृदय लालाओं से उन्होंने अपना दुखड़ा भी कहा ही होगा। लाला लोगों में सहृदयता का अभाव नहीं होता। विशेषकर तब, जब किसी का भला करने में उनकी भलाई भी छिपी हुई हो।

एक दिन सर्राफा बाजार के दो मोटे लालाओं ने उन्हें अभाव की वैतरणी पार करने के लिए मजबूत पतवार थमा दी।...जी बड़ी सात्विक प्रकृति के गांधीवादी व्यक्ति थे। असहयोग आंदोलन में शायद जेल-वेल भी गए थे। मोटी खादी के धोती-कुर्ते पहनते थे। निश्चय ही लालाओं की दी हुई पतवार पकड़ते समय उनके हाथ कांपे होंगे। दिल में धकधक हुई होगी। क्योंकि उस दिन शाम को मैंने उन्हें देखा तो वह मेज पर कुहनियां टिकाए दोनों हाथों से सिर थामे हुए थे। हमारे देश में असत्य पर सत्य की विजय तो केवल दशहरे वाले दिन होती है, बाकी तीन सौ चौंसठ दिन तो असत्य अपराजेय ही बना रहता है। मै कल्पना कर सकता हूं कि...जी ने उस दिन कलम उठाई होगी तो उनके सामनेवाले कागज पर अंधेरा छा गया होगा। लेकिन यह अंधकार अधिक नहीं टिका। लालाओं का मंत्र काम कर गया। कलम चली। सोने-चांदी के भाव उछले। दूसरे दिन बाजार में हंगामा मच गया। मंत्रदाता लालाओं के लाखों के वारे-न्यारे हो गए।

अगले दिन बेचारे टेलीफोन की मुसीबत आ गई। संपादक से लेकर डाइरेक्टर तक परेशान हो गए।...जी को तलाशा गया। घर पर ताला लगा हुआ था। तब से अब तक किसी को उनका पता नहीं चला कि वह कहां गए और कहां रहे ? दस-बारह वर्ष बाद एक बार वह मुझे कानपुर में मिल गए। उन्होंने बताया कि वह अभी तक यह निश्चय नहीं कर पा रहे हैं कि उन्होंने पाप किया या पुण्य ? कहते हैं कि कन्यादान से बढ़कर कोई पुण्य नहीं होता। उसे करने से सभी पापों का क्षय हो जाता है। हमारे...जी के भी पाप क्षय हो गए और शायद आशंकित क्षय रोग से भी बच गए। लालाओं की कृपा से !...जी की कन्याओं के हाथ पीले ही नहीं, मेंहदी से लाल भी हो गए। बाजार में उतार-चढ़ाव तो आया ही करते हैं। लाला लोग इनके आदी हो चुके हैं। जिनका उस दिन टाट उल्टा था आज वही लच्छमैया की कृपा से फिर लाखों में खेल रहे हैं और जिन्होंने उस दिन वारे-न्यारे किए थे, उनके करोड़पति होने में किसी को संदेह नहीं रह गया। परंतु आज के पत्रकार हैं कि एक-एक बोतल पर ईमान बेच देते हैं। अरे, दांव मारो तो गहरा मारो। बार-बार नहीं, जीवन में सिर्फ एक बार कि जिससे हमेशा के लिए बेड़ा पार हो जाए।

जिस दिल्ली में मैं रहता हूं, वहां चार वर्ण या अवर्ण अथवा सूचित-अनुसूचित जाति

के लोग नहीं रहते। वहां केवल दो ही जातियां निवास करती हैं।...एक लाला और दूसरी गैर लाला। केवल दिल्ली ही क्यों, सारा देश आज इन्हीं दो जातियों में विभक्त है। इन्हें राजनीतिक मूर्ख लोग 'हैव्स' या 'हैव्स नॉट' कहने का कुप्रयत्न करते हैं। हिन्दी के असमर्थ अनुवादकों के पास इन शब्दों के सही पर्याय नहीं हैं। इसलिए वे भ्रमवश इन्हें सम्पन्न या विपन्न अथवा धनी या निर्धन कह दिया करते हैं। परंतु वे लाला शब्द का अर्थ ही नहीं जानते। लाला का अर्थ है...ला और जल्दी ला। यह भी ला और वह भी ला। जो ला से युक्त है, वही लाभ से सम्पन्न लाला है। नहीं तो ल से लट्टू, ल से लटकन, लि से लिखिया (क्लर्क)। ली से लीचड़ या लीपापोती। लु से लुक्का या लुच्चा। ले से लेखक या सिर्फ लेबल। लै से लैला-मजनू नहीं, सिर्फ लैमन जूस। लो से लोकल नहीं, लोफर। लौ से लौह खनिज नहीं, सिर्फ लौकी। महाशयजी, ल की बारहखड़ी, आप लाख कुछ भी करें, लंगूर पर समाप्त होती है।

और लाला का विकट पहाड़ा दो दूनी चार, चार दूनी आठ, आठ दूनी सोलह, सोलह पंजे अस्सी, अस्सी पंजे चार सौ। उसमें जोड़े बीस। तुम निकालते रहो खीस। लाला का काम उन्नीस नहीं, पैंतीस।

व्यासजी अपनी सचेतावस्था से ही राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा में संलग्न हैं। उन्होंने साहित्य की अनेक विधाओं से अपने इस कार्य को सपन्न किया है। शुद्ध साहित्यिक कारोबारी न होकर वह राष्ट्रीय भावना के भी मूर्तिमंत प्रतीक हैं।

—वाचस्पति पाठक

श्री व्यासजी अपनी साहित्यिक सेवाओं के लिए सदैव स्मरणीय रहेंगे। आणविक युग में राजनीतिक और पांथिक धर्मों को विदा होना है और उनकी जगह विज्ञान और आत्मज्ञान को लेनी है। विज्ञान और आत्मज्ञान को जोड़नेवाली शक्ति व्यासजी जैसे साहित्यिकों और शिक्षकों की होगी।

—विनोबा भावे

मेरे मित्र व्यासजी की हिन्दी-सेवा स्तुत्य है।

—राजर्षि टंडन

मजे चांदनी चौक के : दास्तान दिल्ली की

बचपन में जब कभी ननसाल जाता तो मुझे बड़ा प्यार-दुलार मिलता। क्योंकि घर में कोई बच्चा नहीं था। नानी कहानी सुनातीं। मामियां गीत गातीं। बड़े मामा कुंजबिहारी पैरों में घुंघरू बांध देते। कहते—"गुपाल, नाच!" लेकिन छोटे मामा मुरलीधर के प्यार का इजहार अनोखा था। वह कहते—"दिल्ली देखेगा?" मैं उत्तर देता—"देखूंगा!" वह मेरे दोनों कानों को दबाकर कनपटियों के सहारे मुझे ऊपर उठाकर तान देते और पूछते—"दिल्ली दीख रही है?" दिल्ली तो क्या दीखती, मेरे कान जरूर दुखने लगते। जल्दी से मैं इस त्रास से मुक्त हो जाऊं, इसलिए कहता—"दीख रही है।" वह पूछते—"चांदनी चौक का घंटाघर दिखाई पड़ रहा है। बताओ, कितने बजे हैं?" कान झनझना उठते। कनपटियां दुखने लगतीं। तो नानाजी हुक्के की नै निकालकर मामा को डांटते कि छोड़ दे इसे। मुझे छुटकारा मिल जाता। यह था मेरा प्रथम दिल्ली-दर्शन।

जैनेन्द्रजी ने दिल्ली में हिन्दी परिषद् बुलाई। बड़े-बड़े साहित्यकार उसमें आए। बाबू गुलाबराय के साथ मैं भी शामिल हुआ। नामी-गिरामी साहित्यकारों के साथ-साथ मैंने पहली बार दिल्ली के दर्शन किए। तब चांदनी चौक और घंटाघर भी देखा। उन दिनों चावड़ी बाजार ही जी. बी. रोड था। नीचे लोहेवालों और बर्तनवालों की सजीधजी दुकानें तथा ऊपर बनी-संवरी वारांगनाएं झरोखों से झांकती हुई और बरामदों में बैठी हुई। नीचे लोहा बजता और बर्तन खनकते, ऊपर घुंघरू झनकते और सारंगी-तबले गमकते। कुतुब की लाट तो नहीं देखी, लेकिन जंतर-मंतर जरूर देखा। देखा बाराखम्भे का बाजार, जिसे कनॉट प्लेस कहते हैं। एक रात चांदनी चौक से गुजरते हुए परांठेवाली गली के परांठे भी खाए। चार-चार, छह-छह पर्तों वाले—बस!

अगस्त क्रांति थमी, तो जैनेन्द्रजी ने दिल्ली बुला लिया। तब दरियागंज देखा। वहां देखने लायक कुछ भी था ही नहीं। फिर मुस्लिम बहुल मोहल्ले रोदगरान में बसा, पूरे बारह वर्ष। वहां देखी हिन्दू-मुसलमानों की मिल्लत। मजेदार जगह थी वह। दाहिनी ओर से

'हिन्दुस्तान' के दफ्तर जाता तो नीचे दल्ले और ऊपर कोठेवालियां। बाईं ओर से बरास्ता काजी हौज गुजरता तो लाल कुएं पर पुरानी चावड़ी की तरह मेकअप किए, आंख मारते, हाथ से ऊपर आने का इशारा करते मिल जाते वृहन्नला के वंशज। दंगों के दिनों में कुछ दिनों बाजार सीताराम में भी रहा। वहां देखी कांग्रेसियों और जनसंघियों की नोकझोंक। लेकिन जब भारत के प्रथम राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू की कृपा से मुझे टीन के सायबान की बजाय चांदनी चौक के भगीरथ पैलेस में एक सुविधाजनक छह कमरों का फ्लैट मिल गया तो मैंने देखी वास्तविक रूप में दिल्ली।

जिसने दिल्ली नहीं देखी, उसने कुछ नहीं देखा। जिसने चांदनी चौक के मजे नहीं लिए, उसका जीवन अकारथ ही गया समझो। मैंने उन दिनों लिखा भी है–

तू दिल्ली में बस जा, बस जा,
सरकार यहां पर बसती है,
हर चीज यहां पर सस्ती है

चांदनी चौक, बाराखंभा, बिरला मंदिर के आसपास,
तू रोज घूमने जाया कर,
तबियत भी यहा बहलती है।
जो रोज घूमने जाएगा।
तो नई रोशनी पाएगा।
दो-चार दिनों के चक्कर मे,
कविता लिखना आ जाएगा।

कविता तो मैं पहले भी लिखता था, लेकिन चांदनी चौक में बसकर जो लिखा उसमें चांदनी की चमक आ गई।

क्या कहने हैं चांदनी चौक के। एक छोर पर लाल किला, जामा मस्जिद, जैन मंदिर, हर हर महादेव गौरीशंकर का मंदिर, ईसाइयों का गिरजाघर। बीच में शीशगंज गुरुद्वारा। आगे बढ़ो तो लाल पत्थर का सुंदर घंटाघर। दूसरे छोर पर फतेहपुरी मस्जिद। चांदनी चौक के बीच में जब नहर बहती होगी। फव्वारे चलते होंगे। शाही सवारियां निकलती होंगी। उन दिनों का क्या कहना। विश्व में ऐसा बाजार कोई नहीं रहा होगा। ये सब तो नहीं रहा, फिर भी चांदनी चौक में बहुत कुछ रह गया है। चाहे लाल किले के बाग में घूमो, चाहे कंपनी बाग में। सब ओर हरियाली ही हरियाली। जहां आजकल लाजपत राय मार्किट है, वह भी हरा-भरा और पेड़ों से भरा हुआ था। चांदनी चौक के दोनों ओर निकलनेवाली गलियां। गलियों में गलियां। एक मोहल्ले से दूसरे मोहल्ले में जानेवाले छत्ते। एक तरफ से निकलो तो गलियो-गलियों फिर चादनी चौक में। तब इतने कटरे और भीड़-भाड़ नहीं थी। पटरियों पर बाजार नहीं लगते थे। घूमते-घूमते अकेले, किसी साथी या साथिन के साथ दरीबे के नुक्कड़ पर देशी घी की जलेबियां खाओ। शाही घंटेवाले की दुकान पर तरह-तरह के मिष्ठान्नों और पकवानों का मजा लो। मिठाई से मन ऊब जाए तो चाट की दुकानों पर पहुंच जाओ।

पिन्नी के लड्डू खाने हों तो वह भी मिलेंगे। घेवर भी मिलेगा। सोनहलवा भी मिलेगा, पतीसा भी मिलेगा और दालमोंठ भी मिलेगी। जगह-जगह गन्ने का रस भी मिलेगा। तब विदेशी टाइप शीतल पेय नहीं निकले थे। मिलता था मौसमी और संतरे का जूस। दुकानों पर ही नहीं, ठेलों पर भी। अगर अपच की शिकायत हो तो सोडावाटर की भी एक प्रसिद्ध दुकान थी। अगर पास में पैसे न हों तो चांदनी चौक में एक भाड़ भी था—चने खाओ। जगह-जगह प्याऊ हैं, ठंडा पानी पियो और गोझा हिलाते हुए घर लौट आओ।

रात में जब मेरी नींद खुल जाती है तो फिर नींद नहीं आती—चाहे दो बजे हों या तीन। उठते ही चाय की तलब लगती है। तब चांदनी चौक में कई ठीये ऐसे थे और शायद अब भी होंगे, जहां रातभर चाय, टोस्ट और मक्खन मिल जाया करते थे। चाहे इस तरफ पत्थरवाले बाजार में चले जाओ या फव्वारे के बगल के सिनेमा के पास। इस तरफ भी और उस तरफ भी रात-रातभर चाय पीनेवालों के जमघट लगे रहते थे। अगर कभी कॉफी पीनी होती तो मैं दिल्ली जंक्शन चला जाया करता था। चांदनी चौक का आलम खूबसूरत ही नहीं, स्वादिष्ट भी है। सवेरे यहां गरम-गरम नगौरियां और हलवा, जलेबी और कचौरियां। रात को उतरती हैं गरम-गरम इमरतियां। कभी यह कहावत थी कि दिल्ली का लड्डू जिसने खाया वह भी पछताया और जिसने न खाया वह भी पछताया। लेकिन अब वह बात नहीं रही। दिल्ली जैसा मोतीचूर का लड्डू हिन्दुस्तान-भर में नहीं मिल सकता। कभी मथुरा-आगरे के पकवान, मिठाइयां बहुत मशहूर थे। लेकिन दिल्ली ने अब सबको पीछे छोड़ दिया है। कलकत्ते से भी अच्छे रसगुल्ले और राजभोग अब चांदनी चौक में मिलते हैं। बीकानेर की भुजिया, रतलाम के नमकीन और आगरा का पेठा और दालमोंठ अब चांदनी चौक का मुकाबला नहीं कर सकते।

अच्छा, आप मधुमेह के शिकार हैं। डाक्टरों ने तली हुई तथा बाहर की चीजें खाने से मना कर रखा है तो आ जाइए फतेहपुरी मस्जिद की बगल की खारी बावली में। भारत का कोई ऐसा फल नहीं जो यहां हर मौसम में न मिल जाता हो। मांसाहारी हैं तो जामा मस्जिद के सामनेवाले उर्दू बाजार में पहुंच जाइए। यहां किसम-किसम की मछलियां मिल जाएंगी। मुर्गे और बकरे का ताजा गोश्त भी मिल जाएगा। झटके का भी और हलाल का भी। यदि शाकाहारी हैं तो सवेरे-सवरे छह से नौ बजे तक यहां कई स्थानों पर सब्जी बाजार लगते हैं। दरीबा और किनारी बाजार में परांठेवाली गली से लेकर मोती बाजार तक बहुतायत से तरह-तरह के फल और ताजी सब्जियां मिल जाएंगी। दिल्ली के बड़े-बड़े रईसजादे यहां मोटरों में बैठकर सब्जी खरीदने आते हैं। उनका कहना है कि जो सब्जी खरीदना नहीं जानता, न वह माल खरीद सकता है, और न बेच सकता है। ढेर में से सब्जी तथा फलों को चुनना जौहरियों के नगीने चुनने के समान है। दिल्लीवाले रोटी-पूरी कम और सब्जी अधिक खाते हैं। चांदनी चौक के रहनेवालों से, जब वे दावत खाकर आएं तो पूछो कि क्या खाया ? तो पहले सब्जियों के नाम बताने लगते हैं—आलू दम, मटर पनीर, शाही कोरमा, लिपटमा टिंडे, वगैरह-वगैरह। हां, एक बात तो मैं भूल ही गया कि अगर आप दूध-दही और रबड़ी के शौकीन हैं तो आपको नया बांस जाना पड़ेगा। यहां आपको कड़ाही में एक उबाल का दूध मिल जाएगा। चक्क मलाईदार दही मिलेगा। लस्सी ऐसी मिलेगी

कि मुंह से लेकर नाभि तक लकीर बन जाए। रबड़ी ऐसी कि जो खोया मिली हुई नहीं, सिर्फ मलाईवाली। अगर खोयेवाली खानी है तो वह सिंकदराबाद से आती है। खोमचों में बिकती है।

अब रह गए पान। दिल्लीवाले पान के बड़े शौकीन हैं। तो हाजिर हैं जगह-जगह पर देशी पुराने पान। महाराजपुरी भी, महोबाई भी। क्या कहने हैं कत्थे-चूने और उसकी मिलावट के। देशी नहीं, बनारसी चाहिए तो आइए चांदनी चौक के कटरा नील में। असली मगही भी मिलेगा और जगन्नाथी भी। मलाईदार खुशबूवाला कत्था। पान ऐसा कि मुंह में जाते ही घुल जाए और पता न चले कि कहां गया।

बात नील के कटरे की आई तो बता दूं कि उन दिनों दिल्ली में कोई दूसरा ऐसा मोहल्ला नहीं था। गोरे-छरहरे खत्री और उनसे भी खूबसूरत तथा नाजो-अदावाली खत्रानियां। जब घर से बाहर निकलतीं तो लोग ठगे से रह जाते। इस मोहल्ले से मुझे खास लगाव था। यहां मेरे अग्रजतुल्य भाई रामधन शास्त्री रहते थे। उनकी पत्नी माधवी देवी साहित्यकारों की आश्रयदाता थीं। इसी मोहल्ले में मेरे ममिया ससुर, तइया ससुर, उनके लड़के यानी मेरे साले रहते थे। इस नाते यह मोहल्ला मेरी नई ससुराल बन गया था। लाल किले में कविता सुननेवाले तथा वालियां मुझे रामधनजी के घर और अपनी ससुराल के ठीये पर देखकर मुस्कराते और बतियाते थे। रस और बतरस का केन्द्र था मेरे लिए कटरा नील।

मैंने भागीरथ पैलेस के मदन कुंज में रहकर चांदनी चौक ही नहीं, पूरी दिल्ली को गहराई से देखा है। दूर तक देखा है। भागीरथ पैलेस तो अब नाम पड़ा। पहले यह बाग बेगम नसरू था। आज के भागीरथ पैलेस में अंतिम मुगल बादशाहों में से एक की बेगम यहां रहती थी। बाद में यहां बसे एक रईस ने हजारों रुपये खर्च करके एक सुंदरी वेश्या-कन्या की नथ उतारी थी। उस समय के रईसों के ये शौक थे। लोगों की निगाह में ऐसे कार्यों से उनका रुतबा बढ़ता जाता था। तब पुरानी दिल्ली के रईस घोड़ागाड़ी रखते थे। कुतुब के रास्ते में उनके ऐशगाह होते थे। वहां महफिलें लगा करती थीं। दिल्ली के उच्च मध्यवर्ग के लोगों के बारे में यह प्रसिद्ध था कि उनकी कोई न कोई एक रखैल होती है जिसे वे प्रेमिका का नाम दिया करते थे। शौकीन मिजाज थे दिल्ली के लोग। वह फुरसत न होते हुए भी गप्पों के लिए फुरसत निकाल लिया करते थे। गोष्ठियां और गोठें होती थीं। वृद्ध लोग पुराने किले के भैरोंजी के मंदिर में सुबह-सुबह जाते। लौटते हुए गौरीशंकर के मंदिर में दर्शन करते। तब दुकान या दफ्तर की किवाड़ खोलकर गद्दी या कुर्सी को महादेवजी का थड़ा मानकर ढोक देते और कामकाज में जुट जाते। शाम को खाना दुकान पर ही मंगवा लेते और अपने मुनीमों तथा यार-दोस्तों के साथ मिल-बांटकर खाते। मुगलों के जमाने की सुनी हुई और अंग्रेजों के जमाने की देखी हुई दास्तानें उनके मुंह से सुनने में ज्ञानवर्धन होता था और बड़ा आनंद आता था। प्रौढ़ों तक यह परंपरा चली। दिल्ली के लोग कमाते भी खूब थे और दीन-दुखियों की सहायता भी खूब करते थे। सवेरे कबूतरों, चिड़ियों व चींटियों को चुग्गे डालते। दोपहर को भूखों को रोटियां दिलवाते गौरीशंकर मंदिर के सामने। जगह-जगह स्वयं या लोगों से धन एकत्र करके प्याऊ लगवाते और जाड़ों की रात में पटरियों

पर सोए लोगों पर चुपचाप कंबल या रजाई उढ़ा आते। लगभग सभी किसी न किसी समाजसेवी संस्था से जुड़े होते। यहां मुसलमान भी कट्टर थे और हिन्दू भी। मुसलमान जुमे की रात नमाज पढ़ने के लिए जुलूसों की शक्ल में जाते और हिन्दू मुसलमान शासकों के जमाने में ही बड़े जोर-शोर से रामलीला की सवारी निकालते थे और आज भी निकालते हैं। पहले दिल्ली शहर की एक ही रामलीला थी, अब तो पचासों हो गई हैं। अब तो जन्माष्टमी और रामनवमी पर बड़ी-बड़ी धार्मिक सवारियां निकलती हैं। लेकिन पहले जैनियों की रथयात्रा, जगन्नाथजी की रथयात्रा और सिखों के गुरुपर्वों पर लंबी-लंबी शोभायात्राएं और सवारियां निकलती थीं। मेरी भी दिल्ली में धूमधाम से सवारियां निकली हैं। होली पर मूर्ख महासम्मेलन की और हिन्दी दिवस पर मेरी सवारियों को देखने के लिए हजारों लोग बाजारों के दोनों ओर घंटो बैठे रहते थे। गुरुद्वारों का कड़ाह प्रशाद और लंगर सब जातियों के लिए खुला हुआ था। तब रैन-बसेरे नहीं बने थे, लेकिन गुरुद्वारे में जाकर कोई भी रात बिता सकता था।

बड़ी सामाजिक और राजनीतिक चेतना थी दिल्लीवालों में। हर घर में प्रायः कोई न कोई अखबार आता था। पार्कों और मोहल्लों के चबूतरों पर इनके सामूहिक पाठ भी हुआ करते थे। दिल्ली के लोग जब सुबह घर से निकलते तो दीवारों पर चिपके हुए पोस्टरों को पढ़ते हुए जाते थे। लोग खुलकर रायजनी करते थे। किसी मोहल्ले या बाजार में कोई घटना हो जाती तो कानोंकान दिल्ली भर में फैल जाती थी। अफवाहें उड़ने लगती थीं। अफवाहों के मामले में दिल्ली नंबर एक रही है। पहले पुरानी दिल्ली की जनसंख्या एक लाख थी। फिर तीन लाख हुई। लेकिन लगता था पूरी दिल्ली एक परिवार की तरह रह रही है। सबके सब आपसी रिश्तों में जुड़े हुए थे। कहावत चरितार्थ थी "दिल्ली की बेटी और गोकुल की गाय, करम फूट जाय तो बाहर जाय।"

दिल्ली के लोग हमेशा से उत्सवप्रिय रहे हैं। जलसे-जुलूसों को देखने के लिए उमड़ पड़ते हैं। पहले मुशायरों, बसंत के मेलों का शौक था, अब कवि-सम्मेलनों, संगीत-सम्मेलनो, व्यापारिक मेलों और तरह-तरह की कांफ्रेंसों में शामिल होने का अवसर तलाशते ही रहते हैं। सर्कस भी देखते हैं और कव्वालियां भी बड़े प्यार से सुनते हैं। ऐसे आयोजनों के निमंत्रण-पत्र प्राप्त करने का इन्हें बड़ा शौक है। भले ही खरीदने पड़ें, पर निमंत्रण-पत्र हाथ में अवश्य होना चाहिए। जो समाज या राजनीति में चालू हैं, वे बाट जोहते रहते हैं अध्यक्ष नहीं, तो स्वागताध्यक्ष बनने की। स्वागताध्यक्ष नहीं तो स्वागत समिति का सदस्य बनने की। नाम कार्ड पर छपना चाहिए। इसके लिए मनचाही रकम खर्च करने को तैयार रहते हैं। छाती पर बिल्ला लगा दो। मंच पर बैठा दो। माला पहना दो—बोलो उसकी क्या फीस है ? पुरानी दिल्ली में दर्जनों सिनेमाघर हैं। ये सब दिल्लीवालों की जेब से ही चलते हैं। सैकड़ों मौसमी, स्थाई और अस्थाई संस्थाएं हैं, दिल्लीवाले समान भाव से सबकी सेवा करते हैं। अब फर्क आया है। लोग फिरकों में बंट गए हैं। मुसलमान लोग पश्चिम की ओर देखने लगे हैं, सिख पंजाब की ओर, जैनी महावीरजी की ओर, हिन्दू अयोध्या की तरफ और वृंदावन की गैल में। पहले एक ही राजनीतिक दल था—कांग्रेस। अब कोई लीगी है तो कोई स्वर्ण-मंदिरी, कोई कांग्रेसी है तो कोई जनसंघी यानी भाजपाई। लेकिन मिलनसारी अब भी

कायम है। किसी के घर में कोई शादी-विवाह हो, जसूठन या चट हो, अथवा कोई गमी हो जाए तो सब इकट्ठे हो जाते हैं। दुःख-सुख में दिल्लीवाले आज भी सबके साथी हैं। भगवान दिल्ली के इस मिजाज को बरकरार रखे।

दिल्लीवाले बड़े व्यावहारिक हैं और समय के साथ चलते हैं। लकीर के फकीर उन्हें नहीं कहा जा सकता। मुगलों के जमाने में अचकन, चूड़ीदार, पायजामा और पगड़ी पहनते थे। फिर पगड़ी खूंटी पर टांग दी। सबके सिर सफेद टोपियों से सुशोभित होने लगे। फिर जब जनसंघ का दबदबा बढ़ा तो सफेद टोपी भी उतार दी। कुछ लोग नंगे सिर रहने लगे और कुछ ने संघी काली टोपियां पहन लीं। जबसे अंग्रेजी और अंग्रेजियत का दौर चला है, तब से धोती-कुर्ते कुछ ही लोगों के तन पर दिखाई देते हैं। जिसे देखो वह पैंट-बुश्शर्ट में। जहां तक राजनीतिक सोच का संबंध है, दिल्लीवाले इसमें भी मजा लेते हैं। कभी कांग्रेस को सबक सिखाते हैं, तो कभी भूतपूर्व जनसंघियों को। सभी की चुनाव सभाओं में पहुंच जाते हैं। सबकी सुनते हैं और करते मन की हैं। मन की यानी, मौज की।

दिल्ली की अपनी तहजीब थी। अपना अलग रहन-सहन और चलन था। इसमें उदारता थी, सहनशीलता थी, धर्म-निष्ठा थी और साथ-साथ रंगीनी भी। विभाजन के बाद पुरानी दिल्ली के माहौल में फर्क आया। पुराने रईस बिगड़े, नए बने हैं। पहले हर स्कूल और कॉलेज में विद्यार्थी संस्कृत पढ़ते थे। फिर हिन्दी का चलन हुआ। अब अंग्रेजी का दौर-दौरा है। दिल्लीवाले इसमें भी पीछे नहीं। जैसी देश वैसा भेष। यथा राजा तथा प्रजा।

दिल्ली बार-बार उजड़कर बसी है। इसने सामूहिक कत्लेआम भी देखे हैं। विशाल भवनों को खंडहर होते भी देखा है। दिल्ली के लोग लूटे गए हैं। पेड़ों पर लटककर फांसी खाते रहे है। चांदनी चौक की कुछ इमारतों पर अंग्रेजों की गोलियों के कुछ निशान आज भी बाकी हैं। यहां खूनी दरवाजा भी है, जहां अंतिम मुगल सम्राट बहादुरशाह जफर के बेटों के सिर काटकर पाशविक अंग्रेजों ने शाह को खिलअत के रूप में पेश किया था। दिल्ली ने हिम्मत के साथ इन सबका सामना किया है। जंगी हमले का भी और सांस्कृतिक हमले का भी। धार्मिक उन्माद का भी और बदलती हुई बादशाहतों से लेकर बदलती हुई देश की राजनीति का भी। पर दिल्ली मिटाए नहीं मिटी। वह हर बार दूनी-चौगुनी बुलंदी से खड़ी हुई है। हाथ में तलवार लेकर नहीं, अपनी सांस्कृतिक दृढ़ता के बल-बूते पर। आज दुनिया की सर्वोत्तम राजधानियों में दिल्ली का अविस्मरणीय स्थान है। बड़ी-बड़ी आला शख्सियतें दीं दिल्ली ने। राजनेता ही नहीं, संस्कृत के विद्वान, फारसी-उर्दू के मशहूर आलिम। उर्दू के ऐतिहासिक शायर मिर्जा गालिब दिल्ली के ही थे। दिल्ली में ही हिन्दी का पहला उपन्यास 'परीक्षा गुरु' लिखा गया। पहला हिन्दी नाटक यहां लिखा गया और खेला भी गया। मैं उनकी बात कर रहा हूं जो भारतेन्दु हरिश्चंद्र के एक वर्ष बाद पैदा हुए और उनके देहावसान के दो वर्ष बाद ही चल बसे थे। ये थे लाला श्रीनिवास दास। जो मेरी ही तरह मथुरावासी थे। वह मथुरा के जगत सेठ राजा लक्ष्मीचंद की दिल्ली कोठी के सर्वोच्च अधिकारी थे और भारतेन्दु मंडली के सर्वोत्तम रत्नों में से एक थे। लोगों का तो कहना यह भी है कि 'पृथ्वीराज रासो' के लेखक चंदबरदाई भी दिल्ली से संबंधित थे। आज तो दिल्ली हिन्दी का सबसे बड़ा केन्द्र है। पहले यह महत्ता काशी, प्रयाग, पटना, कलकत्ता और आगरे को प्राप्त थी।

लेकिन अब वड़े से बड़े प्राध्यापक, एक से एक अनेक विधाओं के सर्वोत्तम लेखक, कवि, कहानीकार और समीक्षक अब दिल्ली की शोभा बढ़ा रहे हैं। दिल्ली के हिन्दी-पत्रों ने तो अंग्रेजी के मशहूर अखबारों को भी पीछे छोड़ दिया है। हिन्दी के जितने प्रेमी दिल्ली में हैं, शायद ही कहीं और हों। दिल्लीवालों ने हिन्दी के लिए लंबा संघर्ष करके राजभाषा वनाया है।

मैं भी इसी दिल्ली में रमा हूं–पिछले पचास वर्षों से। मैंने दिल्ली के गोशे-गोशे को देखा है। हर प्रतिष्ठित घराने ने मुझे अपनाया है। मैंने हिन्दी के कार्य के लिए दिल्ली से जो मांगा है, मुझे मिला है। जन-बल भी और धन-बल भी। ठीक है मेरे जीवन में आगरा, मथुरा का विशेष स्थान है, पर मेरे व्यक्तित्व को चमक दिल्ली ने ही दी है। यहीं से मुझे भाषा की रवानी प्राप्त हुई है। मैं हिन्दी में प्रचलित उर्दू शब्दों का जो धड़ल्ले से प्रयोग करता हूं, वह दिल्ली की ही देन है। मेरे मोद-विनोद को दिल्लीवालों ने हाथों-हाथ उठाकर मेरा हौसला बढ़ाया है। अगर मैं चाहता और दिल्लीवाले अपने दोस्तों की वात मान लेता तो संसद में पहुंचना मेरे लिए बहुत मुश्किल नहीं था। मेरे कांग्रेसी और जनसंघी दोनों प्रकार के मित्र मुझे चुनाव में खड़ा करने को बड़े उत्सुक थे। तन-मन और धन से सहायता करने को तैयार थे। पर मैंने कलम को अपनाया, राजनीति को नहीं।

मैं क्यों छिपाऊं कि दिल्ली ने मुझे आशिक मिजाज दिया है। सलीके से कपड़े पहनना सिखाया है। खादी पहनता हूं, लेकिन नफीस। दिल्ली की लाला संस्कृति से ही मुझे साहित्य के क्षेत्र में ही नहीं, अर्थ के क्षेत्र में भी बड़ा होने की सनक सवार हुई है। मैंने अपने वच्चों के शादी-विवाह करोड़पतियों की शान-ओ-शौकत से किए हैं। आज भी मेरी आलमारी में चुने हुए पशमीने के शाल-दुशाले, देखने योग्य कुर्ते-जाकिट, रत्नों वाली अंगूठियां और इत्र की शीशियां इसकी गवाह हैं। लेकिन वही आज मेरे दुःख का कारण बन गई हैं। अव तो रह-रहकर कवीर का यही पद याद आता है–

संपति संतति दुख के कारन याते भूल परी,
भजो रे भइया, राम-गुविंद हरी।

मेरा यह बोध भी दिल्ली की देन है। व्यक्तिगत बात को यहीं छोड़कर जरा पीछे लौटें।

जव दिल्ली आने लगा तो मुझे समझाया गया कि "जा तो रहे हो, मगर ठगों से बचकर रहना। दिल्ली के ठग बड़े नामी होते हैं।" ठगते होंगे पहले किसी को कोई, पर मुझे यहां कोई दिखाई नहीं दिया। मेरे पास था ही क्या जो ठगा जाता। हो सकता है कि मेरी आंखें ठगों को पहचानने में असमर्थ रही हों–"चोर को चोर, गुनी को गुनी और शायर को शायर पहचाने।" हां, ठगी गईं महिलाएं अवश्य देखीं। बाजार से लौटने के वाद उन्हें यह कहते हुए अवश्य सुना गया कि मैं तो ठगी गई। दुकानदार तो ग्राहक को ठगते ही हैं और माया के लोभी तो ठगे ही जाते हैं। ऐसा कहां किस शहर में नहीं होता। माया का चक्कर ऐसा ही है। संतों ने उससे सदा सावधान रहने को कहा है–"माया महाठगिनि हम जानी।"

ऐसी ही एक दिलचस्प बात दिल्ली के बारे में और सुनी कि दिल्ली के चारों ओर

जव सफील खड़ी की गई तो उनकी नींव में जनखे दफनाए गए। अगर यह वात सच है तो देखा होगा उन्होंने जिनके जमाने में यह चहारदीवारी वनी होगी। मेरे जमाने में तो यह तोड़ी गई है। जहां-जहां तोड़ी गई, वहां-वहां मैंने झांककर देखा। मुझे तो कोई जनखों की कब्र दिखाई नहीं दी। वहां से हड्डियां क्या राख भी नहीं मिली। हां, ऐसे चिन्ह अवश्य मिले कि यहां से होकर सफीलों पर तोपें चढ़ाई जाती थीं, सैनिक चढ़ते थे। शायद इस कहावत का आशय यह हो सकता है कि दिल्ली के लोग कायर होते हैं। लेकिन इतिहास इसकी गवाही नहीं देता। चंगेज खां के हैवानी हमले से वादशाह भले ही शरणागत हो गया हो, लेकिन दिल्ली के लोगों ने गलियों से निकल-निकलकर उसके सैनिकों का सामना अवश्य किया था। गदर के जमाने में जब अंग्रेजी पलटनें दिल्ली के बाजारों से मार्च करती हुई विजय-गर्व से लाल किले में घुसने जा रही थीं तो नया वांस के लोग बांस लेकर, वल्लीमारान वाले वल्लियां लेकर उनकी वंदूकों की परवाह न करके भिड़ गए थे। वायसराय हार्डिंग के शाही जुलूस पर वम फेंकनेवालों को कायर कौन कह सकता है ? अगर दिल्ली के लोग डरपोक या कायर होते तो दिल्ली फिर-फिर कैसे वसती ? राजधानी में रहना जहां वड़प्पन और शानोशौकत का प्रतीक है, वहां जान पर खतरा मोल लेना भी है। राजा के आगे और घोड़े के पीछे वाली कहावत यूं ही नहीं रची गई। पहले जमाने में लोग तोप के मुंह से बांधकर उड़ा दिए जाते थे। जरा-सी नाराजी पर सिर धड़ से अलग कर दिए जाते थे। गुरुद्वारा शीशगंज ऐसी शहादत के प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में गर्व से सिर उठाए हुए आज खड़ा हुआ है। सन् 42 के दौर में दिल्ली के लोग वड़ी दिलेरी से गाया करते थे–"सिर कटा सकते हैं, लेकिन सिर झुका सकते नहीं।" तो दिल्ली के लोग डरपोक तो नहीं हैं। हां, जी हुजूर अवश्य हैं। झुककर काम निकालना इन्हें आता है। वक्त देखकर काम करते हैं। ऐसे बहादुर नहीं हैं कि किसी से कहें कि उनके बाप वड़े वहादुर थे। इस पर पूछा जाए कि उन्होंने क्या वहादुरी की तो बताएं कि शेर से लड़ गए। यह पूछने पर कि फिर क्या हुआ ? तो कहें कि होता क्या, शेर उन्हें खा गया। तो भाई दिल्लीवाले ऐसे जवामर्द नहीं कि शेर की मांद में सिर दे दें या सांप के विल में हाथ डाल दें। ये अलाय-वलाय से दूर ही रहते हैं। इनका सिद्धांत है कि "हाथ-पैर वचाओ और मूंजी को टरकाओ।" अव कोई कायर कहे तो कहता रहे। इन्हें कोई फर्क नहीं पड़ता।

यहां, यह वात सच है कि दिल्ली आगंतुकों को पहले उखाड़ती है। पर जो मुसीवत सहकर भी जमा रहता है, उसे अपना लेती है। अपने में मिला लेती है। कहीं का भी हो उसे दिल्लीवाला वना देती है। वाहर से आनेवाले और दिल्ली में बसने की इच्छा रखनेवाले हरेक आदमी के साथ ऐसा हुआ है। आज भी होता है। मैं भी इसका अपवाद नहीं हूं।

आज की दिल्ली वह नहीं रही जो पहले थी। पहले चहारदीवारी तक सीमित थी। फिर बढ़ी तो पहाड़गंज की तरफ। आगे बढ़ी तो कश्मीरी गेट से निकलकर दो टुकड़े हुई तो पुरानी और नई दिल्ली बन गई। अब तो चारों ओर बीसियों मील तक दिल्ली फैली है और फैलती ही जा रही है। पहले इसकी एक कल्चर थी। एक भाषा थी। एक पहनावा और एक दिखावा था। केवल हिन्दू और मुसलमान ही इसमें रहते थे। अब तो देश के हर छोर से लोग यहां आकर बस गए हैं। दिल्ली कास्मोपॉलिटन शहर बन गई है। अनेक भाषाएं

बोली जाती हैं। अलग-अलग क्षेत्रों के लोग अलग-अलग रीति-रिवाज निभाते हैं। दिल्ली मानो एक छोटा भारत ही हो गई है। मिश्रित अर्थव्यवस्था की तरह मिश्रित संस्कृतियों की नगरी बन गई है। जैसे भारत विविध प्रदेशों, जातियों, धर्मों, भाषाओं वाला देश होकर भी एक है, वैसे ही दिल्ली भी अनेकता में एकता को प्रदर्शित करने लगी है। इसका अपनापन खो गया है। न उर्दू तहजीव रही और न हिन्दू संस्कृति। हिन्दी यहां जोर-शोर से बढ़ी थी, लेकिन अब दिल्ली को देखकर ऐसा नही लगता। चारों ओर अंग्रेजी की बाढ़ का पानी घरों में घुस गया। शिक्षा में अंग्रेजी. अदालतों में अंग्रेजी, प्रशासन में अंग्रेजी। बाजार में, बसों में, दफ्तरों में सुन लीजिए, ऐसी भाषा बोली जा रही है जो न हिन्दी है, न अंग्रेजी। व्याकरण की क्रियाएं ही हिन्दी की रह गई है। बाकी सब अंग्रेजी ही अंग्रेजी है। देश जिधर जा रहा है, दिल्ली उधर जा रही है। राष्ट्र की अस्मिता को अगर कायम रखना है, राष्ट्रभाषा का यदि प्रचार करना है तो भाइयां, पहले देश की तरफ नहीं, दिल्ली की तरफ देखो। दिल्ली बदलेगी तो देश बदल जाएगा। दिल्ली में हिन्दी चलेगी तो देश में भी हिन्दी चलेगी। दिल्ली देश की कुंजी है। अंग्रेज जाते समय इसकी सभ्यता, संस्कृति और भाषा के द्वार पर ताला ठोंक गए हैं, तो चाबी घुमाओ। ताला खोलो। देश का खोया हुआ स्वाभिमान मिल जाएगा।

व्यास, तुम्हारे बारे में दूर से बहुत कुछ सुनता रहा हूं। अब दिल्ली मैं आती हूं तो तुम भी आ जाओ। मिलकर देश से अंग्रेजी को उखाड़ फेंकें।

–राममनोहर लोहिया

रोचक संस्मरण

मुझे गांधीजी के प्रार्थना-प्रवचनों को उन्हीं की भाषा में ज्यों का त्यों लिखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। प्रतिदिन ये प्रवचन दैनिक हिन्दुस्तान में छपा करते थे। प्रार्थना मंच पर मैं गांधीजी के पीछे कागज-कलम लेकर बैठा करता था। प्रार्थना की समाप्ति पर गांधीजी उठकर चलते तो मैं कुछ कदम उनके पीछे-पीछे चला करता था।

एक दिन बापू डा. सुशीला नायर और ब्रजकिशन चांदीवाला के साथ आगे-आगे चल रहे थे और मै पीछे-पीछे। सुशीला नायर ने बापू से कहा–"आपके पीछे जो गोपालप्रसाद व्यास चल रहे हैं, आपके प्रार्थना-प्रवचनों की रिपोर्टिंग दैनिक 'हिन्दुस्तान' में यही करते हैं।" गांधीजी ने मुड़कर देखा और कहा–"जो समझ में न आए या जल्दी में छूट जाए, उसे मनु और सुशीला से पूछ लिया करो।"

"जी अच्छा !"

तभी चांदीवाला ने बापूजी को बताया–"ये कवि भी है। हास-परिहास के। इनका एक कॉलम 'यत्र तत्र-सर्वत्र' बहुत पॉपुलर है। बड़े मोद-विनोदी किस्म के आपके अनुयायी हे।"

गांधीजी ने मुड़कर मेरी ओर नहीं देखा। उन्होंने ब्रजकिशनजी से कहा–"मुझसे भी ज्यादा ?" और बच्चों की तरह खिलखिलाकर हंस पड़े। बापू तो कहकर आगे बढ़ गए, परंतु मैं सोचता रहा–लिखना अलग बात है, लेकिन आकंठ समस्याओं में घिरे रहने पर भी हर्षपुलक का आनद वही ले सकता है, जो सच्चा कर्मयोगी हो। मैं उनकी खिलखिलाहट को आज तक नहीं भूला हूं। मुझे लगता रहता है कि गांधीजी मेरे सामने खिलखिलाकर हंस रहे हैं, मानो मेरे हास पर परिहास कर रह हों।

·

संसद भवन। प्रधानमंत्री का कक्ष। तब नेहरूजी प्रधानमंत्री थे। मैं मिलने गया। मिलने क्या गया, अपनी पुस्तकें भेंट करने गया। संसद चल रही थी। बीच में ही वहां से उठकर नेहरूजी

आए। उनकी दाहिनी ओर तत्कालीन केन्द्रीय मंत्री श्री राजबहादुर और बाईं ओर उनके सखा एवं संसद-सदस्य श्री महावीर त्यागी।

मैंने उठकर नमस्कार किया। हाथ बढ़ा देखा तो मिलाया। जानते थे पंडितजी मुझे पहले से। मुस्कराती हुई मुद्रा में बोले–"कहिए हजरत, क्या माजरा है ?" मैंने अपनी व्यंग्य-विनोद की दो पुस्तकें उन्हें भेंट कर दीं। नेहरूजी जब तक पुस्तक खोल भी न पाए थे कि राजबहादुरजी ने कहा–"आपके ये हजरत हास्यरस के धुरंधर कवि हैं और पत्नी पर कविताएं लिखते हैं।" नेहरूजी ने एक पुस्तक बीच में से खोली। कविता निकली गधे पर। शिक्षार्थी का एक कार्टून भी गधे पर बना हुआ था। पंडितजी ने पहले राजबहादुर और फिर मेरी ओर देखकर कहा–"पत्नी पर कहां, यह तो गधे पर कविता है।"

नेहरूजी से थोड़ी-सी बेतकल्लुफी थी। हाजिरजवाबी की कला काम आई। मैंने संजीदगी से कहा–"पंडितजी, शादी के बाद आदमी यही हो जाता है।" और नेहरूजी सहित सब खिलखिलाकर हंस पड़े।

ऐसे माहौल में त्यागीजी भला चुप कैसे रह सकते थे। उन्होंने कहा–"यह महाशय वर्ष में एक दिन सबको मूर्ख बनाया करते हैं। होली की शाम रामलीला मैदान में जिस छतरी से आपका भाषण होता है, वहां से ये आप से लेकर किसी को नहीं बख्शते।"

नेहरूजी ने कहा–"यह काम तो अच्छा करते हैं। कभी आपको इन्होंने बुलाया उस रोज ?"

त्यागीजी कहां चूकनेवाले थे। तत्काल उत्तर दिया–"बुलाया तो था, पर मैं नहीं जा सका।"

खिलखिलाते हुए पंडितजी ने कहा–"क्यों ? तुम तो इसके सबसे उपयुक्त पात्र थे।"

त्यागीजी ने किंचित गंभीर होकर कहा–"आपकी बिना इजाजत लिए कैसे जाता ?"

नेहरूजी ऐसे अवसरों पर चुप रहनेवाले नहीं थे। उन्होंने व्यंग्य के बादशाह पर इक्का जड़ दिया–"तो क्या तुम सारे मूर्खतापूर्ण कार्य मुझसे पूछकर ही करते हो ?"

वातावरण मोद-विनोद से भर गया। आपस में चुहल होने लगीं। मैंने त्यागीजी से कहा–"इस बार मूर्ख महासम्मेलन में सभापति आप ही रहेंगे। अब तो पंडितजी की इजाजत मिल गई है।"

उत्तर मिला–"मंजूर ! लेकिन एक शर्त पर–उद्घाटन जवाहर भाई करेंगे।"

शास्त्रीजी जब गृहमंत्री थे तब अक्सर रात के आठ बजे के आसपास दफ्तर के जरूरी कामकाज निपटाकर संपर्क-अभियान पर निकल पड़ते थे। कभी किसी मंत्री के यहां, कभी किसी सांसद के यहां, तो कभी किसी घनिष्ठ मित्र के घर। मैं भी जब कभी फुरसत में होता तो ऐसे ही समय आराम से बातें करने के लिए उनके दफ्तर पहुंच जाया करता था। घर, दफ्तर, संसद–कहीं भी, किसी भी समय उनसे मिलने में मुझे कोई बाधा नहीं थी।

एक दिन ऐसे ही समय शास्त्रीजी ने फाइलें एक तरफ सरका दीं और बोले–"चलो !" मैं साथ हो लिया। तब वी. आई. पी. लोगों की सुरक्षा का आज जैसा कड़ा प्रबंध

नहीं होता था। अगली सीट पर ड्राइवर और पीछे हम दोनों। गाड़ी रुकवाई गई श्री केशवदेव मालवीय के घर पर। मैं गाड़ी में ही बैठे रहना चाहता था, परंतु शास्त्रीजी ने कहा–"आओ ! आओ ! !"

मालवीयजी घर पर नहीं थे। शास्त्रीजी का आगमन सुनकर उनकी पत्नी निकलकर आईं। "भाभीजी, नमस्ते !" और "लालाजी, नमस्ते !" हुई। शास्त्रीजी ने पूछा–"भाभी, मालवीयजी कहां हैं ?" भाभीजी ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया–"तुम यहां अपनी भाभी के पास आए हो तो वे भी अपनी किसी भाभी के यहां गए होंगे।" हम तीनों के चेहरों पर मुस्कान फैल गई। शास्त्रीजी ने कहा–"परंतु मुझे तो भूख लगी है।" उत्तर मिला–"तो उन्हें प्यास लगी होगी।" शास्त्रीजी खुलकर कम ही हंसते थे, इस बार ऐसा नहीं हुआ।

श्रीमती मालवीय ने कहा–"मैं जानती थी कि तुम आज आओगे। आलू उबालकर रख छोड़े हैं। अभी लाई।" आया आलू का गरमागरम सुर्ख करारा परांठा। साथ में नींबू का अचार, थोड़ी-सी चटनी और पानी का गिलास। उनके साथ मेरे लिए भी। शास्त्रीजी ने दूसरा परांठा नहीं लिया। वह एक से ही तृप्त हो जाते थे। मैंने पूछा–"एक से काम चल जाता है ?" वह बोले–"अद्वैतवाद का यही तकाजा है।"

टंडनजी अक्सर मुझे अपने घर पर भोजन के लिए आमंत्रित करते रहते थे और मैं टालता रहता था। लेकिन एक दिन उन्होंने आदेशात्मक स्वर में कहा–"कल आपको मेरे यहां भोजन करना है।"

राजर्षि आदर्शवादी महापुरुष थे। उनके व्यक्तित्व में ही नहीं, शब्द-शब्द से गंभीरता झलकती थी। परंतु अंतर्मन से वह रसज्ञ थे। शेर-ओ-शायरी के शौकीन थे। अपनी मित्र मंडली में मौका मिलने पर हास-परिहास से नहीं चूकते थे। जब बनारसीदास चतुर्वेदी सोवियत संघ की यात्रा करने से पूर्व राजर्षि का आशीर्वाद लेने आए तो चौबेजी से उन्होंने कहा–"देखो, वहां वोदका नहीं पीना।" और यात्रा से लौटने पर बनारसीदासजी ने मेरे सामने टंडनजी से कहा–"बाबूजी, वोदका की केवल दस बूंदें चखी हैं मैंने।" ऐसे कई अवसरों पर मैंने उनके व्यंग्य-विनोद के मधुर क्षण देखे थे, इसीलिए बाबूजी से कहा–"आपको तो ज्ञात ही है कि मैं मथुरा का रहनेवाला हूं। आपके यहां भोजन करने से मेरा गुण-कर्म-स्वभाव नौ दो ग्यारह हो जाएगा। अंकुरित अनाज और दालें। न घी, न दूध, न मक्खन, न मलाई। सलोना छोड़ के अलोना कौन खाए ? हम मथुरावासी तो मिष्टान्न और पकवान की चकाचकी पर ही जीमने जाते हैं।"

टंडनजी हंसे। बोले–"कल आओ तो सही, मेरा नहीं, आपको अपना भोजन मिलेगा।" फिर भाई कृष्णकांत की मां और पंजाब के सुप्रसिद्ध नेता लाला अचिंत्यराम की पत्नी, जिनके यहां दिल्ली में टंडनजी ठहरा करते थे, को बुलाया। कहा–"कल व्यासजी भोजन करने आएंगे। मथुरावासी हैं, ख्याल रखना।"

मैं पहुंचा। थाली में मोहनभोग था। रसमलाई थी। आलू-मटर की बेड़वियां थीं। कटोरे में अमरस था। टंडनजी बगल में बैठ गए। "और लो ! और लो !" कह-कहकर उन्होंने

पेट का गुब्बारा बना दिया। भोजन करते-करते बिजली चली गई तो पंखा ले आए और बड़े प्रेम से झलने लगे। मना करने पर भी नहीं माने। जब थाली से उठा तो उन्होंने कृष्णकांत की मां से कहा—"अरे! मथुरा के ब्राह्मण को दक्षिणा नहीं दोगी? हम लोग खत्री हैं। ब्राह्मणों की सेवा हमारा परम धर्म है।"

मैं श्रद्धावनत हो गया। हाथ ही नहीं जोड़े, राजर्षि के चरण छूने को झुका तो पैर पीछे करके मुझे छाती से लगा लिया और कहने लगे—"ये क्या मजाक कर रहे हो, भाई!"

पश्चिम बंगाल विधानसभा के सदस्य कलकत्ता निवासी श्री रामकुमार भुवालका मेरे अत्यंत शुभचिंतक मित्र थे। मेरी ग्लूकोमा से पीड़ित आंखों का जब यथासंभव सफल ऑपरेशन हो गया तो उन्होंने मुझे सलाह दी कि डाक्टर विधानचंद्र राय को दिखाने आ जाओ। विधान बाबू देश के नामी डॉक्टर थे। जब-जब गांधीजी को कुछ होता तो वह दौड़कर परीक्षण के लिए उनके पास पहुंच जाया करते थे। जब मैं कलकत्ता पहुंचा, तब वह पश्चिम बंगाल सरकार के मुख्यमंत्री थे। फिर भी प्रतिदिन पांच मरीजों को सुबह-सुबह अवश्य देखकर परामर्श दिया करते थे। मरीजों को देखने का तरीका भी उनका विचित्र था। केवल कच्छा पहनकर ही रोगी उन तक पहुंच सकता था। पुराने मारवाड़ी तुंदिल सेठों को इस रूप में देखने का भी अपना एक मजा था। मुझे पता नहीं कि वह महिला रोगियों को कैसे देखा करते थे? भुवालकाजी ने विधान बाबू से फोन पर बातें कीं। मेरे नेत्र-कष्ट के संबंध में बताया। साथ में शायद यह भी कह दिया होगा कि मैं एक लोकप्रिय कवि हूं और वह भी व्यंग्य-विनोद का।

निर्धारित समय पर अपने पुराने डॉक्टरी पर्चे लेकर मैं पहुंचा। सहायक डॉक्टरों की एक छोटी-सी टीम ने उन पर्चों की जांच की और कहा—"कपड़े उतार दो! सिर्फ कच्छा पहने रहो।" मैं डॉक्टरों को छेड़ने में भी नहीं चूका। कहा—"विधान बाबू देखें या न देखें, मैं उजाले में कपड़े नहीं उतारता। जाकर विधान बाबू को बोल दो।"

मुझे नग्न होने से मुक्ति मिल गई। पहुंचा राय साहब के कक्ष में। वह पूरे कपड़ों में थे। मुझे देखते ही बोले—"मेरे पास क्यों आए हो?" मैंने उत्तर दिया—"आपको आंख दिखाने।" विधान बाबू ऊपर से तो बहुत गंभीर लगते थे, लेकिन थे पुरमजाक। रौब से बोले—"बंगाल में कोई मुझे आंख नहीं दिखा सकता।" फिर तत्काल ही सहज होकर बोले—"मैं तो आंखों का डॉक्टर नहीं।" मैंने भी जड़ दिया—"लेकिन आंखों के मरीज तो रहे हो।" कह तो दिया, फिर सोचा कि कहीं डॉक्टर साहब इसे अन्यथा न ले लें। इसलिए विनम्र होकर बताया—"आपको भी अपनी आंखों का उपचार कराने के लिए वियना जाना पड़ा था। उसी अनुभव का लाभ लेने आया हूं।"

विधान बाबू ने मेरे कागज-पत्र देखे। पलक उठाकर टॉर्च से आंखें परखीं। कहा—"तुम्हारे लिए मैं दो नुस्खे तजवीज करता हूं। लेकिन पहले यह बताओ कि आस्तिक हो या नास्तिक?"

मैंने कहा–"अभी निश्चय नहीं कर पाया हूं।" तो विधान बाबू बोले–"निश्चय करते रहना। यदि आस्तिक हो तो आंखों से ध्यान हटाओ और भगवान में ध्यान लगाओ। अगर नास्तिक हो तो किसी लड़की से प्रेम करो।"

मेरा मन गुदगुदाया, फुरफुरी उठी और कहा–"विधान बाबू, मुझे दूसरा नुस्खा पसंद है। आपने उपचार बताया है तो दवा भी दिलवाइए।"

पहले तो विधान बाबू बोले–"पछांह के किसी आदमी से हमारी कोई बंगाली लड़की प्रेम नहीं कर सकती।" फिर मुस्कराकर कहा–"यदि दवा मिल जाती तो मैं क्या अब तक कुंआरा ही रहता ?"

जब रिमझिम-रिमझिम हो रही हो। नदी भरकर चल रही हो। नीम तक के पेड़ महक रहे हों। निंबौलियां तक मीठी हो गई हों। जामुन गदरा आई हों। आमों की बहार हो और बागों में झूले पड़े हों तो घर के भीतर उमस में संस्मरण लिखने का मौसम है या शहर से बाहर किसी बाग-बगीची में वर्षा-बहार का आनंद लेने का मजा है ? ऐसे ही मनहर मौसम में ब्रजभाषा के चार कवि नगर से दूर एक बाग में जा पहुंचे। संग में एक ठंडाई घोटा और बाटी-चूरमा बनाने में सिद्धहस्त व्यक्ति भी था। ठंडाई कंठ से नीचे उतर चुकी थी। हल्के-हल्के सुरूर आ रहे थे। पावस के छंद पढ़े जा रहे थे। तभी आवाज आई–"गुरू, चूरमा बन गयौ है। दार तयूयार है और बाटी हू सिक चली हे। अब निबट-नहाय के तय्यार है जाओ तो भोग धरैं।" चारों कवि सुनिकै चौकन्ने है गए। यह गए और वह आए। आलथी-पालथी मारिकै पंगत में बैठ गए। भोग लग चुकौ हो। माल सिद्ध है कै परातन में धरे हे। तभी न जाने कहां से पोखर लोटौ, बरसात में भीगौ एक कारौ कुत्ता कान-पूंछ फड़फड़ातौ भयौ यह गयौ और वह गयौ। देखिकैं या दृश्य कू चारौन के नशा हिरन है गए–"राम-राम ! रसोई भ्रष्ट है गई। कारी घटा घिर आई। चलौ भइया,अपनौ सौ मौंह लैकैं। है गई दार-बाटी। अब जानैं घर मे हू प्रान सांखने परामटे मिलिंगे कै नई ? लगै है बाजार-घाट उतरनौ पडैगौ या एकादशी करनी पड़ैगी।"

इन चारों में से एक हम भी थे। बात मथुरा के यमुना-बाग की है। अन्य तीन थे–सुकवि रामलला, नवनीतजी के पुत्र कविरत्न गोविन्द चतुर्वेदी और सैंया चाचा। हमने कहा–"यारो, भई सो भई। रसोई गई तो गई। मन क्यों मैला करते हो। इस घटना को ऐतिहासिक बना दो। बोलो एक-एक पंक्ति। बन जाए एक कविता। जो कविता बनी वह इस प्रकार थी–

वर-बाटी बनाई बड़ी रुचि सौं,
जिन्हें सैंकत हाथन छाले पड़े।
अरु दार कौ स्वाद कहां लौ कहै,
जिहि में बहु मिर्च मसाले पड़े।
पुनि मोदक मोद बढ़ावन कौ,
घृत-शक्कर उत्तम आले पड़े

ता ऊपर श्वान की छींट परीं,
अब खाइबे के हमें लाले पड़े ।।

सगाई हो गई हो और शादी का मुहूर्त नहीं निकल रहा हो। भावी पत्नी सुंदर ही नहीं, पढ़ी-लिखी भी हो। लेकिन अपने प्रियतम या प्राणधन को कोई आपकी सिर्फ आपकी चार लाइन का पत्र भी न लिख रही हो तो प्राणधन की इस बेबसी और बेचैनी का आप अनुमान लगा ही सकते हैं। ऐसे ही एक प्राणधन, जो बाद में चलकर एक संभ्रांत नागरिक, स्थानीय नेता और विख्यात लेखक बनकर ही माने, अपने यारों के चंगुल में फंस गए। वह जब भी मिलते तब मित्रों से अपनी भावी पत्नी के रूप-गुण का बखान करते न अघाते थे। अपनी पत्नी के नाम से खुद ही प्रेम-पत्र लिखकर हफ्ते में कम से कम दो बार अवश्य ही मित्रों को सुना दिया करते थे। पत्र केवल सुनाते थे, दिखाते नहीं थे। लेकिन ताड़नेवाले भी कयामत की नजर रखते हैं। उन्हें असलियत का पता लगाते देर नहीं लगी। योजना बनी। एक मित्र ने अपनी पत्नी को तैयार कर लिया, कि वह अपने सुलेख से इस नए प्राणधन को प्रेम-रस में चुहचुहाती चिट्ठियां लिखे। याद कर ले अपने पुराने दिनों को और इस नाटक में शामिल हो जाए। चिट्ठियां लिखी जाने लगीं। जिस कस्बे में प्राणधन की भावी पत्नी रहती थी, वहां के डाकखाने से ही प्रेम-पत्र पठाए जाने लगे। अब विरही प्राणधन उन्हें सुनाने ही नहीं, पढ़वाने भी लगे। एक दिन पत्र आया कि प्रियतमा दिल्ली जा रही है पंजाब मेल से—"मैं इंटर क्लास में रहूंगी। कोशिश करूंगी कि खिड़की के पास बैठूं। तुम्हारी एक झलक पाने की बड़ी तमन्ना है। पर मैंने तो तुम्हें कभी देखा नहीं। सपने में अवश्य देखा है, पर आकृति स्पष्ट नहीं दिखाई दी। इसलिए तुम हाथ में नीला रूमाल रखना और उसे हिला देना। मैं संकेत समझ जाऊंगी। प्राणधन महोदय ने यह पत्र मित्रों को नहीं सुनाया, दिखाने की तो बात ही नहीं उठती। पहुंच गए स्टेशन पर अकेले और डिब्बे-डिब्बे के सामने रूमाल हिलाते हुए कवायद करने लगे। पसीना आ जाता तो उसी रूमाल से पोंछ भी लेते। उनकी आंखें सिर्फ रेल के डिब्बों पर जमी थीं। यह देख ही नहीं पा रहे थे कि उनके यार लोग भी प्लेटफार्म पर ही चहल-कदमी करते हुए इस दृश्य का आनद ले रहे है। गाडी को आना था, आई। कुछ मिनट ठहरना था, ठहरी। जाना था, गई। पर रूमाल हिलता रह गया। लेकिन वह न आई और न गई। बेचारे प्राणधन जो चक्कर लगाते-लगाते थक गए थे और पसीने-पसीने हो गए थे, चक्कर में ही नहीं पड़े थे, शायद चक्कर भी आने लगे थे। धम्म से प्लेटफार्म की एक बेंच पर बैठ क्या, गिर ही गए। जब प्लेटफार्म खाली हो गया तो मित्र लोग हंसते हुए आए और बोले—"धोखा दे गई। कोई बात नहीं, फिर आएगी। अब चलो होस्टल।"

घटना आगरा की है। स्टेशन था राजा की मडी। मित्रों में से अपने अलावा दो के नाम बता सकता हूं। एक थे सुप्रसिद्ध कवि भारतभूषण अग्रवाल और दूसरे थे पप्पू उर्फ प्रसिद्ध उपन्यासकार स्वर्गीय रांगेय राघव। आप शायद प्राणधन का नाम भी जानना चाहें। तो क्षमा कीजिए, नहीं बताऊंगा। क्योंकि उक्त घटना के बाद उन्होंने मिलना-जुलना बंद कर दिया, बात करना बंद कर दिया और आज तक इस दिलचस्प परिहास को मित्र विनोद

के रूप में ग्रहण नहीं कर सके। व्यंग्य-विनोद लिखना और करना ही कठिन नहीं, उसे सहना और समझना भी कठिन है।

आदमी रोटी का भूखा उतना नहीं है, जितना नाम का। नाम की भूख मिटाने के लिए वह क्या-क्या नहीं कर सकता। बदनाम भी हो सकता है। यह बीमारी सभी वर्गों में पाई जाती है। नाम को आगे बढ़ाने के लिए लोग एक से एक नए तरीके और हथकंडे ईजाद करते रहते हैं। एक नेताजी हमारे बड़े अच्छे मित्र थे। कई बार जेल हो आए थे, लेकिन उनकी गिनती तीसरे दर्जे के नेताओं में ही होती थी। लोग उनसे कसकर काम लेते और जब कुछ प्राप्त करने का मौका आता तो धता बता देते। अपने इन मित्र की व्यथा-कथा से हम भलीभांति परिचित थे। तरकीब निकाली। उन दिनों वह जेल में थे और छूटनेवाले थे। उनका दर्द-भरा पत्र आया। हमने उत्तर दिया कि हम स्टेशन पर मिलने आएंगे। आप डिब्बे से पहले उतरना। बस ! बाकी काम हमारा।

हमने एक माली से बात की। उससे पचास मालाएं लेकर गाड़ी के टाइम पर दिल्ली जंक्शन पर, पेशगी भुगतान करके, पहुंचने को राजी कर लिया। एक मित्र फोटोग्राफर से भी कहा कि यार, परोपकार का काम है। जरा कैमरा लेकर ट्रेन पर पहुंच जाना। कान में उसे उसका काम भी समझा दिया। गाड़ी आने से पहले ही फूलमालावाला एक बांस की डंडी में पचास मालाएं टांगकर और फोटोग्राफर बंदूक की तरह कैमरा ताने अटेंशन की मुद्रा में खड़े थे। हम भी अपने मूर्ख महासम्मेलन के चंद साथियों के साथ वहां मौजूद थे। उक्त गाड़ी से कई अखिल भारतीय और राजधानी ख्याति के नेता भी आ रहे थे। लोगों की भारी भीड़ उनका स्वागत करने के लिए जमा थी। गाड़ी आई। हमारे मित्र नेताजी प्लेटफार्म पर उतरे, इससे पहले ही मालावाले ने पचासों मालाएं एक साथ उनके गले में डाल दीं। जैसे ही उन्होंने गाड़ी से नीचे कदम रखा कैमरे की फ्लैश चमकने लगी। नेताजी की पर्सनल्टी बहुत अच्छी थी। चूड़ीदार पायजामा, कुर्ता, नेहरू जाकेट और गांधी टोपी। लंबा शरीर और गौरवर्ण। लेकिन मुंह छिप गया था मालाओं से। उतरते ही हमारी मंडली ने उन्हें घेर लिया। एक-एक माला हम लोग भी लाए थे जो उन्होंने अपने दोनों हाथों में लटका ली। हमारी टोली ने नारे लगाए—"महात्मा गांधी ! जिन्दाबाद ! !", "जवाहरलाल नेहरू ! जिन्दाबाद !!" "हमारा नेता ! जिन्दाबाद ! !" लोगों ने समझा सबसे बड़े नेता यही हैं। भीड़ भी नारे लगाते हुए उनके पीछे चल दी। जब नम्बर एक और दो के नेता उतरे तो देखा प्लेटफार्म खाली था। बाद में यही मित्र नगर निगम, महानगर परिषद, जो उस समय असेंबली थी, के बहुचर्चित पार्षद बने और राजधानी के मान्य नेता मान लिए गए। तभी तो महाकवि अकबर ने कहा है—

कमी नहीं कद्रदां की "अकबर'
करे तो कोई कमाल पैदा।

मूर्ख महासम्मेलन

मूर्खता अपशब्द नहीं। यह तो अक्ल के दुश्मनों द्वारा अक्ल के मारे हुओं का भेंट किया गया उपहार है। यह वह हार है जिसे हारकर अक्ल-मंदों ने मूर्खों की महत्ता को स्वीकार करते हुए सादर उनके गले में पहनाया है। मूर्खता कायरता या कापुरुपता का प्रतीक नहीं है। वरन् वह सर्टीफिकेट है जो प्रकृति ने सहज रूप से सहर्ष प्रदान किया है। फारसी में मू कहते हैं मूंछों को। उनको रखनेवाला अपनी मूंछों पर ताव देकर तथाकथित विद्वानों को ललकार सकता है। भगवान भक्ति का वरदान उसी को देते हैं, उसी के लिए अपने वैकुंठ में स्थान सुरक्षित रखते हैं जो ज्ञान और तर्क का पल्ला छोड़ दे और अहर्निश, तोते की तरह उनके नाम का जाप करता रहे। मूर्खजन देवताओं के भी प्रिय पात्र हैं। इसीलिए उन्हें "देवानामृप्रिय" कहा जाता है। मूर्खों पर मेहरवान हैं लच्छमाई भी। वह भी रात के अंधेरे में पक्षियों में मूर्खों के प्रतिनिधि पर चढ़कर छप्पर फाड़कर अक्ल के पीछे लट्ठ लिये फिरनेवालों के आंगन में बरस पड़ती हैं। लोकतंत्र में जनता मूर्खों को ही चुनती है। पत्नियों को भी मूर्ख पति ही अधिक पसंद आते हैं। पति भी पत्नियों को मूर्ख बनाने में किसी से पीछे नहीं हैं। संतान भी चाहती है कि विधाता उन्हें किसी मूर्ख के घर में जन्म दे। विश्वास न हो तो अपने वच्चों को उनके वच्चों के पास भेजकर जांच-पड़ताल करा लो। दुनिया में बुद्धिवादियों की संख्या नाकुछ के बराबर है। जो भी हैं, वे अच्छी निगाह से नहीं देखे जाते। सर्वत्र मूर्खों का वोलवाला है। सत्ता उनकी है, समाज उनका है। इन्कलाब नहीं, 'मूर्खता जिन्दाबाद' कहो। 'मूरख-मूरख भाई-भाई' के सिद्धांत को प्रचारित करो। विषमता मिट जाएगी। भाईचारा बढ़ जाएगा। नारा ही लगाना है तो उद्घोष करो–"मूर्खता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।" संघर्ष ही करना है तो निश्चय करो–अपने हकों के लिए मूर्खता करेंगे, नहीं तो जीते जी मरेंगे। झिझको मत, अपने सीने पर अंगुली रखकर सुनाओ "मूरख हो तो ऐसा हो।" अपने घर को 'मूर्ख निवास' बनाओ–"चैरिटी बिगिन्स ऐट होम।" स्वयं मूर्ख बनकर, परिवार को मूर्ख बनाकर संसार के कोने-कोने में मूर्ख-मैत्री का संचार कर दो।

यही जीवन का परम लक्ष्य है। जिसने मूर्खता को अपनाया, उसने सब कुछ पाया। मूर्खता से नाता तोड़ा तो गधे ने मारी दुलत्ती और भाग गया घोड़ा।

मैं तो जन्म से ही मूर्ख हूं। स्कूल में मास्टर कान पकड़कर कहते थे–"मूर्ख कहीं का !" पुश्तैनी पंडिताई छोड़ने पर पिताजी कहते थे–"मूर्खता कर रहा है।" पंडिताई करता, कथा-भागवत और प्रवचनों की धारा वहाता तो देश में ही नहीं, विदेशों में भी मेरे आश्रम खुल जाते। योगी और तांत्रिक की उपाधि से विभूषित हो जाता। सत्ता और लक्ष्मी मेरी मुट्ठी में होती। परंतु मैं ठहरा मूरख, कागज काले करने लगा। कांग्रेसवाले कहते रहे जेल जाओ, मैं नहीं गया। मूर्खता ने रोक दिया। स्वतंत्रता सेनानी नहीं बना और उससे प्राप्त सुविधाओं से वंचित हो गया। मेरे प्रियजनों ने कहा कि चुनाव लड़ जाओ। जन तुम्हारे साथ है, धन हम देंगे। मैंने यहां भी मूर्खता की। यदि एक बार भी संसद में पहुंच गया होता तो आजीवन पेंशन पा जाता। परंतु मूर्खता देखिए, मुझे अपनी मूर्खता पर अफसोस नहीं है। मैं मूर्ख था, मूर्ख हूं और मूर्खता के कारनामे इस पुस्तक की हर पंक्ति में आपको परिलक्षित होंगे।

जीवन में मैंने कई खेल खेले हैं। बड़े रंग देखे और दिखाए हैं। बड़ी संस्थाएं बनाई और बिगाड़ी हैं। लेकिन मूर्ख महासम्मेलन ? खेल बिगड़ गए। रंग उतर गए। संस्थाएं देखते-देखते खत्म हो गईं या होने के लिए तैयार बैठी हैं। परंतु मेरा मूर्ख महासम्मेलन अमरबेल की तरह देश के कोने-कोने में ही नहीं, विश्व-भर में नाम और रूप बदलकर फैलता ही जा रहा है। इस पुस्तक में मैंने बात-बात में मैं-मैं की है–मैंने यह किया, मैंने वह कह दिया, मैंने यह लिखा, वह लिखा, आदि-आदि। मैं लिखते-लिखते थक गया हूं और शायद आप भी थक गए होंगे। इसलिए मूर्ख महासम्मेलन की कहानी अपनी जुबानी न कहकर दो प्रत्यक्षदर्शियों के आंखों देखे हाल उन्हीं के शब्दों में यहा उद्धृत कर रहा हूं। जादू वह जो दूसरों के सिर चढ़कर बोले। तो सुनिए मूर्ख महासम्मेलन के मेरे अनन्य सहयोगी डा. रतनलाल शारदा क्या कहते हैं–

"हमारे व्यासजी के अनेक रंग हैं। वह उच्चकोटि के कवि हैं, सुलेखक हैं, पत्रकार हैं, हिन्दी के नेता हैं और व्यक्तिगत जीवन में बड़े आदर्शवादी तथा रचनात्मक कार्यकर्ता भी हैं। लेकिन होली के दिन दिल्ली में उनके रंग-ढंग देखकर कोई इन बातों की कल्पना भी नहीं कर सकता। होली के दिन व्यासजी राजधानी में बिना मौर के दूल्हे के रूप में प्रकट होते हैं। लाखों लोग उनकी इस निराली सजधज से निकलनेवाली बारात की शोभा देखने के लिए घर से लेकर दिल्ली के बाजारों और रामलीला मैदान में घंटों पहले से जमा हो जाते हैं। उस दिन दिल्ली का बच्चा-बच्चा उनके रूप और कथन पर सही अर्थों मे आशिक होता है। उस दिन वह अपने से लेकर भारत के प्रधानमंत्री तक को नहीं छोड़ते। वह उस दिन जिसे छेड़ देते हैं, वह निहाल हो जाता है। हमारा मतलब मूर्ख महासम्मेलन के सालाना इजलास से है। व्यासजी इसके आजन्म महामंत्री हैं।

दिल्ली जलसे-जुलूसों का शहर है। यहां के जमघट रिकार्ड तोड़ होते हैं। पर गत बारह वर्षों से मूर्ख महासम्मेलन के रिकार्ड को आज तक कोई नहीं तोड़ सका है। रामलीला से भी बड़ी सवारी मूर्ख महासम्मेलन के अध्यक्ष की निकलती है और जवाहरलालजी की

सभाओं से बड़ी सभा मूर्ख महासम्मेलन की होती है। व्यासजी इसमें किसी को सभापति बनाएं, किसी से उद्घाटन कराएं, किसी की सवारी निकालें–इस शाम के हीरो वही होते हैं। लोग उनकी चुटकियों पर लोटपोट होते हैं, उनकी रिपोर्ट के निराले अर्थ निकलते हैं, उनके द्वारा उस दिन दी गई उपाधियां लोगों पर चस्पां होकर जनता के कंठों में बस जाती हैं और उनकी कविताएं, वह तो खैर जमती ही हैं।

व्यासजी इस दिन बनते हैं और बनाते हैं। हंसते हैं और हंसाते हैं। छेड़ते हैं और किसी को भी छोड़ते नहीं। महीनों पहले से लोग दिल्ली में यह अनुमान लगाने लगते हैं कि देखो इस घटना और व्यक्ति के बारे में मूर्ख महासम्मेलन वाले दिन व्यासजी क्या कहते हैं ? अब तो मूर्ख महासम्मेलन दिल्ली में ही नहीं सारे देश में शाखा-प्रशाखाओं के रूप में फैल गया है। देश में ही नहीं, विदेशों में भी इसकी चर्चा होने लगी है, क्योंकि व्यासजी इसमें काट-छांटकर ऐसे लोगों और कार्यक्रमों को अड़ाते हैं कि इसका आकर्षण साल-दर-साल बढ़ता ही जाता है।

यों तो मूर्ख महासम्मेलन में एक से एक दिग्गज व्यक्ति पड़े हुए हैं और मूर्खता में कोई अपने को किसी से कम नहीं समझता, पर इसकी अंतरंग छोटी-सी तिपाई के तीन खूंटे ही इस सारे उत्पात की जड़ हैं। इनमें से पहले हैं इसके सनातन सभापति डॉ. युद्धवीर सिंह और दूसरे हैं कार्य विनाशक मंत्री यानी मैं–रतनलाल शारदा तथा तीसरे हैं जन्मजात महामंत्री श्री गोपालप्रसाद व्यास। कोई चुनाव हम तीनों को नहीं हरा सकता, क्योंकि चुनाव इसमें होता ही नहीं। कोई मुकदमा इस पर नहीं चल सकता, क्योंकि कोई दफ्तर, कागज-पत्र या हिसाव-किताव इसका रखा ही नहीं जाता। सिर्फ सालभर में एक चुहचुहाती हुई व्यासजी की एक रिपोर्ट छपती है, वह दस हजार छपे या वीस हजार, कीमत दो आना हो या चार आना, होली के दिन के वाद वह बचती ही नहीं। वर्ष-भर में इसकी नामजद कार्यकारिणी की केवल दो बैठकें होती हैं। पहली डॉ. युद्धवीर सिंह के घर पर नए वर्ष के लिए सभापति की तलाश के लिए और दूसरी रिपोर्ट, कार्यक्रम और उपाधियों की छानबीन, टोह या घुसपैठ के लिए व्यासजी के घर। डॉक्टर साहव के घर पर चूंकि शुद्ध जलपान (जल और पान) ही होता है, इसलिए वहां कोई खतरा नहीं रहता। मगर व्यासजी के घरवाली वैठक में लोग संभलकर जाते हैं। वहां अक्सर रवड़ी के नीचे गोवर, चाय के कप में मिर्चों का पानी तथा पकौड़ियों और लड्डुओं में इस खूवी के साथ विजया (भांग) मिलाई जाती है कि पहचानना कठिन हो जाता है। मूर्ख महासम्मेलन का जुलूस व्यासजी के घर से ही निकलता है। इसलिए सभापति की सेहराबंदी भी यहीं होती है। व्यासजी की पत्नी इस दिन नए सभापति को टीका और काजल लगाती हैं, उनका मुंह जुठाती हैं और लोग घंटा-घड़ियाल से उनकी आरती उतारते हैं। यह सौभाग्य अब तक जिनको प्राप्त हो चुका है उनमें से कुछ के नाम हैं–सर्वश्री जगजीवनराम, बीजू पटनायक, सरदार गुरुमुख सिंह, 'मुसाफिर', बाबा बचित्तर सिंह, गोपीनाथ 'अमन', केन्द्रीय मंत्री लाला शामनाथ वगैरह। दिल्ली के मेयर बैरिस्टर नूरुद्दीन से लेकर मीर मुश्ताक अहमद तक और संसद सदस्य श्री शिवचरण गुप्त से लेकर प्रदेश कांग्रेस के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री ब्रजमोहन तक सभी मूर्ख सम्मेलन से उपकृत हो चुके हैं। अब तो हाल यह है कि मूर्ख महासम्मेलन का सभापति बनने के लिए तरह-तरह से घुसपैठ किया करते

हैं। चाहे दिल्ली के बाजारों में इसके लिए उन्हें गधे पर बैठकर निकलना पड़े या ऊंट पर उल्टे मुंह करके बैठना पड़े अथवा भालू के पिंजड़े में बंद होकर फोटो खिंचाना पड़े या बिजली की पचास फुट ऊंची सीढ़ी पर सुर्रीदार टोपी पहनकर ऊंचा टंगना पड़े। मूर्ख महासम्मेलन के जलसे और जुलूस से इतनी पब्लिसिटी मिलती है, उतनी न तो लाखों रुपये खर्च करके प्राप्त की जा सकती है और न बीसियों वर्ष जनसेवा के नाम पर चप्पलें घिसने से।

मूर्ख सम्मेलन का इतिहास

आदमी का दिमाग भैंसा है और दिल है बकरा। यह दोनों हमेशा "खाऊं-खाऊं" करते रहते हैं। आजादी से पूर्व गुजरात जेल में ऐसे भैंसों और बकरों की कमी न थी। ये भैंसे और बकरे थे–श्री मीर मुश्ताक अहमद, डॉ. युद्धवीर सिंह, श्री गोपीनाथ 'अमन', श्री रामलाल वर्मा और श्री बीजू पटनायक आदि। वहां तो रोटियों के ही लाले थे–फिर दिल के बकरों और दिमाग के भैंसों को खुराक कहां नसीब हो सकती थी ?

ये खुद अपने को समझदार समझते थे, पर इनकी अक्ल को भैंस चर गई थी। इसलिए कोई हल नहीं निकल पा रहा था। हम तो अपने को जन्मजात मूर्ख मानते ही हैं। मानते नहीं, हैं भी। इसलिए हमने एक हल खोज निकाला। जेल की मनहूसियत को खत्म करने के लिए मूर्ख महासम्मेलन की नींव रखना तय किया गया और ऊपर के सब यारों से कहा–"मूर्ख मंडल में आ जाओ।" धड़ाधड़ सदस्य बनने लगे और उनके दिल के बकरे और दिमाग के भैंसे मस्ती की घास खा-खाकर मुटाने लगे। जेल के अधिकारी भी मूर्ख मंडल की बैठकों में बैठकर अपने को मूर्ख समझने का आनंद पाने लगे। 'मूर्ख मंडल जिंदाबाद' के नारों से गुजरात जेल गूंज गई। ब्रिटिश सरकार में इतनी हिम्मत कहां थी कि मूर्ख मंडल के कदीमी मेंबरों को जेल में रख सकती। सब मूर्ख छोड़ दिए गए–लौट के बुद्धू घर को आए।

लोगों को पता चला कि दिल्ली के बड़े-बड़े नेता जेलों से छूटकर वापस आ रहे हैं। स्टेशन पर सभी बड़े नेताओं का फूलमालाओं से स्वागत किया गया, पर हम जैसे मूर्ख एक तरफ ही खड़े थे। क्योंकि इनके स्वागत के लिए दिल्ली के समझदार लोग फूलमालाएं लेकर हाजिर नही हुए। मैंने तत्काल मूर्खता का परिचय दिया। स्टेशन पर एक माली कोई पचास-साठ मालाएं लेकर उन्हें बेचने के लिए आया था। मैंने उससे वे सब मालाएं खरीद लीं और स्वयं अपने गले में डाल लीं और छूटे हुए जत्थे के सामने अकड़कर चलने लगा। भीड़ ने समझा कि असली और बड़ा नेता यही है और गाजे-बाजे के साथ 'महात्मा गांधी की जय' के नारे लगाते हुए वे मुझे जुलूस के रूप में ले चले। इस प्रकार मूर्ख मंडल के एक सदस्य ने उस दिन बड़े से बड़े नेताओं को छका दिया। उन्होंने पहली बार मूर्खों का लोहा स्वीकार किया। इस तरह आजादी से पूर्व मूर्ख महासम्मेलन ब्रिटिश सरकार की जेलों में पैदा हुआ और पनपा। सरदारों के पंजाब प्रदेश को ही इसके जन्म का गौरव प्राप्त है। गुजरात, फिरोजपुर, अंबाला आदि नगरों की जेलें इसकी साक्षी हैं।

सन् 47 से लेकर सन् 52 तक मूर्ख महासम्मेलन के बकरे और भैंसे अगर कहा जाए

तो सिर्फ पड़े-पड़े जुगाली करते रहे। सन् 53 में इसका पहला बाकायदा इजलास दिल्ली की हार्डिंग लाइब्रेरी के बरामदे में लगा था। लायब्रेरी के पीछे के मैदान में हकीम खलील-उल-रहमान की अध्यक्षता में एक भारी जलसा किया गया। दिल्ली के मूर्ख बड़ी तादाद में इसमें शामिल हुए।

इसी अवसर पर डॉ. युद्धवीर सिंह को यह काम सौंपा गया कि वह मूर्ख मंडल का जन्म-जन्मांतर मंत्री खोजें। युद्धवीर सिंह बड़े योद्धा हैं। हमें साथ लेकर ढूंढ़ने निकल पड़े। शराबखाने खोजें, पागलखाने खोजे, चंडूखाने खोजे, होटल ढूंढ़े, गलियां छानीं पर झख मारकर लौटने ही वाले थे कि लाल कुएं की एक गली से ढोलक की थाप के साथ कुछ गाना-सा सुनाई पड़ा–

लाल कुआं, भोपाल, लखनऊ से ढोलक पर नारा है।
दूर हटो ए दुनिया वालो हिजड़िस्तान हमारा है।।

युद्धवीर सिंह के कान खड़े हो गए। उनकी जानी-पहचानी आवाज थी। गली खातियान, मोहल्ला रोदगरान से आगे-आगे चश्मा लगाए एक महानुभाव चले आ रहे हैं। इलाके के सारे हिजड़े उन पर कुर्बान थे, क्योंकि उन्होंने उनकी वकालत करते हुए लिखा था–

हे वायसराय महाराज, हमारी भी मांगें मंजूर करो,
हिजड़िस्तान बना दो जी !

शक्ल में उन्हीं जैसे, पर अक्ल में कुछ अलग दिखाई देनेवाले इन महाशय से परिचय कराते हुए युद्धवीर सिंह बोले–"आप हैं–गोपालप्रसाद व्यास।" बगल में छोरा, शहर में ढिंढोरा–

हम खोजते इन्हें थे नाइयों और कुंजड़ो में।
ये पास ही थे बैठे, भाई-बंधु हिजड़ो मे।।

हम भी इनसे गले मिले, तले मिले और इन्हें ले आए। मूर्ख मंडल जन्म-जन्मांतर मंत्री गोपालप्रसाद व्यास को पाकर युग-युग के लिए धन्य हो गया। व्यासजी को उसी समय बेशकीमती 'महामूर्ख' की आनरेरी उपाधि से विभूषित किया गया।

व्यासजी ने मूर्ख मंडली में आकर जान डाल दी। सारी दिल्ली के मूर्ख इनका नाम सुनते ही हो-हो करके इनके चारों ओर इकट्ठे होने लगे।

अकेले व्यास की ही यह सूझ है कि पाजामे का झंडा लहराया गया, गधे को मूर्ख मंडल का आराध्य देव बनवाया गया, क्योंकि व्यासजी के दिमाग में ये दोनों पहले ही घर कर चुके थे और पाजामे की बड़ी बहिन के गीत गा चुके थे–

सलवार चली, सलवार चली,
धोती-लहंगे को फाड़ चली।

जग पड़ा दुपहरी में सुनकर
मैं तेरी मधुर पुकार गधे !
मेरे प्यारे सुकुमार गधे !

मूर्ख मंडल के मंत्री बनते ही हमारी भाभी (श्रीमती व्यास) इतनी खुश हुईं कि वह पुराना घर छोड़कर चांदनी चौक भागीरथ पैलेस के नए घर में जा बसीं और वहीं उन्होंने बसा लिया कृपा करके हमारे व्यास को।

नई-नई स्कीमें बनीं। पहले ही वर्ष कठघरे में व्यास की सवारी निकाली गई। दूसरे वर्ष जब ये एक हिजड़े पर चढ़कर बाजार में निकले तो दिल्ली के सारे मूर्ख इनकी अक्ल पर कुर्बान हो गए।

मूर्ख मंडल के स्टेज पर बड़े-बड़े मूर्ख आए-डॉ. युद्धवीर सिंह, गुरुमुख निहाल सिंह, गोपीनाथ 'अमन', बीजू पटनायक, काका हाथरसी और मैं भी। पर दिल्ली के मूर्ख व्यास पर जितने फिदा होते थे, उतने किसी पर हो ही नहीं सकते। हों भी कैसे ? इनके रंग और ढंग सबसे निराले हैं।

न जाने क्या बात है, जबसे मूर्ख मंडल के जन्म-जन्मांतर महामंत्री बने हैं, तबसे इनकी जुबान कैंची से भी तेज हो गई है। बात करते हैं मानो शराब की बोतलें उड़ेलते हैं। गोपीनाथ 'अमन' को मूर्ख मंडल का अध्यक्ष बनाया तो कहा-"अक्ल और शक्ल में इससे आला कोई शहर मे ढूंढे से नही मिल सकता।" बीजू पटनायक को अध्यक्ष बनाया तो कहने लगे-"पटनायक साहब जो भी है, अपनी बीवी की वजह से। जब मूर्ख मंडल में आने लगे तो हमारी भाभीजी ने कहा था कि बीजू मूर्खों में जा तो रहे हो, लेकिन मेरे दूध की लाज रखना।" सरदार गुरुमुख निहाल सिंह का परिचय कराते हुए व्यासजी ने चुटकी ली-"हमने सरदार साहब को इस भरोसे पर मूर्ख महासम्मेलन का प्रेसीडेंट बनाया है कि ये संसद में इस बात का बिल पास करा देंगे कि देश के सारे नाइयों की दुकानें बंद कर दी जाएं और उस्तरे तथा ब्लेडों का बनना और बिकना कानून द्वारा बंद करा दिया जाए।" जब श्री ब्रजमोहन अध्यक्ष बने तो उन्होंने अपने भाषण मे कहा-"मुझे व्यासजी ने इसलिए चुना है कि जब मै पहली बार अपनी पत्नी को विदा कराके मायके से लाया तो उसके साथ में भी रोने लगा।" व्यासजी फौरन उठे और कहने लगे-"भाइयो, ब्रजमोहन के रुदन का रहस्य मैं बताता हूं। ये उस समय यह सोच-सोचकर रो रहे थे कि पराई बेटी को मैं लिये तो जा रहा हूं, पर इसका करूंगा क्या ?" इसी प्रकार गत वर्ष श्री जगजीवनराम को इन्होंने मंच पर उपस्थित किया तो बड़ी गंभीरता से कहने लगे-"अब जगजीवनरामजी के लिए सरकार और कांग्रेस मे करने को कोई काम नहीं बचा। इसलिए हमने सोचा कि इनकी सेवाओं का मूर्ख महासम्मेलन में ही क्यों न उपयोग किया जाए।" असल में व्यासजी की हाजिरजवाबी और चुटकियों तथा विनोदों का कोई जवाब नहीं। खुदा ने उन्हें ऐसे सांचे में ढाला है कि इनको ढालकर वह सांचा ही तोड़ दिया।

उनके सत्प्रयत्नों से मूर्ख मंडल का पहला अधिवेशन हार्डिंग लायब्रेरी के बरामदे में हुआ, फिर सोशल एजूकेशन के मंच पर। विस्तार करते हुए कंपनी बाग में, वहां से गांधी ग्राउंड में और वह भी स्थान छोटा पड़ जाने पर रामलीला ग्राउंड में जा पहुंचा। वह दिन

दूर नहीं जब मूर्ख मंडल के अधिवेशन के लिए सारी दिल्ली को खाली करवाना पड़ेगा।

अक्सर मूर्ख महासम्मेलन के मंच पर कांग्रेसी नेताओं का जमाव रहता है। एक बार भीड़ में से किसी जनसंघी ने व्यासजी से पूछा—"क्यों साहब, आप हमेशा कांग्रेसियों को ही मूर्ख महासम्मेलन में महत्व दिया करते हैं ?" तो व्यासजी ने फटाक से उत्तर दिया—"हम तो समझते थे कि कांग्रेसियों से बढ़कर कोई दूसरा मूर्ख नहीं है, पर हमें क्या पता था कि जनसंघी भी मूर्खता का दावा करने लगे हैं।" एक बार मैंने एक सभापति को एक विचित्र माला पहनाई। उस माला में मैंने नीचे एक मुर्गी को बांध दिया था। गले में माला पड़ते ही मुर्गी पंख फड़फड़ाने लगी। और कैं-कैं करने लगी। जनता में कहकहे छा गए। व्यासजी उठे और जनता से पूछने लगे—"भाइयो, राम सीता का, कृष्ण राधा का, नेहरू कमला का तो बताओ हमारा सभापति किसका ?" कहते-कहते उन्होंने मुर्गी पर हाथ रख दिया। जनता का गगनभेदी स्वर उठा—"मुर्गी का।"

दिल्ली के एक बड़े नेता अक्सर मूर्ख महासम्मेलनवालों को बड़ी गालियां दिया करते थे। उन्होंने इसकी शिकायत कांग्रेस वर्किंग कमेटी तक में की थी कि मूर्ख महासम्मेलन में नेताओं को खुलेआम बदनाम किया जाता है और चेतावनी दी कि आगे से ऐसा किया गया तो मूर्ख महासम्मेलन को खराब कर दिया जाएगा। व्यासजी ने दूसरे साल ही कुछ ऐसा जादू चलाया कि उक्त नेता को मूर्ख महासम्मेलन का सभापति बनाकर दिल्ली की सड़कों से गुजार दिया। जब यह महाशय मंच पर अपना अध्यक्षीय भाषण करने खड़े हुए तो व्यासजी ने कहा—"दोस्तो, मूर्ख महासम्मेलन का दुश्मन आज इजलास में हाजिर है, बोलो क्या सलूक किया जाए।"

इस तरह एक नहीं, व्यासजी के मूर्ख महासम्मेलन के सैकड़ों किस्से हैं। अगर इन विनोदों और चुटकियों को, फब्तियों और लंतरानियों को एक जगह एकत्र कर दिया जाए तो एक बड़ा चुटीला और मजेदार पोथा बन सकता है। व्यासजी इनके द्वारा समाज-परिष्कार और व्यक्ति-सुधार का मीठा आंदोलन प्रति वर्ष बड़ी खूबी के साथ किया करते है तथा हंसी-हंसी में गंभीर से गंभीर बात ऐसी आसानी और मजे से कह जाते हैं जो दूसरे कदापि नहीं कह सकते। उदाहरण के लिए उन्होंने नेहरूजी को उपाधि दी– 'इंटरनेशनल माशूक', कामराज को 'यमराज' उन्होंने ही कहा। मोरारजी, मेनन, कृपलानीजी, लोहिया, राजाजी और मास्टर तारा सिंह किसी को भी उन्होंने नहीं छोड़ा। जिस वर्ष कृपलानीजी श्री कृष्ण मेनन से संसद का चुनाव हार गए तो उन्होंने कृपलानीजी को उपाधि देते हुए कहा—

लड़के नालायक हुए, रहे तालियां पीट,
सी. बी. बीवी ले गया, मेनन ले गया सीट।

वेदव्यास ने अठारह पुराण लिखकर इस देश के इतिहास, दर्शन और साहित्य को बड़ी देन दी है। अब हम कलियुग के श्री गोपालप्रसाद व्यास से यही आशा करते हैं कि वह मूर्ख महासम्मेलन का उन्नीसवां पुराण लिखकर अवश्य ही दुनिया का भला करते हुए अपना नाम रोशन करेंगे। मूर्ख महासम्मेलन की जय हो ! गोपालप्रसाद व्यास जिंदाबाद !"

डा. रतनलाल शारदा उन दिनों दिल्ली नगर निगम के प्रभावी पार्षद थे। मूर्खों की सवारी के लिए विचित्र से विचित्र वाहनों, अध्यक्षों और विशेष अतिथियों के लिए अनोखी-अनोखी मालाओं का प्रबंध यही करते थे। कभी अध्यक्ष के लिए मैला ढोनेवाली गाड़ी लाते तो कभी कुत्तों को पकड़नेवाली गाड़ी। कभी फायर ब्रिगेड की ऊंची सीढ़ी ले आते तो कभी हाथी पर गधा और गधे पर अध्यक्ष को बिठा देते। स्वभाव से ही विनोदी और मस्त तबियत के आदमी हैं। मूर्ख महासम्मेलन की रौनक अधिकतर इन्हीं के कारण थी।

दो मूर्ख और भी उल्लेखनीय साबित हुए। इनमें एक थे दीपचंद दलाल। इनके जिम्मे गधों का जुगाड़ करना, हिजड़ों को जुटाना, मूर्खों के लिए तरह-तरह की सुर्रीदार टोपियां बनवाना, अध्यक्ष के लिए ताज की व्यवस्था करना, चुगदे आजम से लेकर मंच पर बैठने वालों के लिए पोशाकों की व्यवस्था जैसे रोचक और कठिन कार्य इन्हीं के बूते का था। दूसरे थे अर्जुन उपाध्याय। गोरे-चिट्टे, लंबे, शक्ल-सूरत से बिल्कुल नेहरूजी जैसे। ये खादीधारी स्वयंसेवकों के साथ नेहरूजी की वेशभूषा में हाथ में रौल लिए तथा छाती पर गुलाब का फूल चिपकाए मंच पर आते तो लोग कहते—आज तो मूर्खों में नेहरूजी भी आ गए। इनसे भाषण की प्रार्थना की जाती तो नेहरूजी की तरह उठकर चारों ओर देखते। कमाल था उनकी भाषण शैली का कि बिल्कुल नेहरूजी की तरह बोलते थे। उन्हीं की तरह मुहावरों का प्रयोग करते थे। श्रोताओं को डांटते थे। यह केवल नेहरूजी ही नहीं बनते थे, दलाल के साथ उनके कामों में सहयोग भी करते थे। हाथी, घोड़े, गधे, खच्चर, बंदर, भालू और कुत्तों की पलटन जुटाने के साथ-साथ ढोल-ताशे, कई-कई बैंड बाजे, नफीरी, नक्कारे, ग्रामीणों की होली खेलती हुई टोलियां और पंजाबी और सरदारों के भंगड़ों का प्रबंध भी इन्हीं के जिम्मे था। ये तीन तिरंगे न होते तो मूर्ख महासम्मेलन वह चमत्कार नहीं पाता। देश-विदेश के फोटोग्राफर, पत्रकार और वीडियो फिल्म वाले भी नहीं आते, अस्तु।

चिरंजीव मुकुल उपाध्याय जब विद्यार्थी थे तब अजमेर के एक कवि-सम्मेलन के बाद एक छोटी-सी कापी पर मेरे हस्ताक्षर लेने आए। कहने लगे—कुछ लिख भी दीजिएगा। मैंने लिख दिया—"मूर्ख बनो, मतिमंद बनो !" अब तो यह बहुत बड़े आदमी हो गए हैं। लेकिन मेरे हस्ताक्षरवाली कापी उनके पास आज भी है। कभी-कभी उसे दिखाकर कहते हैं कि "चाचाजी, आपने मुझे वास्तव में मूर्ख बना दिया।" पाठक समझें कि मुकुल का इशारा किस तरफ है ? मेरी बड़ी लड़की पुष्पा की शादी इन्हीं के साथ हुई है। समझ गए न ? अथ मुकुल उवाच—

"महासम्मेलन का एक विशेष आकर्षण होता था व्यासजी की वर्ष-भर की रपट-दपट। गंभीर से गंभीर बात व्यासजी अपनी रपट में इतनी आसानी और पैनेपन से कह जाते थे कि लंबे समय तक उसका असर बना रहता था। इस रपट-दपट के कुछ अंश यहां प्रस्तुत हैं, जिनसे न केवल हास्य की 'गंभीरता' का मजा मिलता है, बल्कि उन वर्षों की स्थिति—परिस्थितियों की यादें भी ताजा हो जाती हैं—

सन् 1965 !

मित्रों ! मेरे साथ आप भी खुलकर श्री गुलजारीलाल नंदा की जय बोलिए ! हमारा कार्य रंदा है। हमारा धर्म चंदा है। हमारा उद्देश्य गंदा है। हमारा नेता नंदा है। पूछिए

क्यों ? नंदाजी ने कहा था, "दो वर्ष में अगर भ्रष्टाचार न मिटा तो मैं मंत्री-पद छोड़ दूंगा।" तब हमें लगा था कि यह आदमी तो बुद्धिमान है। पर मूर्ख कभी गद्दी नहीं छोड़ा करते। सरकार में भ्रष्टाचार के रहते हुए भी वे जमे हुए हैं। यह इस बात का सबूत है कि वे असल में हमारे नेता हैं।

सन् 1966 !

हमारी मूर्ख सरकार ने मूर्ख महासम्मेलन के आदेश का पूरा-पूरा पालन किया है। अनाज होते हुए भी उसने दुनिया में अकाल का शोर मचा रखा है। शिक्षा, स्वास्थ्य तथा समृद्धि के कामों में देश का पैसा बेकार बरबाद न हो, इसलिए विदेशों से अरबों रुपये का अन्न और खाद धड़ाधड़ खरीद रही है। लोग अधिक खाकर मोटे और तंदुरुस्त न हो जाएं, इसलिए अनाज का राशनिंग कर दिया गया है। लोगों की आदतें सुधारने के लिए गेहूंवाले इलाकों में चावल और चावल वाले इलाकों में गेहूं धड़ाधड़ मुहैया किया जा रहा है। एक जगह का फालतू अनाज दूसरी जगह न पहुंच पाए और विदेशों से मंगाया हुआ और देश में पैदा हुआ अनाज गोदामों में ही सड़ जाए, इसका पक्का इंतजाम कर लिया गया है। भारत सरकार ने यह पक्का निश्चय कर लिया है कि सरकार बदल जाए, पर खाद्य मंत्री नहीं बदला जा सकता। हमारे प्रोग्राम के मुताबिक सिंचाई विभाग खाद्य मंत्रालय से लड़ रहा है और खाद्य मंत्री ने कह दिया है कि जब तक देश में एक भी आदमी को खाने को एक बार दो चपाती और छंटाक-भर चावल मिल जाता है, तब तक मैं अपने पद से नहीं हटूंगा। केन्द्रीय मंत्रियों की संख्या हमनें ताश के पत्तों के बराबर, यानी बावन कर दी है और उसमें जाकर बनने के लिए धड़ाधड़ लोगों की अर्जिया आ रही हैं।

सन् 1969 !

मित्रों, अभी सन् 69 है। यह गांधी शताब्दी का वर्ष है, सावधान ! शराबखोरी बंद न होने पाए। खादी की बिक्री घटनी चाहिए। बूढ़े नेताओं को भूल जाना चाहिए और लड़कों को हमें उकसाना चाहिए कि "अरे होनहारो ! अध्यापकों और पुलिस को क्यों मारते हो, पहले अपने मां-बाप की खबर लो। नेक काम हमेशा घर से ही शुरू किए जाते हैं।"

और सन् 1971 वाली रपट पर तो एक-एक बात पर मिनटों तक तालियां पिटती रहीं। उसके कुछ अंश आप भी पढ़िए—

बीत गया लो सन् सत्तर
वोट पड़े, बरसे पत्थर
हर्ष ! हर्ष ! ! और भारी हर्ष ! ! !
मूर्खों की विक्टरी का वर्ष
जय हो इंदिरा मैया की
पूंछ पकड़ ली गैया की
कांग्रेस में फूट पड़ी
दोनों बैल अनाथ हुए
नहीं किसी के साथ हुए

एक इंदिरा का है ढोल
एक तीन की खोले पोल
चरणसिंह पर चक्कर है
आपस में ही टक्कर है
अटलबिहारी डोल रहे
अपनी जगह टटोल रहे
सोच रहे जगजीवनराम
क्या इस बार बनेगा काम
दौड़े बहुत हुए अमचूर
देसाई के सपने चूर
वाह जवाहर की बेटी
तू निकली मटियामेटी...आदि

इस तरह महामंत्री (व्यासजी) की रपट-दपट के जरिये सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था पर कड़ी चोट की जाती थी।

फिर विचित्र वेशभूषा में विचित्र माला लटकाए वर्ष के अध्यक्ष अपने भाषण में मूर्खता के प्रचार-प्रसार के लिए अपनी योजनाएं पेश करते थे। ऊंचे दर्जे का हास्य वह है जो स्वयं अपने पर किया जाए। इस दृष्टि से मूर्ख महासम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण ऊंचे दर्जे के हास्य के अच्छे नमूने माने जा सकते हैं।...दिल्ली के (तत्कालीन) महापौर श्री हरिकिशनलाल भगत के अनुसार–

"मूर्ख महासम्मेलनवालों ने मुझे याद किया, इसका अहसान नहीं मानूंगा। अहसान वह माने, जो इस पद के नालायक हो। कुछ लोग शक्ल से मूर्ख होते हैं, कुछ लोग अक्ल से मूर्ख होते है और कुछ ऐसे होते है जो जन्म से ही मूर्ख होते है। मुझे तो अल्ला-ताला ने तीनों तरह से मूर्ख बनाया है। भगत मेरा नाम कोई परमात्मा की भक्ति करने से थोड़े ही पड़ा है। मैंने ईश्वर को भी मूर्ख बनाया है।"

सन् 1965 में श्री भगवतदयाल शर्मा ने अध्यक्षीय भाषण दिया। उसके पहले मुख्य अतिथि के रूप में श्री जगन्नाथ पहाड़िया के उद्‌गार इस प्रकार थे–"मैं यहां आकर खुश तो हुआ, पर एक बात समझ में नहीं आई कि इतने सारे मूर्खों के रहते हुए मुझे यहां बुलाने की क्या जरूरत पड़ गई। अकेले भगवतदयाल ही एक लाख मूर्खों के बराबर हैं।"

"अंत में आपसे एक बात और भी कहनी है कि मूर्खता के प्रसार के लिए आप कोई योजना बनाइए, इसके लिए हम अपनी पंचवर्षीय योजना भी खत्म कर सकते हैं। विद्वता के विनाश के लिए आप कोई सुझाव सुझाइए, हम इसके लिए जी जान से हाजिर हैं।"

श्री भगवतदयाल शर्मा ने गधे के संदर्भ में महान व्यक्तियों और पशुओं के बीच स्नेह-संबंधों का जिक्र करते हुए अपने 'दल-बदल' को देखिए किस तरह उचित ठहराया है–

"ऋषि चाणक्य ने नेता में गधे के गुणों का होना अनिवार्य कहा है। जिसमें ये गुण

नहीं, 'लेता या पलेता' है। हर अवतार, देवता तथा पैगंबर और देश के रहबरों ने पशुओं को प्यार किया है। भगवान राम ने बंदर, भालू, गिद्ध और गिलहरी को प्यार किया, भगवान कृष्ण ने गौ को, शंकर ने बैल को, सांपों को, गणेश ने चूहे को, लक्ष्मी ने उल्लू को, भैरव ने कुत्ते को, हजरत ईसा ने भेड़ों को और गांधी ने बकरी को।"

"प्रिय मूर्खो, मध्यावधि चुनाव के पहले कांग्रेसी विरोधी दलों की सरकार को खिचड़ी सरकार कहकर भरपेट कोसती थी। अपने अडिग सिद्धांतों और अपने सतीत्व की डींग मारती थी। मध्यावधि चुनावों के बाद उसने भी विरोधी दलों से आंखें लड़ाना शुरू कर दिया और हाथ मटका-मटका कर कहती है—आ जा, मोरे बालमा तेरा इंतजार है। भूषण कवि ने ठीक ही कहा है—"जो चार बेर खाती थीं, अब चार बेर खाती हैं।" एक झटके में आडंबर, प्रपंच और छद्म की फटी गुदड़ी उतार फेंकी। बूढ़ा कांग्रेसी जिस पर अभी भी कुछ मूर्खपन का पानी है, दिल थामकर कहता है—"मेरी कब्र पर हमरा रकीबा न आया करो, मुसलमां मुर्दे को जलाया नहीं करते।"

जब इतना बड़ा आयोजन हो और प्रस्तावों के जरिये अपनी बात उचित अधिकारियों तक न पहुंचाई जाए, तो सम्मेलन का उद्देश्य अधूरा-सा लगता है। मूर्ख महासम्मेलन के प्रस्ताव न केवल दिलचस्प होते थे, बल्कि अर्थपूर्ण भी होते थे। जैसे इस प्रस्ताव का एक अंश देखिए—

"अखिल भारतीय मूर्ख महासम्मेलन मुंहझुलसी पड़वा को केवल एक मत से यह निश्चित करता है कि क्योंकि देश में हिन्दी और अंग्रेजी को लेकर झगड़ा है, इसलिए दोनों भाषाओं का पत्ता काट दिया जाए, और बांगड़ू भाषा को आज ही राजभाषा घोषित कर दिया जाए।"

"देश में समृद्धि और शांति के लिए यह सम्मेलन यह तजवीज करता है कि राजाजी को काला पानी, राममनोहर लोहिया को हानोलूलू, अन्नादुरै को भोगांव और अटलबिहारी वाजपेयी को शिकारपुर का गवर्नर बना दिया जाए। सारे कम्यूनिस्टों को मास्को और पेकिंग भेजकर कांग्रेसियों को फिर उनकी पुरानी बैरकों में बंद कर दिया जाए तथा सत्ता की बागडोर मूर्ख महासम्मेलन को सौंप दी जाए। जब तक सत्ता मूर्खों के हाथ में नहीं आएगी, देश में काम बिगाड़-राज ही चलता रहेगा।"

तीखा प्रभाव भी इस सम्मेलन का हुआ। दो-तीन बार संसद में इस पर प्रश्नोत्तर हुए, जिनमें इसे बंद कराने और मंत्रियों व नेताओं को इसमें शामिल होने पर प्रतिबंध लगाने की बात कही गई। एक बार जब श्री कृष्ण मेनन मूर्ख महासम्मेलन के मुख्य अतिथि हुए थे और श्रीमती तारकेश्वरी सिन्हा अध्यक्ष बनी थीं, तब संसद में पूछे गए एक प्रश्न के उत्तर में तत्कालीन प्रधानमंत्री पं. नेहरू ने कहा, "यह तो संसद है, मूर्ख महासम्मेलन नहीं।" इसके बाद जब तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष श्री जगजीवनराम मुख्य अतिथि बने, तो एक कांग्रेसी कार्यकर्ता ने प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी को एक पत्र लिखा था कि क्या यह नई कांग्रेस के अध्यक्ष की प्रतिष्ठा के अनुरूप है ? इस पत्र के उत्तर में श्रीमती गांधी ने जो कहा, वह न केवल मूर्ख महासम्मेलन की भावना को ही व्यक्त करता है, बल्कि हास्य-विनोद के महत्व को भी स्थापित करता है—

"होली एक ऐसा पुराना व लोकतन्त्रीय त्योहार है, जो हास्य-विनोद और मनोरंजन से भरपूर होता है। इस विनोदपूर्ण व मनोरंजन-प्रेरक भावना को लोग विभिन्न रूपों में व्यक्त करते हैं। विदेशों में भी वर्ष में एक कार्निवल मनाए जाते है। मै नही समझती कि ऐसे आयोजनो में शामिल होने से प्रतिष्ठा को कोई धक्का पहुचता है। ऐसे आयोजनों के बारे मे गभीरता से नही, बल्कि विनोद-भावना से ही सोचना चाहिए।"

जबसे व्यासजी चादनी चौक छोड़कर गुलमोहर पार्क मे बसे हैं, मोद-विनोद का यह कार्यक्रम बंद हो गया है। जलसा-जलूसी आचरण शायद पुरानी दिल्ली के ही बस का है। उसी इलाके मे लखनऊ की लज्जत, दिल्ली की दिल्लगी और मथुरा की मस्ती है। लेकिन व्यासजी मूर्ख महासम्मेलन बद करने का कारण और ही बताते है। उनका कहना है, "जब देश मे मूर्खो की कमी थी, तो हमने ज्ञान के विनाश का बीड़ा उठाया था। अब तो सरकार से लेकर जनता तक, सर्वत्र मूर्खो का ही साम्राज्य है। मूर्खता फैल गई, हम सिमट गए।"

लोगो के लिए मूर्ख महासम्मेलन मोद-विनोद के साथ साथ खिल्लियां सुनने और खिलखिलाकर हसने का वार्षिक मेला था। रग-कीचड से बचनेवाले लोग परस्पर मिलने और बधाई देने का सामूहिक अवसर तलाश रहे थे। मूर्ख महासम्मेलन ने उसकी आवश्यकता पूरी की। लेकिन मेरी दृष्टि मे इसका मकसद कुछ और भी था। मेरी हाथ की डुगडुगी के डिम-डिम स्वर बाजीगर के खेल मे अधिक धमाकेदार चेतावनी के रूप में निकलते थे। मै डुगडुगी के सहारे समाज के बदरों को नचाता था। मेरी रपट एक आइना था जिसे बदरों को पकड़ाकर उसमें अपना मुख देखने के लिए प्रेरित करता था। मतलब यह कि हे राज-समाज के कर्त्ताधर्त्ताओं, तुम्हारे मुखौटों को जनता ने तो पहचान लिया है, अब तुम भी उसे देख लो। तब बदरों के कान सुनते थे ओर आख भी बद नहो हुई थी। वे देखते, सुनते थे, लेकिन समझ नही पाते थे। इस कान से सुनकर, हसकर, दूसरे कान से निकाल देते थे। मूर्ख कहीं के! अब तो इन बदरों को काठ मार गया है। पता नही उनकी मूर्खता देश और समाज को जाने कहा ले जाएगी? जो भी हो मै बहुत दिनों तक डुगडुगी बजाता रहा और अब भी जब-जहा लिखने का अवसर मिलता है, अपनी इस कलाबाजी से बाज नही आता। लेकिन—'मूरख हृदय न चेत, लाख व्यास बकते रहे।"

मुहर्रम को भी ईद बना देनेवाले व्यास के पचास अभिनंदन होने चाहिए।

—किशोरीदास बाजपेयी

गप्पी गोपाल

भारत सोने की चिड़िया भले ही न रहा हो, लेकिन गप्पो का अकूत खजाना अनादि काल से था, है और गरीबी और महंगाई भले ही दूर हो जाए, लेकिन यहां के आम आदमी से गप्प को अलग करना उतना ही कठिन है जितना महिलाओं को बनाव-शृंगार से। इस महान कार्य में निपट निरक्षर से लेकर हमारे ऋषि-मुनि तक अपवाद नहीं हैं। कवि, लेखक और पत्रकार की तो बात ही छोड़ दीजिए। बिना खाए-पीए उनका काम चल सकता है, लेकिन गप्प लगाए बिना उन्हें अपना जीवन निरर्थक, नीरस और निष्प्राण लगने लगता है।

अब यही देखिए कि पृथ्वी शेषनाग के फन पर टिकी है। प्रमाण हाजिर है कि दिल्ली की किल्ली जब गाड़कर उखाड़ी गई तो उसकी नोंक पर खून लगा हुआ था। वह खून और किसी का नहीं, शेषनाग के फन का था। अब देता रहे विज्ञान सफाई। अब आस्थावान भारतवासी तो वैज्ञानिक के भी कथन को सच मानने के लिए मजबूर हो जाएं, यह जरूरी तो नहीं। किसी और का न हो, कम-से-कम मेरा तो यही विश्वास है कि गप्प को झुठलाना पाप और सच को गप्प समझना ही—"अहिंसा परमो धर्मः" है।

गप्प, गप-शप, गपड़-शपड़, गपोड़े, गप्पाष्टक, देहरादून का दून और उसे भी हांकना और क्योंकि आजकल हिन्दी नहीं, अंग्रेजी का जमाना है, इसलिए गॉसिप भी—ये सब 'ग' अक्षर से प्रारंभ होते हैं। 'ग' से गाय भी बनता है। धरती गाय के सींग पर टिकी हुई है। उसकी पूंछ को पकड़कर स्वर्ग को जाया जा सकता है। है साहस आप में इन सब बातों को गप्प बताने का ? गाय पालनेवाले को गोपाल कहते हैं। जो गोपाल का प्रसाद हो, उसे व्यास कहते हैं। व्यास पुराणकर्ता माने गए है। पुराणों को विश्व के इतिहासकार गप्प मानते हैं। यह भले ही ठीक न हो, लेकिन इसे बिल्कुल सही समझ लीजिए कि 'ग' से गप्प, गप्पी और गप्पी से गोपाल यानी मै, अपने आपको आज के जमाने का सबसे बड़ा गप्पबाज मानता हूं।

आप न मानें तो न मानें, मेरा क्या कर लेंगे ! लेकिन सावधान, एक दिन जब मैं

वाराह पुराण की तरह गप्प पुराण लिख डालूगा तो आपको मेरा लोहा मानना ही पड़ेगा–क्योंकि मेरे पास काले धन की तरह गप्पो का अथाह भडार है। यह मेरी बात राम-नाम की तरह सत्य है, जिसे न चोर चुरा सकता है, न डाकू लूट मकता है और न शासन छीन सकता है।

केवल एक नमूना पश करूगा। यह वह नही है, जब मूर्ख महासम्मलन म टुनटुन आ रही है, के पोस्टर लगाकर एक मोटे-ताजे कलाकार की मूछे मुडवाकर, उसे साक्षात् टुनटुन बनाकर राजधानी की सडको पर दस किलोमीटर बैड-बाजो के साथ घुमा दिया था। यह वह भी नही है कि एक चिरकुमार, किंतु वृद्धावस्था प्राप्त विख्यात साहित्यकार की शादी एक कवयित्री से हो रही है, उसके निमत्रण उसके पिता के नाम मे छापकर बारात में जाने वाले और उमका स्वागत करनवाला की भीड वर और वधू दाना क दरवाजो पर लगा दी थी।

यह वह भी नहीं हे, जब मेंने एक देनिक अखबार की एक खबर मे अपने आपको सपादक लिखवाकर उम दिन के पत्र की प्रिट लाइन से मपादक का नाम भी गायब करा दिया था। यह वह भी नही हे कि जब एक माहित्यकार का यह सूचना देकर कि उनको इस वर्ष पद्मश्री की उपाधि मिलना कैबिनट स्तर पर तय हो गया है, उसे पशमीना खरीदवा कर सिलाई के लिए दर्जी की दुकान पर खडा कर दिया था।

यह तो इन मब घटनाओ स बडी, रोचक, मशहूरोमारूफ, सनसनीखेज और हैरतअगेज घटना है। आपने दिल्ली क लाला शामनाथ का नाम सुना हागा। पुरान सचिवालय को जाने वाली सडक यानी शामनाथ मार्ग पर भी चले हागे। कभी अपने मकान का छज्जा बढाने, नल, बिजली, मफाई, टैक्स माफ कराने या अपने किसी भाई-भतीजे को नौकरी दिलाने के लिए उन दिनो के महापौर लाला शामनाथ के पाम अवश्य पहुचे होग। अगर ऐसा भी सुअवसर नही मिला है तो भारत मरकार क एक मत्री के नाते ता उनका नाम अवश्य ही सुना होगा। न भी सुना हा ता इमसे क्या फर्क पडता हे। मान लीजिए एक लाला शामनाथ थे। पुराने दिल्लीवाल, हरदिल अजीज ओर लोकप्रिय भी। उम्र साठ से ऊपर हा गई थी उन दिनो उनकी। एक दिन हम लागो की तिकडी ने, इसमे डॉ युद्धवीर सिह, डॉ रतनलाल शारदा ओर ई जानिब, या हम खुद थे। होली के दिना एक गप्प उडाई नही, निमत्रण-पत्रो पर छपाई। लिखा था शामनाथजी के हस्ताक्षर म उसमे कि उनके नवजात पुत्र का नामकरण मस्कार उनके निवाम पर अमुक तिथि ओर अमुक ममय पर हागा। कृपया पधारे और जलपान करे।

शामनाथजी नए नए मत्री। उनसे नई-नई आशाए। उनका नरम और ऑब्लाइज करने वाला स्वभाव। जिन-जिनको निमत्रण-पत्र मिले या जिन्हे नही भी मिल, वे अपनी निकटता सिद्ध करने के लिए छोटे-मोटे तोहफे लेकर उनकी कोठी की ओर चल पडे। कोई कार मे, कोई टैक्सी मे, कोई तागे म तो कोई-कोई रिक्शे मे भी।

लाला शामनाथजी को इसकी भनक पहले ही लग गई थी। लेकिन बजाय बिगडने के या बयान देने के उन्होने भी इस गप्प का भरपूर आनद लिया। अपनी कोठी के लान मे शामियाना तनवाया, कुर्सिया लगवाई और चूडीदार पायजामा और शेरवानी पहनकर

दरवाजे पर खड़े हो गए–"आइए और तशरीफ लाइए ! बड़ी मेहरबानी, शुक्रिया !" खाने के नाम पर जो मेज लगाई गई थी, उस पर तोहफों का अंबार लग गया। लोगों को बैरे पानी और शर्बत मुहैय्या कर रहे थे। हमजोली मजाक कर रहे थे–"यार, इस उम्र में ! भई, हमें कानोंकान खबर तक नहीं हुई कि भाभीजी को कुछ होने वाला है !" लाला मुस्कराते रहे और मजा लेते रहे।

लोग बेताब थे कि मेज पर से तोहफे हटें और मिठाइयां रखी जाएं। लेकिन ऐसा खुद कह नहीं सकते थे। वे तो सिर्फ पूछ ही सकते थे कि 'भई, भाभी-जान कहां हैं ? उस नौनिहाल, होनहार फर्जन्द का दीदार भी तो कराओ कि जिसके पेट में आते ही तुम्हें मिनिस्ट्री मिली।"

लालाजी उठे। पहले डॉ. युद्धवीर सिंह के पास गए कि लड़का पैदा ही नहीं हुआ, इतना बड़ा और बुर्जुग हो गया है। फिर कोने में डॉ. शारदा को पकड़कर सामने लाए कि देखो, ये नालायक पैदा हुआ है। कहकहे गूंज रहे थे और तालियां बज रहा थीं, हम सोच रहे थे कि बला टली। असली मुजरिम का पता पुलिस को लग नहीं रहा, लेकिन शामनाथ जी के पास गुप्तचरों ने सब रिपोर्ट पहले से ही भेज दी थी। उन्होंने मुझे कुर्सी से खींच कर अपनी बांहों की गिरफ्त में ले लिया और बड़ी जोर से कहा–"भाइयो और बहनो, होली मुबारक ! यह सब करतूत गोपालप्रसाद व्यास की है। इससे सावधान रहना। मेरे घर में इसने लड़का ही पैदा किया है, आपके घर में पिल्ला भी पैदा कर सकता है।"

अब मुझे इस घास (व्यास) कवि से निपटना है। बड़ा ऐंठू पत्रकार और हिन्दी के भकुए साहित्यकारों का हिमायती बनता है।

–पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'

नमस्तेस्तु व्यासाय, हास रूपाय ते नमः
नमो नारद-रूपाय वेदव्यासाय ते नमः

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

ओ ! हो ! हो ! हो

वह साठ वर्षो तक मेरे साथ रही। एक दिन को भी अलग नहीं हुई। सांझ होते ही वह आ जाती और जब तक मैं गहरी नींद में नहीं सो जाता मेरे पास ही रहती। वह सदाबहार थी। उसे देखते ही मुझ पर रौनक आ जाती। मन मोद-विनोद से भर जाता। वह जल-केलि में भी मेरा साथ देती। डिनर भी उसके साथ चलता। पत्नी खीजती, रूठती, और कभी-कभी खरी-खोटी भी सुना देती। आप तो जानते ही हैं कि प्रेमिका, प्रेमिका ही होती है और पत्नी, पत्नी ही। पत्नी का नशा तो थोड़े ही दिन रहता है, लेकिन प्रेमिका का नशा उतारे नहीं उतरता। मेरा भी यही हाल था। मैं उसके पीछे पागल हो गया था। आप शायद उसका नाम जानना चाहें, तो मैं संकोच नहीं करूंगा। क्योंकि उसे भी मेरी प्रेमिका होने पर गर्व है–"अब तो बात फैल गई, क्या करेगा कोई।" जबसे बच्चनजी ने नाम ले-लेकर अपनी सखियों का स्मरण पुस्तकों में किया है, मेरा रास्ता भी साफ हो गया है। जी, उस चिरयौवना का नाम है–विजया।

शायद आप में से कुछ मेरे ओठों को चुमनेवाली, गले से लगनेवाली, आवक्ष आलिंगनबद्ध रहनेवाली मेरी मनमोहिनी के संबंध में मुझे चुनौती दें कि यदि वास्तव में ये बात सही है तो अवश्य ही उसका चित्र आपके पास होगा। जिस दुस्साहस के साथ आप अपनी कमजोरी का मुंहजोरी के साथ वर्णन कर रहे हैं, उसका चित्र अगर इस लेख के साथ न छाप सकें तो चोरी-छिपे ही सही, हमें भी उसकी एक झलक दिखा दीजिए। क्षमा कीजिए, मैं ऐसा नहीं कर सकता, मैं लेखक हूं, चित्रकार नहीं। तस्वीर उसकी मेरे दिल में बसी है–"दिल के आईने में है तस्वीरे यार, जब जरा गर्दन झुकाई देख ली।"

आपको बहुत लुभाया। बहुत छकाया। लेकिन अब बता ही दूं। अपने माध्यम से नहीं, अपने किसी पूर्ववर्ती के माध्यम से, जो घोषित कर गए हैं–

भांग कहैं वह बावरे, विजया कहैं सो कूर।
याकौ नाम कमलापति, रहै नयन भरपूर।।

यह कमलापति वह नहीं जो शैव हैं और अपने पीछे त्रिपाठी शब्द जोड़ते हैं। ये तो किसी वैष्णव के विष्णु हैं। जो कमला अर्थात् लक्ष्मी के पति हैं। वह भजनानंदी रहा होगा। विजया का सेवन करके भगवान विष्णु के चरणों में अपना ध्यान लगाता होगा। विजया ऐसी ही वस्तु है जिसे पीकर जिधर ध्यान लग जाए, उधर ही लगा रहता है। उसे पीकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' और 'हिन्दी शब्द-सागर' जैसे महाग्रंथ लिख मारे। पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', भगवती बाबू (भगवतीचरण वर्मा) क्रमशः 'चंद हसीनों के खुतूत' और 'चित्रलेखा' जैसी हसीन किताबें लिखकर छोड़ गए। उदयशंकर भट्ट ने नाटक लिखे, खंडकाव्य लिखे और इलाचंद्र जोशी ने तो मानव-मनोविज्ञान को आधार बनाकर क्या कुछ नहीं लिखा। मैंने उग्रजी के साथ कलकत्ता, काशी, मिर्जापुर और दिल्ली में स्वयं उनके हाथ की घुटी-छनी न जाने कितनी बार पी है। दिल्ली में भगवती बाबू, इलाचंद्र जोशी और मैंने न जाने कितनी वार ऐसप्लेनेड रोड पर दाऊजी के मंदिर के नीचे छनी-छनाई इस दिव्य बूटी का भर-भर गिलास सेवन किया है। उसके बाद दरीबे के नुक्कड़ पर जलेबियां खाई हैं। कनाट प्लेस के किसी रेस्तरां में चाय पीकर अपने-अपने घर विदा हुए हैं। पंडित उदयशंकर भट्ट के साथ लाहौर में उनके घर कई बार घुटी। रवड़ी-पूड़ी के भोजन हुए। एक वार रात को लाहौर से दिल्ली के लिए गाड़ी पकड़ने स्टेशन चल दिए। भट्टजी को भी दिल्ली आना था। स्टेशन जरा पहले पहुंच गए। डिब्बे साइडिंग में लगे थे। गाड़ी खाली थी। बिस्तर विछाकर लेट गए। लेटते ही नींद आ गई। सवेरे सूरज निकल आया तो भड़-भड़ाकर उठे। अरे, दिल्ली आ गई। सारी सवारियां उतर गईं। हम सोते ही रहे गए। लेकिन देखते क्या है कि गाड़ी लाहौर के साइडिंग में ही खड़ी है। वैठना किसी में था और बैठ किसी में गए।

मिर्जापुर में मेरे वड़े मामा कुंजविहारी रहते थे। जब मैं वहां गया तो सुना उग्रजी भी वहां हैं। मैं उनसे मिलने गया। वह सिल पर लोढ़ी चला रहे थे। जब छन गई तो बोले—"कटोरी में लोगे या गिलास में ? मेरी बूटी बहुत तेज होती है।" मैंने उत्तर दिया, "उग्रजी आप काशी-मिर्जापुर के हैं और मैं मथुरा का। अपनी पूर्ति करके जितनी देनी हो दे दो।" उग्रजी ने समझा शेखी मार रहा है। तानकर गिलास भर दिया। मैंने पी लिया। फिर हम दोनों गंगा नहाने चले। वह मेरा वरावर ध्यान रख रहे थे कि मैं गिर न पड़ूं। पर वह गंगाजी में किनारे पर नहाए और मैं दूर-दूर तक तैरता रहा। गंगा स्नान से लौटे तो एक मलाईवाले की दुकान पर रुक गए। एक-एक सकोरा मलाई वूरा मिलाकर दोनों ने खाई। कहा—जय गंगा माई ! पान जमाए और लौटकर अपने-अपने ठिकाने वापस आए।

भांग पीने का सबसे अधिक आनंद मुझे लखनऊ में भाई अमृतलाल नागर के साथ मिलता था। वह सवेरे से ही उसे सिद्ध करने में लग जाते थे। शाम को गोली मुंह में डालकर ऊपर से पानी पिया करते थे। जब-जब लखनऊ जाता तो नागरजी के साथ विजया सेवन करता। फिर घंटों साहित्यिक चर्चाएं होतीं। बाद में भाभी बिना खिलाए-पिलाए वापस न आने देतीं। आप तो जानते ही हैं, न जानते हों तो बता दूं—

भंग-गंग दोऊ वहन है, रहतीं शिव के संग।
तरन-तारिनी गंग है, लड्डुआ खानी भंग।।

लड्डुआ माने मोदक। मोदक माने मोद बढ़ानेवाली मिठाई, भांग पीकर जिसने नहीं खाई, उसने यूं ही जिंदगी गंवाई। नागरजी की स्वर्गवासिनी पत्नी कोई न कोई नवीन मिठाई भोजन में अवश्य रखा करती थीं। नागरजी ब्रज-काव्य के रसिक थे। वह कोई विषय छेड़ देते और मैं छंद-पर-छंद सुनाने लग जाता। रात गहराने लगती तो वे मुझे रिक्शा तक छोड़ने आते। उनकी भांग में हल्का सुरूर होता था। वह प्रायः भांग पीकर ही लिखा करते थे। कैसे-कैसे बड़े और महान उपन्यास लिख दिए उन्होंने भांग पीकर। एक बार उन्होंने मुझसे कहा कि भांग पर कुछ सुनाओ। सुनाए तो मैंने उन्हें कई छंद, लेकिन यहां उनमें से केवल दो उद्धृत कर रहा हूं—

भीजत ही तब रीझत ही,
अरु धोय धरी शिव के मनमानी।
मिर्च मसालौ मिलाय दियौ,
तब घोट करी वाकी रसघानी।
स्वाफी सुलफतराय बनी,
जब ब्रह्म कमंडल के जल छानी।
गंग ते ऊंची तरंगें उठें,
जब अंग में आवत भंग भवानी।।

नागरजी बोले—जय हो भंग-भवानी की! और—

बिल्ली जो पीवे, तो श्वान हू के कान काटै,
श्वान जो पीवै तो मारै मृगराज कूं।
नामर्द जो पीवै तो कामिनि संग भोग करै,
कामिनी जो पीवै तो बिसर जात लाज कूं।
गंड़िया जो पीवे तो कैते गढ़-कोट धावे,
बनिया जो पीवे तो हाथ मारे राज कूं।
कहे कवि 'गग' या विजया मे ऐसे रंग
चिड़िया जो पीवै तो झपट मारे बाज कूं।

वाह! वाह! कहते हुए नागरजी ने ये दोनों छंद नोट कर लिए। बोले—"बड़ा मजा दिया, व्यास भाई! आपकी ये भंग-महिमा हमेशा याद रहेगी।"

भई, मैंने अपनी उठती हुई जवानी मथुरा में भांगी है। वहां का विश्रामघाट मथुरा में भांग-बूटी का सबसे बड़ा केन्द्र है। भांग को छोड़िए जिन तिवारियों के पत्थरों पर भांग पीसी जाती थी उनमें भी गड्ढे पड़ गए हैं। हमारे चौबे भाई भंग के साथ पत्थरों को भी पीसकर पी गए हैं। एक विशेष बात मथुरा में भांग का गांव किया जाता है। पीस-पीसकर सेरों भांग रख दी जाती है। जो भी पीनेवाला आए, जितनी चाहे उतनी उठा ले।

पीने से पहले मथुरा में जो रंग लगाया जाता है, उसके सामूहिक स्वरों ने ही मुझे भंग-भवानी की शरण में जाने को विवश किया है। वह रंग यों है—

ओ ! हो ! हो ! हो !
दाऊदयाल, ब्रज के राजा,
भांग पीवै तो विश्रामघाट पै आ जा,
ऐसी आवै, हरि-गुन गावै,
हरि के चरनारबिंद में चित्त लगावै,
हाथी कौ सवार, भुनगा ही नजर आवै ।। आदि ।

टपका से शुरू की चुल्लू तक पहुंचा। लुटिया से शुरू की लोटे तक पहुंचा। छंटाक भर छाननेवाले लोगों के साथ पी तो सेरभर छाननेवालों से भी नहीं हटा। मथुरा के चंदन पहलवान की भांग दुर्लभराम वैद्य के घर पर छना करती थी। दुर्लभराम का पुत्र, बालकराम मेरा सहपाठी था। मैं स्कूल से बालकराम को घर छोड़ता हुआ अपने घर जाया करता था। वैद्यजी के घर के सब लोग भांग पिया करते थे। मैं भी उस सेरुआ भांग में से एक घंटी लेने लगा।

भांग को मैंने विविध रूपों में आरोगा है। जैसे–उड़ीसा के संभलपुर में पेड़े के रूप में। कोटा में गुलकंद के रूप में। काशी में छोटी-छोटी रसगुल्ली के रूप में। पिताजी द्वारा जमाई हुई माजूम के रूप में। हाथरस में बने चूरन के रूप में। दिल्ली में बने बेसन के लड्डुओं के रूप में और हरिद्वार में कूंडी-सोंटे के रूप में तैयार की हुई ब्राह्मी बूटी के संग में। और कहां तक गिनाऊं ? भारत के जिस नगर और जिस कस्बे में जिस रूप में बनाई जाती है, मैंने सबका स्वाद लिया है। दिल्ली में मेरे मित्र श्री महावीरप्रसाद वर्मन जब-तब और विशेषकर होली के अवसर पर भांग के समोसे, कचौड़ियां और बेसन के लड्डू मेरे लिए देसी घी में बनाकर भेजा करते थे। होली के दिनों में भांग के हरे लड्डू तो शायद आपने भी खाए होंगे। हापुड़ गए होंगे तो वहां से भांग के पापड़ भी खरीदे होंगे। हापुड़ के मेरे एक मित्र भांग के पापड़ मुझे अक्सर भेजा करते थे।

बड़े लोग भांग को ठंडाई कहते हैं। होती वह भांग ही है, पर ठंडाई कहने से उसमें बड़प्पन आ जाता है। बड़प्पन के साथ-साथ उसमें बड़ी-बड़ी चीजें भी आ जाती हैं। तब वह मिरचौनी न होकर, सौंफ, इलायची, मगज के बीज, बादाम, पिस्तों के साथ घुटकर, दूध के साथ मिलकर और चीनी के साथ घुलकर बड़ी पौष्टिक, गुणकारी और जायकेदार बन जाती है। मैंने यह ठंडाई विविध संपुटों के साथ पी है। जैसे भुनी हुई अमियों (कच्चा आम) के पन्ने के साथ। अमरस के साथ। लीचियों के साथ। संतरे के रस में छानकर। अंगूरों के रस में मिलाकर। अनन्नास के रस के साथ। भांग में दूध मिलाकर तो सभी भारतीय पीते हैं, लेकिन मैंने दूध में भांग मिलाकर पी है। दही में छानी है। रबड़ी में छानी है। ऐसी ठंडाइयों में मेरे साथी भाई कृष्णाचार्य हुआ करते थे। उनके भाई हरिप्रपन्नाचार्य घोटते थे और हम दोनों उनकी सहायता किया करते थे। हमने यमुना के इस पार अपने मंदिर में भी पी है, उस पार बगीची और बगीचों में भी पी है। मथुरा के लोग अभी तक हमारी नौका-गोष्ठियों को याद करते हैं। नौका में ठंडाई बनती रहती थी और संगीत की तानें उड़ा करती थीं। हारमोनियम, सितार, तानपुरा, तबला और मजीरे आदि बहुत से वाद्य बजा करते थे। गाते थे गतश्रम नारायण के श्री भागवताचार्य, आनंदबिहारी तैलंगजी, केलकरजी,

प्रसिद्ध संगीतज्ञ लक्ष्मण चौबेजी और बालजी चतुर्वेदी आदि। कभी-कभी नौका-गोष्ठी में कविजन कविता पाठ भी किया करते थे। कभी कव्वालियां होती थीं तो कभी रसिए। कभी-कभी मोहनबाग के नवयुवक मेरी लिखी हुई तानों को भी गाया करते थे। नाव में चांदनी, गलीचे और गाव-तकिए लग रहते। मल्लाह एक नहीं, दो हुआ करते थे। कभी नाव किले की ओर जाती तो कभी धार के साथ बहती हुई पुल तक आती।

सीढ़ियों और बुर्जों पर बैठे हुए लोग भी हमारे नौका-विहार का आनंद लिया करते थे। गत वर्ष एक बूढ़ा मल्लाह मानसिंह मिल गया, कहने लगा–"बाबूजी, आप दिल्ली क्या गए, नाव चलाने का मजा ही चला गया। मैं तो अस्सी से ऊपर का हो गया। अब मेरे पोते नाव चलाते हैं। उन्हें मैं नौका-विहार की कहानियां सुनाया करता हूं। एक बार तो और नाव में गम्मत हो जाए।" मैंने कहा–"मानसिंह मैं भी चौहत्तर का हुआ। अब छलांग लगाकर नाव में चढ़ना-उतरना मुश्किल हो गया है। संगी-साथी भी बिखर गए। अब तो यादें ही बाकी हैं।"

जब प्रौढ़ अवस्था पार की और बुढ़ापा आने की धमकी देने लगा तो भांग दिन पर दिन मेरे लिए असह्य होने लगी। वह पैरों को लड़खड़ाने लगी और दिमाग को पकड़ने लगी। एक-दो बार जब चक्कर आए तो मैंने सोचा–"व्यास, निकलो इस भांग के चक्कर से। अब भांग पीने में कोई सार नहीं। मजा भी नहीं रहा।" पहले–"भांग पिये क्या नफा ? इधर पियो उधर सफा।" अब उसका यह गुणकारी स्वरूप भी नफे के बजाय घाटे में बदल गया। पहले भांग पीकर नहाने में बड़ा मजा आता था। नहाने के लिए मैंने घर में नलकूप भी लगवाया है। उसके लिए एक मोटा नल और फुहारा भी सेट किया है। अब नलकूप का पानी इतना ठंडा लगता है कि नशा चढ़ने के बजाय सर्दी, जुकाम और बुखार चढ़ जाता है।

मित्रो, अब मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि नशे सब खराब होते हैं। उनमें भांग भी है। भांग पीने और जमकर मिठाई खाने से मुझे मधुमेह हो गई जो कहती है अब शरीर के साथ ही जाऊंगी। भांग पीने के बाद नहाने पर जो आखें लाल होनी शुरू हुईं तो वह दृष्टिछिन्नता की सीमा तक पहुंच गई। कान भी रुंध चले है। वह भी भांग की ही देन है। पैर जो लड़खड़ाने लगे है, वह भी भांग की करतूत है। भाई नागरजी के साथ भी यही हुआ। दोनों कानों में मशीनें लग गई। चश्मा बेकार हो गया। आना-जाना दूभर बन गया। अब ई जानिब का भी यही हाल है।

न जाने कैसे लोग भांग पीकर साहित्य-रचना किया करते हैं। मुझसे तो भांग पीकर कभी लिखा नहीं गया। भांग पीकर नहाया, खाया और पलंग पर पड़ गया। ऊटपटांग विचार आने लगे तो घंटों नींद नहीं आई। नींद आई तो ऐसी–

भांग छानकर सोय गए,
तो माय जगावन आई रे !
माय कहै मेरे पूत-कपूत,
और बहन कहै मेरे भाई रे !

कहै लुगाई तेरी दाढ़ियै जारूं
भांग कहा ते खाई रे ?

अब सोचता हू कि उन लोगों को क्या कहूं। जो ये कहते नहीं थकते–

भाग तो ऐसी छानिये, ज्यो भादौ की कीच।
घर के जानें मर गए, आप नशे के बीच।।

तो जिसे जीते जी मरना हो, अपने दिमाग को खराब करना हो, पागल होना हो, ब्लड-प्रेशर ओर हार्ट-अटैक आमंत्रित करने हों, अपने शरीर में मधुमेह बसानी हो, तो पियो भाई !

पढकर 'हिन्दुस्तान' मे 'यत्र-तत्र-सर्वत्र'
श्रद्धा उमडी, लिख दिया हृदय खोलकर पत्र।
हृदय खोलकर पत्र, निष्कपट उत्तर पाया
लेकर पहुचे रोरी चावल ओर कलावा।
याद रहेगी जीवन भर वह स्वर्णिम वेला
गुरू वने 'श्री व्यास' हो गए 'काका' चेला।
जादू-सा कुछ हो गया, बदला अपना रग
हास्य-व्यग्य मे नित नई उठने लगी तरग।
उठन लगी तरग, भाग्य ने पलटा खाया
चमत्कार दिखलाने लगी गुरू की माया।
'काका' व्यग्य-वाण जव सम्मेलन मे छूटे
वल्ली हिलने लगी मच के तख्ते टूटे।।

–काका हाथरसी

स्मरणं भजनं 'चा' पी

शायद ही कोई ऐसा नशा हो जिसका स्वाद मैंने नही लिया हो। बचपन से ही मै नशेबाजो की सोहबत मे रहा हू। मथुरा, भरतपुर, आगरा, इटावा, काशी, मिर्जापुर और कलकत्ता, जहा-जहा थोडे या बहुत दिन रहा, वहा-वहा मैंने बडे-बडे लोगो मे थोडा या बहुत नशा करने की लत तलाश ही ली। वे बडी मस्ती और रईसाना अदाज मे नशे-पत्ते किया करते। उनमे से कुछ तो उस समय समाज मे सभ्य और सुसस्कृत माने जाते थे। बुरी बाते लोग जल्दी सीख लेते है। बुरी लत आदमी को लपककर लगती है। अब आखिरी वक्त मे मैं क्या छिपाऊ ? एक-एक कर बता रहा हू। इसलिए नही कि आप भी इनके आदी बन जाए। लेकिन जिस अनासक्त भाव से मैंने उन्हे छोडा है, आप भी उन्हे दूर झटक दे तो अच्छा है।

पहले अफीम का ल। मेरे नानाजी प्रतिदिन चवन्नी-भर अफीम खाया करते थे। जब वह अफीम खाते, मै उन्हे ध्यान से देखता रहता था। अस्सी वर्ष के नानाजी मे अफीम खाते ही कुछ देर बाद सुस्ती दूर हो जाती थी और वे ठाकुरजी की सेवा-पूजा मे, गायन-वादन मे, भोजन और मिठाई खाने मे, रात को कासे का बेलाभर दूध पीने मे (जिसमे एक सेर से कम दूध नही आता था।) दत्तचित्त हो जाते थे। नौ बजे की तोप की आवाज सुनकर वह पत्थर के पलग पर स्वय बिस्तर करके लेट जाते और एक नीद मे तब उठते जब सवेरे मुर्गा बाग देता था। मैने अनुभव किया कि ये कोई चमत्कारी ओषधि है। जरा इसे चखकर तो देखा जाए। उनकी डिबिया मे से चुराकर एक कुटकी मुह मे डाली—थू ! थू ! बड़ी कड़वी। उस दिन के बाद मैंने अफीम को कभी मुह से नही लगाया। लेकिन नानाजी अफीम को खाते ही नहीं थे, उससे नाना प्रकार के उपचार भी किया करते थे। मुझे बुखार आता, दस्त लगते, आंखें दुखने आती, खेल-कूद मे चोट लग जाती तो नानाजी नाना प्रकार के अनुपानों के साथ मुझे अफीम का सेवन कराते ही रहते थे। कभी मलाई के साथ, कभी पेड़े में रखकर, कभी गुड़ की गोलियों के बीच में, कभी चोट पर फुरहरी लेपने और कभी आंखों पर अफीम के फाहे बांधने में अपने मौलिक प्रयोगों का अचूक उपयोग किया करते थे। नानाजी के

साथ ही अफीम और उसके प्रयोग भी चले गए। यहां यह भी बता दूं कि जोधपुर के राजपूत घराने में मैंने अफीम से तैयार किए गए 'कसूमा' का भी एक घूंट भरा है।

मेरे चाचा श्यामलालजी सुख संचारक कंपनी में काम किया करते थे। लौटकर आते तो उनकी जेब में दियासलाई और हाथ में शेर छाप बीड़ी का बंडल हुआ करता था। मैं जिस मेहनतकश को देखता या बाबू से बातें करता तो उसे प्रायः बीड़ी पीते पाता। सिगरेट तब भी महंगी थी और उसका प्रचलन आम नहीं हुआ था। एक दिन मैंने चाचाजी के बंडल में से एक बीड़ी खिसका ली। जलाकर एक कश खींचा तो गले में ठसका लग गया। खांसी आ गई। धुआं जो आंखों को लगा तो पानी बहने लगा। मैंने कहा—हिश्ट ! बीड़ी फेंक दी। फिर कभी नहीं पी।

जनाब, मैंने गांजे की दम भी लगाई है। मुझे चंग पर ख्याल और लावनी सुनने का बड़ा शौक था। जहां कहीं ख्यालाबाजों की मंडली जमती, मैं पहुंच जाता। वे एक-एक कर चंग लेते, बजाते और कलगीवाले तुर्रों का जवाब देते और तुर्रेवाले कलगी का। उनकी सानुप्रासिक शब्दावली, बंदिश और कहन बड़ी निराली और रोचक हुआ करती थी। ये ख्यालगो पहले मिलकर गांजे की दम लगाया करते थे। उनमें परस्पर होड़ लगती थी कि देखें चिलम में लौ कौन उठाता है ? कितनी ऊंची उठाता है ? लौ उठती देखकर मुझे बड़ा मजा आता था। वे अक्सर चिलम पीने से पहले कहा करते थे—

जिसने न पी गांजे की कली,
उस लड़के से लड़की भली।

मैं तब कुश्ती-कसरत करने लगा था। कवित्तबाजी, पतंगबाजी और कबूतरबाजी भी करने लगा था। हर बार मुझे 'लड़के से लड़की भली' वाली बात चुनौती जैसी लगा करती थी। एक बार जब मेरे परिचित एक मित्र ने मेरे हाथ में चिलम पकड़ा दी तो मैंने दम-में-दम लगाया। लौ तो उठ गई, लेकिन मेरी आंखें अंगारा हो गईं। सिर में चक्कर आने लगे। कहीं हिजो न हो जाए, इसलिए चक्करों से टक्कर लेता रहा और दम साधकर बैठा रहा। पर कसम खा ली। नमस्कार इस खामखयाली दम को।

दो-चार बार हुक्के में कश भी लगाए हैं। एक बार धतूरे का बीज भी कुतरा है और हां, यदि आप क्षमा करें तो बेहद इसरार के बाद सुरा-सुंदरी के भी एक-दो घूंट गले के अंदर उतारे हैं। एक बार विदेश में और दूसरी बार दिल्ली के लालाओं की एक पार्टी में। जाने लोग कैसे शराब के पौवे, अद्धे और पूरी बोतल गटागट गटक जाया करते हैं। मुझे तो शराब निहायत कड़वी और बेमजा लगी। भला ये भी कोई पीने की चीज है। तरस आता है और अफसोस होता है, उन उर्दू के शायरों और उनकी नकल करनेवाले हिन्दी के कवियों पर जो मधुशाला, मधुबाला, हाला-प्याला और साकी पर कलम तोड़ा करते हैं। कहते हैं कि उनकी कविता के आध्यात्मिक अर्थ समझो। देश की पूरी पीढ़ी खराब कर दी इन नामवर शायरों और कवियों ने नाम कमाने की खातिर।

मैंने पचास वर्षों से ऊपर पत्रकारी की है। अब तो शराब पत्रकार की पहचान बन गई है। पहले चाय और सिगरेट के बिना लोग कहते थे कि पत्रकारिता चल ही नहीं सकती।

खासकर नाइट ड्यूटी में तो जागने और काम करने के लिए पत्रकारों को चाय और सिगरेट का सहारा लेना ही पड़ता है। खादी के कपड़े पहननेवाला और गांधी के रंग में रंगा हुआ मैं बहुत दिनों तक इस लत से बचा रहा। लेकिन महात्मा गांधी के न रहने और मेरे आचार, व्यवहार पर पैनी नजर रखनेवाले जब भाई देवदास गांधी भी चल बसे तो मेरी दृढ़ता के बंधन भी ढीले होने लगे। 'हिन्दुस्तान' में महावीर अधिकारी, जो पहले त्यागी कहलाते थे, जैसे कामरेड भी आकर काम करने लगे। चाय तो मैं पहले भी पीता था। अब देखा-देखी सिगरेट के कश भी लगाने लगा। लेकिन नियमित नहीं, यदाकदा। खरीदकर नहीं, मुफ्त में मिल जाए तो यह गुनाह कभी-कभी कर लिया करता था। एक बार जब मैं कलकत्ता गया और वहां के विश्वविद्यालय में हिन्दी विभागाध्यक्ष पंडित ललिताप्रसाद शुक्ल के यहां ठहरा, तो उनकी एक हिन्दी संस्था में प्रतिदिन जाने लगा। एक-दो कवि-सम्मेलनों में उनकी अध्यक्षता में कविताएं भी पढ़ीं तो उनकी देखा-देखी मैं भी चेनस्मोकर बन गया। शुक्लजी के सामने हमेशा काफी का प्याला रहता था और अंगुलियों में सिगरेट। सुबह उठते ही शुक्लजी का यह क्रम शुरू हो जाता था। उन दिनों मेरे कवि-सम्मेलन खूब चलते थे। पैसे भी हाथ में रहते थे। सुबह से रात तक सिगरेटों के दस-पन्द्रह पैकेट फूंक डाला करता था। पत्नी इस आदत से बहुत परेशान थीं। एक बार जब रजाई-गद्दों में सिगरेट की चिनगारी से आग लग गई और मैं बाल-बाल बचा तो शिकायत मथुरा में पिताजी तक पहुंची। उन्होंने फटकारा। धिक्कारा। कहा—"खबरदार ! जो आगे से मैंने ऐसी शिकायत सुनी। नहीं तो, मैं तुझे मंदिर में नहीं घुसने दूंगा।" तब से सिगरेट को ऐसे छोड़ा है, जैसे मोरारजी भाई ने प्रधानमंत्री की कुर्सी। सियासत में रहते हुए भी वह सत्ता से दूर हैं और मैं पत्रकारिता से आज भी जुड़ा होकर सिगरेट से कोसों दूर।

सिगरेट तो गई, लेकिन चाय नहीं। उसका प्रकोप तो दिन पर दिन बढ़ता ही जा रहा है। सुबह भगवान का नाम लेते हुए शय्या छोड़ता हूं। माला लेकर बाहर खुले में भजन करने बैठ जाता हूं, लेकिन ध्यान "श्री कृष्णाय वासुदेवाय" की बजाय रसोई में प्लेट-प्याले की खनक में ही लगा रहता है। चाय आते ही माला रख देता हूं। चाय पहले, भगवान का नाम पीछे। चाय पीने के बाद उसका नाम लेने में भी आनंद आता है। उठने से शौच जाने तक कम-से-कम चार प्याले गटक जाता हूं। इस लेख को लिखवाते समय में भी चाय पी रहा हूं। दिन-भर में सोलह से बीस प्याले तो मामूली बात है—"अधिकस्य अधिकम् फलम्।"

गांधीजी कहा करते थे कि चाय में सिवाय गरम पानी के और कुछ अच्छा नहीं होता। आज वह होते तो मैं चाय के दुर्लभ गुणों को उन्हें बताता। चाय की पत्तियों में चैतन्य रस होता है, चीनी में ऊर्जा होती है और दूध में सभी पोषक पदार्थ।

मैंने चाय का इतिहास भी खोज निकाला है। सतयुग में चायमान नाम के एक ऋषि हुए थे। उन्होंने एक पैर पर खड़े होकर अपलक दृष्टि से तपस्या करने का संकल्प कर लिया। जब तपस्या की अवधि पूरी होने को आई तो देवराज घबरा गए कि मेरा सिंहासन गया। उन्होंने कामदेव की सेना को ऋषि की ओर रवाना कर दिया। हिमालय पर वसंत ऋतु आ गई। अप्सराएं नाचने लगीं। गंधर्व मृदंग बजाने लगे। ऋषि का ध्यान टूटा। कामदेव का बाण छूटा। तपस्या भंग, ऋषि दंग। क्योंकि उनकी पलकें झपक गई थीं। उन्होंने क्रोध

में अपनी दोनों पलकों को उखाड़कर जमीन पर फेंक दिया। देवराज को शाप देने ही वाले थे कि आकाशवाणी हुई–"ऋषिवर, तुम्हारी तपस्या सफल हुई। तुमने जहां अपनी पलकें फेंकी हैं, वहां से पलकों की बरौनियों की तरह एक दिव्य औषधि उत्पन्न होगी। पलकों के कोयों की तरह उसका भी रंग लाल होगा। तुम्हारे नाम से उस औषधि का नाम चाय पड़ेगा। जो इसका सेवन करेगा उसकी पलकें कभी नहीं झपकेंगी।"

तो साहब, चाय पीनेवालों को नींद नहीं सताया करती। वह हमेशा जागृत और चैतन्य रहा करते हैं। प्रमाण त्रेता युग के शेषावतार लक्ष्मणजी का है। वनवास में भगवान राम के साथ गए। रामजी सीता सहित पर्णकुटी में शयन करते और लक्ष्मणजी रातभर जागकर पहरा देते रहते। पूरे चौदह वर्षों तक नहीं सोए। ये सब चाय के कारण ही संभव हुआ। पंचकुटी के बाहर आग जलती रहती थी, उस पर केतली रखी रहती थी। जब जरा सुस्ती महसूस हुई, लक्ष्मणजी ने चाय प्याले में ढाली और पी डाली। जब तक भारत में रहे चाय मिलती रही। लेकिन लंका में तब चाय पैदा नहीं होती थी। इंद्रजित ने इसका फायदा उठाया। मारी शक्ति खींचकर। रामानुज मूर्च्छित हो गए। वैद्य सुषेन को बुलाया गया। उन्होंने बताया हिमालय से वही बूटी मंगवाओ। द्रोणगिरी पर वह बहुतायत से मिलती है। रात-रात में आ जानी चाहिए। सवेरे 'बेड टी' (पलंग की चाय) की तरह लक्ष्मणजी को पिलाओ, एकदम चंगे हो जाएंगे। हनुमानजी की कृपा से यही हुआ। लक्ष्मणजी पूरे स्वस्थ हो गए। मेघनाद मारा गया।

गांधीजी होते तो कहता कि आप तो गीता के परम भक्त हैं। भगवान स्वयं गीता में कह गए हैं–"सर्वस्य चायं हृद सन्नविष्ट्म्।" अर्थात् मैं चाय के रूप में सबके हृदय में निवास करता हूं। और हे गांधी बाबा ! नारदजी ने महाभारत के लेखन से उद्विग्न श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास को जो चतुश्लोकी भागवत सुनाई थी, उस पर ध्यान दीजिए। उसमें कहा गया है–"स्मरणं भजनं चा पी गोकुलेश्वर पादयो।" अर्थात् गोकुलेश्वर जो भगवान कृष्ण हैं, उनका चाय पीकर स्मरण करो, भजन करो। जीवनमुक्त हो जाओगे।

पता नहीं, गांधीजी को हमारी ये बात जमती या नहीं, पर हम तो धकाधक चाय के प्यालों पर जमे हुए हैं। आप से भी कहते हैं कि लोगों के बहकाने में मत आओ। चाय में जो निकोटिन नाम का विष होता है, वह शरीर के अन्य विषों को मार देता है– 'विषस्य विषमौषधम्' इसलिए पियो प्यारे भाई ! बनारसीदास चतुर्वेदी की तरह गांधीजी के आश्रम में पियो। आगरा के शंठ कवि की तरह प्याली में नहीं, लोटे भर-भरकर पियो। चाय में दूध डालकर पियो। खुश्की का डर हो तो किशोरीदास वाजपेयी की तरह चाय में घी डालकर पियो। मलाईवाली चाय पियो। मखनिया चाय पियो। नेहरूजी की नकल करनी है तो उसमें नींबू डालकर पियो। हकीमों का कहा मानना है तो उसमें लौंग, बड़ी इलाचयी और दालचीनी मिलाकर पियो। गरम चाय न पी सको तो उसे फ्रिज में रखकर चिल्ड टी पियो। पीते रहो और पीते रहो। यह मंत्र याद रखो–"पीत्वा, पीत्वा पुनः पीत्वा यावत पतित भूतले।"

मेरे पान-पत्ते

सिनेमा का सिर्फ एक गीत मुझे सर्वाधिक प्रिय है—"खई कं पान बनारस वाला, खुल जाए बद अकल का ताला।" शायद मेरी अक्ल की बद कोठरी का ताला भी निरतर ताम्बूल सेवन से ही खुला हो। यो मेरी लतो का कोई ठिकाना नही, परतु पान खाना तो तौबा ! तौबा ! ! दिन मे बीस जोडे बनारसी पान तो खरीदकर खा जाता हू। अगर कोई और खिला दे तो राम उसका भला करे। अपने सबधियो और मित्रो को मेरी ये स्थायी हिदायत है कि कभी मेरे पास खाली हाथ न आए, कम से कम दो जोड पान तो उन्हे साथ लाने ही चाहिए।

इन पानो की खातिर मे एक जोडा असली ओर तीन जोडे नकली दातो के सेट तोड़ चुका हू। लेकिन समझदारो के बार-बार कहने, डॉक्टरो द्वारा केसर का भय दिखाने और धोबियो द्वारा कुर्ते-कमीजो पर पान के दागो की बार-बार शिकायत करने के बावजूद मैं पान खाना नही छोड सका।

जैसे ब्रज की गोपियो को कान्हा की बासुरी से सोतिया डाह था, वेसे ही मेरी पत्नी को मेरे पान चबाने से बडी चिढ थी। इस पर दिन म दसियो बार ले-दे होती रहती थी। मैंने इसका भी इलाज निकाल लिया कि श्रीमतीजी को भी पान का शौक लगा दिया। अब हम दोनो म परस्पर प्रतिस्पर्धा लगी रहती है कि देखे, कौन अधिक पान खाता है ? मेरे पुत्र भी मेरी इस लत से शुरू-शुरू मे बडे परेशान थे। लेकिन भगवान की कृपा से उन्हें भी इसकी छूत लग गई। अब वे खाते ही नही, मुझे भी लाकर खिला दिया करते हैं—"झगड़ा टूटा, रार मिटी।" अब कोई रोकने-टोकनेवाला नही है।

मेरी दिनचर्या पान खाने से शुरू होती है और प्रत्येक रात को पान खाने पर ही समाप्त होती है। हर चाय के बाद पान, खाने के बाद पान, पानी के बाद पान, दिन में आराम करने से पहले पान, आराम करके उठने के बाद पान, लिखने से पहले पान, बीच में जहां भी गाड़ी रुके वहां पान, लिखाने के बाद पान—बस पान-ही-पान ! पत्नी के साथ तो पान खाना ही चाहिए। अतिथि आ जाए तो उसे पान खिलाना ही चाहिए। किसी को खिलाओ और

खुद न खाओ, तो यह उचित प्रतीत नहीं होता। किसी के घर जाओ और वह प्रेमपूर्वक पान पेश करे तो उसे कैसे अस्वीकार किया जा सकता है ? अगर वह अपने कर्तव्य को भूल जाए तो हमारा यह कर्तव्य है कि हम संकोच न करें। उसे याद दिलाएं कि मगही पान, बनारसी सादी पत्ती और थोड़ा पिपरमेन्ट, जल्दी से मंगाइए दो जोड़े।

अब तो देश-भर के हमारे मित्र हमारी इस नेक आदत से परिचित हो चुके हैं। जो अभी तक अंधेरे में हैं उनकी आंखें इस लेख के पढ़ने के बाद खुल जानी चाहिए। देश के किस शहर में, कौन बढ़िया पान लगाता है, इसकी सर्वोत्तम जानकारी हमारे पास है। हमारे जीते जी इसकी सूची बना लीजिए। प्रायः मथुरा, आगरा, इटावा, कानपुर, इलाहाबाद, लखनऊ, काशी, कलकत्ता और बंबई के पानवाले हमारे मित्रों से पूछते रहते हैं कि बहुत दिन हो गए, व्यासजी का इधर आना नहीं हुआ ? कवि-सम्मेलनों के आयोजकों को यह पता है कि अगर हमको बुलाना है तो पान और पीकदान का पहले प्रबंध कर लें।

घर में हों तो पलंग के पास हमारा पनडब्बा भरा हुआ रहना चाहिए। जिस कुर्सी पर हम बैठें, उसकी बगल में हमसे पहले ही पान का बीड़ा और पीकदान पहुंच जाना चाहिए। सफर पर जाते समय कपड़ें रह जाएं तो कोई बात नहीं, लेकिन रास्ते-भर के कोटे के लिए पान रखना जो भूल जाएगा उसकी मुसीबत आ जाएगी। गांधीजी राजनीतिक झंझटों में कभी-कभी राम-नाम का जपना भूल जाते होंगे, विनोबाजी की भी विष्णु सहस्रनाम की शृंखला यदा-कदा टूटती ही होगी, विरोधी दल के नेताओं का ध्यान भी कभी-कभी खोई हुई कुर्सियों से हट जाता होगा और श्रीमती इंदिरा गांधी कट्टर हिन्दुओं और अति कट्टर मुस्लिमों को कोसना भी जब-तब भूल जाती होंगी, लेकिन हम पान को कभी नहीं भूलते। हमने लिखा भी है–

पान नहीं ये प्रान हैं, पान नहीं भगवान,
दक्षिण में ये पान हैं, पूर्वोत्तर जापान।
पूर्वोत्तर जापान, कृपान पान से निकसी,
यही स्वर्ग-सोपान, पान की महिमा विकसी।
वाकौ वन्द अपान जो माने नहीं यकीन,
इन पानन की पीक से लाल ह्वै गयौ चीन।

अब हमारी पान-करामात के किस्से सुनिए। ऐसे भी अवसर आते हैं जब या तो हमारे ताम्बूल के अवशेषों को सोफों के नीचे शरण मिलती है या सुंदर कालीनों के नीचे वे अपना मुंह छुपा लेते हैं। कभी-कभी नजर बचाकर हम उनको सुंदर फूलदानों अथवा ऐश-ट्रे के भीतर भी प्रविष्ट करा देते हैं। कोई कागज हाथ लग जाए, तो उसकी पुड़िया बनाकर जेब में रख लेते हैं। कागज नहीं, तो धुलाई का खर्च ही तो बढ़ेगा ! कुर्तों की लंबी-लंबी जेबें आखिर किसलिए हैं ? हमने ऐसे प्रयोग राष्ट्रपति भवन में भी किए हैं और प्रधानमंत्रियों के निवास पर भी। बिरला हाऊस में भी और स्वामी अखण्डानंद सरस्वती के आश्रम में भी। मिस्र के राष्ट्रपति नासिर और सीरिया के श्री असद तथा कुवैत के अमीरों के प्रासाद

भी हमारे पान प्रसाद से वंचित नहीं रहे।

हम जानते हैं कि तंबाकू खाने से दिन-दिन हमारा शरीर सूखता जा रहा है। सुपारी खाने से रक्त सूख चला है। पान के पत्तों ने हमारी भूख-प्यास लगभग खत्म ही कर दी है। हमारी सीमित आमदनी का अधिकांश भाग इस लत पर खर्च हो रहा है। परंतु यह देह तो नाशवान है। एक दिन जाएगी ही। फिर बिना पान-तंबाकू खाए क्यों मरें ? कभी तंबाकू के बारे में एक दोहा सुना था–

कृष्ण चले गोलोक कौं, राधा पकरी बांह।
यहां तमाखू खाय लो, वहां मिलैगी नांह।।

तंबाकू ही क्या, गो-लोक में तो पान की वेल होने के भी प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। हमारा नाम गोपाल से शुरू होता है। नाम के प्रताप से हम एक दिन बलपूर्वक गो-लोक में घुस ही जाएंगे। वहां पान मिलने वाले हैं नहीं, तो यहां उनकी कसर क्यों न पूरी कर लें ? और तंबाकू ! यह तो त्रिपथगा गंगा है, जो तीनों लोकों को पवित्र करने वाली है–

क्वचित् थुक्का, क्वचित् हुक्का,
क्वचिते नासाग्र वर्तिनी,
एषाम् त्रिपथगा गंगा,
पुनात भुवनः त्रयम्।

हमने पान के ऊपर कुछ अनुसंधान किया है। यहां जो लेख दे रहे हैं, वह हमने सन् 45 में लिखा था। इससे हमारे उस समय की लेखन-शैली का अंदाज भी आपको हो जाएगा। पान पर यह शोध-पत्र इस प्रकार है–

पान-शोध

ताम्बूल-सेवन यानी पान खाना भारतवर्ष की अत्यंत प्राचीन राष्ट्रीय विशेषता है। किसी का सम्मान करना हो, किसी का सत्कार करना हो, या किसी की तरफ दोस्ती का हाथ बढ़ाना हो, तो उसे झुककर पान पेश कीजिए। राजपूती काल में बड़े-बड़े साहसिक कार्यों के लिए पान के बीड़े रखे और उठाए जाते थे।

अति प्राचीन काल से ही पान खाना भारतवर्ष का उत्तम प्रसाधन माना गया है। पूजा और शृंगार दोनों कामों में इसका व्यवहार किया जाता रहा है। संस्कृत के किसी प्राचीन कवि ने ठीक ही कहा है–

किं वीरूधो भुवि न सन्ति सहस्रशोऽन्ये,
या सां दलानि न परोपकृतिं भजन्ते।
एकैव वल्लिषु विराजति नागवल्ली...
या नागरी वदन चन्द्रमतं करोति...

अर्थात् बेलें तो संसार में हजारों हैं, ये परोपकार भी कम नहीं करतीं, पर नागवल्ली यानी पान की वेल इन सबके ऊपर विराजमान है, क्योंकि वह नागरिकाओं के मुखचन्द्र को सुशोभित करती है।

भारतीय नारी के सोलह शृंगारों में पान खाना एक आवश्यक प्रसाधन माना गया है। गुप्तकाल में बड़े-बड़े राजाओं, सेठों और सामन्तों के अन्तःपुर में ताम्बूलवाहिनी (एक दासी जो विशेषकर पान के बीड़े लगाने और उन्हें अतिथियों के सम्मुख उपस्थित करने के लिए ही नियुक्त की जाती थी।) होती थी। प्राचीन काल में ताम्वूल-बीटक यानी पान के बीड़े को लगाना और सजाना भी बहुत बड़ी कला माना जाता था। उसे भांति-भांति से सुन्दर और सुगन्धियुक्त बनाने की चेष्टा की जाती थी।

बाराह मिहिर ने लिखा है कि पान खाने से वर्ण में प्रसन्नता आती है, मुख में शोभा और सुगन्धि बढ़ती है, वाणी मधुर हो जाती है, पान अनुराग को प्रदीप्त करता है, रूप को निखार देता है, सौभाग्य को बढ़ाता है और इसके खाने से कफजन्य रोग दूर हो जाते हैं।

संस्कृत साहित्य तो पान की महिमा से भरा पड़ा है। पानों के प्रकार, उसके विविध गुण, उनके लगाने की विधि, सजाने का तरीका और सुगन्धियुक्त बनाने की विधियां प्राचीन पुस्तकों में विस्तार के साथ बताई गई हैं। पान लगाने की कला ऐसी बारीक है कि वह पढ़कर नहीं सीखी जा सकती। सुपारी, चूना और खैर (कत्था) पान में पड़नेवाली ये आवश्यक चीजें हैं। कौन चीज किस मात्रा में होनी चाहिए, यह बात पान लगाने में कोई पटु आदमी ही ठीक जान सकता है, क्योंकि कत्था अधिक पड़ जाता है तो लालिमा के आधिक्य से ओठ काले पड़ सकते हैं, सुपारी अधिक हो जाने से वह लालिमा नहीं आती जो आनी चाहिए और चूना अधिक लग जाने से मुंह तो फटता ही है, साथ ही वह मुख की सुगन्धि को भी बिगाड़ देता है। वृहद संहिता में लिखा है कि पत्ते अधिक हों तो सुगन्धि बिखर जाती है, इसलिए इन सब चीजों की मात्रा का निर्णय बड़ी सावधानी से किया जाना चाहिए। रात को पत्ते अधिक होने चाहिए और दिन को सुपारी। कहने का तात्पर्य यह है कि प्राचीन काल से ही भारतवर्ष का नागरिक पान खाने का शौकीन रहा है। जैसा कि प्राचीन ग्रंथों से पता लगता है कि पान लगाने और खाने में सदैव सावधानी से काम लिया गया है। श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि प्राचीन भारत का नागरिक अपनी दिनचर्या पान खाने के बाद से ही प्रारंभ करता था।

पान का प्रचलन भारतवर्ष में कब से हुआ, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। संस्कृत में पान की बेल को नागवल्ली, नागिनी, नागवल्लिका आदि कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि आर्य लोगों को पहले पान के प्रयोग का पता नहीं था। जब वे भारतवर्ष में आये तो उन्होंने नाग जाति से इसका व्यवहार सीखा था—इसका नागवल्ली नाम इसी बात का द्योतक है। बाद में यह नागों की वल्ली या लता आर्यों के संसर्ग से भारतीय अन्तःपुरों से लेकर सभागृहों तक और राजसभा से लेकर आपानकों तक समान रूप से आदर पा सकी।

राजपूती समय में तो पान आन-बान का ही द्योतक बन गया। जब किसी राज्य पर कोई मुसीबत आती तो राजा अपने सामन्तों और योद्धाओं को एकत्र करता और पान का बीड़ा तलवार के साथ-साथ रख दिया जाता था। कोई दिलावर आए और इस बीड़े को

उठाकर अपनी जान पर खेल जाए।

आजकल तो हर जगह पान का दौरदौरा है। भारतवर्ष के नगरों में अगर ठीक गणना की जाए तो पान की दुकानें ही अन्य सब दुकानों से सबसे अधिक दिखाई पड़ेंगी। हर गली के मोड़ पर, चौक-चौराहों पर दिन निकलने से लेकर रात-भर खुले रहनेवाली दुकान यदि कोई मिलेगी तो वह पानवाले की ही होगी।

जैसे पश्चिमी देशों में कॉफी का प्रचलन है, ठीक उसी प्रकार हमारे यहां पान का प्रचार है। दिल्ली और लखनऊ के कदीमी रहनेवाले खाट से नीचे कदम तब रखते हैं जब पहले एक पुराने देशी पान का टुकड़ा मुंह में रख लेते हैं। बनारस और इलाहाबाद के लोगों का तो कहना ही क्या है। एक-एक बार में छोटे-छोटे नफीस आठ-आठ पानों की गिलोरियां अपने मुखारविंद को अर्पण करते हैं। कानपुर के सर्राफे में, प्रयाग के चौक में और काशी के दशाश्वमेध घाट की ओर शाम को घूमने निकल जाइए। नागरिकों के झुंड के झुंड पान की दुकानों पर झूमते दिखाई दे जाएंगे।

भोजन करने के बाद पान-सुपारी का उपयोग तो हर भारतवासी की आम आदत है। इसके अतिरिक्त घर से बाहर जाते समय, बाहर से लौटकर आते समय पान का खाना भी यहां साधारण-सी बात है। कही जरा रास्ते में किसी से भेंट हो जाए तो पान का सत्कार पहली क्रिया है।

पुराने लोगों का कहना है कि पान को सुबह खाना खाने के बाद और सोते समय खाना चाहिए। प्रसिद्ध वैद्यक ग्रथ सुश्रुत मे लिखा है कि पान सुगन्धित, शांतिदायक, पेट के अफारे को दूर करने वाला, उत्तेजक और संकोचक होता है। निसंदेह पान के अद्‌भुत् गुणों को देखकर ही प्राचीन आर्य लोग इसकी ओर आकर्षित हुए थे और पान खाना स्वास्थ्य, सौभाग्य और सुन्दरता की निशानी माना गया था।

आप पान खाकर देखिए। खाते ही तबीयत खुश हो जाती है, तन-मन की थकान उतर जाती है, प्यास जाती रहती है और थोड़ी देर के लिए तो भूख भी शान्त हो जाती है।

वैज्ञानिक अनुसंधानों से ज्ञात हुआ है कि पान खाने की आदत उन जातियो में अधिक होती है, जिनके भोजन में कारबोहाइड्रेट की मात्रा विशेष होती है, अर्थात् जो चावल आदि पदार्थ विशेष मात्रा में खाया करते हैं उन्हें पान की दरकार ज्यादा होती है। पान के चूसने से लार अधिक मात्रा में निकलती है और लार से पाचन क्रिया में सहायता मिलती है। पान खानेवाले लोगों को अपच की शिकायत नहीं रहती।

पान की खेती मद्रास, बंगाल, बनारस, महोबा, रांची, लंका और मालवे के रामपुरा, भानपुरा जिले में बहुत होती है। इन सब में बनारस का मगही पान सर्वोत्तम माना जाता है। यद्यपि यह स्वयं बनारस में पैदा नहीं होता। पान के गुण और प्रभाव अमित और अकथनीय है। संस्कृत में एक श्लोक है कि–

ताम्बूलं कटु तिक्तमुष्ण मधुरं क्षारं कषायान्वितम्।
वातघ्नं कृमिनाशनं कफहरं दुखस्य विच्छेदनं।

स्त्री संभाषणं भूषणं धृतिकरं कामाग्नि संदीपनं ।
ताम्बूले निहिता स्त्रयोदशगुणः स्वर्गेऽपति दुर्लभः ।

लेकिन अति सर्वत्र वर्जयेत । पान के अधिक खाने से भूख कम हो जाती है । दिन-दिन मैदा कमजोर होता जाता है । इसमें हेपिक्साइन नामक एक जहरीला पदार्थ भी होता है । सुपारी अधिक खाने से खून सूखता है और छाती में जलन पैदा होती है । चूने का अधिक उपयोग दांतों को खराब कर देता है । अस्तु, हमें इसको हमेशा नियमित मात्रा में खाना चाहिए और इसके गुणों से लाभ उठाना चाहिए और अंत में एक लोकगीत । गोपियां कन्हैया से कहती हैं–

लेतौ जइयो संवरिया वीरी पान की ।
औरन की बीरी लाला, ऐसी रे बैसी,
मेरी बड़ी गुरू-ज्ञान की ।
लेतौ जइयो संवरिया, वीरी पान की ।

हां, एक और याद आ गया–

पान पचासी कौ वीरा लगायौ
चाबै गोपाल, मेरो जीया तरसै ।
राधारानी हमारी पै रंग वरसै ।

दिल के उदार, दिलदार, कलाकार ऊंचे,
रस कर रसिक सुरसना सरस के ।
जरा के मरण के, गुमानी अभिमानियों के
एक के न चार के हजार के न वस के ।
पत्नी के परम, नरम सालियों के लिए,
चरम धरम प्यारे सास सर्वस के ।
हिन्दी के हुलास, काव्य-वाणी के विलास,
वाणी-पाणि के सुहास, कवि व्यास हास्यरस के ।

–ओमप्रकाश 'आदित्य'

मेरे छड़ी-सोटे

पता है दंड किसे कहते हैं ? नही। तो हमें दंडवत करो। हमारे सामने झुकने में शर्म आती हो तो किसी दंडी स्वामी को अपनी श्रद्धा निवेदित करो। यदि नास्तिक हो तो जाओ मधु दंडवते के पास और पूछो कि हे भूतपूर्व केन्द्रीय मंत्री, क्या कुर्सी के साथ-साथ आपके पास से दंड भी खिसक गया ?

पहले जब किसी को ताड़ना दी जाती थी तो उस पर दंड प्रहार किया जाता था। दंड से हुआ डंडा, इसी दंड से मिली सजा और यही दंड अब जुर्माना भी बन गया है। दंड के इन्हीं प्रकोपों से बचने के लिए लोग ब्रज की यात्रा करते हैं और गिरिराज महाराज की दंडवती परिक्रमा (दंडौती) भी देते हैं।

एक बार एक राजा ने धड़ल्ले से अपने दरबार में बिना आज्ञा के घुसे एक चौबेजी से पूछा—"कहां रहते हो ? क्या करते हो ?"

चौबेजी ने उत्तर दिया—"रहते हैं तीन लोक से न्यारी मथुरापुरी में। दंड करते हैं और माल उड़ाते हैं।"

राजा ने क्रोधित होकर कहा—"दंड करने का अधिकार सिर्फ राजा को है। तुम अपराधी हो। माल भी उड़ाते हो ? मंत्रीजी, इसे हवालात में बंद कर दो।"

परंतु चौबेजी हवालात में बंद नहीं हुए। उन्होंने कपड़े उतारे, धोती को लंगोटे की तरह कसा और राजा को बताया—"घणी खमां, यह है इकहत्थी दंड, और यह है दुहत्थी। सरकार इन्हें झूलके दंड कहते हैं। इसमें दंड और बैठकें दोनों साथ-साथ चलते हैं और देखिए, यह रहा चकरदंड। महाराजा साहब, यह व्यायामवाले दंड हैं, सजा देनेवाले दंड नहीं।"

आश्वस्त राजा ने फिर माल उड़ानेवाली बात पूछी तो चौबेजी ने बताया—"हुजूर, माल कहते हैं उस मिष्ठान्न को जो घी की कढ़ाई में छन्न-छन्न करके उतरता है। माल यानी मालपुआ। हुजूर, यह खीर और रबड़ी के साथ खाया जाता है। हो जाए मनभर दूध, ढाई सेर चावल, पांच सेर बूरा और दो सेर पिस्ता-बादाम का हुक्म।"

इस मधुर भूमिका के बाद हम आपको यह बताना चाहते हैं कि हम भी कभी दंडबाज थे, यानी डंडा बांधते थे। एक-एक सपाटे में ढाई-ढाई सौ दंड पेल लेते थे। उसके बाद आधा सेर दूध में छंटाक-भर घी मिलाकर गट-गट पी जाया करते थे। तभी तो हम इस जगती के शारीरिक और मानसिक कष्टों को हंसते-हंसते झेल गए। जब यार लोगों ने हमारी षष्ठिपूर्ति मनाई तो हमने तत्काल गढ़कर एक सवैया सुना दिया–

अभी बाप-चचा सब ज्वान धरे,
हमें वृद्ध कहें वह काठ के हैं।
पतनी अभी सोरह साल सी है,
हम तो दस जोरि कैं आठ के हैं।
नखरे-तखरे अभी देखे नहीं,
अखरे हम प्रेम के पाठ के हैं
हमैं वांचि कैं, जांचि कैं देखो जरा,
नहीं साठ के हैं, बड़े ठाठ के हैं।

लठैतों के दो सदर मुकाम हैं, देश में–मथुरा और मिर्जापुर। परासौली (गोवर्धन) से आकर मथुरा में मेरे पिता बसे और राधाकुंड से जाकर मिर्जापुर में मेरे मामा बसे। इन दोनों ही स्थानों पर मैं रहा हूं। लाठी मैंने बांधी भी है और चलाई भी है। खाई भी है और बजाई भी है। तो आज लाठियों पर ही कुछ हो जाए।

अब तो जमाना बदल गया। नहीं तो एक समय ऐसा था जब मथुरा के हर घर में दो-चार लाठियां रहती ही थीं। केवल चौबे और सनौढ़ियों के घरों में ही नहीं, बनिये भी अपनी दुकानों में छिपाकर एक लाठी अवश्य रखते थे कि न जाने कब कैसा मौका आ जाए। बाकी सब जाति तो लाठी बांधती ही थी। कान के बराबर (कनौती), सिर से ऊंची, गांठदार और पोलादी। किसी में पीतल का तो किसी में लोहे का मजबूत ऐसा पोला लगा रहता था कि जिससे विरोधी के मस्तक-भंजन में विशेष कठिनाई न हो।

इन लाठियों पर पीतल के तार कसे जाते थे या नागिनें चिपकाई जाती थीं। लाठी चलाना ही एक कला नहीं थी, इसका रख-रखाव कायम रखना भी एक कला थी। महीनों लाठी को तेल पिलाया जाता था। रात में उन्हें ओस में भीगने के लिए छत पर छोड़ दिया जाता था। उन्हें रंगदार बनाने के लिए पहले मेंहदी का लेप किया जाता था और बाद में इसे रसोई में धुएं के स्थान पर टांग दिया जाता था। यह बात मैं सुनी हुई नहीं कह रहा। कभी मैंने भी अपनी लाठियों पर ऐसे प्रयोग किए थे। इस प्रकार महीनों तेल चुआ-चुआ कर तैयार की हुई लाठियां मारने पर लचक तो सकती थीं, लेकिन टूट नहीं पाती थीं। क्योंकि विपक्षियों की लाठियों के वार भी लाठियों पर ही झेलने होते थे। इसलिए लठैत लोग इन पर वर्षों मेहनत किया करते थे। एक नहीं, छह-छह लाठियों को एक साथ तैयार करके रखा जाता था।

लाठी का पर्यायवाची नाम था–मिर्जापुरी। लाठी के लिए बढ़िया बांस विंध्याचल के जंगलों में ही होता है और मिर्जापुर इसकी बहुत बड़ी मंडी है।

मथुरा के वच्चे और बूढ़े लाठियां बांधते थे, जवान मिर्जापुरी सोटा। पेशेवर लठैतों के हाथ में लाठी नहीं, लट्ठ रहा करता था। उन दिनों सबसे बड़ी खबर यह होती थी कि यहां लाठी चल गई कि वहां चल गई। इतने फूट गए कि उतने फूट गए। सिरों पर मुंड़ासे वांधकर लोग लाठियां लेकर मैदान में उतरते थे और उछल-उछलकर लाठी चलाते थे। लठैतों को इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाता था कि लाठी पर लाठी चलाई जाए। यानी अपने दल का कोई आदमी सामने वाले के लाठी मारे तो उसके साथी का यह काम होता था कि उसी आदमी के उसी स्थान पर जमकर चोट करे। पहला वार कोई झेल सकता है, लेकिन जमकर किया गया दूसरा वार नहीं।

मथुरा में तब लाठी, पटा-बनैटी सिखाने के कई अखाड़े थे। इनमें लखपतराय और स्वामी घाट के दो अखाड़े बड़े मशहूर थे। स्वामी घाट के अखाड़े का कभी मैं भी जूनियर खलीफा रहा हूं। मैंने पटा-वनैटी, तलवार और धनुप-वाण चलाने के साथ-साथ लाठी चलाना भी विधिवत् सीखा है। अगर आमने-सामने किसी एक व्यक्ति से लाठी युद्ध हो तब उसके लड़ने का एक तरीका होता है। यदि सामने दो हों और आप अकेले हों तो उस समय लाठी चलाने के अलग पैतरे हैं। यदि चारों ओर से लाठियों के बीच घिर जाओ तो किस प्रकार लाठी चलाकर वच निकला जाए, इसकी एक अलग कला है–बिन्नौट। यह बिन्नौट भी कभी मैंने सीखी थी।

मथुरा में एक वार एक शस्त्रधारी नागा साधु आए वावा हरिदास। काठ की खड़ाऊं पर चलते थे। मोटी मूंज का लंगोट वांधते थे। जनेऊ के स्थान पर कंधे से कमर तक पीतल का धनुप आड़ा पड़ा रहता था। कमर में दोनों ओर नेपाली खुखरियां लटकती रहती थीं। दाहिने हाथ में परशुराम जैसा धारदार फरसा और गले में लोहे का सुदर्शन चक्र। अगर शरीर पर भभूत और एक हाथ में कमंडल न होता तो कोई उन्हें साधु नहीं कह सकता था। अंग्रेजों के राज में शस्त्र कानून में गिरफ्तार भी किए जा सकते थे क्योंकि उनके जटाजूट में बघनखा और हथियार को मजबूती से पकड़ने के लिए छल्ले भी छिपे रहते थे। ये बाबा हमारे अखाड़े में कुछ महीने ठहरे और मैं उनका शार्गिद बन गया।

वावा वड़े पराक्रमी थे। अंगुली पर घुमाकर जब यमुना के इस पार से उस पार चक्र फेंकते तो धारा में सामने से नावें हटा ली जाती थीं। वावा जीवों की हत्या नहीं करते थे, लेकिन इस पार से उस पार के जिस पेड़ की डाल को काटना चाहते थे उसे चक्र चलाकर तने से अलग कर दिया करते थे। तीर चलाकर पेड़ से जिस फल को कहो नीचे टपका देना उनके वाएं हाथ का खेल था। जमीन पर और पानी पर उड़ी लगाना मैंने उन्हीं से सीखा। उन्होंने दोनों हाथों से मुझे तलवार चलाना सिखाया। सामने रखे नींबू के दो टुकड़े करते हुए दुधारे पटे को उछलकर टांगों के नीचे से निकाल देना मुझे उन्होंने ही बताया। रामलीला की वारात में शराब से मदमत्त झूमती और प्रहारातुर देवी काली को मैंने भरे बाजार में दो घंटे तक ढाल-तलवार लेकर नचाया था। कुछ बिन्नौट के भी हाथ सीखे थे। पर बाबा अचानक कहीं रमते राम हो गए, नहीं तो मैं भी आज लेख-वेख नहीं लिखता। शायद कोई दूसरा नागा बाबा ही बन जाता। बाबा अपने आप को गदर का सिपाही बताया करते थे। मुझ पर उनका रंग चढ़ता जा रहा था। वह तो बस खैर ही हुई।

हां तो मैं बात डंडों की कर रहा था। कई वर्षों तक मेरे हाथ दंडधर रहे हैं। इनसे कुत्ते भी मारे हैं और सांप भी। लड़ते हुए सांडों को भी अलग किया है। मैंने सुना है कि मथुरा के चौबे और सनौढ़ियों में एक बार ऐसी लाठी चली कि उसमें दो सौ जवान मारे गए। न पुलिस आई और न घायलों एवं मृतकों के परिवारीजन पुलिस में रिपोर्ट कराने गए। लाशें चढ़ी हुई जमुना में बहा दी गईं और लोग मूंछों पर ताव देते हुए घरों को वापस आ गए। कहा जाता है कि इस युद्ध में हमारे भी आठ पूर्वज खेत रहे थे। लेकिन छोटे-मोटे झगड़ों को छोड़कर मेरे साथ ऐसी कोई संगीन वारदात नहीं हुई। सिर्फ एक बार धुलैंडी के दिन जब एक अंग्रेज कलक्टर घोड़े पर बैठकर हमारी टोली के बीच से निकला तो अपने डंडे से एक गंदे टाट के टुकड़े को उछालकर गोरे कलक्टर के सिर पर अवश्य दे मारा था। जब उसके हिमायती मुझ पर लाठियां लेकर दौड़े थे तो मैं उनके वार बचाता और कभी-कभी जमाता हुआ गलियों-गलियों भाग निकला था।

मेरे पास बड़े अच्छे-अच्छे और ऐतिहासिक डंडे रहे हैं। इनमें से एक मुझे मथुरा के प्रसिद्ध चंदन पहलवान उर्फ भौंरा ने दिया था। बाबा हरिदास ने जिस लाठी से मुझे सिखाया था, वह भी मैंने बहुत दिनों तक सहेज कर रखी थी। पूर्वजों के भी कई सोटे हमारे यहां सुरक्षित थे, जिनमें मैंने चांदी की मूटें, पीतल के सांप और तरह-तरह की धातुओं की पोलाटियां लगवा दी थीं। मेरे श्वसुर वल्लभ शर्मा की एक नक्काशीवाली गुप्ती (ऐसी लाठी जिसके अंदर लोहे का धारदार फलक छिपा होता है) भी थी। दिल्ली आया तो पीछे से यार लोगों ने इन्हें पार कर दिया। अब दिल्ली में मेरे पास उग्रजी की दी हुई एक पतली, लपलपी मिर्जापुरी सोटी ही शेष रह गई है।

लाठी गांधीजी भी रखा करते थे। बुढ़ापे में तो लाठी का ही सहारा हुआ करता है। मैं दिल्ली में यदाकदा लाठी बांधता हूं तो लोग हंसते हैं और मुझे अजीब तरह से देखते हैं। लेकिन वे गिरधरदास की इस कुंडलिया को भूल जाते हैं—

लाठी में गुन बहुत हैं, सदा राखिए संग।
जहां नदी नाला तहां, सदा बचावै अंग।।
सदा बचावै अंग, झपट कुत्ता को मारै।
दुश्मन दावागीर होय, ताहू को झारै।।
कह गिरधर कविराय, सुनो हे राह के बाटी।
सब हथियारन छोड़, हाथ में लीजै लाठी।।

अब छड़ी की बात

पंजाब में छड़ा कहते हैं उस युवक को जो अभी तक अकेला हो। छड़ा माने वह बछड़ा जो किसी खूंटे से न बंधा हो और छड़ी...?

एक छड़ी ऐसी भी होती है जो जमीन पर नहीं टिकाई जाती, बल्कि श्रद्धा से हाथों में ऊंची उठाई जाती है। भारत में कई स्थानों पर इन छड़ियों के मेले भी लगते हैं, जहां धार्मिक स्थलों पर छड़ियां चढ़ाई जाती हैं। कश्मीर से अमरनाथ की यात्रा में धूमधाम से

चलनेवाली छड़ी मुबारक का समाचार तो आप प्रतिवर्ष पढ़ते ही होंगे। पुराने राजाओं के यहां छड़ी-बरदार रखे जाते थे। कुछ मंदिरों में अभी तक छड़ियाजी मिल जाते हैं। बारातों के जलूसों में भी लोग किराये की चांदी की छड़ियां लेकर दूल्हे की घोड़ी के आगे-आगे अब भी चलते दिखाई दे जाते हैं।

परंतु मैं उन छड़ियों की नहीं, जिन छड़ियों की बात कर रहा हूं वह वे हैं जो कभी चक्रवती राजगोपालाचार्य के हाथ की शोभा थीं या टंडनजी तथा राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की चिरसंगिनी थीं। यह पढ़े-लिखों की पहचान थीं। पहले पढ़े-लिखों को बाबू कहा जाता था और छड़ियों को बाबुओं की दूसरी बीवी।

दिल्ली आया तो मैंने सोटे को एक कोने में रख दिया और छड़ी संभाल ली। मुझे भी दिल्ली में अपने आपको पढ़ा-लिखा सिद्ध करना था। क्योंकि मैं कविताएं और लेख अक्सर हल्के-फुल्के लिखा करता था, इसलिए यह पूरा-पूरा खतरा था कि लोग मुझे हल्का न समझ लें, इसलिए हमेशा छड़ी हाथ में रखने लगा–कभी मूठदार, कभी बेंतनुमा सिरे पर मुड़ी हुई, कभी काठ की सादी तो कभी छीलकर या उकेर कर बनाई हुई, कभी शीशम की तो कभी अखरोट की। मेरे पास धुर दक्षिण की भी छड़ी रही है और मसूरी की भी। मैंने लोगों को उपहार में छड़ियां भी भेंट की हैं। कलकत्ता में लायन्स के गवर्नर और प्रसिद्ध विधिवेत्ता भाई रामनिवास लखोटिया के यहां मेरी एक छड़ी विराजमान है। बम्बई में संस्कृत साहित्य और कानून विद्या के विशारद स्व. रामनिवास पोद्दार के संग्रहालय में भी मेरी एक छड़ी होनी चाहिए। प्रयाग में स्व. भाई वाचस्पति पाठक ने भी मुझसे एक छड़ी छीन ली थी। जब बनारस रहा तो मेरे वाग्न-साथी और पुस्तकालय विज्ञान के धुरंधर तथा इतिहास विषयों के लेखक स्व. कृष्णाचार्य ने कहा था कि ये छड़ी मेरे पास छोड़ जाओ। मेरे पट्ट शिष्य काका हाथरसी जब बहुत श्रद्धालु होते हैं तो मुझे एक बढ़िया छड़ी खरीदकर भेंट करते हैं। लेकिन सबसे दुलर्भ और ऐतिहासिक एक सुंदर छड़ी मेरे पास थी, उसकी जो दुर्गति हुई उसका यहां बयान कर रहा हूं।

एक बार चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य महात्मा गांधी से मिलने गए तो एक सुंदर और मजबूत छड़ी उन्हें भेंट करने को ले गए। गांधीजी ने वह छड़ी स्वीकार तो कर ली, लेकिन उसे कभी हाथ में नहीं लिया। अपनी छह पैसे की लाठी से ही वह अंग्रेजों को ललकारते और जीवन-भर कांग्रेसियों को हांकते रहे। एक दिन गांधीजी ने यह छड़ी अपने सबसे छोटे पुत्र देवदास गांधी को दे दी। जब देवदासजी असमय स्वर्गवासी हुए और श्रीमती लक्ष्मी देवदास गांधी जब हिन्दुस्तान टाइम्स वाला अपना घर छोड़कर दिल्ली से जाने लगीं तो गांधी परिवार की स्मृति के रूप में वह छड़ी उन्होंने मुझे प्रदान कर दी।

जिस छड़ी को राजगोपालाचार्य लाए हों, जिसे बापू का स्पर्श प्राप्त हुआ हो, जिसे मेरे निर्माता देवदास गांधी ने कभी बांधा हो और जिसे उनकी विदुषी पत्नी लक्ष्मी बहन ने मुझे बड़े स्नेह से दिया हो वह मेरे लिए पवित्र धरोहर के समान थी। मैं इसे बहुत संभाल कर रखता था। प्रायः सभा-सम्मेलनों में तो इसे नहीं ही ले जाया करता था। सोचता था कि आगे आनेवाली मेरी पीढ़ियां इसे गांधीजी की छड़ी कहकर याद किया करेंगी। पर, "मेरे मन कुछ और है कर्ता के कछु और।"

सन् 82 की पहली जनवरी को बदायूं में एक बदनाम कवि-सम्मेलन हुआ। आने-जाने की टैक्सी की सुविधा, चार अंकों का मानदेय और अध्यक्ष बनने का लालच मुझे वहां खींच ले गया। दिन-भर का चला और दीये जले बदायूं पहुंचा तो थकान से चूर। पहली रात को पूरी नींद नहीं आई थी और कवि-सम्मेलन में भी रात के तीन बजे तक जागता रहा। लाख चैतन्य होने पर भी झपकी आ ही गई।

इधर आंख लगी और उधर मेरे बगल में बैठे हुए उत्तर प्रदेश सरकार के दो मंत्री भी उठ लिए। बेचारे सिर झुकाकर अपनी सरकार और नेताओं की भयंकर और भोंडी आलोचना सुन रहे थे। सब्र की एक सीमा होती है, लेकिन उठकर चले जाते तो अच्छा होता। विरोध-प्रदर्शन का यह सभ्य तरीका था। लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया। जाते-जाते उनमें से एक ने कवियों और आयोजकों को ऐसे शब्दों में फटकारा और ललकारा कि उनके समर्थक ताव खा गए। मंत्रीजी के नीचे उतरते ही वे मंच पर चढ़ आए और जिन कवियों ने सरकार की और नेताओं की प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से शाब्दिक मरम्मत की थी उनकी चुन-चुनकर शारीरिक मरम्मत करने लगे।

मंच पर ले-दे मच गई। पिटते हुए कवियों को छोड़कर शेष कवि ही नहीं, संयोजक भी भाग खड़े हुए। दर्शक भी अपने जूते-चप्पल छोड़कर भाग खड़े हुए।

मैं तकिए के सहारे पीठ लगाकर लेटा हुआ था। भारी हो-हल्ले के कारण मेरी नींद खुली तो देखता क्या हूं कि पंडाल में लोग या तो खड़े हो गए हैं या भाग रहे हैं। पीछे कवियों के साथ हाथापाई हो रही है। दाहिने हाथ पर बैठे संयोजक नदारद हैं और बाएं हाथ को वाह-वाह करनेवाले भी दिखाई नहीं दे रहे। मुझे अपने कर्तव्य का बोध हुआ—अध्यक्ष के नाते मुझे परिस्थिति को संभालना चाहिए। मैं लपककर माइक पर गया तो उसका करेंट गायब था। पीछे मुड़कर हाथापाई करनेवालों को डांटा और उनके बीच में घुसने लगा तो दो मित्र कवियों ने मेरी बांह पकड़कर मुझे खींच लिया। बोले—"आपको पता नहीं, माहौल बहुत खराब है। आप हमारे साथ चलिए। इस चक्कर में मत पड़िए। यहां आपकी कोई सुननेवाला नहीं है।" वे मुझे खींचकर मंच से उतारने की चेष्टा कर रहे थे कि मुझे अपनी छड़ी की याद आई। कहा—"छड़ी तो ले चलूं!"

लेकिन छड़ी जहां रखी थी वहां दिखाई नहीं दी। मैंने तथा उन दोनों मित्र कवियों ने छड़ी को देखा। वह दिखाई तो दी परंतु हाथ लगना मुश्किल था। अहिंसा के अवतार का स्पर्श पाई हुई छड़ी आज हिंसकों के हाथ लग गई थी।

मैंने निश्चय किया कि बिना छड़ी के मंच से नीचे नहीं उतरूंगा और मेरे मित्र कवियों ने निश्चय किया कि गुरुजी भले ही छड़ी के पीछे अपने को मुसीबत में डालें, वे इस कृत्य में उनका साथ नहीं देंगे। मैं मंच के एक कोने पर बैठ गया और वे दोनों मंच से कूदकर भाग खड़े हुए। मैं 'छड़ी-छड़ी! मेरी छड़ी!' चिल्लाता रह गया, लेकिन पिटनेवाले पिटकर और पीटनेवाले पीटकर मंच खाली कर गए।

कोई आधे घंटे बाद संयोजक आए और जो कुछ हुआ, उसके लिए क्षमा मांगने लगे। मैंने कहा कि मेरे साथ कुछ नहीं हुआ है। मैं तुम्हें क्षमा ही नहीं और जो भी कहोगे कर दूंगा, लेकिन मेरी छड़ी मुझे वापस करा दो। यद्यपि उन्होंने छड़ी तलाशकर दिल्ली भिजवाने

का वायदा किया था, परंतु छड़ी के लौटने की घड़ी अभी तक नहीं आई। मेरे साथी हास्यरस के कवि तो आहत होकर चंगे भी हो गए और अब यह कहते फिरते हैं कि उनके सिवाय बाकी सब पिटे थे। लेकिन मैं आहत होने से तो बच गया, पर छड़ी के खोने से जो मर्माहत हुआ हूं उसके घाव इस जीवन में शायद ही कभी भरें।

"बदायूं के सम्मेलन में कवि पिटे" यह खबर यार लोगों ने मोटी-मोटी सुर्खियों में छापी और यह भी विशेष रूप से लिखा कि मैं उस कवि-सम्मेलन का अध्यक्ष था। मेरे शुभचिंतकों को इस समाचार से बड़ी चिंता हुई। बड़े पत्र आए। यहां तक कि श्रीमती महादेवी वर्मा ने भी पुछवाया कि कहीं मेरे चोट तो नहीं लगी। पं. बनारसीदास चतुर्वेदी ने तो चिट्ठियों के अम्बार लगा दिए। मुझे उनको सांत्वना देने के लिए फीरोजाबाद जाना पड़ा। गांधीजी वाली छड़ी का हाल सुनकर उन्हें भी बहुत दुःख हुआ। जब दूसरे दिन मैं उनसे विदा लेने लगा तो उन्होंने एक मोटी छड़ी मुझे दी। बोले—"अब तुम इसे अपने पास रखो। इससे मैंने घासलेटी कवियों की मरम्मत की है। कलकत्ता में जब 'विशाल भारत' निकल रहा था तो यही छड़ी मेरे पास थी।"

आजकल यही छड़ी मेरे पास है। कहीं यह भी न खो जाए इससे डरता रहता हूं। क्योंकि कल ही मैंने पढ़ा है कि भारत से ऐतिहासिक महत्व की पचास हजार वस्तुएं चोरी-चोरी विदेशों में जा चुकी हैं और वहां एक व्यक्ति के पास छड़ियों का ऐसा संग्रहालय भी है, जिसमें भांति-भांति की चित्र-विचित्र एक हजार छड़िया संगृहीत हैं।

■

राजनीतिज्ञों के साथ रहने के बावजूद व्यासजी में कुछ अजीब-सा अल्हड़पन है, जो मुझे हमेशा आकर्षित करता है। व्यंग्य-विनोद उनके स्वभाव का अंग है। जैनेन्द्र हों, अश्क हों या अज्ञेय हों, अपनी कविताओं में उन्होंने सबको निशाना बनाया है। व्यासजी जब भी मिले, खुले दिल से हंसते-मुस्कराते मिले, फब्तियों की फुलझड़ियां छोड़ते मिले।

—उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

प्रेम-प्रसंग : केवल एक

क्षमा कीजिए, मैं बड़बोले अंग्रेजों की तरह यह गर्वोक्ति नहीं कर सकता कि 'नो सेक्स, आइ एम ब्रिटिश' । मैं तो एक साधारण मनुष्य हूं। वह मनुष्य क्या, जिसमें कमजोरियां न हों ? कुछ लोगों का तो कहना है कि कमजोरी का नाम ही मनुष्यता है। वह किसी न किसी रूप में सबमें होती है। जो छिपाता है वह पाखंडी है। जो अपने को बुराइयों से मुक्त बताता है वह झूठा है। सुर-असुर, जोगी-जती, महात्मा और तपेश्वरियों की कमजोरियों के किस्से पोथियों में भरे हुए हैं और लोककथाओं में प्रचलित हैं। अपनी बात मैं ही जानता हूं कि मुझमें क्या-क्या कमजोरियां हैं। आप गलतफहमी में न रहिए, मैं काम, क्रोध, लोभ, मोह और ईर्ष्या में आकंठ डूबा हुआ हूं। अहंकार तो नख से शिख तक व्याप्त है। अब "क्या भूलूं, क्या याद करूं ?" बच्चनजी की तरह बेबाक उनका वर्णन करने का साहस मुझमें नहीं है। वृद्ध वेश्या तपस्विनी मानी जाती है और कोई यदि पिचहत्तर वर्ष से ज्यादा जी जाए तो लोग उसे ऋषि समझने लगते हैं। मैं भी व्यास ऋषि की संतान हूं। ऋषित्व पर बट्टा कैसे लगाऊं ? लेकिन....

मैं ऐसा पेड़ नहीं हूं जिसकी पत्तियां हवा से हिली न हों। ऐसा पक्षी भी नहीं हूं जो अपनी डाल पर ही फुदकता रहता हो और उड़ान न भरता हो। मैं ऐसा सरोवर भी नहीं, जो चारों ओर सीमा-मर्यादाओं से बंधा हुआ हो। मैं तो वह झरना हूं कि जो बूंद-बूंद टपककर नाले से नद बन गया हो और जो न जाने कितने घाटों से गुजरा हो। मैंने भी जीवन में घाट-घाट का पानी पिया है। दुनिया के सभी रंग देखे हैं।

मैं जाने कहां का कहां बह गया होता। न जाने पतन के किस गर्त में गिर पड़ा होता। लेकिन मेरी रक्षा करनेवाले भी कुछ तत्व थे। रसिक था। छैला था। किसी कदर गबरू भी था। कवित्व की आकर्षक चमक भी मुझमें थी। मन कितना भी दूषित रहा हो, मगर तन पर खादी थी और नाम के आगे व्यास था। मारू नजरें अनदेखा करके मेरी बगल से गुजर गईं कि ये खद्दर दलिद्दर, न कज़न, न अंकल, न फ्रेंड, न हमदम। इसके तो नाम में ही

बुढ़ापा है। यह शिकार मारने योग्य नहीं। फिर भी कुछ प्रसंग सुलभ हुए। कुछ पटाखे टाइप माशूक, जिन्हें गरजी कहना ही मेरी मरजी के मुताबिक ठीक होगा, अपनी अरजी लेकर आए। लेकिन यहां नायिका-भेद ने मेरी रक्षा की। मैं खोज करने में जुट गया कि कौन स्वकीया है, कौन परकीया है और कौन गणिका है ? कौन आनंद सम्मोहिता है और कौन रूपगर्विता ? कौन वासकसज्जा है, कौन उत्कंठिता है और कौन स्वयंदूती ? उनके रंग-ढंग और रूप-रंग को देखकर मुझे ब्रजभाषा के नायिका-भेद के छंद याद आने लगते। मैं उनमें खो जाता। जब होश आता तो मुझे यह समझने में देर नहीं लगती कि यह तृप्ता है या अतृप्ता ? अर्थात् ऐसी आधुनिका है कि ये सब कार्य उसके लिए मात्र शगल हैं। मेरे पास कोई प्रेम-पयूषी आई ही नहीं। या तो आई दीन-दुखी और लाचार, जिनकी बेबसी से मैंने कभी लाभ नहीं उठाया। या वे आईं जिन्हें कैरियरिस्ट कहा जाता है। इससे पहले कि वे कीमत चुकाकर, अपना मतलब गांठकर मेरा नाम-पता भी भूल जातीं, मैंने उन्हें धता बता दी। मैं नारी की मांसल देह का, उसके रूप-यौवन का नहीं, प्रेम का भूखा था। ऐसी प्रेमिका की तलाश में था, जो मेरी प्रेरणा बन सके। वैसी जैसी कि शरत बाबू को मिली थीं। भारतेन्दु हरिश्चंद्र को मिली थीं और मिली थीं वृंदावनलाल वर्मा को। इसीलिए मैंने लिखा–"पर इस जीवन के मेले में, मिला न कोई मीत मनोहर।"

मेरे कवि-मन को भटकने और फिसलने से बचाने में सबसे बड़ी भूमिका मेरी पत्नी की रही है। वह उन दिनों गोरी, स्वस्थ, मांसल तो थीं ही, मेरे ऊपर उनकी कड़ी चौकसी भी थी। उनकी पैनी नज़र से कोई चिड़िया पर तक नहीं मार सकती थी। उनका व्यक्तित्व बड़ा दबंग रहा है। मैं उनके डर के मारे जैसी मेरी आदत है, उनके सामने तो क्या फोन पर भी किसी से बतरस का आनंद नहीं ले सकता। ज्यादातर आदमी पत्नियों की असावधानी और असुंदर होने के कारण बिगड़ जाते हैं। पर मैं तो पूरी तरह उनकी मुट्ठी में था।

फिर भी चोर चोरी से जाता है, हेराफरी से नहीं जाता। मेरे जीवन में भी कई प्रसंग आए हैं। उनमें से एक दुर्लभ प्रेम-प्रसंग का जिक्र यहां करता हूं।

बात तब की है जब कई टुकड़ों में बंटा हुआ राजस्थान, महाराजस्थान बना था। जयपुर में तब बड़े जश्न मनाए गए थे। बड़े-बड़े राजे-महाराजे, नवाब और जागीरदार उनमें शामिल हुए थे। कवि-सम्मेलन भी हुआ। मुझे भी बुलाया गया। अतिथियों को एक सुंदर राजकीय इमारत में ठहराया गया। कवि-सम्मेलन रात के ढाई बजे समाप्त हुआ। मैं किवाड़ बंद कर लाइट बुझा पलंग पर पड़ने जा ही रहा था कि द्वार पर हल्की-हल्की दस्तकें सुनाई देने लगीं। रात के तीन बजे यह कौन आ मरा, सोचते-सोचते शाल लपेटे हुए मैंने चटकनी नीचे खिसकाकर किवाड़ खोले तो अवाक रह गया। फूलों से शृंगार किए हुए सुवासित इत्र में नहाई-सी एक अत्यंत सुंदर महिला मेरे सामने खड़ी पूछ रही थी–"क्या मैं अंदर आ सकती हूं ?"

मैं मुग्ध नयनों से अवाक उस सुंदरी को देख रहा था कि तभी न जाने मेरे मन में कैसे यह खयाल आ गया कि यह सुंदरी कोई प्रेतात्मा तो नहीं है। मैंने सुना था कि ये आत्माएं रात में आती हैं और अपने रूप-जाल में सम्मोहित करके लोगों के प्राणों को भी अपने साथ लेती जाती हैं। इस यक्षिणी कल्पना से मैं मन ही मन सिहर उठा।

मैं कुछ कहूं, उससे पहले ही वह नवयौवना खुशबू लुटाती और रूपराशि बिखेरती हुई कमरे के अंदर दाखिल हो गई। सबसे पहला काम उसने यह किया कि दरवाजे की चटकनी चढ़ा दी और मेरे पलंग के पास कुर्सी खींचकर बैठ गई। फिर वही पहले बोली–"हम लोग आपके बगलवाले कमरे में ठहरे हुए हैं। मैंने कवि-सम्मेलन में आपकी कविताएं सुनीं। जब 'वे' सो गए तो मैंने सोचा कि आपसे मिल लूं। कवि-सम्मेलन में आपको सुना, लेकिन मन नहीं भरा। थक गए होंगे। तकिये का सहारा ले लीजिए। यदि आप कुछ कविताएं और सुना सकें तो बड़ी कृपा होगी।"

मैं अब तक प्रकृतिस्थ हो चुका था। आलस्य दूर हो गया था। मन हर्ष-पुलक से भर गया था। तरह-तरह की कल्पनाएं मन में जाग उठी थीं। अब तक तो रूप-राशि पर ही मुग्ध था, लेकिन कविता के प्रति उसका लगाव देखकर मै भावविभोर हो गया। मैंने पूछा–"क्या आपको भी लिखने-पढ़ने का शौक है ?"

"जी हां, यूं ही थोड़ा-बहुत।"–वीणा-विनंदित स्वर में वह बोली।

मैंने कहा–"तो पहले आप सुनाइए।"

उसने आग्रह किया–"नहीं, पहले आप।" फिर दोनों ओर से कविता का प्रवाह शुरू हो गया। वह सुंदर तो थी ही, मुझे उसकी कविताएं उस रात उससे भी सुंदर लगीं। मैं व्यंग्य-विनोद के बाद शृंगार-रस पर उतर आया। शेरो-शायरी भी चली। वह कानों से मेरी कविता सुन रही थी और मैं नयनों से ही नहीं, प्राणों से भी उसकी रूपराशि और मुग्धा भाव का पान कर रहा था। उसने घड़ी देखी। सुबह के छह बजने वाले थे। बोली–"ओह ! बहुत देर हो गई !" कुछ विवश-भाव से उसने कहा–"अब चलूं ?" वह कुर्सी से उठ खड़ी हुई। मैं पलंग से नीचे उतरा। बोला नहीं गया। उसका एक हाथ पकड़कर चूम लिया। मन किया कि अंक में भर लूं और चुंबनों की अमिट छाप उस पर अंकित कर दूं। शायद कुछ ऐसे ही भाव उसके मन में रहे हों। लेकन उसने प्रेमिल भाव के साथ-साथ अपने शील को भी कायम रखा। अपनी अंगुली से एक अंगूठी उतारी और बदले में मेरा हाथ चूमकर मेरी अंगुली में पहना दी। वह दरवाजे तक आ गई थी। चटकनी खोलने लगी तो मैंने पूछा–"अपना नाम-पता तो बताती जाइए ?" वह बोली–"ये सब बेमानी है। हम मिले बैठे। साहित्य चर्चा हुई। रसपान किया। इतना परिचय क्या कम है ? जब-जब यह अंगूठी देखियेगा, मेरी याद कर लीजिएगा। मेरे लिए इतना ही बहुत है। यही मेरा परिचय है।" कहती हुई वह तीर की तरह दरवाजे से बाहर चली गई। इस बार मैंने दरवाजा बंद नहीं किया। बत्ती भी नहीं बुझाई। पलंग पर लेट गया। सोचता रहा–सोचता रहा। सोचते-सोचते न जाने कब नींद आ गई। पता ही नहीं चला।

सुबह नौ बजे आंख खुली। आंख खुलते ही मैं बरामदे में आया और बगलवाले कमरे की ओर देखा। वह खाली पड़ा था। चौकीदार ने बताया कि मेम साहब और साहब बहादुर आधा घंटा पहले ही कमरा खाली करके चले गए हैं। जाते समय मेम साहब आपके कमरे में झांकी थीं। सिर झुकाकर हाथ भी जोड़े थे।

चौकीदार भी यह नहीं बता सका कि वे कौन थे और कहां गए हैं ? अब आगे क्या कहूं ? न कहा जाता है, न लिखा जाता है।

अंगूठी की करामात

मेरे पास एक अंगूठी थी। साधारण नहीं, कीमती। केवल सोने की बनी और दुर्लभ पुखराज से जड़ी ही नहीं, बड़ी करामाती। माथे पर रगड़ दो तो आधा शीशी का दर्द गायब। घिसकर बिच्छू के डंक मारे स्थान पर उसके लेप को लगा दो तो जलन शांत। किसी महिला के दर्द हो रहे हों और बच्चा जन्म नहीं ले पा रहा हो तो कलावे में बांधकर अंगूठी को कमर में पहना दो, प्रसव-पीड़ा दूर। अगर किसी को पीलिया हो गया हो या पाली का बुखार आता हो तो अंगुली में पहना दो। दस दिन के अंदर रोगी चगा हो जाता था। जब से यह अंगूठी आई, मेरे जीवन मे भी चमक आ गई थी। इसे एक मुसलमान फकीर ने फूंककर बड़ी दुआओं के साथ मुझे दिया था।

घटना इस प्रकार घटी कि मैं इंदौर से अजमेर जा रहा था। कवि-सम्मेलन के आयोजकों ने रास्ते के लिए मेरे साथ ढेर सारे फल, मिठाई, नमकीन, पूरी-साग, अचार और पान बांध दिए थे। रात-भर का जगा था। जगह मिलते ही सो गया। नींद खुली तो देखा, दोपहर हो गई है। करवट बदली तो पाया कि सामनेवाली सीट पर एक बूढ़ा फकीर आंखें बंद किए बैठा है। मैं उठा। फारिग हुआ। हाथ-मुंह धोए। खाना निकाला। फकीर अब आंखें खोलकर मुझे एक अजीब निगाह से देख रहा था। मैंने उससे पूछा—"बाबा, कुछ खाओगे ?"

फकीर बोला—"शुक्रिया, आप खाइए।" लेकिन मैंने आग्रहपूर्वक उसके लिए खाना लगा दिया—फल, मिठाई, नमकीन सब। "शुक्र अल्लाह का !" कहकर फकीर साहब ने खाना खाया। मेरी सुराही से पानी पिया। कागज, पत्ते फेंककर हाथ-मुंह धोकर लौटे और फिर मुझे ध्यान से देखने लगे। थोड़ी देर बाद एकाएक बोले—"बेटा, तेरी अंगूठी तो बहुत अच्छी है। जरा दिखा तो।"

मैं झिझका। सफर में मिलनेवाले ठगों की कहानियां सुन रखी थीं कि हाथ की सफाई से वे अंगूठियां बदल लेते हैं या उन्हें गायब कर देते हैं। बाबा भी मेरे मनोभाव ताड़ गया। बोला—"बच्चा, डर नहीं। सभी एक जैसे नहीं होते। ला, मुझे अंगूठी दे।"

फकीर के स्वर में इस बार ऐसा स्नेह-भरा आदेश था कि मैं उसकी अवहेलना नहीं कर सका। अंगूठी उतारकर उसकी हथेली पर रख दी। फकीर घुटने मोड़कर बैठ गया और झुक-झुककर उस अंगूठी में फूंक मारने लगा। अस्फुट स्वरों में वह कुछ कहता भी जा रहा था। कोई दस मिनट बाद उसने वह अंगूठी मुझे वापस कर दी। मैंने देखा, वह सही सलामत थी। तौल में भी, मोल में भी।

जब अंगूठी मैंने पहन ली तो बाबा ने मुझे बताया कि वह तीन दिन से भूखा था। उसके कथनानुसार मैंने जो इन्सानियत का फर्ज निबाहा तो इस सबाब (पुण्य) के बदले उसने भी अपनी फकीरी का फर्ज अदा किया। उसके शब्दों में यह अंगूठी मुझे तो फल देगी ही, लेकिन बिच्छू के मारे, आधा शीशी के सताए और तिजारी, पीलिया वगैरह रोगों के काम आ सकती है। इससे दीन-दुखियों की सेवा करना, लेकिन इसके बदले पैसा नहीं लेना। अगर लालच या गरब करेगा तो अंगूठी तेरे पास से चली जाएगी।

जावरा का स्टेशन आया और बाबा फिर एक बार दुआ देकर रेल से उतर गए। मैं उन्हें जाते देखता रहा। प्लेटफार्म पर उन्हें लोग झुक-झुककर सलाम कर रहे थे। किसी ने उनसे टिकट के लिए भी नहीं पूछा।

बात सन् 50 की है। महा-राजस्थान के निर्माण पर जयपुर में जश्न मनाए जा रहे थे। एक अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन भी हुआ था। मैं भी उसमें आमंत्रित था। उन दिनों मेरी कविताओं की बड़ी धूम थी। मंच पर जब जमता था, श्रोता ही नहीं, मंच पर उपस्थित साहित्यकार और राजनेता भी मुझे हाथों-हाथ उठा लेते थे। महिलाएं तो उन दिनों मेरी रचनाओं पर मंत्रमुग्ध ही हो जाया करती थीं। जयपुर में उस दिन मेरी बड़ी धाक रही। पर कविताएं भी बहुत सुनानी पड़ीं। रात को ढाई बजे और जब अपने आलीशान निवास जो पहले राजनिवास था, में पहुंचा तो बिस्तर पर पड़ते ही नींद मुझे बुरी तरह घेरने लगी।

अर्ध-सुप्तावस्था में मुझे लगा कि कोई हौले-हौले दरवाजे पर दस्तक दे रहा है। कमरे में हल्की नीली रोशनी ही रह गई थी। बदन पर तहमद और बनियान ही शेष थे। मैं अलसाता, मन ही मन भिन्नाता उठा। चटखनी सरकाई। दरवाजा खुला तो मैं अवाक रह गया। मुझे लगा कि मैं जागा नहीं, सोया हुआ हूं और सपना देख रहा हूं।

दरवाजे के खुलते ही सुगंध की ऐसी लहर आई कि मेरे मन-प्राण उसमें बह चले। फूलों की चंपाकली, फूलों के ही कर्णफूल, फूलों का वेणी-बंधन और फूलों के गजरे पहने हुए उर्वशी जैसे रूप की एक परी मेरे सामने मुस्कराती हुई खड़ी हुई थी। बिना आंखें मले मेरी आंखें खुल गईं। उस रूप की राशि अक्षत यौवना और अनिंद्य सुंदरी को अचानक अपने सामने लखकर मैं सकपका गया। न कुछ कहते बना, न कुछ करते। दरवाजा अभी तक अर्द्धउन्मीलित था। वह द्वार पर ठिठकी खड़ी थी।

मेरे प्राणों में ही नहीं, शरीर में भी सिहरन हो रही थी। सौंदर्यबोध की बजाय अचानक मैं भयग्रस्त हो उठा। मैंने सुन रखा था कि राजस्थान में आधी रात के बाद भूतनियां और चुडैलें इसी तरह सज-धजकर निकलती हैं। वे युवकों को अपने जाल में फंसाकर उनका

प्राणांत कर डालती हैं और खून पीकर लुप्त हो जाया करती हैं। सवेरे लोगों को उनकी लाशें ही मिला करती हैं। डर से मैं मन ही मन कांप रहा था। एक बार मन में आया कि जोर से किवाड़ें लगाकर चटखनी चढ़ा दूं और फर्श पर बैठकर हनुमान चालीसा का पाठ करने लगूं। लेकिन मैं ऐसा कर नहीं सका। उसके तन की लहक, पुष्पाभरणों की महक और सबसे अधिक उसकी मोहक मुस्कान मुझे... । कि तभी जैसे वीणा बज उठी। वह कह रही थी—"क्या मैं अंदर आ सकती हूं ?"

और बिना इजाज़त का इंतजार किए वह आगे बढ़ी। खुद दरवाजा बंद किया। परदे सरकाए और पलंग के पास लगी एक कुर्सी पर आकर बैठ गई। मैं अभी तक किंकर्तव्यविमूढ़ खड़ा था और मौन था। निस्तब्धता को तोड़ते हुए उसने कहा—"गुस्ताखी माफ कीजिए। मैंने बेवक्त आपको तकलीफ दी। खड़े क्यों हैं ? आराम से बैठ जाइए।" मैं आराम से पलंग पर बैठ गया। सिरहाने से डिब्बी निकाली। उसे बीड़ा पेश किया तो उत्तर मिला—यह तो जेन्ट्स लिपिस्टक है। हम लोगों को इसकी जरूरत नहीं पड़ती। इस पर हम दोनों खिल-खिलाकर हंस पड़े। मैंने पान जमाया। उस पर किमाम का पुट दिया। बालों पर हाथ फेरा। बाहों की मछलियां सहलाईं। मूड में आ गया।

इस घटना का जिक्र मैंने अलग एक लेख में विस्तार से किया है। उक्त अंगूठी इसी सुंदरी द्वारा अपनी निशानी के रूप में मेरी अंगुली में पहनाई गई थी।

वह अंगूठी वर्षों मेरे साथ रही, उनकी हसीन याद की तरह। यौवन के सुखद उन्माद की तरह। हथेली का सहारा लिए मैं उसी की करवट सोता। भावावेश में कभी उसे चूम भी लेता। उसके सुनाए हुए शेरों के कुछ टुकड़े रह-रहकर मेरी सुधियों में उभरते और विलीन हो जाते।

पर छोड़िए, बात उसकी करामात की करें। उस अंगूठी के साथ अब जावरेवाले फकीर की भी याद जुड़ गई थी। मैंने अंगूठी की करामात को कई बार आजमाया और हर बार वह अपनी कसौटी पर खरी उतरी। उसने मेरा दर्द बढ़ाकर दूसरों के दर्द को दूर किया। मेरे ताप की चिंता न कर कइयों के जूड़ी ताप में वह रामबाण सिद्ध हुई। दिल्ली में दीवारों पर रेंगनेवाले बिच्छू नहीं मिलते। यूं राजधानी में डंक मारनेवालों की कमी नहीं, पर उनके डंक उठे हुए और लगे हुए दिखाई नहीं देते। इन मानवीय बिच्छुओं का इलाज तो इस अंगूठी के पास नहीं था, लेकिन जो-जो बातें फकीर साहब ने बताई थीं, उन सबमें वह अचूक साबित हुई।

एक बार सस्ता साहित्य मंडल वाले यशपाल जैन बीमार हुए। उन्हें भयंकर पीलिया हुआ था। काफी दिन उन्हें बिस्तर पर पड़े हो गए थे। कोई इलाज कारगर नहीं हो रहा था।

एक दिन अपने मित्र श्री मार्तण्ड उपाध्याय के साथ मैं यशपालजी को देखने गया। वह पीले पड़ गये थे। बोला भी नहीं जा रहा था। मैंने अपनी अंगुली से उतारकर वह अंगूठी उन्हें पहना दी और विश्वास दिलाया कि लो, अब आपका रोग गया। एक सप्ताह में ही आप खाट से उठकर दौड़ने लगेंगे।

हुआ भी यही। दो-तीन सप्ताह में तो वह अपने कामकाज पर भी जाने लगे। सातवें

सप्ताह में मैंने उनसे अंगूठी की मांग की तो बोले—"ऐसी जल्दी क्या है, ले ले लेना।" फिर दो सप्ताह बाद याद दिलाई तो उत्तर मिला—"अरे भई, इससे मुझे फायदा हुआ है। कुछ दिन और अंगुली में रहने दो।" तीसरी बार मांगने पर मुझे अंगूठी मिल तो गई, लेकिन बेमन से। मेरे पास इस बीच कीमत लेकर अंगूठी छोड़ने का प्रस्ताव भी किसी के द्वारा आया था। पर उस अंगूठी की कीमत ? मेरे लिए दुनिया-भर की दौलत उसके सामने कुछ भी नहीं थी। मेरे मन-प्राण उस अंगूठी में बसे थे। मैं उसे लेकर अत्यंत मोहाविष्ट हो गया था।

दरियागंज से उसे अंगुली में डालकर मैं अपने तत्कालीन निवास स्थान लालकुआं को पैदल ही चल दिया। जामा मस्जिद पर ट्राम खाली देखी तो उसमें चढ़ गया। चलते-चलते ट्राम में भारी भीड़ हो गई। एक वृद्धा के लिए सीट खाली कर मैं खड़ा हो गया। लोग चढ़-उतर रहे थे। धक्का-मुक्की भी हो रही थी। हमदर्द दरवाजे के पास तो सवारियों में थोड़ी ले-दे भी हो गई।

मैं घर पहुंचा। तन-मन की थकान उतारने के लिए नहाने बैठ गया। पानी सिर पर डालकर जब शरीर मसलने लगा तो लोटा जमीन पर गिर पड़ा और मैं परेशान होकर इधर-उधर देखने लगा। अंगूठी अंगुली में नहीं थी। पैदल रास्ते में गई या ट्राम में गई ? अपने आप खिसक गई या किसी ने खिसका दी ? नहीं, नहीं, नहाते समय ही उछट गई होगी ? पत्नी ने अगल-बगल सब जगह देख लिया। नाली की जाली उखाड़कर ढूंढ़ा। गली खातियान और मोहल्ला रोदगरान का चप्पा-चप्पा छान मारा। अगर वह आकाश में नहीं उड़ी तो जमीन पर उसे कौन छोड़नेवाला था ? वह भी गई और यह भी गई ? चली गई साथ में करामात भी।

उसके वियोग में आधा हो गया हूं। जो सिद्धियां उससे प्राप्त हुई थीं वे तो गईं ही, उसके जाते ही मुझे आधियों और व्याधियों ने भी घेर लिया। जैन यशपालजी उसी दिन से मन ही मन फिरंट हो गए। अक्षयकुमार जैन भी मुझसे सम्मेलन का चुनाव लड़ने को उतारू हो गए। 'हिन्दुस्तान' के फोटोग्राफर वीरेन्द्र जैन (प्रभाकर) भी फोटो न लेकर और फोटुओं में से मेरी शक्ल काटकर बदला भी लेने लगे। सम्मेलन के विरोध में चित्रकला संगम खड़ा हो गया। कभी मेरे अनन्य साथी बांकेबिहारी भटनागर, रामानन्द दोषी, रमानाथ अवस्थी, देवराज दिनेश, रामावतार त्यागी और ताराचंद खंडेलवाल सब एक-एक कर मुझसे पृथक हो गए और अलग मोर्चा बना लिया। गोपालकृष्ण कौल और क्षेमचन्द्र 'सुमन' ही नहीं, भाई विष्णु प्रभाकर भी मुझसे रूठे-रूठे ही रहने लगे। लाल किले के कवि-सम्मेलन में भी हंगामा हो गया। मैथिलीशरणजी, नवीनजी, भगवती बाबू सहित काफी लोग बिना कविता पढ़े रूठकर चल दिए।

इस सबके पीछे मेरे दोष भी रहे होंगे। कमियां मुझमें औरों से कुछ अधिक ही हैं, लेकिन न जाने क्यों मेरे मन को बार-बार यही लगता रहता था कि हो न हो, यह सब उसी अंगूठी की करामात है।

वह तो भगवान ने खैर की

जी हां, दाता ने खैर ही की, नहीं तो जान के जाने में और कितने मिनट बाकी बचे थे। घर से हजारों मील दूर, न धरती न आकाश, बीच में ही ऐसे मरे होते कि वहां अपना रोनेवाला एक न होता।

मृत्यु के साक्षात् दर्शन का अजीब अनुभव था। कान पकड़कर जैसे बकरों को बलि के स्थान पर ले जाया जाता है और वे अवश मिमियाते हुए खिंचे चले जाते हैं, ऐसे ही हम लोग बरबस मौत के मुंह में खिचे चले जा रहे थे। फांसी के तख्ते पर जाने से पूर्व जैसे कुछ बंदी संज्ञाहत हो जाते हैं उसी प्रकार हममें से कुछ मौत से पहले ही मर चले थे। कलेजा ही मुंह को नहीं आ रहा था, उसके साथ-साथ पेट में जो कुछ था वह बाहर निकल पड़ने को उतावला हो उठा था। लगता था कि प्राणों से भी पहले हृदय पिंड, मुंह की राह बाहर आ पड़ेगा।

हमारा हवाई जहाज दैत्य की तरह दहाड़ रहा था। कानों के छेद रुई से अच्छी तरह बंद किए हुए थे। फिर भी उनके परदे फटे जा रहे थे। बाहर-भीतर सभी जगह धड़धड़ाहट मच रही थी। चक्कर और चक्कर। चक्कर पर चक्कर। लगता था बाहर-भीतर सब कुछ गोल है और घूम रहा है। बात तब की है जब हम रेगिस्तान के चक्रवाती तूफान में फंस गए थे। कराची से दोपहर को चलकर जब हमारा हवाई जहाज दिन छिपे कुवैत पहुंचा तो तूफान इतना भयंकर था कि चालक को उतरने के लिए हवाई पट्टी ही दिखाई नहीं दे रही थी। पीछे हटे तो अथाह समुद्र और आगे बढ़े तो अपार रेगिस्तान। हटे-बढ़े भी तो कैसे ? किसके बूते ? यान में पेट्रोल भी तो कुवैत तक का ही था। फिर जिंदगी और मौत के इन झूलों में, अर्थात् नीचे उतरने फिर ऊपर चढ़ने, चक्कर काटने और फिर हवाई पट्टी खोजने के प्रयासों में, उसकी आखिरी बूंदें भी समाप्त होती जा रही थीं।

वायुयान के संचालक कक्ष में से निकलकर एक सज्जन हम लोगों के पास आए। समझाने लगे कि ऊपर खतरे की पोशाक रखी हुई है। हवाई छतरी जिसे कहते हैं, वह यह

है और यों खुलती है। उन्होंने बताया कि यह आपातकालीन खिड़की है। संकटकाल में इसे खोल देते हैं और एक-एक करके आदमियों को नीचे कुदा देते हैं। लेकिन घबराइए नहीं। अभी ऐसी कोई बात नहीं। खतरा होगा, तो पहले उसे हम झेलेंगे। ओ के !

तभी तो कहता हूं कि वह तो भगवान ने खैर की, नहीं तो मेरा भी वही हाल होता, जो एक दिन दिल्ली के लोकप्रिय नेता लाला देशबंधु गुप्त का हुआ था और आप इस लेख को पढ़ने के बजाय भारतीय अखबारों में वैसा ही कुछ समाचार देखते, जैसा आपने पिछले दिनों बांडुंग सम्मेलन के समय चीनी शिष्टमंडल के संबंध में पढ़ा था।

यह दुर्घटना टल जाएगी, ऐसी उस क्षण किसी को आशा न थी। सारा कुवैत नगर खड़ा होकर हमारे हवाई जहाज को विवश लड़खड़ाते देख रहा था कि अब गिरा, अब गिरा। हम सबके दिल भय और आशंकाओं से भरे हुए थे कि न जाने यंत्र-पक्षी कहां अपने पर फैला दे ? न जाने इसका कौन-सा कोना किस इमारत से कहां टकरा जाए और इसके अंदर बैठे हुए ही नहीं, इसके साए में आनेवाले मुल्क-ए-अदम को रवाना हो जाएं ?

भारतीय पत्रकारों के शिष्टमंडल के साथ जब मैं दिल्ली से अरब गणराज्य की यात्रा पर रवाना हुआ था तब सपने में भी यह नहीं सोचा था कि मौत को इतनी निकट से देखने का अवसर आएगा और केवल बारह घंटे के अंदर ही वह हमारे 'स्वागत' को यों आ पहुंचेगी। पालम हवाई अड्डे पर मैं दूल्हे की तरह हार-सिंगार से लदा विमान पालकी पर बड़े शौक से सवार हुआ था। मेरी पत्नी ने आज ही तो मुझे वरमाला पहनाई थी, क्योंकि शादी के समय वरमाला पहनाने की रस्म तब हम लोगों में होती नहीं थी। होती होगी तो पत्नी उस समय इतनी अबोध थीं कि जीवन के सबसे पवित्र और उल्लासपूर्ण पर्व पर मैंने उन्हें विवाह वेदी पर अपनी बगल में सुबकते हुए ही सुना था। कैसी वरमाला ? कोई उन्हें गोदी में उठाकर विवाह-मंडप में लाया था और वहीं सात फेरे फिराकर वापस भी ले गया था। आज फिर उनके अंतस में सुबकियां उभर रही थीं। मैंने देखा कि उनकी नयन-सीपियों में मुक्ताकण झूल आए हैं। मैंने परिहास में अपने साथियों की ओर इंगित करते हुए उनसे कहा—"मैं अकेला ही तो जा रहा हूं। ये सब लोग तो यहीं रहेंगे।"

लेकिन जब हवाई जहाज ऊपर-नीचे हिचकोले खा रहा था, दाएं-बाएं चक्कर काट रहा था, तब सहसा मेरे मन में यह प्रश्न उठा कि क्या सचमुच ही अब मैं मुंह से चुप-चुप, पर दिल से प्यार करनेवाली प्राणाधिका पत्नी के पास नहीं पहुंच पाऊंगा ?

मुझे स्मरण आया कि जब मेरे बच्चे मेरी विदेश यात्रा पर बड़े खुश और गौरवान्वित थे और अपने मित्रों और पड़ोसियों में मेरे प्रवास की बधाई बांटते फिरते थे तब मेरी पत्नी मेरी विदेश यात्रा को लेकर कुछ अजीब तरह से खिन्न और गंभीर हो गई थीं। वह एकदम गुम हो गई थीं। जैसे उन्होंने मौनव्रत साध लिया हो। लोग मिलने और विदा देने आते। बच्चे हंसते-कूदते। सामान की सूची बनती। तैयारी होती। लेकिन वह इन सबसे अलग-थलग, उदास और खोई हुई-सी थीं। जैसे जो कुछ हो रहा था, वह उन्हें सुहा नहीं रहा हो। उस क्षण मृत्यु के मुंह में जाते-जाते मुझे यह सब स्मरण हो आया। मैंने सोचा—क्या उन्हें इस भावी दुर्घटना का कुछ पूर्वाभास हो गया था ? एक चोट-सी लगी कि छोटे-छोटे अबोध बच्चे।

कोई किसी लायक नहीं। घर में पैसा नहीं। बैंक में पूंजी नहीं। जीवन का या खतरे का कहीं कोई बीमा नहीं। चलते समय कुल 155 रुपए उनके हाथ पर रख आया हूं। हे भगवान, कैसे-क्या होगा ? अब तक दिल मजबूत था, वह भी कमजोर होने लगा। मेरी बेचैनी बढ़ गई।

आंखों के सामने अंधेरा छा गया। लेकिन तभी मेरे मानस-पटल पर एक पवित्र मूर्ति अंकित हुई। पंचकक्ष की धोती, कंधों पर रेशमी उत्तरीय, गले में तुलसी की माला, हाथ का कता, हल्दी से रंगा पवित्र यज्ञोपवीत, ललाट पर देदीप्यमान तिलक, मुख पर कृष्णाश्रय स्तोत्र। यह मेरे पिताजी थे। ऐसे पिताजी, जो नल का पानी नहीं पीते। किसी के हाथ का भोजन नहीं करते। घर-गृहस्थी से कोई सरोकार नहीं रखते। कोई मरे तो गम नहीं, पैदा हो तो खुशी नहीं। वह भले और उनकी ठाकुर सेवा भली। अहर्निश उनका गायत्री, गीता, भगवद-भजन और कीर्तन में ही व्यतीत होता। एक-एक करके उनके कई जवान भाई मरे, बेटे-बेटियां, पोते-पोतियां, काल के कराल गाल में फंसते चले गए, परिवार पर घोर से घोर दुःख और शोक के बादल घिरे और बरसे, लेकिन पिताजी अपनी जड़ों पर मजबूत बने रहे। कोई भी बड़ी-से-बड़ी आंधी उन्हें उखाड़ नहीं सकी। शायद वह अपने इस इकलौते पुत्र की मौत को भी निर्विकार होकर सह जाते और उनके कार्यक्रम में कोई बाधा नहीं पड़ती। मैं मन-ही-मन उनकी स्थितप्रज्ञता को खोज ही रहा था कि मुझे लगा पिताजी तानपूरे पर अपना प्रिय भजन गा रहे हैं–

करी गोपाल की सब होई,
जो रचि राखी नंदनंदन नैं–
मेटि सके ना कोई।

और मेरी भ्रमित मति स्थिर हो गई, सोचा, बावले किस चक्कर में पड़ा है ? जो तेरे वश में नहीं है, उस पर सोच करने से क्या लाभ ? भगवान सब भली ही करेंगे।

अंततोगत्वा भगवान ने भली ही की। हवाई जहाज के फौजी कप्तान ने साहस करके 'रिस्क' ले ही ली। जैसे चील अपने लक्ष्य पर गिरती है, वैसे ही एक झटके के साथ हमारा वायुयान भूमि पर आ टिका। धरती के स्पर्श पाते ही हम सबकी चेतना लौट आई। जमा हुआ खून फिर से नसों में दौड़ने लगा। हमने एक-दूसरे की ओर कुछ नए हर्ष और नए विश्वास के साथ देखा। सबके मन में एक ही भाव था–बच गए भाई ! बहुत बचे ! !

जब यह खबर कुवैत के शेख मुबारक शाह को मिली तो उन्होंने अपनी गाड़ियां हवाई अड्डे की ओर दौडा दीं। हुकुम दिया कि हिंदी दोस्तों को पहले सीधे उनके महल में लाया जाए। हमारे सकुशल उतरने की खुशी हवाई अड्डे के अधिकारियों और उसके आस-पास काम करनेवाले अनेक हिंदुस्तानियों को भी शेख साहब से कम न थी। सब ऐसे गले मिल रहे थे और यों आनंद-विभोर थे कि कुछ मिनटों में हम भूल गए कि हम लोग किसी बिराने मुल्क में या गैर बिरादरी के बीच हैं। शेख साहब के अतिथि-गृह में बैठते वक्त तो हम उस पिछले दुःस्वप्न की याद तक भूल चुके थे। वह याद तो हमें शेख साहब ने अपने स्वागत

भाषण में हमारे बचने पर खुदा का शुक्रिया अदा करके ही दिलाई। हम तो वहां के शाही सत्कार, ठाठबाट, वहां के बद्दू नौकरों और अरबी रीति-रिवाज की चकाचौंध में खुदा को भूल ही चुके थे। खतरा टल जाने के बाद खुदा को याद करता भी कौन है ?

■

जनता जिन कवियों की कविताएं उत्साह और आनंद से सुनती-पढ़ती है, उनमें गोपालप्रसाद व्यास का नाम अत्यंत उजागर है। वह हिन्दी के कवि-सम्मेलनों के आकर्षण रहे हैं।

व्यासजी का नाम मुख्यतः हास्यरस की कविताओं के कारण है तथा काका हाथरसी जैसे प्रगल्भ हास्यकवि उन्हें अपना गुरु मानते हैं। किन्तु व्यासजी केवल हंसानेवाले कलाकार ही नहीं हैं, वह जनता के भीतर जोश भी पैदा कर सकते हैं। वह मर्दों को मूंछों पर ताव फेरने की भी प्रेरणा दे सकते हैं।

आजाद हिन्द फौज और नेताजी सुभाषचन्द्र बोस पर 'कदम-कदम बढ़ाए जा' की जोशीली कविताएं तथा चीनी आक्रमण से लेकर पाकिस्तानी युद्ध के समय तक उन्होंने ऐसी कितनी ही कविताएं लिखी हैं, जो राष्ट्रीय भावनाओं से संयुक्त होने के कारण काफी लोकप्रिय हुई हैं। इन कविताओं के भीतर भारत का राष्ट्रीय जोश उबाल खाता है, भारत का आहत स्वाभिमान क्रुद्ध होकर बोलता है और उनके भीतर भारतीय जनता के हृदय के स्पंदन सुनाई देते हैं।

—रामधारी सिंह 'दिनकर'

व्यासजी का नाम हिन्दी मे हास्य-रस का पर्यायवाची-सा बन गया है। मैं तो परिहास में कहता हूं कि हिन्दी में सम्प्रति 'गो' युग चल रहा है। हिन्दी-सेवा और गोसेवा दोनों का (मेरा भी) बड़ा गहरा संबंध है। जो सचमुच 'गो' (यानी इन्द्रियों को) 'पाल' ले, उसका व्यास (यानी घेरा) बहुत 'महतोमहीयान' होता है।

—डॉ. प्रभाकर माचवे

अंडम संस्कार

पुराने जमाने में अगर मैंने ऐसी गलती की होती तो मेरी बिरादरीवालों ने अवश्य ही मेरे बाल मुंडवा दिए होते। मुझे निश्चय ही पंचगव्य पिला दिया होता और मुझे सिर्फ गंगा-स्नान का ही नहीं, अपितु पंडित और पुरोहितों को मिठाई खिलाने का पुण्य-फल प्राप्त हो गया होता। मैंने कोई साधारण अपराध नहीं किया था। मैंने मनु महाराज द्वारा आर्यजनों के निवास के लिए निर्दिष्ट सरस्वती दृषद्वती नदियों की सीमा का ही उल्लंघन नहीं किया था, वरन् स्वर्गादपि गरीयसी भारत भूमि को त्यागकर मैं अरब सागर की सीमा को पार कर गया था और पहुंचा कहां ? जहां के निवासियों को हमारे पूर्वज यवन और म्लेच्छ आदि शब्दों से विभूषित किया करते थे।

मुझे याद है कि बचपन में जब हमारे मथुरा के मंदिर में छः मुसलमान नक्कारची नौबत बजाने के लिए ऊपर बंगले में जाया करते थे, तो हमारे पिताजी उनकी छाया से भी बचने के लिए दरवाजे के किवाड़ बंद करवा दिया करते थे। समय का फेर देखिए, कि उन्हीं का पुत्र खालिस मुसलमानों के देश में, जहां नाई-धोबी, कुली-बावर्ची सब ही मुसलमान थे, अपने पिता से बिना पूछे सैर करने के लिए चुपचाप उड़ गया था। आज मुझे वह दिन भी याद है जब मेरे पिताजी ने मुझे काशी ले जाकर वहां के गोपाल मंदिर में मुझे ब्रह्म संबंध दिलवाया था। मेरे ब्रह्म संबंध से पूर्व मेरे दीक्षा गुरु ने मुझसे एक मनचाही प्रतिज्ञा लेने को कहा था। मेरे पिताजी की बड़ी इच्छा थी कि इस प्रतिज्ञा में मैं नल का पानी पीना छोड़ दूं, लेकिन मैंने वैसा नहीं किया। मैंने सिर्फ यही प्रतिज्ञा ली कि इस जीवन में जो कुछ उपभोग करूंगा वह भगवान को अर्पण करके करूंगा। ऐसे परम वैष्णव पिता का ऐसा 'ब्रह्म' संबंधी पुत्र जब अरबों के देश में पहुंचा तो उसकी आंखें खुल गईं। दाल-रोटी, कढ़ी, खीर, रायता, चटनी और अचार-पापड़ की तो कौन कहे, सारे अरब देश में मुझे पूड़ी-कचौड़ी, लड्डू-जलेबी, बर्फी और कलाकंद की एक भी दुकान नहीं मिली। और तो और कहीं फांकने के लिए भुने हुए चने भी दिखाई नहीं दिए। यह नहीं कि इन देशों में हिंदू न रहते हों।

क्या कुवैत, क्या सीरिया, क्या मिस्र, इन तीनों देशों में भारतीय व्यापारी फैले हुए हैं, लेकिन न यहां भारतीय खाद्य पदार्थों की कहीं दुकानें मिलीं और न कहीं निरामिष भोजनालय। सुनते हैं कि सोवियत संघ, यूरोप और अमरीका में निरामिष-भोजियों के लिए कोई खास कठिनाई उपस्थित नहीं होती। लेकिन अरब देशों में तो निरामिष भोजी के लिए पग-पग पर कठिनाइयां-ही-कठिनाइयां हैं। अगर अरब को दही खाने का शौक न होता और वहां के बड़े-बड़े होटलों में वैराइटी के नाम पर चावल प्राप्त न हो पाते तो मेरी क्या हालत हुई होती ? इसे शौकिया उपवास करनेवाले अच्छी तरह जान सकते हैं।

आप मेरी हालत का सही-सही अंदाजा नहीं लगा सकते। जब मेरे दल के दूसरे पत्रकार साथी बड़े-बड़े होटलों के ऊंचे-ऊंचे अधिकारियों या गवर्नरों की दावतों में मदिरा के प्याले छककर, विभिन्न प्रकार के जलचर, थलचर और नभचरों के भुने, पकाए और जलाए हुए मांसों की वाह-वाह करके प्लेट पर प्लेट साफ करते चलते थे, तब मैं उन्हीं की बगल में बैठा हुआ मन मारे चावल में दही मिलाकर धीरे-धीरे प्लेट पर अपनी चम्मच खटकाता रहता था।

लोग मेरा परिहास करते थे कि पंडितजी आप मांस भले ही न खाएं, मदिरा भले ही न पीएं, लेकिन धर्म तो आपका बचा नहीं। पता है आपको चावल पकवान नहीं है, यह कच्ची रसोई है। आपके पिताजी तो किसी के हाथ की कच्ची रसोई भी नहीं जीमते और तुम मियां, मुसलमानों के हाथ के पके चावल खा रहे हो। कभी-कभी तो और भी बड़ा धर्म-संकट उपस्थित होता। जब किसी बड़े अधिकारी की कोई रूप-गुण-संपन्न पत्नी मेरी बगल में बैठी रहती और मुझे झूठे हाथों से कोई फल या जूस या मक्खन की प्लेट या टोस्ट के टुकड़े दया और शिष्टाचारवश भेंट करती तो हृदय के किसी कोने में सोए हुए संस्कारों पर से राख उड़ जाती। एक चिनगारी-सी चमककर मेरे अंतर्मन से कहने लगती, "हे ब्राह्मण पुत्र और मथुरावासी वैष्णव, यह तू क्या कर रहा है ?" और तब याद आता बचपन में पिताजी का बताया हुआ यह नीति-वाक्य 'आचारः प्रथमो धर्मः' अर्थात् आचार ही पहला धर्म है।

गांधीजी की शिक्षाओं के परिणामस्वरूप पिताजी के आचार की वात मेरे युग-धर्म प्रवाह में अपने पैर नहीं टिका सकती थी। मैं अपने मन से छुआछूत को, हिंदू-मुसलिम के भेद-भाव को भूल चुका था, फिर होटलों में खाकर, प्रगतिशील लोगों के साथ रहकर, पत्रकारिता का पेशा अपनाकर भी मांस-मदिरा और धूम्रपान से एकदम अछूता ही रह गया। यद्यपि मेरे मित्रों ने अनेक अवसरों पर प्रमाण सहित मुझे समझाने की चेष्टा की कि अंडा और मछली सामिष भोजन नहीं हैं। चाय और कॉफी की तरह बीयर भी निर्दोष पेय है। उसे मदिरा नहीं कह सकते। लेकिन उनकी यह बात मेरे गले में सिर्फ इतनी ही उतरी थी कि मैं मांस खानेवाले लोगों के बीच बैठकर बिना ग्लानि के अपना निरामिष आहार ले सकता था, और लोगों को व्हिस्की-बीयर पीते देखकर भी मुझे न तरंग उठती थी और न उबकाई आती थी। अपनी इसी सहिष्णुता के बल पर ही मैंने अरब देशों की यात्रा का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया था।

लेकिन वहां पहुंचकर मेरी सहिष्णुता के पैर लड़खड़ा गए। वहां पग-पग पर मांस-मदिरा

और धूम्रपान का दौर-दौरा था। वहां इन सब चीजों से बचना एक प्रकार से सभ्यता और शिष्टाचार के खिलाफ-सा था। लेकिन अरबों की दुनिया में भूख-प्यास को शांत करने की भी तो एक समस्या मुंह बाए खड़ी ही थी।

मेरा हाल तो यह था कि जब मेरे साथी किसी की बोटी चबाते या हड्डी चिंचोड़ते तो मुझे उस निरपराध प्राणी का जीवन अक्सर अपनी कल्पना में बड़बड़ाता हुआ दिखाई देता। कहते हैं मांस खानेवालों के लिए मध्य-एशिया (सोवियत रूस का भी हिस्सा) स्वर्ग है। मांस की जितनी अधिक किस्में अरब देशों में बनती हैं, उतनी कहीं नहीं। मेरे साथी लोग इन सब किस्मों का पूरा-पूरा स्वाद लेने में कोई कसर नहीं छोड़ रहे थे और मैं भी अपने मन की ग्लानि को दबाने में अपनी तरफ से कोई कसर नहीं उठा रहा था।

मेरी दोहरी परीक्षा हो रही थी। एक तो दही-चावल, उबली हुई तरकारियां, मक्खन, मौसमी का रस और पॉपकार्न के अलावा मुझे कहीं कुछ मिल नहीं पाता था। पेट भरता था, लेकिन मन नहीं भरता था। दूसरी ओर मेरे साथी मुझे दिखा-दिखाकर, चिढ़ा-चिढ़ाकर और कभी उकसा-उकसाकर तीनों टाइम प्लेटों-पर-प्लेटें साफ करते थे। वे हर बार खा-पीकर ऐसी डकार लेते थे कि जिसका अर्थ यह होता था कि पंडितजी, छोड़ो इन ढकोसलों को। कोई-कोई तो यह कह देता था कि अगर यही सब करना था तो जर्नलिज्म में क्यों आए ? तो दफ्तर में बैठे-बैठे डेस्क वर्क करते रहते। विदेशों की खाक क्यों छानी ? और अब विदेश में आ ही मरे तो हम कौन तुम्हारे घर जाकर कह देंगे ? जो यहां की विशेषता है उसे बिना चखे, बिना भोगे, बुद्धू की तरह वापस लौट जाने में क्या मजा है ?

एक बार तो बड़ा भारी धर्म-संकट भी उपस्थित हो गया। घटना कुवैत की है। रमजान के दिन थे। हम लोग वहां के शेख के यहां भोजन पर आमंत्रित थे। कोई सौ आदमियों का भोजन एक ही लंबी मेज पर परोसा हुआ था। सब लोग साथ बैठकर खानेवाले थे। रमजान के दिनों में एक ही बार शाम को खाना मिलता। इसलिए भूख भी बड़ी कड़क लगी हुई थी। हम लोग खाने के कमरे में पहुंचे। राज्य के सभी उच्च अधिकारी, वरिष्ठ सैनिक और सम्मानित अतिथि इस भोज मे आमंत्रित थे। खाने की मेज छोटी-छोटी चौकियों को जोड़कर लगाई गई थी। सब उसके आस-पास पालथी मारकर जम गए। सैकड़ों प्रकार के भोज्य पदार्थ, चोष्य और लेह्य वहां परोसे हुए थ। जैसे हमारे यहां अन्नकूट या छप्पनभोग होता है, उसी प्रकार का वहां दृश्य उपस्थित हो रहा था।

लेकिन कर्म की गति देखिए कि जहां मुझे बैठने को जगह मिली थी वहां एक परात जैसी प्लेट में भुना हुआ साबुत दुम्बा पड़ा हुआ था। इसके अंदर भांति-भांति के मेवे, मसालों से युक्त चावल भरे थे। मैं तो पहले दस-पंद्रह मिनट सिर्फ देखता ही रहा कि कोई उस दुम्बे की टांग उखाड़कर ले गया, कोई उसका कलेजा ले उड़ा, किसी ने उसके पेट में हाथ डालकर मेवे-मसाले को निकाल लिया। मेरे साथी भी आज मन-ही-मन बड़े प्रसन्न थे। सोच रहे थे कि पंडित आज फंसा ? दरअसल में फंस तो गया ही था। मेरे खाने योग्य चीजें वहां बहुत सी थीं—चावल थे, सिकरन थी। कुछ जलेबीनुमा पदार्थ भी थे। कुछ पुए जैसी चीजें भी थीं, लेकिन वहां का हाल अजब था। सिकरन का प्याला एक उठाता, पीता और रख देता कि दूसरा उसे फौरन उठा लेता। और जब तक वह उसे छोड़ भी न पाता कि

तीसरा उसके इंतजार में रहता। मांसवाले हाथ से चावल, और चावलवाले हाथ से मछली, और मछलीवाले हाथ से दुम्बा और दुम्बे वाले हाथ से मिठाइयां, लोग ऐसे टूटकर पड़ रहे थे जैसे अकाल के भूखे हों। मुझे वहां अपने योग्य सिर्फ एक ही चीज दिखाई दी, वह थे लंबे-लंबे हरी छाल के पके केले। मैंने धरकर सत्यनारायण की कथा का ध्यान, केलों की तरफ हाथ बढ़ाया। शायद केले भी मेरे कर-स्पर्श से कृतार्थ हुए हों। क्योंकि भोजन की इस भारी भीड़ में उनकी कद्र करनेवाला सिर्फ एक मैं ही था।

जिस प्रकार लंका में सीता ने राक्षसों के बीच अपने सतीत्व की रक्षा की थी, वैसे ही मैं यात्रा पर अपने भोजन-धर्म को निबाहता रहा। जैसे वैदेही को जब रावण से बात करनी पड़ी तो उसने तिनके की ओट धारण कर ली थी, वैसे ही मैं भी दही-चावल की ओट में अपनी गाड़ी को खींच ही ले गया। लेकिन दमिश्क के हवाई अड्डे पर मेरे साथियों का कहना है कि मेरा धर्म भ्रष्ट हो गया।

उस दिन दमिश्क की पहाड़ियों पर बर्फ पड़ रही थी। हवा ऐसी जोर की थी कि शरीर के कपड़े उड़े जा रहे थे। हम लोग दिन-भर के थके-मांदे, भूखे-प्यासे हवाई अड्डे पर उतरे तो सबके पेट में चूहे बिलबिला रहे थे। हवाई अड्डे के बाहर एक छोटा-सा रेस्तरां था। शीत से बचने के लिए हम सब लोग उसमें जा घुसे। ऑर्डर दिए गए। किसी ने कुछ मंगाया और किसी ने कुछ, लेकिन मेरे मांगने योग्य वस्तु वहां एक भी नहीं थी। सीरिया और मिस्र में कॉफी के प्याले भी कम्बख्त घूंट-घूंट भर के होते हैं। चाय में दूध डालने का रिवाज भी शायद वहां नहीं है। चाय भी ऐसी होती है कि उसमें और कॉफी में कोई खास फर्क मालूम नहीं पड़ता। कुछ ठंडे पेय अवश्य थे, पर उस ठंडक में उन शीत पेयों को पीना मुझ जैसे जुकामी व्यक्ति के लिए वीमारी को निमंत्रण देना था। मैं पसोपेश में ही था कि क्या करूं, क्या न करूं कि मेरे पास एक साथी पत्रकार आए और कहने लगे—"पंडितजी, आप फिक्र न कीजिए। मैं आपका प्रबंध करता हूं।"

देश-विदेश घूमने का उनका अनुभव बहुत है। मध्य-एशिया भी वे कई बार जा चुके हैं। उन्होंने बताया कि यहां एक कंट्रीडिश बनती है जो वेजिटेरियन होती है। इसे वह मेरे लिए मंगवा देंगे। उस वक्त भूख ऐसी लगी थी कि उनका कहना ही मेरे लिए पर्याप्त संतोष का कारण था। लेकिन फिर भी मैंने उनसे स्वभाववश पूछ ही लिया कि वह किस चीज की बनती है। उन्होंने बताया कि जैसे अपने यहां गोभी की खिचड़ी बनती है न, बस ठीक वैसी ही समझ लो। मैं फौरन ही राजी हो गया। थोड़ी देर के वाद मेरे सामने डिश आ गई। भूख में तो किवाड़ भी पापड़ लगते हैं। इस पर वह तो ताजी वनी हुई गर्म चीज थी। बड़ी सोंधी लपट उसमें से आ रही थी। मैंने भगवान का ध्यान धरकर जो पहला कौर गले के नीचे उतारा तो ऐसा स्वाद आया कि पता नहीं चला कि प्लेट कब खत्म हो गई। प्लेट समाप्त करके मैंने कॉफी भी पी, और अपने साथियों की ओर वैसे ही तृप्ति से देखा, जैसा मेरे अतृप्त रहने पर वे प्रायः मुझे देखा करते थे। मेरे इस मूड का मेरे साथियों ने बड़ा स्वागत किया। उनमें से एक बोला—"लो पंडित, आज एक सिगरेट भी पीओ।"

मेरे क्षमा मांगने पर दूसरा बोला—"अभी नहीं, पंडितजी धीरे-धीरे सब बातें सीखेंगे। आज तो आपने सिर्फ अंडा खाया है। कल इनको एक पैग पिलाएंगे और परसों सिगरेट।"

तीसरा बोला–"लेकिन भाई, पंडित के साथ तुम लोगों ने बुरा किया। बेचारे को घर जाकर गंगा-स्नान करना पड़ेगा।"

हमारे दल में एक दक्षिण भारतीय भी थे। वह हंसकर कहने लगे–"कोई बात नहीं मिस्टर व्यास, आज आपका अंडम संस्कार हो गया है ? इस खुशी में अब हम सबका बिल आपको ही चुकाना चाहिए।"

मैंने कुपित नेत्रों से मुझ पर दया करनेवाले साथी की ओर देखा। वह बड़े गंभीर भाव से बोले–"नहीं पंडितजी, इसमें कोई अंडा-वंडा नहीं था। यह सब लोग आपको बना रहे हैं।"

लेकिन उनकी इस बात को मेरे सभी साथियों ने बड़े जोरदार कहकहों में उड़ा दिया। मेरे मुंह से तृप्ति का भाव गायब हो गया। एक मिचलन-सी मुंह में उठने लगी। ऐसा लगा कि जैसे मैं रो पड़ूंगा। वातावरण अब कुछ गंभीर हो गया था। मेरे साथी पुनः उठकर मेरे पास आए और मेरा कंधा थपथपाते हुए बोले–"व्यासजी, मैं आपके साथ दगा नहीं कर सकता। कहिए तो बैरे को बुलाकर पुछवा दूं।" इस पर फिर अन्य सभी साथी मुस्करा उठे कि अब तो पूछने और पुछवाने से क्या होता है। अंडा तो पेट में गया। वह बाहर नहीं आ सकता।

तभी मेरे मन में यह विचार उठा कि धोखे से तो अगस्त्य ऋषि को भी बकरा खिला दिया गया था। उससे अगस्त्य के ज्ञान या ऋषित्व में कोई कमी नहीं आई और न उनका धर्म ही नष्ट हुआ। फिर यहां तो इस बात का प्रमाण भी नहीं कि अंडा है भी या नहीं। फिर मैंने तो खिचड़ी हो या अंडा भगवान को समर्पित करके उसे पाया है। वह तो महाप्रसाद था। फिर मैं ग्लानि क्यों करूं ? और मैंने अपने साथियों से कहा–"अच्छा यारो, अंडा था तो होने दो। अंडा तो मथुरा के पंडा के पेट में जाकर रसगुल्ले का-सा काम करेगा।"

कहने को तो मैंने उनसे यह कह दिया, लेकिन मैं तब से अब तक कई बार यह सोच चुका हूं कि क्या सचमुच उस दिन दमिश्क में मेरा अंडम-संस्कार हो गया था ?

किस्सा जवाहरायण का

हिंडौन–मेरी ससुराल। वहां से आई एक चिट्ठी–नेहरूजी से मिलवा दो। लिखनेवाले–मेरी पत्नी के दीक्षागुरु। कैसे टाला जा सकता था ?

तो, पंडित शिवकुमारजी, पधारे। चरणों में काष्ठ की पादुकाएं। घुटनों-घुटनों धोती। शरीर पर एक लंबी मिरजई। मस्तक पर चंदन। गले में माला। सिर पर एक मटमैला-सा मुंडासा। वताया उन्होंने कि पिछले बारह वर्षों से वह 'जवाहरायण' लिख रहे थे। उसकी प्रति नेहरूजी को भेंट करना चाह रहे हैं। पत्नी के नाते वह हमारे भी गुरु हैं। यह काम हमें करना ही चाहिए। इसके बिना गुरु-ऋण नहीं उतरेगा।

हमने 'जवाहरायण' के दर्शन किए तो सिर पकड़ लिया। पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर नेहरूजी के जो चित्र आते थे, उन्हें पंडितजी ने काट-काटकर खुले पन्नों पर चिपका लिया था और उनके नीचे कविता के नाम पर अपनी करामात लिख छोड़ी थी।

अजीव मुसीवत थी कि यह करामात नेहरूजी को कैसे पेश की जाए ? मैंने टालना चाहा, परंतु कविजी नहीं टले। अन्यमनस्कता दिखाई, उसका भी कोई असर नहीं हुआ। श्रीमतीजी बड़े श्रद्धाभाव से अपने गुरुजी की आवभगत में लगी थीं। सवेरे भांग छानकर पंडितजी यमुना-स्नान को जाते और दोपहर मधुर और स्निग्ध पदार्थों का सेवन करके पौढ़ जाते। शाम को फिर छनती। भांग का नशा बिना मलाई-मिठाई के रंग नहीं लाता। उनकी पाठशाला में श्रीमतीजी दर्जा दो तक पढ़ी भी थीं। उन्होंने ही हमारे फेरे पड़वाए थे। पत्नी को जो कुछ प्राप्त हुआ था, वह गुरुप्रसाद ही था। वह दिन में चार बार गुरुजी का काम करने के लिए हमें कहती रहती थीं। पंडितजी के हमारे घर रहने और प्रसाद ग्रहण करने पर तो हमें कोई खास आपत्ति नहीं थी, लेकिन सुबह से लेकर रात तक उनकी कविताओं को सुनते रहने का हमारा धीरज शेष होता जा रहा था। क्या करें और कैसे करें ?

हम हारे और पंडितजी जीते। एक दिन हमने नेहरूजी को पत्र लिख ही दिया कि ऐसे-ऐसे राजस्थान से आपके पुराने प्रेमी आए हैं और पुराने ढंग पर ही उन्होंने 'जवाहरायण'

लिख डाली है। पिछले पंद्रह दिनों से वह मेरे यहां विराजमान हैं। अगर आप इनकी कृति का स्पर्श-भर कर दें तो मैं अत्यंत अनुगृहीत रहूंगा।

तीसरे दिन ही उत्तर आ गया और उन्हें समय दे दिया गया। अब हमारे सामने एक और विकट समस्या पैदा हो गई कि इस महाग्रंथ को भेंट योग्य कैसे बनाया जाए ? हमने खुले पृष्ठों को तरतीब से जमाया। ऊपर-नीचे पन्नों के आकार के दो लकड़ी के तख्ते लगाकर उन्हें लाल मखमल के कपड़े से वेष्ठित किया। फिर उन पर गोटा और कलावा चढ़ाया ताकि पुस्तक नेहरूजी के हाथ में जाने योग्य हो जाए।

सवेरे पंडितजी के बाल कटवाए, शेव बनवाई। अपनी एक धोती और लंबा कोट उन्हें धारण करने के लिए दिया। एक अंगवस्त्रम भी धारण करवाया। यह सब तो पंडितजी ने स्वीकार कर लिया, लेकिन काष्ठ पादुकाएं छोड़ने के लिए तैयार नहीं हुए। कांग्रेस सेवा दल के कप्तान शाहजी से निवेदन किया, वह उन्हें नेहरूजी तक पहुंचाने की व्यवस्था कर दें।

खड़ाऊं खटकाते पंडितजी तीन मूर्ति भवन पहुंचे। उन्हें तुरंत बुलवा लिया गया। पंडितजी ने मंत्रोच्चार के साथ नेहरूजी को आशीर्वाद दिया और गुलाब के पुष्पों के साथ 'जवाहरायण' नेहरूजी को भेंट की। पुस्तक का वेष्ठन और पंडितजी की वेशभूषा देखकर नेहरूजी की जिज्ञासा जागी और कपड़े को खोलकर ज्यों ही उन्होंने चिपके हुए चित्र और कविताएं देखीं तो मुस्करा दिए। अब पंडितजी अपनी कविताएं सुना रहे थे और नेहरूजी सुन रहे थे। नेहरूजी कभी-कभी ऐसे आनंद भी ले लिया करते थे। परंतु ऐसे कामों के लिए उनके पास दो-चार मिनट का ही समय रहा करता था। उन्होंने इंदिराजी को आवाज दी और कहा—"भई, पंडितजी की कुछ खातिर तो करो।" कहकर वे उठ दिए।

लौटने पर पंडितजी ने हमें बताया कि उन्हें खुद इंदिराजी ने काट-काटकर आम खिलाए। बड़े गद्गद थे हमारी पत्नी के गुरुजी महाराज। हमने मन ही मन नेहरूजी को धन्यवाद दिया कि हे राष्ट्रनायक, आपने पत्नी के सामने हमारी लज्जा रख ली।

लेकिन बात यहीं समाप्त नहीं हुई। पंडितजी बहुत असंतुष्ट थे। कह रहे थे कि मैं भारत के सरताज के यहां से भी खाली हाथ लौटा हूं। ब्राह्मण का ऐसा अनादर। काव्य-कला की ऐसी उपेक्षा। पुराने जमाने में किसी राजा-रईस को ऐसी कविताएं बनाकर भेंट करता तो वे जागीरें देते। हमारे जयपुर के महाराज ने बिहारी कवि को एक-एक दोहे पर एक-एक अशरफी भेंट की थी। जयपुर तो एक छोटी-सी रियासत है। जवाहरलालजी देश-भर के राजा हैं। उन्होंने एक फूटी कौड़ी भी मेरे हाथ पर नहीं रखी।

पंडितजी को बहुत समझाया कि अब राजतंत्र नहीं, प्रजातंत्र है। अब जागीरें नहीं, मीठे बोल दिए जाते हैं। आप उन तक पहुंच गए और पुस्तक भेंट कर आए, यह कोई कम उपलब्धि है ? फिर इंदिराजी के हाथ के आम तो बिरला-टाटा को भी नसीब नहीं होते। पंडितजी आप धन्य हो गए। लेकिन पंडितजी ऐसी निस्सार बातों में आनेवाले नहीं थे। उन्होंने फिर हमारे घर आसन जमा लिया। अब क्या किया जाए ?

नेहरूजी के सचिवालय में एक महानुभाव मेरे अच्छे परिचित थे। मैंने हंस-हंसकर उन्हें अपनी कष्ट-कथा सुना दी और इससे निस्तार पाने के लिए कोई रास्ता निकालने की

प्रार्थना की। रास्ता निकला। प्रधानमंत्री निवास से एक पत्र राजस्थान के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री हीरालाल शास्त्री के पास भेजा गया। इसमें पंडितजी के नेहरूजी से मिलन और 'जवाहरायण' भेंट करने की बात लिखी गई और कहा गया कि यदि संभव हो तो पंडितजी की यथाशक्ति सेवा की जाए। सेवा यह हुई कि पंडितजी पहले एक सरकारी प्राथमिक पाठशाला में हिन्दी-संस्कृत के अध्यापक नियुक्त हुए और फिर शीघ्र ही प्रधानाध्यापक भी बना दिए गए।

जब तक पंडितजी जीवित रहे तब तक जवाहरलालजी की जय-जयकार करते रहे और साथ-साथ हमारी भी। ऐसे थे नेहरूजी कि जिनके पास देशी-विदेशी, बड़े-बड़े लोगों से मिलने के लिए भले ही समय की कमी हो, लेकिन मुझ जैसे पत्रकार और कवि के अनुरोध पर सामान्यजनों को भी उपकृत कर दिया करते थे।

■

व्यास, हिन्दी-हिन्दी चिल्लाने से हिन्दी नहीं चलेगी। उसके लिए प्रेमपूर्वक लगातार ठोस कार्य करने होंगे। तुम केन्द्रीय हिन्दी सलाहकार समिति का काम संभाल लो और जुट जाओ हिन्दी की सेवा में।

लालबहादुर भी यही चाहते हैं।

—जवाहरलाल नेहरू

गांधीजी को गोली लगी...और ?

हमेशा की तरह अपनी ड्यूटी के घंटे पूरे करके 'हिंदुस्तान टाइम्स' कार्यालय के क्लर्क घरों को वापस जाने लगे थे। छोकरे और चपरासी उनके अस्त-व्यस्त सामान को लापरवाही से अलमारियों में भर रहे थे। सदा की तरह बगल के शरणार्थी-परिवार की महिलाएं अपने सूखे-धोए वस्त्र बटोर रही थीं। वातावरण में कहीं कोई नवीनता नहीं थी। नीचे चलनेवाली रोटरी मशीन की तरह ही दिल्ली की दुनिया सदा की भांति तेजी से अपने ही चक्कर में घूम रही थी, घूम रही थी।

दूसरे डाक-संस्करण का अंतिम पृष्ठ मशीन पर छपने चला गया था। प्रधान संपादक घर जा चुके थे और उप-संपादक लोग फुरसत में थे कि घर-बाहर की बातों पर अब आराम से चर्चा की जाए।

मैंने आंख उठाकर देखा। सूर्य देवता पश्चिम की ओर जा चुके थे। याद आया कि आज बच्चे की दवा ले जानी है। अंगड़ाई लेते हुए मैंने शरीर को ढीला छोड़ा और उठकर केबिन से बाहर निकल आया।

देखता हूं कि जनरल मैनेजर श्री गिरिजानंदन साही लगभग दौड़ते हुए से हमारे संपादकीय विभाग की ओर चले आ रहे हैं।

मैंने अचकचाकर उनकी ओर देखा। वे बेहद घबराए हुए-से जान पड़े। उनकी मुद्रा मुझे कुछ अजीब-सी तो अवश्य लगी, पर मैंने उस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। मेरी अवस्था उस समय सचमुच उस खिलाड़ी लड़के की-सी थी, जो स्कूल से छुट्टी पाते ही हो-हो करके भाग छूटना चाहता है।

मेरे अज्ञान और लापरवाह मिजाज पर लगभग खीझते हुए/से वह बोले—"आपको पता है, गांधीजी को गोलियां लगी हैं ?"

अखबार के दफ्तर में काम करते-करते इन बम, गोली, दंगा, दुर्घटनाओं को सुनने और लिखने का इतना आदी हो जाना पड़ता है कि साधारणतया ये चीजें मन पर कोई असाधारण असर नहीं डालतीं। सोचा गोलियां उस वज्रप्राण गांधी पर क्या असर

करेंगी ? अभी-अभी एक बम भी तो उन पर फेंका गया था, जिसका धूमिल धमाका उनकी गर्दन तक को हिलाने में असमर्थ रहा।

मैंने उनसे सिर्फ 'अच्छा !' कहा। बात क्या हुई ? चलो, समाचार लेता चलूं, यह सोचकर उस टेलीप्रिंटर मशीन की ओर निकल गया, जहां दूर-दूर के समाचार स्वयं टाइप होकर मिनट-मिनट पर आते रहते हैं।

देखा मशीन को चारों तरफ से लोगों ने घेर रखा है। न कोई किसी से बोलता है, न कोई किसी से कुछ पूछता है। निस्तब्ध, अपलक, ठगे-से लोग जड़ मशीन की खड़-खड़ में मानो विधि का लेखा पढ़ रहे थे। प्रथम बार एक अज्ञात आशंका मेरे मन में बिजली की तरह कौंध गई। पर किसी से पूछने-कहने का साहस नहीं हुआ।

मैं टेलीप्रिंटर की तरफ तेजी से लपका। नियति के अमिट अक्षरों की तरह वह टप-टप देश के दुर्भाग्य को उगल रही थी। सहसा, वह झटका खाकर रुक गई। उपसंपादकों, रिपोर्टरों और दूसरे प्रेस कर्मचारियों की वे सूखी आंखें, जो अब तक मजबूती से काबू में रखी गई थीं, उनके बांध टूट गए। मेरे सिवाय उनकी आंखें उस मशीन की तरह ही टप-टप बरस उठीं।

मेरी लुटी-सी ढीठ आंखों को सब कुछ समझ लेने के बाद भी कुछ विश्वास-सा नहीं हुआ। भला, यह अनहोनी कहीं हो सकती थी ? मशीन गलत है। नियति को मशीन ने कभी पहचाना है।

मैंने खोए हुए मनुष्य की तरह 'हिंदुस्तान टाइम्स' के एक संपादक की ओर देखा, उनकी आंखें उफनकर टेसू के फूल जैसी हो रही थीं। वह अपने मन को व्यर्थ में काबू रखने की कोशिश कर रहे थे। पर जब मेरी मूढ़ता का उन्हें जवाब देना ही पड़ा तो वह मुश्किल से इतना ही कह पाए—"सब कुछ खत्म हो गया।"

जैसे किसी ने एकाएक कलेजे पर मुक्का मार दिया हो। जैसे कातिल की गोलियों के वे तीन वार देश की नहीं, हिंदुत्व की भी नहीं, गांधीजी की तो कदापि नहीं—मेरी अपनी छाती पर ही हुए हों। लगा कि धरती हिल उठी है, आसमान फटनेवाला है—एक भूचाल-सा आ गया। मेज, कुर्सी, दवात, टेलीफोन, मशीनें सब हिलती हुई-सी दिखाई दीं। जैसे दुनिया ही लड़खड़ा गई हो। क्या सचमुच सब कुछ समाप्त हो गया ? न हुआ हो तो अब हो जाएगा।

अखबार की नौकरी बुरी होती है। मैं केवल कवि रहता तो ठीक था। पर केवल कवि रहता तो गृहस्थी कैसे चलती ? जग-विरोध को झेलते हुए तपस्या की अग्नि में से कुंदन बनकर निकलने लायक छाती मेरी कहां थी ?

भावावेश की दुनिया में दौड़ते हुए अपने चंचल मन को मुझे लगाम देनी पड़ी। अखबार में किसी के मरने पर शोक नहीं मनाया जाता। किसी के मातम पर यहां की रोटरी नहीं रुकती। जब-जब बाहर की दुनिया के हाथ भय, आशंका, क्रोध, रुदन और आपदाओं से सुन्न होकर रुक जाते हैं, अखबार की दुनिया के हाथ तब-तब दूनी तेजी से काम में लग जाते हैं।

कैसा घर, कैसी दवा ? मैं वापस अपने संपादकीय विभाग में लौट आया कि देखूं हमारे लोग कैसे इस खबर को अखबार में दे रहे हैं ?

लौटकर क्या देखता हूं कि उन पुराने और अपने फन में माहिर उप-संपादकों से, जो सबसे अधिक राजनीतिक बहसों में भाग लेते हैं और जो सबसे अधिक अपने को निस्पृह बुद्धिवादी घोषित करते हैं, उनसे गांधीजी की मृत्यु का समाचार नहीं लिखा जा रहा। लिखते हैं, काटते हैं। काटते हैं, लिखते हैं। आंखों में जैसे काले बादल उमड़ आए हों। कुछ सूझ नहीं रहा। कुछ समझ में नहीं आ रहा। आंखों में जैसे अंधेरा छा गया हो—क्या लिखें और क्या न लिखें ? जैसे-तैसे तीन-चार व्यक्तियों ने मिल-जुलकर समाचार बनाया।

अगर कोई और दिन होता तो बूढ़े फोरमैन स्व. जोधासिंह से संपादकों का युद्ध छिड़ गया होता। भला छः बजे के बाद की खबर क्या कहीं मशीन रोककर फिर से 'सैट' की जा सकती है ? लेकिन बूढ़े फोरमैन में आज जवानों का-सा जोश आ गया था। दौड़कर खुद चलती रोटरी को रुकवाया। खुद हाथ से कंपोज करने बैठ गए। बोले—"गांधीजी क्या बार-बार मरने आएंगे ?" सचमुच नहीं, जैसे कई बिच्छुओं ने मुझे एक साथ डंकित कर डाला है। मैंने अपने आपको धिक्कारा—अभागे ! आज तू प्रार्थना-सभा में क्यों नहीं पहुंचा ? अंदर के कवि ने कल्पना करते हुए कहा—क्या ही अच्छा होता कि गोलियों की वह बाढ़ तूने अपने शरीर पर ओट-ली होती और तेरे प्राण बापू की गोदी में हंसते-हंसते निकल गए होते।

कल्पना कीजिए उस व्यक्ति की जो कभी नियमित रूप से बापू के प्रार्थना-प्रवचनों में जाता रहा हो और जिससे आज भी कुछ ही देर पूर्व प्रार्थना-सभा में चलने का आग्रह किया गया हो, और वह अपने इष्ट देव को खोकर भी आज यह लेख लिखने को बचा बैठा हो। वह अपने इस प्रमाद पर खुद ही डूब न मरे यही क्या कम है ?

वार-वार अपनी भूल से उत्पन्न पछतावे की चोट मेरे मस्तिष्क पर घन की तरह गिरने लगी। स्वप्न की तरह प्रार्थना-सभा का वह दृश्य आंखों में तैर गया, जब मैं बापू से कुछ ही हाथ दूर बैठा, उनके प्रवचन 'हिंदुस्तान' के लिए नोट कर रहा था। प्रवचन समाप्त होते ही बापू मेरी तरफ आकृष्ट हुए। पूछा—"आज प्रभुदास (गांधी) नहीं आया ?"

मैंने उत्तर दिया—"वापू, आज मेरी ड्यूटी है।

वापू बोले, "कहीं कुछ छूट जाए तो मनु से मिला लेना।"

मैंने स्वीकृति में सिर झुकाया कि तभी किसी ने पीछे से कहा—

"बापूजी, ये बड़े विनोदी कवि हैं," और इस अधूरे वाक्य की पूर्ति गांधीजी ने खिलखिलाते हुए इस तरह की—"मुझसे भी ज्यादा !" उनका निश्छल हास्य प्रार्थना-मंच पर फैल गया और मैंने उनके चरण पकड़ लिए।

अंतर-पीड़ा से मेरे मन-प्राण छटपटाने लगे—हतभाग्य ! जा तू अंतिम दर्शनों के सौभाग्य से वंचित रहा।

मुझसे अपने स्थान पर नहीं बैठा गया। लड़खड़ाता हुआ मैं बिरला हाउस की ओर चला। बाहर आकर देखा—मैं अपने दुख में अकेला न था। हजारों डबडबाई, पथराई आंखें मेरे साथ चल रही थीं। सबके चेहरे मुरझाए हुए थे। सबके कलेजे मुंह को आ रहे थे। सब भविष्य की दुःशंकाओं से भयभीत थे। सबकी बुद्धि ने जवाब दे दिया था। गुमसुम। जैसे असंख्य चींटियों की कतारें जा रही हों—एक के पीछे एक खोए हुए-से, डोर में बंधे हुए-से

खिंचे चले जा रहे थे।

चलते-चलते मेरी संज्ञा लौट आई। सोचा, अब क्या होगा ? क्या अंग्रेज फिर से हिंदुस्तान में लौटेंगे ? क्या दिल्ली के मुसलमान कल का सवेरा देख सकेंगे ? क्या भारत की भावुक जनता इस सदमे को सहकर अपना विवेक खो न देगी ?

कि दुःख की एक लहर ने सभी उड़ते हुए विचारों के पंख काट दिए। हाय ! बापू, तुमने तो 125 वर्ष जीने का विश्वास दिलाया था। हाय ! वह गोरे-भूरे चरण, घुटनों तक की छोटी-मोटी धोती, सैनिकों जैसी वज्र छाती, हृदय के मर्म को छूती हुई-सी आंखें, सब कुछ सुन-समझ लेनेवाले लंबे ऊंचे कान, वह लंबी सुडौल नासिका, वह उन्नत ललाट, वह अमृत झरते ओठ, वह मुक्त हास्य—क्या अब कभी देखने को नहीं मिलेंगे ? रो ! रो ! मेरे दुर्बल मन, और जी भरकर रो ! आज देश का भाग्य लुट गया। आज स्वतंत्रता का सुहाग पुछ गया। आज हम सब अनाथ हो गए। आह हमारे बापू हमें छोड़कर चले गए।

कि तभी दुख की गहन सरिता क्रोध की चट्टान से जाकर टकरा गई। कौन है यह अविवेकी, जिसने बापू पर यों हाथ उठाया ? अहिंसा के देवता को समाप्त करने के लिए कौन है जो हिंसा का वाहन बनने को तैयार हुआ ? किसके धड़ पर आज दो सिर उगे हैं ? किसने आज जनता और सरकार दोनों को खुली चुनौती दी है ? किसने गांधी को मारकर खुद अमर हो जाने का सपना देखा है ? कौन है जो पुण्य के रास्ते से गांधी को हटाकर पाप का आह्वान कर रहा है ? क्या वह अकेला है ? नहीं। क्या ऐसे बहुत हैं ? नहीं। तो यह सब हुआ क्यों, कैसे, आखिर किसलिए ?

आवेश से मेरे पैर लड़खड़ा गए। फर्लांगों का रास्ता मुझसे पैदल पार नहीं किया गया। सवारी पकड़कर जैसे-तैसे मैं बिरला हाउस पहुंचा।

क्या देखता हूं कि उस छोटे-से प्रासाद को अपने अंक में भर लेने के लिए एक विशाल जनसमूह चारों ओर से उमड़ आया है। सेना और पुलिस भीड़ को बार-बार पीछे ठेल रही है। पर जैसे समुद्र में पिछली लहर आगे की लहर को विलीन हुई देखकर और जोश से ऊंची होकर बढ़ती है, वैसे ही जनता की बाढ़ रोके नहीं रुक रही थी। आज क्या लोगों के मन काबू में थे, जो सेना और पुलिस उनके तन को काबू में रख पाती ?

हारकर अधिकारियों ने बंधन ढीले कर दिए। मैं दीवार और झाड़ियां लांघकर पहले ही अंदर दाखिल हो चुका था। अकुलाई हुई जनता बिरला हाउस की खिड़की-खिड़की पर अपने प्यारे बापू को खोज रही थी।

लंबे-लंबे कदम बढ़ाते, रूमाल से आंखें पोंछते नेहरूजी आए। खोए-से मौलाना आजाद पहुंचे। लार्ड माउंटबेटन, विदेशी राजदूत, छोटे-बड़े सैकड़ों नेता, बापू के आश्रमवासी, कोई श्रद्धा से विनत, कोई परिस्थिति से गंभीर, कोई रोता, कोई बिलखता, सब वहां पहुंच रहे थे। पत्थरों को पिघलते हुए लोगों ने सुना है, मैंने उस दिन देखा, बड़े-बड़े रौबीले रो रहे थे, संगदिल सुबक रहे थे।

दर्शनों के लिए बापू का शव बाहर रखा गया। कतार में लगे हुए मैंने उन्हें अंतिम प्रणाम किया। पलक जो उठे तो देखकर आश्चर्य हुआ। कौन कहता है कि बापू मर गए। सचमुच उनके मुख पर मृत्यु का कोई निशान नहीं था। एक अमृत आभा उनके मुख-मंडल

पर खेल रही थी। लगता था जैसे गहरी नींद में कोई सुख-स्वप्न देख रहे हों।

पर स्वप्न स्वप्न ही था। बापू अनंत निद्रा में लीन हो चुके थे। वह इस जगती के कलुष कोलाहल से दूर, बहुत दूर जा चुके थे। वह उस देश में पहुंच गए थे जहां शोक नहीं और आह नहीं। अब दिल्ली के कुछ लाख क्या, हिंदुस्तान के करोड़ों लोग भी रो-रोकर उन्हें वापस नहीं ला सकते।

पर हिंदुस्तान के लोगों को, उन्हें यदि वापस लाना होता तो खोने ही क्यों देते ? कि तभी वैराग्य भावना ने मुझसे कहा—यह जीवन और मरण क्या आदमी के अपने वश की बात है ? जो आता है, उसे जाना ही होता है। गांधीजी भी यहां सदा कैसे रह सकते थे ?

चेतना बोली—नहीं, गांधीजी हिंदुस्तान से कभी नहीं जा सकते। दुनिया युगों-युगों तक उनके स्मरण मात्र से धन्य होती रहेगी। तभी मेरे कवि ने मुझसे कहा—"हजारों वर्ष में ऐसा मसीहा एक आया था, कि जिसने आदमी को आदमी बनना सिखाया था।"

■

'ब्रज विभव' क्या, यह तो ब्रज का संपूर्ण दर्शन है।

—बाबा ठाकुरदास
(चंद्र सरोवर)

व्यासजी का संपूर्ण व्यक्तित्व और कृतित्व हर्षवर्द्धक और प्रेरणादायक है। हिंदी इनकी साधना भी है और सिद्धि भी। इनके साथ गुजारा हुआ प्रत्येक क्षण वचन-विदग्धता और ऐसे आनंद के साथ बीतता है जिसकी स्मृति भुलाए नहीं भूलती। प्राचीन साहित्य, जिसमें हिंदी और उर्दू दोनों शामिल हैं, के व्यासजी अमर कोश हैं। कहावतों और संस्मरणों का तो इनके पास अटूट खजाना है। संस्मरण तो कोई इनसे सुने। ऐसे विरल व्यक्तित्व के धनी हैं हमारे व्यासजी !

—गंगाशरण सिंह *(गंगा बाबू)*

दिल्ली में दंगे : बाल-बाल बचा

भर भादों की अंधियारी रैन। राजधानी में कर्फ्यू पास जेब में होने पर भी रात में तो क्या, दिन में भी घर से बाहर निकलना खतरे से खाली नहीं। दाहिने लाश बाएं लाश। फेंकी हुई ईंटों और फोड़ी गई बोतलों से बच-बचकर निकलना दूभर। नाके-नाके पर पुलिस के पहरे। जहां-तहां सैनिक टुकड़ियों के जमाव। अफवाहें और अफवाहें। कल रात वहां हुआ। आज रात वहां होगा। गलियों पर चढ़ गए लोहे के फाटक। अलग-अलग मुहल्लों में अलग-अलग संप्रदाय के लोगों की सशस्त्र गश्त। किसी के हाथ में बंदूक तो किसी के में पिस्तौल। किसी के हाथ में लोहे की छड़ तो किसी के हाथ में डंडा। किसी को कुछ नहीं मिला तो कंधे पर खाट की पाटी। अधिकतर लोगों के सिर पर मुंडासे तो कुछ के सिर पर लोहे के टोप। दिन में बचने और हमले करने की योजनाएं। रात को इधर से "हर हर महादेव" तथा उधर से "अल्लाहो अकबर" के गगनभेदी नारे। हिन्दू-मुस्लिम मिल्लत का आदर्श नगर दिल्ली उन दिनों एक-दूसरे के खून का प्यासा हो गया था।

बात आजादी के बाद दिल्ली में होनेवाले घृणित सांप्रदायिक दंगों की है। मैं उन दिनों मुस्लिम बस्ती रोदगरान को छोड़कर हिन्दू बस्ती बाजार सीताराम के लाल दरवाजे में आ टिका था। काम दैनिक हिन्दुस्तान में करता था। 'हिन्दुस्तान' के कर्मचारी और संपादक जो जहां बसे थे, वे वहीं घिर गए थे। मुट्ठी-भर कर्मचारी और केवल चार संपादक कार्यालय में ही रोक लिए गए थे। उनमें से मैं भी एक था। अखबारों के बंडल जिन गाड़ियों में जाते या जिन मशीनमैनों या कंपोजीटरों को बुलाना आवश्यक होता, उन साहसी और वफादार लोगों को लाने-छोड़ने के लिए जो कारें भेजी जातीं, उनमें सशस्त्र गार्ड रायफल ताने साथ चलते। कभी-कभी तो इन गाड़ियों को लाशों के ऊपर होकर गुजरना पड़ता। दिल्ली, नई दिल्ली और बाहरी बस्तियों में भयंकर भय का माहौल था। खबरें मिल रही थीं कि पाकिस्तान जाने से बच गई बलूची पल्टन आज रात को हमला कर देगी या कल रात को।

दिल्ली के एक बड़े मुसलमान अफसर के साथ नेहरूजी दंगाग्रस्त क्षेत्रों में अकेले निर्भय होकर दौरे कर रहे थे। कनाट प्लेस में उन्होंने एक दुकान लुटती देखी तो कार से कूद पड़े।

निहत्थे नेहरू सशस्त्र लुटेरों में से एक की तलवार छीनकर भिड़ गए। लुटेरे भाग गए। कानाफूसी यह भी थी कि उप-प्रधान एवं गृहमंत्री सरदार पटेल का हाथ हिन्दुओं की पीठ पर है। इन खबरों से निकृष्ट दंगाइयों के हौसले भी बुलंद हो गए थे और मुसलमानों की जान सांसत में थी।

मैं तीन दिनों से दैनिक हिन्दुस्तान में ही रुका पड़ा था। घर में पत्नी अकेली दो बच्चों के साथ मेरे घर न पहुंचने के कारण तरह-तरह की आशंकाओं से ग्रस्त थीं। चौथे दिन श्रीकृष्ण जन्माष्टमी थी। रात को ग्यारह बजे जब प्रभात संस्करण रोटरी पर छपने लगा तो मैंने निश्चय किया कि आज तो व्रत घर ही खोलना है। मैंने साथियों को बताया नहीं। अधिकारियों से अनुमति नहीं ली। तीन-चार अखबारों की प्रतियों को मोड़कर उन्हें रौल जैसा बना लिया। प्रेसवाले गेट से नीचे उतरा तो सशस्त्र संतरियों ने टोका। मैंने बताया–"कहीं नहीं। सामने रेस्टोरेंट खुला है। अभी चाय पीकर आता हूं।" मैं चल दिया। नई दिल्ली अपेक्षाकृत निरापद थी। मिन्टो रोड के पुल तक पहुंच जाने के बाद मैंने सोचा कि अजमेरी द्वार के रास्ते से चलूं या रामलीला मैदान से बाल्मीकि मंदिर पार करता हुआ गलियों-गलियों लाल दरवाजे के द्वार तक पहुंच जाऊं। लेकिन अंधेरी रात में गलियों से गुजरना मुझे उचित नहीं लगा। मैं अजमेरी गेटवाली सड़क पर चल दिया। अजमेरी गेट के बाहर चौराहे पर सैनिकों की एक टुकड़ी तैनात थी। उसके एक हवलदार ने मुझे ललकारा। मै जर्नलिस्ट-जर्नलिस्ट पुकारता और हाथ ऊंचा करके कर्फ्यू पास लहराता हुआ जब सैनिक टुकड़ी के पास पहुंचा तो मुझे बताया गया कि अजमेरी गेट से काजी हौज तक खतरा है। नहीं जा सकते।

गिड़गिड़ाकर व्रत खोलने की बात पर बड़ा अफसर पसीज गया। उसने कहा–"अपनी रिस्क पर जाना चाहो तो जाओ। हम जाने को नहीं कह सकते।"

मैं मन ही मन "जय नंदलाला ! जय गोपाला !" भजता हुआ भाग लिया। अजमेरी गेट और काजी हौज के बीच में एक तांगा स्टैंड है। उससे पहले नीचे मुसलमानों की दुकानें और उनके ऊपर दंगाइयों का अड्डा था। वे खिड़कियों से झांक रहे थे। उन्होंने दूर से ही मुझे आते हुए देख लिया। जैसे ही मैं उनके अड्डे के पास पहुंचा तो पहले मुझे जीने में से लोगों के उतरने की आवाजें सुनाई दीं और फिर वे जीना खोलकर सड़क पर आते दिखाई दिए। पहले तो मन में आया कि स्पार लगाकर भाग लूं, लेकिन डर के मारे पैर भागना तो दूर चलने को भी तैयार दिखाई नहीं दिए। मैंने सुना था और छापा भी था कि अक्सर भागते हुओं के ही छुरे घोंपे जाते हैं कि तभी किसी अज्ञात प्रेरणा ने मुझमें साहस का संचार किया। मैं भागा नहीं रुक गया। एक सैनिक की तरह एक पैर आगे बढ़ाकर अखबार की रौल को तमंचे की तरह तानकर जोर से चिल्लाया–"होशियार !"

हमलावरों ने समझा कि इसके हाथ में कोई स्वचालित हथियार है। अगर एक गोली भी छूटी तो अजमेरी गेट और क़ाजी हौज से पुलिस तथा सेना की टुकड़ियां पलक झपकते आ जाएंगी और तब अड्डे का सफाया हो जाएगा। नंदलाल की कृपा ही कहो कि दंगाई जिस तेजी से आए थे, उसी तेजी से जीने का दरवाजा बंद करके ऊपर चढ़ गए। मेरी जान में जान आई। पैरों ने कहा कि अब हम तुम्हारे साथ हैं। मैं पत्ता तोड़ भागा। लेकिन काजी हौज पर पुलिस ने पकड़ लिया। थाने में ले गई। सौभाग्य से थानेदार परिचित निकल

आया। उसने दो सिपाही साथ कर दिए और ऑर्डर दिया कि इन्हें लाल दरवाजे तक छोड़ आओ। मुश्किल से नाम बताने पर फाटक की खिड़की खुली। गली आदमियों से भरी हुई थी। छतों पर पहरे लग रहे थे। घर आया तो लगा कि पत्नी के प्राण लौट आए हैं। चार वर्ष की बेटी पुष्पा खिल उठी। कुछ महीनों का गोविंद जो रो रहा था, मुझे देखते ही चुप हो गया।

उस रात जैसी जन्माष्टमी लाल दरवाजे में शायद ही कभी मनी हो। बड़े-बड़े घंटे-घड़ियाल और शंख बजने लगे। दो-एक बंदूकें भी दागी गईं। जन्माष्टमी मनाने में उत्साह से अधिक डर ही इस रात काम कर रहा था। कारण कि ठीक मेरे मकान के पीछे मुसलमानों की बस्ती थी। उन्होंने भी डरकर जोर-जोर से 'अल्लाहो अकबर' के नारे बुलंद कर दिए। इधर इनको लगा कि आज रात अवश्य हमला हो जाएगा। मोहल्ले की सभी औरतों और बच्चों को इकट्ठा करके लाला हरिश्चंद्र की हवेली में बंद करके ऊपर-नीचे पहरे लगा दिए। मेरी पत्नी ने एक तकिए में जो छोटे-मोटे जेवर और थोड़ी-सी नकदी थी उनको भर लिया। गोविंद को गोद में लिया और पुष्पा का हाथ पकड़ा। तकिया बगल में लगाया और बोलीं "चलो यहां से।"

मैंने कहा—"तुम्हें जाना है तो जाओ, मैं तीन रातों का जागा हुआ हूं। सोऊंगा। कहीं कोई हमला-वमला नहीं होगा।" अजीब नजारा था। मेरा मोटा मकानदार जब सिर पर कपड़ा लपेटकर जंग के लिए रवाना होने लगा तो उसकी मोटी और नाटी ललाइन ने कद्दू काटनेवाली एक बड़ी-सी छुरी उसके हाथ में थमा दी। कहा—"खाली हाथ कहां जा रहे हो ?" लालाजी ने वांस का एक टोंटा अपने हाथ में ले लिया और रक्षक दल में शामिल होने घर से निकल पड़े। मैं जब सुवह देर से सोकर उठा तो देखा पत्नी तकिए और बच्चों के साथ सकुशल वापस आ गई हैं। मुहल्ले पर कोई हमला नहीं हुआ। हां, मकान से बाहर निकलकर यह जरूर सुना कि तांगा स्टैंड के बगलवाले अड्डे का रात-रात में सफाया हो गया है।

टूटी कहां कमंद

भाग्य पर भरोसा न रखते हुए भी कभी-कभी अचानक ऐसी घटनाएं घट जाती हैं कि बाबा तुलसीदास याद आ जाते हैं–

सुनहु भरत भावी प्रबल, कहेहु मुनि नाथ।
हानि-लाभ जीवन-मरण यश-अपयश विधि हाथ।।

इस भावी या होनहार ने मुझे भी कई बार ऐसे झटके दिए हैं कि मैं उन्हें अपनी असावधानी, आलस्य या प्रमाद मानकर चुपचाप मन मसोसकर रह गया। चलते-चलते किसी ने पीछे से मेरे पांवों में ऐसी अड़ंगी मारी है कि मंजिल के निकट आते-आते मैं लड़खड़ा कर गिर गया हूं। सपने तो चूर नहीं हुए और न हिम्मत ही पस्त हुई, लेकिन यह सोचने पर अवश्य विवश होना पड़ा है कि क्या यह वही है जिसे किस्मत का करिश्मा कहते हैं? क्या होनी इसी का नाम है जिससे पुरुषार्थ प्रायः परास्त हो जाया करता है ? जो भी हो, यहां कुछ ऐसी घटनाओं का जिक्र करूंगा जिसके बारे में एक उर्दू शायर लिख गया है–

किस्मत की बात देखिए, टूटी कहां कमंद,
दो-चार हाथ जबकि लबे-बाम रह गया।

घटना उस समय की है जब मैं दैनिक हिन्दुस्तान मे मुख्य उप-संपादक के पद पर कार्य कर रहा था और मुझे पद्मश्री भी प्राप्त हो गई थी। तत्कालीन केन्द्रीय मंत्री श्री राजबहादुर ने मेरे संबंध में बाबू घनश्यामदास बिरला से कुछ बातें कीं और बिरलाजी ने मुझे अपने निवास पर बुलाया। वह बड़े प्रेम से मुझसे मिले। हिन्दुस्तान में मैं क्या-क्या काम करता हूं, इसकी जानकारी प्राप्त की। यह भी पूछा कि वेतन के रूप में मुझे इस समय क्या मिल रहा है ? सभी जानकारियां प्राप्त करने के बाद उन्होंने पूछा कि मुझे कोई असुविधा तो नहीं है ?

मैंने बिरलाजी को बताया कि मैं अपने दैनिक पत्र में अनुवाद का नहीं, अधिकतर लेखन और संपादन का ही काम करता हूं। कुछ स्तम्भ मेरे पास हैं। कभी-कभी संपादकीय टिप्पणियां भी लिखनी होती हैं। महत्त्वपूर्ण लोग भी अक्सर मिलने आ जाया करते हैं। इसलिए यदि मेरे बैठने की अलग व्यवस्था हो सके तो मैं अपने कार्यों को अधिक निश्चिंतता से कर सकता हूं। मेरे कई केन्द्रीय मंत्रियों, विभिन्न प्रदेशों के राजपुरुषों से घनिष्ठ संबंध हैं। यदि दफ्तर की मोटर मुझे समय-समय पर मिल सके तो शायद मैं भी वह भूमिका निबाह सकूं जो हिन्दुस्तान टाइम्स में लाला दुर्गादास, संथानम और कृपानिधि निबाह रहे हैं। मैं उन दिनों पूरे फार्म में था। व्यक्तित्व भी ठीक था। कांग्रेसी सर्किल में मेरी अच्छी पैठ थी। उन दिनों कांग्रेस का बड़ा दबदबा था। बिरलाजी को बात जंच गई और मैं उनके मन पर चढ़ गया। उन्होंने मुझसे कहा कि मिस्टर साही (हिन्दुस्तान टाइम्स के तत्कालीन महाप्रबंधक) से मिलिए और कहिए कि मुझसे बात करें। ये छोटी-छोटी बातें हैं, हो जाएंगी।

उस समय दैनिक हिन्दुस्तान में हम खादीधारी कांग्रेसियों की एक अच्छी मित्र-मंडली थी। समान विचारधारा और लगभग एक-सी जीवन पद्धति होने के कारण हम सबमें खूब पटती थी। श्री मुकुटबिहारी वर्मा संपादक थे। श्री शोभालाल गुप्त सहसंपादक थे। मुकुटजी के मामा श्री शंकरलाल वर्मा डाक पृष्ठों के इंचार्ज हुआ करते थे। ये चारों ही मुझसे सीनियर थे, लेकिन सबका मुझ पर बड़ा स्नेह था। पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा दफ्तरी मामलों में प्रायः मेरी बात मान लिया करते थे। हममें से किसी की बात किसी से छिपी नहीं थी। इसलिए बिरला हाउस से लौटकर मैंने यह उचित समझा कि उक्त भेंट की बात साहीजी से मिलने से पहले मुकुटजी को बता दी जाए और उनका परामर्श ले लिया जाए। लेकिन मैं यह भूल गया कि मुकुटजी मेरे हितैषी ही नहीं, पत्र के संपादक भी हैं। मेरे हित से पहले उन्हें संपादकीय विभाग का और अपने हितों का भी ख्याल रखना पड़ता है। मेरी बातें सुनकर न जाने उन्हें क्या लगा कि मेरे उत्साह को उन्होंने एकदम ठंडा कर दिया। मैं फूला-फूला आया था, लेकिन मन मुरझा गया। मुकुटजी ने रुखाई से कहा कि ये आपकी और बिरलाजी की बातें हैं, मैं इस बारे में क्या कह सकता हूं ? अखबार उनका है, वह किसी को कुछ बनाएं और किसी को कुछ दें, इसमें मेरी क्या राय हो सकती है ? आपसे उन्होंने साहीजी से मिलने को कहा है, मिल लीजिए।

मुझे इस व्यवहार की आशा नहीं थी। मैं सोचता था कि मुकुटजी इस समाचार से उल्लसित हो जाएंगे और संपादक के नाते अपने एक प्रिय साथी के उत्कर्ष में सहायक सिद्ध होंगे। लेकिन उनकी इस ठंडी बातचीत और अपने तईं विशेष सावधानी और मेरे लिए एक झटके में ही असंपृक्त या कहूं विलगाव का भाव मुझे बड़ा अजीब लगा। मेरे उत्साह के पंख कट गए। जोश पर पानी पड़ गया। पहले तो मैंने सोचा कि जब संपादक ही पक्ष में नहीं हैं तो जनरल मैनेजर क्या करेंगे ? लेकिन फिर यह सोचकर कि बिरलाजी ने तो संपादक की बजाय महाप्रबंधक से मिलने को कहा है, मैं द्वार खोलकर साहीजी के कमरे में प्रविष्ट हो गया।

श्री गिरिजानंदन साही, हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक और बिरला समूह के हिन्दी पत्रों की प्रकाशन संस्थाओं के मामलों में घनश्यामदासजी के सलाहकार श्री पारसनाथ सिंह के

भानजे थे। वह मुझसे बड़ा स्नेह करते थे। इसी कारण साहीजी भी मुझसे मित्र-भाव ही रखा करते थे। जब मैं दैनिक हिन्दुस्तान में आया तब साहीजी विज्ञापन विभाग में असिस्टैंट के रूप में कार्य किया करते थे। हम लोग साथ चाय पीते और सिनेमा व सांस्कृतिक कार्यक्रमों में भी साथ जाते और अक्सर दफ्तर व राजनीति के बारे में विचार-विनिमय किया करते थे। उन्हीं के प्रयत्नों से मुझे दुगनी-तिगुनी वेतन वृद्धि भी मिली। उन्होंने ही मुझे मुख्य उप संपादक तथा सहसंपादक भी बनाया। जब मुझे पद्श्री मिली तो उन्होंने एक बड़े होटल में बड़े लोगों के साथ डिनर भी दिया। जब संपादकीय विभाग ने मेरी पद्मश्री का जश्न मनाया तो साहीजी भी उसमें शामिल हुए और उन्होंने घोषणा की कि दैनिक हिन्दुस्तान को अब 'बी' श्रेणी में लेने के मार्ग में कोई बाधा नहीं है। कुछ दिनों बाद यह घोषणा कार्यान्वित भी हुई और सभी साथियों के वेतनमान सुधर गए। लेकिन ऐसे साहीजी ने भी बिरलाजी से हुई मेरी बातचीत को पसंद नहीं किया। शायद ही किसी संस्थान का मैनेजर ऐसा हो जो अपने किसी आदमी का डायरेक्टरों से मेल-मिलाप बर्दाश्त कर सके। वह मुझे अक्सर 'व्यासजी' या 'कहो मित्र' कहा करते थे। लेकिन उस दिन रुख बदलकर बोले, "मिस्टर व्यास, मंत्रियों से दबाव डलवाकर अक्सर लोग डायरेक्टरों से मिला करते हैं। डायरेक्टर लोग भी उन्हें खुश करने के लिए तरह-तरह की बातें कर लिया करते हैं। मुझे मालूम नहीं कि बिरलाजी से आपकी क्या बातचीत हुई ? लेकिन कंपनी तो मुझे चलानी है। मुझे दफ्तर के संतुलन को देखना होता है। सीनियरिटी वगैरह के कई क्वैश्चन ऐसे हैं, जिन पर ध्यान देना होता है। ठीक है, बाबू अगर चाहेंगे तो मैं उनसे बात कर लूंगा।"

गुस्सा तो मुझे बहुत आया कि इन्हें बता दूं कि दफ्तर का संतुलन क्या है और किस तरह सिफारिशों के आधार पर जूनियर समझे जानेवाले निकम्मे लोग रातों-रात डायरेक्टरों के इशारों से ऊंचे से ऊंचे पदों पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। जनाब आप खुद इसकी जीती-जागती मिसाल हैं। लेकिन गुस्से को पीकर उठ आया। इन दोनों मुलाकातों ने मुझमें विरक्ति पैदा कर दी। जिन्हें अपना अभिन्न समझता था, जब उनका यह हाल है, तो कोशिश बेकार है। मैं चुप होकर बैठ गया। लेकिन आज सोचता हूं कि यदि इन मुलाकातों की सूचना मैंने बिरलाजी को समय पर दे दी होती और राजबहादुरजी को भी बिरलाजी से भेंट की बात बताकर एक बार फिर मिलने के लिए प्रेरित कर दिया होता तो स्थिति कुछ और होती। कारण कि साहीजी यानी मैनेजमेंट मुकुटजी से प्रसन्न नहीं था। देवदासजी भी उनके स्थान पर एक बार कविवर सोहनलाल द्विवेदीजी को आने के लिए कह चुके थे और दूसरी बार मुझे पराड़करजी से बात करने के लिए बनारस की टिकट रिजर्व करा चुके थे। तीसरी बार एक ऐसा कांड हुआ कि देवदासजी बेहद नाराज हो उठे और उन्होंने मुकुटजी को त्यागपत्र देने के लिए भी कहलवा दिया। लेकिन पिछले दो मामलों में मैंने श्री मार्तण्ड उपाध्याय और श्री शोभालाल गुप्त के सहयोग से मुकुटजी को असमय हिन्दुस्तान से न निकाले जाने में जो बन सकता था, किया। आखिर, जब शोभालालजी ने भूतपूर्व रक्षामंत्री श्री कृष्ण मेनन के पक्ष में संपादकीय लिखा तो लोगों की आम राय यह है कि उसी के कारण शोभालालजी और मुकुटजी को ससम्मान विदा कर दिया गया।

आज सोचता हूं कि यदि बिरलाजी के आश्वासन कार्यान्वित हो गए होते तो कदाचित्

श्री हरिकृष्ण त्रिवेदी के स्थान पर मेरा नाम ही कुछ दिनों तक स्थानापन्न संपादक के रूप में छपता और तब शायद श्री रतनलाल जोशी को बाहर से बुलाकर संपादक बनाने की आवश्यकता नहीं रह जाती। लेकिन होता तो तब जब इसे होना होता। अगर होना होता तो हाथ में आए इस प्रबल सूत्र को मैं क्यों छोड़ देता ? यदि होना होता तो क्यों भरी जवानी में मेरी आंखें खराब हो जातीं ? यदि होता तो अन्य अनेक कार्यों की तरह मैं इसमें भी पिल पड़ता। केवल राजबहादुरजी ही नहीं, अगर मैं चाहता तो इस कार्य के लिए मैं तत्कालीन गृहमंत्री और बाद में प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री का उपयोग भी आसानी से कर सकता था। परंतु उस समय मेरे मन में पत्रकारिता और जीवन के ऐसे मानदण्ड घर कर गए कि जहां व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए सिफारिशें और जोड़-तोड़ करना सही नहीं माना जाता। लेकिन–"अब पछताए होत का, जब चिड़ियां चुग गईं खेत।"

[2]

मैंने कोई पच्चीस साल तक दैनिक हिन्दुस्तान में निरन्तर 'यत्र-तत्र-सर्वत्र' स्तम्भ लिखा। उस पर मेरा नाम नहीं छपता था, लेकिन साहित्य विशेषकर हास्य से जुड़े हुए पाठक जानते थे कि इसका लेखक मैं ही हूं। फिर भी बहुतों को इसके लेखक का अता-पता नहीं था। उनमें से अनेक पत्र लिख-लिखकर पूछा भी करते थे। उन्हें मैं अपने स्तम्भ के द्वारा ही प्रायः बहकाता और टरकाता रहता था। इससे उनकी जिज्ञासा और भी बढ़ जाती थी। कुछ तो इसके लिए दिल्ली की दौड़ भी लगाते थे। इनमें मंत्री, संसद-सदस्य, विधायक और पुराने पाठकों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी थे जो मुझे महान पंडित, बड़ा भारी राजनीतिज्ञ, छलिया, रसिक और हरफनमौला ही नहीं, भविष्यवक्ता, ज्योतिषी भी मानते थे। आए दिन सुदूर नगरों से ही नहीं, कभी-कभी तो ठेठ देहात से भी मेरे 'दर्शनों' को पहुंचा करते थे। इनकी गुणग्राहकता देखिए कि कभी खाली हाथ नहीं आते थे। कुछ नहीं तो पान का जोड़ा और चंद फूलों की पत्तियां तो होती ही थीं। लेकिन एक दिन एक विचित्र व्यक्ति से साक्षात्कार हुआ। कोई तीस के आसपास उसकी उम्र रही होगी। लंबा छरहरा, गौरवर्ण और धोती-कुर्ता पहने हुए। पूछा–"यत्र-तत्र के लेखक आप ही हैं ?" मैं उस समय यत्र-तत्र-सर्वत्र ही लिख रहा था। उसके लिखते कोई मुझे डिस्टर्ब करे, यह अच्छा नहीं लगता था। मैंने जरा-सा सिर उठाया और अनमनेपन से फुसफुसाया–"कहिए !" युवक मेरी मेज के पास खड़ा था। खड़े-खड़े ही बोला–"मैं आपसे ही मिलने आया हूं।" मैंने तत्काल उत्तर न देकर कॉलम की अन्तिम पंक्तियां पूरी कीं और युवक की ओर ध्यान से देखा। एक ताजगी, एक विश्वास और उत्साह उसके चेहरे पर झलक रहा था। उसने कहा–"मैं ज्योतिषी हूं। आपको कुछ बताने आया हूं।" यत्र-तत्र-सर्वत्र ही नहीं, अपना निबंध या कविता लिखने के बाद मैं प्रायः मूड में आ जाता हूं। फुर्सत की सांस लेते ही मेरा मन उल्लास से भर जाता है और चाहता हूं कि उस समय मुझसे कोई बात करे और मेरी कृति को रुचि से सुने। और कुछ नहीं तो दिल्लगी तो होनी ही चाहिए। मुझे लगा कि आगंतुक दिलचस्प आदमी है। उसे अब

कुर्सी पर बिठाया और छेड़ा—"आपकी उम्र तो ज्योतिषी होने लायक नहीं।" उसने मेरी वचन विदग्धता पर ध्यान नहीं दिया और बोला—"मुझे गणेशजी सिद्ध हैं। ध्यान करते ही वह मेरे अंगूठे पर आ जाते हैं और जो मैं पूछता हूं बताने लगते हैं।" अचानक ही इस नए उम्र के ज्यौतिषवाले की मरम्मत करने के लिए मेरी जीभ में सुरसुरी उठने लगी। लेकिन इससे पूर्व कि मेरा कोई वाक्-बाण चले उसने कहा—"कृपया एक कागज दीजिए।" उसने बिना मुझे कष्ट दिए और स्वयं ही कागज के दो पन्ने उठा लिए और उसने अपना अंगूठा खोल लिया। वह अंगूठा देखता और कागज पर लिखता जाता। लगभग चार-पांच मिनट में लिखना खत्म कर कागज की चार तह की और कागज मुझे दे गया। चलते-चलते मुझसे कह गया, इसमें मैंने दो बातें लिखी हैं, जब बातें पूरी हो जाएंगी तब मैं आपसे मिलूंगा। और वह चला गया। दो बातों में से एक तो बात यह थी कि अगले छः महीनों में मुझे कोई राजसी अलंकरण प्राप्त होगा और दूसरी यह थी कि आप राज्यसभा के मेम्बर बनेंगे। पहली बात इनमें से पूरी हो गई। दूसरी नहीं हुई। कागज आज तक मेरी फाइल में लगा है और मैं आज तक उसके लौटने की प्रतीक्षा कर रहा हूं।

कैसे इंकार करूं कि संसद-सदस्य बनने की हौंस मेरे मन में नहीं थी ? विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र का सांसद बनना उस समय तो बड़े सम्मान की भी बात थी। यह वह समय था जब बड़े से बड़े दार्शनिक, वैज्ञानिक, शिक्षाशास्त्री, न्यायविद, वित्त-विशेषज्ञ और साहित्यकार संसद को अपनी उपस्थिति से धन्य कर रहे थे। जनता और सरकार दोनों में उनका बड़ा सम्मान था। सांसद चाहे पक्ष का हो या विपक्ष का, सर्वत्र आदर की दृष्टि से देखा जाता है। तब वफादार पार्टी कार्यकर्ता या नेता का फरमावरदार होना ही संसद-सदस्य बनने की सबसे बड़ी योग्यता नहीं मानी जाती थी। लोग दल में रहते हुए भी राष्ट्रहित और आत्मा की आवाज पर सही-सही बातें धड़ल्ले से कहा करते थे। मेरे मन में भी कभी-कभी यह विचार उठता था कि अगर मैं संसद-सदस्य बन जाऊं तो शायद वह रोल अदा कर सकता हूं जो इंग्लैंड में कभी जॉर्ज बर्नार्ड शॉ किया करते थे। मेरे व्यंग्य-विनोद भी आचार्य कृपलानी और महावीर त्यागी से शायद हल्के न पड़ें। मैथिलीशरणजी तो बजट अधिवेशन में ही केवल एक बार अपनी कविता सुनाया करते थे, मुझे मौका मिले तो मैं हर बार कुछ चुभती, कुछ सरस कविता का पाठ अधिक ऊंचे स्वर में कर सकता हूं। आत्मा तो मेरे पास भी है। शायद वह भी कभी-कभी आवाज लगाने लगे। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। नक्कारों के बीच तूती की ओर कौन ध्यान देता है ? मुझसे कहीं अधिक योग्य, व्यवहार-चतुर लोग उस समय भी थे और आज भी हैं। लेकिन युवक ज्योतिषी की बात कागज पर ही नहीं, मेरे हृदयपटल पर भी पत्थर की लकीर की तरह लिख गई। सोचता रहा कि शायद अंधे के हाथ बटेर लग ही जाए।

इस संबंध में मेरे ख्याली पुलाव ही नहीं पके, कई बार इसकी संभावनाएं भी बनी हैं और सिलसिला काफी दूर तक आगे चला है। एक बार दिल्ली से लोकसभा के लिए कांग्रेस की सीट से मेरे नाम की चर्चा चली। कांग्रेस के चुनाव-माहिरों ने हिसाब भी लगाना शुरू किया कि दिल्ली की चांदनी चौक सीट पर मैं आसानी से निकल सकता हूं। वहां के हिन्दू ही नहीं, मुसलमान वोट भी मुझे मिल सकते हैं। क्योंकि मैं पत्नीवादी कविताओं के

लिए प्रसिद्ध हूं, इसलिए महिलाओं के वोट तो मुझे खासतौर से मिलेंगे ही। यह सोचकर मुझे सक्रिय सदस्य भी बना लिया गया। नाम नीचे से ऊपर भी गया। तब मेरे अवगुण भी गिने जाने लगे। तब सबसे बड़ा अवगुण मुझमें यह पाया गया कि मैं 'टंडनाइट' हूं और दिल्ली के इस पद के दावेदार पुराने तपे हुए कांग्रेसी हैं। मैं तो जेल भी नहीं गया।

दूसरी बार विरोधी दलों की मुझ पर नजर गई। विशेषकर जनसंघ के लोग दिल्ली में मेरी लोकप्रियता का लाभ उठाने को उद्यत हुए। पहले दल में शरीक होने की बात उठी। फिर निर्दलीय उम्मीदवार बन जाने का भी प्रस्ताव आया। मेरी साधनहीनता को ध्यान में रखते हुए चुनावों के लिए धन जुटाने के भी आश्वासन दिए गए। दिल्ली के एक धनी व्यक्ति चुनाव-खर्चे की किश्त के रूप में नोटों का बंडल लेकर भी आ पहुंचे। यद्यपि स्वतंत्रता से पूर्व और उसके बाद भी मैंने सदा कांग्रेस का साथ दिया है, उसी का प्रचार किया है और उसी का कार्य किया है। लेकिन सच्चाई यह है कि कांग्रेस ने मुझे कभी घास नहीं डाली। कभी-कभी सोचता हूं कि जब श्री भगवतीचरण वर्मा लोकदल के टिकट पर राज्यसभा के सदस्य बन सकते थे या रामगोपाल शालवाले और श्री प्रकाशवीर शास्त्री विशेष दलों के समर्पित उम्मीदवार होकर संसद में पहुंच सकते थे तो मैंने ऐसी गलती क्यों की ? लेकिन कांग्रेस का विरोध करने को मन नहीं मानता। लेकिन इससे क्या होता है ? अवसर किसी का इंतजार नहीं किया करता।

एक बार तो राज्यसभा की सदस्यता लगभग पक्की ही हो गई। स्व. प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री का मैं विश्वासभाजन था। उनके चुनावों में ही नहीं, जब-जब उन्होंने देश और कांग्रेस के काम के लिए मुझे दौड़ाया तो आग्रह करने पर भी मैंने मार्ग-व्यय नहीं लिया। राजर्षि टंडन अभिनंदन ग्रंथ का पूरा काम स्वयं करने पर भी उसकी संपादकी विद्वानों में बांट दी। वह कभी-कभी राजनैतिक विषयों पर भी चर्चा करते तो मुझे सही और सावधान पाते। मेरे स्तंभ 'यत्र-तत्र-सर्वत्र' और 'नारदजी' नियमित पढ़ते और दिल्ली, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, राजस्थान, हरियाणा और मध्य प्रदेश के कुछ भागों में मेरी लोकप्रियता को आंकते तो अक्सर कहते थे कि आपको तो संसद में होना चाहिए। वह कम बोलते थे। जब तक बात पूरी न हो जाए उसे कहते नहीं थे। लेकिन एक बार तो उन्होंने कह भी दिया कि जब राज्यसभा के लिए नामांकन होंगे....

परंतु वह घड़ी नहीं आई और शास्त्रीजी चले गए। मुझे कुछ लोगों ने बाद में बताया कि गृह मंत्रालय की संभावित सूची में उन्होंने मेरा नाम भी दर्ज करवा दिया था। बाद में इंदिराजी भी उसे नहीं काटतीं, लेकिन मेरी एक कविता और मित्रता ही कदाचित् उसे ले बैठी।

बात यह हुई कि शास्त्रीजी के शासनकाल में अय्यूब की पाक-सेनाओं ने भारत पर हमला कर दिया, शास्त्रीजी ने जिस दृढ़ता से उस आक्रमण का हर मोर्चे पर जिस तरह जवाब दिया उससे देशवासियों, सैनिकों के हौसले बुलंद हो गए। मैंने भी कलम संभाली और अपने कॉलमों के अलावा जोशीली राष्ट्रीय कविताएं लिखने लगा। वे देश में गाई जाने लगीं और रेडियो से बजने लगीं। एक दिन दिनकरजी का फोन आया। पूछा—"गोपाल बाबू, आजकल क्या कर रहे हो ?" मैंने उत्तर दिया—"मामला जोरों पर है। रोज लिख रहा हूं।"

दिनकरजी बोले–"मैं भी पढ़ रहा हूं और लोगों से तुम्हारी कविताओं की चर्चा सुन रहा हूं। आज क्या लिखा है ?"

मैंने अपनी ताजी चार पंक्तियां फोन पर सुनाईं, तो बोले–"ठहरो ! मैं कागज-कलम ले आऊं।" उन्होंने केवल वे पंक्तियां ही नोट नहीं कीं, उनकी एक हजार कापियां भी साइक्लोस्टाइल कराईं और सभी संसद-सदस्यों सहित देश के प्रमुख-प्रमुख लोगों को उन्हें भिजवा भी दिया।

दिनकर ओज के कवि थे। प्रखर राष्ट्रीयता का उत्स उनकी रग-रग में व्याप्त था। 'परशुराम की प्रतीक्षा' लिखकर उन्होंने भारतीयों को आक्रमणकारियों के विरुद्ध ललकारा था। मुझे तो वे बहुत ही प्यार करते थे। अक्सर कहा करते थे, "कदम-कदम बढ़ाए जा" की तरह तुम फिर अपने राष्ट्रीय गौरव को जाग्रत करो। उन पंक्तियों पर उनकी टिप्पणी थी–"इस युद्ध में और आज के वातावरण में ऐसा सशक्त और सटीक किसी ने नहीं लिखा।" लेकिन ये आत्मीयता और प्रशंसा मेरे लिए बहुत महंगी पड़ गई। कारण आप खुद सोच सकते हैं। पंक्तियां इस प्रकार हैं–

मियां अय्यूब, क्या कश्मीर को ननिहाल समझा है ?
परोसा थाल समझा है, मुफ्त का माल समझा है ?
गए वे दिन कि जब गदहों को डाली घास जाती थी,
अमां, क्या शास्त्रीजी को जवाहरलाल समझा है ?

ऐसी पंक्तियों का लिखनेवाला इंदिरा गांधी के युग में राज्यसभा का सदस्य बनने की उम्मीद कैसे कर सकता था ? भले ही ज्योतिषी कहते रहें और मित्रगण शुभकामनाएं करते रहें। शायद ऐसे ही अवसरों के लिए कहा गया है–

करम-गति टारी नाहिं टरै।

[3]

जब गृहमंत्री शास्त्रीजी राजभाषा विधेयक में संशोधन लाने की तैयारी कर रहे थे तो मैं उसके विरुद्ध आंदोलन की तैयारी कर रहा था। शास्त्रीजी ने नेहरूजी से मुलाकात कराकर मुझे शांत करना चाहा। मैं शिष्टमंडल के साथ नेहरूजी से मिला। पंडितजी पहले गरम हुए, फिर नरम पड़े। मैं भी पहले गरम हुआ और बाद में विनम्रता के साथ उन्हें समझाया। जब हम लोग चलने लगे तो नेहरूजी ने मेरे कंधे पर हाथ रखा और कहा–"हिंदी को बढ़ावा देने के लिए मुझे कोई योजना बनाकर दो।" मैंने शास्त्रीजी की मार्फत वह योजना पंडितजी तक पहुंचा दी।

जवाहरलालजी ने मुझे बुलाया। कहा–"सरकार हिन्दी को बढ़ाने और सरकारी कामकाज में हिन्दी चलाने के लिए एक समिति बनाना चाहती है। तुम उसका काम संभाल

लो।" मैंने हाथ जोड़ दिए और कहा—"आप यह दायित्व किसी और को सौंप दीजिए। मैं तो बाहर रहकर ही निगरानी करूंगा।" अगर उनकी बात तब मान लेता और समिति का सचिव बन जाता तो दिनकरजी की तरह मुझे राज्यमंत्री जितना वेतन, सुविधाएं और राजकीय दबदबा प्राप्त हो जाता। परंतु मैंने लक्ष्मण रेखा का उल्लंघन नहीं किया और अपने को सत्ताहरण से बचा लिया। लेकिन आज सोचता हूं कि अगर मैंने नेहरूजी की बात मान ली होती तो मेरे जीवन का क्रम भी कुछ और ही होता और सरकार में रहकर हिन्दी के लिए संघर्ष का एक मौका मिल जाता। वह आते-आते हाथ से निकल गया।

[4]

इंदिराजी भी मुझे जानती-मानती थीं। कभी-कभी परिवार के साथ भोजन करने भी बुला लिया करती थीं। मेरे बच्चों की जब शादी होती तो वह न्यौते के रूप में कुछ रुपये भी भेजा करती थीं।

एक बार उन्होंने दिल्ली के मुख्य कार्यकारी पार्षद श्री राधारमण के द्वारा मुझे अपने पास बुला भेजा। मैं गांधी दर्शन ग्रंथ उन्हें भेंट करने ले गया था। उसको ग्रहण करते हुए अपने साथ मेरी फोटो भी खिंचवाई। ग्रंथ को इधर-उधर से उलट-पलटकर उन्होंने मेरी ओर देखा। उस दृष्टि को मैं आज तक नहीं भूला हूं। वह देख नहीं रही थीं, घूर रही थीं। ऐसे जैसे बिल्ली चूहे को। नहाकर आई थीं। बाल खुले हुए थे। पीताबंर जैसी साड़ी पहने थीं। मानो पूजा पर से उठकर आई हों। उनके चेहरे पर तेज था ओर आंखों में अंतर्मन तक पैठ जाने की शक्ति। उन्होंने राधारमणजी से कहा—"व्यासजी से तुम काम क्यों नहीं लेते ? इन्हें कांग्रेस के कल्चरल विंग का कन्वीनर बना दो। अलग कमरा, अलग स्टाफ, गाड़ी का इंतजाम और जो कुछ ये कहें, इन्हें दो।"

फिर मेरी ओर देखकर कहा—"आप जैसे राष्ट्रीय व्यक्ति को सरकार की सहायता करनी चाहिए। कांग्रेस में बहुत कुछ है, लेकिन उसका सांस्कृतिक मोर्चा अधूरा पड़ा है। तुम संभालो इसे।" मैं उनके प्रभामंडल से बुरी तरह प्रभावित था। बार-बार मन ने कहा कि न करूं, पर नहीं कह पाया। इंदिराजी ने भी मेरे मौन को सहमति समझ लिया। हम विदा हुए। वह दरवाजे तक छोड़ने आईं। रास्ते में राधारमणजी ने कहा—"मजे आ गए ! मैं फटाफट इंतजाम करता हूं। तुम तैयार हो जाओ। कब चार्ज संभालोगे ?"

राधारमणजी से मेरा पुराना याराना था। मैंने कहा—"अमां, जल्दी का काम शैतान का। जरा सोच लेने दो। मैं फोन करूंगा।"

उन दिनों बाबू जगजीवन राम कांग्रेस के अध्यक्ष थे। उनसे परामर्श करने गया तो उन्होंने कहा—"तुम इंदिराजी को नहीं जानते। तुम्हारा राजनीति के कुचक्रों से भी परिचय नहीं है। आज जो तुम्हारे दोस्त हैं, कल दुश्मन हो जाएंगे। चूसकर फेंक दिए जाओगे।"

बात समझ में आ गई। श्री राधारमण से कहा कि मेरे वश की बात नहीं है। इंदिराजी से क्षमा मांग लेना। लेकिन जब उस स्थान पर भाई श्रीकांत वर्मा नियुक्त हुए तथा सीढ़ी-

दर-सीढ़ी चढ़ते गए तो लोगों ने कहा–"व्यास, एक नायाब मौका हाथ से निकाल दिया।" परंतु उस दिन एक आयोजन में वीणा वर्मा को देखा तो सोचा–जो कुछ किया वह ठीक ही किया।

[5]

डॉ. कुलदीप का आगरा से फोन आया–"बधाई !"

मैंने कहा–"किसका वध हुआ ?"

उत्तर मिला–"सब चित हो गए। निश्चित हो गया है कि आगरा विश्वविद्यालय आपको डॉक्टरेट की उपाधि दे रहा है।"

मैंने कहा–"आज फर्स्ट अप्रैल तो नहीं है। क्यों बना रहे हो ?"

आवाज आई–"बना नहीं रहा, आप बन गए। पहले मैंने भी इसे अफवाह समझा था। लेकिन कल स्वयं उनसे कन्फर्म हो गया। अब परसों आप टिकट कटाकर सीधे आगरा आ जाओ। सेंट जांस कॉलेज में मैंने अग्रिम बधाई आयोजन किया है। उपकुलपति श्री राव ने भी आना स्वीकार कर लिया है। भागदौड़ करके कार्ड छपा लिए हैं। गड़बड़ नहीं करना।"

मैंने मजाक किया–"किराया-भाड़ा कौन देगा ?"

भाई कुलदीप बोले–"भाड मे गया भाड़ा ! मेरा मेहनताना भी लेते आना।"

डॉक्टर कुलदीप और आगरा के कई मित्र इस दिशा में प्रयत्नशील थे। परंतु विश्वविद्यालय की राजनीति के कारण कुछ न कुछ गड़बड़ होती ही रहती थी। अब कुलदीप ही आगरा में मेरे अभिन्न मित्र रह गए थे। मैं आगरा गया। सेंट जांस कॉलेज का हाल खचाखच भरा हुआ था। नागरिकों तथा साहित्यकारों के साथ छात्र-छात्राएं भारी संख्या में उपस्थित थे। उपकुलपति श्री बालकृष्ण राव अपनी बहन श्रीमती मोहिनी राव के कारण मुझसे भलीभांति परिचित थे। अनबन होने के कारण उन्होंने अपनी पत्नी को छोड़ रखा था और उन दिनों वह अपनी साली के साथ रहते थे। वह भी आयोजन में आई हुई थीं और मेरे व्यंग्य-विनोदी लेखन से परिचित थीं।

बढ़ा-चढ़ाकर मेरा परिचय दिया डॉ. कुलदीप ने। प्रोफेसर जगन्नाथ तिवारी और डॉ. अम्बाप्रसाद 'सुमन' भी बोले। विषय एक ही था–व्यास और व्यास।

जब मुझसे बोलने को कहा गया तो मैं दस-बीस वाक्य ही बोल पाया था कि चारों ओर से आवाजें आने लगीं–"साली ! साली ! पहले सालीवाली कविता सुनाइए।" मैं उसे सुनाना नहीं चाहता था। लेकिन श्री राव ने कहा–"मैंने भी नहीं सुनी है। सुना दो न।" मैंने उनके वामांग में बैठी देवीजी की ओर देखा। वह भी प्रसन्न मुद्रा में थीं। मुंह से तो नहीं कहा, लेकिन सुनना चाहती थीं साली-महिमा।

मेरी यह कविता साली के रिश्ते की तरह ही चटकदार है। इसके हर तुकांत को जनता मुझसे पहले ही बोल देती है। पुरुष और महिलाएं इसे सुनकर समान रूप से गद्गद हो

जाते हैं। मैंने सुनाना प्रारंभ किया। कॉलेज के लड़के-लड़कियों ने हाल अधर उठा लिया। कुलपति सहित सभी वयोवृद्ध साहित्यकार मजे ले रहे थे। लेकिन जब यह बंद आया—

साली है रस की प्याली-सी
साली क्या है रसगुल्ला है।
साली है मधुर मलाई-सी
अथवा रबड़ी का कुल्ला है।
पत्नी तो सख्त छुहारा है।
हरदम सिकुड़ी ही रहती है
साली है फाँक संतरे की
जो कुछ है खुल्लमखुल्ला है।

तो गजब हो गया। उधर मेजें पीटी जा रही थीं और तालियों के साथ सीटियां भी बज रही थीं और इधर साली और जीजाजी की पेशानियों पर बल पड़ गए थे। उसका एक कारण यह था कि 'खुल्लमखुल्ला' शब्द पर जोर देते हुए साली महोदया की ओर देख लिया था।

सारा गुड़ गोबर हो गया। होते-होते डॉक्टरेट की घोषणा रुक गई। कुलदीप ने कहा—"तुमने खुद अपने पैरों में कुल्हाड़ी मार ली।"

मैंने कहा—"मेरे पैर देखो। कहीं चोट नहीं लगी। चोट तो किसी और को लगी है और मजा मैंने लूट लिया है।"

तो साहब इस तरह रह गए हम डॉक्टर बनते-बनते। अच्छा ही हुआ मरीज मेरे पल्ले नहीं पड़े। सलामत रहें मेरे श्रोता और पाठक।

■

व्यासजी, आप तो हमारे परिवार से दादाजी के समय से ही जुड़े हैं। स्वतंत्रता संग्राम में और उसके बाद आपने कांग्रेस की जो सेवा की है, उसे मैं जानती हूं। अब राजनीति में न आने का और संगठन से दूर रहने का विचार छोड़ दीजिए। मैं चाहती हूं कि आप कांग्रेस के सोशल और कल्चरल पैनल का काम संभाल लें। यहां से आप हिन्दी के कार्य को भी आगे बढ़ा सकते हैं। राधारमणजी के साथ मैंने आपको इसी के लिए तकलीफ दी है। आपको सभी सुविधाएं प्राप्त होंगी। बेटी के ब्याह में आऊंगी।

—इंदिरा गांधी

फिर आंखें भी चली गईं

अब पता लगा कि आंखें बड़ी नियामत हैं। कभी सोचा भी न था कि बाबू जगजीवनराम की तरह यह बीच में ही इंदिराजी के समान मुझको दगा दे जाएंगी। गोल-गोल चमकदार और दूर-दूर तक मार करनेवाली मेरी आंखें लाखों में नहीं तो हजारों में तो एक थीं ही। बरसात में जब मथुरा के सबसे ऊंचे सती के बुर्ज पर हवा खाने की गर्ज से चढ़ता तो बाईं ओर छह मील दूर वृंदावन के गोविंद देवजी के मंदिर और दाहिनी ओर गोकुल के ठकुरानी घाट को चीन्ह लेता था। महाविद्या के मंदिर पर चढ़कर चौक बाजार की मस्जिदों की मीनारें गिन लिया करता था। दिल्ली से जब कभी रेल से आता तो मीलों दूर से मथुरा की जामा मस्जिद दिखाई देने लगती थी। लेकिन अब पास खड़ा आदमी भी पहचान में नहीं आता। ये औरत है इतना तो पता चलता है, परंतु यह पुत्रवधू साधना है या वीना, इसका पता बोली से ही चलता है। अब तो अपने अक्षर भी खुद पहचान में नहीं आते। बैंकवाले कृपा करके ही चैक स्वीकार कर लेते हैं। सन् 1957 में मेरी आंखों के ग्लूकोमा (काला पानी) रोग का आपरेशन हुआ था। आपरेशन से पूर्व और उसके वर्षों बाद तक मैं अंदाज से लिखता रहा। कोई लाइन ऊपर जाती तो कोई नीचे की ओर। अक्षर पर अक्षर तो चढ़ते ही थे, कभी-कभी तो लाइन पर लाइन भी चढ़ जाती थी। निभाया मुझे पंद्रह वर्ष तक दैनिक हिन्दुस्तान परिवार के कम्पोजीटरों, प्रूफरीडरों ने जो मेरे लेखन के ही नहीं, लिपि के भी अभ्यस्त हो गए थे।

अब तो सन् 70 से मैंने अपनी कलम उठाकर रख दी है। पढ़वाकर सुनता हूं और बोलकर लिखवाता हूं। ऐसा अभ्यास हो गया है कि धाराप्रवाह बोल लेता हूं। केवल वाक्य और अनुच्छेद ही नहीं, कोलन, सेमी कोलन, विराम, प्रश्नसूचक और विस्मयबोधक चिन्ह भी साथ-साथ। गति इतनी तीव्र हो गई है कि प्रायः लिपिक साथ नहीं दे पाते। जब लिपिक साथ न चले और समझकर न लिखे या कहूं कि 'डल' हो तो मुझे बड़ी खीझ आती है और कभी-कभी तो झुंझलाहट में लिखवाना भी बंद कर दिया करता हूं।

पहले ऐसा नहीं था। विचारों के साथ मेरी कलम भी उसी तीव्रता से चला करती थी, जैसे मैं आज एक सांस में बोलता हूं, तब भी एक सांस में ही लिखा करता था। प्रायः मैंने अपनी कविताएं, लेख, संपादकीय टिप्पणियां और पत्रों के विविध स्तंभ एक ही बैठक में लिखें हैं। महात्मा गांधी की मृत्यु पर 'हमारे राष्ट्रपिता' जो पुस्तक मैंने लिखी, वह केवल पंद्रह दिन में प्रैस में जाने योग्य हो गई थी। यही बात मेरी 'अरबों के देश में' पुस्तक के संबंध में भी है। विदेश से लौटने के बाद यह पुस्तक केवल दो महीने में लिखकर और छपकर तैयार हो गई थी।

यह सब इसलिए लिख रहा हूं कि अगर मैं कहीं ज्यादा जी जाऊं और अपने दुष्कर्मों के फलस्वरूप कहीं निपट अंधा भी हो जाऊं, तो कालांतर में मेरे प्रशंसक मुझे सूरदास और आलोचक धृतराष्ट्र न कहने लगें। क्योंकि संयोग से मैं उसी स्थान पर पैदा हुआ हूं, जहां महाकवि सूरदास अपनी उत्तरावस्था में वर्षों रहे थे और उन्होंनें वहीं (परासौली में ही देह-त्याग किया था। अपनी उत्तरावस्था में मैं भी इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) में रह रहा हूं और इस नगर का संबंध भी कौरव-पांडवों तथा उनके पूर्वज धृतराष्ट्र के साथ जुड़ा हुआ है।

हां, तो मेरी आंखें खराब हुईं। कैसे हुईं ? इसके मैं दो अखबारी कारण बताया करता हूं। पहला यह कि अगस्त क्रांति में मैंने एक सरकारी इमारत जलाई थी। पुलिस से घिर जाने पर पलीते सहित नीचे कूदा था। आखें झुलस गईं, लेकिन तब जवानी थी, सह गया। अब उम्र के उतार में उसका फल भोग रहा हूं। दूसरा कारण मैं यह बताया करता हूं कि विषुवत रेखा काहिरा के आसपास से गुजरती है इसीलिए वहां अंधों की संख्या भी काफी है। मेरी आखें काहिरा में ही गड़बड़ाई थीं। हो सकता है कि उन्हें भी विषुवत रेखा का ही विष चढ़ गया हो। लेकिन असली बात यह नहीं है। मैंने प्रारंभ से ही आंखों की उपेक्षा की है और यही उपेक्षा मेरे लिए महंगी साबित हुई है।

चढ़ी हुई यमुना में कूद-कूदकर घंटों नहाता था। तब तक जब तक आंखें लाल सुर्ख न हो जाएं। लेट-लतीफ था। देर तक सोता। ब्राह्मण के घर में जन्मा था। इसलिए संध्या-वंदन भी जरूरी था। चढ़ते सूरज का अंगुलियों के झरोखे बनाकर देर-देर तक दर्शन किया करता था और दोनों आंखों से सूरज की ओर टकटकी लगाकर, अर्घ्य भी देता। वेद में कहा गया है-"चक्षु मित्रस्य वरुणचाग्ने", परंतु मेरे लिए सूर्य और वरुण दोनों ही चक्षु-मित्र सिद्ध नहीं हुए। मथुरा, भरतपुर और आगरा इन तीनों स्थानों पर ही मेरा बचपन, किशोरावस्था और जवानी के दिन वीते हैं। इन तीनों स्थानों पर ही पतंगें भरगर्मियों में जेठ के दशहरे पर उड़ाई जाती हैं। जलती दोपहरियों में "वो काट्टा ! वो काट्टा !" पुकारता मैं पतंगें लूटता और पेंच लड़ाता फिरता था। आखें दुखने आ जातीं, तो मां और नानी गेरू-मलाई के फाहे, नीम के पत्तों की लुगदी और रसौत-फिटकरी की पट्टियां बांध-बांधकर आंखों की करक (दर्द) को दवाने की कोशिश किया करतीं। पट्टियां इतनी जोर से बांधी जाती थीं कि सिर दर्द करने लगता था। उन दिनों आंखों की बीमारी के ये ही अचूक इलाज समझे जाया करते थे। परंतु ये इलाज शायद उलटे पड़ गए। आंखें ऊपर से साफ हो जाया करती थीं, लेकिन अंदर ही अंदर उनमें कुछ पक रहा था, जो बाद में ग्लूकोमा के रूप में सामने आया।

किस्मत से पहला धंधा जो पकड़ा, वह भी आंखों से जूझनेवाला था–कम्पोजीटरी। बाद में आई प्रूफरीडरी और पत्रकारिता। दोनों ही आंखों को जहन्नुम रसीद करनेवाले पेशे हैं।

मुझे लिखने का ही नहीं, पढ़ने का भी बड़ा शौक रहा है। सन् तीस से पहले 'चंद्रकांता संतति', 'भूतनाथ' ही नहीं, 'बिहारी सतसई' आदि रीतिकालीन पुस्तकें मैंने चुराकर, छिपाकर और मांगकर पढ़ डाली थीं। पढ़ने का ऐसा चस्का लगा कि रात में दो-दो बजे तक पढ़ना, वह भी बिजली की रोशनी में नहीं, बल्कि लालटेन या मिट्टी के तेल की कुप्पी के सहारे। सुबह बिना कुल्ला-मंजन किए पत्र-पत्रिकाओं पर जम जाना और फिर यह आशा करना कि हमेशा आंखें ठीक ही रहेंगी, मूर्खता नहीं तो क्या है ? मेरी आंखों को खराब करने में कवि-सम्मेलनों का भी काफी योगदान रहा है। दिन में दफ्तर में काम करना और रात में कवि-सम्मेलनों में जागना। फिर वापस घर आना और बिना आराम किए फिर से दफ्तर चले जाना। ये सब आंखों के साथ ज्यादती नहीं तो क्या है ?

किसी जमाने में 'अनियारे दीरघ घने' नयनों से मेरा बड़ा लगाव था। जहां भी वह मिलतीं एकटक देखता ही रह जाता था। टकटकी लगाकर देखना आंखों के लिए हानिकारक बताया जाता है। कहते हैं आंखों पर निमिष ऋषि का पहरा रहता है। वह पलकों पर आसन जमाए बैठे रहते हैं। इसीलिए आंखें बार-बार झपकती रहती हैं। आंखों की सुंदरता बार-बार झपकते रहने से ही बढ़ती है। कुलीन नारियां आंखें उठाकर किसी की ओर नहीं देखतीं। क्योंकि वह लाजवंती होती हैं। लज्जा ही तो स्त्री का आभूषण है।

इन लजीली, कटीली, सुरमीली, स्नेहित गीली और गर्वीली आंखों पर मैंने सैकड़ों कवित्त सवैये कंठस्थ किए थे। ब्रजभाषा की पढ़ंत परंपरा में, षट्ऋतु और उनमें भी पावस मेरा प्रिय विषय था। नख-शिख वर्णन में मुझे सर्वाधिक छंद नेत्रों पर ही कंठस्थ थे। कहिए तो कुछ टुकड़े आपको यहां गिना दूं ? मुलाहिजा फरमाइए–

मेरे नैन तेरे नैन
तेरे नैन मेरे नैन,
मेरे नैन चोरिवे कों,
तेरे नैन चोर हैं।

अर्ज किया है–

एक एक आंख तेरी,
लाख-लाख तोड़े की।

आंखों के साथ चंद्रमा का रूपक जमाते हुए कहा है–

करछालति आवत नैन किधौं,
ये सुधाकर के रथ के मृग द्वय।

जनाब, आंखें कमल, मछली और हिरनी के दृगों के समान ही नहीं हैं, कवियों ने

उनकी उपमा हाथी से भी दी है–

खून करै सब आलम कौ,
तऊ लाज के आंदू परे ही रहैं।

(आंदू–आंदू उसे कहते हैं, जिससे हाथी के पैर बांधे जाते हैं।)

ज्यादा क्या लिखें मुबारक के एक सवैये की अंतिम पंक्ति और पढ़ें–

वाकी ना राखी कजाकी कछू
जब बाकी चितौन से झांकी-झरोखे।

बड़े मजे लिये हैं ब्रजभाषा के कवियों ने आंखों को लेकर। किसी बेचारी नवयौवना के मुंह पर शीतला के दाग पड़ गए तो कविजी कहते हैं–"दीठि गढ़-गढ़ गई, दाग पड़-पड़ गए।"

रसलीन का यह दोहा तो सभी ने सुना होगा–

अमिय हलाहल मद भरे, श्वेत श्याम रतनार।
जियत मरत झुकि-झुकि परत, जिहि चितवत इक बार।"

लेकिन बतानेवालों ने आंखों को हर मर्ज की दवा भी बताया है। कहते हैं–

कहो तो आज कह दें आपकी आंखों को क्या समझे ?
सिता, सिन्दूर, मृगमद युक्त अद्भुत कुछ दवा समझे।

क्या पता था कि मुझे भी अपनी आंखों के खराब होने के बाद इस तरह मजे लेने होंगे–

लिखने की मेज मेरी,
दवाओं से घिर गई।
मारी क्या आंख उनको
आंख अपनी मर गई।

मैंने मजे ही नहीं लिये, आंखों के पहले सफल आपरेशन के बाद अपने को नसीहत भी दी है–

आई है दृष्टि लौट, कह रही–बधाई 'व्यास',
आगे ते जीवन में आंख खोल चलना तुम।
सागर-से रहना तरंगमान, धीर, शांत,
छलना से बचना, किसी को न छलना तुम।
बढ़ना अवश्य, पर औरों को दे के छांह,
चलना, किसी को कदापि न कुचलना तुम।
औरों को बदलने से पहले महानुभाव,
हो सके तो नेताजी, खुद को बदलना तुम।

भगवान की बड़ी कृपा है कि जैसे-जैसे मेरी आंखें कमजोर होती गईं वैसे-वैसे मेरी प्रज्ञा विकसित होती चली गई। आंखों से लाचार होकर भी मैंने हार नहीं मानी। मेरी आंखें कमजोर हैं, इसका मुझे प्रायः अहसास ही नहीं रहता। लंबी-लंबी यात्राओं के प्रोग्राम बना लेता हूं। लेकिन जब यात्राओं पर निकलता हूं, तब महसूस होता है कि आंखें गड़बड़ हैं। दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन की बड़ी-बड़ी योजनाएं बनाई हैं। सभा-सम्मेलनों में जाकर जब लोग मिलने आते हैं और उन्हें नहीं पहचान पाता तो तकलीफ होती है और लगता है–"नैना भये अनाथ हमारे।"

आंखों के कमजोर पड़ने से कुछ लाभ भी हुए हैं। विरोधी लोगों की दया का पात्र बन गया हूं। वैसे भी अब यह दिखाई ही नहीं पड़ता कि कौन मुझे देखकर आखें तरेर रहा है और गुस्से से आग बबूला हो रहा है। कुछ आनंद के क्षण भी आते हैं। जब लोग मिलने आते हैं, तो पूछता हूं–"कैसे हैं ? सब ठीक हैं ?" बातों का सिलसिला चलता रहता है और वह हंसी-खुशी वापस भी चले जाते हैं, लेकिन यह पता नहीं लगता कि महाशय कौन थे ? बहुत ज्यादा पता लगाकर भी क्या होता है ? देश-विदेश, घर-बाहर बहुत कुछ देख लिया। अब देखने को बचा भी क्या है ? फिर उम्र-भर देखते ही रहो। देखने का कोई ओर-छोर है ? अटक से कटक तक, कन्याकुमारी से हिमालय तक शायद ही कोई बड़ा नगर, बड़ा मंदिर, बड़ी नदी, बड़े पहाड़, स्थापत्य और कला के तीर्थ देखने से बचे हों। लहलहाते खेत देखे। फूलों की क्यारियां, उपवन देखे। उमड़ती नदियां और घिरती घटाएं देखीं। आंधियां और चक्रवात देखे। गरीबी और समृद्धि देखी। आदर्श और यथार्थ देखा। राजनीति का उत्थान और पतन भी देखा। अब और क्या बचा है, जिसे देखकर नैन सुफल करूं ? गांधी को देख लिया तो भारत की आत्मा को देख लिया। टंडनजी को देख लिया तो तप, त्याग और सादगी देख ली। जवाहरलालजी को देख लिया तो नए भारत की कल्पना देख ली। शास्त्रीजी को देख लिया तो सतत् परिश्रम और जीवन की सार्थकता देख ली। सुभाषचन्द्र बोस को देख लिया तो आजादी की तड़प और कुरबानी देख ली। निराला को देख लिया तो साहित्यिक जीवन देख लिया। महादेवी वर्मा को देख लिया तो साक्षात् कविता देख ली। मुझ जैसे छोटे आदमी के लिए इतना देखना बहुत काफी है। अब तो उस अकथ, अगोचर, अरूप, अनाम और अजर-अमर को देखना बाकी बचा है। वह दिखाई पड़ जाए तो समझो कि जीवन सफल हुआ। परंतु उसको देखने के लिए कपाल की आंखों की आवश्यकता नहीं। शायद इसीलिए प्रभु ने अपनी ओर खींचने के लिए मुझे यह व्यवधान दिया है। सर्वशक्तिमान के इस संकेत को समझकर भी मैं जग-संसारी में ही पड़ा रहूं तो यही कहना होगा कि–"मो सम कौन कुटिल, खल, कामी ?"

बेचारे कान !

कान का साहित्य में बड़ा अपमान हुआ है। नख से शिख तक शरीर के जितने अंग हैं, उनकी सुंदरता का विशद वर्णन भारतीय साहित्य में मिलता है। मुख-चंद्र का वर्णन करते समय तो कवियों ने कलम ही तोड़ दी। क्या बाल और क्या उनकी चोटी, जूड़ों, लटों तथा छल्लेदारी का कमाल। भौंहें बन गईं कमान और आंखें हो गईं कमल के समान। तैरने लगीं मछलियों की तरह और चौकड़ी भरने लगीं हिरनियों की भांति। नाक ने तो लिक्खाड़ों की नाक में दम कर दिया। जब तक तोते की चोंच नहीं दिखाई दी, तब तक चुप नहीं हुए। अधर पीयूषवर्षी हो गए। बिंवाफल बन गए। पाटल-पटल हो गए। दांत दिखाई दिए अनार के दाने जैसे, मोती जैसे। जीभ चली तो रसना हो गई। कपोलों पर ही नहीं, उन पर दिख जाने/वाले तिल और उन पर पड़नेवाली गाढ़ में ऐसे गिरे कि निकल ही नहीं सके। यहां तक कि ठोड़ी ठकुराई की सूचक बन गई और बड़े आदर से उन्हें चिबुक कहकर आदर दिया गया। लेकिन किसी ने कान पर कान नहीं दिए। हमने कोई ऐसी उपमा कान के संबंध में नहीं पढ़ी-सुनी कि जिसका उल्लेख किया जा सके। हां, कान खींचे गए। उमेठे गए। मले गए। यहां तक कि लाल हो गए। छेदे गए। उक्ति भी बनी तो ऐसी कि कानों पर जूं रेंगने लगीं। सुंदरियों की आंखों ने सोचा कि जरा कानों को छूकर देखा तो जाए कि असलियत क्या है ? परंतु कान बेचारे फिर भी उपेक्षित हो चेहरे पर पिछड़े रहे।

मान लिया गया कि कान कोई ऐसी चीज नहीं है कि उस पर ध्यान दिया जाए। परंतु चेहरे पर हैं इसलिए कुछ न कुछ तो करना पड़ेगा। लटकाओ उनमें झुमके, बाले-बालियां, लौंग और मुरकियां। अगर राजा के हैं और भगवान के हैं तो धारण कराओ इन्हें कुंडल। शिव को सांपों के, राम को मकराकृत और कृष्ण को मयूराकृत। अगर ये महंगी चीजें न मिलें तो कानों पर कनेर के फूल चढ़ा दो या उनमें कोई भी फूल लटका दो, वही कर्णफूल बन जाएंगे।

किसी ने नहीं सोचा कि शरीर में अगर कान न होते तो मनुष्य ज्ञान का भंडार नहीं बनता। वेद, पुराण, शास्त्र, संहिताएं, सुभाषित और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के ऋषि-मुनियों

के विचार पीढ़ी-दर-पीढ़ी कानों के द्वारा ग्रहण करने पर ही विद्वानों के कंठहार बने हैं। जब वर्णमाला भी न थी, भोजपत्र की भी खोज नहीं हुई थी, तब कान ही काम आए थे।

मैंने किसी जमाने में कानों-कान सुनकर नख-शिख पर सैकड़ों छंद याद किए थे। लेकिन कान पर कोई कवित्त-सवैया हाथ नहीं लगा। मीरा और गोपियों के कुल के साथ कान अवश्य जुड़े, लेकिन कानों की ओर देखकर कोई चौकन्ना नहीं हुआ। किसी ने लिखने को कहा भी होगा तो रीतिकालीन आचार्यों ने उनकी बात को इस कान से सुनकर उस कान से निकाल दिया होगा। कान उपेक्षित ही रहे और उनकी एक नहीं चली। केवल हरिकेश नामक एक अज्ञात कवि को अंकुरित यौवना के अंगों की चला-चली में कान भी चलते दिखाई दे गए–

दौरि चली चरन-कुसुम सुकुमारताई,
चरन चले हैं गरुवाई के पथन कौं।
गरुवाई छतियां कौं, छतियां उंचाई कौं,
उंचाई चोज रसमय वास अरथन कौं।
कहैं 'हरिकेश' शिशुताई के चला-चले में,
कहा कहौं चलौ चित्त लाज के सथन कौं।
लाज चली आंखिन कौं, आंख चलीं कानन कौं,
कान चले चौंकत से चाले के कथन कौं।

बाकी तो बकनी बात सुनकर कान पक जाते हैं या कानाफूसी के काम आते हैं। अपनी बात कहूं कि सात-आठ साल की उम्र में ही मेरे कान पक गए थे। सोरों की गंगाजी इसकी साक्षी हैं। मैं भी गंगाजली उठा सकता हूं कि तब तक मैंने कोई बकनी बात नहीं सुनी थी। मेरे बड़े मामा कुंजबिहारी अपने पितरों को, जो उनके अनुसार मरकर भूत-प्रेत बन गए थे, गंगाजी नहलाने के लिए सोरों गए थे। साथ में बहन भांजों को भी ले गए थे। जब लोग गंगाजी में उतरकर गोते लगा रहे थे, तब मैं उथले पाली में ही लोटपोट हो रहा था। कभी इस करवट और कभी उस करवट। पवित्र गंगाजल मेरे मुंह में ही नहीं गया, मेरे कानों को भी पुनीत कर गया। शायद कोई छोटी मछली या जलजीव ने सोचा होगा कि क्या पता गंगा मइया की कृपा से बड़ा होकर यह कुछ बन जाए तो इसमें हमारा भी योगदान क्यों न हो ? यह भी हो सकता है कि गंगा में स्नान करने गए मेरे मामाजी के पितर ही मेरे कान में घुस गए हों और मेरे कान उसी दिन से कुलबुलाने लग गए हों। सोरों के बाद हम लोग भरतपुर गए। दर्द तो तेल-वेल डालकर चला गया, लेकिन कान पक गए। निचला हिस्सा जिन्हें लौ कहते हैं, पक गई। चीरे पर चीरे लगते, पटकते और फिर-फिर फूलते। थककर अंत में सूख गए। बाहर से सूखे लेकिन अंदर से बहने लगे। पिचकारी की तेज धारों ने कच्ची उम्र के नाजुक पर्दों पर हर बार जोर-जोर से प्रहार किए। अवश्य ही उनमें दरारें पड़ गई होंगी। लेकिन जब कुश्ती-कसरत शुरू हुई, खिलाई-पिलाई से शरीर में जान पड़ी तो दरारें पट गई होंगी। सन बयासी तक मैं पत्नी का यह भजन सुनता रहा कि "देखे नैन, मिले सुख-चैन। देखे कान, मिले भगवान।" जब 'विकासशील भारत' दैनिक का

संपादन करने मैं आगरा गया, तब मुझे अहसास हुआ कि मेरा बायां कान असहयोग आंदोलन कर रहा है। वहां के नाक-कान-गला विशेषज्ञ को दिखाया तो उसने बताया कि पर्दा इतना डैमेज हो गया है कि अब उसकी मरम्मत नहीं हो सकती। तब से अब तक दाहिने कान से काम चला रहा हूं और अनुभव कर रहा हूं कि गाड़ी एक पहिए से नहीं चल सकती। बैलगाड़ी का जब एक बैल गिर पड़ता है तब दूसरा उसे अकेले नहीं खींच सकता। दिल्ली में दिखाया तो उन्होंने श्रवण-यंत्र ठोक दिया, जिसे हर समय लगाए रखना एक मुसीबत है। यह यंत्र भी कब तक काम देगा, भगवान जाने !

मोर के कान बड़े संवेदनशील होते हैं। दूर आकाश में बादलों की गड़गड़ाहट सुनकर वह कूकने लगता है कि हूकने लगता है। मैंने न मोर के कान देखे हैं और न सांप के। चूहों के छोटे-छोटे और खरगोशों के बड़े-बड़े कान अवश्य देखे हैं। इन कानों से बड़ा काम लिया है मैंने। मेरा ज्ञान श्रुति-सम्मत है। मतलब कि सुनकर ही अधिक प्राप्त किया है, स्कूली पढ़ाई का सुयोग तो प्राप्त हुआ ही नहीं। कानों से सुना। हृदय में उतारा। मस्तिष्क ने याद रखा। कंठ ने उच्चारा। अंगुलियों ने कागज पर उतारा। सुकर्ण सदैव मुझ पर मेहरबान रहे। कान दयावान न होते तो अक्षर-ज्ञान मेरी कोई सहायता नहीं कर पाता।

इंद्र के घोड़े का नाम उच्चैश्रवा है। क्या वह भी ऊंचा सुनता है ? परंतु मैं पहले दूर की कौड़ी ही नहीं लाता था, दूर-दूर की बातें भी सुन लिया करता था। मथुरा में रात को हमारे मंदिर से एक फर्लांग दूर पर एक चौबेजी महाभारत की कथा बिना लाउडस्पीकर के कहा करते थे। मैं खाट पर लेटा-लेटा उसे शब्द-शब्द सुनता रहता था। यमुनापार कोई एक किलोमीटर दूर दुर्वासा ऋषि का मंदिर है। वहां सवेरे चार बजे एक साधु जोर से शंख बजाता था। उसकी आवाज सुनकर मेरी आंखें खुल जाती थीं। कवि-सम्मेलनों के संचालन में अगर कोई बहुत दूर बैठा हुआ हूटर धीरे-से भी कुछ कहता तो उसकी भनक मेरे कानों तक पहुंच जाया करती थी। कान तो अन्य मनुष्यों की तरह मेरे भी दो ही हैं पर मैं हमेशा चौकन्ना रहा हूं। मैंने दूर की चिल्लाहट भी सुनी है और पास की फुसफुसाहट भी। वाद्य और कंठ-संगीत के स्वर भी। ताल-सुर सुनकर जाना है कि तिताला बज रहा है या ध्रुपद। गायक भैरवी गा रहा है या यमन। बतरस का तो आनंद मेरी तरह कम ही लोगों ने लिया होगा। जी, मैंने मीलों दूर बैठी हुई विदुषियों से लेकर प्रेम-मदमाती सुंदरी यौवनाओं तक ही नहीं, प्रौढ़ाओं और बुढ़ापे की ओर खिसकती हुई दिलदार महिलाओं से फोन पर रंगीन बातें की हैं। लेकिन अब सामने खड़ी या बैठी अपनी पुरानी सखियों की न मुस्कान देख पाता हूं और न उनके मंद स्वर की मधुरता का आनंद ही ले पाता हूं। मैंने राम और कृष्ण की लीलाओं में शृंगार भी कराए हैं और बाद में स्वरूपों और मूर्तियों के शृंगार भी किए हैं। परंतु अब शृंगार क्या, राजाधिराज की चिबुक पर लगे हुए चमचमाते हीरे को भी नहीं देख पाता और उनके सामने जो निरंतर हवेली संगीत चलता रहता है उसके बोल भी सुनाई नहीं पड़ते। कर्मों का फल या होनहार की गति अथवा सब कुछ भगवान पर थोपने की आदत के अनुसार 'उसकी मर्जी' से नैन-सुख भी गया और बतरस भी गया।

लोग कहते हैं कि अंधे दया के पात्र होते हैं और बहरे उपेक्षा के। भैर-भट्टों से कौन बात करें ? कभी-कभी तो पत्नी भी खीझकर कह देती हैं–"तुम से क्या बात करूं ? न

सुनते हो, न शेठते हो।" परंतु मैं इन घटनाओं से दुःखी नहीं, परमानंदित हूं। सोचता हूं कि बहुत देख लिया, बहुत सुन लिया। अब अंदर आत्मा के दर्शन करो। उसकी आवाज सुनो। "बुरा मत देखो, बुरा मत सुनो" का मंत्र स्वतः सिद्ध हो गया। अब भी मन एकाग्र न हो, चलायमान रहे तो मुझसे अधम कौन होगा ? अब तो बस एक ही पद को दोहराता रहता हूं–

चरण-कमल बन्दहु हरिराई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधरे को सब कछु दरसाई।।
वहरौ सुनै मूक पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई।।

परंतु प्रार्थना करते रहो। वास्तविकता यह है कि "करमगति टारी नाहिं टरै।'

■

व्यासजी की हिन्दी साहित्य की सेवाओं का मैं आदर करता हूं। वह राष्ट्रीयता के पुजारी तथा परम देशभक्त हैं।

–लालबहादुर शास्त्री

अब हिन्दी की सेवा कौन करता है ? मेरे मित्र व्यासजी जिस लगन के साथ हिन्दी का कार्य कर रहे हैं, वह अनुकरणीय है। हिन्दी बढ़ेगी तो देश बढ़ेगा और उसकी एकता स्थापित होगी। व्यासजी इसी भावना से हिन्दी सेवा कर रहे है।

–मोरारजी देसाई

पद्मश्रीजी : आई भी वह : गई भी वह

मेरी मांगे की कार राष्ट्रपति भवन के पिछले द्वार पर रुकी। एक अधिकारी ने बाअदब उसका दरवाजा खोला। सीढ़ियों पर तैनात संतरियों ने चुस्ती के साथ सैल्यूट मारा। बा-वर्दी दो अंगरक्षक आगे-आगे और मैं सगर्व पीछे-पीछे सीढ़ियां पार करता राष्ट्रपति भवन के दरबार हॉल में प्रविष्ट हुआ। तालियां बजीं और मुझे ससम्मान नियत स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया गया। यह राजसी विवरण उस क्षण का है जिस दिन भारत सरकार ने मुझे पद्मश्री का अलंकरण प्रदान किया था।

जब मैं राष्ट्रपति भवन में प्रविष्ट हो रहा था, तब मुझे अचानक मथुरा की रामलीला याद आ गई। मैं राम बना था। उन दिनों भी मेरे पैर जमीन पर नहीं पड़ते थे। या तो मैं भक्तों के कंधों पर होता था अथवा चांदी के सिंहासन पर। वनवास के दिन जब सीता और लक्ष्मण के स्वरूपों के साथ मुझे पैदल नगर के बाजारों से गुजरना पड़ा तो मेरे आगे लीला के प्रबंधकजन लट्ठे और मारकीन के लंबे-लंबे थान आगे-आगे बिछाते चलते थे। जिस तरफ मैं देख लेता, लोग धन्य हो जाते और जय-जय के स्वर उच्चारने लगते थे। दौनों में छोड़े हुए मिष्ठान्न और झारी में पीकर बचे हुए जल को प्रसादी मानकर लोग उन्हें प्राप्त करने के लिए परस्पर प्रतिस्पर्द्धा किया करते थे। जिसे मैं अपनी माला या फूल प्रदान कर देता, वह निहाल होकर नाचने लगता था।

मैंने सोचा कहां वह रामलीला और कहां यह राज-लीला। पात्र न मैं उस लीला के योग्य था और न ही इस लीला के। वह प्रताप भगवान राम का प्रताप था और यह प्रताप मेरा नहीं, मेरी हिन्दी का था। रामलीला में माध्यम मेरा रूप-स्वरूप, स्वर और कुलीनता थी, तो इस लीला में माध्यम मेरी पत्रकारिता और उससे विकसित हिन्दी सेवा थी। अगर मैं हिन्दी के एक दैनिक पत्र (हिन्दुस्तान) में कार्य न करता तो लाख हाथ-पैर मारता, मेरी हिन्दी-सेवा में चमत्कार पैदा नहीं होता। लाख पत्रकार होता, लेकिन हिन्दी-सेवा का व्रत न लिया होता तो बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन की नजरों में मैं नहीं चढ़ पाता। अगर टंडनजी

ने मुझे विश्वस्त और प्रमाणित कार्यकर्ता नहीं माना होता तो श्री लालबहादुर शास्त्री का स्नेह मुझे कदापि प्राप्त नहीं होता। अगर लालबहादुर शास्त्री भारत के प्रधानमंत्री नहीं हुए होते तो इसमें कोई संदेह नहीं कि मुझे वह अलंकरण कदापि नहीं मिल पाता।

जब शास्त्रीजी गृहमंत्री थे तब एक रात मेरे पास उनका फोन आया–"व्यासजी, बधाई ! पंडितजी आपके नाम के लिए सहमत हो गए हैं। भारत सरकार आपको अलंकृत करने की सोच रही है।"

मैं उस समय पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' के पास हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस में बैठा था। शास्त्रीजी के फोन से पहले उग्रजी ने मुझसे कहा था–"भाई व्यास, पं. माखनलालजी चतुर्वेदी को भारत सरकार भूली हुई है। अभी तक उन्हें कोई राष्ट्रीय अंलकरण नहीं मिला। तुम अगर यत्न करो तो यह कार्य संभव हो सकता है। उनकी आयु काफी हो गई है। न जाने कब चल बसें। देश की स्वतंत्रता और हिंदी की समृद्धि के लिए जो कुछ उन्होंने किया है, उसके प्रति भारत सरकार को अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करनी ही चाहिए।

शास्त्रीजी से मेरी औपचारिकता नहीं थी। मैंने उनसे सीधे-सीधे कहा–"शास्त्रीजी, मैं तो बहुत जूनियर हूं। मुझसे कहीं सीनियर और महत्वपूर्ण राष्ट्रीय महानुभाव अभी शेष हैं। इस बार तो आप भारतीय आत्मा पं. माखनलालजी चतुर्वेदी को यह सम्मान दिला देने की कृपा कर दीजिए।"

आश्चर्य से शास्त्रीजी ने पूछा–"क्या उन्हें अब तक कोई अलंकरण नहीं मिला ?"

मेरे 'जी नहीं' कहने पर पहले तो वह कुछ क्षण मौन रहे, फिर बोले "कल इस पर विचार होना है। अगर आप आज रात-रात में उनकी स्वीकृति प्राप्त कर दें तो मैं प्रयत्न कर सकता हू। खंडवा से फोन मिलाकर उनसे बातें कर लो और मुझे सवेरे आठ बजे तक घर पर बता दो।"

माखनलालजी के घर फोन कहां ? देर रात वह फोन पर बातें करने के लिए आनेवाले जीव भी नहीं थे। खंडवा के कलेक्टर को गृहमंत्री का हवाला देकर फोन पर जगाया गया। उन्होंने बड़ी कठिनाई से चतुर्वेदीजी को प्राप्त किया।

पहले तो वह तैयार नहीं हुए। जब मेरी और शास्त्रीजी की बात का उन्हें हवाला दिया गया, तो मौन हो गए। मौनम् सम्मति लक्षणम् ! लेकिन एक शर्त लगा दी कि वह अलंकरण लेने दिल्ली नहीं जाएंगे।

सहमति शास्त्रीजी तक पहुंचा दी गई और माखनलालजी पद्म विभूषण से विभूषित हो गए।

मुझे इस बात का गर्व है कि पद्मश्री का अलंकरण मैंने किसी राजपुरुष से नहीं, अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वान और दार्शनिक सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन से प्राप्त किया। एक और संयोग देखिए कि उस समय मैं ही नहीं, राष्ट्रपति भी नेत्र-रोग से पीड़ित थे। मैंने देखा कि उनके सचिव उनसे कहते जाते थे–वन स्टेप अहेड सर, राइट सर आदि। तमगा लगाया गया। प्रशस्तिपत्र प्रदान किया गया। खटाखट कैमरों के फ्लैश चमके। लगातार देर तक तालियां बजीं। आकाशवाणी ने विशेष रूप से वहीं इंटरव्यू लिया। बधाई पर बधाई मिलने लगीं। भीड़ चीरती हुई श्रीमती इंदिरा गांधी आईं और जीवन में पहली बार उनसे हाथ मिलाने

का सुअवसर प्राप्त हुआ। अविस्मरणीय क्षण तो मेरे लिए वह था, जब चायपान के समय शास्त्रीजी मेरे पास आए और परिवार के सदस्यों के साथ बैठकर न केवल चाय पी, बल्कि पारिवारिक चित्र भी खिंचवाया। मैं इस बात को यहां इसलिए लिख रहा हूं कि शास्त्रीजी फोटोबाजी से सदा दूर रहते थे और पारिवारिक घनिष्ठता को कभी सार्वजनिक नहीं बनने देते थे।

मेरे पद्मश्री बनने पर दिल्ली में स्वागत समारोहों का तांता लग गया। कुछ और बड़े शहरों में भी आयोजन हुए। हिंदी के अखबारों में भी जरूरत से कुछ ज्यादा ही इस अवसर पर मेरे नाम-काम को उछाला गया।

जगत के व्यवहार और व्यापार से विमुक्त जब यह समाचार मेरे विरक्त पिताजी के पास पहुंचा तो उनकी समझ में कुछ नहीं आया कि यह पद्मश्री क्या बला है ? कुछ दिनों बाद जब मैं उनके पास गया तो उन्होंने पूछा–"गोपाल, बड़ौ हल्ला है रह्यौ है। बीसेन आदमी मेरे पास बधाई दैवे के ताईं आए। तोय कहा मिलौ है ?" मैंने पद्मश्री मिलने की बात बताई तो पूछने लगे–"जे कहा होय है ? पहले जमाने में तो जब राजा-महाराजा काऊ पै प्रसन्न होते तो वाय जागीर बख्शते, धन-दौलत देते। तो कूं कहा प्राप्ति भई है ?" मेरे यह बताने पर कि एक कागद की सनद और एक लोहे-तांबे का-सा बिल्ला मिला है, तो हंसकर कहने लगे–"दुनिया बावरी है। यामैं का खास बात है गई।"

लेकिन सबसे मजेदार घटना तो मेरी ससुराल हिंडौन में घटी। बाजार में रेडियो से किसी ने यह समाचार सुना और मुंह-लटकाकर हमारी सास को बताया कि अशर्फी के मेहमान यानी हमको परमगति प्राप्त हो गई। पहले तो इस बात पर विश्वास नहीं किया गया। लेकिन जब "रेडियो बोला है" की बात बताई गई तो सासूजी धड़ाम से जमीन पर गिर पड़ीं। घर में कोहराम मच गया। जो आता नंगी भूमि पर बैठकर रोने लगता। बाद में किसी पढ़े-लिखे ने आकर मामले को स्पष्ट किया और रुदन परिहास में परिवर्तित हो गया।

आदमी हो या औरत, उससे निरर्थक छेड़खानी करना ठीक नहीं होता। बार-बार संकल्प करके भी मैं अपनी छेड़छाड़ की आदत नहीं छोड़ पाता। एक असली और दो नकली दांतों के सैट तोड़ चुका हूं, लेकिन पान-सुपारी नहीं छोड़े जाते। जानता हूं कि तम्बाकू तन को सुखा देती है। डॉक्टर कहते हैं कि इससे कैंसर भी हो जाता है। लेकिन न जाने हमने कहां से यह दोहा सुन लिया–

बिना कुचन की स्त्री, बिन मूंछन को ज्वान।
नाके पै फीके लगै, बिना तमाखू पान।।

तो श्रीमान, हमसे तम्बाकू भी नहीं छोड़ी जाती। श्रीमतीजी दिन में कम से कम दस बार यह समझाते नहीं थकतीं कि हर बात को मजाक में मत लिया करो। कभी-कभी तो वे यह कहावत भी मार देती हैं–

हंसना बामन, खंसना चोर,
कुबड्ढ कायथ कुल का बोर।

लेकिन कुल डूबे या बचे, हम अपनी आदत से बाज नहीं आते। डॉक्टर पड़ोस में ही हैं। देखने की फीस भी नहीं लेते। कभी-कभी तो दवा भी मुफ्त दे दिया करते हैं। आजकल हमें अक्सर यह हिदायत देते रहते हैं कि अब मिठाई खाना बंद कर दो। मक्खन और घी का सेवन करना भी इस उम्र में उचित नहीं है। कोई पूछे हमारे नेक डॉक्टर से कि भले आदमी, मनुष्य जीवन क्या रूखी रोटी चबाने या घास-पात खाने के लिए मिला है? पुनर्जन्म में विश्वास रखनेवाले हिन्दुओं को शरीर तो बार-बार मिल सकता है, लेकिन महंगाई के इस युग में मिठाई की कोई गारंटी नहीं। इसलिए बवासीर और डायबिटीज से मरना मंजूर, लेकिन मिठाई छोड़ना मंजूर नहीं। माना कि मिर्चें लगाने की चीज है, खाने की नहीं, लेकिन लगाने से पहले, मिर्चों का टेम्परेचर तो देखना ही पड़ता है। जाने कैसे लोग होते हैं जो मामूली-सी बात पर बीवी को, जरा-सी तू-तू-मैं-मैं पर अपने घर को और तनिक-सी सुविधाओं की खातिर अपने धर्म को छोड़ दिया करते हैं। लेकिन हम से तो अपने शरीर मे बसे रोगों से भी घर छोड़कर जाने को नहीं कहा जाता। आंखें कमजोर होते-होते लगभग दृष्टिहीनता को प्राप्त होने लगी हैं–कौन इनकी निरंतर चीरफाड़ कराए! बुरी-भली सुनते-सुनते कान अपने खुद कान पकड़ चुके हैं और अब किसी भी फुसफुसाहट को सुनने को तैयार नहीं हैं, तो हमारा क्या यह धर्म है कि अपने 'सरस-राग-रति-रंग'' के इन साथियों को छेदते-भेदते रहें? जी नहीं। जब हम अपनी भली-बुरी संतानों को कष्ट पाकर भी नहीं छोड़ पा रहे, तो हम अपने जीवन में न रोगों को छोड़ सकते है, न दोषों को। लेकिन मजे की बात देखिए कि जिसे पाने के लिए बड़े-बड़े लोग धरती-आकाश एक कर दिया करते हैं, उस राष्ट्रीय अलंकरण पद्मश्री को हमने आनन-फानन में छोड़ दिया।

हमारे उत्तर प्रदेश में एक बहुत बड़े जमींदार थे। वह निस्संतान थे, लेकिन उन्हें औलाद की तमन्ना न थी। जिन्दगी में उनकी एक ही मनोकामना थी कि जैसे भी हो, उन्हें रायबहादुर बना दिया जाये। वैसे वह बड़े कंजूस थे, लेकिन अफसरों, गवर्नरों और विलायती लोगों को पार्टियां देने के लिए थैलिया खोल दिया करते थे। एक बार तो उन्होंने उत्तर प्रदेश के गवर्नर माल्कम हैली को रायबहादुरी की खातिर चांदी के सिक्कों से ही तौल दिया था।

दिल्ली के एक गोरे-चिट्टे, खुद को गांधीवाद का अलमबरदार कहनेवाले, तथाकथित लेखक और पत्रकार से तो आप भी परिचित होंगे। हर जलसे में उनकी उपस्थिति देखी जा सकती है। जहां भी जिस विषय पर भाषण देना हो, वह सदैव तैयार रहते हैं। इतने विनीत हैं कि भरी सभा में हर प्रभावशाली व्यक्ति के चरण छूते हुए उन्हें देखा जा सकता है। हर बड़े घर में उनकी पैठ है। लेकिन न जवाहर भाई ने उनकी मुराद पूरी की, न इंदिरा बहन ने ही। मोरारजी भाई के साथ वह बीसियों बार चरखा कात चुके हैं और उनसे "चिकित्सा विशेष" की दीक्षा भी ले चुके हैं, लेकिन किसी ने उन्हें अभी तक उपकृत करने की उदारता नहीं बरती। सुना है दो बार पद्मश्री आते-आते उनके हाथों से फिसल गई। एक बार का तो हमें पक्का पता है कि जब वह खादी ग्रामोद्योग भवन से शेरवानी का कपड़ा खरीद रहे

थे, उन्होंने अलग ले जाकर हमारे कान में कहा था—पता चला है कि बस घोषणा की ही कसर है। मान लो अगर हो गई तो धोती-कुर्ते में कैसे चलेगा ?

श्रीमती पदमश्रीजी मेरे पास कुल जमा इकत्तीस महीने सात दिन रहीं। वह मुझे 20 मई 1965 को प्राप्त हुई थीं और 27 दिसंबर 1967 को मैंने उन्हें विदा कर दिया। जब तक रहीं, बड़ा सुख दिया। बड़ी दावतें खिलवाईं। बड़े शाल-दुशाले उढ़ाए। कागज के ही नहीं, तांबे और चांदी के अभिनंदन-पत्र भी जाते-जाते दे गईं। आईं तो बाजे बजे और गईं तो भी बाजे बजे। जितने समारोह आने पर नहीं हुए उतने जाने पर हो गए।

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जब ब्रिटिश सरकार का दिया हुआ 'सर' का खिताब छोड़ा था, तब उनके भी इतने अभिनंदन नहीं हुए होंगे। इसका कारण यह नहीं कि रविबाबू के त्याग का महत्व मुझसे कम था या उस समय लोगों ने उसके महत्व को ठीक से नहीं समझा। असल बात यह रही होगी कि उस समय देश में अभिनंदनकर्ताओं के वर्ग विशेष ने जन्म नहीं लिया था और शायद यह भी हो सकता है कि स्वयं रविबाबू में उन दिनों कोई शारीरिक अक्षमता रही हो, जिससे उनमें जीवन का उत्साह जाता रहा हो। किंतु मैं तो अभिनंदनों का समाचार पाते ही अपने को पूर्ण स्वस्थ अनुभव करने लगता हूं। अभिनंदनकर्ताओं का ही नहीं, उसकी चर्चा चलानेवालों को भी उत्साहित करने में कभी पीछे नहीं रहता। बचना तो बुरे कर्मों से चाहिए, अभिनंदन, उद्घाटनों आदि सत्कर्मों से क्यों ?

परमात्मा जो करता है, अच्छा ही करता है—यह कहावत किसी ने यों ही नहीं कही। मान लो पद्मश्री मेरे पास रह भी जातीं, तो उससे क्या लाभ था, न उसके बिल्ले को छाती पर लगाकर किसी को दिखा सकता था, न किसी की जमानत देते वक्त उस कागज की सनद को पेश कर सकता था। सरकारी आयोजनों के निमंत्रण तक तो राष्ट्रीय अलंकरणप्राप्त लोगों को मिलते नहीं। तब लोग इस कागज के टुकड़े को लेकर क्या चाटें ?

एक बार यात्रा में बिहार के एक जंक्शन पर फंस गया। रिजर्वेशन की खिड़की पर गया। उत्तर मिला, कोटा फुल। नाम बताया कि शायद कहीं से इसने भी सुन लिया हो—कोई असर नहीं। तब रौब दिखाया—जनाब हम भी वी.आई.पी. हैं, आई मीन पद्मश्री हैं। इस बार बुकिंग क्लर्क ने हमें गौर से देखा और बोला—आपसे किसने कह दिया कि पद्मश्री वी.आई.पी. होते है। रेलवे में पद्मश्रियों के नाम पर कोई कोटा नहीं होता।

जब रेलों में आरक्षण नहीं मिलता, सरकार को छोड़िए साहबे-जायदाद किराए को मकान नहीं देते, नौकरी में तरक्की नहीं होती और हर अलंकरणप्राप्त व्यक्ति विधान-परिषद या राज्य-सभा का सदस्य नहीं बन पाता—तो रही भी जैसी, गई भी वैसी। जब इस खिताब को लोग अपने नाम के साथ भी न जोड़ सकें और अपने मकान के दरवाजे पर इसका साइन बोर्ड भी न टोक सकें, तो जी, इसे संदूकची में बंद करने से क्या लाभ ? शायद यही कि मरने के बाद पत्नी इसे देख-देखकर रोए और बच्चे या बच्चों के बच्चे अथवा उनके भी बच्चे, यानी भावी पीढ़ियां गर्व करें कि हमारा कोई पुरखा ऐसा हुआ था जो एक सौ आठ, एक हजार आठ, लाख अथवा करोड़ नहीं, पदमश्री था। बात तो ठीक है, परंतु खतरा भी है। शायद तब तक अलंकरण देनेवाली सरकार बदल जाए और नई आनेवाली सरकार पुराने

अलंकरणों को अमान्य कर दे या ब्लैकलिस्ट में डाल दे। तब संततियों को गर्व के स्थान पर कहीं अफसोस का सामना न करना पड़े।

दीमकों और चूहों का खतरा भी कम नहीं हैं। क्या पता कोई गणेशजी का वाहन अपने बच्चों के खेल के लिए उस बिल्ले को अपने बिल में ले जाए और उस सरकारी दस्तावेज को स्वाद ले-लेकर चट कर जाए तो गौरवशाली इतिहास नष्ट हो जाएगा न ?

मैंने कहा न कि विषय कितना भी गंभीर हो, लेकिन उसे लाइट बनाने की आदत मैं नहीं छोड़ सकता। पर छोड़िए आप, मैं पद्मश्री छोड़ने की कथा कहने चला हूं। हुआ यह कि भारत की संविधान निर्मात्री परिषद के सर्वसम्मति से हिंदी को राजभाषा बनाने के निष्ठापूर्ण निर्देश को निबाहने में सत्ताधारी कांग्रेस दल पूरी तरह निष्क्रिय सिद्ध हुआ है। वह संविधान-निर्माताओं के निर्देशों को तो भूल गया, लेकिन याद रहा उसे अपने दल की बैठक का वह दृश्य जिसमें राजभाषा हिंदी का प्रश्न केवल एक वोट के बहुमत से पास हुआ था। जीतनेवाले तो जीतकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान बैठे, लेकिन केवल एक वोट से हारनेवाले इस चोट को अभी तक नहीं भूले हैं और लगातार इस हार का बदला लेने के लिए वे कोई अवसर हाथ से नहीं जाने देते। उन्हीं के सतत प्रयत्नों से देवनागरी के अंकों के स्थान पर रोमन अंक स्वीकार किए गए। उन्हीं की कोशिशों का यह नतीजा था कि तत्काल लागू होने की बजाय, तैयारी के बहाने हिंदी को राजसिंहासन पर बिठाने से पूर्व चौदह वर्षों का वनवास दिया गया। संविधान के निर्देशानुसार सरकार ने हिंदी आयोग बनाया अवश्य, लेकिन उसकी सिफारिशों पर काम नहीं किया गया। इन पर विचार करने के लिए बना दी गई एक संसदीय समिति। उस समिति ने भी कोई कारगर कदम नहीं उठाया।

राजर्षि टंडनजी हिंदी के लिए संघर्ष करते-करते टूट गए और अंत में चल बसे। बस रह गए सेठ गोविंददास, जो आत्मा की आवाज के नाम पर अकेले हिंदी के पक्ष में वोट देते रहे, बोलते रहे और वक्तव्यों की लड़ाई लड़ते रहे। उनके और स्वर्गीय प्रकाशवीर शास्त्री के ओजस्वी और तर्कपूर्ण भाषणों से जब कुछ नहीं बना तो हिंदी-जगत में जहां-तहां कुछ हलचल होने लगी। हिंदी के विरोधी, मानो इसी की प्रतीक्षा कर रहे थे। दक्षिण भारत में हिंदी का जबर्दस्त विरोध होने लगा। इसके परिणामस्वरूप नेहरूजी को आश्वासन देना पड़ा। हिंदी-विरोधी इस आश्वासन को पकडकर बैठ गए। आंदोलनों की आड़ लेकर राजनीतिक दबाव पड़ने लगे। परिणाम यह हुआ कि 26 जनवरी, 1965 को, जिस दिन से हिन्दी राजभाषा के रूप में पूरी तरह से व्यवहृत होनेवाली थी, वह तिथि टल गई और भाषा विधेयक में संशोधन कर दिया गया। जब उससे भी संतोष नहीं हुआ तो संशोधन की नौबत दोबारा भी आ गई।

हिन्दी-जगत इन कारगुजारियों से क्षुब्ध हो उठा। दक्षिण के आन्दोलनो की प्रतिक्रिया उत्तर में भी हुई। आंदोलनों की कमान नेताओं के हाथ से निकलकर विद्यार्थियों के हाथ मे आ गई। साहित्यकार, पत्रकार और बुद्धिजीवी भी व्याकुल हुए।

मैं उस समय दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन का महामंत्री था। मैंने हिंदी संस्थाओं के प्रतिनिधियों, मान्य साहित्यकारों, पत्रकारों और हिंदी के पक्षधर राष्ट्रीय नेताओं से पत्र-

व्यवहार किया, मिला। बाद में सबको एकत्र किया और पूछा कि क्या चाहिए ?

आम राय यह बनी कि देश की वर्तमान स्थिति को देखते हुए भाषा को लेकर देश में आंदोलन का बिगुल बजाना तो राष्ट्रीय एकता के हित में नहीं होगा। सरकार इसे गलत रूप में ग्रहण करेगी। हिंदी-विरोधी इसका अनुचित लाभ उठाएंगे और समाज-विरोधी तत्व इस आंदोलन को गलत दिशा भी प्रदान कर सकते हैं। इसलिए हिंदी-जगत को अपना विरोध ऊंचे सैद्धांतिक स्तर पर प्रकट करना चाहिए। वह ऐसा हो कि जिससे राष्ट्रीय हितों को तो चोट न पहुंचे, लेकिन भारत सरकार को यह महसूस हो जाए कि बात गंभीर है और नीचे से लेकर ऊपर तक उसकी रीति-नीति का विरोध किया जा रहा है।

मांग हुई कि हिंदी के लोग उच्च सरकारी नौकरियों, सलाहकार समितियों और ऐसे पदों से हट जाएं जो उन्हें हिंदी के कारण प्राप्त हुए हैं।

प्रस्ताव आया कि हिंदी के जिन साहित्यकारों, कलाकर्मियों और पत्रकारों को राजकीय अलंकरण प्राप्त हुए हैं, वे उन्हें सादर लौटा दें।

सभी लोग इस बात पर सहमत थे कि सरकार की हिंदी-विरोधी नीति के कारण 'दिल्ली बंद' का आयोजन किया जाए। सांप्रदायिकता और हिंसा से हिंदी के आंदोलन को दूर रखा जाए।

बातें लिखने को बहुत हैं। नेता जनता को भड़काकर उसे त्याग के लिए प्रेरित कर सकते हैं, परंतु अपने छोटे-छोटे स्वार्थों को भी वे आसानी से नहीं त्याग सकते। हिंदी के अधिकांश लोग, हिंदी का नारा कुछ पाने के लिए लगाते हैं, खोने के लिए नहीं। सभा में उपस्थित ऐसे व्यक्तियों ने सरकारी नौकरियों और समितियों को छोड़ देने के प्रस्ताव का इसलिए समर्थन नहीं किया कि इससे उनके हितों पर आंच आती थी। अलंकारों के परित्याग का प्रस्ताव इसलिए स्वीकृत हो गया कि उक्त बैठक में अलंकृत व्यक्तियों की संख्या केवल तीन ही थी। इन तीनों ने भी राजी-खुशी यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया हो, ऐसी बात भी नहीं थी। लेकिन उस समय हिंदी का माहौल गर्म था।

विद्यार्थी आगे-आगे थे और विरोधी-दल भी पीछे-पीछे इसे हवा दे रहे थे। जो नहीं छोड़ना चाहते थे, उन्हें भी मन मारकर अपने अलंकरण छोड़ने पड़ गए। कुछ को विद्यार्थियों ने घेरकर अलंकार छोड़ने के लिए विवश कर दिया। कुछ ने इसमें भी होशियारी बरती। घोषणा तो नाम छपाने के लिए तत्काल कर दी, लेकिन ज्ञात हुआ है कि कुछ ने अपने पदक और सनद अभी तक वापस नहीं किए। यह बात मुझे तब मालूम हुई, जब तत्कालीन गृहमंत्री श्री यशवंतराव चव्हाण ने संसद में बताया कि उन्हें अभी तक सेठ गोविंददास और गोपालप्रसाद व्यास के अलंकरण-त्याग की ही जानकारी है। हां, अखबारों में इस संबंध में कुछ नामों की घोषणा अवश्य हुई है।

किसको क्या कहें और किस-किस की शिकायत करें ? यह दुनिया है और दुनियादार लोग चलती गाड़ी में ही बैठा करते हैं। हिंदी की गाड़ी बीच में ही रुक गई है। इसलिए इसमें बैठे हुए लोग भी भाग-भागकर अंग्रेजी की गाड़ी पकड़ रहे हैं। ऐसे लोग दुनिया में कम ही होते हैं, जो डूबते हुए जहाज का साथ अंत तक नहीं छोड़ते। निष्ठा और आदर्श इन्हीं के त्याग पर टिके हैं। कौन अलंकरणों को छोड़ता है या नहीं छोड़ता, कौन सरकारी

समितियों से बाहर आता है या नहीं आता, इसकी चिंता और प्रतीक्षा किए बिना, जैसे ही सम्मेलन की बैठक में प्रस्ताव पारित हुआ, मैंने भारत सरकार के तत्कालीन गृहमंत्री श्री यशवंतराव चव्हाण को लिखा–

दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन

मान्य श्री गृहमंत्रीजी,

भाषा-संशोधन विधेयक से मेरे हृदय को बड़ा आघात पहुंचा है। सन् 1963 में जब प्रथम बार राजभाषा कानून में संशोधन किया गया था, तब मैं तत्कालीन गृहमंत्री शास्त्रीजी और हमारे लोकनायक प्रधानमंत्री प. जवाहरलालजी नेहरू से मिला था। तब उन्होंने मुझे व्यक्तिगत और जो शिष्टमंडल मेरे साथ आया था, उसको भी यह आश्वासन दिया था कि विधेयक द्वारा अहिंदी-जगत को जो आश्वासन दिए गए थे, वे पूरे हो गए हैं और अब हिंदी का काम चलेगा। लेकिन खेद है, वैसा नहीं हुआ और उस संशोधन में भी पुनः संशोधन किया जा रहा है। मेरे विचार से इस विधेयक के पारित होने पर हिंदी की गति पंगु हो जाएगी और अंग्रेजी को हमेशा के लिए राज-काज में स्थान प्राप्त हो जाएगा। यह हिन्दी और हिन्द दोनों के लिए अहितकर है।

मुझे भारत सरकार ने पद्मश्री की उपाधि से सम्मानित किया है। मैंने इसे अपना नहीं, हिन्दी का सम्मान माना था। जब हिन्दी ही राजभाषा पद के योग्य नहीं तो मैं कैसे पद्मश्री के योग्य हो सकता हूं? हिन्दी निरादृत हो तो मैं कैसे अलंकार धारण करूं? इसलिए अत्यंत परिताप के साथ मैं पद्मश्री की उपाधि वापस लौटा रहा हूं। इसे अन्यथा नहीं लेंगे। मैं राजनीतिक कार्यकर्ता नहीं, हिन्दी का एक रचनात्मक कार्यकर्ता हूं। गांधीजी की प्रेरणा से इस ओर प्रवृत्त हुआ था और टण्डनजी के साथ मैंने काम किया है। मैं देखता हूं कि हिंदी की रचना ही बिगड़ रही है।

कृपया यह सूचित कराने का कष्ट करें कि इसकी सनद और पदक कहां और किसे,कब सौंपे जाएं?

आपका,

गोपालप्रसाद व्यास

जब इस पत्र का कोई उत्तर नहीं मिला तो मैंने निर्णय किया कि जिसकी अमानत है, उसी को लौटा दी जाए। पद्मश्री के दो तमगे और सनद मैंने अपने छोटे पुत्र श्री ब्रजमोहन व्यास के द्वारा विनयपूर्वक राष्ट्रपति भवन को रवाना कर दिए और लिखा–

दैनिक हिन्दुस्तान

नई दिल्ली

महामहिम राष्ट्रपतिजी,

सादर जय हिन्द !

अत्यंत दुःख के साथ, किंतु विनयपूर्वक मैं अपना पद्मश्री का अलंकरण आपको लौटा रहा हूं। मैं यह अप्रिय कष्ट आपको नहीं देता, लेकिन मैंने गृहमंत्रीजी को लिखकर यह पूछा था कि इन महत्वपूर्ण वस्तुओं को कब और कहां सौंपा जाए ? परंतु उन्होंने मुझे इसकी सूचना देने का कष्ट नहीं किया। इसलिए यह आपकी धरोहर आपको ही सौंप रहा हूं। भगवान हमारे देशवासियों को भाषायी सुमति प्रदान करे और हम शीघ्र विदेशी भाषा की दासता से मुक्त हों।

विनीत,
गोपालप्रसाद व्यास
1815, भागीरथ पैलेस
चांदनी चौक
दिल्ली-6

संलग्न :
पद्मश्री के दो पदक
और उपाधि-पत्र

हमारे हिन्दी के संत कवि बड़े अनुभवी थे। उन्हें पता था कि मेरे जीवन में भी एक अवसर ऐसा आएगा। कबीरदास की वाणी मेरे मन में फूट उठी और मैं गुनगुनाने लगा—"दास कबीर जतन तें ओढ़ी, ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया।"

मैं निस्संकोच कह सकता हूं कि श्री गोपालप्रसाद व्यास में हास्य-व्यंग्य साहित्य के सृजन के लिए सभी गुण विद्यमान हैं। विनोदी स्वभाव होने के कारण इन्हें शब्दों की अधिक ढूंढ-खोज की आवश्यकता नहीं पड़ती है। इनकी रचनाएं गुदगुदाती ही नहीं, झकझोरती भी हैं। मन हंसने लगता है और बुद्धि विचारने। इनके विनोदी स्वभाव ने ही इनकी पत्रकारिता में भी एक विशेषता ला दी है। पत्रकारिता एक गंभीर और चिंतनसाध्य कार्य है। किन्तु इनके 'यत्र-तत्र-सर्वत्र' और 'नारदजी खबर लाए हैं' स्तंभों में व्यंग्य, विनोद और गांभीर्य तीनों के दर्शन होते रहते हैं। निस्संदेह व्यासजी एक सफल साहित्यकार, व्यंग्यकार और पत्रकार सिद्ध हुए हैं। हिन्दी भाषा और साहित्य की सेवा तो वह कर ही रहे हैं, ब्रजभाषी होने के नाते इन्होंने ब्रजभाषा की भी सराहनीय सेवा की है।

—जगजीवन राम

द्वितीय उल्लास

मेरी कविता-यात्रा

मेरी कविता-यात्रा

मेरी कविता-यात्रा ने बड़ी दूरियां तय की हैं। कन्याकुमारी से लेकर कश्मीर तक और कलकत्ता से लेकर काहिरा तक। शायद ही कोई उल्लेखनीय स्थान ऐसा बचा हो, जहां मेरी कविता ने श्रोताओं को गुदगुदाया न हो, उनके ओठों पर मुस्कान न थिरकाई हो और हिन्दी-कविता में भी कुछ जान है, इसका भान रसिकों को न कराया हो। गांवों की चौपालों, मजदूरों की झुग्गी-बस्तियों, स्कूलों-कॉलेजों, पुस्तकालयों से लेकर साहित्यिक एंव सांस्कृतिक संस्थाओं के मंचों पर यह मुखरित हुई है।

इस कविता-यात्रा ने गरीबों की झोंपड़ी भी देखी है और राष्ट्रपति भवन भी। राजाओं और बादशाहों के महल भी देखे हैं और विवेकानंद शिला से लेकर भेड़ा घाट की संगमरमरी चट्टानों पर भी इसके पड़ाव पडे हैं। देश में ही नहीं, कुवैत के अमीर, सीरिया के राष्ट्रपति, मिस्र के नासिर और उनसे भी पहले के बादशाह के आरामगाह और सैरगाहों तक में यह कविता-यात्रा पहुंची है। मिस्र के पिरामिडों पर भी चढ़ी है। स्वेज नहर में भी तैरी है। खाड़ी के देशों मे भी गई है और उस समुद्र में भी उसके स्वर गुंजरित हुए हैं जो योरोप, अफ्रीका और एशिया के देशों को छूता है। इतना ही नहीं, इस यात्रा में मैंने कविता में संपादकीय लिखे हैं और मित्रों के पत्रों के उत्तर भी कविता में रवाना किए हैं। आज के नेतागण गर्व के लिए गौरव शब्द का प्रयोग करते हैं। आप चाहें तो यह कह सकते हैं कि मेरे बाद के कवियों की कविता-यात्रा मुझसे भी दूर-दूर गई है, लेकिन मैंने अपने जमाने में अपना कीर्तिमान किसी को नहीं छूने दिया।

मेरी उम्र आज छिहत्तर वर्ष की है। बारह वर्ष की उम्र से कविताएं लिखने लगा था। गहराई कितनी है यह आप ज़ानें, लेकिन लंबाई ने चौंसठ वसंत देखने का सौभाग्य अवश्य प्राप्त किया है। सन् सत्ताईस से मेरी कविता मंच पर चढ़ी है। सन् चालीस से वह साहित्यिक मासिक पत्रिकाओं में, साप्ताहिकों में, दैनिक पत्रों में कभी यदाकदा और कभी धारावाहिक रूप से छपती रही है। मैंने जो कविता के लिए कमर कसी थी, सन् सत्तर में

उस फेंटे को खूंटी पर टांग दिया। अब बड़े-बड़े प्रलोभनों के साथ बड़े-बड़े कवि-सम्मेलनों के निमंत्रण आते हैं, लेकिन मन भर गया है। एक कारण यह भी है कि उतरती उम्र में अब यात्राओं की जोखिम उठाना मेरे वश का नहीं रहा।

पहले मैं तुकाराम था, फिर नामदेव हुआ और अंत में आनंदमूर्ति होकर स्थानधारी महंत बन गया। इसे स्पष्ट कर दूं—कविता तुकें जोड़ने से प्रारंभ हुई तो तुकाराम। उनमें जब 'व्यास कवि' के नाम की छाप लगाने लगा तो नामदेव। जब व्रज-कविता से निकलकर खड़ीबोली में आया और खड़ी में भी जब व्यंग्य-विनोद को अपनाया तो लोगों ने उपाधियां बरसानी शुरू कीं। किसी ने कहा हर्षदेव। किसी ने कहा हास्यरसावतार। किसी ने कहा परिवार-रसी। किसी ने कहा पत्नीवाद का प्रवर्तक। कुछ तो इतने कृपालु हुए कि मुझे ब्रह्मर्षि, भीष्मपितामह वताने में भी नहीं चूके। परंतु इस यात्रा में मुझे महादेवी वर्मा का दिया हुआ नाम ज्यादा पसंद आया—आनंदमूर्ति। जड़ता तो भगवान की कृपा से अभी तक नहीं आई है, लेकिन परिस्थितियों ने मुझे अपने ही कमरे में मूर्ति की तरह जड़ दिया है। आरती तो नहीं उतारी जाती। मधुमेह के कारण नैवेद्य भी समर्पित नहीं होते। लेकिन लोग दर्शनों को अवश्य आते हैं और भ्रम में पड़ जाते हैं कि अरे, कौन कहता है कि व्यास छिहत्तर वर्ष का है। इसकी सरसता, इसकी स्मृति, इसका बतरस, इसके कविता सुनाने का रंग-ढंग तो वही है जो पच्चीस-तीस वर्ष पहले था। कद-काठी भी बनी हुई है। बहाने करता है वुढ़ापे के। शय्या-सुख ले रहा है। प्याले पर प्याले चाय पी रहा है। मुंह में अभी भी पान की गिलौरियां दबी रहती हैं। महिलाओं से वात करते हुए अभी भी खिल पड़ता है। बच्चों में वच्चा है और युवकों में युवक। बूढ़ों को भी जवान वनाने की कला इसे आती है। कसम आपकी, यह मैं नहीं कह रहा, लोग कहते हैं। झूठ-सच की वात वे जानें। परंतु ऐसी झूठी वातों को भी सच मानने में मुझे सुख मिलता है।

हां सुख। परमसुख। जिसका जीवन में बेहद अभाव है, वह मुझे भगवान ने जी भर कर दिया है। इस बोध के साथ कि सुख को आनंद मानो। कायिक सुख अपनी जगह है। उसे मिथ्या या माया कहकर झुठलाया नहीं जा सकता, लेकिन सच्चा आनंद वह है जो इस जीवन का इष्ट है। वही जव परमपद को प्राप्त हो जाता है तो परमानद तक पहुंच जाता है। अगर आनंद सत् और चित् के साथ जुड़ जाए तो फिर सच्चिदानंद। अध्यात्म की नहीं, जगत की बात ही करें। आदमी मां को दुःख देता हुआ पैदा होता है और कितना ही बुद्धिमान, धनवान, कुर्सीदार या कलाकार बन जाए, दुःख उसका पीछा नहीं छोड़ता। यह जगत दुःख का सागर है—"नानक दुखिया सब संसार।" जिसे देखो वह दौड़ रहा है सुख पाने के लिए। लेकिन सुख तो मृगतृष्णा है। आकाशकुसुम है। आदमी कितना ही हाथ-पैर मारे। कितना भी बटोर ले। कितना भी सिद्ध-प्रसिद्ध हो जाए। कितना भी तनकर दिखाए। तनाव उसका पीछा नहीं छोड़ता। जब दीवानी होकर भी मीरा दर्द से मुक्त नहीं हुई तो उसे भी जहर पीना पड़ा था। राजा से लेकर रंक तक सभी को दुखों ने दंशित कर रखा है। ऐसे दीन-दुखियों के मुख पर एक क्षण के लिए भी जो मुस्कान बिखेर देता है, हृदय को उल्लसित कर देता है, कुछ मिनटों के लिए ही सही, वह जन-मन को आनंद-विभोर कर देता है, उससे बढ़कर मानवता का कोई सेवक नहीं हो सकता।

मैंने आनंद का जीवन जिया है। दोनों हाथों से आनंद लुटाया है। यही मेरे जीवन का इष्ट है। यही मेरी कविता की साधना है। यही मेरी समाजसेवा है। यही मेरा राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य है। यह सब कह चुकने के बाद इतना और कहूंगा कि आनंदमयी कविता का जन्म भी गहरी वेदना, चाहो तो कह लो उसे संवेदना, मैं कहता हूं दुःख-दर्द, से ही होता है। जो दुखी को नहीं पहचान पाया, जिसने स्वयं दर्द नहीं झेला, वह दूसरों के दुःख-दर्द मिटाने के लिए आनंद की सृष्टि कैसे कर सकता है ? हास्य गुलाब का फूल है तो दर्द उससे पहले उगनेवाला कांटा। पौधा कांटों को अपने पास रखकर रसिकों को सुवासित गुलाब प्रदान करता है।

यदि मैंने ऐसा किया है तो मेरी कविता, कविता है। कविता-यात्रा इसी इष्ट की परिक्रमा है।

"परदेस कलेस नरेसन कौं" राजा भी जब यात्रा पर निकलता है तो उसे भी क्लेश भुगतने होते हैं। परंतु मैं ठहरा एक अकिंचन कवि। उसे भी यात्रा में पग-पग पर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। मेरी कविता-यात्रा में कंकड़ गड़े, कांटे चुभे, ठोकरें लगीं, बिच्छुओं ने डंक मारे, सांप फुंकारे। लकड़बग्घे और भेड़िए गुर्राए कि तू यहां ! लेकिन कविता तो मेरी तरह असहाय और अकिंचन नहीं थी। वह साहस के साथ आगे बढ़ती ही गई। मैदानों में भी, पहाड़ो पर भी, खाई-खंदकों को पार करती हुई चलती ही चली गई। वह तपती हुई बालू में भी चली और हरियाली में भी उसने शीतलता प्राप्त की। जाड़ों में ठिठुरी। गर्मी में झुलसी। बरसात में भीगी। लेकिन उसके मन में वसंत था, इसलिए पीली सरसों,रक्तिम पलाश पुष्पों, वन-उपवनों का भी आनंद उसने लिया।

कविता-यात्रा पुरातत्व के खंडहरों से भी गुजरी। उसने भक्ति, ज्ञान और विज्ञान के नए-पुराने मंदिरों के भी दर्शन किए और यह दर्शन मुझे दिया कि जो व्यक्ति देश-दर्शन नहीं करता, वह जनजीवन को नहीं पहचान सकता। अनेक जातियों, अनेक बोलियों, अनेक धर्मों, संप्रदायों तथा मतवादों के रहते अनेकता में एकता के मर्म को नेताओं के भाषणों और बुद्धिवादियों के लेखों से नहीं जाना जा सकता। उसके लिए तो यायावरी अपनानी पड़ती है। आंखों से खुद देखना पड़ता है कि राम कितने व्यापक हैं। कृष्ण कहां-कहां तक पहुंचे हैं। बौद्धों और जैनों के मठ-मंदिर अब किस तरह टीले बन गए हैं। किन मंदिरों को तोड़कर मस्जिदें बनी हैं और किन मस्जिदों में, किन कब्रों में हनुमानजी घुस गए हैं या शिवलहरी स्थापित हो गई हैं। यह सब देखकर ही समझा जा सकता है। समझकर ही सोचा जा सकता है। सोचकर ही विग्रह को शांत करने का रास्ता निकाला जा सकता है।

मेरी कविता-यात्रा ने बार-बार मुझसे कहा है कि विषमता, गरीबी, बेकारी, भुखमरी को मेरे साथ-साथ देखते चलो। भारत सुजलाम्, सुफलाम और शस्य श्यामलाम् ही नहीं है, देखो, देश में लाखों लोग ऐसे हैं जिनके तन पर सिर्फ लंगोटी ही है। जिनके पेट पीठ से सटे हुए हैं। जो वृक्षों की छालों और पत्तों से जैसे-तैसे अपनी नग्नता ढांपे रहते हैं। आम उगाते हैं, खाते नहीं। गेहूं पैदा करते हैं, पर ज्वार-बाजरा खाकर जीवित रहते हैं। फिर भी वे नाचते हैं, गाते हैं और संसदीय लोकतंत्र को मजबूत करने के लिए बहकाए जाकर वोट भी देते हैं। कविता यात्रा-भर मुझे उकसाती रही, कहती रही कि कुछ ऐसा लिखो,

कुछ ऐसा करो, कुछ दीन-दुखी नर-नारियों की व्यथा को अभिव्यक्ति दो। तभी तुम्हारा कवि होना सार्थक है और मैं भी अपनी यात्रा को सफल मानूंगी।

कविता-यात्रा से मुझे बोध हुआ कि कवि वह नहीं जो अपने लिए लिखता है। कवि वह नहीं जो लकीर का फकीर है। लीक पर दुनिया चलती है, लेकिन "लीक छांड़ि तीनों चलें—शायर, सिंह, सपूत।" कविता-कला कला के लिए नहीं है। जो कविता समाजोन्मुखी नहीं है, वह स्वांतः सुखाय का अहं भले ही पाल ले, लेकिन समाजविमुख कविता कूड़ेदान का कचरा ही है। साथ चल रही कविता ने मेरे कान में कहा—हास्य किसी की खिल्ली उड़ाना नहीं है। अगर स्वयं पर नहीं हंस सकते तो हास्यरस के कवि नहीं हो सकते। पहले अपने दोषों का दर्शन करो। दूसरों के दोषों को मत देखो, उनकी अच्छाइयों को देखो। व्यंग्य लिखना है तो समाज-परिष्कार के लिए लिखो। व्यंग्य-वाण छोड़ने हैं तो व्यक्ति पर नहीं, व्यवस्था पर छोड़ो। और न जाने क्या-क्या कहा। मैं सुनता रहा और हृदय में धरता रहा। सोचता रहा कि कविता के इस संदेश को कैसे पूरा करूं ? कुछ किया, परंतु वह न कुछ के बराबर है। लेकिन विश्वास है कि मेरे आज के साथी और आगे आनेवाली पीढ़ी अवश्य कुछ करेगी। कविता क्रांति चाहती है। देश क्रांति चाहता है। बनो मेरे मित्रो, इस क्रांति के संवाहक। इत्यलम्।

हिन्दी में हास्य-साहित्य कितना कम है। उस अभाव की पूर्ति के लिए व्यासजी ने कृतसंकल्प होकर जिस खड्ग-धार पर चलने का प्रयत्न किया है, वह सभी के वश की बात नहीं है। हास्य एक दुधारी तलवार है, 'पर' को नहीं काट पाती तो 'स्व' को ही काट देती है। मैं तो कबीर की साखी में संशोधन करके कहता हूं—

"यह तो घर है 'हास्य' का
खाला का घर नाहिं।"

—डॉ. रामकुमार वर्मा

काव्य-गंगा : बूंद-बूंद से सागर तक

सृष्टि के आरंभ में आदिपुरुष ने जब पहले-पहल किसी नारी के दर्शन किए होंगे तो वह विस्मय से भर गया होगा। उसके निकट आने पर वह पहले रोमांचित हुआ होगा और उसका शून्य प्रकाश से भर उठा होगा। उसके तन-मन में पहली बार विभाव, अनुभाव, संचारी और आलंबन की भावनाएं हिलोरें लेने लगी होंगी। कुछ ऐसा अनुभव किया होगा उसने कि शिकार को प्राप्त करने और गिरि-कंदरा में आश्रय लेने, थककर सोने और सुबह-सवेरे उठकर चारों ओर फैली अनंत जलराशि एवं हिममंडित शैल-शिखरों के अकथनीय दृश्य से भी यह अनायास आगंतुक अत्यंत मनोरम, आकर्षक और अदभुत है। नारी और निकट आई तो उसके मुख से जो स्वर निःसृत हुआ होगा, वह न तो आक्रोशी था, न अकेलेपन की विक्षुब्ध पुकार। वह धीर था, गंभीर था। एक अभिव्यक्ति लिए हुए था। वह स्वर जो आज भैरव राग के षड़ज में आलापित होता है, उसे सुनकर आदिनारी के मुख से जो कोमल, पंचम स्वर कूका होगा तो कविता ने सोचा होगा कि मेरे जन्म लेने का यही उचित अवसर है। प्रथम युगल के प्रथम मिलन के प्रथमातिप्रथम स्वरों से ही कविता जन्मी है। अनबूझी कविता। अनकही कविता। स्वरमयी-संगीतमयी कविता स्वांतःसुखाय कविता। मानो हिमालय के गोमुख से गंगा फूट पड़ी हो बूंद-बूंद।

हिमशिखरों से काव्य-गंगा मैदान में उतरी। अनेक धाराएं और उपधाराएं उसमें मिलती गईं। फिर मिलती गईं। सुमन लहलहाए। वृक्षों पर फल आए। रंग-बिरंगे पक्षी चहचहाए। धरित्री शस्य-श्यामला हो उठी। अमृता गंगा अपने निर्मल और मीठे जल को लेकर आंसुओं जैसे खारे सागर में समाहित हो गई।

आदियुगल की हूक और कूक से स्वर निकले। स्वरों से शब्द निकले। शब्दों से अर्थ उद्भासित हुए। शब्दमयी-अर्थमयी यह काव्य-गंगा भावों के सुमन खिलाती गई। जनमानस को सिंचित और सरस करती गई। मिलन की मुस्कान से प्रकट हुई और यह कहकर कि मेरा गंतव्य, मेरा परमलक्ष्य, मेरा सार्थक उद्देश्य तो खारे आंसुओं में विलीन होना है, कविता

की बूंद सागर बन गई।

वेदों को सृष्टि का आदिकाव्य माना गया है। आगम-निगम, शास्त्र-उपनिषद, संहिता और पुराण, सबके सब काव्यमय, संगीतमय तथा कलामय। इतना ही क्यों, भारत का प्राचीनतम इतिहास, भूगोल, खगोल, ज्योतिष, गणित, चिकित्सा और ज्ञान-विज्ञान सब कुछ काव्यमय। समूचा संस्कृत-साहित्य भी काव्यमय। वाल्मीकि और व्यास का साहित्य भी काव्यमय। बौद्ध और जैनों के ग्रंथ भी काव्यमय। सहस्रों वर्षों तक भारत की संस्कृति, सभ्यता, कला और साहित्य, नीति, वैराग्य, भक्ति ही नहीं, कामशास्त्र भी काव्यमय। अद्वैत भी काव्यमय और द्वैत भी काव्यमय। माया तो कविता का ही दूसरा नाम है। साकार भी काव्यमय और निराकार भी काव्यमय। आस्तिकता भी काव्यमय और चार्वाक की नास्तिकता भी काव्यमय। यहां तक कि संपूर्ण वाङ्मय ही काव्यमय।

कविता का सृष्टा ही जगत का स्रष्टा बन गया। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के आठवें मंत्र में कवि की परिभाषा करते हुए लिखा गया है–

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमानाविरं
शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽ-
र्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।।

"वह परमात्मा सर्वव्यापक है, अत्यंत समुज्ज्वल है, शरीर रहित है, किसी प्रकार के क्षत और नस-नाड़ियों से रहित है, निर्मल और शुद्ध है, निष्पाप है, वह कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी है, मनीषी अर्थात् पूर्णज्ञानी है, दुष्टों का दलन करनेवाला है, स्वयंसिद्ध और अजन्मा है, अपनी शाश्वत प्रजाओं के लिए वह ठीक-ठीक कर्त्तव्य-कर्मों का विधान करता है।" अर्थात् कवि परमेश्वर के समान है। वह क्रांतदर्शी है। यदि निराकार ईश्वर ने 'जड़-चेतन, गुण-दोषमय' जगत की सृष्टि की तो धरती के साकार ईश्वर कवि ने उसमें रंग भरे। उसे सत्यम् शिवम् सुंदरम् कहा और बताया कि निराकार ईश्वर जगत में ही साकार हुआ है–

"जगत साक्ष्यरूप नमामः ।"

बाद में साहित्य-समीक्षा के संस्कृत-ग्रंथ 'काव्य प्रकाश' में कविता किसलिए लिखी जाती है और उसके उद्देश्य क्या हैं, इस पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है–

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे
शिवेतरक्षतये ।
कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे... ।।

"काव्य यश के लिए, धन के लिए, व्यवहार का ज्ञान देने-दिलाने के लिए, समाज का अकल्याण करनेवाली प्रवृत्तियों की क्षति के लिए और कान्ता सम्मित ढंग से उपदेश देने के लिए लिखा जाता है।"

इस कथन से स्पष्ट होता है कि कविता अब आध्यात्मिक और अपौरुषेय की ऊंचाइयों

से उतरकर मानवीय धरातल पर आ गई थी। कविता का आदर्श अब व्यवहारोन्मुख हो चला था। यह कविता के विकास का दूसरा चरण है।

इसके पश्चात् ध्वनि, वक्रोक्ति, व्यंग्य और सौंदर्यबोध की प्रतिष्ठा का चरण प्रारंभ होता है। संस्कृत का एक समीक्षक कहता है कि स्वर्ग की सुधा (अमृत) और पृथ्वी की कविता में कौन श्रेष्ठ है, इसका निर्णय कौन करेगा ? किससे पूछें ? इसी प्रकार साहित्य में वक्रता या वक्रोक्ति का प्रतिपादन करते हुए एक संस्कृत का समीक्षक कहता है कि "यदि मंदमति लोग कवियों की वक्रोक्तियों की निंदा करते हैं या नीरस लोग हरिणी के समान चंचल आंखोंवाली युवतियों के कटाक्षों की शोभा की प्रशंसा नहीं करते, तो क्या प्रगल्भ बुद्धिमान लोगों का मन भी वक्रता की कामना नहीं करता ?"

विकास की ओर बढ़ती हुई कविता अव अभिधामूलक विवरणों और उपदेशमूलक वक्तव्यों से ऊपर उठकर लक्षणा और व्यंजना से व्यंजित व्यंग्य को महत्व देती है। माना गया कि कवि को धनुष और उसकी कविता को मर्मवेधक बाण के समान होना चाहिए। इस पर एक संस्कृत-समीक्षक ने लिखा है–

किं कवेस्तस्य काव्येन किं काण्डेन धनुष्मतः।
परस्य हृदये लग्नं यन्न घूर्णयति तच्छिरः।।

"उस कवि के काव्य से क्या लाभ और उस धनुर्धारी के बाण से भी क्या लाभ–जो दूसरे के हृदय में जाकर लगे और उसका सिर न झुमा दे।"

इस प्रकार कविता के स्वरूप और कवि के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के संबंधों को बहुविध व्याख्यायित किया गया है। कविता और कवि को अनेक रूपों में विद्वानों ने देखा है और तर्कों सहित अपने मत की पुष्टि की है। लेकिन प्राचीन परिपाटी के कविता के समीक्षक मानना पड़ेगा कि गुणग्राहक थे। वे कथ्य और शिल्प की बारीकियों से परिचित थे। रसज्ञ थे। सौंदर्यानुभूति के उद्गाता थे। उन्होंने श्रेष्ठ कवियों की महत्ता को स्वीकार करने में कभी कोताही नहीं बरती। उक्ति प्रसिद्ध है–

उपमा कालिदासस्य, भारवेरर्थ गौरवम्
दण्डिनः पद-लालित्यं, माघे संति त्रयो गुणाः।

कविता क्या है ? विद्या है। उसका अपना व्यवहार-दर्शन है। अलग शास्त्र है। पृथक गणित है। फलित भी।

कविता, कला है। ऐसी कला जो सोलह कलाओं को अपने में समेटे हुए है। भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल उसकी मुट्ठी में हैं। वह दृश्य भी है और श्रव्य भी। वह निबंध भी है और प्रबंध भी। अपने-आप में कहानी भी है। नाटक भी है। पद्य ही नहीं, गद्य भी है–"गद्यं कवीनाम् निकषं वदन्ति।"

कविता युगबोध है। युग-युगांतरों का दर्पण है। आज का भोगा हुआ यथार्थ भी है। कल की संभावना और संकेत भी है।

कविता यदि मधुर संगीत है तो क्रांति का उद्घोष करनेवाला शंखनाद भी है। वह

समाज की संरचना है। संस्कार है और परिष्कार भी। पतन भी है और उत्थान भी। ज्वार भी है, भाटा भी। आलोड़न भी है और विलोड़न भी। वह समुद्र है, धरती है और हिमालय भी। यानी क्षीर सागर भी है, क्षार (खारा) सागर भी है। शस्य-श्यामला वसुंधरा भी है। केशर की क्यारी भी है। शिव की साधनास्थली कैलास की चोटी भी है। इसके शीश पर चंद्रमा चमकता है। गले में नाग लटकते हैं। यक्ष किन्नर, योगी-योगिनी, भूत-पिशाच सब कुछ कविता में हैं। गंधर्व भी इसे गाते हैं। यह कुबेर की पुरी अलका भी है। इसमें कालिदास का मेघदूत, प्रियतम का संदेश लेकर प्रियतमा तक पहुंचाता है। गंगा की लहर-लहर भी तो काव्य-कल्लोलिनी ही है। यमुना भी कृष्णलीला की साक्षी होकर रसमय है। यही कृष्णा है। यही कावेरी है। यही गोदावरी भी। कविता सचमुच पयस्विनी है।

विश्व में जो भी सुंदर है, वह कविता है। स्वर्ग का पारिजात भी और पृथ्वी का कमल भी। कविता करील की कुंज भी है। तमाल और कदंब भी। कविता वह वृक्ष है, जिसकी अनंत जड़ें भूमि में समाई हैं।

कविता सत्योन्मुख है। सत्य है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों पदार्थों को देनेवाली है। वह साध्य है। साधना है। अनंत की खोज है। कहां तक गिनाऊं, कविता सब कुछ है। जो भी इस जगत में है, वह कविता में है। जो कविता में नहीं है, वह जगत में भी नहीं है। इसीलिए इसके रचयिता को कविर्मनीषी परिभू स्वयंभू कहा गया है।

कविता को "यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे" कहा गया है। तुलसीदास ने कहा है—

कीरति भनति भूति भल सोई।
सुरसरि सम सब कर हित होई।।

और तुलसी यह भी लिख गए हैं—

कीन्हें प्राकृत जन-गुन गाना।
सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।।

कविता कैसी होनी चाहिए ? इसके संबंध में ठाकुर कवि की व्याख्या इस प्रकार है—

मोतिन की सी मनोहर माल,
गुहै तुक, आखर जोरि मिलावै।
प्रेम कौ पंथ, कथा हरिनाम की,
युक्ति अनूठी बनाय कैं गावै।
"ठाकुर" सो कवि भावै हमें,
जो राजसभा में बड़प्पन पावै।
पंडित और प्रवीनन कौ,
चित्त हरै सो कवित्त कहावै।

जब कवि इस कसौटी पर खरे नहीं उतरे तो खीझकर कोई कवि कह गए—

डेल सौ बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीवौ खेल करि जानौ है।

संस्कृत-साहित्य में तो ऐसे कवियों को वात-व्याधि से ग्रस्त मानकर कविता लिखने के बजाय घी पीने की सलाह दी गई है–

काव्यं करोषि किमु ते सुहृदो न सन्ति
ये त्वामुदीर्णपवनं न निवारयन्ति।
गव्यं घृतं पिव निवातगृहं प्रविश्य
वाताधिका हि पुरुषाः कवयो भवन्ति।।

"अरे भाई ! तू कविता करता है ? क्या तेरे ऐसे दोस्त और साथी नहीं हैं जो तुझे इस वायु-विकार से रोक सकें ? किसी एकांत कमरे में बैठकर गाय का घी पी। (कविता लिखना छोड़)। क्योंकि वातरोग से ग्रस्त लोग ही कवि होते हैं।"

इन सब बातों को जानते और मानते हुए वेदों से लेकर आधुनिक कविता की धाराओं में चंचु प्रवेश करते हुए मैं कलयुगी व्यास निश्चय ही कविता की उक्त ऊंचाइयों को नहीं छू सका। जब-तब जहां-तहां प्रयत्न किए, लेकिन मन यश प्राप्त करने, अर्थ-संग्रह करने और व्यवहार-बुद्धि से कविता लिखने मे ही प्रवृत्त रहा। ऐसा नही कि मुझे इसका पश्चाताप नहीं रहा। कभी-कभी मेरे मुख से ऐसी पक्तियां भी निकल गईं–

"कविताई, हंसाई, बुराई भई।"

मैंने हिममडित शैल-शिखरों से बालारुण को झाकते देखा। मुग्ध हुआ। पर लिखा नही। उपवनों में गुलाबों को चटकते सुना। कलियों को मुंह खोलते पाया। तितलियों को झूमते और भौरों को गुजारते सुना। पर कलम नहीं चली। नदियो को कलकल करते, लहर-लहर लहराते, निरतर बहते और बढ़ते जाओं का सदेश देते सुना। पर सुनता ही रह गया। वह धूप भी देखी जो अन्नदात्री है। वह धूप भी देखी जिसे सूर्यातप कहते हैं। समुद्र के जल में आग के गोले जैसे पश्चिमाभिमुख सूर्य को गहरे और गहरे उतरते देखा। बार-बार देखा। देर-देर तक देखा। विचार उठे, लेकिन डूब गए।

मैंने उषा के रथ को आते भी देखा और संध्या को गहराते भी पाया। सवेरे-सवेरे अरुण शिखा के साथ-साथ कौवों की कांव-कांव भी सुनी। उषागम के समय स्वागत गान करती हुई चिड़ियों की चहचहाहट भी सुनी। पक्षियों के झुण्डो के झुण्डों को चुग्गों की तलाश में दसों दिशाओं में उड़ते देखा। सूरज छिपने से पहले उनके दल-बादलों को अपने-अपने नीड़ों की ओर जाते भी पाया। विचार आया। मन बुदबुदाया। पर एक भी अक्षर कागज पर नहीं आया।

एक-एक कर तारों को फूलों की तरह आकाश में खिलते देखा। समूचे गगन में चारों ओर हीरे-ही-हीरे जड़ गए। कोई मृग जैसे सिरवाला तारासमूह, कोई वृश्चिक जैसी पूंछ उठाए, चमकते हुए सात ऋषियों के साथ छोटी-सी अरुंधती, कोई सहस्रों कोहिनूरों से भी चमकदार, कहते हैं जिसे शुक्र, और सदा सर्वदा अटल रहनेवाला ध्रुव नक्षत्र भी देखा। इन्हें देखने के

लिए रातोंरात जागा। पर मेरा कवि अभागा अपने काव्य में इन नक्षत्रों को नहीं जड सका।

मैंने चंदा की किरण देखी। उसका बांकपन देखा। दूज का चांद भी देखा और अष्टमी का भी। मासांत में पूर्णमासी का चन्द्रमा भी देखा। देखा उसे खेतों में भी। जंगलों में भी। पहाड़ों पर भी। घर की छत पर भी। नीचे आंगन मे भी। अट्टालिकाओं की बगल में भी। बहुमंजिली इमारतों के ऊपर और ऊपर भी। धरा पर चांदी बिखेरते हुए। अमृत बरसाते हुए। सरोवरों की कुमुदिनियों को खिलाते हुए। औषधियो में ही नहीं, प्राणियों के जीवन में भी अमृत-रस घोलते हुए। देखा उस चंद्रमा को जिसे रजनीश कहते हैं। ईश होकर भी सकलंक। क्यों ? बच्चों को कहते सुना बुढ़िया सूत कात रही है। सुग्रीव कहते हैं कि इसमें भूमि की छाया पड रही है। पुराण कहते हैं कि यह अहिल्या के शीलहरण का दाग है। मैंने सोचा जो जितना ऊंचा है, जितना उज्ज्वल है, जितना प्रकाशमान है, उसके भीतर भी कहीं-न-कहीं कालिमा छिपी हुई है। पर मैं सोचकर ही रह गया। सब्र कर लिया कि कविता लिखी ही नही जाती, उसे जिया भी जाता है।

मैने पढ़ा "त्वेमकं जगत् साक्ष्यरूपं नमामः।" ये सम्पूर्ण जगत ईश्वरीय साक्ष्य है। इसमें ही ईश्वर के दर्शन करो। भारतीय दर्शन कहता है कि भगवान अपनी माया से इस जगत की रचना करते हैं। मेरे विचार में आया इस माया को कविता अनुभव करती है। उसे अनुभूति देती है। व्याख्यायित करती हे। जगत का सृजन करनेवाली ईश्वरीय महाशक्ति का नाम है—माया। और कवि की महाशक्ति, महामाया का नाम है—कविता—कोई जानेगा जाननहारा। परंतु मै जानकर भी जान न पाया।

भक्त कहते हैं कि जन पर, जनता पर, जड-जगम पर, सर्वत्र प्रभु की, अहेतुकी कृपा बरस रही हे। मै कहता हू कि सृप्टि के चारों ओर कविता बरस रही है। उसकी सुदर्शन कृपा बरस रही है। किसी ने इसे अनुभव किया हो या न किया हो, परतु मैंने किया है ओर निरतर किया है "मां से गवार कौ ऊचो उठाय के, काव्य-कृपा नै गयन्द चढाओ।"

मै था क्या—गवई गाव का अबोध बालक। मथुरा में कविता हाथ लग गई। ब्रज-कविता ने मुझे आगरा पहुचा दिया। साधारण कपोजीटर को मासिक पत्रिका का संपादक बना दिया। खोजते-खोजते वहा मिल गई व्यग्य-विनोद की कविता। उसने मुझे भारत की राजधानी मे पहुचा दिया। कविता ने मुझे पत्रकार बना दिया। कच्चे फूटे घर से राष्ट्रपति भवन तक पहुंचा दिया। पद्दू को पद्मश्री मिल गई। केवल कविता की कृपा से।

कविता की कृपा ने मुझे जन-जन तक पहुंचाया। नेताओं और मत्रियों से मिलाया। समाजसेवियों और उद्योगपतियो ने जाना। मुख्यमंत्रियों और प्रधानमंत्रियों ने पहचाना। यह कविता ही थी जिसके कारण मैं थोड़ा-बहुत हिन्द और हिन्दी की सेवा कर सका। यह कविता ही थी कि जो कभी सौ रुपये का नोट देखने के लिए तरसता था, आज उसके अपने बनाए नई दिल्ली और मथुरा मे अपने मकान है। मथुरा के ऐतिहासिक विश्रामघाट पर और जन्मभूमि चंद्र सरोवर आदिवृंदावन में राधा-दामोदर और देवी सरस्वती के मंदिर हैं। कविता की कृपा से ही मैं रोजमर्रा के अपने खर्चों के लिए किसी पर आश्रित नहीं हूं। कहता हूं कि "न ऊधौ का लेन, न माधौ का देन।' जब मस्ती आती है तो गाता हूं—"कुछ लेना न देना मगन रहना।"

मैं तो कविता की कृपा से परम सुखी हू। चरम आनंदित हूं। जो सोचा नहीं,

वह भी पाया—"अनबोलत मेरी इच्छा जानी, अपना नाम रटाया। कविता तुव शरणाई आया।"

देखिए न, छिहत्तर साल का होते-होते आंखें रास्ता नहीं खोज पातीं। बूढ़ी और जवान में फर्क नहीं कर पातीं। गैरों को क्या, अपनी संतान तक को नहीं पहचान पातीं। एक कान रह गया। उससे अपनी प्रियतमा की आवाज भी ठीक से नहीं सुन पाता। कभी मीलों की दौड लगाता था। अब अपने मकान के सामनेवाले पार्क के किसी का हाथ पकड़कर दो चक्कर भी नहीं लगा पाता। लेकिन कविता है कि मुझे दुखी नहीं होने देती। गम में नहीं डुबोती। हर स्थिति में आनंदित रखती है। मनोबल को बनाए रहती है। कर्त्तव्य-पथ पर आगे बढ़ाए रखती है। पहले कविता शक्ति थी, अब भक्ति बन गई है। पहले कविता अनुरक्ति थी, अब विरक्ति बन गई है। पहले कविता छंद-प्रबंध थी, अब उसने हिन्दी के साथ अनुबंध कर लिया है।

जय हिन्दी ! जय कविता !!

मेरे मित्र पं. गोपालप्रसाद व्यास ने अपना समय ब्रज और साहित्य की सेवा में बिताया है।

—डा. वासुदेवशरण

हिमाच्छादित पर्वतमालाओं से उगते हुए सूर्य को देख रहे हो, व्यास ! क्रांति का उदय है, जो पूर्व दिशा से हो रहा है।

—राहुल सांकृत्यायन

मैं कवि कैसे बना ?

सच मानिए, मेरी कविता किसी पक्षी के करुण क्रंदन से प्रारंभ नहीं हुई। न मेरे कोई भाभी थी कि जिसने खाने में नमक मांगने पर ताने दिए हों और भूषण की तरह मेरी कविता का स्रोत भरभराकर फूट पड़ा हो। सुकुमारी के तो क्या, कभी किसी अधेड़ भगवती के भी नयन-बाणों से घायल होने का सौभाग्य मुझे जागते हुए तो क्या, स्वप्न में भी सुलभ नहीं हुआ। यों तो मैंने मनुष्य से लेकर गधों तक पर कविता लिखी है, पर विश्वास कीजिए, इनमें से कोई भी मेरी कविता का वाहन नहीं है। यों अपनी कविताओं में मैंने अपनी पत्नी को काफी यश-अपयश प्रदान किया है, पर दरअसल, ईमान से, मेरी कविता के मूल में उस बेचारी का जरा भी हाथ नहीं है। सही बात यह है कि सरस्वती के दरबार में भी मेरा प्रवेश राजपथ से नहीं हुआ। वहां भी मैं चोर दरवाजे से दाखिल हुआ हूं।

कोई सन् 24 के आस-पास की बात है। मैं मथुरा के अग्रवाल विद्यालय में शायद तीसरे दर्जे में पढ़ा करता था। वह भारत का जागरणकाल था। समाज-सुधार और राष्ट्रीयता दोनों ही अपने पूर्ण यौवन पर थे। शिक्षा-संस्थाओं पर भी इनकी गहरी छाप थी। हमारे विद्यालय में भी लगभग प्रति सप्ताह कोई-न-कोई उत्सव-आयोजन होता ही रहता था। मुझे भी इन अवसरों पर उजले-उजले कपड़े पहनकर आगे बैठने में बड़ा आनंद आता था। संगीत तो मेरे परिवार की रग-रग में था। मेरे नानाजी (नंदन गिरवर) अपने दिनों में ब्रज की रासलीलाओं के एकछत्र स्वामी थे। मेरे पिताजी (पं. ब्रजकिशोरजी शास्त्री) को भी स्वर-ताल का अच्छा ज्ञान था। मेरी जीजी (मां) के बिना तो हमारे गली-मुहल्ले में स्त्रियों को कोई गीत-वाद्य जमता ही न था। क्योंकि मैं अपने माता-पिता की अकेली संतान था, इसलिए उनकी अन्य सब चीजों के साथ संगीत भी मुझे विरासत में मिला था। इसी बपौती के कारण मैं अपने संगीत के घंटे का मॉनीटर बनता था और गणेश चतुर्थी के अवसर पर जब हमारे नगर में विद्यालय की गाती-बजाती शोभायात्रा निकलती थी तो मैं उसका बनचट्टा बनाया जाता था। लेकिन मेरा यह संगीत-ज्ञान

मुझे विद्यालय के सभा-समारोहों में कोई महत्ता नहीं दिला सका। मुझे किसी समारोह में संगीत सुनाने के लिए आमंत्रित नहीं किया गया। यह मेरे साथ सरासर अन्याय था और जहां तक याद पड़ता है, जान-बूझकर तो मैंने अन्याय को बचपन से ही सहन नहीं किया।

तभी मैंने देखा कि लोगो के मन मे संगीत से अधिक कविता की कद्र है। मैंने पाया कि मेरे साथी लड़कों को संगीत सुनाने के लिए तो नहीं, पर कविताएं सुनाने को बड़े चाव से आमंत्रित किया जाता है। फिर यह भी देखा कि अच्छे-बुरे की, आदर-अनादर की सूचना तालियों द्वारा ही प्रकट होती है। मैं देखता कि साथी लड़कों का संगीत सुनने के बाद तालियों की तड़तड़ाहट बड़ी क्षीण होती है और उसमें भी लड़के नहीं, अध्यापक ही थोड़ा रस लेते हैं। मगर कविता के बाद जिस तरह तालियों के खाली बादल गरजते थे, उन्हें देखकर मेरे मन मे भी कविताएं सुनाने की लालसा उत्पन्न होने लगी।

मथुरा में तब ब्रजभाषा के सुप्रसिद्ध कवि श्री नवनीत चतुर्वेदी जीवित थे। उनकी वहां अच्छी शिष्य-मंडली थी। इन शिष्यो को ब्रजभाषा के अनेक चुटीले कवित्त-सवैये कंठस्थ होते थे। वसन्तोत्सव के फूलडोलों, सावन के हिंडोलों और श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी के अवसर पर जगह-जगह इनके पढंत-दंगल जुटा करते थे, जिनमें दूर-दूर के कवित्त-सवैये पढनेवाले मथुरा आया करते थे और हार-जीत की बाजी लगा करती थी। इनमें से एक रामललाजी हमारे पडोसी थे। इन्हे अकेले पावस पर ही कोई सैकड़ो छंद याद थे। यों वह उम्र मे मुझसे कोई थोडे ही बडे थे, लेकिन कवि होने के कारण समाज मे उनकी गिनती समझदारो मे हो चली थी। मैने रामललाजी से मेलजोल बढ़ाना प्रारम्भ किया। मैं भी अब ब्रजभाषा के पुराने कवित्त-सवैये याद करने लगा और उन्हे विद्यालय मे अपना बता-बताकर सुनाने लगा।

पर शीघ्र ही मैंने देखा कि मतिराम, भूषण, पदमाकर, ग्वाल, रसखान और नवनीत के छदो को अधिकाश सुननेवाले पहचान जाते है। पहचानने के बाद उनमें सुनानेवाले के प्रति उतना आदर नहीं रह पाता जितना कि मैं चाहता था। तब मैंने अपनी राह बदली और मै रामललाजी से खुशामद कर-करके अपने नाम से कविताए बनवाने लगा और विद्यालय के उत्सवो मे छाती तानकर उन्हे गर्व से सुनाने लगा। थोडे ही दिनों में श्रोताओ पर रौब जम गया कि मैं भी अक्षर जोड़ लेता हूं। तभी मूंड मुंडाते ही ओले पड़े।

हमारे नगर मे प्रति वर्ष नुमायश लगा करती थी और उसमे हर बार एक कवि-सम्मेलन हुआ करता था। इस कवि-सम्मेलन मे एक घंटा पूर्व समस्या दी जाती थी और सर्वोत्तम तीन समस्या-पूर्तियो पर गोरे कलेक्टर साहब इनाम दिया करते थे। इसके लिए शिक्षा-संस्थाएं भी अपने यहां से चुने हुए छात्रकवि भेजा करती थी। इस बार हमारे विद्यालय से मेरा नाम भी प्रतियोगिता के लिए प्रेषित कर दिया गया। मैंने सुना तो मुझे काठ मार गया। घबराया हुआ अपने क्लासटीचर के पास गया।

मेरे क्लासटीचर श्री कामेश्वरनाथजी थे। यह पक्के आर्यसमाजी थे। कांग्रेस का भी काम करते थे। मेरे पिताजी के मित्र थे। मुझ पर भी बड़ा स्नेह रखते थे। मैं कक्षा में बडा उत्पाती था। स्कूल का काम जहां तक बने न करना और लड़कों को लेकर कबड्डी

के मैच जोड़ देना—उन दिनों यही मेरा आलम था। कामेश्वरनाथजी ने मेरा नाम भूसुर रख छोड़ा था। स्पष्ट ही इस भूसुर से देवता का अर्थ नहीं निकलता था।

मुझ जैसे शरारती को चुपचाप खिसियाया हुआ-सा देखकर वह बोले, "कहो भूसुरजी, क्या बात है ?"

मैं धरती की ओर देखता रहा।

उन्होने समझा कि किसी से पिटकर या किसी को पीटकर आया है। जरा रुखाई से पूछा, "बताओ न, क्या बात है ?"

मेरे मुंह से फिर भी कोई बोल नहीं निकला। लेकिन मेरी आंखों की आर्द्रता और मुंह की बेबसी ने उनकी रुखाई को ठंडा कर दिया। उन्होंने अनुभव किया कि कोई गंभीर बात है। मेरी पीठ पर हाथ रखकर पुचकारते हुए बोले, "बोलो बेटे, क्या बात है ?"

मैंने लगभग हकलाते हुए कहा, "आपने नुमायश में मेरा नाम भिजवाया है ?"

उन्हें हंसी आ गई, कहने लगे, "हा तो क्या हुआ ? शाम को ठीक समय पर पंडाल में पहुंच जाना। मैं भी वहीं मिलूंगा।"

शब्द आते-आते मेरे गले में अटक गए।

वह कहने लगे "झिझक तो शुरू-शुरू में होती ही है, पर नालायक, तूने झिझकना कब से सीख लिया ?"

सचमुच झिझकना मैंने नही सीखा था। बचपन में पहाड़े याद न करने पर मेरे पंडित-जी ने मुझे मुर्गा बनाकर जब बीस पट्टियां मेरी गर्दन पर चढ़ा दी थीं तो मैं उन्हें फेंककर पाठशाला से भाग आया था और दूसरे दिन जब मुर्गा बनानेवाले गुरुजी मेरे घाट पर यमुना स्नान करने पधारे थे तो ऐसी कसकर उनके घुटने में ईंट मारी थी कि महीनों तक पंडितजी लंगड़ाते रहे। मगर इस समय वैसी बहादुरी दिखाने का कोई सुयोग न था। इस समय तो उससे भी अधिक बहादुरी की बात अपनी चोरी स्वीकार करने की थी। सोचता रहा कि कैसे कहूं ? कहूं कि न कहूं ? अन्त में साहस करके मैंने कह ही दिया कि जी मैं जो कविताएं यहां सुनाया करता हूं, वे तो सब पराई होती है।

कोई और अवसर होता तो मास्टरजी ने मलते-मलते मेरे कान सुर्ख कर दिए होते। लेकिन भगवान की कृपा से इस बार उन्होंने वैसा कुछ नही किया। मुस्कराकर बोले, "धत्तेरे की !" पर अब क्या हो ? हमने तो विद्यालय से अकेले तुम्हारा ही नाम भेजा है। तुम्हारे न जाने से बड़ी बदनामी होगी।"

मैं इसका क्या जवाब देता ?

वह भी कुछ देर चुप सोचते रहे। फिर एकाएक मेरा भविष्य जैसे उनकी आंखों में चमक गया हो, ऐसे उत्साह में भरकर बोले, "कविता करना बहुत आसान है। तुम घबराओ नहीं। देखो, वहां मामूली-सी समस्याएं दी जाएंगी, यही 'आई है', 'गाई है', 'सुहायौ है', आदि। तुम ऐसा करना कि जो भी समस्या तुम्हें दी जाए पहले उसकी चार तुकें जमा लेना। उदाहरण के लिए अगर 'आई है' समस्या दी जाए तो पहले छाई है, भाई है, एक ओर लिख लेना। समझ गए न ?"

मैंने छंद-रचना के पहले पाठ को हृदयंगम करते हुए स्वीकृति-सूचक सिर हिलाया।

"तो बताओ 'सुहायौ है' की क्या तुक बनाओगे ?"

सारी हिचक हवा हो गई और मैंने तड़ाक से कहा, "आयौ है, गायौ है, भायौ है।"

"शाबाश, बस एक काम और करना।"

वह कहने लगे–

"देखो, एक कवित्त में 4 पंक्तियां होती हैं और हर पंक्ति में 31 अक्षर होते हैं और अंत के अक्षरों में वही तुकें रख देना बेटे भूसुर, कविता बन जाएगी।"

यों गणित में मैं कभी अच्छा नहीं रहा। हमेशा तिमाही-छमाही में इसने मुझे अंडा और सालाना में बड़े प्रयत्नों के बाद प्रमोशन दिलाया है। मगर होनहार की बात कि उस दिन कविता का यह जटिल गणित मेरी समझ में तत्काल आ गया।

मुझे आज की-सी याद है कि उस दिन जब नुमायश में कविता की परीक्षा देने के लिए मैं पहले-पहल पहुंचा तो मेरे मन में कोई दुबिधा या संकोच नहीं था। यद्यपि आगत कविजनों में मैं सबसे छोटा था–केवल ग्यारह वर्ष का। मगर सच कहता हूं कि मैंने उस दिन सबको अपने से छोटा अनुभव किया था। क्योंकि मैंने समझ लिया था कि कविता का जो गुर मैने अभी आज दोपहर को प्राप्त किया है, वह इनमें से किसी के पास नहीं है।

समस्या दी गई "कर्ज कौ करबौ और मरबौ बराबर है"। मैंने फौरन 'बराबर' शब्द को पकड़ा और फुलस्केप साइज के कागज की दाहिनी तरफ एक के नीचे एक लिखना शुरू किया–'सरासर है', 'झराझर है' लेकिन जैसे बंदूक और संदूक के बाद तीसरी तुक नहीं मिलती, वैसे ही मुझे बराबर की तीसरी तुक उस समय नहीं मिली। पर मैं रुका नहीं, मैंने 'तेली रे तेली तेरे सिर पर कोल्हू' वाली कहावत का अनुसरण किया कि तुक नहीं मिली तो क्या है, बोझ से तो मरेगा ही–मैंने 'बराबर है' की तीसरी तुक 'ऊपर है' लिखकर फौरन समस्या-पूर्ति कर डाली।

कविता तो मुझे अब याद नहीं रही। लेकिन उसका भाव यह था कि देखो मित्र, तुम्हारे पिता ने कर्जा लिया था, उसका कैसा बुरा फल निकला। वह स्वयं तबाह हुए और तुम्हें भी बरबाद कर गए। इसीलिए किसी ने सच ही कहा है कि "कर्ज कौ करबौ और मरबौ बराबर है।"

समस्यापूर्ति के लिए एक घंटे का समय दिया गया था। मगर मैंने कोई 20 मिनट मे ही–जैसे तेज विद्यार्थी सवाल हल करके स्लेट मास्टर साहब को पकड़ा देता है, कागज परीक्षक को थमा दिया।

उस दिन का वह दृश्य आज भी मेरी आंखों के सामने चित्र की तरह खिंचा हुआ है। कवि-सम्मेलन का पंडाल श्रोताओं से खचाखच भरा हुआ था। मेरे हैडमास्टर और कविता की कुंजी बतानेवाले क्लासटीचर भी बगल की कुर्सियों पर बैठे हुए थे। भीड़ में मेरे विद्यालय के कितने ही विद्यार्थी और सहपाठी भी शामिल थे। मेरा नाम पुकारा गया। मैं उत्साह के साथ भीड़ को चीरता हुआ मंच पर आया। चारों तरफ तालियां बज रही

थीं। पर मैंने उन पर कान नहीं दिया। विश्रामघाट के चौराहेवाले हनुमानजी को मैं रोज संध्या को हनुमान चालीसा का पाठ सुनाया करता था। मन-ही-मन उनका स्मरण किया और हाथ हिला-हिलाकर कविता सुनाने लगा।

स्वर मेरा सधा हुआ था। शक्ल भी बचपन में बुरी नहीं लगती थी। लोगों ने जो बच्चे के मुंह से कच्ची समस्या-पूर्ति सुनी तो गद्‌गद् हो गए। सभी लोग प्रशंसा और आश्चर्य के भाव से मुझे देख रहे थे। कविता की समाप्ति के बाद मैं तालियों के तूफान में जो खोया तो फिर सुध-बुध नहीं रही। मेरी सांस फूलने लगी। पसीने आ गए। शायद और अधिक देर होती तो मैं लड़खड़ाकर मंच पर ही बैठ जाता कि तभी हमारे विद्यालय के हैडमास्टर श्री मुकुटबिहारीलालजी लपके हुए मंच पर आए और उन्होंने दौड़कर मुझे गोदी में उठा लिया। मुझे लगा कि मानो साक्षात् देवी सरस्वती ने मुझे अंक में भर लिया है। उनकी गोद में जाते ही मेरा सम्मान कई गुना बढ़ गया। मेरे विद्यालय के लड़के जोर-जोर से तालियां बजा-बजाकर कूदने लगे।

मैंने गोदी से उतरकर हैडमास्टर साहब और कामेश्वरनाथजी के चरण छुए। इस प्रकार मेरी पहली कविता ने ही धूमधाम से मेरे कवि होने की घोषणा जनता में कर दी। घड़ीभर में मैं चोर से साहूकार हो गया।

■

गोपालप्रसाद व्यास भाषा के धनी हैं। ब्रजभाषा और खड़ीबोली की शैलियों में वह समान रूप से धाराप्रवाह लिख पाते हैं। यह एक संयोग है कि उन्होंने व्यंग्य और विनोद के साहित्य का ही अधिक सृजन किया है। हिन्दी में व्यंग्य और विनोद का साहित्य कम है, इसलिए उन्होने उसी क्षेत्र को सम्पन्न किया, यह एक तरह से अच्छा ही है। किन्तु उनकी अन्य रचनाओं को देखकर मुझे कई बार लगा है कि व्यासजी ने हिन्दी साहित्य के साथ, और अपने साथ भी, दूसरी दिशाओं की अपेक्षाकृत अवहेलना करके उचित नहीं किया है। व्यासजी की कलम में जोर है।

–भवानीप्रसाद मिश्र

कविता का प्रथम पाठ

यदि किसी आधुनिक कवि से मै यह पूछूं कि मित्र, तुमने लिखने से पहले कविता का प्रथम पाठ (पिगल) पढ़ा है ? तो वह मेरी ओर आश्चर्य से ऐसे देखने लगेगा जैसे चिड़ियाघर में बच्चे कगारू को देखने लगते है। फिर पूछेगा कि वह क्या होता है ? "प्रस्तार सूची मेरु व्याख्या एकद्वादि लघुक्रिया" वाले मेरे पिगल पाठ पर परिहास करता हुआ बोलेगा—"हां, मैने एक नहीं, दो शादियां की है। लघु-दीर्घ प्रेम भी किए हैं। कविता के प्रारंभिक पाठ यही तो हैं।" इसके बाद ऊढ़ा-अनूढ़ा, अनुशयना, धीरा, विप्रलभा आदि के बारे मे उससे कुछ पूछने की मेरी हिम्मत नही होगी। मैंने कई कवियों से रीति की बात पूछी है, तो उत्तर मे वह रति की बात बताने लगे है। जब ध्वनि का प्रश्न आया है तो मुझे यही अहसास हुआ है कि "दादुर धुनि चहु ओर सुहाई।" जब-जब आधुनिक काव्य-मर्मज्ञों से प्राचीन काव्यशास्त्र पर चर्चा हुई है तो यही उत्तर मिला है कि ये सब विषय अब अप्रासंगिक हो गए है। आज की रचनाधर्मिता मे इनकी कोई भूमिका या उपादेयता नही रह गई है। कविता अब सब बधना से मुक्ति पा चुकी है। अब शिल्प नही, कथ्य मुख्य है। कथ्य मे भी सार्थकता मुख्य है। गन्ने का रस तो गया। उससे कविता की प्रेरणा नही मिलती। मिलती है कॉफी के प्याले से। फिर समीक्षक महोदय मजाक पर उतर आते है और कहते हैं—महाशयजी, अब स्वकीया, परकीया और सामान्या आदि नायिकाओं के दिन गए। नया नायिका-भेद पढ़ो। पहचानो कि गर्ल फ्रेड मुग्धा नायिका है। मध्या नायिका का अभिनय करनेवाली को कालगर्ल कहा जाता है। अब 'छछिया भर छाछ' पर प्रेमियों को नाच नचानेवाली कोई नायिका आपको नही मिलेगी। हां, ऐसी अवश्य मिल जाएंगी जो फोन पर यह संदेश देंगी कि मम्मी-डैडी घर पर नहीं हैं। आओ, एक प्याला कॉफी पी जाओ और अपनी नोट्स बुक जरूर लेते आना। वह युग गया जब आपके ब्रज की गोपियां अपने कान्हा से कहा करती थीं—"जब लौं घर कौ धनी आवै घरै, हरि गइया मेरी दुहि जैबौ करौ।"

परंतु मैं तो ब्रज में जन्मा, ब्रजभाषा में पला और ब्रज की सांकरी गलियों में कांकुरी मारते और खेलते कविता के द्वार तक पहुंचा हूं। ज्यादा दिन नहीं हुए। यही कोई साठ-पैंसठ वर्ष पहले की बात है। संस्कृत की तरह तब तक ब्रजभाषा रूढ़ और गूढ़ नहीं हुई थी। रत्नाकर और सत्यनारायण 'कविरत्न' जैसे महान कवि उसमें लिख रहे थे। लाला भगवान दीन, आचार्य पद्म सिंह, नवनीत चतुर्वेदी और रसालजी जैसे ब्रजबानी-मर्मज्ञ मौजूद थे। खड़ीबोली की फक्कड़ी उड़ानेवाले कवियों की भी कमी नहीं थी। वे कहते थे-"भाखा जो न जाने ताहि शाखामृग जानियै।" शाखामृग ? नर नहीं, वानर। कोई कहता-"अंगरेजी में तेजी, खड़ी खड़कै, ब्रजभाषा सी है मिठलौनी कहां ?" स्वयं मैं भी इसी मत का था। मैंने लिखा-

ये अनुराग के रंग रंगी
रसखान खरी रसखान की भाषा।
यामैं घुरी मिसुरी मधुरी,
यह गोपिन के अधरान की भाषा।
को सरि याकी करै कवि 'व्यास'
यह भाव भरे अखरान की भाषा।
बोरति भक्ति, निचोरति ज्ञानहि,
गोविंद के गुनगान की भाषा।।

तो जी, वातावारण और परिस्थितियों से प्रेरित होकर कविता के लिए और काव्यशास्त्र का पंडित कहलाने के लिए मैंने वह सब किया जो उस समय के अंग्रेजी न पढ़ सकने-वाले करते थे और आधुनिकता को अभिशाप बताकर अपने अहं की तुष्टि किया करते थे। ब्रजभाषा के छंद रटे। पिंगल पढ़ा। अलंकार घोंटे। नायिका-भेद का रस लिया। नख से शिख तक चढ़ा और शिख से नख तक उतरा। फिर संस्कृत और ब्रजभाषा के काव्यशास्त्र संबंधी ग्रंथ पढ़े। छोटे-मोटे शास्त्रार्थ करने लगा। "और कवि गढ़िया, नंददास जड़िया।" को सिद्ध करने लगा। देव और बिहारी, पद्माकर और ग्वाल, भूषण और मतिराम की कविताई पर अपने विचारों की छाप छोड़ने लगा। भारतेंदु-कालीन पत्र-पत्रिकाएं अस्त हो चुकी थीं। 'सरस्वती' में मेरे जैसों के लिए गुंजायश नहीं थी। 'विशाल भारत', 'सुधा' और 'माधुरी' या तो जब तक निकले नहीं थे या मथुरा की सीमा में इनका प्रवेश वर्जित नहीं तो कठिन अवश्य था। यदि ये साहित्यिक पत्र मुझ तक पहुंच पाते या मैं इन तक पहुंच पाता तो शायद मेरी गिनती भी ब्रजभाषा के कवि और काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ के रूप में हो जाती। ब्रजभाषा में मैंने बहुत लिखा। जमकर लिखा। प्रारंभ के बारह वर्षों तक मैं ब्रजभाषा में ही कविता करता रहा। सलेटों पर लिखा। पुर्जों पर लिखा। स्कूल की कापियों पर लिखा। मथुरा के छोटे-छोटे पत्रों में लिखा। जब तक स्कूल में पढ़ाई चली, उसकी पत्रिका में लिखा। पढ़ंत में पढ़ा। कवि-सम्मेलनों में तमगे पाए। पुरानी पीढ़ी के परंपरागत गुरुओं, आचार्यों और हिन्दी विभागाध्यक्षों का स्नेहभाजन बना। ब्रजभाषा की कविता ही मुझे आगरा ले गई। बच्चनजी के साथ पढ़ा। प्रेमचंदजी को सुनाया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल

को सुनाया। हरिऔधजी को सुनाया। राय कृष्णदास और मैथिलीशरणजी को सुनाया। नवीनजी से प्रशंसा प्राप्त की। नरेन्द्र शर्मा से स्नेह पाया। कविवर बच्चन तो आज तक यह कहते हैं कि मुझे तुम्हारी हास्यरस से अधिक ब्रजभाषा की कविताएं पसंद हैं।

अब ये कविताएं श्रोताओं के अभाव में विस्मृत होती जाती हैं। जो याद नहीं हो पाईं, वे दीमकों का आहार बन गईं। हमारे मथुरा के मंदिर में यमुना की बाढ़ का पानी घुस गया तो बहुतों को यमुना मैया अपनी गोद में ले गई। बहुत-सी सील गईं, गल गईं। माताजी ने इनका सदुपयोग किया। कूट-पीसकर डलियां बना लीं।

अच्छा ही हुआ। मैंने भी ब्रजभाषा की पुरानी परंपरा और लीक पर लिखा था। वह ऐसा नहीं था जो मतिराम, देव, रसखान, घनानंद तो दूर रत्नाकर और सत्यनाराण 'कविरत्न' की बगल में बैठने योग्य हो। जिन कवियों ने व्रज-कविता को मरने दिया, उनमें आप एक मुझे भी गिन सकते हैं। मैंने ब्रज-कविता को युगबोध नहीं दिया। नए विषय नहीं दिए। नया शिल्प नहीं दिया। मैं अतीत में ही रमता रहा, आनेवाले भविष्य को नहीं पहचान पाया। न किसान के कष्ट देखे, न मजदूर की मजबूरी। नारी के मांसल रूप-सौंदर्य को ही निहारता रहा। उसकी व्यथा-कथा को अपने काव्य में नहीं समेटा। परंपरा से हटकर जो सौ-पचास छंद लिखे, उनमें से दो-चार की बानगी ही यहां प्रस्तुत करूंगा। मैंने गंगाष्टक लिखा। दुर्गाष्टक लिखा। देवी-देवताओं पर लिखा। ऋतुओं के वर्णन किए। पुराने कवियों की कविताओं के अंतिम टुकड़ों पर भी अपनी कलम चलाई। समस्या-पूर्तियां भी कीं। उन सबको छोड़कर जिनमें कुछ नयापन है, उन्हें गणेश-वंदना से शुरू करता हूं—

गज-मुख नाहिं, ये तो धीर गति-मति वारे,
भाल-चंद्र नाहिं, ये तो कीरति कौ चंदना।
मूषक सवारी नाहिं, आसन सयानप पै,
नेत्र तीसरौ है नाहिं, ज्ञान-ज्योति वंदना।
मोदक न मांगैं, मोद ही सौं अनुरागैं सदा,
देवन में गिरिशृंग, गिरिजा के नंदना।
'व्यास' के गनेस, याहि पूजत सुरेस,
ये तो विघ्नेश नाहिं, मेरे विघन-निकंदना।

ऋतुओं में मुझे पावस ने बहुत प्रभावित किया है। उस पर मैंने बहुविध बहुत-से छंद लिखे हैं। लेकिन वर्षा के साथ जो कविता का रूपक बांधा है, वह शायद आपको भी पसंद आ जाए—

घिरि आईं घटाएं विचारन की,
जलधारन 'उक्ति' जबैं सरसैं लगीं,
चमकी चपला चित 'व्यंग' भरी,
'धुनि'-स्रेनी मरालन की दरसैं लगीं,
धुरवा छए 'व्यास' 'विभूषन' से,

मुरवान की वान कहान 'रसैं' लगीं।
कवि-मेघ के मंजु निनाद ते यों,
वरखा ते सुधा कविता बरसैं लगीं।

अपने जमाने में मुझे नायिका-भेद में पारंगत समझा जाता था। प्रभुदयाल मीतल की 'नायिका-भेद' नामक पुस्तक के छंद और उनका वर्गीकरण मेरा ही किया हुआ है। इनके अतिरिक्त जो कहीं नहीं छपे और अश्लील समझकर जिन्हें लोग सुनकर तो आनन्द लेते हैं, परंतु फ्रायड और मोपासां के सिद्धांतों और रचनाओं को मान्यता देनेवाले ऐसे कवित्त-सवैयों को महत्त्व नहीं देते, ऐसे रति-रंग के सैकड़ों छंद मेरे कंठ में हैं। उतरती आयु में यहां उनका उल्लेख नहीं करूंगा। पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'सुहागरात' पुस्तक की तरह मुझ पर भी इन्हें छपवाने और सुनाने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। रसिकों के लिए नई व्यंजना, मांसल रूप-सौंदर्य का केवल एक छंद प्रस्तुत करता हूं—

अंगना अकेली लखी एक यमुना के तीर,
नैन-वैन-सैन जाके अमरित घोरे-से।
आंगी में समात नांय, उरज उत्तंग तंग,
सेव-से, अनार-से, अनंग रंग वोरे-से।
'व्यास' कवि वैस की किशोरी तन गोरी, जाके
नैन चितचोरे-से, मरोरे-से, कटोरे-से।
ललित लुनाई लियैं, ललक ललाई भरे,
मद झकझोरे कोरे अधर सकोरे-से।।

बस, नायक-नायिका के मोद-विनोद का एक चित्रात्मक छंद और—

ललना नवेली कौं लखि आंगन में
औचक गुविंद ताहि धाय गहिवे लगे।
छुटकि छवीली नैं जु सास कौं वतायौ पास,
चौंकि चकराए चहुं ओर चहिवे लगे।
प्यारी हंसी मुख मोरि, लाल हंसे हिय लाय,
दोऊ यों विनोद में समोद वहिवे लगे।
पानीदार प्यारी के कमानीदार नैन 'व्यास',
ऐन-मैन मैन की कहानी कहिवे लगे।

पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी को मेरी ब्रज-कविताओं से बहुत लगाव था। जब भी मैं लखनऊ जाता या वह दिल्ली आते अथवा कहीं मित्र-मंडली में बैठे होते तो मुझे ब्रजभाषा की कविताएं सुनाने के लिए कहा करते थे। रीति-रसवाली नहीं, मैंने जो ब्रजभाषा में हास्य-कविताएं लिखी हैं, उन्हें बार-बार सुनते और सुनवाया करते थे। मैं भी मानता हूं कि अपनी मातृभाषा में जब-जब व्यंग्य-विनोद लिखा जाता है तो वह सहज, स्वाभाविक

और रसिकों के चित्त को आकर्षित करनेवाला होता है। श्रीनारायणजी को प्रिय ऐसी ही एक कविता के दो पद–

रहिवे कूं घर कौ मकान होय अट्टादार,
हाथ सिलवट्टा पै उछट्टा दै हिलत जांय।
द्वार बंधी गयूया होय, घर में लुगयूया होय,
बंक में रुपयूया होय, हौसला खिलत जांय।
'व्यास' कवि कहैं, चार भइयन में मान होय,
देह हू में जान होय, दंड हू पिलत जांय।
रोजनामचा में रोज-रोज ओज आतौ रहै,
ऐसी करौ योजना कि भोजना मिलत जांय।।

चतुर्वेदीजी भी ब्रजभाषी और मैं मथुरिया, दोनों को चकाचकी पसंद। अब इस कविता का भोजनी पद सुनिए–

भोजन में भात होय, घी सौं मुलाकात होय,
दही-बूरौ साथ होय, दार अरहर की।
हरौ कछू साग होय, चटनी की लाग होय,
फूले-फूले फुलका, परोसैं जाय घर की।
'व्यास' कवि कहै, रवड़ी जो मिल जाय कहूं,
फेरि हमें चाहना न विधि-हरि-हर की।
योजना वनाऔ तो वनाऔ जामै खीर घुटे।
पूरी कौन खाय, वात मालपुआ तर की।।

परंतु मेरे अग्रजतुल्य आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी मेरी ऐसी ब्रज-कविताओं को चाव से सुनते थे जो अपेक्षाकृत नवीनता लिए होती थीं। उन्हे मेरी 'खर्राटे' कविता बहुत पसंद थी। कविता इस तरह है–

तुलसी जग में आयकैं कर लीजै दो काम,
छक कै भोजन कीजियै मुंह ढक कै आराम।
मुंह ढक कै आराम, द्वार पै यह लिख दीजै-
सोय रह्यौ हूं अवइ, मोय दर्शन मत दीजै।
जागै सो पावै नहीं, सोवै सो सुख पाय,
जननी ऐसौ पूत जन, परते हा खर्राय।
खर्राटे ऐसे मुखर, पारंपरिक, अकूत
आंगन में वैठी मनों मल्लो कातै सूत।
मल्लो कातै सूत, मुटल्लो मठा बिलोवै,
कै बिल्लो से झगड़ टीन पै बिल्ला रोवै।
कै काऊ की भैंसिया पोखर में गर्राय,

कै काऊ की भौटिया चाकी रही चलाय।
खर्राटे क्यों कहत हौ कहौ षड़ज-संधान,
खैंच रहे बुंदू मियां नौ-नौ गज की तान।
नौ-नौ गज की तान कि जैसे करैं गरारे,
अटक कंठ में गए तेल के सक्करपारे।
कैधों ग्रामोफोन कौ तयौ भयौ बेकार,
चौबेजी की नाक कै लैबे लगी डकार।
खर्राटे ये हैं नहीं, ये हैं अनहद नाद,
घट के भीतर चल रह्यो जीव-ब्रह्म संवाद।
जीव-ब्रह्म संवाद सबद पर रहे सुनाई,
कहां गए गुरुदेव अर्थ बूझ्यौ नहिं जाई।
किधौं नाक ते बह रही कविता नई अचूक,
दाग समालोचक रहे सोय-सोय बंदूक।
खर्राटे खर-खर करैं, खटिया चर-चर होय,
सुन छोरा चीखन लग्यौ, छोरी दीनी रोय।
छोरी दीनी रोय बैल खूंटा ते भाजौ,
कुत्ता सोचन लग्यौ बजै यह कैसौ बाजो ?
मूसे बिल में घुस गए, मौसी खाय पछार,
घरवारी ठोकै करम, भले मिले भरतार।
बालम परे पलंग पै चारों कोने चित्त,
गोरी बत्ती जोरिकैं बाचे ब्यास-कवित्त।
बांचे 'व्यास' कवित्त कि लंबी लेय उसासै,
नाई-बामन मरो, बांध दीनी भैंसा तै।
दिन भर सानी सी चरै, रात परौ खर्राय,
झकझोरू तौ हे सखी, मरौ-मरौ चिल्लाय।

कहो कैसी रही ? द्विवेदीजी बड़े मोद-विनोदप्रिय थे। वह मुस्कराते ही नहीं, खुलकर हंसते भी थे। दिल्लगी भी करते थे और बीच-बीच में टिप्पणियां भी। उनके आदेश से मैंने हास्य-रस की ऐसी कई कविताएं लिखीं। अगर अपनी ब्रजभाषा में व्यंग्य-विनोद नहीं लिखता तो निश्चय ही मजा अधूरा रह जाता।

पढ़ंत परंपरा और मैं

नाम पुरुषोत्तम, पर प्रसिद्ध हुए सैंया के नाम से। मथुरा के पुरुष ही नहीं, नारियां भी उन्हें सैंया कहकर संबोधित करती थीं। कोई कहता—"सैंया भैया", कोई कहता—"सैंयाजी"। लेकिन हम नौजवान कवियों और लेखकों की मंडली उन्हें "सैंया चाचा" कहती थी। ब्रजभाषा के विद्वान स्वर्गीय जवाहरलाल चतुर्वेदी की गोरी, छरहरी प्रौढ़ा पत्नी जब शिकायत करती हुई कहतीं—"अब देख लै, सैंया ! तीन महिना है गए। तेरे जवाहरलाल नैं कलकत्ता ते मरी एक हू चिट्ठी नांय भेजी। तेरे पास तौ बाकौ पतौ है, नैंक डांट कैं लिखियो तौ सही कि का चक्कर में है ?", तो हम लोगों के ओठों पर मुस्कान खेल जाती और याद आने लगते ऐसे-ऐसे लोकगीत कि "सैंया भए कोतवाल, अब डर काहे कौ।" या वह प्रसिद्ध दादरा कि "सैंया तेरी गोदी में गैंदा बन जाऊंगी" अथवा ऐसा कोई फिल्मी तराना कि "सैंया के पैंया पड़ जाऊंगी रो-रो कहूंगी।"

'सैंया' ब्रज का अनमोल शब्द है, जो संगीत के सहारे सारे देश में प्रचलित हो गया है। पति के प्रेम में पगी पत्नियों का यह पिया से भी प्यारा संबोधन है। परंतु पुरुषोत्तमदास कंठीमालावाले व्यापारी सैंया कैसे हो गए ?" यह आश्चर्य का ही नहीं, शोध का भी विषय है। निश्चय ही सैंया चाचा रसिक मनोवृत्ति के थे। मैंने तो उन्हें उतरती आयु में देखा। तब भी वह साठा-पाठा लगते थे। गौरवर्ण, चौड़ा सीना, आजानु बांहें, लंबे छरहरे सैंया चाचा जवानी में तो और भी सुंदर लगते होंगे। कंठीमालाओं से ठसाठस भरी हुई ढाई-ढाई मन की बोरियों को बिल्टी कराने के लिए वह अकेले उठाकर ठेले पर लाद दिया करते थे।

सैंया चाचा का मेरे जीवन में ही नहीं, तत्कालीन ब्रज के साहित्य-जगत में भी उल्लेखनीय स्थान था। मथुरा के राजाधिराज बाजार में द्वारिकाधीशजी के मंदिर की बगल में और लक्ष्मीचंद नगर सेठ की हवेली के सामने उनकी कंठीमाला की पुश्तैनी दुकान कवियों और लेखकों की अथाई थी। सांझ होते-होते बिखरी हुई कंठीमालाएं सब गोदाम में पहुंच जातीं। लंबी-चौड़ी दुकान में सफेद चादरें बिछ जातीं। एक कोने पर सैंया चाचा तकिये के सहारे पीठ टिकाकर बैठ जाते। बाहर पट्टे पर अरहर के कोयले कागज के एक खलते

में रख दिए जाते। सैंया चाचा अपनी हुक्की हाथ में ले लेते। बदल-बदलकर चिलमें हुक्की पर आती रहतीं। इधर सैंया चाचा की हुक्की गुड़गुड़ाती और उधर पुराने, प्रसिद्ध तथा जमे हुए कवियों के साथ-साथ हम जैसे नवोदित कवियों का कविता-पाठ चालू हो जाता।

तब ब्रज के लोग देसी घी खाते थे। शरीर में भी जान हुआ करती थी। यानी गले को माइक की आवश्यकता नहीं होती थी। कवियों की प्रतिस्पर्धा जब जोर पकड़ती तो बाजार में आते-जाते लोग खड़े हो जाते। रास्ता रुक जाता। जहां कवियों में यदाकदा ब्रज कविकुल गुरु नवनीतजी, अमृतध्वनि सम्राट रामललाजी, शतरंज मार्तण्ड कृष्ण कविजी, साहित्य-शास्त्री और कवि नवनीतपुत्र गोविंदजी, सैंया पुत्र चुन्नीलाल 'शेष' जी, भगवद्दत्तजी चतुर्वेदी, बालमुकुंदजी चतुर्वेदी, बच्चनजी, सुमनेशजी के साथ-साथ बुंदेलखंडी पगड़ी और अंगरखा पहने हुए सेवकेन्द्रजी सहित हम जैसे दसियों नौजवान भी रहा करते थे। वहां सड़क पर खड़े होकर कविता सुननेवालों में मथुरा के चेयरमैन, जिला बोर्ड के अध्यक्ष, साहित्यप्रेमी वकील, अध्यापक और कुछ उर्दू शायर भी जब-तब हुआ करते थे। यह गोष्ठी 11-12 बजे तक तो अक्सर चलती थी। लेकिन पढ़ंत-गोष्ठी यदि जम जाती और बाहर से कोई कवि मथुरा की मंडली को चुनौती देने आ जाता तो प्रातः द्वारिकाधीश की मंगला तक भी निरंतर काव्यधारा बहा करती थी।

एक कहावत है—"विद्या कंठ की और पैसा गंठ का।" संस्कृत भाषा की तरह ब्रजभाषा को भी साहित्य-रसिकों ने अपना कंठाभरण बनाकर जीवित और जाग्रत रखा। उन दिनों ब्रज चौरासी कोस में ही नहीं, आगरा, भरतपुर, मैनपुरी, कानपुर, प्रयाग, काशी, पटना और कलकत्ता जैसे नगरों में सैकड़ों ऐसे पढ़ंत विद्या विशारद थे, जिन्हें ब्रजभाषा के सैकड़ों-हजारों छंद विषयवार कंठस्थ थे। इनमें कोई जातिभेद नहीं था और न वर्गभेद। ब्राह्मण, बनिये, खत्री, कायस्थ, अहीर ही नहीं, मुसलमान भाई भी इन पढ़ंत-सम्मिलनों में भाग लिया करते थे। जिजमान-यात्रीवाले पंडे, मंदिरों के पुजारी, अखाड़ों के पहलवान, आटेवाले, सराफेवाले, मिठाईवाले, यहां तक कि ठेलों में मूंगफली बेचनेवाले भी उस समय कविता के शौकीन थे। वे श्रोता ही नहीं, पढ़ंत में कविता पढ़नेवाले भी थे। तोता-रटंत की तरह नहीं, समझकर कविता पढ़ते थे कि अगले ने यदि कामिनी की 'लट' पर कविता पढ़ी है तो वे भी लट पर उसका उत्तर दें। अगर किसी ने 'मुग्धा' का कवित्त पढ़ा है तो क्या मजाल कि कोई 'मध्या' का कहने लगे। यही बात नख-शिख, षटऋतु और प्रकृति -वर्णन तथा देवी-देवताओं के छंदों आदि के बारे में भी होती थी। इनमें से अनेक तो ऐसे होते थे, जिन्हें बिना किसी पाठशाला में साहित्यशास्त्र पढ़े हुए रस-रीति-अलंकार, लक्षणा-व्यंजना और नायिका-भेद का सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान होता था। सैंया चाचा इस कवि-मंडली के, पढ़ंत-परंपरा के और साहित्य के विविध विषयों के अघोषित आचार्य थे। कोई विषय से भटकता, अशुद्ध उच्चारण करता या कविता पढ़ते-पढ़ते बीच में भूल जाता तो वह उसे टोकते, रोकते तथा बताते। वैसे वह इन गोष्ठियों के प्रायः मूक श्रोता ही होते थे, परंतु विषयानुक्रम में जब पढ़ंत-पाठियों के कोष खाली हो जाते तो वह अचानक न जाने कहां से एक ऐसा दुर्लभ छंद सुना देते कि लोग आश्चर्यचकित होकर उनका लोहा मान जाते। इस अनुपम साहित्यिक दृश्य को देखने के लिए, या यों कहें रसास्वादन के

लिए, डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ. सत्येन्द्र, जवाहरलाल चतुर्वेदी जैसे मथुरा के प्रसिद्ध विद्वान ही नहीं, मथुरा के 'दैत्यवंश' के लेखक (जिनका नाम याद नहीं आ रहा) तथा तत्कालीन प्रसिद्ध कवि अनूप शर्मा, आगरे के शंठ कवि, गोकुल के देवी द्विज, भरतपुर के कुंमन, कानपुर के सनेहीजी ही क्यों, मैंने इस साहित्यिक अथाई पर पं. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और दिनकरजी को भी बैठे हुए पाया है।

उन दिनों आज की तरह कवि-सम्मेलन नहीं हुआ करते थे। 'खड़ी' बोली घुटनों के बल चल रही थी। कवि-सम्मेलनों में समस्यापूर्ति ही चला करती थी। विद्यार्थी स्कूलों में अंत्याक्षरी से कविता का पहला पाठ पढ़ते थे। पढ़ंत-गोष्ठियों में पुराने कवियों की रचनाओं के माध्यम से उनकी सिखलाई होती थी। शब्द-ज्ञान और तुकों का अभ्यास होता था। एक ही विषय पर अलग-अलग कवियों ने किस तरह अलग-अलग चमत्कारिक वर्णन किए हैं, इसका ज्ञान होता था। छंद किस प्रकार सस्वर प्रभावशाली रीति से पढ़े जाते हैं, इसकी शिक्षा मिलती थी। इतना सीख लेने के बाद वे समस्यापूर्ति के दंगलों में उतरा करते थे और विजयी होने पर थोड़ा-बहुत पुरस्कार भी पा जाते थे। लेकिन पढ़ंत-सम्मेलनों में प्रवेश पाने के लिए तो सिर्फ एक इलायची मिलती थी। वह भी हरेक को नहीं। लोग इस इलायची को पाने की प्रतीक्षा किया करते थे और मिल जाने पर स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करते थे।

सैंयाजी मेरे गुरुभाई थे। बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर', आचार्य पद्मसिंह शर्मा, कृष्णकवि, सैंया चाचा, कविरत्न रामलला, साहित्यशास्त्री गोविन्द कवि और मैंने नवनीतजी से विधिवत दीक्षा लेकर पिंगल पढ़ा था। लेकिन सैंयाजी के पुत्र चुन्नीलाल 'शेष' मेरे सहपाठी थे। हम दोनों ने सत्येन्द्रजी की प्रेरणा से विशारद और साहित्यरत्न की परीक्षाएं पास की थीं। मैं सैंयाजी की काव्य-गोष्ठियों का प्रमुख पात्र बनकर ब्रज का छैला बन गया। कवियों ने मुझ पर कविताएं भी लिख दीं। दो उदाहरण—

सैंया चचा की दुकान के थान पै,
बैठिकै व्यास पुरान बखानैं।
X X X
सैंया ने व्यास कूं छैला बनायौ।

आइए, लगे हाथ इन पढंत-गोष्ठियों के कुछ प्रसंगों की चर्चा कर लें। गोवर्द्धन में सेंगरियाजी पढ़ंत-परंपरा के जाने-माने उस्ताद थे। मुड़िया पूनों (गुरु पूर्णिमा) या सलूनों (रक्षाबंधन) पर हम (रामलला, गोविन्द और मैं) इन वयोवृद्ध कवि तपस्वी के दर्शन करने तथा पढ़ंत में हर बार उनसे नए-नए छंद सुनने गोवर्धन जाया करते थे। कविता से अधिक एक लोभ और भी था कि सेंगरिया बाबा बड़े प्रेम से भांग-ठंडाई छनवाते और रबड़ी-पूड़ी के दिव्य भोजन करवाते तथा छंद पढ़ते-पढते जब कंठ खर्राने लगते तो बादाम और केसर का निपनिया दूध भी पिलाया करते थे। एक बार पावस (वर्षा ऋतु) पर पढ़ंत प्रारंभ हो गई। हम तीनों को भी अपनी कंठस्थ वृहद पावस छंदावली पर बड़ा अभिमान था। लेकिन सेंगरिया बाबा ने हम तीनों के साथ लगातार तीन रातों तक पावस के ऐसे-ऐसे दुर्लभ

छंद सुनाए कि हम पस्त हो गए। तब उनकी आयु 80 वर्ष से ऊपर ही रही होगी। गोवर्द्धन में ही नहीं, इसी प्रकार के आयोजनों में हम लोग गोकुल, वृंदावन, हाथरस और भरतपुर जाते रहते थे या वहां के लोग मथुरा आते रहते थे। पढ़ंत का प्रारंभ सरस्वती-वंदना से होता था, फिर गणेश-स्तुति के छंद पढ़े जाते थे और उसके बाद यमुना और राधा के छंद। राधा के छंदों में से ही कोई चतुर कवि रस-प्रसंग निकालकर नए विषय को चुनौती के रूप में प्रस्तुत कर दिया करता था। फिर क्या था। सब उस चुनौती को स्वीकार कर लेते और रात-रात-भर उसी विषय पर छंदों की वर्षा होती रहती। एक बार कानपुर के अवस्थी नामक कवि 'लट' पर सैकड़ों छंद याद करके मथुरा आ धमके और चुनौती दे दी। लटों पर वैसे ही कम छंद मिलते हैं, जो प्रायः पढ़ंत में विशेष काम नहीं आते। लोग वक्त-जरूरत के लिए पांच-सात छद याद कर लेते थे। अब इस शतछंदी अवस्थी से कैसे मुकाबला किया जाए ? मै समस्या की गंभीरता को भांप गया था। शुरू में मैंने पढंत में भाग नहीं लिया। सैंया चाचा भी मौन रहे। जो छंद मुझे याद थे उनमें से कई को लोगों ने पहले ही सुना डाला। तब मैंने अपने पुस्तकीय ज्ञान का सहारा लिया। मैंने पढ़ंत के लिए परंपरागत छंद कम याद किए थे। मैने अपना कोष 'मिश्र बंधु विनोद', श्री रामनरेश त्रिपाठी की 'कविता कौमुदी', 'देवमुधा', 'गुण तिलक सवैया', 'हबीबुल्ला खां का हजारा' तथा एक हस्तलिखित ग्रथ 'नवीन सागर' को पढ़कर भरा था। जब सबके सब थके और चुके लगे तो मैने अपना पिटारा खोला। मैंने एक साथ दो-दो छंद पढ़े। उत्तर मे अवस्थीजी महाराज ने चार-चार छंद पढ़े। सैया चाचा ने अब मौन तोड़ा। उनके पास ऐसे छदो का अटूट भंडार था कि जिनको समझने और बारीकियों मे जाने का साहस हरेक कोई नही कर सकता था। वह लट पर छंद सुनाकर पूछते कि 'बताओ कौन सी नायिका है, अवस्थीजी ?' अवस्थीजी सोचने लगते तो मै चालू हो जाता और जिस छंद में कही लट का जिक्र भी आ जाता तो उसे पेल देता। जैसे मुबारक का यह सवैया–

> *"वाकी लटैं लटकें, कटि खीन,*
> *पयोधर द्वै मनमोहन सोखे।"*

यद्यपि यह छद मुख्यतः चितवन पर है, लेकिन इससे क्या, लट तो है। इसी तरह भूषण के एक छंद का अंश–

> *छूट रही गोरे गाल पै अलक आछीं,*
> *कुसुम गुलाब के ज्यों लीक अलि दो की-सी।*

यद्यपि यह छंद सुरतांत से संबंधित है, लेकिन इससे क्या ! लटो का वर्णन आता तो साथी वाह-वाह का वह शोर मचाते कि अवस्थीजी हतप्रभ हो जाते। इस तरह चतुराई करके हमने उस दिन मथुरा की लाज रख ली।

ऐसे ही भरतपुर के कुंभन कवि अमृतध्वनि छंद के दिग्गज पढ़ंतिये थे। अमृतध्वनि छंद लिखना या पढ़ना हरेक के बूते की बात नहीं। इसके लिए हमने रामलला को तैयार किया। भाई रामलला ने पुराने अमृतध्वनि छंद तो याद किए ही, पचास से ऊपर नई

अमृतध्वनियां स्वयं भी रच डालीं। जब भरतपुर से इलायची आई तो हम लोग रामललाजी के सेनापतित्व में वहां जा पहुंचे। मुझे तो केवल दो अमृतध्वनियां याद थीं और गोविन्द को चार। सैंया चाचा इसमें नहीं गए। मैंने तुलसीदास की और एक गंगकवि की अमृतध्वनि सुनाकर कुंभन को अखाड़े में उतरने के लिए ललकार दिया। अब रामलला और कुंभन भिड़ गए। बीच-बीच में गोविन्द टेका देते रहे। कुंभन रामलला के सामने नहीं टिक सके। रचना की कंट पर विजय हुई।

लेकिन सबसे मजेदार प्रसंग तो उस फूलडोल का है, जो मथुरा की सरवर सुल्तान की दरगाह में बने भैरव मंदिर में हुआ था। उन दिनों फूलडोलों पर प्रायः पढ़ंत दंगल हुआ करते थे। भैरोंजी का मंदिर एक पतली-सी गली में था। वहां भी पढ़ंत की चुनौती कोई देगा, इसकी आशंका मुझे नहीं थी। मैं और मेरे बालकवि साथी श्री भारतभूषण अग्रवाल और बाद में बने पुरातत्ववेत्ता तथा इतिहासकार श्री कृष्णाचारी आदि सरवर सुल्तान और भैरव मन्दिर की प्रासंगिकता पर विचार करते-करते वहां जा पहुंचे। भैरव की मूर्ति को लक्ष्य करके मैंने वीर रस का एक छंद सुना दिया–

एक कर शोभित त्रिशूल शूल शत्रुन कैं,
एक कर मुंड-झुंड झहरत झाला अति।

दर्शनार्थियों में एक लंबे-चौड़े भांग पीकर लाल-लाल आखें किए चौबेजी भी उपस्थित थे। भैरव-छंद तो उनके पास था नहीं, उन्होंने हनुमानजी पर छंद सुनाने शुरू कर दिए। भारत ने मुझे उकसाया–हो जाय! मेरे पास वीर रस का विपुल भंडार था। केवल तुलसीदास के ही नहीं, सूदन के 'सुजान चरित' के, भूषण की 'शिवा बावनी' के, रत्नाकर की 'भीष्म प्रतिज्ञा' के और कृष्ण तथा चाडूर के मल्लयुद्ध और पहलवानी के दांव-पेंचों के बड़े छंद याद थे। चौबेजी की बोलती बंद हो गई। हम लोग विजय-गर्व से सीना ताने हुए मंदिर से बाहर निकले तो संकरी गली में चौबेजी ने सामने आकर मेरा गरेबान पकड़ लिया और बोले–"अब सुना वीर रस के छंद, राधादामोदर के! (मथुरा के चतुर्वेदियों में मैं अपने मंदिर राधादामोदर के नाम से ही जाना जाता था) चौबों से मुकाबला करता है।" कहते-कहते उन्होंने मुक्का तान लिया। यदि एक सेकंड की भी देर हो जाती तो वीर रस मेरे ऊपर बरस पड़ता। तत्काल मेरी निगाह चौबेजी के पैरों पर पड़ी। वह काठ की चट्टियां पहने हुए थे। नाली के पानी से संकरी गली में थोड़ी फिसलन भी हो गई थी। मैंने आव देखा न ताव, अपने से ढाई गुने चौबेजी की छाती पर दोनों हाथों से दुहत्थड़ दे मारा। चट्टियों ने दगा की, फिसलन ने साथ दिया और चौबेजी कीचक की तरह से जा पड़े धड़ाम नाली में। उनके गिरते ही मैं भाग लिया। पीछे पीछे भारत और दूसरे साथी। अगर रुक जाता तो हड्डी-पसली एक हो जाती।

ये थे हमारे जमाने के पढ़ंत-सम्मेलनों के अनोखे ठाठ। इन्हीं से मैंने कविता का व्यावहारिक ज्ञान सीखा। साहित्य-शास्त्र की परंपरागत शिक्षा पाई। कविता कैसे पढ़ी जाती है, यह जाना और मथुरा तथा ब्रज क्षेत्र में लोकप्रियता भी प्राप्त की। ब्रजभाषा की पढ़ंत शैली और उसके चुनौती-भरे काव्य-पाठ के 'आठ गांठ कुम्मैत' बनकर सन पैंतालीस से

पिचहत्तर तक कवि-सम्मेलनों के अश्वमेध यज्ञ में मैंने अपना श्यामकर्ण घोड़ा छोड़ा था। बालकवि बैरागी का कहना है कि उस समय उस घोड़े को कोई पकड़ नहीं पाया था। कलकत्ते से काहिरा तक और कश्मीर से कन्याकुमारी तक घोड़ा आगे-आगे और मेरी कविता पीछे-पीछे। कविता की ही नहीं, मेरी भी सर्वत्र जय-विजय होती चली गई।

दिल्ली के सांस्कृतिक जीवन में श्री गोपालप्रसादजी व्यास का स्थान अत्यंत स्पृहणीय है। सन् 1952 से लेकर 1963 तक व्यासजी की कार्यप्रणाली, उनकी क्षमता और उनके प्रभाव को मुझे अत्यंत समीप से देखने के अनेक अवसर मिले थे और हर वार उनके हिन्दी-प्रेम, लगन और अध्यवसाय को देखकर मैं श्रद्धा से गद्गद हो जाता था। सच पूछिए तो दिल्ली में व्यासजी हिन्दी के सबसे जागरूक सेवक और प्रहरी हैं। जब टंडनजी जीवित थे, वह बार-बार सभाएं आयोजित करने की जिम्मेवारी व्यासजी पर डालते थे। और जब राजर्षि टंडनजी बीमार होकर दिल्ली से प्रयाग चले गए, तब भी हिन्दी आंदोलन के सभी मुख्य सूत्र व्यासजी के ही हाथों में रहते थे।

व्यासजी की हिन्दी-नीति संकीर्ण नहीं, उदार है। वह मानते हैं कि अंग्रेजी के हटने पर जो जगहें खाली होंगी, वे सब की सब हिन्दी को नहीं मिलनेवाली हैं, न हिन्दीवालों को उन सभी स्थानों पर हिन्दी को आसीन करने का दुराग्रह करना चाहिए। हिन्दी प्रांतों में अंग्रेजी को अपदस्थ करने का जिम्मा राष्ट्रभाषा पर नहीं, मातृभाषाओं पर है। इसीलिए हिन्दी की किस्मत सभी क्षेत्रीय भाषाओं के साथ बंधी है। सभी प्रांतीय भाषाएं जिस शीघ्रता के साथ अपने-अपने क्षेत्रों में अंग्रेजी को अपदस्थ करेंगी, उसी शीघ्रता के साथ हिन्दी का सार्वदेशीय प्रचार आगे बढ़ेगा। व्यासजी हिन्दी के प्रश्न को सिर्फ हिन्दी का प्रश्न नहीं मानते, वह उसे सभी भारतीय भाषाओं के प्रश्न से एकाकार समझते हैं।

व्यासजी का स्वभाव सरल, विनोदी और कपटहीन है। वह जितने अच्छे कार्यकर्त्ता हैं, उतने ही अच्छे दोस्त भी हैं। उन्होंने संघर्षों के भीतर रहकर अपना विकास किया है, इसीलिए प्रत्येक संघर्षशील व्यक्ति के प्रति सहिष्णु और सम्मानशील हैं।

–रामधारी सिंह 'दिनकर'

रास रसामृत : एक प्रयोग

आप मुझे भले ही अव्यावहारिक, पुरातनपंथी और आधुनिक काव्यबोध तथा उसकी अमित संभावनाओं से मुंह मोड़कर अपने मत का मूढ़ाग्रही मानें, परंतु मैं तो आज भी कविता के लिए ब्रजभाषा की सार्थकता का हामी हूं। मानता हू कि ब्रजभाषा ने हिन्दी को जो रसबांध, छंद की कसावट, शब्दों की बनावट और आखरो को मधुराई प्रदान की है, वह अभी तक नए से नए प्रयोगों के बावजूद खड़ीबोली में नहीं आ पाई है। सैकडों वर्षों तक ब्रजभाषा के कवियों ने भाषा की जो मंजाई की है, शब्दों को तराशा है, कंकड़ों को शालिग्राम बनाया है, नए गढ़े है और पुराने पकड़े हैं तथा बिना परहेज के विभिन्न भाषाओं के शब्दों को ब्रजी रूप प्रदान किया है, इस लक्ष्य तक पहुंचने में खड़ीबोली यानी आधुनिक हिन्दी कविता को सौ वर्ष और लग जाएगे। ब्रजभाषा ने केवल रस-रीति ही नहीं, साहित्य को विविध आयाम भी दिए हैं। संस्कृत का, जनजीवन से लोप हो जाने के बाद ब्रजभाषा समग्र भारत की साहित्यिक भाषा रही है। शताब्दियो तक उसने भारतीय भाषाओं के साहित्य और साहित्यकारों को अनुप्राणित किया है। शायद ही कोई प्रदेश ऐसा रहा हो, जिसके सुधी साहित्यकारों ने ब्रजभाषा में रचना न की हो। किसी ने नहीं कहा कि ब्रजभाषा हम पर थोपी जा रही है। बिना संघर्ष का नारा लगाए उसने भारत में आए और बसे शासकों की भाषा से टक्कर लेते हुए साहित्य के धरातल पर उनकी सांस्कृतिक व साहित्यिक चुनौतियों को भी छकाया है। विवश किया है उनके साहित्यकारों को भी ब्रजभाषा में लिखने के लिए। रहीम, रसखान, ताज, आलम, मुबारक, नजीर जैसी अनेक नजीरें गिनाई जा सकती हैं। जायसी भी ब्रजभाषा के प्रभाव से नहीं बच सके। यही बात आंचलिक बोलियों के संबंध में भी है। तुलसी और मीरा को साहित्य में प्रतिष्ठित होने के लिए ब्रजभाषा में अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करनी पड़ गई। जिनकी भाषा को सधुक्कड़ी कहा गया है उन महामना कबीर की, जिनकी कविताओं से अनुप्राणित होकर कवीन्द्र रवीन्द्र विश्वकवि बन गए, कविता भी ब्रजभाषा के पुट से पुष्ट हुई है।

प्राचीन उदाहरणों को छोड़िए। भारतेन्दु, रत्नाकर, सत्यनारायण 'कविरत्न' जैसे अनेक कवि खड़ीबोली के प्रारंभिक युग में ही नहीं, उसके प्रचलन के बाद भी ब्रजभाषा में लिखते रहे और लिख रहे हैं। कहने का तात्पर्य यह कि आज भी ब्रजभाषा में उल्लेखनीय साहित्य लिखा जा सकता है। हो तो कोई लिखनेवाला। हो तो कोई जिसकी ब्रजभाषा में पैठ हो। पुरानी दुनिया को छोड़कर कोई नवयुग में प्रवेश करे तो ब्रजभाषा अपनी पूरी सामर्थ्य के साथ उसकी सहायता करने को तैयार खड़ी है। मैं तो ब्रजीय कविता पर मुग्ध हूं। बार-बार नाना प्रकार से मैंने उसकी महत्ता का प्रतिपादन किया है—

ओठन में मधु घोल गई,
रसना में रसी, बनी कंठ-पिपासा।
बांसुरी-सी बजी कानन में,
उर में उतरी, उभरी अभिलाषा।
'व्यास' कौं नेह नवीनौ दियौ, औ
सनेह कौं दीनी नई परिभाषा।
श्याम कौं मोर की पाँख दई, अरु
सूर कौं आँख दई ब्रजभाषा।।

स्वतंत्रता के पश्चात् देश में आई भाषायी आंदोलनों की बाढ़ और भाषावार प्रदेशों के निर्माण के कारण ब्रज-क्षेत्र में भी अपनी पहचान अलग से बनाने का आंदोलन शुरू हुआ है। ब्रज प्रदेश की मांग जहां-तहां उठने लगी है। लोग पद्य में ही नहीं, गद्य में भी ब्रजभाषा का प्रयोग करने लगे हैं। ब्रज की काव्य-गोष्ठियों और कवि-सम्मेलनों में ब्रजभाषा के कवि अपना सिक्का जमाने लगे हैं। विशेषकर गीत-विधा को नया रूप दिया है इस दौर ने। हिन्दी कवि-सम्मेलनों में जब सोम ठाकुर जैसे कवि ब्रज-कविता का पाठ करते हैं तो श्रोता मंत्रमुग्ध हो जाते हैं। उर्दू के भी लोकप्रिय कवि फिर से अपनी नज्मों और गजलों में ब्रजभाषा का बड़ा मधुर प्रयोग करने लगे हैं। लेकिन आवश्यकता अब भी बनी हुई है ब्रजभाषा में नए शिल्प, अभिनव कथ्य और यथार्थमूलक रसबोध की। मैंने कुछ दिन पूर्व एक पुस्तक लिखी थी—'मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।' यही बात ब्रज-कविता के संबंध में भी है। अभी-अभी सन् 1989 में मेरी ब्रज-कविताओं का एक संग्रह 'रास रसामृत' के नाम से प्रकाशित हुआ है। इसमें मैंने कुछ नए प्रयोग करने की चेष्टा की है। सबसे पहले तो यह कि यह कृति एक संगीत-नृत्य-नाटिका है। दूसरे यह कि मैंने ब्रज के पारंपरिक विषयों, जैसे—राधा, कृष्ण, गोपी, वंशी, रास, संयोग-वियोग, यमुना, गोवर्द्धन और कृष्ण के वचनामृतों को नए रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश की है। परंपरागत कवित्त, सवैयों और पदों के साथ-साथ जहां-तहां नया शिल्प-विधान भी प्रस्तुत किया है। उदाहरण के लिए बिहारी सतसई के प्रथम दोहे पर एक कुंडलिया—

मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तन की झाईं परै, श्याम हरित दुति होय।।

श्याम हरित दुति होय, पीत-पट होत सुनहरौ।
अरुन अधर पै रजत मुरलिया कौ दृढ़ पहरौ।
मोरपखा बहुरग, 'व्यास' बनमाल कनेरी।
रग-रँगीले युगल, हरौ भव-बाधा मेरी।

लोक और साहित्य मे प्रचलित ऐमे कई दोहो पर नई कुडलियो के प्रयोग मैंने किए हैं। कृष्ण की वशी को ही लीजिए। ब्रज-कविता मे इसका बाहुल्य है। लेकिन अधिकतर इस प्रकार कि "बाजी कहैं बाजी, बाजी बाजी कहैं कहा बाजी, बाजी कहैं बाजी बसी सावरे सुघर की।" परतु मेरी कविता ने वशी की तान इस प्रकार छेडी—

वसी वजी कि वजि उठे मन-बीना के तार।
ये समझीं सकेत है, वे अनहद-सचार।।
वे अनहद-सचार, जीव कौं ब्रह्म जगावत।
ये समझीं घनश्याम हमहि कौं टेर बुलावत।।
पगन लगि गए पख, उड़ीं जेसे कलहसी।
हे मनमोहन 'व्यास' वजाई कैसी बसी ?

ब्रज की आराध्य देवी राधा के रूप माधुर्य और उनकी निकुज लीलाओ मे साहित्य भरा पडा हे। सगीत मुखरित है। भक्ति प्रवाहित है। लेकिन मैंने उनके रास-नृत्य का नई-नई उपमाओ ओर उत्प्रेक्षाओ से वर्णन किया है। नृत्य मे एक गेय पद देखिए—

रा.त राधिका रस भरी।
स्वर्गगगा मनहु भू पर नाचिबे उतरी।
पेखि मन घनश्याम इत उत नचत बिज्जु परी।
लपकि मुरली सॉवरे की अचक अधरन धरी।
वास की बसिया :पचारी वोल आपुहि परी—
मे सखी, राधे, तिहारी कहौ मत बिगरी।
श्याम-वश मे, कान्ह तुम व.श, रूप गुन अगरी।
स्वरन की मैं, शब्द की तुम, धन्य ब्रज-सुँदरी।
काठ की मैं, ठाठ की तुम, रसन रसना भरी।
मोहि के मिस तुमहि टेरत, समुझि जगमग री।
प्रान फूँकत, हियौ हूँकत, धरत जब अँगुरी।
मैं वजी, तुम भजीं जैसें फूल पै तितरी।
श्याम तक पहुचाय, भामिनि, नाहिनें मैं मरी।
बाँसुरी के सुनत बैना लाड़िली उमरी।
रुनक नुपूर, झुनुक पायल, वजन लागीं चुरी।
हिलत बेसरि, खिलत गल मे माल-मोतिन लरी।
घुमत घघरी, सग चुनरी, लखत सखियॉं खरी।

संग यमुन-तरंग नाचत, रातरानी झरी।
दृष्टि डारत कुमुद फूले, जलज शोभा हरी।
गाय खिरकन, मोर बन-बन, डार पर पिक री।
चन्द्रमा भू पर उंड़ेलत सुधा की गगरी।
रमा नाची, उमा नाची, सृष्टि हू सगरी।
रीझि नाचे श्याम सुंदर, 'व्यास' जय-जय करी।

आपने रूप, रस और माधुर्यमयी राधिका का नृत्य उक्त छंद में देखा। श्रीकृष्ण तो इस महारास के एकमात्र नायक थे। उनका तो नाम ही नृत्यगोपाल है। जब उनके नृत्य का प्रसंग आया तो मेरा मन संगीतमय, नृत्यमय और अभिनव छंदमय हो गया। मैंने लिखा–

नृत्यत राधिका के रंग,
श्री ब्रजचंद !
श्यामसुंदर मदनमोहन सहस गोपी संग,
आनंदकंद !
कटि पितंबर, अधर मुरली, सहज ललित त्रिभंग,
जय नंदनंद !
ध्वनित नूपुर, क्वनित किंकिनि, अंग-अंग उमंग,
अनुपम छंद !
झलक कुंडल, अलक विलुलित, मुकुट डुलत सुढंग,
फिरकन फंद !
भुजन भटकन, नयन मटकन, अंग-अंग अनंग,
गोपीवृंद !
मुरकि तिरछन, निरखि सब तन, चाल ताल अभंग।
नृत्य प्रबंध !
रास राचत, श्याम नाचत, 'व्यास' हृदय तरंग।
परमानंद !

अब युगल नृत्य का भी एक छोटा-सा छंद और–

मोर-मुकुट छवि, काछनी, उर झूलत बनमाल।
नटनागर मन में बसे रासबिहारी लाल।।
रासबिहारी लाल, नचत तत तत ता थेई।
तग्गी तग्गी संगत श्यामा सुंदरि देई।।
धुमकिट धिकट धिलाँग मृदगैं बजैं 'व्यास' कवि।
लट-पट की फहरान मनहरन मोर-मुकुट छवि।।

आपने भी सुना होगा–"वियोगी होगा पहला कवि, आह से निकला होगा गान।

उमड़कर नयनों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान।" जब महारास में कृष्ण अंतर्धान हुए तो गोपियों की आकुल-व्याकुलता ने मेरी कविता को आंसुओं से भिगो दिया। वियोग के अनेक गीत मैंने परंपरा से हटकर 'रास रसामृत' में संजोए हैं। बानगी के लिए केवल एक–

पंछी बोलो,
मन के पंछी उड़ि गए कितैं ?
क्यों सोए तुम ?
हे ओस-बिंदु,
रस-सिंधु हमारे कितैं बहे ?
क्यों रोए तुम ?
नभ के तारो,
कछु उच्चारो, वे कहा छिपे ?
क्यो खोए तुम ?
हे गगन चद,
ब्रज-चंद, कहा पै चमक रहे ?
कहुं जोए तुम ?
हे यमुन-लहर,
टुक ठहर, कहो वे कित डुबके ?
क्यो हो टुग गुम ?
हे लता-कुज,
छवि-पुज, छिपाए का बहिना ?
क्यों हो गुमसुम ?
हे रमनरेति,
पद-चिन्ह मेटि जनती जैसे–
हो नामालुम।
हे बद कमल,
उर धरिकैं हमरे सावरिया,
क्यो चुप हो तुम ?
चातक-चकोर,
मोरनी-मोर, शुक-पिक बोलो–
नदलाल कहा ?
गइया मइया,
बछरा-बछिया, बहिना-भइया,
गोपाल कहाँ ?
सुरभित कदब,
हे अंब-निंब, प्यारे तमाल !

ब्रजबाल कहां ?
हे गोवर्द्धन,
कुलदेव, श्याम पूजित रक्षक,
रखबाल कहां ?
हे नीलगगन,
वे नीलकमल खिल रहे कहां ?
खिल-खिल-खिल-खिल।
उनके तन को,
छूकर आई, दे पता बता,
हे मलयानिल !
बज बांसुरिया,
प्रतिशोध न ले, पहचान अरी !
बिरहिन के दिल।
यह आर्त्तनाद,
संवाद करुण, किमि कहै 'व्यास' ?
है नाकाबिल।

क्या विचित्र संयोग है कि मेरी ब्रज-वाणी को व्यंग्य-विनोद ले बैठा। मेरे गंभीर और ललित लेखन को मेरी पत्रकारिता ले बैठी। जब हिन्दी की सेवा का व्रत लिया तो लोग मेरे साहित्यिक स्वरूप को ही भूले जा रहे हैं। अभी कुछ दिन पहले भाई रामविलास शर्मा, प्रो. प्रकाशचंद्र गुप्त के साथ कनाट प्लेस में घूमते हुए मिल गए। उन्होंने तो शायद सहजभाव से व्याज-स्तुति में कहा होगा कि "व्यास, अब तुम नेता हो गए हो।" मैं मुस्करा दिया। लेकिन यह मुस्कराहट ऊपरी थी। उनकी बात मुझे तीर की तरह बेध गई थी। मन में आया कि अपनी दो पंक्तियां उनको सुना दूं–

आंख हरी अखबारनवीसी
गांठ हरी फय्याजी,
बुद्धि हरी नेतागीरी ने,
पीछे पड़ गए पाजी।

परंतु ये दोनों सज्जन मेरे आदरणीय मित्र थे। हंसकर टाल दिया और मन को आश्वस्त कर लिया कि कहने दो इन्हें और मानने दो माननेवालों को। मैं जो हूं वह तो मैं ही जानता हूं, अथवा थोड़ा-बहुत वे जानते हैं जो यदा-कदा मुझ पर लिखते, कहते और शोध करते रहते हैं–व्यास : एक बहुआयामी व्यक्तित्व। भले ही यह अर्द्धसत्य हो, लेकिन मन की खुशफहमी के लिए क्या बुरा है ?

रंग नहीं, जंग

मेरी कविता के तीन अग–रग, जग और व्यग। रग ब्रज का। जग आजादी की। जग शोषण के विरुद्ध। जग गरीबी के विरुद्ध। जग असमानता के विरुद्ध। जग अन्याय के विरुद्ध। जग भ्रष्टाचार के विरुद्ध। जग कथनी और करनी के दोहरे मापदड रखनेवाले तथाकथित नेताओ के विरुद्ध। इसी से विकसित हुआ व्यग्य। ब्रज ने इसमे मधुर हास्य का रग भरा।

मेरी कविता-यात्रा के तीन पडाव–पहला शृगार, दूसरा ओज और तीसरा व्यग्य-विनोद। केवल कल्पना और कागज पर नही, खुद कुछ करके और सगठनो के द्वारा। यह बात ब्रज और ब्रज-साहित्य के सबध मे है। उसके सबध मे पहले लिख चुका हू। आज तो हो जाए जग। प्रारभ करता हू देश की गुलामी के दिनो से।

अब उन बातो का जिक्र क्या करू कि सन् 27 से सन् 30 तक, 30 तक क्यो सन् 42 तक मैने क्या लिखा, क्या गाया और क्या गवाया। अब उन इकडे और दुकडे नारों का क्या अर्थ जो स्वतत्रता सेनानियो के खून और पसीने के साथ बह गए। उन चौपाइयो, तानो, तरानो और इकलाबी शायरो और कवियो की तर्ज पर जो कुछ मैने लिखा वह उस जमाने मे सग्रह करके तो रखा नही जा सकता था। दे दिया उन्हे देशप्रेम के दीवानो को। उन्हे जलूसो में ललकारा गया। जलसो मे पुकारा गया। प्रभातफेरियो मे गाया गया। इतना ही पर्याप्त है। भले ही छोटे-छोटे समूहो मे सही, ब्रज, राजस्थान, मध्यप्रदेश और दिल्ली प्रदेश के कस्बो, गली-मुहल्लो और छोटी-बडी सभाओ मे दुहराया गया। पराधीनता के प्रति आक्रोश जगाया गया। ऐसा करके मैंने न अपने कवित्व को प्रचारित किया और न राष्ट्रवादी कवि होने का गौरव हासिल करने की ही कोशिश की। वह तो समय की पुकार थी। तरुणाई का तकाजा था। पूरे देश मे हर व्यक्ति के मन मे कुछ कर-गुजरने की तमन्ना थी। कुछ लोग तन से कर रहे थे और कुछ धन से। कुछ लोग फासी चढ़ रहे थे, कुछ लोग गोली खा रहे थे और कुछ लोग जेल जा रहे थे। सबकी जुबान पर एक ही तराना था–

नहीं रखनी सरकार जालिम, नहीं रखनी !

मैं अपनी ऐसी कविताओं के उदाहरण देकर उन महापुरुष कवियों में अपना नाम लिखाना नहीं चाहता जो स्वयं लिख गए है या जिनके संबंध में लिखा जाता है कि उनकी कविता का आरंभ भी देशभक्ति की रचनाओं से हुआ है। इतना ही कह सकता हूं कि मैं समय के साथ चला हूं। जब-जब समय का शंख बजा, तब-तब जो मैं कर सकता था, लिख सकता था, मैंने किया। यह संतोष क्या कोई कम है ? अब क्या कहूं इस बात को फख्र के साथ कि मैंने चरखा काता ही नहीं, चरखे पर गीत भी लिखे हैं–"कातो चरखा मिले सुराज, यों कहते गांधी महाराज।" या "चरखा चक्र सुदर्शन है, जन-जन का आकर्षण है।" या "कसकर चक्र चलाएंगे, लंदन को दहलाएंगे।" मैंने खादी पहनी और बेची ही नही, कहा भी–"खद्दर की चद्दर बनाय लै री, गोरी मत कर गुमान।" विदेशी वस्त्रों की होली ही नहीं जलाई, ब्रज की होली पर निकलनेवाली चौपाइयों के लिए ताने, रसिये भी लिखे-गाए है। नमक बनाया ही नही, हर बार नौकरशाही की आंखो में मिर्चे झोककर सदैव उसकी पकड़ से दूर रहा हू। न जाने क्यो जेल जाने को मैंने कायरता समझा है। गोलियों के बीच से गुजरा हूं, परंतु शहीद होने के सौभाग्य से सदैव वंचित रहा हूं। यदि इसे कविता समझा जाए तो उस समय की सिर्फ एक कविता की बानगी यहां दे रहा हू–

कोटि-कोटि कठो से गूजा
प्यारा कौमी नारा है।
हिन्दुस्तान हमारा है।
हिन्दुस्तान हमारा है।
मदिर और मीनार हमारे,
गांव, शहर, बाजार हमारे।
चदा-सूरज, गगा-जमुना
पैगबर-अवतार हमारे।
हिन्दू, मुसलमान, ईसाई
सिक्ख, पारसी, जैनी भाई।
सभी इसी धरती के वासी
सबके दिल मे यही समाई,
सिर्फ हमारा देश यहा पर
नहीं ओर का चारा है।।
हिन्दुस्तान हमारा है।
हिन्दुस्तान हमारा है।
धरती है आजाद, हवा
आजाद तरगें लाती है।
फूल-फूल आजाद, कली
आजाद खड़ी मुस्काती है।

पछी हैं आजाद चहकते
उड़ते-फिरते जाते हैं।
भौंरे देखो आजादी का
नया तराना गाते हैं।
उठो जवानो, आजादी पर
पहला हाथ तुम्हारा है।।
हिन्दुस्तान हमारा है।
हिन्दुस्तान हमारा है।
इकलाब हो गया, देश को
हम आजाद कराएगे।
जुल्मो के तूफान नहीं
मजिल से हमे हटाएगे।
हम आजादी के सैनिक हैं,
मर-मर बढ़ते जाएगे।
तलवारो की धारो पर भी
आगे कदम उठाएगे।
आज गुलामी के शासन को
फिर हमने ललकारा है।।
हिन्दुस्तान हमारा है।
हिन्दुस्तान हमारा हे।

उठो हिमालय, आज तुम्हारे
कोन पार जा सकता हे ?
हिन्द महासागर की वोलो
कौन थाह पा सकता है ?
आजादी की वाढ़ नहीं
सगीनो से रुक सकती हे।
अरे जवानी कभी नहीं
जजीरो से झुक सकती है।
गरमी की लपटो ने सोखी
कभी न वहती धारा है।।
हिन्दुस्तान हमारा है।
हिन्दुस्तान हमारा है।।

गाधीजी पहली बार मथुरा आए। मैं बाल स्वयसेवक के रूप मे उनके निवास पर तैनात हुआ। छोटा ही था—दस-ग्यारह वर्ष का। गाधीजी अपने कमरे से बाहर निकले। उन्होंने देखा मुझे। सिर पर हाथ रखकर नाम पूछा—गुपाल। नाम से प्रसन्न बापू ने मेरी

खादी की कमीज छूने के बाद खाकी जीन के निकर को छूकर हाथ हटा लिया। बोले– छिः ! छिः ! ! विदेशी ! और बाहर निकल गए। उनकी प्रथम दृष्टि, सिर पर हाथ, पहले ही वाक्य में स्वदेशी का संदेश। मैं मन-प्राण से गांधी का हो गया। खादी का हो गया। स्वदेश का हो गया। स्वदेशी का हो गया।

गांधीजी को सुनने के लिए विशाल भीड़। सीढ़ी पर बैठे मैथिलीशरण गुप्त। राष्ट्रपिता का भाषण और राष्ट्रकवि की कविता। जीवन ही बदल दिया इन दोनों ने। 'भारत भारती' की कविता पहली बार सुनी। पहली बार गगन-भेदी नारों और जय-जय की ध्वनि कानों में पड़ी। तभी से जैसे कायापलट हो गई। फिर जो भी सोचा, जो भी किया और जहां भी गया, एक ही शब्द, एक ही कर्म, एक ही विचार सामने रहा–आजादी ! आजादी !! आजादी ! ! !

फिर तो गांधीजी से पत्र-व्यवहार भी हुआ। मिलना भी हुआ। उन्होंने ही जेल जाने से रोका। उन्होंने ही राजनीति की तरफ रुख करने से मुझे बचा लिया। जब पत्रकार बना, दैनिक हिन्दुस्तान में आया तो गांधीजी के प्रार्थना-प्रवचन प्रतिदिन उन्हीं के शब्दों में लिखकर अखबार में दिए। जब गांधीजी शहीद हुए और अखबार में उनके चित्र के नीचे मुझे कविता लिखने को कहा गया तो बड़ी मुश्किल से दो पंक्तियां लिखीं–

हजारों वर्ष में ऐसा मसीहा एक आया था,
कि जिसने आदमी को आदमी बनना सिखाया था।

सन् 42 में जब तक गांधीजी ने 'करो या मरो' का संदेश नहीं दिया, मैं पूरी तरह अहिंसक रहा और रचनात्मक कामों में लगा रहा। उनके ओजस्वी आदेश ने जो आजादी का शंख फूंका तो मैंने भी अहिंसा को उतारकर खूंटी पर टांग दिया। तकली और सूत की गुंडी की जगह हाथों ने औजार पकड़ लिए, हथियार ले लिए। जंग अपने असली रूप में आ गया था। तब तोड़-फोड़ करता पिस्तौल लिये मैं किन राहों से गुजरा, किन जंगलों में भटका, कैसे इटावा आया, कैसे दैनिक हिन्दुस्तान तक पहुंचा, कैसे पत्नी को माध्यम बनाकर गोरी सरकार पर मीठे और तीखे प्रहार किए, वे इस लेख का विषय नहीं हैं। इस लेख का विषय तो जंग है। शेष जंगों को छोड़कर नेताजी सुभाषचंद्र बोस ने आजाद हिन्द फौज के साथ 'दिल्ली चलो' का नारा देते हुए ब्रिटिश हुकूमत से जो जंग छेड़ी थी और उस पर मैंने जो लिखा था, पहले उसकी चर्चा करूंगा। इस प्रसंग की चार पंक्तियां पहले–

है समय नदी की बाढ़
कि जिसमें सब बह जाया करते हैं,
है समय बड़ा तूफान
प्रबल पर्वत झुक जाया करते हैं।
अक्सर दुनिया के लोग
समय में चक्कर खाया करते हैं,

लेकिन कुछ ऐसे होते हैं,
इतिहास बनाया करते है।

मेरे पुराने प्रिय नेताजी सुभाषचंद्र बोस ने निश्चय ही आजादी के संग्राम में एक इतिहास बनाया था और आप चाहे तो मान सकते हैं कि मैंने उनकी 'आजाद हिन्द फौज' की वीरगाथा प्रतिदिन लगातार 'हिन्दुस्तान' अखबार मे प्रकाशित करके कविता के धारावाहिक प्रकाशन मे एक ऐतिहासिक भूमिका अदा की। लाखों पाठक प्रतिदिन इन कविताओ को पढ़ते और जोश से उबलते रहते थे। इन कविताओं के प्रकाशन से दैनिक हिन्दुस्तान की प्रसार सख्या एक साथ बीस हजार बढ़ गई थी। अभी अंग्रेज हिन्दुस्तान से गए नहीं थे, दिल्ली पर उनका पूरा कब्जा था। इन कविताओ को पढ़-पढ़कर हिन्दुस्तानियों का ही नही, अग्रेजो का भी खून खोल रहा था। दिल्ली का अंग्रेज कमिश्नर पत्र के संचालक श्री देवदास गांधी को फोन करने लगा था कि ये कविताए देश का माहौल खराब कर रही हैं। उस दिन तो हद ही हो गई जब मेरी 'खूनी हस्ताक्षर' कविता पत्र में छपी–

वह खून कहो किस मतलब का,
जिसमे उबाल का नाम नहीं ?
वह खून कहो किस मतलब का,
आ सके देश के काम नहीं ?
वह खून कहो किस मतलब का,
जिसमे जीवन न रवानी है ?
जो परवश होकर बहता है,
वह खून नहीं है, पानी है।।
उस दिन लोगो ने सही-सही
खू की कीमत पहिचानी थी।
जिस दिन सुभाष ने बर्मा मे,
मागी उनसे कुर्बानी थी।
बोले, "स्वतत्रता की खातिर,
बलिदान तुम्हे करना होगा।
तुम बहुत जी चुके हो जग मे
लेकिन आगे मरना होगा।।

आजादी के चरणो मे जो
जयमाल चढ़ाई जाएगी।
वह सुनो, तुम्हारे शीशो के
फूलों से गूथी जाएगी।।
आजादी का संग्राम, नहीं–
पैसे पर खेला जाता है।।

यह शीश कटाने का सौदा,
नंगे सिर झेला जाता है।।
आजादी का इतिहास, कहीं,
काली स्याही लिख पाती है ?
इसके लिखने के लिए,
खून की नदी बहाई जाती है।
यूं कहते-कहते नेता की,
आंखों में खून उतर आया।
मुख रक्त-वर्ण हो गया,
दमक उट्ठी उनकी रक्तिम काया।।

आजानु बाहु ऊंची करके,
वह बोले, "रक्त मुझे देना।
इसके बदले में भारत की,
आजादी तुम मुझसे लेना।।"

तब वक्ता की आंखों में ही नहीं, अंग्रेज कमिश्नर की आंखों में भी खून उतर आया। उसने बाकायदा लिखित चेतावनी दी कि इन कविताओं का प्रकाशन बंद कर दिया जाए, नहीं तो सरकार कार्रवाई करने को मजबूर हो जाएगी। मुझे देवदासजी ने बुलाया और चेतावनी की बात बताकर कहने लगे—"मैं तुम्हारी कविताओं को पढ़ता हूं। घर के सभी लोग पढ़ते हैं। पाठक भी इन्हें उत्साह के साथ पढ़ रहे हैं, परंतु हमारी नीति तो हिंसा फैलाने की नहीं है न ?" मैंने उत्तर दिया—"यह तो आजाद हिन्द फौज की कथा है। उसके विवरण कलकत्ते से लेकर दिल्ली तक के अखबारों में छप रहे हैं। पत्रकारिता के लिए यह ज्वलंत प्रश्न है। जो घटनाएं घटित हो रही हैं, मैं उन्हीं को लिख रहा हूं।" तो वह बोले—"नहीं, मैं बंद करने को नहीं कहता। बस, टोन डाउन कर दीजिए।" मैंने विनम्रता से प्रतिवाद किया और कहा—"जिस तेवर से ये कविताएं लिखी जा रही हैं, उनकी तीव्रता को कम करना और स्वर को मद्धिम करना मैं उचित नहीं समझता। आपको कठिनाई है तो मैं लिखना बंद कर सकता हूं।" इस पर देवदासजी ने व्यवस्थापकी अंदाज में कुछ ऐसा कहा कि मुझे आवेश आ गया और यह कहकर कि "महात्मा गांधी के पुत्र से मैं ऐसी आशा नहीं करता था" उनके पास से उठकर चला आया । उन दिनों हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार और सहृदय एवं सज्जन स्वभाव के श्री पारसनाथ सिंह बिड़ला प्रकाशन समूह का कार्य देखते थे। वह स्वयं और उनके भांजे श्री गिरिजानंदन साही भी, जो हिन्दुस्तान टाइम्स लि. के जनरल मैनेजर थे, इन कविताओं को उत्साह के साथ पढ़ रहे थे। देवदासजी ने इन दोनों से परामर्श किया और मेरे आवेश की बात भी बताई। देवदासजी स्वयं मुझसे बहुत स्नेह करते थे। मुझे पुनः बुलाया गया। पारसनाथजी भी मौजूद थे। पहले मुझे कमिश्नर की चेतावनी की बात बताई गई और फिर गांधीजी के सबसे प्यारे पुत्र देवदासजी ने मुझसे

कहा–"आप लिखना जारी रखिए। जो होगा उसे देख लेंगे।"

मैंने और भी जोश के साथ कविताएं लिखनी शुरू कर दीं। जाते-जाते अंग्रेज कोई मुसीबत मोल नहीं लेना चाहते थे। अखबार के प्रति तो उन्होंने चुप्पी साध ली, लेकिन मेरे प्रति टोरी कमिश्नर का आक्रोश बढ़ता ही गया। मेरे पीछे गुंडे लगाए गए। एक-दो बार उनसे हाथापाई भी हुई। फिर अदर ही अदर कुछ ऐसा जाल रचा गया कि दिल्ली का कोई प्रकाशक इन कविताओ को छापने की हिम्मत नही कर पाया। तब इनका पहला सग्रह हिन्दी भवन, लाहौर से प्रकाशित हुआ। 'हिन्दी भवन' ने भी इसे स्वयं अपनी प्रेस में नहीं छापा। देहरादून की एक मामूली-सी प्रेस में यह पुस्तक छपी। पहला संस्करण सात दिन में समाप्त हो गया। तत्कालीन दिल्ली के संसद-सदस्य तथा नेहरूजी के प्रिय पात्र लाला ओकारनाथ ने इसकी एक प्रति नेहरूजी को भेट की। उन्होने ओकारनाथजी से कुछ कहा और जब इसका दूसरा सस्करण निकला तो उन्होने उसे पूरा खरीद लिया तथा उससे प्राप्त राशि आजाद हिन्द फौज की सहायतार्थ भेट कर दी गई। तीसरे संस्करण तक तो यूनियन जैक नीचे उतर गया था और उसकी जगह तिरगा फहराने लगा था।

कई सस्करणो के बाद अब यह पुस्तक बाजार मे उपलब्ध नहीं है। अपने संग्रह के लिए भी मैने किसी से मागकर एक कटी-फटी पुस्तक रख छोडी है। आज भी देश मे अनेक लोग मुझे मिलते रहते हैं जिन्हे उक्त सग्रह की कविताए अब भी याद हैं। उन दिनो तो आलम यह था कि ये कविताए प्रभातफेरियो मे गाई जाती थी, जलसो मे मुक्का तान-तानकर सुनाई जाती थी। इन कविताओ की वजह से कवि-सम्मेलनो मे भी मेरा मार्केट बहुत बढ गया था।

"निज कवित्त कहि लागि न नीका।" मुझे इस सग्रह की, जो खडकाव्य के रूप मे 'कदम-कदम बढाए जा' के नाम से प्रकाशित हुआ था, रचनाए बहुत पसद हैं। जी करता है कि इसकी अत्यत लोकप्रिय कविताए 'नेताजी का तुलादान', 'दिल्ली की ओर कूच', 'मुकदमा ओर मुक्ति' ओर 'मुक्ति-पर्व' जैसी ऐतिहासिक रचनाओं का पूरा-पूरा इस लेख मे उद्धृत कर दू। परतु ऐसा करने पर इस लेख का विस्तार नेफा से दिल्ली तक हो जाएगा। इसलिए इनके कुछ अशो को ही यहा दे पा रहा हू। इनमे सबसे अधिक प्रेरणास्पद, ओजस्वी सदेश वह है जो नेताजी ने अपना सैनिक अभियान प्रारभ करते समय आजाद हिद फौज के सैनिको को दिया था–

तुम देखो, दूर क्षितिज के तट
उस पार हमारी दुनिया है।
उस पार हमारे जगल हैं,
उस पार हमारी नदिया हैं।।

इन धूमिल बड़े पहाड़ो के,
उस पार हमारी माता है।
यह वायु हमारे खेतों की,
मिट्टी को छूता आता है।।

उस पार हमारी जन्मभूमि,
जो देवों को भी प्यारी है।
जिसके आगे सर्वस्व हमारा,
तन-मन-धन बलिहारी है।।

लो सुनो, हवा की लहरों पर,
आवाज तैरती आती है।
जय हिन्द ! उठो, साहस बांधो,
मां अपने पास बुलाती है।।
चालीस कोटि कंठों की ध्वनि
कहती है—आओ, आओ रे !
अस्सी करोड़ भुज फैली हैं,
आलिंगन में बंध जाओ रे !
चालीस कोटि हृदयो की धड़कन,
हमें सुनाई देती है।
अब दूर नहीं हमको अपनी—
दिल्ली दिखलाई देती है।।

उस समय साम्राज्यवादियों और उनके पिट्ठुओं ने यह प्रवाद फैलाने में कोई कसर नहीं छोडी थी कि नेताजी की आजाद हिन्द फौज जापानी हथियारो और उसकी आर्थिक मदद से भारत पर हमला करने आ रही है। जापान भारत को हथियाना चाहता है। उनको फटकारते हुए मैंने लिखा—

लानत है, जो यह कहते हैं—
यह जापानी तैयारी थी।
लानत है, जो यह कहते हैं—
इन लोगो ने गद्दारी की।।
ये आजादी के हामी थे,
ये सच्चे देश सिपाही थे,
जो सड़क गई आजादी को,
ये उसी राह के राही थे।।

प्रश्न उठाया गया—फिर सेना को खड़ी करने और उसे हथियार मुहैया कराने के लिए धन कहां से आया ? इसका उत्तर मैंने धन और जन की आमद और तुलादान जैसी कविताओं से दिया है। जगह-जगह नेताजी के स्वागत के लिए सभाएं होती थीं। उन्हें पहनाई गई मालाएं नीलाम की जाती थीं। ये मालाएं लाखों रुपये देकर लोग खरीदते थे। कुछ तो ऐसे भी निकलते थे जो अपना सर्वस्व दान देकर आजाद हिन्द फौज में शामिल हो जाया करते थे। तब धन की सार्थकता का नाम भारत की आजादी था। मैंने लिखा—

वह धन ही क्या जो पड़ा रहे,
धरती में गड़कर दब जाए।
या बांधा जाय थैलियों में,
संदूकों में जा छिप जाए।।
जो बंद तिजोरी में रहता,
वह स्वर्ण नहीं है, मिट्टी है।
जो नहीं देश-हित में आए,
वह धन धोखे की टट्टी है।।
हम तो उसको धन कहते हैं,
जो काम गरीबों के आए।
थैली की डोरी काट चले,
आजाद देश को करवाए।।
यह धन-पूंजी ही तो जग में,
उत्पन्न गुलामी करते हैं।
पूंजी हथियाने को ही तो,
दो राष्ट्र जूझकर मरते हैं।।
इस पूंजीवादी चक्कर ने,
दुनिया को नाच नचाया है।
दुर्भिक्ष, दीनता, कंगाली,
इस पूंजी की ही माया है।।
आजादी के पैगंबर ने,
ऐसा संदेश सुनाया था।
मुर्दे कब्रों से जाग उठे,
जिन्दों ने जीवन पाया था।।

हिन्दी में भूषण, सूदन, रत्नाकर (भीष्म-प्रतिज्ञा), 'रश्मिरथी' के यशस्वी रचनाकार श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' और पं. श्यामनारायण पाडेय जैसे वीर-रस के प्रख्यात लेखक हुए हैं। तुलना का प्रश्न नहीं। गुण-दोष पर विचार अगली पीढ़ी के समालोचक करेंगे। अपने युग में हर कृतिकार ईर्ष्या-द्वेष का शिकार रहता है। खासकर वह जो नीचे से ऊपर उठने का यत्न करता है अथवा किसी साहित्यिक मठ या सत्ता से संबद्ध नहीं होता। वह तो चर्चा के योग्य भी नहीं माना जाता। मैं अपने जंगी लेखन के संबंध में सिर्फ इतना निवेदन करना चाहता हूं कि शब्दों की कर्कशता, अतिशयोक्ति और किसी सामंत, राजा या तथाकथित अवतार के बाहुबल का बढ़ा-चढ़ाकर बखान करना ही वीर-रस नहीं है। युद्धों के वर्णनों में तोपों की तड़तड़ाहट, बंदूकों की धांय-धांय, तलवारों की नागिनों से उपमा, बमों का विस्फोट साधन हो सकते हैं, साध्य नहीं। साध्य तो वीर-भावना है, ओज है। मेरे लिए वह देशभक्ति रही है। इसीलिए भाई दिनकरजी ने जो इन कविताओं को

पढ़ते और प्रतिदिन मुझे फोन किया करते थे, मुझे लिखा था–"गोपाल बाबू, मैंने हुंकार भरी और तुम आगे बढ़ गए।" बस इससे अधिक मुझे और किसी प्रमाण-पत्र की आवश्यकता नहीं। पुस्तक में एक जगह मैंने अपनी भावना का उल्लेख करते हुए जो लिखा है, अंत में उसी को उद्धृत करके 'कदम-कदम बढ़ाए जा' के प्रसंग को समाप्त करता हूं–

मैं किस काली का ध्यान करूं,
मैं किस भैरव को याद करूं ?
मैं किस चेतक पर चढ़ जाऊं
किन भीलों से फरियाद करूं ?
मैं किस शंकर प्रलयंकर के,
तीसरे नयन की ज्वाल बनूं ?
मैं शूल बनूं कि त्रिशूल बनूं,
किस क्रुद्ध गीत की ताल बनूं ?
किस गांडीव का तीर बनूं,
ए कलम, मुझे बतला दे तू !
हो जाए देश आजाद मेरा,
ऐसी ज्वाला सुलगा दे तू ! !

देश तो आजाद हुआ, पर जंग समाप्त नहीं हुई। तीन बार पाकिस्तान के जंगखोरों से लोहा लेना पड़ा और एक बार भारत के रणवांकुरों को चीन के कपटपूर्ण हमले का शिकार भी होना पड़ा। इन सभी मोर्चों पर मेरी कलम ने आग उगली है। सिद्धांत रूप में मैं युद्धों का पक्षपाती नहीं। विशेषकर पड़ोसियों और कल के भाइयों से। परंतु आततायियों के आगे सिर झुकाना न केवल कायरता है; वल्कि भीषण देशद्रोह भी है। जब पूरा राष्ट्र अपने सभी मतभेदों को भुलाकर पाकिस्तानियों और चीनियों के विरुद्ध एकजुट होकर संघर्ष करने खड़ा हो गया हो, तव मैं कैसे चुप रह सकता था ? पाकिस्तानी सेना से जूझ रहे अपने जांवाज सैनिकों को मैंने आगे ही आगे बढ़ने का संदेश देते हुए प्रयाण गीत लिखा–

प्रयाण गीत गाए जा !
तू स्वर में स्वर मिलाए जा !
ये जिन्दगी का राग है–जवान जोश खाए जा !
प्रयाण गीत...
तू कौम का सपूत है !
स्वतंत्रता का दूत है !
निशान अपने देश का उठाए जा, उठाए जा !
प्रयाण गीत...

ये आंधियां पहाड़ क्या ?
ये मुश्किलों की वाढ़ क्या ?
दहाड़ शेरे हिन्द ! आसमान को हिलाए जा !
प्रयाण गीत...
तू वाजुओं में प्राण भर !
सगर्व वक्ष तान कर ।
गुमान मां के दुश्मनों का धूल में मिलाए जा !
प्रयाण गीत गाए जा !
तू स्वर में स्वर मिलाए जा !
ये जिन्दगी का राग है—जवान जोश खाए जा !

इसी तरह बिना तैयारी, बिना हिमानी वर्दी और बिना उपयुक्त हथियारों के हमारे मुट्ठीभर सैनिकों को जब अचानक चीन से भिड़ना पड़ा तो मेरी लेखनी का बिगुल बज उठा—

पिनाकी ने पलक खोली—चलो नेफा !
धरित्री कांप कर डोली—चलो नेफा !
दुनाली धांय- से बोली— चलो नेफा !
हिमालय में मची होली—चलो नेफा !

पवन में गूंजते नारे—चलो नेफा !
गगन से कह रहे तारे—चलो नेफा !
समय का शंख गाजा है—चलो नेफा !
जवानी का तकाजा है—चलो नेफा !

कुदाली ने कहा—'आई'—चलो नेफा !
कि हल वोला—'वढ़ो भाई'—चलो नेफा !
दरांती का हृदय फूला—चलो नेफा !
हथौड़ा हाथ में झूला—चलो नेफा !

पसीने ने दिया नारा—चलो नेफा !
उवलता खून ललकारा—चलो नेफा !
उधर से शस्त्र झंकारे—चलो नेफा !
इधर से वीर हुंकारे—चलो नेफा !
कसम तुमको भवानी की—चलो नेफा !
कसम तुमको हिमानी की—चलो नेफा !

कसम तुमको रवानी की—चलो नेफा !
कसम तुमको जवानी की—चलो नेफा !

जवानी में लहर लाने—चलो नेफा !
कि दुश्मन पर कहर ढाने—चलो नेफा !
तिरंगे को सदा ताने—चलो नेफा !
विजय की भैरवी गाने—चलो नेफा !

भारतीय सैनिकों में साहस की नहीं, साधनों की कमी थी। हथियारों की कमी थी, सप्लाई की कमी थी। संख्या-बल की कमी थी और सबसे बड़ी कमी उस समय के नेतृत्व की थी जो आकस्मिक संकट के समय त्वरित निर्णय करके हमारे सेनापतियों को हमले का सही जवाब देने के लिए सक्षम बना देता। परिणाम यह हुआ कि अग्रिम चौकियों से हमारे छोटे-छोटे दल बलिदान दे-देकर पीछे हटने लगे। ऐसे समय में कलम का सिपाही सिवाय हिम्मत बढ़ाने, मनोबल कायम रखने और रण-कौशल की सलाह देने के अतिरिक्त और क्या कर सकता था ? मैंने यही किया। अपने बहादुर सैनिकों को संदेश भेजा—

घबरा जाना नहीं, दोस्तो ! छोटी-मोटी हारों से।
देश हमारा गुजर रहा है तलवारों की धारों से।।
आजादी ने आज देश से पहली कीमत मांगी है।
पहली बार हिमालय की भी रक्त-पिपासा जागी है।
पहली बार अहिंसा की आंखों में लाली आई है।
पहली बार शेर भारत ने उठकर ली अगड़ाई है।
ये तो पहली झड़प हुई है अपने पहरेदारों से।
घबरा जाना नहीं, दोस्तो ! छोटी-मोटी हारों से।।
पर्वत कभी हिला करते हैं, क्या बरसाती नालों से ?
दृढ़ निश्चयी डिगा करते हैं, क्या दुर्जन की चालों से ?
क्षत्रिय नहीं हटा करते हैं, तोप, तमंचों, भालों से।
गरुड़ कहीं भागा करते हैं डरकर विषधर व्यालों से ?
हाथी कहीं फिरा करते हैं गीदड़ की ललकारों से ?
घबरा जाना नहीं दोस्तो ! छोटी-मोटी हारों से।।
मेंढ़ा पीछे को हटकर ही आगे टक्कर लेता है।
अच्छा पहलवान दुश्मन को कमर पकड़ने देता है।
सदा बढ़ाकर ही पतंग दुश्मन की जाती काटी है।
घाटे का सौदा होने पर छोड़ी जाती घाटी है।
इंच-इंच वापस ले लेंगे हम चीनी हत्यारों से।
घबरा जाना नहीं, दोस्तो छोटी-मोटी हारों से।।

टिड्डी-दल ने कहो आज तक कभी सूर्य को ढांपा है ?
तिनके पर बैठे चींटे ने क्या समुद्र को नापा है ?
क्या अजगर के उत्पातों से कभी हिमालय कांपा है ?
मुंह की खाकर गया देश पर जिसने मारा छापा है ।
अरुणोदय होने वाला है पूछो छिपते तारों से ।
घबरा जाना नहीं, दोस्तो ! छोटी-मोटी हारों से ।।

राष्ट्र-रक्षा की ऐसी अनेक ओजमयी रचनाएं 'रंग-जंग-व्यंग', 'जयघोष' नामक मेरी पुस्तकों और दैनिक 'हिन्दुस्तान' के तत्कालीन पृष्ठों में छपी और छिपी हुई हैं। आकाशवाणी से इनका बार-बार जयगान हुआ है। मंचों पर कवियों ने इन्हें गाया है। जनता ने दुहराया और कंठ से लगाया है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध नाटककार श्री जगदीशचंद्र माथुर जब आकाशवाणी के निदेशक थे तो उन्होंने 'कदम-कदम बढ़ाए जा' नामक मेरी पूरी पुस्तक को मुजद्दज नियाजी के स्वर में वाद्यवृंद सहित संगीतबद्ध कराकर आकाशवाणी की लायब्रेरी में सुरक्षित रखवा दिया है। कभी-कभी नेताजी के जन्म-दिवस 23 जनवरी को जब किसी प्रोड्यूसर को याद आ जाती है तो वह इसे प्रसारित करने का सुयोग भी उपस्थित कर देता है।

इस तरह मैंने अपने समयोचित कवि-धर्म का पालन किया। मेरी अभिलाषा यही है कि जब-जब भारत माता पर संकट के बादल घिरें तो कलम के सिपाही अपने कर्त्तव्य से पीछे न रहें और भारत की जनता जो आजकल राजनीतिक दलों, धर्मों, जातियों, सामाजिक असमानता और आर्थिक विषमताओं के कारण बिखरी हुई है, आपस में कट-मर रही है, वह भी ऐसी घड़ी में फिर से एकजुट हो जाए और कहे ही नहीं, यह साबित भी कर दे कि हम एक थे, हम एक हैं, हम एक रहेंगे।

सौभाग्य से सरकार को भी हमारे व्यासजी का लोहा मानना पड़ा और उन्हे पद्मश्री से विभूषित किया। यह मैं उनका ही नहीं, बल्कि अपने हास्य-देवता का सम्मान समझता हूं, जिसकी स्थापना हिन्दी में मैंने की थी। आज हास्य का यह विशाल मंदिर देखकर मैं फूला नहीं समाता। मुझे तो संतोष तब होगा, जब यह मंदिर इतना विशाल हो जाए कि विश्व साहित्य भी इसके आगे सिर झुका दे। इसलिए मैं अपना मुकुट उतारकर व्यासजी के सिर पर रखता हूं।

—जी. पी. श्रीवास्तव

वंदे हास्यरसम्

न मैं हास्यरसावतार हूं और न हास्य-सम्राट। आज के भौतिक युग में अवतारवादिता और साम्राज्य स्थापित करने की या उस पर डटे रहने की गुंजाइश ही कहां बची है ? जब मेरे लिए लोग इन विशेषणों का प्रयोग करते हैं तो मैं जानता हूं कि या तो वे मुझे मक्खन लगा रहे हैं अथवा मूर्ख बना रहे हैं। मैंने हिन्दी में हास्यरस का प्रारंभ किया है, यह कहना और समझना भी सही नहीं हैं। सही सिर्फ इतना है कि मैंने हास्य-रस लिखा है और जिया है। साहित्य लिखना एक अलग बात है। उसे बहुतों ने लिखा है और लिखते रहेंगे। लेकिन साहित्यिक जीवन जीना शायद लेखन-कर्म से भी कठिन कार्य है। मैं ऐसे बहुत-से लोगों को जानता हूं जो लिखने के लिए व्यंग्य-विनोद लिखते हैं, लेकिन उनके व्यक्तित्व में, परिवार में या सामाजिक परिवेश में उसका नामोनिशान नहीं मिलता। क्योंकि मैं पिछले पचास वर्षों से ऊपर इस रस में अवगाहन करता रहा हूं, इसलिए यह मेरे जीवन का अंग बन गया है। मेरी रुचि, स्वभाव और संस्कार बहुत दिनों से ऐसे हो गए हैं कि में जो लिखता हूं या कहता हूं और करता आया हूं, उसमें अनायास व्यंग्य-विनोद का पुट आ ही जाता है। इसके कारण मेरे कृतित्व और व्यक्तित्व के संपर्क में आनेवाले लोग जहां गद्गद होते हैं, मुस्काराते हैं और ठहाके लगाते हैं, वहां गंभीरता का मुखौटा पहने हुए कुछ लोग दुखी भी कम नहीं होते हैं। क्योंकि हास्य-व्यंग्य हिन्दी-साहित्य की ऐसी मनमोहिनी विधा है कि इसको लिखनेवाला जल्दी ही सिद्ध और प्रसिद्ध हो जाता है। इससे समानधर्मी लोगों और कुंठित व्यक्तित्वों में ईर्ष्या भी पैदा होती है। मैं भी जीवन में शायद इसी कारण ईर्ष्या का शिकार हुआ हूं। परंतु यह मेरे वश की बात नहीं। हां, इतना अवश्य कह सकता हूं कि मेरा मन जानबूझकर किसी के प्रति विकारी नहीं रहा। मैं उनके प्रति क्षमा-प्रार्थी हूं कि जिनके कदली-पत्र जैसे कोमल तथा भावुक मन को मेरे सहज स्वभावी कांटों ने छेद दिया हो–

कह 'रहीम' कैसे निभै, बेर-केर कौ संग।
वे डोलत रस आपने, उनके फाटत अंग।।

जीवन में हास्यरस मुझे वरदान की तरह प्राप्त हुआ है। इससे मुझे सहज ही में सिद्धि और प्रसिद्धि, यानी यश और जीवन-साधन प्राप्त हुए हैं। यदि मेरे लेखन में हास्य नहीं आता तो हिन्दी में और साहित्य-समाज में मेरी पैठ नहीं होती। इसी के बल पर मुझे पत्रकारिता में प्रवेश मिला। इसी के कारण मुझे 'पद्‌मश्री' की भी प्राप्ति हुई। इसी की वजह से देश और विदेश में, जहां हिन्दीप्रेमी बसते हैं, मैं पांचवे सवार की तरह पहुंच गया। इन बातों को लगभग सभी लोग जानते हैं। जिन बातों को नहीं जानते, उनमें से कुछेक लिख रहा हूं—अगर हास्यरस का संबल मेरे पास नहीं होता तो जीवन में जो अभाव, उपेक्षा और शोषण का शिकार मुझे होना पड़ा, उनसे मैं टूट ही जाता। मेरी मां क्षय रोग से दिवंगत हुई थीं। एक बार डॉक्टरों ने मुझमें भी इसके रोगाणु खोज निकाले। कई महीनों तक खांसी, बलगम, बुखार आदि का शिकार रहा। मैंने कोई खास दवा नहीं की। तब आज की तरह इसका कोई सक्षम उपचार भी विकसित नहीं हुआ था। मैंने इसको दूर करने के लिए हास्यरस के लगातार डोज लिये और भला-चंगा हो गया। जवानी में उतरते-उतरते आंखों ने धोखा दिया। कहावत है कि—"कान गए अहंकार गया और आंख गई संसार गया।" जब देखते-देखते संसार अचानक धूमिल हो जाए तो आदमी पर क्या बीतती है ? इसे कोई भुक्तभोगी ही जान सकता है। अगर हास्यरस मेरे पास न होता तो मैं भी इस अनभ्र वज्रपात से टूटकर बिखर गया होता। लेकिन विधाता के इस क्रूर हास्य पर मैं रोया नहीं, मुस्कराकर खड़ा हो गया। आंखों के अभाव को मैंने अभिशाप न मानकर, वरदान के रूप में ही ग्रहण किया। मेरे जीवन में जो उल्लेखनीय सफलताएं आईं, वह सब नेत्र-रोग से ग्रसित हो जाने के बाद ही सुलभ हुईं। पत्रकारिता में आंखों की कमजोरी के बावजूद उप-संपादक से मुख्य उप-संपादक बना और मुख्य उप-संपादक से सह-संपादक तक पहुंचा। उसके बाद, कुछ महीनों के लिए ही सही, एक दैनिक पत्र का प्रधान संपादक भी बन गया। मुझे पद्‌मश्री भी इसी अवधि में मिली। मेरा स्वर्ण-जयंती समारोह राजधानी में धूमधाम से मनाया गया। विशाल अभिनंदन-ग्रंथ भी मुझे इसी समय मे भेंट किया गया। मेरी छहों संतानों को उच्च शिक्षा, शादी-विवाह और नौकरियां आदि भी इसी अवधि में संपन्न हुईं। यही नहीं, नई दिल्ली के गुलमोहर पार्क में मेरा मकान भी आखिर बन ही गया। इसी आलम में मेरे द्वारा 'राजर्षि टंडन अभिनंदन-ग्रंथ,' 'गांधी हिन्दी दर्शन' नाम का वृहद ग्रंथ, स्वतंत्रता की रजत जयंती के अवसर पर हिन्दी के पच्चीस वर्षों के लेखे-जोखेवाला वृहद ग्रंथ और 'ब्रज विभव' महाग्रंथ संपादित हुए। इन उपलब्धियों के अतिरिक्त मैंने इसी बीच दो दर्जन से अधिक पुस्तकें लिखीं और हास्यरस का खंडकाव्य 'अनारी नर' भी लिख डाला। अपने व्यंग्य-विनोदी स्तंभों की एक साथ छह पुस्तकें भी इस बीच संकलित करके प्रकाशित करा दीं। जैसे महाकवि सूरदास ने महाप्रभु वल्लभाचार्य की प्रेरणा से ब्रज में गोवर्द्धन पर्वत पर अपनी देख-रेख मे श्रीनाथजी का मंदिर बनवाकर खड़ा कर दिया था, उसी प्रकार मैंने सूरदासजी की निर्वाणस्थली और अपनी जन्मस्थली

परासौली (परम रासस्थली) में एक सारस्वत-पीठ और मां शारदा का मंदिर बनवा दिया तथा उनके कर-कमलों में महारासस्थली की कल्पना के अनुसार वीणा के स्थान पर वेणु बैठा दी। ये सब हास्यरस की कृपा का फल है। मैंने जीवन में से मस्ती को नहीं जाने दिया। उस अहम को भी विकसित करता रहा जो कृतिकार के सृजन को प्रेरित करता है और प्रतिपक्षी के दमन और उसकी उपेक्षा के प्रति सक्षम होता है। ऐसा वही कर सकता है, जिसके अंदर आनंद का सागर लहराता हो और जिसके मन-मानस में उत्साह के कमल खिलते रहते हों। ये आनंदीवृत्ति और अटूट उत्साह मुझे हास्यरस की कृपा से ही प्राप्त हुए हैं। जब भाई प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त' मुझे आनंदमूर्ति कहकर संबोधित करते हैं तो छिपाऊंगा नहीं, बहुत अच्छा लगता है। सबसे पहले यह अलंकरण मुझे आदरणीय बहन महादेवी वर्मा ने दिया था। मैं चाहता हूं और ईश्वर से प्रार्थना भी करता हूं कि वास्तव में आनंदमूर्ति बनने की क्षमता मुझमें आ जाए। आनंद ही जीवन का परम इष्ट है। वही चिदानंद है। नित्यानंद है और सच्चिदानंद है। मुक्तिपथ क्या है ? परमानंद की डगर ही तो है। मुक्ति क्या है ? वह उस चिदानंद संदोह से अखंड मिलन ही तो है। इस आनंद से ही मनुष्य कर्म-विपाक से छूटता है। इस आनंद से ही जगत की माया उसे नहीं व्यापती। वह इसी आनंद से सच्चिदानंद की शाश्वत शरण में पहुंच जाता है। हास्यरस इस आनंद तक पहुंचने का सबसे सुगम मार्ग है। किसी और की नहीं जानता, कम से कम मैंने तो हास्यरस को इसी रूप में वरण किया है। लिखते-लिखते अपने कुल-धर्म के अनुसार मैंने 'रास रसामृत' नामक एक काव्य-संगीतात्मक पुस्तक भी लिखी है, जो केवल श्रीकृष्ण की रासलीला तक ही सीमित नहीं है, पाठक को उनके कर्मयोग 'गीता-ज्ञान' तक ले जाती है।

हास्यरस का दूसरा नाम है-'स्फुरण' या मन की उमंग। जब यह उमंग विकारी होती है तो रति से जुड़ती है, ओज को उत्साहित करती है तथा उसके मार्ग में बाधा उत्पन्न होने पर आक्रोश को जन्म देती है। यानी, व्यंग्य का रूप धारण कर लेती है। जब यह उमंग शुद्ध और अविकारी होती है तो उल्लास बन जाती है। या कहूं कि शुद्ध हास बन जाती है। जब शरीर की ऊर्जा मुखमंडल को आभायित करती है तो व्यक्तित्व की रेखाएं ऊपर उठने लगती हैं। जब यह ऊर्जा या उमंग मंद पड़ जाती है तो मुंह पर उदासी की रेखाएं नीचे को लटकने लगती हैं यानी, झुर्रियां पड़ जाती हैं। किसी व्यक्ति के रेखाचित्र अथवा कार्टून से इन रेखाओं के उतार-चढ़ाव का रहस्य समझा जा सकता है। वैसे भी जब आदमी प्रसन्न होता है और उसका रोम-रोम अपने को उल्लसित अनुभव करता है तो उसका वक्ष तन जाता है। लटकता हुआ मस्तक ऊपर उठ जाता है। अधरों पर मुस्कान खेलने लगती है और हास्यातिरेक में उनकी रेखाएं इस प्रकार ऊर्ध्वगामी बनती हैं कि सिर पीछे चला जाता है। लेकिन उदासी या मनहूसियत में ऐसा नहीं होता। तब आदमी सामने नहीं, नीचे की ओर देखता है। उसका मुंह लटक जाता है और वक्ष सिकुड़ जाता है। कहना यह चाहता हूं कि हास्य ऊर्ध्वगामी है, जबकि अन्य रसों के बारे में ऐसी बात पूरे विश्वास के साथ नहीं कही जा सकती।

शृंगार का संबंध वयः विशेष तक सीमित है। निर्विकार, भले और भोले बच्चों पर

उसका वैसा असर नहीं होता। तन से क्षीण और मन से विरक्त या तन-मन दोनों से टूटे हुए प्रौढ़ों और वृद्धों में तो इसके प्रति नफरत तक देखी जा सकती है। लेकिन हास्यरस वय के सभी सोपानों पर अपना रंग चढ़ाने में प्रभावी है। वह बच्चों की किलक है। युवक-युवतियों की मुस्कान है। प्रौढ़ों का ठहाका है और सज्जनेतर व्यक्तियों के हृदय में वह अट्टहास के रूप में प्रकट होता है।

जी, मैंने अनुभव किया है और जीव तथा पदार्थ विज्ञान भी इसे धीरे-धीरे सिद्ध करने में लगे हुए हैं कि पेड़-पौधे भी प्रसन्नता से झूमने लगते हैं। छोटी-छोटी चिड़ियां और जमीन पर रेंगनेवाले जीव भी कभी-कभी चुहल और अठखेली के मूड में होते हैं। गाय, कुत्ता, बिल्ली और खरगोश पर आप प्यार से हाथ फेरिए और उनकी आंखों में झांकिए तो आपको खुशियां नाचती नजर आएंगी। हां, हास्यरस का प्रभाव हिंसक किस्म के जीवों पर उतना नहीं होता। लेकिन जब वे इच्छित शिकार मार लेते हैं और उनका पेट भरा होता है, तब वे भी केवल अपनी मादाओं को ही नहीं, अपने आसपास के वातावरण को और जहां तक दृष्टि जाती है, प्रकृति के वैभव को ऐसे मुग्ध भाव से देखते हैं जैसे उनके पास भी खुशियों के खजाने की कमी नहीं। हास्यरस का क्षेत्र असीमित है। मुझे तो विधाता की यह चराचर सृष्टि हास्य की रंगस्थली लगती है। ये मुस्कराती हुई कलियां, खिलते हुए फूल, लहराती हुई लताएं, झूमती हुई वृक्षों की शाखाएं, उन पर पक्षियों का मधुर कलरव मोद-विनोद के उत्सव ही तो हैं! खारे समुद्र में मोतियों का जन्म, पाषाणी पर्वतों से कल-कल छल-छल बहती हुई नदियां और झरने, उनके शिखरों पर हिममंडित रजतमुकुट मेरे लिए तो प्रकृति की प्रसन्नता के ही द्योतक हैं। सुबह-सुबह प्राची में हौले-हौले उषा-सुंदरी का आगमन, थिरक-थिरककर आकाश से उतरती हुई यह सूर्य की स्वर्णिम रश्मियां, सुखद समीरण के साथ सहमी आती और जाती संध्या, ये झिलमिल करते तारे, ये भुवनमोहिनी चांदनी और चंद्रहास क्या हैं ? जगती तल में व्यापक, उदात्त और आनंदमय हास्यरस की विराट अभिव्यक्ति ही न। कम से कम मुझे तो जगत के कण-कण में व्याप्त इस हास्य में दिव्य सत्ता की आनंदमयी झांकी ही परिलक्षित होती है।

लेकिन इस हास्य को अनुभव करना, इसके प्रसाद से आनंदित होना जितना आसान है, उसे कलम से उतारना उतना ही कठिन। ईश्वरीय सत्ता अनुभव की जा सकती है, लेकिन उसकी सही-सही व्याख्या नहीं की जा सकती। जैसे ईश्वर के संबंध में 'नेति-नेति' का सहारा लिया गया है, वैसे ही हास्यरस की व्याख्या तो नहीं की जा सकती, लेकिन यह अवश्य बताया जा सकता है कि यह हास्य नहीं है, वह हास्य नहीं है। जैसे काले को कुरूप कहना, अपने विचारों से साम्य न रखनेवाले को मंदबुद्धि कहना अथवा किसी के पतन पर प्रसन्न होने को हास्य नहीं कहा जा सकता। आप पैंट पहनते हैं तो मैं आपको पैंटागन कहूं और मैं धोती पहनता हूं तो आप मुझे धोतीप्रसाद कहें, यह तो हास्य नहीं हुआ। आपका पेट पीठ से लगा हुआ है और मेरा पेट शारीरिक विकार के कारण आगे बढ़ गया है तो इसमें हास्य की क्या बात है ? अगर कोई लगातार कोशिश करने के बाद भी सत्ता के सर्वोच्च शिखर तक नहीं पहुंच पाता तो यह करुणा का विषय है, हास्य का नहीं। बच्चे नहीं सुनते और बुढ़िया टर्राती रहती है, बूढ़ा खांसता रहता है या बर्राता

रहता है तो उसकी सेवा-सहायता कीजिए, उसे हास्यरस का आलंबन क्यों बनाते हैं ? इसी प्रकार असफल प्रेमी, उदास पति और निराश पत्नियों को हास-परिहास के दायरे में लाना उचित नहीं। ये सब आपकी मानवीय संवेदना के अधिकारी हैं, परिहास के पात्र नहीं। हास्यरस तो व्यक्ति और समाज की विसंगतियों, अनाचार, पाखंड, मद और मत्सर जैसी तमसावृत वृत्तियों और घटनाओं के लिए ज्योतिर्मय अंजन है। उसका प्रयोग समाज के परिष्कार के लिए कीजिए। व्यक्ति के सुधार के लिए उसे आजमाइए। यह प्रसन्नता बिखेरनेवाली विधा है। इसमें कल्मष और मल को मिलाकर इसे अपवित्र, गंदला और प्रदूषित मत बनाइए।

हास्यरस समाज के लिए संजीवनी है और व्यक्ति के लिए साक्षात् जिंदादिली। इसीलिए एक लोकगायक हंसते-हंसाते बड़ी ऊंची बात कह गया है–

हंस-बोल बखत कटि जायगौ।
जानैं को कितकूं रम जायगौ ?

और व्यंग्य ? वही तो हास्य का वास्तविक रंग है। जैसे मोती में आब, पुष्प में पराग और जैसे तरुणियों की बड़ी-बड़ी अंखियों में चितवन का महत्त्व होता है, वैसे ही हास्य में व्यंग्य का महत्त्व है। जैसे नृत्य में तोड़, ताल, सम, संगीत में लयकारी का अपना एक अलग आनंद है, वैसे ही हास्यरस में व्यंग्य का अपना अलग मजा है। ये जो काव्यशास्त्र के श्लेष, अन्योक्ति, वक्रोक्ति आदि उक्तिवैचित्र्य हैं, वे व्यंग्य की परख के लिए ही स्थापित हुए हैं। रीति साहित्य की लक्षणा और व्यंजना तथा विद्वज्जनों की जो वचन-विदग्धता है, वे चुटीले व्यंग्य के ही सरस उपादान हैं। जैसे फूल के पास कांटा, मयूर के पास पैनी चोंच और सुंदरियों के पास तीखे बोल होते हैं, वैसे ही हास्य के पास भी उसे धार देने के लिए सृष्टा ने व्यंग्य की व्यवस्था कर दी है। व्यंग्य न हो तो हास्य सपाट बयानी बन जाए, अनर्गल हो जाए और बेतुका लगने लगे। चतुर्भुज विष्णु के हाथ में केवल नीलकमल ही नहीं, शंख, गदा और चक्र भी हैं, इसी प्रकार चक्रवर्ती हास्य के पास 'आयरनी', 'तंज' या व्यंग्य के आयुध भी रहते हैं। पर भयावह रूप में नहीं, दिव्य रूप में अत्यंत शोभायमान।

अलग करके देखें तो हास्य मधुर और व्यंग्य थोड़ा कटु, दिल्ली की चसकदार कॉफी की तरह कि जिसमें दूध भी है, क्रीम भी है, चीनी भी है और सुस्वादु चाकलेट पाउडर भी। इसके अलावा जो व्यंग्य है, उसका ढंग मुझे स्वीकार नहीं। वह या तो गाली-गलौज होता है या फिर उसका काम टांग खींचना या पगड़ी उछालना बन जाता है। साहित्य का मूल गुण शिष्टता या शालीनता है। उसका एकमात्र लक्ष्य मानवीय संवेदना की सरस अभिव्यक्ति है। लेकिन जैसे व्यंग्य का आज साहित्य में प्रचलन हो चला है, उसमें शील और सौजन्य, संवेदना और मानवीयता के दर्शन प्रायः नहीं होते। वह समाज की संरचना में कम, उसकी विकृतियों के बहाने उसके विनाश की ओर ही अधिक उन्मुख दिखाई देता है। यह पश्चिम के भौतिकवाद और उससे उत्पन्न असंतोष तथा विकृतियों की ही देन है। इसका हृदय-परिवर्तन में विश्वास नहीं। यह पुरातत्त्व के खंडहरों की मरम्मत करके उसे खड़ा रखना नहीं चाहता। विनाश के इस मसान पर सपनों का राजमहल खड़ा करके

ही दम लेना चाहता है। गलत क्यों कहें, सामाजिक क्रांति का यह भी एक तरीका है और इसने कई जगह अभूतपूर्व सफलता भी प्राप्त की है। परंतु भारतीय संस्कृति और पुराने साहित्यिक एवं सामाजिक संस्कारों में पले हुए मुझ जैसे लोगों को आज यह रास नहीं आ रहा, कल की कल जाने।

लीजिए, ऊपर मैंने बड़े-बड़े सिद्धांत बघार दिए। पर, सिद्धांतों का बखान करना जितना आसान है, उन पर अमल करना उतना नहीं। मैंने इन पर कितना अमल किया है और उसमें कितना सफल हुआ हूं, यह बात न मैं जानता हूं और न कहूंगा। मेरे न रहने पर मेरा कितना साहित्य छनकर बचता है और समाज के पाठक और साहित्य के समीक्षक उसे किस रूप में स्वीकार करते हैं, यह वे जानें और उनका काम जाने। मैं तो इतना जानता हूं कि हास्यरस की पतवार लेकर मैं जीवन-नैया में सवार हुआ और हंसते-गाते उसे खूब खेया। पत्नीवाद चला या नहीं चला, चला तो कहां से कहां पहुंचा ? लेकिन उसके बहाने मैंने देश को लूटनेवालों, सतानेवालों और इस पर कब्जा बनाए रखनेवालों की खूब खबर ली। लगे हाथ सामाजिक विषमताओं और अन्यायों की बात भी कहता गया। साहित्य में मैंने नई जमीन तोड़ी या नहीं, इसका पता तो ठीक से वे बताएंगे जिनकी भूमि पर मेरे हल चले हैं, लेकिन इतना अवश्य बता सकता हूं कि मैंने किसी की नकल नहीं की। न उर्दू से उधार लिया और न अंग्रेजी की जूठन खाई। जो सूझा, जो महसूसा, उसे निर्भीकता से कहा और उसके परिणाम झेले। जनता से बहुत प्रेम पाया। भगवान ने जैसी मेरी सुनी, वैसी सबकी सुने। व्यंग्य-विनोद के लिखनेवाले सुखी रहें और सुख देते रहें। कृपया वह मेरी यह बात गांठ बांध लें कि यह दुनिया नाना प्रकार के दारुण दुखों से पीड़ित है। सुखी से सुखी, समृद्ध से समृद्ध और शक्तिशाली से शक्तिशाली के जीवन में कहीं न कहीं, कोई न कोई ऐसा डंक लगा है, जिससे वह मन ही मन विह्वल है, उदास है और गमगीन है। यदि उसके मुख पर एक क्षण के लिए भी हल्की-सी हंसी की रेखा उभार सकते हों तो इससे बड़ा पुण्य-कार्य कोई और नहीं। मैंने एक छोटा-सा 'हास्य-गीतम्' गीत लिखा है, पढ़ें और गुनें–

शुभ्र स्वरूपम्
अमल अनूपम्
रस सम्पन्नम्
परम प्रसन्नम्
मन-मानस विलसम्
वंदे हास्यरसम् !

मंगल मोदम्
शुद्ध विनोदम्
नवरस राजम्
सुखद समाजम्

कुंठा-कष्ट कषम् ।
वंदे हास्यरसम् !

अंगम् अंगम्
नाना रंगम्
हर्ष प्रसंगम्
सुमधुर व्यंग्यम्
क्रांति कर्म संगम
वंदे हास्यरसम् !

काम न क्रोधम्
विगत विरोधम्
सहज सुबोधम्
रस अनुरोधम्
स्नेह-सुधा सरसम्
वंदे हास्यरसम् !

नित कथनीयम्
नित वचनीयम्
आचरणीयम्
प्रेमिल संस्पर्शम्
वदे हास्यरसम् !

हिय उल्लासम्
प्रेम प्रकाशम्
कौतुक छंदम्
परमानंदम्
वर्द्धन व्यास-यशम्
वंदे हास्यरसम् !

हंतास्यरस की भंतूमिका

बात पुरानी है। तब जीवन में तो हास्य था, लेकिन साहित्य में वह प्रायः शुद्ध और स्वस्थ रूप में नहीं पाया जाता था। अस्वीकृत लोक साहित्य में तो उसकी कमी नहीं थी। बूढ़े-जवान सभी उसमें रस लेते थे, लेकिन साहित्य की बागडोर सदैव से ऐसे लोगों के हाथ में रही है जो गुरु-गंभीर प्रवृत्ति के दबंग पंडित होते थे और हास्य से नाक-भौं सिकोड़ते थे। उसे हल्का मानते थे।

व्यंग्य तो प्रबुद्धजनों और सुसंस्कृत सामाजिकता की देन है। सदियों की गुलामी ने इसे साहित्य में पनपने ही नहीं दिया। संस्कृत-साहित्य में विदूषक और हिन्दी में भड़ौआ लिखनेवाले लोग कभी अच्छी नजरों से नहीं देखे गए। अच्छा कहने, समझने और समझाने योग्य उनके पास कुछ होता भी नहीं था। हिन्दी में भी नाटकों और सरकसों के जोकरों ने दर्शकों का मनोरंजन तो किया, परंतु उनका कथन हंसी-मजाक, खुशामदी, पेटूपन, परनिंदा और पर-अपवाद से भरा होता था। संस्कृत के 'मृच्छकटिकम्' की परंपरा आगे नहीं चली। चली शिवजी के औघड़पन, उनके भांग-धतूरे के सेवन, उनके ब्याह-बरात के नानावाहन और नाना रूपों वाले बरातियों की चर्चा। गणेश के वाहन, उनके तुंदुल बदन, सूंड़दार मुख पर तरह-तरह की उक्ति-वैचित्र्यपूर्ण नाना रूपों में प्रशस्तियां। खटमलों के डर से शिवजी हिमालय भागने लगे और विष्णु क्षीरसागर में जाकर सो गए। कृपण लोगों तथा कुरूपा स्त्रियों का मजाक संस्कृत में भी उड़ा और हिन्दी में भी। उससे अधिक कुछ उल्लेखनीय नहीं। गांवों में बहुरूपियों, रासलीलाओं में मनसुखाओं, मुंह से गोला उगलनेवाले बाजीगरों, नटों और बिटों ने जहां-तहां जब-तब जीवन को मनोरंजक हास्य से उद्वेलित तो किया, परंतु उनके कार्य व्यंग्य-विनोदी साहित्य की प्रेरणा नहीं बन सके। साहित्य के नवरसों में अवश्य हास्यरस को उत्कृष्ट स्थान प्राप्त है। वचन-विदग्धता, लक्षण-व्यंजना, वक्रोक्ति और उक्ति-वैचित्र्य को भी मान्यता मिली है। काव्यशास्त्र लिखनेवालों ने इनके उदाहरण भी दिए हैं। परंतु वे उदाहरण भी प्रायः लचर ही हैं। भारतीय वाङ्मय में व्यंग्य-विनोद

के बीज तो थे, परंतु वे अंकुरित नहीं हुए। फलने-फूलने की बात तो दूर रही।

व्यंग्य-विनोद के महत्त्व को धीरे-धीरे स्वीकृति भारतेन्दुजी के समय में और उनके परवर्ती काल से ही मिलनी प्रारंभ हो गई। तब लिखी गईं—'चना जोर गरम,' 'बैरगिया नाला जुलम जोर' जैसी कविताएं और केवल 'ट' अक्षर के महत्त्व पर लिखा गया वह निबंध जो 'बोल, टेढ़ी टांग वाले की जय' पर समाप्त होता है। वास्तव में व्यंग्य-विनोद को स्वीकृति तो पत्रकारिता से मिली। अथवा, यों कहें कि राष्ट्रीय जागरण के काल में बंग-भंग के समय से ही व्यंग्य-विनोद हिन्दी में एक विधा के रूप में अंकुरित होने लगा या कहें कि पैर जमाने लगा। दैनिक पत्रों में व्यंग्य-विनोद के स्तंभ छपने लगे। 'मतवाला' तो शुद्ध व्यंग्य-विनोद का ही पत्र था। बालमुकुंद गुप्त का 'शिव-शंभु का चिट्ठा' जैसा व्यंग्य-विनोदपूर्ण स्तंभ लेखन और इन्हीं गुप्तजी के निबंध बड़े पैने तथा निर्भीक व्यंग्य-विनोद से भरे हुए होते थे। इसी तरह बेढबजी की एक डायरी, इन्द्र विद्यावाचस्पति के 'गांडीव के तीर', हरिशंकर शर्मा की हास्यरस की अनुप्रासमयी कविताएं एवं बाबू गुलाबराय की 'ठलुआ क्लब' तथा 'मेरी असफलताएं' जैसी पुस्तकें एवं आगरा से निकलनेवाला 'नोंक-झोंक' अखबार और कृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'बेढब' की पैरोडीनुमा कविताएं—इन सभी ने व्यंग्य-विनोद को तत्परता से पल्लवित किया है। अब तो हास्यरस के कई मासिक और वार्षिक पत्र निकलने लगे हैं। कुछ संस्थाएं भी ऐसी बन गई हैं जो होली-दीवाली हास्यरस के आयोजन करती हैं और पुरस्कार भी देती हैं। इनमें रामावतार चेतन की 'चकल्लस' पत्रिका और 'चकल्लस' पुरस्कार विशेष रूप से उल्लेखनीय रहे हैं। मुकुल उपाध्याय ने 'हास्यरसम्' नाम से एक वार्षिकी भी निकाली थी जो स्तरीय ही नहीं, हिन्दी के साथ-साथ देशी-विदेशी भाषाओं के व्यंग्य-विनोद को भी अपने अंकों में संजोए निकलती थी।

मैंने जब से होश संभाला है और जरा जल्दी ही संभाला है, तभी से मैं और मेरा परिवेश हास्य-व्यंग्य से परिपूर्ण रहा है। मैंने लोक और साहित्य दोनों में व्यंग्य-विनोद का आनंद लिया है। गांवों में औरतों के 'खोइए' देखे हैं, जब वे तरह-तरह के मर्दाने वेश बनाकर, दाढ़ी-मूंछ लगाकर और मूसल हाथ में लेकर रातों-रात जो बारात में जाने से रह जाते थे, उन पुरुषों से छेड़छाड़ किया करती थीं। मैंने बारातों के अवसर पर, होली के दिनों में स्त्री-पुरूषों के श्लील और अश्लील हंसी-मजाक-भरे गीत भी सुने हैं। नाटकों के जोकर भी देखे हैं और लीलाओं के मनसुखे भी। बहुरूपिये भी देखे हैं और नट-बिट भी। बड़ा होने पर शरारतें भी खूब की हैं। जान-बूझकर बुद्धू भी बना हूं और लोगों को मूर्ख भी बनाया है। नवविवाहितों के प्रेमपत्र चुराए हैं और मित्रमंडली में उनका रस लिया है। उम्र निकल जाने पर भी जिनकी शादी नहीं हो पाई थी, ऐसों की जोड़ी मिलाकर निमंत्रण पत्र भी वितरित किए हैं। 'बूढ़ों के घर में लड़का हुआ है। पार्टी में आप आमंत्रित हैं।' ऐसे इन्वीटेशन भी भेजे हैं। मथुरा की होली की मंडलियों के लिए मनोरंजक गीत और रसिये भी लिखे हैं। आगरे की साहित्यिक पार्लियामेंट में विपक्ष का नेता बनकर मंत्रियों की विनोदपूर्ण खिंचाई भी की है। मित्रमंडली और साहित्यिक समाज में बैठकर चुहलबाजी करने में तो मैं अव्वल नंबर का माना जाता था। छत पर बैठकर डोरी के सहारे कांटा लगाकर अंग्रेजपरस्तों की फैल्ट कैप और सोला हैट को ऊपर खींच लेना, होली के दिनों

में मेरा प्रमुख उत्पात होता था। मथुरा में मैं और स्व. भारतभूषण तथा आगरे में मेरे साथ पप्पू यानी रांगेय राघव मिलकर प्रोफेसरों की ऐसी-तैसी करने की योजनाएं बनाते रहते थे। मेरे घर का आलम तो पिताजी के अनुशासन की वजह से चुप्पी का था, लेकिन मेरी ननसाल के मामा लोग तो सब के सब खुशदिल मसखरे थे। वह रासलीलाओं में मनसुखा और दीवानजी का तथा लोक-नाटकों में चुहलबाज पात्रों का अभिनय किया करते थे। उनका यह मनोरंजक कृत्य केवल लीलाओं तक ही सीमित नहीं था। घर और मित्र-मंडली के बीच भी वह शाश्वत मनसुखे थे। हम लोगों ने आपस में बात करने के लिए एक नई बोली का भी आविष्कार कर लिया था। जैसे, "तू कहां जा रहा है ?" इसके लिए कहते थे—"तंतू कंतहां जंता रहा है ?" ब्रजभाषा में ही नहीं, इसका हमने "करफा-तरफा" लगाकर खड़ीबोली में भी रूपांतर कर दिया था। उदाहरण के लिए —"हिरफिन्दी की तरफरक्की के लिरफिए हरफमें परफूरे दरफेस को जरफगाना हरफोगा।" (हिन्दी की तरक्की के लिए हमें पूरे देश को जगाना होगा।) जब मित्र-मंडली में किसी की खिंचाई करनी होती थी तो इसी बोली का सहारा लिया करते थे।

जब मथुरा की होली में लोग नाचते-गाते निकलते थे तो एक गीत को सुनने में मुझे बड़ा आनंद आता था—

मोय घरवारी ने मारौ।
मारौ-मारौ मेरे, यार ! मोय घरवारी नै मारौ।
चकलाउ मारौ, वेलनउ मारौ,
चिमटा ते पेट फारि डारौ मेरे यार !
दिनभर तो खायवे कूं न दीनौ,
घर कौ दैगई तारौ रे, यार !
ओढ़ चदरिया गई मायके,
सब किस्सा कह डारौ रे यार !
मेरी लुगयूया नैं भय्या सिखायौ,
चढ़ि आयौ मो पै सारौ रे यार !
गुत्थमगुत्था भई जोर तैं,
अति घायल करि डारौ रे यार !
मैंने कही वाते झोर-भात करियौ,
वानै चून निकारौ रे यार !
याही बात पै भई लड़ाई,
कछु नांय खोट हमारौ रे यार !

मथुरा की रामलीला से मेरा निकट का संबंध रहा है। सीता, लक्ष्मण और राम बना हूं। उसके स्वामी थे एक बद्री बाबा। ब्रह्मचारी, बड़े विद्वान, रामचरित मानस के मर्मज्ञ और व्यक्तिगत जीवन में 'सबके प्रिय सबके हितकारी'। लेकिन लीला में उनके विविध रूप—कभी जटाजूट धारण करके वशिष्ठ तो कभी विश्वामित्र तथा धनुष-यज्ञ में पेट पर

कपड़ों की गठरी बांधकर मोटू राजा। इतने मोटे कि उनका पटुका कमर में बंधता और पेट को संभाल ही नहीं पाता था। राजाओं की कतार में कुर्सी की सीट पर न बैठकर बैक पर बैठते थे। मुकुट के स्थान पर कागज की रंगीन छतरी लगाते थे। जब धनुष को उठाने के लिए उठते तो तरह-तरह के मनोरंजक व्यायाम करते थे। लीला के दर्शकों के कहकहे गूंजने लगते। रावण के दरबार में मंत्री बनते और तरह-तरह के चुटकुलें और रावण की प्रशंसा में भांति-भांति के गीत गाया करते थे। मजा यह कि अभी बने राक्षस और पर्दे के पीछे जाकर बन आए मुनिवर। कोप-भवन में कैकेयी बननेवाला तो आज तक उन जैसा कोई नहीं हुआ। मथुरा की सेठानियों के सोने के रत्न जड़े आभूषण मांग-मांगकर लाते थे और दशरथ के मनाने पर उन्हें झटककर पटकते थे। उस दिन वह अपनी मूंछें मुंडा लिया करते थे। पूरी रामायण कंठस्थ थी उन्हें। कोई पात्र गैरहाजिर तो बद्री बाबा हाजिर। चट से उसका रूप धरा और मंच पर उपस्थित। बद्री बाबा की इस नाटकीयता से मैंने जाने-अनजाने यह सीख लिया कि व्यंग्य-विनोद लिखनेवाले को भी बहुज्ञ, सक्षम और प्रत्युत्पन्नमति वाला होना चाहिए।

तो ऐसे थे मेरे विनोदी संस्कार। ऐसा था मेरा पठन-पाठन और दर्शन-प्रदर्शन। ऐसा था मेरा परिवेश, जिसने आगे चलकर मुझे देश में, भाषा में, साहित्य के गद्य और पद्य में व्यंग्य-विनोद के लेखक के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। ऐसा कि नासमझ लोग जाने-अनजाने कहने लगे कि व्यास ने व्यंग्य-विनोद में नई जमीन तोड़ी है। जमीन टूटी या नहीं, यह तो मैं नही जानता। मैंने ही तोड़ी है, यह भी मैं नहीं मानता। हां, इतना अवश्य कहूंगा कि मैंने हास्यरस को व्यंग्य का पुट देकर साहित्य के प्रति अपना थोड़ा-सा कर्त्तव्य निभाया है। हिन्दी-साहित्य में एक अभाव की पूर्ति करने का प्रयत्न किया है। उर्दू की तरह एक ही नज्म में कई-कई जलवे न दिखाकर उसे एक विषय में बांधा है। उसे उद्देश्य दिया है—समाज-परिष्कार, भारत की स्वतंत्रता और स्वतंत्रता के बाद अन्याय, असमानता और आर्थिक शोषण के विरुद्ध जेहाद तथा आज के नेताओं के दुमुंहेपन को उजागर करना। ऐसा था मेरा परिवेश और यही है मेरे हास्यरस की भूमिका।

काव्यशास्त्र विनोदेन

मनोरंजन, कहां से शुरू करूं ? कवि से या कविता से ? अब तो हिन्दी कविता के व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों ही में तो मनोरंजकता भरी हुई है। नाम हो या काम, जहां भी देखो मोद-विनोद छलकता नजर आएगा। कोई 'हुल्लड' है, कोई 'कुल्हड़' तो कोई 'अल्हड़' है, टीचर तो हिन्दी कविता में नब्बे प्रतिशत हैं ही, हमारे कवियों के नाम 'फटीचर' और 'शनीचर' भी हैं। कोई काका है, तो कोई पटाखा। कोई राकेट है तो कोई एटम। हिन्दी कविता में 'भोंपू' भी वजते हैं। इन्हें किसी का भी भय नहीं, सब 'निर्भय' हैं। 'बेढब' और 'बेधड़क' नहीं रहे तो क्या, अब 'बेखटक' हैं। एक कवि अपने को 'पागल' भी लिखते हैं। अफसोस यही है कि हिन्दी कविता में कोई हाथी नहीं है। (उसकी 'सूंड़' अवश्य है)।

तो यह हुई मनोरंजन की नाम-महिमा। काम से पहले, कहिए तो इनकी छवि का वर्णन कर लिया जाए। कविता की पहचान अलग से हो या न हो, हमारे कवियों की पहचान अलग से होनी आवश्यक है। इसलिए कोई लटाधारी है तो कोई जटाधारी। कोई पैंट को पाजामे की तरह से पहनता है तो कोई नाइट गाउन को डिनर सूट की तरह। कोई सड़क पर ऊपर देखता चलता है तो कोई दाएं-बाएं। मुड़-मुड़कर पीछे देखने की आदत तो प्रायः सभी की है। पर सीधे-सामने देखने से सभी कतराते हैं। किसी का कुर्ता कमर तक का है तो किसी का घुटनों तक का। कोई रवीन्द्रनाथ की तरह वैसे ही दाढ़ी और वैसा ही चोगा पहनकर, जब तक कॉफी हाऊस बंद नहीं हो जाता, आने-जानेवालों की भाव-भंगिमा से प्रेरणा लेता रहता है। पान तो खैर सभी खाते हैं, लेकिन मोरारजी के रहते हुए भी मद्यनिषेध को लेकर ललकारनेवाले कवियों की संख्या अब हिन्दी में 98 प्रतिशत से भी अधिक हो गई है। कुछ के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं। वे सिगरेट में रखकर गांजा पीते हैं। मंच पर जाने से पहले भांग का अंटा चढ़ाते हैं। कविता की मश्क कोई गुसलखाने में करता है तो कोई जनानखाने में। हमने नहीं देखा, लेकिन मयखाने भी आखिर किसलिए खुले हैं ? वहां भी लोग अक्सर जाते ही होंगे।

यह आलम सिर्फ हास्यरस के कवियों का ही नहीं है। हिन्दी में यह बीमारी बहुत पुरानी है और बड़ी मनोरंजक है। यहां 'दीन' भी हुए है और 'प्रवीन' भी। 'निर्धन' भी हैं और 'रत्नाकर' भी थे। कुछ ने समझ से काम लिया और अयोध्यासिंह का साहित्यीकरण कर डाला–सिंह का हरि और अयोध्या का 'औध'। लेकिन इतनी समझ सब में नहीं थी। व्यक्तित्व अमचूर जैसा पर नाम 'पीयूष'। हाथ में मोटा डंडा और सबसे लड़ने को तत्पर, पर नाम 'हितैषी'। आंखे अंगारों की तरह से लाल। हमेशा वीरासन पर बैठते। देखने से ऐसा लगता था कि अब झपटे और अब खाया, पर नाम 'सनेही'। पं. सूर्यकांत त्रिपाठी से भी 'निराला' बने बिना नहीं रहा गया। लेकिन इसमें उनका दोष नहीं। क्या गद्य और क्या पद्य, क्या नाटक और क्या चम्पू, आधुनिक हिन्दी-साहित्य में क्लिष्ट काव्य के सटीक उदाहरण जयशंकर जब प्रसाद गुण से सर्वथा रहित होकर भी 'प्रसाद' बन गए तो सूर्यकांत क्या करते ?

'निराला'जी की एक घटना याद आ गई। मेरठ विश्वविद्यालय में हुआ एक कवि-सम्मेलन। बुलाए गए उसमें मेरी मार्फत महादेह और महाप्राण 'निराला'जी। विश्वविद्यालय के हजारों छात्र और दूर-दूर से सैकड़ों श्रोता उस छोटे-से भवन में उपस्थित। मंच पर बड़े-से-बड़े नेता, एक से एक ऊंचे प्राध्यापक और कवियों के चिलमबरदार उचक-उचक कर अपनी मुंडी चमका रहे थे। लोग 'निराला'जी को सुनने आए थे, चपरकनातियों को नहीं। एक-एक करके सारे कवि हूट या शूट कर दिए गए। अब बारी आई 'निराला'जी की। बड़ी लम्बी-चौड़ी भूमिका के साथ उनका आह्वान किया गया। 'निराला' जी माइक पर गए। बोले– **"लेडीज एण्ड जेंटिलमेन आ' एम नाट हैपी टू एटेंड दिस फंक्शन"**-और फिर धाराप्रवाह अंग्रेजी में ही बोलते गए कि हमको यहां क्यों बुलाया गया है ? हमको तो विक्टोरिया ने जहाज भेजा था। वायसराय हमारी अगवानी करने आया था। हमने जवाहरलाल को कविता नहीं सुनाई। जार्ज पंचम को कविता सुनाने जा रहे थे...। कॉलेजों के लड़के थोड़ी देर तो सुनते रहे, फिर चिल्लाये "कविता ! कविता ! !" 'निराला'जी ने जोर से डांटा और फिर अंग्रेजी में ऐसा ही कुछ और बोलने लगे। बीच-बीच में वह मेरी ओर मुड़कर देखते जाते थे और मुस्कराते भी जाते थे। कविता पढ़ने की उन्हें कोई खास आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि लिफाफा उनके पास पेशगी जा चुका था। जब लड़के तालियां पीटने और शोर मचाने लगे तो वे पीछे मुड़े। तलाश करके अपने जूते हाथों में उठाए और मंच से उतरकर सड़क की ओर चल दिए। आगे-आगे जूते लिये 'निराला'जी और पीछे-पीछे खादी की धोती सम्भालता हुआ मैं। आगे-पीछे, अगल और बगल में लड़के-लड़कियों का हुजूम शोर मचा रहा था "निरालाजी की जय हो ! निराला जिन्दाबाद ! ! कविता होगी और होगी ! ! !"

हमने 'निराला'जी से कहा–"महात्माजी, बहुत हुआ, जरा रुकिए।" और 'निराला'जी रुक गए। एक बड़े पेड़ की छांह में खड़े हो गए। लड़के-लड़कियों को उन्होंने वहीं बैठ जाने को कहा। मंत्र-मुग्ध से सब बैठ गए और तब हुई 'निराला'जी की कविता। कविता नहीं, कविताएं। लगातार एक के बाद दो, दो के बाद तीन और तीन के बाद चौथी। अंत में कहा 'निराला' ने–"कवि मुक्त होता है। वह किसी दायरे में नहीं बंधता, किसी

के कहने से कविता नहीं पढ़ता।"

किंतु आज तो सभी निराला हैं। सभी महाप्राण हैं। सभी की कविताओं में कुकुरमुत्ता और सड़क पर पत्थर तोड़ती हुई श्रमिकबाला का चित्रण है। 'निराला' अपनी कथित विक्षिप्तता में भी अपनी साहित्यिक चेतना के प्रति सजग थे। किंतु आज अपने को होश में बताते हुए भी...।

साहित्य की धाराएं बदलीं, वाद मरे और जनमे। विवाद उठे और खत्म हुए। हमने प्राचीन को तो खत्म कर ही डाला, लेकिन नवीन भी हाथ नहीं लगा।

याद आ गई हमें 'नवीन' की। उस अनिकेतन और उथल-पुथल की तान सुनानेवाले अलबेले अलमस्त कवि को एक बार बनारस में एक विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ा। बहुत बड़ा कवि-सम्मेलन था। इसमें पंतजी, 'निराला'जी, 'बच्चन'जी सहित हिन्दी के सभी ख्यातिनामा कवि उपस्थित थे, लेकिन छात्र शैतानी पर आ गए। वह सिवाय 'बच्चन' के किसी को सुनना ही नहीं चाहते थे। 'नवीन'जी चुपचाप यह सब देख रहे थे। जब देखा नहीं गया तो झपटकर माइक पर आ गए। इससे पहले कि लड़के उन्हें हूट करें, उन्होंने आक्रमण प्रांरभ कर दिया। उस दिन उनकी कविता के बोल कुछ इस प्रकार थे–

तड़तड़ तड़तड़
लौंडे करते गड़वड़ गड़वड़
अगड़म वगड़म
धत्तेरे की
जाओ भाग जाओ
अपना और हमारा समय मत गंवाओ
कविता सुनने की तमीज सीखो।
यहां से चलते-फिरते दीखो।

यह आशु कविता अचानक बम की तरह गिरी। धमाका हुआ। गोली चली दन्न, हूटर रह गए सन्न। जब तक वे संभलें 'नवीन'जी अपनी जगह जा चुके थे। अब तो लड़के चिल्लाने लगे, "'नवीन'जी की कविता होगी! नवीनजी की कविता होगी!!" और 'नवीन'जी ने इस प्रकार उस उखड़ते हुए कवि-सम्मेलन को पुनः जमा दिया।

मोद-विनोद छूत की बीमारी की तरह है। एक को लगी तो सब में फैल जाती है। फिर भीड़ का मूड बदलते देर नहीं लगती। उसके मन पर जो कवि जम गए सो जम गए। बाद में फिर चाहे कोई कितना ही बड़ा, कितना ही महान और कितना ही बुजुर्ग हो, उसके लिए कुछ नहीं।

अजमेर के मेयो कालेज की जुबली थी। कवि-सम्मेलन तो होना ही चाहिए–हुआ। 'बच्चन'जी, मेघराज 'मुकुल', 'नीरज' और इन पंक्तियों का लेखक उस दिन श्रोताओं के मन पर चढ़ गए। रात के दो बज गए। श्रोता इन चार के अलावा पांचवें सवार को सुनने को तैयार नहीं थे। आखिर हम लोग भी कब तक खींचते। संयोजकों का आग्रह था कि

सुबह तक खींचें। हम लोग सोच ही रहे थे, तभी एक स्थानीय कलाकार हमारी सहायता को अचानक प्रकट हो गया। संयोजक से उसने कहा कि "मुझे बुलवाओ और मैं देखता हूं"। अपना नाम पूरा लिये जाने से पहले ही वह माइक पर आ गया। बजाय जनता की तरफ मुखातिब होने के उसने माइक का रुख कवियों की ओर करके ज़नता को पीठ दिखाते हुए अपना कवितापाठ करना शुरू किया। उधर जनता का शोर है– "बोर ! बोर ! !" इधर कवियों की पुकार है, "वन्स मोर ! वन्स मोर ! !" एक के बाद एक उसने छह कविताएं सुना दीं। लोग चिल्ला-चिल्लाकर थक गए, तब सभापति ने अपील की और सब कवि सुने गए।

मनोरंजन साहित्य की पहली शर्त है, यह तो दावे के साथ कहना भी चाहूं तो नहीं कह सकता। क्योंकि आज की राजनीति की तरह हमारी साहित्य-सभा में भी लगातार हंगामा होने की आशंका है। क्या पता मामला तूल पकड़ जाए ? मैं मनोरंजन पर लेख लिखता जाऊं और व्यंग्य-विनोद की मेरी कुर्सी पीछे से खींच ली जाए। इसलिए मैं ऐसी गलती तो नहीं करूंगा। लेकिन इतना आवश्य कहूंगा कि बिना मनोरंजन के न लोकरंजन हो सकता है और न लोकशिक्षण, न लोकरक्षण, न लोकपरिष्कार। मनोरंजन को मैं समाज-परिष्कार का अचूक साधन समझता हूं। हर्ष की बात यह है कि आज गद्य, पद्य, नाटक, उपन्यास, गीत, अगीत, प्रगीत, सबमें मनोरंजन की एक ऐसी विधा का विकास हुआ है जो समाज-परिष्कार के लिए पूरी क्षमता से कटिबद्ध है।

साहित्य का सीधा संबंध हित के साथ है। हित वही जो मन को भाए। साहित्यकार वही जो जन-मन का हितैषी हो। उसका मन-रंजन करे। मीठे मनोरंजन के साथ आप चुभती बातें भी कह सकते हैं। अगर उपदेशामृत पिलाने या लेक्चरबाजी करने पर उतरोगे तो जनता, जिसे तुम इत्र समझकर उसे लगा रहे हो, उसमें से भी उसे बदबू आने लगेगी।

सपाटबयानी आज के साहित्य में नहीं चलती। यों साहित्य में अभिधा एक स्वीकृत विधा है। परंतु बात को घुमाकर कहने, वाक्य को झटका देकर बीच में तोड़ने, स्वीकृत व्याकरण को अमान्य करके चलने और अभिधा में ही दार्शनिकता का पुट देने से शैली लज्जतदार हो जाती है। जैसे मैं यों कहूं कि यह जो मन है न, क्या है यह मन ? चित्तवृत्तियों की जो चंचलता है न, मेरा मतलब यह है, मैं मानता हूं कि उसी के संवाहक पदार्थ को मन कहते हैं। रंजना उसकी धर्मिता है। मनु ने भी इसे माना है, फ्रायड ने भी इसे निरूपित किया है। एडलर और युंग भी इसी की बारीकियों में गए हैं। सार्त्र और कामू वगैरह-वगैरह।

शैली के चक्कर में मामला उलझ गया। क्लिष्टता या दुरूहता का निषेध मनोरंजन की दूसरी शर्त है। जिस साहित्य में सौंदर्यबोध न हो, जहां अभिव्यक्ति सहज न हो, जहां प्रसाद गुण पूरी तरह न पाया जाता हो, वह और कुछ हो सकता है, मनोरंजक नहीं। परंतु यह तो फतवा हो गया। साहित्यिक मठाधीश होने की गंध आती है इसमें से। ऐसी वृत्तियों को यदि शुरू में ही चैक न किया जाए, तो यही आगे चलकर फासिज्म का रूप धारण कर लेती हैं। राजनीति में फासिज्म चल सकता है। साहित्य में तो कदापि नहीं। जब अपनी बात कही जाती है, यानी अपनी ही बात के लिए आग्रह होता है, वही तो तानाशाही है। इसलिए अपनी बात छोड़कर दूसरों की बात करें। अपने मन को लगाम लगाकर दूसरे

साहित्यकारों के मनों को टटोलें, तभी मनोरंजन के कुछ सूत्र हाथ लग सकते हैं।

पहले देवताओं का स्मरण किया जाए। पुराण के देवता नहीं, साहित्य के देवता—जैसे श्रीमन्नारायण अग्रवाल और श्रीनारायण चतुर्वेदी ने अत्यंत सावधानी बरत करके, आगे आनेवाले युग का ख्याल करके, पहले ही अपने नाम को श्री से संयुक्त कर दिया, वैसे ही ब्रजभाषा के एक कवि ने अपना नाम ही 'देव' रख लिया। यह देव कवि मन की मचल पर इस तरह लिख गए हैं—

चरनन चूमि, छ्वै छवान, ह्वै चकित 'देव'
धूमि कैं दूकूल ननि, झूमिकर झट गयौ।
कोरे कर कमल, करेरे कुच-कंदुकनि
खोलि-खोलि, कोमल कपोलन निपट गयौ।
ऐसो मन मचल्यौ अचल अंग-अंग पर
लालच के काज लोक लाजहि तैं हट गयौ।
लट में लटकि, लोयननि मैं उलटि फैरि
त्रिवली पलटि, कटि-तटी माहिं कट गयौ।

समझे आप ? यह मामला नायिका के नखशिख का और मन की कलाबाजी का है। रीतिकाल में यही साहित्यिक मनोरंजन का सर्वोत्तम प्रकार था। इसे लोक के साथ शास्त्रीय मान्यता भी प्राप्त थी। लेकिन अभागे हैं आज के कवि कि लोक को पकड़ते हैं तो परलोकवासी अथवा शीघ्र ही परलोकगामी साहित्य-समीक्षक उन्हें अपने शास्त्र के पास फटकने नहीं देते और विश्वविद्यालयों के योग्य साहित्य-शास्त्र की रचना से भी अधिक संरचना करनेवालों को लोक की सहज स्वीकृति प्राप्त नहीं होती। यानी मनोरंजन श्रेष्ठ वह, जिसके दोनों हाथों में लड्डू हों, एक हाथ में लोक और दूसरे हाथ में शास्त्र।

हमारे संस्कृत-साहित्य में इसके अनेक उदाहरण हैं। ईश-वंदना के श्लोकों को भी इस तरह मनोरंजक बनाकर प्रस्तुत किया जाता था—

मातः !
किम् यदुनाथ ?
देहि चषकम्
किम् तेन ?
पातुं पयः।
तन्नास्त्यद्य
कदास्ति ?
तन्निशि
निशा का वा-
अन्धकारोदये
आमील्याक्षियुगं निशाप्युपगता

देहीति मातः वदत्
वक्षो जाम्बर कर्षणोद्यतकरः
कृष्णः स पुष्णातु वै ।

इसका अर्थ नई कविता में इस तरह होगा–

अरी मैया !
क्या है रे यदुनाथ ?
मुझे कटोरा चाहिए ।
उसका क्या करेगा ?
दूध पीऊंगा ।
वह अभी नहीं है ।
तो कब मिलेगा ?
रात को ।
रात क्या होती है ?
जब अंधेरा होता है ।
लो मां, मैंने दोनों आखे मूंद लीं,
अब तो रात हो गई !
इस प्रकार मां के आचल को बार-बार खींचते हुए कृष्ण आपकी रक्षा करें ।

परंतु यह तो भक्ति पद हो गया. इसमें उक्ति-वैचित्र्य और वक्रता नहीं उभरी जो ब्रजभाषा के रससिद्ध कवियों को कभी-कभी सहज रूप में प्राप्त हो जाती है। संस्कृत में एक श्लोक है जिसका अर्थ है कि स्वयं तो महेश और श्वसुर नगेश (हिमालय), मित्र धनेश अर्थात् कुबेर और पुत्रगणों का अधीक्षक यानी गणेश. फिर भी शिवजी महाराज भिक्षाटन करते-फिरते हैं। इसीलिए तो कहते है कि विधाता की लीला बड़ी बलवती है। पर शिव पंचायतन का जो माहौल ब्रज के कवि ने बांधा है, वह अधिक मनोरंजक है–

बाप विष चाखै, भय्या षट्मुख राखै 'देव'
आसन में रखै विस्वास जाके अचलै
भूतन के छैया आस-पास के रखैया और
काली के नथैया हूं के ध्यान हूं ते न चलै
बैल बाघ वाहन बसन को गयन्द खाल,
भांग कौं, धतूरे कौं पसार देत अचलै
घर कौ हवाल यहै, शंकर की बाल कहै–
लाज रहे कैसे ? पूत मोदक को मचलै ।

तो ऐसा होता था पहले काव्यशास्त्र विनोद का। इसमें संवादिता भी थी, श्लेष भी था, काकोक्ति और वक्रोक्ति भी थी। तब हिन्दी के कवि संस्कृत के कवियों को चुनौती

देते हुए गर्व के साथ कहा करते थे कि "भाखा जो न जानै ताहि शाखामृग जानियै"। संस्कृत-साहित्य में शिव-पार्वती तथा राधा-कृष्ण के ऐसे कई दो अर्थोंवाले संवाद पाए जाते हैं जो शिष्टजनों के हृदयों में गुदगुदी पैदा कर दिया करते हैं। लेकिन ऐसे प्रसंगों में ब्रजभाषा का कोई जवाब नहीं है। देर रात लौटे हुए कृष्ण के साथ राधा का एक संवाद देखिए-

"खोलौ जू किवार, तुमकौं एती बार
हरि नाम है हमारौ,"
"बसौ कानन पहार में,"
"हौं तो प्यारी, माधव"
"तौ कोकिला के माथे भाग"
"मोहन हौं प्यारी,"
"परौ मन्त्र-अभिचार में,"
"रागी हौं रसीली",
"तो जाहु काहु दाता पास".
"भोगी हौं छबीली,"
"बसौ जाय जू पतार मैं,"
"नायक हौं नागरी",
"तो हांकौ कहूं टांडा जाय,"
"हौ तो घनश्याम,"
"बरसौ जु काहू खार मैं,"

इस छंद का आनंद वही ले सकता है जो हरि का सिंह, माधव का वसंत, मोहन का मंत्र, रागी का पेशेवर गायक, भोगी का सर्प और नायक का बंजारा अर्थ भी जानता हो। जिस समय ऐसे छंद लिखे जाते थे, उस समय शब्द-कोश नहीं हुआ करते थे। तब साहित्यकारों के पास ही नही, रसिक समाज के पास भी शब्द-संपदा की कोई कमी नहीं थी। परंतु आज तो वियत शब्द का अर्थ आसमान भी होता है, यह जाननेवाले विश्वविद्यालयों में भी सुलभ नही है। इसीलिए "काव्यशास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्", में धीमताम् (बुद्धिमान) का विशेष महत्त्व है।

सिद्ध यह हुआ कि मनोरंजन करना और उसे समझना बुद्धिहीनों के बूते की बात नही है। आज व्यंग्य-विनोद की तलवार प्रायः किंवानरों के हाथ पड़ गई है। समाज की समाज जाने, भगवान् ऐसे तलवारधारियों की रक्षा करें। तलवार से खेलना आसान है, शब्द से खेलना सरल नहीं। भावापहरण कठिन कार्य नहीं, भावप्रवणता तलवार की धार पर धावना है।

हां, तो मनोरंजन साहित्य और समाज के लिए पहली नहीं तो आवश्यक शर्त जरूर है। मन को दिल भी कहते हैं, पर मनोरंजन दिल्लगी नहीं है। हास्यरस में सेकंड क्लास नहीं होती। वह या तो प्रथम श्रेणी का होता है या फिर थर्ड क्लास। इसकी ऊंचाई व्यक्ति

के अपने संस्कारों और सामाजिक स्तर पर निर्भर है। चोट मारना आसान है, चोट खाना आसान नहीं। दूसरों पर हंसना सहज है, लेकिन अपने पर हंसना कठिन है। दूसरों की कीमत पर मनोरंजन करना सबको सुहाता है। परंतु अपने को उधेड़कर परखना हर किसी को नहीं आता।

लीजिए, मैं उपदेश देने लगा। साहित्य में और विशेषकर मनोरंजक साहित्य में उपदेश यानी लेक्चरबाजी वर्जित है। इसका लेखक अपने अहम को पाठकों पर नहीं थोपता। वह तो दोनों हाथ उठाकर यही कहता है–

आलोचना लोच से खाली,
अब मजाक में मजा न गम है।
सत्ता से सत निकल गया है,
सिर्फ अहम में हम ही हम है।

■

व्यासजी के तीन रूप हिंदीवालों के सामने हैं। सबसे पहले तो वह हास्य के कवि हैं। उन्होंने अपनी शैली अपनाई है और हास्य में नई जमीन तोड़ी है। दूसरा रूप उनका हिंदी के कर्मठ सेवक का है। उन्होंने हिंदी के आंदोलन में सक्रिय योगदान किया है। संविधान में भाषा-नियम के परिवर्तन के समय उन्होंने जो सम्मेलन दिल्ली में बुलाया था, वह एक ऐतिहासिक घटना है। तीसरा, वह एक कुशल पत्रकार और स्तम्भ लेखक हैं। उनका स्थान हिन्दी के अनुभवी और शीर्षस्थ पत्रकारों में है। व्यासजी को हिन्दी के सभी साहित्यकारों ने मान्यता हृदय में दी है।

–बेढब बनारसी

मेरे साहित्य की आदिप्रेरणा

संसार के अन्य शुभ कार्यों में चाहे प्रेरणा की जरूरत न महसूस होती हो, मगर यह जो कविता लिखने का महाकार्य है उसमें तो प्रेरणा का दौरा पड़ना वैसे ही आवश्यक है, जैसे मलेरिया-बुखार के प्रारंभ में जाड़े का चढ़ना। इसीलिए कविता की समझ आने से पहले ही मैंने प्रेरणा के महत्त्व को समझ लिया था। उस्तादों ने मुझे पहले ही सुझा दिया था कि ए नामुराद, कविता लिखने के लिए कागज, कलम, एकांत और छंद की उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी कि प्रेरणा के एक असाधारण 'फिट' की। जिंदगी में कुछ बन सकने की संभावना अपने में न पाकर, मैं कवि बनना तय कर चुका था, इसलिए मैंने प्रेरणा का जोरों से पीछा करना आरंभ कर दिया।

चांदनी रात में मैं यमुना के किनारे-किनारे मीलों चला जाता और आंखें फाड़-फाड़कर चंद्रमा को घूरता रहता कि कुछ सूझे, कुछ फुरे। तट की रजत बालू को खोद-खोद डालता कि देखू प्रेरणा देवी कहां धंसी बैठी है। घंटों कालिंदी की लहरों को गिनता रहता कि कृष्णप्रिया यमुना कुछ कहे, कुछ बोले। कान लगाए रहता कि न जाने कब लहरों से कान्हा की मुरली कुहुक उठे और मेरा कवि फूट पड़े। लेकिन अफसोस, आकाश का चंद्रमा धरती के इस अभिनव चकोर पर कभी नहीं पिघला। घंटों ताकने पर भी मुझे उसमें से कोई रमणी-मुख झांकता दिखाई नहीं दिया। मुझे ऊर्ध्वमुख देखकर झाड़ियों से खरगोश तो अवश्य भाग निकलते, मगर चंद्रमा ने कभी अपने में से मुझे भाव झराकर नहीं दिए। यमुना की बालू में भी मुझे लाख कुरेदने पर कविता-रत्न नहीं मिला। हां, चाहता तो सीप और घोंघों की वहां कमी नहीं थी। मथुरा की यमुना में से कृष्ण की वंशी तो क्या, जिसका साहित्य में बड़ा शोर था, वह कल-कल ध्वनि भी सुनाई नहीं दी। हां, बहुत रात होने पर सियार अवश्य अपनी सुमधुर ध्वनि में मेरा स्वागत कर दिया करते थे।

चौदह वर्ष की अवस्था में ही मैंने दो बार 'बिहारी सतसई' पढ़ डाली। मतिराम, पदमाकर, देव, दूलह, रहीम, रसखान आदि के सैकड़ों चुहचुहाते छंद घोटकर पी गया।

घर के अलंकार बेचकर साहित्य के अलंकार बिसाह लिए। रास्ते चलती सुंदरियों में नायिका-भेद के लक्षण ढूंढ़ने लगा। मगर फिर भी प्रेरणा कमबख्त, मुझे पास आती दिखाई नहीं दी।

लोगों ने कहा—तुम निगुरे हो, कविता में जब तक किसी को गुरु नहीं बनाओगे, वह सिद्ध नहीं होगी। मैंने तत्काल एक रुपये के पेड़े लिए, पिताजी का एक कीमती दुपट्टा चुराया और एक दिन चुपके से कविरत्न नवनीतजी चतुर्वेदी के पास शिष्य बनने जा पहुंचा। लेकिन चेला गुरु को भारी पड़ा। वह मुझे गणेश-वंदना के बाद पिंगल के नष्ट, उद्दिष्ट, मरकटी, मेरू और पताका ही बता पाए थे कि उनके लिए स्वर्ग से आमंत्रण आ पहुंचा।

फिर भी मैं निराश नहीं हुआ। सोचा, जब तक अंतःप्रेरणा नहीं जागती, तब तक बाहरी तैयारी तो पूरी कर ही लेनी चाहिए। यद्यपि मैंने लंबे-लंबे बाल नहीं बढ़ाए और न अपने पुराने नाम को उतारकर कोई नया नाम ही धारण किया, लेकिन बावजूद बाल और नाम न रखने के मैंने अपने-आपको उस हद तक 'कार्टून' अवश्य बना लिया था कि मेरी लटपटी चाल और अटपटी बातों को देखकर कोई भी दूर से बता सकता था कि हां, सचमुच हिन्दी का कलाकार आ रहा है।

इस कार्य में भगवान भी थोड़े सहायक सिद्ध हुए। उन्होंने असमय ही मेरी मां को धरती से उठा लिया और पिताजी का मन मुझसे फेर लिया। अपने मार्ग से माता और पिता दोनों के हट जाने पर मैं पूरी तरह निरंकुश हो उठा। अपनी निरंकुशता पर मुझे खेद के बजाय प्रसन्नता ही अधिक थी। क्योंकि मैंने सुन रखा था—निरंकुशः कवयः।

अंग्रेजी के सातवें दर्जे का इम्तिहान देनेवाला था, मगर सोचा कि जब कवि ही बनना है तो पढ़-लिखकर क्या होगा ? स्कूल को तिलांजलि दे दी। अब रात को दो-दो बजे तक ताश-चौपड़ खेलता और सुबह दस-दस बजे सोकर उठता। दोनों कानों में इत्र के महकते हुए फोए लगाता और शाम को सुरमा सारकर गले में सुगंधित फूलों के गजरे डाल बाजार में इस तरह गबरू की तरह झूमता हुआ चलता कि लोग इस नए छैले को देखते रह जाते।

यमुना में स्नान करती हुई ब्रज-सुंदरियों को, मंदिरों में झांकी लेती और देती हुई अभिनव मीराओं को और मथुरा की सुरम्य वीथियों में अभिसार को निकली हुई प्रमदाओं को खोई-खोई आंखों से देखते रहना अब मेरा नित्य का कार्यक्रम बन गया था।

रीतिकालीन कवियों के आधार पर मैंने नायिकाओं के नख-शिख का गहन अध्ययन किया। सोलहवें साल में प्रवेश होते-न-होते, वात्स्यायन का कामसूत्र भी पढ़ डाला। परंतु मेरे ऊसर मन में कविता के सरस अंकुर नहीं जमे। नवरस पढ़ लेने पर भी काव्यरस की कल्लोलिनी नहीं बही। तब मैंने हिमालय से शुद्ध ब्राह्मी बूटी मंगवाई। मथुरा के सुप्रसिद्ध पेय विजया को भी कुछ दिनों गले गलाया। सरस्वती मंत्र का भी विधिवत् जाप किया। मगर लाख प्रयत्न करने पर भी प्रेरणा की फुरफुरी मुझे नहीं चढ़ी।

पर होनी की बात देखिए कि जो प्रेरणा यमुना के कुसुमित कछारों और ब्रज की

मनोरम वीथियों में साहित्य के अनवरत पठन-पाठन से प्रस्फुटित नहीं हुई, वह आगरे के पागलखाने से कुछ ही दूर अनायास ही खुली चरने-बिचरने लगी। स्वर्गीय नवनीतजी का शिष्यत्व और रत्नाकरजी की संगत जिसे सुलभ नहीं बना सकी, उसे साहित्य में सर्वथा उपेक्षित एक चतुष्पद पशु ने सहज संभव कर दिखाया। स्वयं कामदेव को भी मोहित करनेवाली साक्षात् रतिरूपा चंद्रबदनी ब्रजललनाएं जिस कार्य के करने में नितांत असमर्थ सिद्ध हुईं, उसे बाबू गुलाबराय की महा 'महिषी' भैंस ने चुटकी में कर डाला।

एक दिन जैसे सृष्टि के आदिकवि वाल्मीकि के मुंह से क्रौंच पक्षी के वध पर "मा निषाद प्रतिष्ठां त्वं अगमः" निःसृत हो उठा था, उसी प्रकार ईसा की बीसवीं शताब्दी के चौथे चरण में इस कलियुगी व्यास के मुंह से, रस्सा तुड़ाकर गुसलखाने में घुसी हुई भैंस ने स्वयमेव कहलवा डाला—

"ओ, बाबूजी की डबल भैंस !"

यह हास्यरस की मेरी प्रथम रचना है। इससे पहले यद्यपि मैंने अनेक छंद ब्रजभाषा में लिख डाले थे। उनकी वाहवाह भी हुई थी। कहीं-कहीं उन पर मैडिल-वैडिल भी मिले थे। तब मैंने उन पर अहंकार भी कम नहीं किया था। परंतु धरम लगती बात तो यह है कि ब्रजभाषा के महान रससागर में जहां असंख्य मणि-माणिक्य भरे पड़े हैं, मेरे उन चंद कवित्त-सवैयों का मूल्य इमीटेशन-जैसा भी नहीं है। इसका कारण यह है कि वे सब-के-सब अनुभूति के अभाव में बिना प्रेरणा के ठीक उसी प्रकार लिखे गए हैं, जिस प्रकार आजकल के डॉक्टर बिना रोग को समझे महीनों नुस्खे लिखे चले जाते हैं।

यदि जीवन और साहित्य की कंटीली डगर पर भटकते हुए मुझ असहाय को सदगुरु सत्येन्द्रजी का सहारा न मिला होता तो शायद मैं एक ओर निरा कम्पोजीटर रह जाता और दूसरी ओर विभूतिमती फिर भी अस्तंगत ब्रजभाषा के शब्दजाल में आजन्म उलझा रहता। सत्येन्द्रजी के संपर्क में आते ही मेरी दिशाएं आलोकित हो उठीं। उन्होंने मेरे मंद पड़े हुए साहस को प्रदीप्त किया और सदैव मेरा हौसला बढ़ाते रहे। एक घटना याद आती है कि जब में कुछ भी नहीं था, तब उन्होंने मुझे एक लेटरपैड छपाकर दिया, जिस पर एक कोने में मेरे नाम के नीचे, आकर्षक अक्षरों में छपा था—कवि, लेखक और पत्रकार। नए साहित्य और उसकी प्रवृत्तियों से मेरा परिचय सत्येन्द्रजी के द्वारा ही हुआ। दिन-रात में भेद न देखते हुए वह मेरे निर्माण में वत्सल पिता की तरह जुट गए। दिनभर मुझे अपनी कम्पोजीटरी से और उन्हें अपनी अध्यापकी से फुर्सत न मिलती। रात को 12-12 और 1-1 बजे तक वह मुझे 'विशारद' और 'साहित्यरत्न' की परीक्षाओं के लिए पढ़ाते रहते। अंत में उन्होंने ही मुझे आगरा तक पहुंचा दिया और अपने अनन्य मित्र महेन्द्रजी के पत्र 'साहित्य-सन्देश' में सहायक संपादक बना दिया।

तो हां, बात मैं भैंस की कर रहा था। बात यह थी कि आलोचकप्रवर बाबू गुलाबराय हमारे 'साहित्य-सन्देश' के प्रधान संपादक थे। 'साहित्य-सन्देश' की सेवा का पुरस्कार तो उन्हें वार्षिक ही मिलता था, मगर वह नियमित रूप से एक बार ऑफिस में अवश्य आया करते थे। क्योंकि पुरस्कार की मात्रा कुछ स्वल्प होती थी, इसलिए बाबूजी का ऑफिस

में ठहराव भी कुछ ही मिनटों का होता था। उन दिनों बाबू गुलाबरायजी ने एक भैंस बांध रखी थी। भैंस तो और भी कुछ लोग बांध लेते हैं और उसका दूध भी आराम से पीते हैं। मगर आलोचक बाबू गुलाबराय उससे दूध के अतिरिक्त एक और काम भी ले रहे थे। वह शायद बारीकी से इस कहावत का अध्ययन कर रहे थे कि "अकल बड़ी या भैंस ?" इसीलिए जब कभी हम लोगों से मिलते तो साहित्य की चर्चा तो जरा कम होती, मगर भैंस विषयक व्याख्यान काफी लंबा रहता। दार्शनिक बाबूजी की भैंस भी कोई साधारण नहीं थी। वह बाबूजी के बगीचे के केले छोड़ देती और पत्ते खा जाती। क्यारियों में गुलाब खिले रहते, मगर दूब न जम पाती। वह गोभी के पत्तों को चबा जाती, मगर फल को बाबूजी की रसोई के लिए सम्हाल रखती। भैंस के यही गुण बाबूजी की नजरों में अकल से बढ़ चले थे। मैं 'साहित्य-सन्देश' का काम तो मुस्तैदी से करता ही था, मगर बाबूजी के भैंस-पुराण को भी बड़ी श्रद्धा के साथ सुना करता था। इसलिए मैं उनके स्नेह का, दूध देनेवाली भैंस के बराबर तो नहीं, फिर भी पर्याप्त पात्र हो उठा था। वह अक्सर भैंस का मठा पीने के लिए मुझे अपनी कोठी पर आमंत्रित किया करते थे। जब-जब मैं बाबूजी की भैंस को देखता और उसकी चर्चा को सुनता तो मुझे एक अजब फुरफुरी-सी उठती अनुभव होती।

एक दिन उस भैंस ने महापराक्रम कर दिखाया। बाबूजी ने भैंस के लिए सब प्रकार के सर्वोत्तम प्रबंध कर छोड़े थे। मगर उसके स्नान की समुचित व्यवस्था नहीं थी। बावूजी स्वयं गुसलखाने के टब में डूबकर 'कठौती में गंगा का' आवाहन करते, मगर भैंस बेचारी को नल के जल से वालटियों से नहलाया जाता। आगरे में उन दिनों प्रगतिशील लेखक संघ की नई-नई शाखा खुली थी। श्री प्रकाशचंद्र गुप्त की प्रेरणा से मैं भी उसके पांचवें सवारों में था। मालूम पड़ता है कि इसकी छूत भैंस को भी लग गई और उसने वर्गभेद के विरुद्ध बगावत कर दी। जब एक दिन बावूजी की पत्नी गुसलखाने में स्नान कर रही थीं तो भैंस भी अपना प्रथम अधिकार समझकर उसमें घुस पड़ी। संकरा दरवाजा, छोटी जगह। भैंस घुस तो गई, मगर अब निकले कैसे ? कुहराम मच गया। कॉलेज से दौड़े-दौड़े बाबूजी घर आए। हम लोगों ने सुना तो हम भी कौतुक-वश जा पहुंचे। अजीब उलझन थी। प्रगतिशील भैंस के बढ़े हुए कदम प्रतिक्रियावादी होने को कतई तैयार न थे। उसे पुचकारा गया, मगर वह नहीं पिघली। ललकारा गया, मगर वह नहीं लौटी। सरसों की हरी-हरी डालियां तोड़कर उसे ललचाया गया, मगर उसने भी सच्चे क्रान्तिकारियों की तरह उनकी ओर झांका तक नहीं।

आखिर लंबे-लंबे रस्से मंगाए गए। कुछ को पैरों में बांधा गया, कुछ को कमर में। एक बड़ी बर्त (मोटा रस्सा) गले में अटकाई गई। तब कहीं दस-बारह आदमियों ने अक्ल से नहीं, पशुबल से ही भैंस को गुसलखाने से राम-राम कहकर बाहर निकाला।

बाहर निकलने पर बड़े विजयगर्व से भैंस ने पूंछ उठाकर हमें देखा। मुझे लगा कि मानो वह चुनौती दे रही हो कि बोलो, आदमी की अक्ल के कितने टके उठते हैं ?

मेरे अंतर के तार एकदम जैसे झनझना उठे। मेर गुप्त भावों के सरोवर में जैसे किसी ने ईंट फेंक दी। मानो गहरी नींद में सोते हुए मुझको किसी ने जोरों से चिकोटी

काट ली। मेरा मन हर्षातिरेक से भर गया। अनायास ही व्यंग्य और विनोद दोनों मेरी बांहों में आ गए और बोले—कवि, लो आज से हम तुम्हारे हुए। मैंने मन-ही-मन कृष्णस्वरूपा पयस्विनी अपनी इस आदिप्रेरणा को नमस्कार किया और उसी दिन से बिना झिझक के मैं हास्यरस लिखने लगा।

आज भी जब कभी मैं अपने पिछले हास्य-काव्य पर दृष्टि डालता हूं, या नया कुछ लिखने बैठता हूं, तो न मुझे नेहरूजी का 'जयहिन्द !' याद आता है, न टंडनजी की 'जय हिन्दी !' अंतर्मन के साथ-साथ मेरे शरीर का रोम-रोम बस एक ही नारे को बुलंद करता है—जय भैंस !

■

'हिन्दी भवन' की इतनी बड़ी इमारत आपने बनाकर खड़ी कर दी, इसके लिए हिन्दी-जगत आपका हमेशा ऋणी रहेगा। दिल्ली में ऐसे भवन की आवश्यकता हम सभी न जाने कब से महसूस कर रहे हैं जहां एक अच्छा पुस्तकालय, वाचनालय और संग्रहालय हो। साथ ही जहां से निरंतर साहित्यिक गतिविधियां चलाई जा सकें। मैं कामना करता हूं कि यह भवन केवल ईंट-पत्थरों की इमारत होकर ही नहीं रह जाएगा, बल्कि सांस्कृतिक गतिविधियों और नए विचार-मंथन के लिए एक मंच और केन्द्र का काम भी करेगा।...

एक बार फिर से विराट कार्य को सिरे से लगाने के लिए आपको हार्दिक बधाइयां।

—राजेन्द्र यादव

(व्यासजी को एक पत्र में)

रसों में रस बतरस

संवाद कहानी और नाटक के ही प्रमुख आधार नहीं, कविता के भी चमत्कार हैं। कहानी भी कही जाती है और कविता भी कही जाती है। नाटक भी सुना जाता है और कविता भी सुनी जाती है। नाटक चर्म-चक्षुओं से देखे जाते हैं और कविता हिये की अंखियों से। कविता में जब नाटकीय तत्त्व और कहानीपन आ जाता है तो उसके "दीरघ नयन अनियारे" होने के साथ-साथ उसकी चितवन कुछ और ही मनोरम हो जाती है। कहानी और नाटक की तरह उसके संवाद जहां एक ओर कविता को रमणीयता प्रदान करते हैं, वहां उसकी संप्रेषण-क्षमता को कई गुना बढ़ा देते हैं।

जैनेन्द्रकुमार ने मुझसे कई बार कहा कि "व्यास, तुम कहानी क्यों नही लिखते ?" भगवतीचरण वर्मा का कहना था कि "फिलहाल कविता का युग समाप्त हुआ। अब युग कहानी और उपन्यास का है। आओ, हाथ पकड़कर चलें।" भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने तो दिल्ली के एक प्रकाशक का लिखित प्रस्ताव भी लाकर मुझे दे दिया कि मै चुहचुहाता हुआ एक उपन्यास लिखकर उन्हें दूं। अज्ञेयजी ने प्रस्ताव रखा कि "आओ, किसी तीसरे को साथ लेकर एक उपन्यास लिखें।" परंतु मैं अपने बड़े भाइयो जैसे इन बुजुर्ग साहित्यकारों की सीख पर नहीं चल सका। हां, इन बंधुओं के कहने का इतना असर तो हुआ कि मेरी कविता में संवाद, यानी कथोपकथन स्वतःस्फूर्त होकर आ गया और उसने मेरी कविता में पंख लगा दिए।

अब विषय-प्रवेश प्रारंभ। पत्नी पूजनीय, माननीय और मननीय तो युगों-युगों से रही है और आगे भी रहेगी। परंतु उसकी बातें, उसके साथ वार्तालाप, उससे मिली पराजय कितनी सुखद होती है, इसकी कल्पना कुंआरा कर सकता है, विवाहित उन पर रीझ और खीझ सकता है तथा विधुर उनकी यादों में रातों-रात करवटें बदल सकता है।

नारी की बतियां स्वभाव से ही मधुर होती हैं। उनका रगड़ा-झगड़ा भी आनंदमय होता है। बशर्ते कि पति मनघुइयां न हो। ब्रज का एक लोकगीत है..."मेरौ हँसिबे कौ

सुभाव, बलम मनघुइयां मिले।" मनघुइयां, यानी तुनकमिजाज, ईर्ष्यालु यानी जलने-कुढ़ने-वाला। पत्नी की चोटों को सहला-सहलाकर, हंस-हंसकर सहना चाहिए और उत्तर हर्षातिरेक को बढ़ानेवाला देना चाहिए। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं–

- पत्नी पति के स्वास्थ्य-संवर्द्धन तथा सलीके से रहने के लिए कुछ सीख, कुछ हिदायत और जब कुछ सख्ती से काम ले तो पति के टालू मिक्स्चर की एक बानगी–

"जी, मेरी दाढ़ी बढ़ी हुई है।"
"बढ़ने दो, तुम काम करो।"
"जी, फटा कोट" "फट जाने दो।
प्रिय, जाकर तुम आराम करो।"
"टूटे जूते ?–"सिल जाएंगे।
श्रीमती आप चिंता न करें।"
"मैली कमीज ?" "धुल जाएगी,
किस्सा भी आप तमाम करें।"
"मैं नहीं टहलने रात रहे,
इतनी जल्दी जा सकता हूं।
बस, माफ करो मैं च्यवनप्राश
अब और नहीं खा सकता हूं।
दिन में कब अवसर मिलता है,
जी, मुझे रात में पढ़ने दो।
तुम भी सोओ, जल्दी उठना,
मत व्यर्थ बात को बढ़ने दो।
हैं ! हैं !! ठहरो, क्या करती हो ?
करना चिराग को मंद नहीं।
यह झगड़ा मुझे पसंद नहीं।"

ऐसे ही जब वे कड़कडाते जाड़ों में रोज-रोज नहाने की बात करती हैं तो संवाद यों उछलते हैं–

तुम कहती हो कि नहाऊं मैं।
क्या मैंने ऐसे पाप किए, जो
इतना कष्ट उठाऊं मैं ?
क्या आत्मशुद्धि के लिए ?
नहीं, मैं वैसे ही हूं स्वयं शुद्ध
फिर क्यों इस राशन के युग में
पानी बेकार बहाऊं मैं ?

इस पर उनका प्रत्याक्रमण–

मैं कहती हूं कि जनम तुमने
बामन के घर में पाया क्यों ?
वह पिता वैष्णव बनते हैं
उनका भी नाम लजाया क्यों ?

हमारे भी कुछ तर्क-कुतर्क हैं–

तो बामन बनने का मतलब है
सूली मुझे चढ़ा दोगी ?
पूजा-पत्री तो दूर रही
उल्टी यह सख्त सजा दोगी ?
वामन तो जलती भट्टी है,
तप-तेज-रूप, वस अग्निपुंज ।
क्या उसको नल के पानी से
ठंडा कर हाय बुझा दोगी ?
यह ज्वाला हव्य मांगती है–
घी, गुड़, शक्कर, सूजी, वदाम ।
क्या आज नाश्ते में मुझको
तुम मोहनभोग वना दोगी ?

तो वह फटकार-भरे स्वर में कहती हैं–

वस, मोहनभोग, मगद, पापड़ ही
सदा जीभ पर आते हैं ।
स्नान, भजन, पूजा, संध्या,
सव चूल्हे में झुंक जाते हैं ।

तो हम आदर्श के चउए पर व्यवहार का छक्का मारते हुए कहते हैं-

तो तुम कहती हो–मैं स्नान,
भजन, सव किया करूं ।
जो औरों को सिखलाता हूं
उसका खुद भी व्रत लिया करूं ?

प्रियतमे, गलत सिद्धांत,
एक कहते हैं, दूजे करते हैं ।
तुम स्वयं देख लो युद्ध-भूमि में
सेनापति कब मरते हैं ?
मैं औरों के कंधों से ही

बंदूक चलाया करता हूं।
ये धर्म, कर्म, व्रत, नियम
नहीं मैं घर में लाया करता हूं।
फिर तुम तो मुझे जानती हो,
मैं सदा झिकाया करता हूं।
कातिक से लेकर चैत तलक
मैं नहीं नहाया करता हूं।

बतरस में आनंद का पुट और अंत में आज का यथार्थबोध। ऐसे होते थे तब मेरी कविता के संवाद। चुस्त और कुछ-कुछ दुरुस्त। ऐसा ही एक प्रसंग कृष्ण-जन्माष्टमी के दिन का है। जब व्रत रस्सा तुड़ाने लगता है तो पति अपने पुत्र से कहता है–

प्यारे मोहन, अपनी मां से
कहना–चाचाजी आए हैं।
कुछ उनके होश उड़े-से हैं
कुछ लगते वे घबड़ाए हैं।
कुछ उनका दिल बैठा जाता,
कुछ उनको चक्कर आते हैं।
वे देख रहे हैं इधर-उधर
ओंठों पर जीभ फिराते हैं।

रसोई में जब मोहन की मां ने यह सब सुना तो डांट लगाते हुए बोलीं–

बस बहुत हुआ, सुन लिया सभी
मुझको बहकाए जाते हो।
कुछ आगे-पीछे का न होश,
बच्चे को झूठ सिखाते हो।
सब धर्म घोलकर पी डाला,
सब कर्म गृहस्थों के छोड़।
इस घर के पथ में रोज-रोज
क्यों आप अड़ाते हैं रोड़े ?

अब बेचारे पति की लाचारी और सतर्क निवेदन पर जरा गौर फरमाइए–

जी, मैं क्या करूं, बात यह है
तबियत मेरी घबड़ाती है।,
यह पाक-पंजीरी की खुशबू
आंतों में कुलल मचाती है।
यह धर्म-कर्म और नियम-व्यवस्था,

सभी पेट की खातिर है।
यह ही खाली रह गया
कहो, संसार कहां फिर स्थिर है ?
यह उनका ही तो जन्म-दिवस
जो खाते और मचलते थे।
गोरस की चाट पड़ी ऐसी,
चोरी के लिए निकलते थे।
भगवान कृष्ण व्रत नहीं चाहते
दावे से कह सकता हूं।
फिर उनकी मर्जी के खिलाफ
भूखा कैसे रह सकता हूं ?

पत्नी के साथ संवाद की परिणति तनावकारक विवाद में न होकर आनंदवाद में होनी चाहिए। यही जीवन को रसमय बनाने की प्रक्रिया है और यही शुद्ध हास्यरस का परम लक्ष्य भी।

माना कि पत्नी को हमेशा पति से कुछ न कुछ शिकायत रहती ही है। शिकायत न हो तो गृहस्थी की गाड़ी पटरी पर कैसे बैठे ? बतरस का दरिया कैसे बहे ? बतरस ही तो जीवन की लोल लहर है, आनंद है। पर पति बेचारे की भी अपनी व्यथा-कथा है। अक्सर वह उसे मन ही मन अनुभव करता है, कह नहीं पाता। कहता भी है तो मिठास घोलकर इस प्रकार—

घर से बाहर जाना हो तो
रह-रहकर ठाठ बदलती हो !
तुम अब भी अपने को आख़िर
षोडशी मानकर चलती हो ?
हमको इसमें एतराज नहीं,
माना अब भी तुम सुंदर हो।
जग चाहे जो कुछ कहे
मगर मुझको तुम सबसे ऊपर हो।
पर बाहर जाते समय सिर्फ क्यों
रूप निखारा जाता है ?
साड़ी-जंपर का मैच तभी
क्यों सिर्फ विचारा जाता है ?
हम भी सौंदर्य-पारखी हैं,
टुक ध्यान इधर भी दिया करो।
कुछ और नहीं तो ठीक तरह
पल्ला सिर पर ले लिया करो।

खुद तुमको तो इन बातों का
बाकी रह नहीं विचार गया।
कहना-सुनना बेकार गया।

हो सकता है पति की इस अंतर्वेदना पर पत्नी की संवेदना जाग्रत हो जाए। वह साड़ी बदलकर, पाउडर, सुर्खी, बिंदी लगाकर उसके आगमन की प्रतीक्षा करे। देर से आने पर भी हंसकर स्वागत किया जाए। हाथ पकड़कर बगल में बिठाकर पूछ लिया जाय—बोलो, ठंडा चलेगा या गरम ? लेकिन कुछ पत्नियां ऐसी भी हैं, उनके पास अपने अबुद्धिवादी, बेतरतीब, कलाकार कहें या पत्रकार अथवा किसी काम को समय पर न करनेवाले हेड क्लर्क या अफसर पति के खिलाफ शिकायतों का एक मोटा पुलिंदा भी है। वह अपनी सहेली को उनका चिट्ठा सुनाती हैं—

वे असमय-कुसमय उठते हैं,
उठते ही कलम उठाते हैं।
मैं कहती हूं "बिस्तर छोड़ो"
वे जरा रुको, फरमाते हैं।
जब घड़ी बजाती साढ़े नौ,
तब कहीं पखाने जाते हैं।
वापस मिनटों में आते हैं,
न्हाते हैं, कभी न न्हाते हैं।

जैसे ही वे न्हाके आए
मैं खाना उन्हें परोस रही।
वे जल्दी-जल्दी खा चलते,
मैं अपना हृदय मसोस रही।

वे कोट पहनते जाते हैं,
मैं उनकी छड़ी टटोल रही।
उनका रूमाल खो गया कहीं,
मैं गठरी-पुठरी खोल रही।
वे दफ्तर जाने को होते
मैं अपना सबक सुनाती हूं।
यह नहीं, वह नहीं, यह लाना,
वह लाना, याद दिलाती हूं।

वे कोट छुड़ाकर भाग चले,
मैं पीछे-पीछे जाती हूं।

दरवाजे तक आए न हाथ
तो तेजी से चिल्लाती हूं–

मंगल है आज, शीघ्र आना,
मैं महावीरजी जाऊंगी।
मुन्ना को आया था बुखार,
उसका परसाद चढ़ाऊंगी।
मेरे साजन-मेरे साजन !

ऐसा नहीं है कि शिकायत बेचारे पति को न हो। और ऐसा भी नहीं है कि मौज-मस्ती के क्षणों में उनके ताने-तिश्नों से वह आजिज न हो उठता हो। वह चुप कराना चाहता है, पर वे चुप नहीं होतीं। वह पल्ला छुड़ाना चाहता है, पर वे और कसकर पकड़ लेती हैं। वह भागने की धमकी देता है तो वे नरम पड़ने की बजाय कहती हैं–"जाओ, जाओ। बहुत देखे हैं तुम जैसे रणछोड़।" एक रात को मामला तूल पकड़ गया–

मैं रोज रात को कहता हूं–
कल सुबह छोड़ दूंगा यह घर।
इस समय न मिल सकते तांगे,
इस समय न मिल सकता नौकर।

धोबी से कपड़े कब आए,
कब तार दिया है मित्रों पर।
गाड़ी का टाइम ज्ञात नहीं,
यह मुश्किल है सबसे ऊपर।

सुनती हो, कल मैं जाऊंगा
जिस तरह गए थे कभी बुद्ध।
मैं वापस कभी न आऊंगा
"लिनलिथगो"-सा असहाय क्रुद्ध।

ऐ गोपा ! सोती रहो, आज
यह नया तथागत जाएगा।
आंखें खोलो, दर्शन कर लो,
फिर पंछी हाथ न आएगा।

श्रीमान सोचते होंगे कि लगा तीर ठिकाने पर। अब आया पसीना। अब धड़का सीना। अब छलछलाईं अंखियां। लेकिन श्रीमती अब एक अनुभवी वाइफ बन चुकी हैं। हसबैंड के ऐसे बैंड-बाजों को बहुत सुन चुकी हैं। उनका क्लेरेनेट तत्काल अपना अलग

सुर निकालता है–

अच्छा साहब, अब देर हुई,
सोओ, पड़ोस जग जाएगा।
कल लेट अगर आफिस पहुंचे,
तो बुद्ध शुद्ध हो जाएगा।
वह और दूसरे होते हैं,
जिनको कि बात लग जाती है।
कहनेवालों में करने की शेखी
कम देखी जाती है।

धीरे-धीरे होता यह है कि अति परिचय, यानी घनिष्ठता नाम की जो वस्तु है वह अवज्ञा और उपेक्षा का रूप धारण करने लगती है। उनका पंचम स्वर धैवत को छोड़कर निषाद को छूने लगता है। क्यों न छुए, यदि पति युवती को प्रौढ़ा और प्रौढ़ा को बुढ़िया कहने लगे तो पारा किस डिग्री पर जाएगा, इसका अनुमान लगा सकते हो। एक दिवाली के दिन ऐसा ही हुआ। पति ने कहा–आज तो गुंझिया बनाओ। यह पकवान बनाओ। वह मिठाई बनाओ। बात की बात में अपनी औकात भूलकर अपने मुंह से यह निकल गया–

जग्गो की जीजी, रहने दो,
अब तुम बूढ़ी होती जातीं।
कुछ याद नहीं, कुछ स्वाद नहीं,
रसवाद सभी खोती जातीं।

अजी, इतना कहना था कि वह उबल पड़ीं–

तुम बूढ़े होगे, बड़े मुझे
बूढ़ी बतलाने आए हो।
शीशे मे लो चेहरा देखो,
तुम खुद लगते बुढ़ियाए हो।
ये दांत तुम्हारे तिडवंगे,
है कमर कमंद कमानी-सी
हैं ढंग तुम्हारे ताऊ-से
और चाल तुम्हारी नानी-सी

एक छेड़ की सौ छाड़। लगा उसे कि बर्र के छत्ते में हाथ डाल दिया। वह भूल गया कि जोगी से उसकी जात और नारी से उसकी उम्र नहीं पूछी जाती। गलती सुधारनी पड़ गई। कहा–

ओहो, इस छवि का क्या कहना,
बलिहारी है, बलिहारी है।
वह सूप बिचारा हार गया,
चलनी ने बाजी मारी है।

मैं इसीलिए तो कहता हूं–
तुम बुद्धिराशि हो कल्याणी।
उर्वशी, इंदिरा, गिरा, उमा,
सब भरती हैं तुम से पानी।

यानी, उन्हें आता है प्यार पर गुस्सा, हमें गुस्से पर प्यार आता है। लेकिन पत्नी के प्यार को तकरार में बदलने और तकरार को प्यार बनने में कितनी देर लगती है। इसी तरह पत्नी को प्रतिक्रियावादी से प्रगतिशील होने में भी देर नहीं लगती। आखिर उसने भी 'असहयोग' के दिन देखे हैं और घर में अखबार आते हैं तो वह भी मोटी-मोटी सुर्खियां देख ही लेती हैं। संवेदनशील जो ठहरीं। इसलिए बंद और हड़तालों की सफलता से वह भी बदल जाएं तो कोई आश्चर्य नहीं–

पढ़-पढ़कर अखबार
बदलती जाती हैं जग्गो की जीजी,
आज सवेरे बोलीं, "सुन लो,
मैं भी अब हड़ताल करूंगी।
सावधान ! कल प्रातकाल से
खाटें नहीं उठाऊंगी मैं।
कान खोलकर सुन लो, कल से
झाड़ू नहीं लगाऊंगी मैं।

पानी नहीं भरूंगी, बर्तन
साफ करूंगी नहीं किसी के,
अपना चूल्हा आप सम्हालो
खाना नहीं पकाऊंगी मैं।"

यह सुनते ही पति की सिट्टी-पिट्टी गुम हो जाती है। उसे अपने कानों पर विश्वास नहीं होता। हाय राम ! बाहर की हवा घर में भी आ गई। वह कहता है–

नौकर यदि हड़ताल करे तो
बात समझ में भी आती है।
लेकिन यदि 'सरकार' करे
हड़ताल बुद्धि तब चकराती है।

आज तुम्हें क्या हुआ सुहासिन
ये तुममें किसकी छाया है ?
अरी सुनयने, बोल ? तुझे
किस कम्यूनिस्ट ने बहकाया है ?

श्रीमतीजी का पारा गरम हो जाता है। क्या उनमें खुद की अक्ल नहीं है जो कोई बहका देगा। बहकने और बहकाए जाने के लिए तो पति नाम का प्राणी ही बहुत है। वह तुर्की-ब-तुर्की जवाब देते हुए धमकी के साथ अपना मांग-पत्र प्रस्तुत करती हैं–

मुझे कौन बहकाएगा, मैं
सब जग को बहका आऊंगी,
बात बनाओ नहीं, कदम अब
हरगिज पीछे नहीं धरूंगी।

मेरी मांगें तीन हैं, पहली–
रुपया-पैसा मैं रक्खूंगी।
कुल आमदनी का हिसाब
धेला-धेला तुमसे पूछूंगी।
मांग दूसरी है कि–काम
मेरे में दखल न दे पाओगे,
बात-बात में टांग अड़ाना
नहीं सहूंगी, नहीं सहूंगी।
मांग तीसरी है कि–तुम्हें
घर में भी हाथ बंटाना होगा।
दाल बनाना, चून छानना,
कल से चाय बनाना होगा।

पहले यह मंजूर करो,
पत्नी इस घर में दास नहीं है,
ब्यास-फ्यास कुछ नहीं, तुम्हें
बस, 'बीबीदास'' कहाना होगा।

इस झगड़े का पंच फैसला
भइया जब तक जांच न लेंगे,
तब तक समझौते की शर्तों
पर मैं हामी नहीं भरूंगी।
मैं भी अब हड़ताल करूंगी।

आप भले ही पति को स्त्रैण कह लें या हैंडपैक्ट, वास्तविकता यही है। यही उसकी नियति है कि बातों में चाहे जितना मधुरस और विनम्रता घोलकर वह पत्नी के साथ वाक्-मैदान में उतरे, पराजय हमेशा पति के हाथ ही लगती है। आप मानें न मानें, छाती फुलाकार लाख प्रतिवाद करें, लेकिन असलियत यही है कि पति नाम का प्राणी तो घर का बंधुआ मजदूर है। उसका दायित्व है दिन-रात खटना। काम करना और कमाना। पत्नी गृहिणी है, घर की मालकिन है। मतलब कि गृह-स्वामिनी है। खर्च करने का अधिकार उसका है। लॉ एंड आर्डर, यानी कानून और व्यवस्था उसके हाथ में है। उसके विरुद्ध जाने पर पति को आंसुओं के खारे पानी में डूब मरना होता है या तनहाई की सजा भुगतनी होती है। इस स्थिति को मेरे पति दोस्तो, रोकर नहीं, हंसकर झेलो। तभी जीवन का यह तीन अंकोंवाला नाटक सुखांत बन सकता है। पश्चिम की नकल न करो। जीवन को कॉमेडी बनाओ, ट्रेजेडी नहीं। यही मेरे पत्नीवाद का सार है। यही पत्नीव्रत की परम शिक्षा है। आदि-आदि।

हां तो बात संवाद से शुरू हुई थी। उम्मीद लगाई होगी आपने कि संवादों की नाटकीयता आपमें हर्ष-पुलक का संचार कर देगी। लेकिन नाटक तो नाटक ही है। उसके संवादों में एकरसता नहीं होती। वह जोशीले भी होते हैं और नर्मीले भी। वह मीठे भी होते हैं और तीखे भी। उनमें कटाक्ष भी होते हैं और लाग-डांट भी। यह छेड़छाड़ तो उनका अभिन्न अंग है ही। लेकिन पति-पत्नी के संवाद आदि में कुछ, मध्य में कुछ और अंत में कुछ के कुछ हो जाते हैं। वह देखते ही देखते चकल्लस, चेतावनी और उपदेशों का रूप ग्रहण करने लगते हैं। 'वे' सुन न लें तो कहूं– ऊबाऊ हो जाते हैं। ठीक उस तरह जैसे आज का बुद्धिजीवी कलाकार कुछ समय बाद संवाद क्या, संवादिनी से भी ऊब उठता है।

लेकिन भारतीय परिवारों में कुछ ऐसे हैं जो बतरस के प्यारे पात्र हैं। साली की चर्चा पहले कर चुका हूं। सलहज की आगे करूंगा। इस समय तो इस लेख का सुखद समाहार करने के लिए अपनी वाक-विदग्धा भाभी के बतरस का ही कुछ आनंद आपको देना चाहता हूं–

"भाभीजी नमस्ते !"
"आओ लाला, बैठो।" बोलीं भाभी हंसते-हंसते।
"भाभी, भइया कहां गए हैं ?" "टेढ़े-मेढ़े रस्ते।"
"तभी तुम्हारे मुरझाए हैं, भाभीजी, गुलदस्ते।"
"अक्सर संध्या को पुरुषों के सिर पर सींग उकसते।
रस्सी तुड़ा भाग ही जाते, हारी कसते-कसते।"
"लेकिन सधे कबूतर भाभी, नहीं कहीं भी फंसते।
अपनी छतरी पर ही जमते, ज्यों अक्षर पर मस्ते।"
"भाभीजी नमस्ते !"

अपनी भाभी के साथ कौन कवि ऐसा बतियाया है ? मैं नहीं जानता। किसने अपनी

पत्नी के साथ हास-परिहास का जीवन जिया है और व्यंग्य-विनोदपूर्ण बतरस का स्वाद मुझसे पहले इस तरह अखंड रूप में लिया है ? मुझे पता नहीं। अगर ऐसा कोई महाभाग हो तो उसे मेरा प्रणाम पहुंचे। माना मैंने कहानी नहीं लिखी। लेकिन कविता में कहानी अवश्य कही हैं। नाटक लिखते-लिखते रह गया। लेकिन अपने को हीरो और 'अपनी' को हीरोइन बनाकर कथोपकथनों का प्रयोग अवश्य किया है। माना है कि संवाद विवाद की जड़ नहीं, स्वाद और रसवाद के सुवासित पुष्प हैं। अंत में यह कि मैंने चना-मटर की खेती नहीं की। हल चलाकर (व्यंग्य-विनोद की) नई जमीन भी नहीं तोड़ी। लेकिन इतना अवश्य है कि मैंने उसकी एकतानता अवश्य तोड़ी है और संवाद इसमें सबसे अधिक सहायक सिद्ध हुए हैं। क्योंकि मेरा मानना है कि रस नौ नहीं, दस हैं। इसकी बजाय यों कहना ठीक होगा—बाकी सब बुढ़भस, रसों में रस बतरस।

■

पूज्य चाचाजी पं. गोपालप्रसाद व्यास इस देश के हिन्दी परिवार के किंवदन्ती पुरुष हैं। उनकी जितनी वंदना की जाए कम है। मुझ जैसे लोगों के भूत-भविष्य-वर्तमान सभी को उन्होंने अपनी मनीषा के स्वर्ण स्पर्श से चमकदार बनाया है। उन्हें मेरे शत-शत वंदन-अभिनंदन।

—बालकवि बैरागी

नारी-सत्ता की जय हो !

कहते हैं कि हर पुरुषार्थी और प्रतिभावान कलाकार के पीछे एक नारी होती है। कहावत के 'पीछे' शब्द पर मुझे आपत्ति है। कहना यह चाहिए और वास्तविकता भी यही है कि नारी पीछे नहीं, आगे होती है, मतलब कि सामने होती है, जिसके प्रकाश से पुरुष-कमल खिलता है। सूर्यमुखी की तरह वह भी नारी के मुख की ओर रुख करता हुआ घूमता है। क्योंकि मैं न उतना पुरुषार्थी हूं और न चाहिए उतना प्रतिभावान, इसलिए मेरे साथ उलटा है। मेरे आगे-पीछे एक नहीं, बहुत सारी नारियां है। आगे भी-पीछे भी। दाएं भी-बांए भी। नीचे भी-ऊपर भी। घर भी-बाहर भी। मुझे पुरुष तो दिखाई ही नहीं देते। जहां देखो, तहां नारी। जल में, थल में, जड़ में, जंगम में, धरती पर, आकाश में मुझे देवताओं के नहीं, देवियों के ही दर्शन होते हैं। वे नयनों की राह से हृदय में घुस-घुस जाती हैं और कहती हैं–हम पत्नी ही नहीं, प्रेयसी भी हैं। कुमारी या सुकुमारी ही नहीं, उमा, रमा,शारदा ही नहीं, ऐसी लक्ष्मी भी हैं कि तुम्हारे कवि कहते हैं–

> *"जय सिंधु-सुते कमले वर दे !*
> *जय शंखधरे ! जय चक्रधरे !*
> *जय पद्मधरे ! जय गदाधरे !"*

कवि कहते हैं कि मैं नारायणी हूं। तुम्हारे नारायण की ही नहीं, तुम्हारी संपूर्ण जाति, यानी नर की संरक्षिका हूं। मेरी अकृपा से तुम्हारा जीवन नरक भी हो सकता है, तुम नराधम भी हो सकते हो और मेरी कृपा पाकर तुम नरोत्तम भी बन सकते हो।

पत्नी-प्रसाद के सुफल पाकर, उसके पद्म-पत्रों की पंखुरियां गिनते-गिनते, उसकी कमल-नाल के सहारे मैं जड़ तक पहुंच गया। वहां मुझे कीचड़ नहीं, असंख्य मणि-राशि बिखरी हुई मिली–नारी ! नारी ! ! नारी ! ! !

उन दिनों हास्यरस के प्रख्यात मंचीय कवि ओमप्रकाश 'आदित्य' मेरे नए-नए शिष्य

बने थे। प्रारंभ में हर शिष्य के मन में बड़ी सेवा और श्रद्धा का भाव रहता है। कहा "आज्ञा कीजिए।"

मैंने कहा—"गणेश बनो और लिखो।" वह लगातार तीन दिन आए। तीन-तीन घंटे की बैठकों में यानी केवल नौ घंटे में मैंने उन्हें नारी-महिमा के तीन सर्ग लिखवाए। पुस्तक तैयार हो गई। नाम रख दिया— 'अनारी-नर'। मैंने इसे भाई दिनकर, विष्णु प्रभाकर, विजयेन्द्र स्नातक और श्रीमती कमला 'रत्नम' को सुनाया। और भी कई आलोचक मित्रों ने इसे छपने से पूर्व पढ़ा। निर्णय हुआ कि सौ पृष्ठों की यह पुस्तक खंड-काव्य की सभी परिभाषाओं और आशाओं को पूरा करती है। इसमें ऋतु-वर्णन है। नख-शिख है, माहात्म्य है, महिमा है, कथा है, कथोपकथन हैं, विनोद तो है ही, संपूर्ण पुस्तक अपने-आप में व्यंग्य भी है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अन्योक्ति, वक्रोक्ति के साथ-साथ कल्पना-विहार भी है। सबसे बड़ी बात यह कि इसमें समसामयिक युगबोध भी है। संस्कृति, साहित्य, समाज तथा राजनीति में व्याप्त अधोगति पर कशाघात भी है। आदि-आदि। सुनकर मुझे बहुत अच्छा लगा। परंतु मैं इसे खंडकाव्य नहीं, अखंड-काव्य कहना चाहता था। लेकिन किसी ने इसे स्वीकार करके नहीं दिया। मैं इसे पत्नी का विराट दर्शन कहना चाहता था। मित्रों ने कहा कि यह छोटे मुंह बड़ी बात होगी।

यह खंड या अखंड-काव्य संयोग से उस समय लिखा गया जब फिल्म-तारिकाओं में नरगिस की धूम थी। नरसिंह राव तब राजनीति के क्षितिज पर नहीं उभरे थे। श्रीमती इंदिरा गांधी पूरे तेज-बल के साथ भारत-साम्राज्ञी थीं। लंका में श्रीमावो भंडारनायके और चीन में माओ की पत्नी का दबदबा था। एक्विनो तो तब तक नहीं उभरी थीं, लेकिन ब्रिटेन में श्रीमती थैचर का रुतबा कायम हो गया था। इस सब को देखते हुए भारत की नारियों में भी नई चेतना आई थी। हजारों महिलाओं ने अपने नाम इंदिरा ही नहीं रख लिए थे, स्वयं को इंदिरा ही समझने लगी थीं। लोग नानाराव पेशवा को भूल गए थे और झांसी की रानी लक्ष्मीबाई फिर से जी उठी थीं। गांधी और नेहरू की जय के नारे उनकी जयंतियों तक सीमित हो गए थे। वातावरण में सर्वत्र इंदिरा गांधी की जय छाई हुई थी। घर-घर में नारियां पुरुषों को डांट रही थीं—खबरदार ! राज इंदिरा गांधी का है। तब मैंने लिखना प्रारंभ किया—

राधा को मैंने आराधा,
गांधी से छुट्टी पाने पर।
मर्दों से उठ विश्वास गया,
शास्त्रीजी के उठ जाने पर।
अब नारी का युग आया है,
पुरुषों के पुरखो, सावधान !
नर से लेकर वानर तक की,
आएगी अक्ल ठिकाने पर।

गणराज्य किंतु गणपति गायब,
गणिका बन बैठी कलाकार।
कविगण दिन में तारे गिनते,
आ रही तारिका पर बहार।

युग योगेश्वर का बीत गया,
दिन मर्यादापति के बीते।
रावण से लेकर रामचंद्र,
चिल्लाते हैं—सीते ! सीते !!

इसलिए बदलकर अपना स्वर,
मैं 'व्यास' उठाकर अपना कर।
कहता हूं—वंदो, याद रखो,
नारी के बिना अनारी नर।

मैं महाकवि नहीं बनना चाहता। क्योंकि 'महा' शब्द को ब्राह्मण के साथ जोड़कर विप्र-वंश का अवमूल्यन किया गया है। इसलिए बड़ा शब्द चलेगा। बड़ा कवि कहलाने के लिए पांडित्य-प्रदर्शन करना बहुत जरूरी होता है। मैंने भी नर-नारी की तुलना में इसका प्रदर्शन किया है कि लोग मान जाएं कि गोपालप्रसाद के पहले पंडित लगाने में कोई हर्ज नहीं है। लिखा—

नर पिंगल, काव्य-गणित रूखा,
नर दग्धाक्षर, नर रसाभास।
ग्रामीण कथन, पुनरुक्ति दोष,
नर छंद-भंग, अश्लील हास।

नर दो सतीर का दोहा है,
लेकिन नारी है चौपाई
नर कवित रसातल को पहुंचा,
गीतिका राष्ट्रकवि ने गाई

नर अनुप्रास, प्रस्तार, यमक,
नारी यति, गति, लय, मात्रा है।
है पुरुष मील का ही पत्थर,
नारी जीवन की यात्रा है।

अब प्रकृति-वर्णन की नारी-संदर्भित कुछ पंक्तियों पर नजर डाल लीजिए—

ओठों की क्यारी में गुलाब,
लट-लता लहरती बलखाती।

"द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र,"
नारी वसंत बनकर आती।

झूलों की पींगों पर मल्हार,
चातक-स्वर में पी-पी पुकार।
वर्षा का नहीं, शुष्क नर-मरु,
यह है नारी का चमत्कार।

चंदा को देती है किरनें,
तारों को देती विमल हास।
चकवे-मनुजों को विरह-व्यथा,
कवि को देती वाणी-विलास।

इस काव्य से अहिन्दीभाषी लोगों की एक सबसे बड़ी कठिनाई दूर हो सकती है। हिन्दी जाननेवाले अहिन्दी क्षेत्र के लोग हिन्दी के लिंगायतपन से परेशान हैं। उनकी समझ में यह नहीं आता कि कौन शब्द स्त्रीवाचक है और कौन पुरुषवाचक। और कुछ न सही, इस दिशा में तो इस काव्य के योगदान को नकारा नहीं जा सकता। नारी के नख-शिख वर्णन को ही लीजिए, एड़ी से चोटी तक नारी ही नारी है–

है एड़ी शब्द नारि-वाचक,
मन्मथ ने एड़ लगाई है।
पिंडली में नारि समाई है,
फिसलोगे नर चिकनाई है।

नर-घुटना, घुटने टेक गया,
कंचन जंघाओं के आगे।
लापता कमर की खोजबीन में,
कवि फिरते भागे-भागे।

कुछ नाभि-सरोवर में डूबे,
कुछ फिसल गए कुच-श्रृंगों से।
कुछ वाहु-लताओं में उलझे,
नर-कंध झुके भिखमंगों से।

है ग्रीवा (नार) नारि-वाचक,
ठोड़ी उनकी ठकुराई है।
लो, नाक खुदा ने पहले से ही,
स्त्री-लिंग बनाई है।

मुंह बंद हुआ, सिल गए ओंठ,
है दांत निपोरे लाखों ने।
नर कान पकड़कर बोल उठा—
जी, सितम ढा दिया आंखों ने।

लट स्वयं नारि-वाचक भाई,
इसमें योगीजन लटक गए।
चोटी लहराई जब उनकी,
चोटीवाले सिर पटक गए।

नर बेचारे की क्या हिम्मत जो अक्षर में, शब्द में, भाव में, अभाव में अपने बातूनी पुरुषार्थ को लेकर नारी के फौलादी यथार्थ से टक्कर ले सके। गौर फरमाइए—

जिस नर ने ना-ना सुनी नहीं,
ना 'री-री' का सुख पाया है।
वह नर है नहीं, नराधम है,
या नरक भोगने आया है।

नर डबल हुआ तो नारा है,
मिसप्रिंट हुआ तो मारा है।
दर-दर फिरता बेचारा है,
'हर' भी नारी से हारा है।

नारी से नर को मिले 'डिनर,'
अन्यथा मेज पर भनर-भनर।
हो जाती घड़ी खड़ी सहसा,
मिस्त्री कहता है—गया 'फनर'।

नर तो नरकुल है, बांस निरा,
उसका जग-जीवन निष्फल है।
'नर' 'नीरो' है, नारी नीरा,
नारी मांगलिक 'नारि'यल है।

इस काव्य में मैं शब्दों से बहुत खेला हूं। चाहे वह शब्द नर हो या नारी हो अथवा मार हो। मैंने स्थान-स्थान पर अपनी बहुज्ञता का बोझ, नहीं-नहीं, शब्द-लालित्य के कुंडल अपने पाठकों को पहना ही दिए हैं। देखें—

तोड़ा 'अनार' तो नार मिली,
कचनार खिली तो नार खिली।
रतनार हुई उनकी आंखें,
अपनी आंखों को नार मिली।

है नार बनारस के उर में,
वह नारनौल में है आगे।
जब से पीछे पड़ गई नार,
फिरते सुनार भागे-भागे।

गिरनार चढ़े तो नार चढ़ी,
पौनार बढ़े तो नार लड़ी,
कश्मीर चिनार कतार खड़ी,
दिल्ली में क़ुतबमिनार अड़ी।

बस, एक रह गई है छिनार,
तो हमको उससे क्या लेना ?
भगवान, 'अशर्फी' बनी रहे,
तुम घिसी चवन्नी मत देना।

नर की तुलना में नारी की श्रेष्ठता को सिद्ध करने में मैंने भांति-भांति के अनुसंधान किए हैं। नर को ग़म कहा और नारी को बेगम, नर को जड़ कहा यानी मूल कहा, लेकिन नारी को मूली, सेम, मटर, गुलकंदी और आनंदी कहा। नर को खोया कहा और नारी को तरह-तरह की मिठाइयां बताया। इतना ही नहीं, यह भी कहा कि नारी दीवाली है और नर दीवाला। नारी मय है और नर मयखाना। इन लौकिक तुलनाओं के अंत में कवि इस निष्कर्ष पर पहुंचा—

नारी वीणा है, वाणी है,
पुस्तक है, कलम, कहानी है।
कृति है, कविता रस-दानी है,
इंद्राणी है, रहमानी है।

वह इंच-इंच पर बैठी है,
चौड़ाई में, लंबाई में,
धरती से नभ की गंगा तक,
नीचाई में, ऊंचाई में।

कांटा गुलाब में पाओगे,
कलियों में नाग नहीं होगा।

चंदा में पाओगे कलंक,
बिजली में दाग नहीं होगा।

आकाश की चमकती बिजली को छोड़कर घर को प्रकाशित करनेवाली बिजली की ओर लौटिए और गांठ बांध लीजिए कि–

नारी पोथी, नर पन्ना है
नर फाड़ा हुआ रवन्ना है।
नारी है सोने की गिन्नी,
नर चलता नहीं अधन्ना है।

शायरी नारि, कविता नारी,
डायरी नारि है नेता की।
पूंजी है वह पूंजीपति की,
नारी है जीत विजेता की।

नारी मशीन, नर पुर्जा है,
वह भी कंडम है, घिसा हुआ।
नारी भारी महंगाई है,
नर है अभाव में पिसा हुआ।

नारी पार्टी है, राजनीति,
नर आंदोलन है, चंदा है।
नारी नेहरू की बेटी है,
नर तो बेचारा नंदा है।

नारी की महिमा का कहां तक बखान करें ? किस-किससे तुलना करें ? और किस-किससे उपमा दें ? जगजीवन का कोई भी क्षेत्र तो ऐसा नहीं जिस पर नारी ने सवारी न गांठी हो। बस, नारी-महात्म्य की कुछ पंक्तियां और–

नारी निष्ठा, नर कर्म-कांड,
नर योग, साधना नारी है।
नर काम, कामना नारी है,
नर भक्त, भावना नारी है।

उनकी कुरान भी नारी है,
इनकी गीता भी नारी है।
उनकी मस्जिद भी नारी है,
इनकी मूरत भी नारी है।

है उषा नारि, है दिवा नारि,
संध्या नारी, रजनी नारी।
है अमा नारि, चांदनी नारि,
स्वर्गंगा नारी सुखकारी।

अणिमा नारी, गरिमा नारी,
लघिमा औ महिमा नारी है।
यति-गति-तुक-ताल-वृत्ति नारी,
कवि की कविता भी नारी है।

नारी काया है, माया है,
नारी जननी है, जाया है।
भागोगे कहां ब्रह्मचारी ?
नारी ने जाल बिछाया है।

प्रस्तुत संग्रह के एक खंड में एक अति आधुनिका नारी और लाचार पुरुष की एक छोटी-सी कहानी भी लिखी गई है। इसमें पति दुमदार है और पत्नी दमदार। पति पत्नी के प्यारे कुत्ते रोमी से ईर्ष्या भी करता है तथा पत्नी के बाहर रहने पर रोमी से मन की व्यथा भी कहता है। पत्नी के लौटने पर कुत्ता उससे लिपट जाता है। पत्नी उसे प्यार करती, दुलराती हुई अपने बेडरूम में चली जाती है। पति बेचारा अलग कमरे में कभी छत में टंगे पंखे को देखता है, कभी छत को। क्योंकि कमरे में तारे तो दिखाई देते नहीं। यह पद्य-कथा पढ़ने लायक है, लिखने लायक नहीं। मिल जाए तो पुस्तक में पढ़ लेना। पर पढ़ोगे कहां से ? पुस्तक तो अप्राप्त है। मैं हिन्दी भवन के ईंट, सीमेंट और लोहे के लिए दर-दर भीख मांगता फिर रहा हूं। अपनी पुस्तकों को पुनः प्रकाशित कराने के लिए मेरे पास समय भी नहीं बचा है। इसीलिए मैंने इस लेख को लंबायमान करते हुए इतने पद्य पेल दिए! परंतु जो नारी-आंदोलन का प्रसंग है, उसे अवश्य कहूंगा। पत्नी, यानी गृहिणी, अब घरेलू नहीं रही। नारी-आंदोलन की शंखध्वनि उसके कानों तक भी पहुंच गई है। समाजसेवी नारियों ने उसके हृदय में भी पुरुष की दासता के विरुद्ध विद्रोह की चिनगारी सुलगा दी है। उसे अपने पिछड़ेपन का भी ज्ञान हो गया है। पुरुष के अहम के विरुद्ध उसने भी मुट्ठी तान ली है। पुरुष के नारी-महिमा-बखान के थोथेपन को वह समझ गई है। पुरुष की कथनी और करनी में कितना अंतर है, यह जान गई है। वह दासी नहीं है। रोटी, कपड़ा और मकान के एक कोने के लिए वह अब बंधुआ मजदूर नहीं रहेगी। नेत्रियों ने उसे उसके अधिकार समझा दिए हैं। बहुत हुआ, अब वह भी सड़कों पर आएगी और संघर्ष करेगी। इस संघर्ष की कहानी इस प्रकार प्रारंभ होती है–

आज नगर में कोलाहल,
नर-नारी दोनों व्याकुल।

कोने-कोने में पर्चा,
घर-घर में जिसकी चर्चा-

"नर ने जो अन्याय किया,
नारी को निरुपाय किया।
उसका प्रतिशोधन होगा,
नर का अवरोधन होगा।

आज शाम को पांच बजे,
नारी पति-सुत-गेह तजे।
दिल्ली दरवाजे आए,
एक साथ मिलकर गाए—

नारी नहीं झुकेगी अब,
नारी नहीं रुकेगी अब।
नर के शासन का क्षय हो।
नारी-सत्ता की जय हो !"

जब दिन-दिन छोटी होती हुई दुनिया में नारी-जागरण के स्वर उसके दरवाजे पर भी आ गए हों तो वह दिन हवा हुए जब नारियां ऐसे नारों और जुलूसों को सुनने और देखने के लिए खिड़कियों से झांका करती थीं। छतों और छज्जों पर बैठ जाती थीं। बड़ी-बूढ़ियां कोसा करती थीं कि "गांधी तो मर गया, लेकिन हमें मार गया। आजादी देश को तो क्या मिली, नारियों को मिल गई है। रंडा मूंड़ फकेरे बाहर घूमती हैं। दिन भर गायब रहती हैं।" कल की नारी ऐसे तानों को कर्कश गानों की तरह सुन लिया करती थीं। लेकिन आज उसने नहीं सुना। वह भी नारी-स्वातंत्र्य के लिए साड़ी बदलकर घर से चल पड़ी। कैसे चली—

चलीं चप्पलें—चट-चट-चट !
ऊंची एड़ी—खट-खट-खट !
शोर हुआ—जूतियां चलीं,
नवयुग की दूतियां चलीं।

चितवन चली बोलती-सी,
वेणी चली डोलती-सी।
सुरभि लुटाते चले दुकूल,
फूल चले जूड़े के फूल।

निकस पुरुष की फूंक चली,

नारी हो बंदूक चली।
किया मियां ने यदि झंझट–
"अरे मर्दुए, पीछे हट !"

• आधी दुनिया की आंधी में पुरुष का अहम तिनके की तरह उड़ गया। जब जनता, नेता, सरकार और विश्व-भर की संस्थाएं नारी-जागरण का बिगुल बजा रहे हों, जब सभ्य कहलाने को पुरुष भी अपनी बुद्धिमत्ता और जागरूकता का परिचय देने के लिए नारी के अधिकारों का समर्थन करने लगे हों, कानून-पर-कानून बन रहे हों, तब पति ने यही उचित समझा कि वह गांधी का बंदर बन जाए। कानों में अंगुली डाल ले, ओठ सीं ले और आंखें मूंद ले। वह कितना ही हीन हो चला हो, लेकिन अभी उसमें इतनी समझ नहीं आई कि वह नारियों के इन तुमुल प्रहारों को आसानी से पचा ले–

नर नारी का बच्चा है,
सदा अकल का कच्चा है।
नर, नारी से बौना है,
उसके लिए खिलौना है।
यदि नारी से जूझेगा,
जो न बात को बूझेगा।
अगर खिलौना रूठेगा,
तो टकराकर टूटेगा।

किस्सा कोताह यह कि झुंड के झुंड, नारियों के दल-बादल सभास्थल पर आकर जम गए। यहां की बातें यहां ही रह गईं, अब आगे का सुनो हवाल–

जग मे ज्योति जगाने को,
भव से भ्रांति भगाने को।
पुरुषोत्तमा पधारी है,
नारि नहीं, चिनगारी है।

नेत्री नवल निराली ये,
देवी हिम्मतवाली ये।
पुरुष वर्ग पर पाला ये,
साठ वर्ष की बाला ये।

बहनो, करतल-ध्वनि कर लो,
पुरुषो, पहला उत्तर लो।
ठुनको मत, अब ठनती है,
नारि सभा-'पति' बनती है।

"आएं देवि, विराजें अब,
सिंहासन पर राजें अब।
व्यक्त भव्य उदगार करें,
प्रथम हार स्वीकार करें।"

सिंहासनासीना पुरुष नहीं, पुरुषोत्तमा थीं। वह न हार माननेवाली थीं और न हार स्वीकार करनेवाली थीं। उस सदाबहार ने पुरुष जाति पर प्रहार करते हुए अपना भाषण प्रारंभ किया–

"सुनो-सुनो, अब माताओ !
बहनो, भाग्य-विधाताओ !
जाति-धर्म संकट में है,
खतरा बड़ा निकट में है।

हमने नर को जन्माया,
पाला, पोसा, पनपाया।
देह नहीं, शिक्षा भी दी,
उसे प्रणय-भिक्षा भी दी।

शिशु को दूध, युवक को तन,
बूढ़े, रोगी को श्रम-कण।
दिया हौसला कायर को,
शेर सुझाए शायर को।

उसको कला-कल्पना दी,
अपने लिए जल्पना ली।
श्री-शोभा से युक्त किया,
घर-झंझट से मुक्त किया।

जन्मा–खुशियों में खोई,
मरा–बैठकर हम रोई।
हम नर पर मिट धूल हुई
किंतु बड़ी ये भूल हुई।

नर के बिगड़ दिमाग गए,
पलट हमारे भाग गए।
कैसा नमक-हरामी है ?
हम दासी, वह स्वामी है।

बहनो, उठो ! कमर बांधो,
युद्ध निकट है, शर साधो !
हक को हासिल करना है,
वह न मिले तो मरना है।"

आप जानते ही हैं कि भाषण एक बुरी बला है। जब एक बार शुरू हो जाता है तो खत्म होने की लाचारी नहीं दिखाता। खाड़ी युद्ध की तरह वह लंबायमान होता चलता है। मैं भी इस युद्ध के प्रेक्षपणास्त्रों से डरा हुआ हूं। रस की बजाय रासायनिक अस्त्र आदि इस कविता-यात्रा पर चल पड़े तो लेखक और प्रकाशक दोनों को सद्दाम और बुश की तरह नुकसान उठाना पड़ सकता है। तेल की महंगाई की तरह कागज की मंहगाई भी बढ़ेगी। अखबारों से लेकर पुस्तकों तक के पन्नों में स्वेच्छा या अनिच्छापूर्वक कटौती हो जाएगी। इसलिए युद्ध जल्दी समाप्त हो, इस कामना से मैं भी इस लेख को जल्दी समाप्त करना चाहता हूं। केवल एक अंश और–

हम जनसंख्या में आधी,
हमसे जग की आबादी।
अल्पसंख्यकों को राहत,
'आधी दुनिया' मर्माहत !

नारी घर में काम करे।
नर बैठा आराम करे ?
नारी चौके-चूल्हे में।
नर है फूले-फूले में।

अब यह सहन नहीं होगा,
हमसे वहन नहीं होगा।
नारि-जाति भी जागी है,
उसने गोली दागी है।

बहस करो मत बाधा दो,
अर्द्धांगिनी को आधा दो।
आधा घर का काम करो,
मत पौरुष बदनाम करो।

भाषण चल ही रहा था कि कुछ आंतकवादी किस्म के पुरुष अपनी पर आ गए। उन्होंने बिजली का कनेक्शन काट दिया। माइक का स्वर बंद हो गया। रात हो आई थी। अंधेरा हो गया। नारियों को नक्सलवाद याद आने लगा। नारियां आपस में बात करने लगीं–अब क्या होगा ? कैसे घर पहुचेगी ? सभा में बैठी नारी को अब घरबार की सुधि आई। भाषण विस्मृत हो गया। हेलीकोप्टर जमीन पर आ गया। वे आपस में बतियाने लगीं–

सुमन कंटकित हो आई,
शीला व्याकुल चिल्लाई–
"पप्पू घर रोता होगा।
जाने क्या होता होगा ?"

"पहले नहीं कही मो से,"
संतो लड़ी वसंतो से–
"वे घर में आए होंगे,
वेहद चिल्लाए होंगे।"

रजनी वोली–"सुन, रीता,
यह तो वहुत वुरा वीता !
आज मुहल्ला डोलेगा,
कौन किवाड़ें खोलेगा ?"

मधु का यह पछताना था–
"खाना मुझे वनाना था।
नल जाने वाले होंगे,
वे आने वाले होंगे।"

फूलमती भी फूल गई–
"हम आई क्यों ? भूल हुई !
सास मकान उठा लेंगी,
पुरुषोत्तमा वचा लेंगी ?"

आगे क्या हुआ ? यह हमें नहीं मालूम। ठीक उसी तरह कि जैसे आज के पुरुषों को यह नहीं पता कि इस नारी-आंदोलन का क्या हश्र होगा ? या आज के राजनीतिक कयास लगानेवालों को यह ज्ञात नहीं कि मध्यावधि चुनाव होंगे या नहीं ? आज के प्रधानमंत्री कितने दिन के हैं और नया प्रधानमंत्री कितने दिन बाद आएगा ? इसलिए इन व्यर्थ की चिंताओं को छोड़कर अपने घर-परिवार की महिलाओं सहित समस्त नारी जाति को प्रणाम करते हैं और पुस्तक की अंतिम पंक्ति को उद्धृत करते हुए इस लेख को यहीं समाप्त कर रहे हैं कि नारियां, यानी–"ये सब मुझ पर अनुकूल रहें, प्रभु, कुछ न चाहिए मुझे और।"

हम तौ पाया परम पद पत्नी के परताप

पुरुष जो विवाहित है, उनकी दो किस्मे है। एक वे जो पत्नी-परायण है और दूसरे जो पत्नी-प्रताडित है। कहने को ही पत्नी चरणो की दासी है, परतु उसकी भी दो किस्मे हैं। एक वह जो पति के प्रेम की प्यासी है और दूसरी वह जो गले की फासी है। भले ही कुछ पत्निया पति के पाव पलोटती हो, लेकिन जेसे अगुली पकडकर पोहचा पकडा जाता है, वैसे पत्निया पहले पाव छूती है ओर फिर पिडलिया मसकती है एव उसके बाद अपने अतिम लक्ष्य तक पहुचती है, यानी सिर पर सवार हो जाती हैं। लोग कहते आए है कि पत्नी पुरुष की छाया है। होती होगी कभी छाया, आज तो पत्नी आगे-आगे ओर पुरुष छाया की तरह पीछे-पीछे। लोग उसे अर्द्धागिनी कहते है-गलत। वह तो सर्वागिनी है। अनुगामिनी नही, अग्रगामिनी है। आजकल जो नारिया समानता का अधिकार माग रही है, यह तो आदोलन का प्रथम चरण है। हो न हो यह आदोलन एक दिन असहयोग से प्रारभ होकर "आजादी हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' का नारा लगाते हुए पूर्ण स्वराज प्राप्त करके ही दम लगा। पुरुषपरक समाज गोरो की साम्राज्यशाही की तरह बिस्तर-बोरिया बाधकर हमेशा के लिए विदा हो जाएगा। बहुत चल लिया पुरुष-प्रधान समाज। साहित्य, अध्यात्म और अवतारो मे पुरुषोत्तम की कल्पना। समय का चक्र गतिशील है। सावधान ! अब मातृपरक समाज, यानी पत्नीपरक व्यवस्था के दिन बहुत दूर नही है। इसीलिए मैने कहा है-

पत्नी को परमेश्वर मानो।
यदि ईश्वर मे विश्वास न हो,
उससे कुछ फल की आस न हो,
तो अरे नास्तिको, घर बैठे,
साकार ब्रह्म को पहचानो।
पत्नी को परमेश्वर मानो।

वे अन्नपूर्णा, जग-जननी,
माया हैं, उनको अपनाओ,
वे शिवा, भवानी, चंडी हैं,
कुछ भक्ति करो, कुछ भय खाओ।
सीखो पत्नी-पूजन-पद्धति,
पत्नी-अर्चन, पत्नीचर्या,
पत्नीव्रत पालन करो, और
पत्नीवत शास्त्र पढ़े जाओ।
अब कृष्णचंद्र के दिन बीते,
राधा के दिन बढ़ती के हैं,
यह सदी बीसवीं है, भाई।
नारी के ग्रह चढ़ती के हैं।
तुम उनका छाता, कोट, बैग ले,
पीछे-पीछे चला करो,
संध्या को उनकी शैया पर
नियमित मच्छरदानी तानो।
पत्नी को परमेश्वर मानो।

ऐसी अनेक कविताएं जब मैंने लिखीं और लिखता ही चला गया तो मेरे नाम के साथ 'पत्नीवाद' जुड़ गया। लोग मुझे पत्नीवादी कवि कहने लगे। कुछ पत्नीपरक समालोचक भी घोंसलों से निकल आए और उन्होंने खोज कर डाली कि मैं हिन्दी में पत्नीवाद का प्रवर्तक हूं। उनकी भी लाचारी थी। जड़मति कहने का दुस्साहस तो मैं नहीं करूंगा, लेकिन अपनी समझ के अनुसार वे जड़ तक पहुंच अवश्य गए थे। क्योंकि कभी-कभी मैं कविताओं को ऐसा व्यक्तिगत संस्पर्श देता था कि वे इसके अतिरिक्त कुछ सोच भी नहीं सकते थे। एक उद

सोचा था पत्नी पर लिखकर,
कुछ जग में नाम कमाऊंगा।
ये दुनिया पत्नी-पीड़ित है,
कुछ उसको धीर बंधाऊंगा।
फिर अभी हास्यरस के लेखक भी,
इने-गिने मामूली हैं,
हिन्दी के अंधों में मैं ही,
काना सरदार कहाऊंगा।
मैं हंसी-हंसी में कह बैठा,
है उनकी कमर कमानी-सी,
आंखें कमरख की फाकें-सी,

भौहें यमुना के पानी-सी।
वे उठती हुई जवानी-सी,
जब चलती हैं, दिल चलता है,
वे मेरी कला-कल्पना हैं,
हैं रस की स्वयं कहानी-सी।

बताइए, ऐसी लुभावनी छवि प्रस्तुत करने के बाद वे मेरी कविताओं का आधार पत्नी को नहीं मानते तो किसे मानते ? मैंने भी ऐसे समीक्षणों का भरपूर आनंद लिया। पत्नी पर ही नहीं, उनके भाई पर, उनकी बहिन पर, उनके पूज्य पिताजी पर और उनकी माताश्री पर मैंने कविताएं लिखीं। उनकी जिठानी, यानी अपनी भाभी पर भी लिखा। उनकी साड़ी पर ही नहीं, सलवार पर भी लिखा। तब समीक्षक मित्रों ने कहना शुरू किया—व्यास परिवार-रस का कवि है। मैंने ऐसे मित्रों को कुछ अधिक नहीं समझा। कारण कि पहले और अबके भी, व्यंग्य विनोद लिखनेवाले अपने सृजन की प्रेरणा के लिए अपने घर-परिवार और आसपास के समाज को न देखकर कॉफी हाउस को देखते हैं, चौपाटी को देखते हैं, चौरंगी को देखते हैं, हजरतगंज को देखते हैं, कनाट प्लेस को देखते हैं, या फिर उच्च मध्यवर्ग के ड्राइंग से लेकर बेडरूम तक में ताक-झांक करते हैं। वे विवाह करके अपनी गलती पर पछताते हैं। पत्नी पंचायतन के साथ मोद-विनोद तथा व्यंग्य-कटाक्ष की कितनी सरस संभावनाएं है, इस पर उनका ध्यान ही नहीं जाता। परकीया की तलाश में रहते हैं, जो उन्हें प्रायः मिलती ही नहीं। छेड़छाड़ के लिए साली, भाभी और साले जैसे महापात्रों पर भला किस मनहूस की नजर जाती है ? जाती अवश्य होगी, पर वह कलम पर नहीं आती। आए तो तब जब वतरस आता हो। मुझे साला-साली लिखने पर हलका और यदा-कदा अश्लील भी कहा गया है। लेकिन मेरा बड़प्पन देखिए कि अपनी अगल-बगल में और सामनेवाली खिड़की में, राह चलती हुई नवयौवनाओं को ताकनेवाले और छेड़छाड़ करनेवालों को अश्लील हरकत कहने की जुर्रत नहीं करता। क्योंकि धड़ल्ले के साथ जब मैं यह कहता हूं—

तुम श्लील कहो, अश्लील कहो,
चाहो तो खुलकर गाली दो,
तुम भले मुझे कवि मत मानो,
मत वाह-वाह की ताली दो।
पर मैं तो अपने मालिक से,
हर बार यही वर मागूंगा,
तुम गोरी दो या काली दो,
भगवान, मुझे एक साली दो।

कविता लंबी है। हजारों लोगों को याद है। उसे लिखकर फिलहाल आपके मिजाज को रंगीन बनाना मुझे अभीष्ट नही है। सिर्फ जायके के लिए एक बंद और—

साली है रस की प्याली-सी,
साली क्या है, रसगुल्ला है,
साली है मधुर मलाई-सी,
अथवा रबड़ी का कुल्ला है।
पत्नी तो सख्त छुआरा है,
हरदम सिकुड़ी ही रहती है,
साली है फांक संतरे की,
जो कुछ है खुल्लमखुल्ला है।
साली चटनी पोदीने की,
बातों की चाट जगाती है,
साली है दिल्ली का लड्डू
देखो तो भूख बढ़ाती है।
साली है मथुरा की खुरचन,
रस में लिपटी ही आती है,
साली है आलू का पापड़
छूते ही शोर मचाती है।

यह कविता इतनी लोकप्रिय, आई मीन, पॉपुलर हुई कि जब होली के दिन दिल्ली के बाजारों से मेरी मूर्ख महासम्मेलन की सवारी निकलती तो बाजारों के दोनों ओर रामलीला मैदान के चारों ओर हजारों आदमी जमा हो जाते और यार लोग इस कविता की छाप-छापकर, रास्तेभर और पूरे मैदान में जोर-जोर से आवाजें लगाते—"व्यासजी की साली चार आने में !"

साली की महिमा का बखान मैंने ऊपर किया, अब साले का माहात्म्य सुनिए—

हे दुनिया के संतप्त जनो,
पत्नी-पीड़ित हे विकल मनो,
कूंआ प्यासे पर आया है,
मुझ बुद्धिमान की बात सुनो !

यदि जीवन सफल बनाना है,
यदि सचमुच पुण्य कमाना है,
तो एक बात मेरी जानो,
साले को अपना गुरु मानो।

छोड़ो मां-बाप विचारों को,
छोड़ो बचपन के यारों को,
कुल, गोत्र, बंधु, बांधव छोड़ो,
छोड़ो सब रिश्तेदारों को।

छोड़ो प्रतिमाओं का पूजन,
पूजो दिवाल के आले को,
पत्नी को रखना है प्रसन्न,
तो पूजो पहले साले को।

इस भवसागर से तरने को,
साला ही तरल त्रिवेनी है,
भव-बाधाओं पर चढ़ने को
साला मजबूत नसैनी है।

गृह-कलह-कष्ट काटन के हित,
साला ही तेज कतरनी है।
पत्नी भक्तों की माला में,
साला ही श्रेष्ठ सुमरनी है।

इस प्रकार सासूजी की वंदना करते हुए मैंने निवेदन किया—

श्वसुर-प्रिया, सब सुखदाता है,
भव-भयहारिणी विख्याता है,
सुजलाम् सुफलाम् जग गाता है,
सास नहीं, भारत माता है।

लगे हाथ दो पंक्तियां उनके पूज्य पिताजी पर भी—

ससुर खड़े, पत्नी खड़ीं, काके लागूं पांय।
बलिहारी इन पिता की, पुत्री दई गहाय।।

तो भाइयो, मैंने इस प्रकार पत्नी-पंचायतन की निष्ठापूर्वक आराधना की है। मध्य में श्रीमतीजी, उनके दाहिना ओर उनकी माताजी और पिताजी, उनके वामांग में उनकी छोटी बहनजी और बड़े भइयाजी। यह हुई राम-पंचायतन और शिव-पचायतन की तरह पत्नी-पंचायतन। इनका ग्रुप फोटो उतरवाकर अपने शयन कक्ष की सामनेवाली दीवार पर टांग लीजिए तथा तड़के-तड़के पहले इनका चरण-वंदन करके फिर कोई नित्य कर्म कीजिए।

कविताई और है, सच्चाई कुछ और। भाई, मेरे न साली है, न साला है। पत्नी भी वैसी नहीं जैसी कि मैंने कविताओं में चित्रित की है। वैसी भी नहीं जैसी मेरी परिवारवादी कविताओं की नकल कर आजकल लोग लिख रहे हैं। छोटे मुंह बड़ी बात न समझें तो निवेदन करूं कि मेरी ऐसी हर सरस कविता के पीछे कोई न कोई मीठा-तीखा व्यंग्य छिपा हुआ है। पहले मेरी पत्नी-विषयक कविताओं का माध्यम भारत की कुटिल गोरी सरकार थी। मैं पत्नी के बहाने अपनी गोरी के तीर गोरों के विरुद्ध छोड़ा करता था। जैसे—

हे मजिस्ट्रेट महाराज !
हमारी पत्नी पर कंट्रोल करो।
घी, तेल, नमक, शक्कर, सूजी,
माचिस तक पर कंट्रोल हुआ,
तो यही एक क्यों बचे, प्रभुजी !
इसका भी कुछ मोल करो।

अथवा अपनी "ए जी, ओ जी" वाली कविता का तोड़ मैंने यहां किया—

ए कामरेड, घर गवर्मिंट,
मेरी स्टालिन बोलो तो !
मैं चर्चिल कब का खड़ा हुआ,
फौलादी मुखड़ा खोलो तो ?

मैंने अपनी उनकी तुलना मिस्टर जिन्ना से की तो कभी हिटलर से। कभी अंग्रेज वायसरायों से तो कभी पत्नी के माध्यम से गांधी और नेहरू के गुणानुवाद ऐसे गाए कि अंग्रेज शासक बौखला-बौखलाकर रह गए। परंतु मेरी कविता—पत्नी पर हाथ डालना, यानी मेरी ऐसी रचनाओं के विरुद्ध कोई कार्रवाई करना उस समय के भारत रक्षा कानून के अंतर्गत आता ही नहीं था। वर्षों तक ये कविताएं दैनिक 'हिन्दुस्तान' में प्रति रविवार को छपीं और मैंने पराधीनता के समय धड़ल्ले के साथ देश के कोने-कोने में इनका पाठ किया। आलम यह था मेरी पत्नीवादी कविताओं का कि "जग्गो की जीजी याद रही, बेचारे कवि को भूल गए।" मेरे पाठक और श्रोता-समाज में मेरी पत्नी 'जग्गो की जीजी' के नाम से जानी जाने लगीं। उन्हीं दिनों एक घटना हुई—श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित भी इन कविताओं की पाठिका थीं। मुझसे भी उनका खासा परिचय था। एक बार वह अचानक हमारे घर आ गईं। मुहल्ला जुड़ गया। वह खटाखट जीना चढकर ऊपर आईं और हंसकर पत्नी से कहने लगीं कि "ये तुम्हारे बारे में कैसी अंटशंट बातें लिखते हैं ? तुम इन्हें रोकती नहीं ?" जानते हो मेरी पत्नी ने क्या उत्तर दिया ? उन्होंने कहा—"यह तो इनके कमाने-खाने का धंधा है। लोग तरह-तरह से कमाते खाते हैं। ये मेरे नाम से कमा-खा लेते है, तो क्या बुरा है ?" विजयलक्ष्मी पंडित ही नहीं, उन दिनों मेरी पत्नी को देखने के लिए दूर-दूर से लोग आया करते थे और मुझे लिखना पड़ा था—

अब दोस्त पड़े रहते पीछे,
कहते हैं चाय पिलाओ तुम !
वे 'ऐजी-ओजी' कैसी हैं,
हमको भी तो दिखलाओ तुम !
उस 'सोनचिरयूया' की चर्चा
ऐसी घर-घर में छाई है,
बूढे-बूढ़े भी कहते हैं—

अपना घर तो दिखलाओ तुम !
जिनको न कभी देखा, न सुना,
अब उनकी चिट्ठी आती है।
भाई से पहले भाभी को,
आदाब बजाई जाती है।
मेरी बीवी के बांटे में,
देवर ही देवर आए हैं,
यह शकुन नहीं अच्छे, साहब !
तबियत मेरी घबराती है।

ये देवर साहब लिखते हैं–
अब के जब दिल्ली आएगे,
तो अपना डेरा निश्चय ही
वे मेरे यहां लगाएंगे।
यह सौदा तो महंगा बैठा
घाटा है इस कविताई में,
ना, बाबा ! हम ऐसी जोखिम
हरगिज भी नहीं उठाएंगे।

मैं किस-किसको दूं क्या जवाब ?
हर ओर मुसीबत छाई है,
पत्नी का सुंदर होना भी,
सौ आफत की जड़ भाई है।

मैं मित्रो के डर के मारे
स्थान बदलता रहता हूं,
अब किससे दिल का दर्द कहूं ?
एक नई मुसीबत आई है।

पाठकों से मैं सीधी बातें किया करता था। बातें क्या चुहल किया करता था। पाठकं के हृदय में पैठने, नारी-जागरण के साथ-साथ आजादी का अलख जगाने और समाज-परिष्कार की मशाल ऊंची करने में मेरी पत्नीवादी कविताओं ने, उनके कारण रचनाओं में आमोद-विनोद ने तथा व्यंग्य-कटाक्षों ने ही मेरी कविताओं को जन्म दिया है, प्रसिद्धि दी है, पुरस्कृत किया है और दिया है मेरे हास्यरस को नया आयाम भी। क्योंकि मेरी कविता-पत्नी ने मुझसे साफ-साफ कह दिया था–"व्यास-फ्यास कुछ नहीं, तुम्हें बस, बीवीदास कहाना होगा।"

इस बीवीदास ने पत्नी को परमेश्वर मानकर ही संतोष न किया, वरन् तुलसीदासजी की अनुसुइया को भी पलटी मार दी। अनुसुइया ने सीताजी को पातिव्रत्य का उपदेश दिया था। मैंने गोस्वामीजी की शैली में ही पत्नीव्रत पालन करने का परामर्श देते हुए लिखा–

संवत दुई हजार के माहीं।
सीला गई सुसीला पाहीं।।
हाथ मिलाय निकट बैठारी।
चाय-पात्र धरि दियौ अगारी।।
चुसकत चाय सुसीला बोली।
मानहु चोंच कोकिला खोली।।
कहत सुसीला अति मृदुवानी।
'पत्नीव्रत' अब सुनहु सयानी।।
नारि जाति कहँ अति सुखकारी।
पुरुष-धर्म सुन सीला प्यारी।।
बड़े भाग्य विधि नारी देही।
अधम पुरुष जो सेइ न तेही।।
धीरज, धर्म, मित्र भरतारी।
आपदकाल परखिए चारी।।
बूढ़ी, रोगिन, जड़, मतिहीना।
अंधी, बहरी, कलह प्रवीना।।
ऐसिहु तियकर किय अपमाना।
पुरुष पाव यमपुर दुख नाना।।
एकै धर्म, एक व्रत नेमा।
काय-वचन-मन तिय-पद प्रेमा।।
जग पत्नीव्रत चार कहाहीं।
वेद, पुरान, संत अस गाहीं।।
उत्तम, मध्यम, नीच, लघु, सकल कहहु समझाय।
सुनत पुरुष सब भव तरहिं, सुन सीला चितलाय।।
उत्तम के अस बस मन माहीं।
सपनेहु आनि नारि जग माहीं।।
मध्यम पर तिय देखहिं कैसे।
माता, बहिन, पुत्रि निज जैसे।।
धर्म-विचार समुझि कुल रहहीं।
सो निकृष्ट पति श्रुति अस कहहीं।।
बिनु अवसर भय ते रह जोई।
जानहु अधम पुरुष जग सोई।।

पत्नी संग जो पति छल करहीं।
रौरव नरक कल्प शत परहीं।।
क्षण सुख लागि जनम शत कोटी।
दुख समुझे न भई मति खोटी।।
जो पत्नीव्रत छल तजि गहहीं।
बिनु श्रम पुरुष परमगति लहहीं।।
पत्नी-विमुख जनम जहं जाई।
रंडुआ होंहि पाई तरुनाई।।

इसलिए मैं तो ऐलानिया कहता हूं–"हम तौ पाया परम पद पत्नी के परताप"। क्योंकि ऐसा कहकर ही मैं तुलसीदास और कालिदास की श्रेणी में आ सकता हूं!

जब नेताजी सुभाषचंद्र बोस और उनके सैनिक अपने रक्त से सिंगापुर, मलाया, बर्मा और इम्फाल में हमारे देश की आजादी की लड़ाई का अविस्मरणीय इतिहास लिख रहे थे, तब व्यासजी की ये कविताएं ('कदम-कदम बढ़ाए-जा' में संगृहीत) उस समय हिन्दुस्तान दैनिक मे धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुई थीं। ये कविताएं सुनकर नेताजी की माताजी की आंखें गीली हो गई थीं। आजाद हिंद फौज के संघर्षो और लाल किले में आजाद हिंद फौज के अफसरों पर चले ऐतिहासिक मुकदमे ने सारे राष्ट्र को खड़ा कर दिया था। उस युग की राष्ट्रीय चेतना को सशक्त ढंग से अभिव्यक्त करनेवाली तथा राष्ट्रप्रेम, जोश और आक्रोश से ओतप्रोत ये कविताएं नई पीढ़ी को अवश्य पढ़नी चाहिए।

–डॉ. विश्वमित्र उपाध्याय

ससुराल चलो !

जवानी के जोश में मेरी कविता ने ससुराल तक दस्तक दी है। बड़ी सज-धजकर। उछलते हुए छंदों और हास्य बिखेरती हुई तुकों के साथ यह लंबी कविता है। इतनी लंबी कि पुस्तकाकार हो गई है। पुस्तक का नाम है–'ससुराल चलो'। आवाहन है नवविवाहित पतियों को कि "श्वसुर गृह निवासम् स्वर्गतुल्यं नृणानाम्"। कविता की मान्यता है कि धरती पर यदि स्वर्ग है तो वह ससुराल में ही है। व्यक्ति के असली माता-पिता भी ससुराल में ही रहते हैं। वहां विनोद करने को पत्नी का भाई है। छेड़छाड़ करने को सालियां हैं। रोमांटिक सलहज है। अनोखी आवभगत है। राजकुमारों जैसा स्वागत है। समूची ससुराल सेवा में होड़ लगाए तत्पर खड़ी है। गरीब यहां अमीरी का सुख प्राप्त करता है। क्लर्क अफसर बन जाता है। कविता से कोसों दूर व्यक्ति छायावादी हो जाता है। साथ में यह कहावत भी है कि "पहले दिन मेहमान, दूसरे दिन शैतान और तीसरे दिन भी टिक जाए तो हैवान।" इस कविता का अंत एक खिलखिलाते परिहास से होता है। जब कुंवर साहब टलते ही नहीं और पुण्य क्षय हो जाने के बाद यह देवता स्वर्ग में ही डटे रहना चाहते हैं तो सासूजी उन्हें वापस पधारने का संकेत देते हुए कहती हैं कि जी तो चाहता है कि आप जन्मभर यही रहें, पर क्या बताएं, आपके श्वसुर स्वयं आजकल ससुराल में ही रह रहे हैं।

ससुराल की महिमा पर अनेक उक्तियां, छोटे-छोटे श्लोक और कविताएं तो मिलती हैं, लेकिन एक सौ बाईस पृष्ठों के श्वसुरायण का माहात्म्य मैंने ही हिन्दी में प्रस्तुत किया है। अब तो मानोगे ! न मानो तो मत मानो, मैंने तो लिख ही डाला है। न मानकर मेरा क्या कर लोगे ? लेकिन इतना दावा अवश्य करता हूं कि एक बार इसे प्रारंभ करके आप पूरी पढ़े बिना नहीं छोड़ सकते। अगर यह पुस्तक आपको ससुराल की सुधियों में विभोर न कर दे तो मुझे लिखना। तब मैं समझूंगा कि या तो आप पृथ्वी पर नहीं, पहाड़ों पर रहने योग्य हैं अथवा ससुराल में कुछ ऐसी कुचेष्टाएं आपने की हैं और उनका जो कुफल

भोगा है, उनसे आपका मन ससुराल की तरफ से फिर गया है। हां तो चलो, ससुराल चलने की तैयारी करें। कविता प्रारंभ होती है–

यौवन के रेले-मेले मे,
हरगिज मत बंधो तबेले मे,
उलझो मत किसी झमेले मे,
सामान लाद लो ठेले मे
तुम विना कहे,
तुम विना टिकट,
तुम ऐठ मूछ
फटकार पूछ
चट दुलकी-दुलकी चाल चलो !
ससुराल चलो ! ससुराल चालो ! !

बेधड़क किसी की घड़ी माग
कुरता, पाजामा, छड़ी माग,
बाबू सम्भाल लो खड़ी माग,
लाला, देखो, खुल पड़ी लाग,
तुम कर मालिश
करवा पालिश,
नव तलक मिल
चरनं खालिश,
तत्काल चलो ! तत्काल चलो ! !
ससुराल चलो ! ससुराल चलो ! !

आओ जी, दीनदयाल चलो,
लाला गिरधरगोपाल चलो,
मुशीजी, मिट्ठनलाल चलो,
मनराल चलो,
गुजराल चलो,
आदर्श छोड़,
यशपाल चलो,
चुप क्यो हो–वन–टू–चाल चलो !
ससुराल चलो ! ससुराल चलो ! !

इस लंबी कविता मे ससुराल जानेवालों के वर्गीकृत खाके खींचे गए हैं। कौन कैसी ठसक के साथ चलता है ? कौन अपने बेडौल शरीर को कैसे छिपाता है ? कौन अपने

चेहरे की विकृतियों को मलाई की रगड़ और ब्यूटी सैलून के सहारे चमका-चमकाकर चलता है ? क्यों न चले, उसे मालूम है–

ससुराल सुखों की सार सखे !
ससुराल चाट भंडार सखे !
ससुराल नहीं जिस प्राणी के
उसका जीवन निस्सार सखे !
कहता हूं...जी,
जा-जाकर जी,
जीजी के जी,
हे जीजाजी !
उनका, रख जरा ख्याल चलो !
ससुराल चलो ! ससुराल चलो ! !

ससुराल शब्द में छिपी सुरा,
ससुरा ही होता है–स-सुरा,
वह बनकर राल चिपकती है,
वंचित है कोई ही ससुरा।
उनका पीहर,
वेहद जी–हर,
वच्चों की मां,
की जन्मभूमि...
तुम उस पर दिवला वाल चलो !
ससुराल चलो ! ससुराल चलो ! !

इतना ही नहीं, अपनी आदत के अनुसार अपनी कविताओं में पौराणिक संदर्भों को नया आयाम देते हुए मैंने लिखा–

ससुराल वस गए वम भोले,
सो गए विष्णु भी विन वोले,
नेहरू ने यहीं प्राण छोड़े,
सालों पर वरसाकर ओले।
ससुराल कृष्ण का मंदिर है,
जग अस्थिर है, यह स्थिर है,
काटो माया के जाल, चलो !
ससुराल चलो ! ससुराल चलो ! !

अनेक में से केवल एक खाका प्रस्तुत करता हूं–

नेताजी नहीं मंच तोड़ो,
माइक, माला, भाषण छोड़ो,
यह राजनीति तो वेश्या है,
घरवाली से नाता जोड़ो।
बिल से निकलो,
विल को बदलो,
दिल को थामो,
दल मत बदलो,
तुम हो तो मोटी खाल चलो !
ससुराल चलो ! ससुराल चलो ! !

एक और भी–

देखो, न कमर बल खा जाए,
पसली मे जर्क न आ जाए,
आ गया पसीना पफ कर लो,
दुलहिन न देख शरमा जाए।
सलहज लबी,
साली छोटी,
साला प्लेयर,
सासू मोटी–
साढू को समझ दलाल चलो !
ससुराल चलो ! ससुराल चलो ! !

इसके बाद मानुष क्या वनमानुष भी बैठा नही रह सकता। वह भी झगा-टोपी पहन और दर्पण में मुख देखकर ससुराल की दिशा मे लपक लेगा। जवाईलाल भी अचानक ससुराल जा धमके। अजी, लाला क्या आए, ससुरालवाले बेहाल हो गए। हडबडी मच गई–

"लाला आए ! लाला आए !
अदर कमरे मे बैठाओ !"
"सोफा झाड़ो, कुर्सी पोछो
क्यो खड़े ? गलीचा ले आओ !"
"पखा खोलो,
धीमे बोलो,
शर्बत न सही,
कॉफी तो लो"–

घर मे आया भूचाल चलो !
ससुराल चलो ! ससुराल चलो ! !

"लालाजी, चलो, लेट जाओ।"
"जीजाजी, बैठो, बात करो।"
"लड़कियो, चली अंदर जाओ,
देखो, न अभी उत्पात करो।"
खिल-खिल-खिल-खिल,
सर-सर-सर-सर,
छन-छन-छन-छन,
झिलमिल-झिलमिल,
दिल में आ गया उबाल चलो !
ससुराल चलो ! ससुराल चलो ! !

"जीजाजी, जरा इधर देखो,"
"जी, हमको नहीं, उधर देखो।"
"क्यो ताक रहे हो गैरो को ?
पहले तुम अपना घर देखो।"
ये मुक्त हास,
वाणी विलास,
तुम भटक रहे हो,
कहा 'व्यास'
होने को यार निहाल चलो !
ससुराल चलो ! ससुराल चलो ! !

अब अगर अनुमति हो तो ससुराल की अप्सराओं के संबंध मे भी जो लिखा, वह पढ़ा दू। यो साली पर मेरी एक कविता अलग भी है। पर इस पुस्तक मे सालियों का छल-छद्म कुछ निराला ही है। कुछ टुकड़े—

"जीजाजी का मुह लंबा है,"
"कद क्या है पूरा खंभा है।"
"जीजाजी तो हैं भूतनाथ,
लेकिन जीजी जगदंबा है।"
हो रही चोट,
चल रही गोट,
तन पुलक-पुलक,
मन लोट-पोट—

हस-हंसकर बाते टाल चलो !
ससुराल चलो ! ससुराल चलो ! !

• *पहले जूते दुबकाती हैं,*
पीछे सीठने सुनाती हैं,
बेखबरी से सो जाओ तो,
मुह पर बिंदी चिपकाती हैं।
तुम भी उनके
रोली मल दो,
झपटे तो झट,
बचकर चल दो–
बरसाने रग गुलाल चलो !
ससुराल चलो ! ससुराल चलो ! !

इस सग्रह मे मोद-विनोद के साथ-साथ जहा-तहा रोमास के बुलबुले भी उठे हैं। नदी के प्रवाह मे पानी के बुलबुले उठते आपने भी देखे होगे। यही हाल रस के प्रवाह का हे। परतु जेसे वहा क बुलबुले स्थायी नही होते, वैसे ही यहा के बुलबुले भी स्थायी नही रहते। उनका काम तो बनना और बिगडना ही है। कम से कम मेरे विषय में तो यह सही मान ही लेना चाहिए। जीवन मे रोमास की कसम नही खाता, पर साहित्य मे जो पद्य मे नीचे उद्धृत कर रहा हू, वह विरल ही है–

चादर खिसकाता कोई जी,
"सो गए अजी, ननदोई जी !
लो दूध पियो, बीड़ा चाबो,"
कहती हैं खोई-खोई जी।
"जी सुनो, सुनो"
"जी नहीं, नहीं,"
लो चली गई अनुरागमयी,
नयनो मे सपने पाल चलो !
ससुराल चलो ! ससुराल चलो ! !

सलहज के साथ ससुराल मे थोडा-बहुत तो चलता ही है। लला मनचला हो जाए तो उसे माफी मिल ही जानी चाहिए।

माफी मिल गई न। इतना ही काफी नही है। बहुत हो गया। अब इस अखड काव्य का समापन होना ही चाहिए। लीजिए, मैं अनूठी कल्पनाओ का सहारा ले रहा हू–

तुम एक नहीं, एक सौ आठ
पत्नियां बरो या उन्हे हरो।

यदि योगिराज कहलाना है,
सोलह हजार ससुराल करो।
गीता गाओ,
काटो कुचक्र,
चल पड़े सुदर्शन
दिव्य चक्र,
गोकुल के ग्वाल, गुपाल चलो !
ससुराल चलो ! ससुराल चलो ! !

तुम पारथ-सा पुरुषारथ कर,
जग मे दुदुभी बजाओ रे !
अज्ञातवास करके, भय्या !
ससुराल बनाते जाओ रे !
यह विजयमत्र,
आनद तत्र,
पाडव पूतो का
सिद्धि यत्र—
समझो, गाडीव उछाल चलो !
ससुराल चलो ! ससुराल चलो ! !

और अत मे—

इसको न अकविता गुनना तुम।
पढ़कर न इसे सिर धुनना तुम।
पत्नी-पुराण का आदि सर्ग,
सच्ची श्रद्धा से सुनना तुम।
यह रोमाटिक,
यह चिरनवीन,
अभिनव, मौलिक
ससुराल-काव्य—
मैं ठोक रहा हू ताल चलो !
ससुराल चलो ! ससुराल चलो ! !

अपने समकालीन साहित्य मे इस तरह ताल ठोकना नामी-गिरामी दिग्गज पहलवानों को भला कैसे भाता ? वे मेरी हलकी-फुलकी और दुलकी चाल को देखकर यही फैसला न कर लेते तो आश्चर्य की बात होती कि निकालो इसे अपनी घुड़साल से। यह राजसी सवारी के घोड़ों के साथ रहने लायक नहीं है। कुछ कहते कि ब्रिटेन. फ्रांस और

अमरीका में जो व्यंग्य-विनोद लिखा जा रहा है, व्यास का हास्य-व्यंग्य तो उसके पासंग में भी नहीं बैठता। सच्चा हास्य तो वह है जिसमें वेदना छिपी होती है। चार्ली को देखो। बर्नाडशॉ को देखो। पाठक, श्रोता और दर्शक उनकी रचनाओं पर हंसते हैं, मजा लेते हैं, लेकिन उनका दिल दुखता है, रोता है। अपने पर नहीं, अपने सामनेवाले पर और समाज पर। व्यास तो मसखरा है, विदूषक है, पत्नी की डोर पकड़कर आकाश को छूना चाहता है।

कुछ कहते—व्यास की कविताएं परंपरा से प्रेरित और प्रतिक्रियावादी हैं। इनमें रीतिकाल का पुट है। आधुनिक समस्याओं के प्रति जनवादी आक्रोश इनमें नहीं है। व्यंग्य का कशाघात भी इनमें नहीं है। व्यास रूढ़िवादी है, क्रांतिदर्शी नहीं। दूर रखो इसे अपने खेमे से।

दोनों पक्षों की बात अपनी-अपनी जगह ठीक है। लेकिन मित्रो, न मैं चार्ली चेप्लिन हूं, न जी. पी. श्रीवास्तव, न अकबर इलाहावादी और न हरिशंकर परसाई। मैं व्यास हूं। मेरा अपना रंग है। अपना ढंग है। मेरे अपने श्रोता हैं। मेरे अपने पाठक हैं। मेरी अपनी जमीन है। उस जमीन पर मेरा खुद का बनाया घर है। उस घर में एक सुंदर, स्वस्थ दिखने और लिखने लायक पत्नी है। मेरा अपना और मेरी उनका सुखद और सरस परिवार है। क्या इतना मेरे लिए पर्याप्त नहीं है ?

मित्रो, पहले अपने को देखो। अपनों को देखो। अपने पर हंसो। अपने पर व्यंग्य कसो। अपनों की खबर लो। क्या यह साहित्य, समाज, अर्थ और राजनीति का पहला सोपान नहीं है। सीढ़ी-दर-सीढ़ी में उछलता-कूदता अपनी राह पर आगे बढ़ा हूं। न किसी खूटे से बंधा हूं और न किसी खेमे में बैठा हूं। अपनी तरंग में बहा हूं। अपने रस में डूबा-उतराया हूं। आप इसे हास्यरस कहें, न कहें। बतरस मानें, न मानें। पर मैं आनंदी जीव हूं, इतना तो कृपा करके मान ही लीजिए। रहा व्यंग्य, तो पहले हास्य, पीछे व्यंग्य। हास्य में व्यंग्य और व्यंग्य में हास्य, जैसे तांडव के साथ लास्य। ऐसी कविताओं पर आगे लिखूंगा। अभी तो आप ससुराल चलो !

हमारे व्यासजी तो भारत-भारती के राजीव लोचन हैं।

—डॉ. पाण्डुरंग राव

पहला निराला सम्मेलन

दिलचस्प नगरी है दिल्ली। सघन बसी हुई और हरी-भरी। लोग यहां के दिलदार हैं। महिलाओं के मन रंगीन हैं। उत्सव-प्रिय हैं। किसी कदर दिल्ली दिल्लगीबाज भी है। एक स्वभाव है इस ऐतिहासिक नगरी का। बाहर से आए लोगों को पहले ये उखाड़ती है। जमने नहीं देती। बसने नहीं देती। लेकिन जो इसके रंग में रम जाता है, दिल्लीवाल बन जाता है। कुछ करके दिखाता है तो उसे छाती से लगा लेती है। कंधों पर उठा लेती है। मुझे भी दिल्ली आने पर इन सब स्थितियों से गुजरना पड़ा है। परंतु आते-आते दिल्ली मेरे मन को भा गई थी। यहां काम करने और आगे बढ़ने के काफी अवसर थे। मैंने लिखा–

तू दिल्ली में बस जा-बस जा,
सरकार यहां पर बसती है,
यह दिलवालों की बस्ती है,
हर चीज यहां पर सस्ती है।
चांदनी चौक, बारहखंबा,
बिरला मंदिर के आसपास,
तू रोज घूमने जाया कर,
तबियत में भरती मस्ती है।
जो रोज घूमने जाएगा,
तो नई रोशनी पाएगा,
दो-चार दिनों के चक्कर में,
कविता लिखना आ जाएगा।
रे, मिलते नहीं मकान !
अमां, लेकर मकान क्या करना है ?

तू दिन में धंधा देख,
रात गुरुद्वारे में सो जा एकदम,
ले नाच जम्हूरे, छम-छम-छम !

तो दिल्ली ने उखाड़ने की कोशिश की और मैंने जमने की–"अतिशय रगड़ करै जो कोई, अनल प्रगट चन्दन ते होई।" बड़े रगड़े खाए और लगाए भी। मेरे तीन क्षेत्र थे–राजनीति, साहित्य और हिन्दी। राजनीति से मन ऊब गया था। गांधीजी की आज्ञा लेकर उसे नमस्कार कर लिया। दिल्ली उस समय तक साहित्यकारों का केंद्र नहीं बनी थी। अंग्रेजी और उर्दू का बोलबाला था। हिन्दी-प्रचार के लिए कार्यकर्ताओं और जनता के साथ संपर्क की आवश्यकता थी। उस समय तक दिल्ली में हिन्दी की कोई ऐसी संस्था भी नही थी। मुझे भी टिकने के लिए अभी तक कोई आधार नहीं मिला था। न रहने के लिए और न काम करने के लिए। मात्र मसिजीवी लेखक था। ऊपर से छुटभय्ये कवि और साहित्यकार छोटी-छोटी हिन्दी की दुकान चलानेवाली संस्थाओं के संचालक मुझे आंखों की किरकिरी की तरह देख रहे थे। उपेक्षा बरत रहे थे। रोड़े अटका रहे थे। ये बातें सन् तैतालीस-चवालीस के मध्य की हैं।

धीरे-धीरे मेरा परिकर बढ़ने लगा। परिचय का क्षेत्र व्यापक होने लगा। जैनेन्द्र, डाक्टर नगेन्द्र, रामधन शास्त्री, मौलिचन्द्र शर्मा तो मेरे पुराने मित्र थे ही। उसमें जुड़ गए सपरिवार भाई विष्णु प्रभाकर, रामचन्द्र तिवारी, लाल कुएं के नए उत्साही साहित्यकार अनजान चतुर्वेदी, गीता-गायक श्री दीनानाथ 'दिनेश'। तब मैंने विष्णुजी की डोर पकड़कर हिन्दी साहित्य सघ के नाम से एक सस्था बनाई। सामूहिक सहयोग से कई कार्यकर्ता और दाता भी इससे जुड़ गए। हौजकाजी थाने के सामने पीपलवाली गली की एक छोटी-सी दूकान मे इसका दफ्तर बना। बैठक जमने लगी। कोई पूछता तो पत्नी यह फिकरा दोहरा देती–"होंगे कहां, वहीं कैलाश वैद्य की दुकान मे।" हमारी मंडली वहीं जुडा करती थी। इस मंडली ने निश्चय किया कि दिल्ली मे कुछ साहित्यिक चमत्कार किया जाए। ऐसा कि दिल्लीवालो को पता चले कि हिन्दी भी कुछ है। उसमे भी बडे-बडे साहित्यकार ओर कवि है। विद्वान ओर समीक्षक है।

मेरे दिल्ली आने से ब्रज साहित्य मडल का कार्य शिथिल हो गया था। मैंने प्रस्ताव किया कि दिल्ली में अखिल भारतीय ब्रज साहित्य मंडल का अधिवेशन बुलाया जाए। पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी को इसका अध्यक्ष बनाया जाए। एक साहित्य परिषद् भी इसके साथ हो। जनता के आकर्षण के लिए लगातार दो दिन कवि-सम्मेलन किए जाएं। पहले दिन ब्रजभाषा के कवि और दूसरे दिन खड़ी बोली के चुने हुए कवि आएं। कविता-पाठ करें। प्रस्ताव स्वीकार हो गया। निश्चय हुआ कि निरालाजी को कवि-सम्मेलनों का अध्यक्ष बनाया जाए। स्थान गांधी मैदान हो। साहित्य-परिषद् की अध्यक्षता मिश्रबंधुओं में से एक पं. शुकदेवबिहारी मिश्र करें। पचास के आसपास कविजनों, विशिष्ट साहित्यकारों और विद्वानों को आमंत्रित किया गया। दिल्ली के इतिहास में यह द्वि-दिवसीय अपूर्व सम्मेलन था। इसमें सर्वश्री गुलाब राय, डॉ. सत्येन्द्र, कृष्णदत्त वाजपेयी, नन्ददुलारे वाजपेयी, शांतिप्रिय

द्विवेदी आदि, दर्जन से अधिक समीक्षक और पंद्रह कवि ब्रजभाषा के तथा पन्द्रह कवि ही खड़ीबोली के उपस्थित हुए। निरालाजी भी आए। नाम क्या गिनाऊं ? इन कवि-सम्मेलनों में उस समय का कोई मूर्धन्य कवि शायद ही बचा हो। बैरिस्टर भूलाभाई देसाई ने समारोह का उद्घाटन किया। स्वागताध्यक्ष हुईं सरस्वती डालमियां। दिल्ली की जनता ने इस आयोजन को बहुत महत्त्व दिया। दोनों दिन गांधी मैदान खचाखच भरा हुआ था। दिल्ली के काव्यप्रेमियों ने खड़ीबोली कवियों के साथ-साथ ब्रजभाषा के कवियों को भी बड़े प्रेम से सुना। दोनों कवि-सम्मेलनों का मैंने संचालन किया। दोनों दिन दोनों तरह की अपनी कई-कई कविताएं भी सुनाईं। आयोजन की सफलता के साथ-साथ दिल्ली में मैं भी सफलता के पहले सोपान पर चढ़ गया। अगर शेखी बघारूं तो कह सकता हूं कि इन आयोजनों से ही दिल्ली में मेरी धाक जम गई। सैकड़ों मित्र बन गए। हजारों लोगों से मेरी जान-पहचान का सिलसिला शुरू हो गया। राजधानी में हिन्दी का काम करने के लिए द्वार खुल गए।

इस सम्मेलन के कुछ संस्मरण बड़े रोचक हैं। मैं चंदा मांगने के लिए डॉक्टर नगेन्द्र के साथ दिल्ली के प्रसिद्ध साहित्यकार श्री ऋषभचरण जैन के पास पहुंचा। तब वह अपनी अति सुंदर बंगालिन उप-पत्नी के साथ दरियागंज में रहते थे। केसरिया, मेवा-मिश्रित दूध के गिलासों के साथ जब वह पर्दा हटाकर हम लोगों के समक्ष उपस्थित हुईं तो मुझे लगा कि जैसे स्वर्गलोक से कोई अप्सरा आ गई हो। वह फूलों का श्रृंगार किए हुए थीं। गौर वर्ण, बड़ी-बड़ी आंखें और सांचे में ढली हुई देहयष्टि को देखकर अचानक मुझे यह पंक्ति याद आ गई—

कनक-छरी-सी कामिनी, कंचन सी कमनीय।

ऋषभजी के यहां नैन-सुख के साथ-साथ बतरस भी मिला और प्राप्त हुआ मुंहमांगा धन भी।

हर ! हर ! महादेव ! सेठ रामकृष्ण डालमिया नितंग नंगे होकर चटाई पर लेटे गाय के घी की मालिश करा रहे थे। श्रीमती सरस्वती देवी डालमिया को स्वागताध्यक्ष बनाने के लिए हम डालमिया हाउस पहुंचे तो सेठजी ने अपने दिगंबर दर्शन कराने के लिए हमें उसी अवस्था में बुला लिया। मेरे साथ पंडित मौलिचंद्र शर्मा भी थे। वह वाक-चतुर व्यक्ति थे। टिहरी रियासत के दीवान भी रह चुके थे। उन्होंने बड़ी शिष्टता से कायदे के साथ आयोजन की बात बताई। मैं डालमियाजी को स्वतंत्रता-संग्राम के दिनों से ही जानता था। वह भी मेरे विचारों और विनोदप्रियता से कुछ-कुछ परिचित थे। उन्होंने मुंह फेरकर मेरी ओर देखा और पूछा—"सरस्वती अगर मेरी पत्नी न होती तो भी आप उसे इस साहित्यिक आयोजन का स्वागतध्यक्ष बनाते ?" मैंने तत्काल उत्तर दिया" "नहीं।" डालमियाजी इस उत्तर से नाराज न होकर प्रसन्न ही हुए। वह केवल धनपति ही नहीं थे, साहित्य और शास्त्रों के अध्येता भी थे। रसिक तो थे ही, व्यावहारिक भी थे। बोले—"आप मुझसे इसके लिए क्या अपेक्षा रखते हैं ?

मैं डालमियाजी को अंदर से जानता था। उत्तर दिया–"यह आप पर ही छोड़ता हूं।" सेठजी मुस्कुराए, बोले–"ठीक है। सरस्वती समय पर आ जाएगी और लक्ष्मी भी। उसे लेने या लिवाने के लिए किसी को मत भेजना। वह एक घंटे से अधिक नहीं ठहरेगी।" मैंने पूछा–"उनका भाषण ?" तो उन्होंने प्रश्न किया–"सरस्वती का भाषण क्या आप लिखेंगे ?" सेठजी बैठे हो गए। हम समझ गए। मौलिचंद्रजी ने मीठे शब्दों में धन्यवाद दिया। हम लौट आए। मैंने तत्काल मौलिचंद्रजी को दोहे की पैरोडी सुनाई–

"तुलसी या संसार में, सबसे मिलिए धाय।
ना जाने किस रूप में, डालमिया मिल जाय।"

दूसरे दिन डालमियाजी की एक अच्छी राशि हमें उपलब्ध हो गई। सरस्वतीजी भी आईं और भाषण देकर, बिना किसी से बात किए, चली गईं। कवि-सम्मेलन चलता रहा।

निरालाजी को बुलाना, उनका आना और उन्हें झेलना कोई हंसी खेल नहीं था। हरेक के बूते की बात नहीं थी। यद्यपि निरालाजी मेरे पूर्व परिचित थे। लखनऊ में उनके आतिथ्य का निराला आनंद भी मैं ले चुका था। स्वयं उनके हाथ का बनाया दाल-भात भी खाया था। उनके मुंह से उस समय यह छंद सुना था–

अरहा की दाल, जड़हन क भात,
गलगम निबुआ और घिऊ तात।
ऊपर सरस खंड़ जो होय।
बांके नयन परोसें जोय,
कहैं 'घाघ' तब सबही झूठा,
वहां छाड़ि इहिवैं बैकुंठा।

इस छंद ने दाल-भात का स्वाद और भी बढ़ा दिया। उन्होंने जबरन मुझे खाट पर सुलाया और आप जमीन में चटाई पर लेट गए। बड़ी मानसिक पीड़ा हुई मुझे। दूसरे दिन वह सवेरे एक मिठाईवाले की दूकान पर ले गए। कहने लगे–"यह खाओ, वह खाओ ! बस-बस नहीं, और लो !" पैसे तो कभी उनके पास रहते नहीं थे। उधार-खाता चलता था। मैं संकोच में था, लेकिन निरालाजी अधिकारपूर्वक हलवाई को आदेश दे रहे थे।

मैंने सोच-समझकर उन्हें निमंत्रण के साथ दो हजार रुपये का ड्राफ्ट पेशगी में भेज दिया। उत्तर तो नहीं आया। लेकिन आयोजन से एक दिन पूर्व संध्या को वह गली पीपलवाली में पहुंच गए। बिगड़ैल हाथी की तरह गली में इधर-से-उधर और उधर-से-इधर झूमने लगे। जोर-जोर से कहते जाते थे–"किसने मुझे बुलाया है ? किस रईस के बच्चे ने मुझे ड्राफ्ट भेजा है ? कहां है साहित्य संघ का दफ्तर ? कहां हैं व्यास ?" उनका लंबा-तड़ंगा भारी भरकम शरीर, बुलंद आवाज को देख-सुनकर, सब सहम गए। दोनों कंधों पर लंबी-लंबी लटें लहरानेवाले दिनेशजी आए। सौम्य और शिष्ट खादीधारी विष्णु प्रभाकर भी आए।

निरालाजी को बैठने के लिए कहा गया। ठंडा-गरम पीने को भी कहा गया। परंतु उनको रट लगी थी–"व्यास कहां है ? बुलाओ उसे। उसकी ये हिमाक़त ?"

मैं थोड़ी ही दूर पर मुहल्ला रोदगरान में रहता था। खबर मिलते ही दौड़ा आया। मेरे आते-आते तक उनका आवेश थम चुका था। निरालाजी 'क्षणे रुष्टा और क्षणे तुष्टा' वाले व्यक्ति थे। प्रकृतिस्थ होते ही आशुतोष भी हो जाते थे। सहजभाव से मुझसे पूछा–"मुझे बुलाया और स्वयं गायब। ठहरने का प्रबंध कहां किया है ? मेरे खाने-पीने का ख्याल रखा है न ? मुझे वहां पहुंचाओ।" मैं जानता था कि निरालाजी शाकाहारी नहीं हैं। तरंग आती है तो पीते भी हैं। 'अतिथि देवो भव' के उपासक हैं। उनके लिए ऐसा ही एक आतिथेय तलाश किया था। घोड़ेवाली बग्घी जुड़वाई। एक पुष्पहार भी तब तक आ गया था। वह सादर उनको पहनाया। घर से चलते समय गुलाब के इत्र की एक छोटी-सी शीशी भी मैं लेता आया था। इत्र का मुझे भी शौक था और निरालाजी को भी। वह उन्हें भेंट किया। घोड़ा-गाड़ी उन्हें लेकर चल दी। हम सबने राहत की सांस ली।

लेकिन दूसरे दिन निरालाजी का संदेश आया कि वह आज रात के आयोजन में शामिल नहीं होंगे। उनका स्वागत किसी धनपति की पत्नी के बजाय किसी साहित्यकार के द्वारा होना चाहिए, तभी आएंगे। मित्र बेचैन हुए। परंतु मैंने कहा–"आज ब्रजभाषा का कवि-सम्मेलन है। उनकी बात रह जाने दो। निश्चिंत रहो, कल आ जाएंगे। एक दिन आराम कर लें तो अच्छा ही है।

दूसरे दिन मैने अनुरोध-पत्र भेजा। वह आए। मंच पर उपस्थित सभी कवि लोग खड़े हो गए। उन्होंने छोटों के सिर पर हाथ रखा। बराबरवालों के साथ गले मिले। पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी जैसे वरिष्ठजनों के सामने झुके। मंच के बीचोंबीच अकेले मसनद के सहारे ऐसे बैठे मानो कोई सम्राट बैठा हो।

निरालाजी की उपस्थिति मात्र से कवि-सम्मेलन बांसों ऊंचा उठ गया। प्रत्येक कवि उस दिन अपने को सौभाग्यशाली समझ रहा था कि आज निरालाजी की उपस्थिति मे अपनी कविता पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त कर रहा है। तभी एक स्मरणीय घटना घटी। बेधड़क बनारसी ने निरालाजी की प्रसिद्ध कविता "तुम और मैं" की पैरोडी बड़े तरन्नुम के साथ जमकर सुनाई। कविता खूब जमी। निरालाजी भी बहुत प्रसन्न हुए। वह उठे और अपने तहमद की परोंठ में जितने रुपये उनके पास थे, सब निकालकर बेधड़क को दे दिए। चारों ओर से तालियों की गड़गड़ाहट होने लगी।

निरालाजी के निराले काव्य का उदाहरण उस दिन प्रस्तुत हुआ था। दिल्ली के उक्त कवि-सम्मेलन की तरह निरालाजी ने शायद ही अपने पूरे मन से और पूरी बुलंदी के साथ ऐसा काव्य-पाठ कहीं किया हो। वह पूरे दो घंटे तक बिना रुके, समान स्वर और पूरे जोश के साथ कविताएं सुनाते रहे। राम की शक्ति पूजा, शिवाजी का पत्र, जुही की कली, जैसी लंबी-लंबी प्रसिद्ध कविताएं उस दिन दिल्ली के लोगों को उनके मुख से सुनने को मिलीं। कवि-सम्मेलन धन्य हो गया। हमारा आयोजन भी सफलता के शिखर को छू गया।

लेकिन, अभी क्लाईमेक्स बाकी था। कवि-सम्मेलन के दूसरे दिन मैं उनसे मिलने

गया तो मालूम हुआ कि निरालाजी के पास टिकट तक के पैसे नहीं बचे थे। लेकिन उनके मुख पर चिंता का कोई चिन्ह नहीं था। फिर भी मैंने उन्हें निश्चिंत किया। वापसी का टिकट दिया। साथ में कुछ रुपये भी। वह बोले—"स्टेशन पर मिलोगे न ?" मैंने कहा—"अवश्य !" मैं स्टेशन पर पहुंचा। दूसरे महायुद्ध का जमाना था। बड़ी भीड़ थी। जिसे जहां जगह मिल रही थी, घुस रहा था। निरालाजी इंटर क्लास के उस डिब्बे में बैठे, जहां श्रीनारायणजी के साथ-साथ कवि-मंडली भी बैठी हुई थी। लोगों की भीड़ उस डिब्बे में भर गई थी। जगह नहीं बची थी। फिर भी लोग आते ही जा रहे थे। चतुर्वेदीजी ने निरालाजी को ललकारा कि उनके रहते हुए यह क्या हो रहा है ? दम घुट रहा है हम सबका। निरालाजी अपनी सीट से उठे। डिब्बे का दरवाजा बंद किया और खिड़की के बीच में अपनी विशाल बांह अड़ा दी। लोग खिड़कियों से भी कूद-कूदकर घुस रहे थे। लेकिन निरालाजी की बांह को खिड़की से हटाना किसी के वश में नहीं था। गाड़ी ने सीटी दे दी। बाकी लोग तो इधर-उधर दौड़ गए। लेकिन एक पहलवान टाइप आदमी दरवाजे के पायदान पर जमा रहा। उसने निरालाजी का कुर्ता फाड़ डाला। दांतों से जगह-जगह काट भी लिया। उधर रेल चल पड़ी थी और इधर निरालाजी के साथ ठेल-पेल चल रही थी। पहलवान पसीने-पसीने हो गया था और थक भी गया था। मैं भी गाजियाबाद तक के लिए उसी डिब्बे में बैठा था। मैंने निरालाजी से अनुरोध किया—"कृपया, अब हाथ हटा लो। इसे आने दो, नहीं तो गिरकर मर जाएगा। हत्या लगेगी।" महाप्राण, सहज कृपालु कवि मान गए। वह आदमी अंदर आया और जब उसने निरालाजी के कद-हद और शक्ति-मद को देखा तो घबरा गया। उसे लगा होगा कि यदि इसने एक झापड़ भी रसीद कर दिया तो चक्कर खाकर गिर पड़ूंगा। लेकिन निरालाजी थे कि वे उस व्यक्ति की अभद्रता को कभी का भूल चुके थे। वह वापस आकर सीट पर बैठ गए। हम सब उनके फटे कुर्ते, बांह पर दांतों के निशान और चमकते हुए खून को देखकर दुखी हो रहे थे। लेकिन निरालाजी अपनी एक कविता को भैरवी राग में बांधकर ऐसी तन्मयता से सुना रहे थे जैसे कुछ हुआ ही न हो।

मुझे यह घटना आज ऐसी लग रही है, जैसे कल ही घटी हो। कहा गए निरालाजी ? उस कवि-सम्मेलन के प्रतिभाशाली, यशस्वी बहुत-से कवि भी अब नहीं रहे। वैसा कवि-सम्मेलन भी फिर नहीं हुआ। अब तो उस समय के बचे हुए लोगों के मन में उसकी उज्ज्वल छवि ही शेष रह गई है।

होगी-होगी : नहीं होगी-नहीं होगी

बात अबकी नहीं, तब की है। हिन्दुस्तान की भी नहीं, पाकिस्तान की। लेकिन पाकिस्तान तब कहां बना था ? किसी रावल के पिण्ड (गांव) या पिंडी को इस्लामावाद बनने का सौभाग्य प्राप्त नही हुआ था। रावलपिंडी उन दिनों हिन्दुओं का अच्छा-खासा केन्द्र था। स्वर्गीय गोस्वामी गणेशदत्तजी का वहां बड़ा सम्मान था। उन्हीं की प्रेरणा से रावलपिंडी में पंजाब प्रांतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन हुआ और उसमें मुझे भी बुलाया गया। घटना सन् 1945 की है।

देश में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की बड़ी प्रतिष्ठा थी। उसके प्रांतीय सम्मेलन भी सक्रिय थे। अमृतसर, लाहौर, जालंधर, रावलपिंडी और करांची में हिन्दी के आयोजन होते ही रहते थे। वहां के निवासी हिन्दी को धर्म मानकर अपनाते थे और साहित्य के नाम पर अधिकतर उनकी रुचि कविता तक ही सीमित थी। इसलिए पंजाब और सिंध में कोई भी छोटा-बड़ा आयोजन होता तो उसमें कवि-सम्मेलन अवश्य रखा जाता। मुझे भी रावलपिंडी के सम्मेलन में कवि के रूप में ही आमंत्रित किया गया था। मेरी पत्नीवादी कविताएं उन दिनों उत्तर भारत में काफी लोकप्रिय हो गई थीं। पंजाब में भी वे चाव से सुनी जाती थीं। लेकिन रावलपिंडी जाने का यह मेरा पहला अवसर था।

इस कवि-सम्मेलन के अध्यक्ष पं. मौलिचंद्र शर्मा थे। कवियों में प्रमुख थे–सर्वश्री उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी, देवराज दिनेश, आदि। 'अमर भारत' के संपादक माधवजी और 'वीर अर्जुन' के संपादक श्री कृष्णचंद विद्यालंकार भी वहां पहुंचे हुए थे। मैंने देश के बड़े-बड़े कवि-सम्मेलनों में भाग लिया है, लेकिन उस दिन जितनी महिलाएं रावलपिंडी के उस कवि-सम्मेलन को सुनने आई थीं, उतनी तब तक मैंने अन्यत्र नहीं देखी थीं। मंच के सामने, दाहिनी ओर हजारों की संख्या में नारियां और बाईं ओर लगभग उतने ही पुरुष थे। लगभग दस हजार स्त्री-पुरुष उस कवि-सम्मेलन में उपस्थित थे। कवि-सम्मेलन बड़े आनंद के साथ चल रहा था। जनता बड़े प्रेम से हिन्दी कवियों को सुन रही थी। मैं भी

अपना रंग जमा चुका था कि तभी 'होगी-होगी' और 'नहीं, नहीं' की आवाजों ने एक अजीब परिस्थिति पैदा कर दी।

पुरुष-वर्ग एक विशेष कविता के लिए आग्रही था और नारियां उसके विरोध में सत्याग्रह पर आमादा थीं।

यह उत्पात किसी और की नहीं मेरी ही कविता को लेकर खड़ा हो गया था। मैं अपनी 'पत्नी को परमेश्वर मानो' कविता को पढ़ रहा था कि पंडाल में एक सुंदर, सुशिक्षित तरुणी उठी और ललकारते हुए उसने कहा–"बंद करो यह कविता ! हम अपना अपमान बरदाश्त नहीं कर सकतीं।"

प्रारंभ में तो उस तरुणी के आसपास बैठी हुई महिलाओं ने उसकी कमीज, सलवार और चुन्नी खींचकर उसे बैठाने का प्रयत्न किया, लेकिन जब पुरुषों ने उस किशोरी को चुप रहने और बैठ जाने को कहा तो उपस्थित महिला-समाज भी भड़क उठा और आवाजें आने लगीं–"देखती हैं, कैसे यह कविता होती है ! कविता नहीं होगी, नहीं होगी, नहीं होगी !"

उधर पुरुष-वर्ग, जिसमें अधिकांश नौजवान लड़के थे, उक्त कविता सुनने और चिढ़ जानेवाली महिलाओं को और अधिक चिढ़ाने पर उतारू हो गया था। सम्मेलन के मंडप में दो ही शब्द समवेत रूप में सुनाई पड़ रहे थे–"होगी, होगी " और "नहीं होगी, नहीं होगी।"

पहले तो मैं कविता रोककर इस आनंददायक दृश्य को देखता रहा, परंतु जब कुछ महिलाएं "हम जान दे देंगी, पर यह कविता नहीं होने देंगी" कहती हुई मंच की ओर बढ़ने लगीं तो मैंने चुपके-से बैठ जाने में ही खैर समझी। वहां कुछ अघटित घट जाएगा इसकी चिंता या संभावना तो मुझे नहीं थी, लेकिन दूसरे दिन उर्दू और अंग्रेजी के अखबारों की सुर्खियां न जाने क्या रूप दे डालें, इसका भय अवश्य था। इसी आशंका को ध्यान में रखकर मंच से अपीलें की जाने लगीं। प. मौलिचंद्र शर्मा ने समझाया, आयोजकों ने धमकाया, भट्टजी और प्रेमीजी ने कवि-सम्मेलन खत्म करने के लिए डराया, लेकिन कोई फल नहीं निकला। शोर बढ़ता ही गया। विरोध और समर्थन के ज्वार-भाटे उस जन-समुद्र में उठते-पड़ते ही रहे।

तब आयोजकों ने बल-प्रयोग की कोशिश की। बाहुबल नहीं, वाणीबल। मुझसे कहा गया कि मैं कविता जारी रखूं। वह देख लेंगे कि ये औरतें क्या करती हैं। कवि लोग और आयोजक मुझे हाथ पकड़-पकड़कर उठाने लगे। मुझमें भी साहस का संचार हुआ। मैं माइक तक आया भी। लेकिन कविता सुनाने के लिए नहीं, आनंद लेने के लिए। मैंने माइक पर जाकर कहा–"मेरी कविता का उद्देश्य पूरा हो गया। अब आगे न कहने की जरूरत है और न सुनने की। यह घड़ी सोचने की है। 'होगी' कहनेवाले भी सोचें और 'नहीं होगी' कहनेवाले भी सोंचें। धन्यवाद।"

मेरे उक्त कथन पर कविता सुनाने का आग्रह और बढ़ गया। इस बार महिलाओं के प्रतिकार की आवाज नहीं के बराबर थी। फिर भी मैंने बहुतों के कहने-सुनने पर भी उस रात कविता नहीं सुनाई। आयोजकों ने दूसरे कवियों को खड़ा किया, लेकिन जनता

ने किसी की नहीं सुनी। चारों तरफ से एक ही आवाज थी "दिल्लीवाले को बुलाओ, बीवीवाले को बुलाओ !"

और इसी शोरगुल में देर रात गए वह कवि-सम्मेलन समाप्त हो गया। दूसरे दिन सवेरे गली-गली, मौहल्ले-मौहल्ले, बाजार-बाजार एक ही चर्चा थी और यह चर्चा करनेवाला पुरुष-वर्ग ही था कि कल रात दिल्ली से आए एक कवि ने कमाल कर दिया। पढ़ी-लिखी कुड़ियां भड़क उठीं, सारा मजा किरकिरा कर दिया नासपीटियों ने।

मनचलों ने उकसाया, आयोजकों ने जमाया, जगह-जगह माइक्रोफोन घुमाकर कि आज रात फिर उसी स्थान पर कवि-दरबार होगा, दिल्लीवाले कवि अपनी अधूरी कविताओं को आज पूरी करेंगे। भाइयो और बहनो ! बड़ी-से-बड़ी तादाद में जलसे की रौनक बढ़ाएं।

जलसा जुड़ा। रौनक बढ़ी। उस दिन शायद ही रावलपिंडी में आने लायक कोई स्त्री-पुरुष ऐसा बचा हो जो अपने घर में रह गया हो। मजे की बात यह कि उस रात महिलाओं की तादाद पुरुषों से दूनी नहीं तो ड्योढ़ी अवश्य थी। किसी स्कूल या कॉलेज के बड़े प्रांगण या खेल के मैदान में इस कवि-सम्मेलन का आयोजन किया गया था और उससे लगी इमारत की दूसरी मंजिल में हम लोग ठहरे हुए थे। मैं ऊपर खड़ा-खड़ा भीड़ का आनंद ले रहा था। कवि लोग बनाव-श्रृंगार करके मंच पर जाने की तैयारी कर रहे थे। जब चलने का वक्त आया तो मैंने इनकार कर दिया। कारण पूछने पर किसी से कहा–"कल तो बच गए, मगर आज नहीं बच सकते। देखो भीड़ में फोटोग्राफर भी है।" दूसरे किसी समवयस्क से कहा कि पैसे एक दिन के लिए हैं, दो दिन के नहीं। तीसरे को बहुत संजीदगी से बताया कि "यार ! चल सकता हूं, मगर एक शर्त है।" उसके पूछने पर बताया कि जिसने कल विरोध किया था जब तक वह लिवाने नहीं आती ई जानिब अपने पलंग से नीचे पैर रखनेवाले नहीं। यह कहकर मैं अपना शाल लेकर पलंग पर लेट गया।

जनता पहले से ही जमी थी। कवि भी जाकर मच पर जम गए। संयोजक ने सरस्वती वंदना कराई तब तक लोग चुप बैठे रहे। लेकिन जैसे ही पहले कवि का नाम पुकारा गया, आवाजें बरसनी शुरू हो गई–"दिल्लीवाले को बुलाओ, बीवीवाले को बुलाओ !" दो-तीन कवि आजमाए भी गए, लेकिन लोगों ने उन्हें मंच पर टिकने नहीं दिया। तब मेरी खोजबीन शुरू हुई। पहले आयोजक आए, फिर कवि-सम्मेलन के सभापति आए, फिर दर्शकों का शिष्टमंडल आया और अंत में महिलाओं का प्रतिनिधिमंडल भी पहुंचा। उनमें से एक ने पूछ ही तो लिया–"आखिर आपकी शर्त क्या है ? हम क्या करें जिससे आप चलने को राजी हो जाएं ?"

अब मैंने नाटक की मुख्य भूमिका का पार्ट बड़ी मासूमियत से अदा किया। कहने लगा–"जी, मैं कल की घटना से बहुत डर गया। बाल-बच्चेदार आदमी हूं। देश के लोग मेरा नाम-गांव भी जानते हैं। कहीं कुछ हो गया तो हमेशा के लिए टीका लग लाएगा। मुझे क्षमा कीजिए।"

महिला-दल ने मुझे ढांढ़स दिलाया–"कविजी, आप कैसी बातें करते हैं ? हम जिम्मा लेते हैं। आपका सम्मान हमारा सम्मान है। वह लड़की नासमझ है। उसने कविता के अर्थ

को समझा ही नहीं। वह भी आई हुई है। आज कुछ नहीं कहेगी।"

मैं इसी बात की प्रतीक्षा कर रहा था। कहा–"तो उनसे कहलवा दीजिए, मैं चला चलूंगा।"

महिलाएं लौट गईं। मैंने ऊपर से देखा कि उन्होंने लड़की को बताया, समझाया। इस पर पहले तो वह तुनकी, फिर सोच में पड़ गई और बाद में उनके साथ मेरे पास आने को तैयार हो गई।

आगे-आगे वह और पीछे-पीछे आठ-दस महिलाएं। लड़की निस्संदेह सुंदर थी–एकदम गुलाबी। लाज से और भी गुलाबी हो गई थी। बड़ी-बड़ी आंखें, झुकी हुई पलकें और छेदती हुई बरौनियों ने उसकी शोभा को चार चांद लगा दिए थे। उसने आहिस्ता से कहा–"जी, गलती हो गई। मै मतलब नहीं समझी थी। आप हमारे मेहमान हैं, चलिए।"

मैं उठ खड़ा हुआ और यह कहते हुए कि आपकी आज्ञा का पालन न करना अशिष्टता होगी, मैं उनके साथ-साथ सीढ़ियां उतर गया। आगे क्या कहूं ? वह रात मेरी थी। श्रोता मेरे थे। रात के तीन बजे तक मैं अकेला कविताएं सुनाता रहा। सवेरे चार बजे जब कवि-सम्मेलन समाप्त हुआ और जैसे-तैसे मुझे भीड़ ने छोड़ा और मैं अकेला डग भरते हुए डेरे की ओर बढ़ने लगा तो मैंने देखा कि वह कन्या जीने के पास अपनी छोटी बहन के साथ खड़ी थी।

मैं ठिठक गया। कुछ क्षण दोनों मौन रहे। चुप्पी तोड़ते हुए आखिर उस बाला ने कहा–"आपने मुझे माफ कर दिया न ?"

मेरे मन में आया कि लपककर उसके जुड़े हुए हाथों को अपने हाथों में थाम लूं और कहूं–"कैसी बातें करती हो !" लेकिन संस्कारों ने रोक दिया। उसने फिर कहा–"तो सवेरे कल मेरे घर चाय पीजिए। नौ बजे मेरी बहन आपको लिवा ले जाएगी। अगर नही आए तो मैं यही समझूंगी कि आपने मुझे माफ नहीं किया।" वह अंधेरे में कहीं चली गई। मेरे पांव मन-मन भर के हो गए थे। जैसे-तैसे सीढ़ियां चढ़कर ऊपर आया तो देखता क्या हूं कि मेरा बिस्तर किसी ने बांध दिया है। मेरे कपड़े किसी ने अटैची में डालकर उसे बंद कर दिया है। बड़े भाई उदयशंकर भट्ट ने मुझसे कहा–"चलो, तक्षशिला चलेंगे। सवेरे छः बजे गाड़ी निकल जाती है।"

मैंने नंगे पलंग पर पांव फैलाते हुए कहा–"आज नहीं"। लेकिन मेरे इस कथन पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। वे लोग ऊपर खड़े-खडे उस लड़की से मेरा वार्तालाप सुन चुके थे। बंधुवर प्रेमीजी ने मेरा हाथ पकड़ते हुए कहा कि इंदु शेखर और बच्चनजी की घटनाएं पंजाब में घट चुकी हैं। तुमको हमें सकुशल दिल्ली पहुंचाना है।

उसके बाद का किस्सा बहुत लंबा है। उसे फिर कभी लिखूंगा। आज तो इस गलतफहमी को ही मुझे स्पष्ट करना है जिसकी वजह से यह हंगामा हुआ। मेरी कविता में यह पंक्ति थी–"उनके पीछे उनकी 'दराज' से कभी नहीं उत्पात करो।" मेरा मतलब मेज की 'दराज' यानी ड्रोअर अथवा खाने से था, लेकिन रावलपिंडी में दराज अंडरवीयर को कहा करते थे।

जिन्ना पर लिखा : जान पर बन आई

गांधीजी नर-रत्नों के अद्भुत पारखी थे। देशभर के हजारों स्त्री-पुरुषों को खोज-खोजकर और परख-परखकर उन्होंने उनके हाथ मे राष्ट्र-ध्वजा थमा दी। वे स्वतंत्रता-संग्राम के बलिदानी सैनिक बने और राष्ट्र ने उन्हें अपने नायक के रूप में स्वीकार किया। आश्चर्य है कि बापू मिस्टर जिन्ना को क्यों नहीं पहचान सके ? जब कांग्रेस संगठन में और बंबई जैसे महानगर में उनका व्यक्तित्व बुलंदी पर था, उनके नाम का 'जिन्ना भवन' आज तक वंबई में है, तब महात्माजी का वरदहस्त अपने आशीर्वादों सहित उनके सिर पर क्यों नहीं पड़ा ? क्यों वह कांग्रेस से हटने को मजबूर हुए ? गांधीजी तव चुप कैसे रहे ? जव जिन्ना साहब राष्ट्र की मुख्य धारा से कटकर अंग्रेजों की शतरज के मोहरे बन गए तभी गांधीजी का ध्यान विशेष रूप से उनकी ओर आकृष्ट होने लगा। मान-मनौवल चला। लंबा पत्र-व्यवहार हुआ। स्वतंत्र भारत मे जो भी पद वह लेना चाहे, उसकी पेशकश की गई पर जिन्ना नही माने। धर्म के नाम पर देश का विभाजन हो गया। पाकिस्तान बन गया।

मैंने भी हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए कभी कार्य किया था। मै भी विभाजन से बहुत दुखी था। जिन्ना साहब से बंबई जाकर मैंने भी एक बार बातें की थीं। परंतु मै ताड़ गया कि वह कट्टर मुस्लिम सांप्रदायिकता की दलदल में आकंठ फंस गए हैं। तब मैंने उन पर व्यंग्य-बाण कसना शुरू कर दिया।

जब वह गांधीजी की हर बात पर 'ना' दुहराने लगे तो मेरी एक कविता प्रकाशित हुई–

मैं उस गुरु का शिष्य हूं,
जो 'ना' सिखाकर मर गए।
'हां' से तौबा कर गए
और नाम 'जी, ना' धर गए।

जब सरकारी प्रचार माध्यमों द्वारा जिन्ना को उछाला जाने लगा, हमारे राष्ट्रीय पत्र भी आदत के अनुसार उनके बयानों को मोटी-मोटी सुर्खियां देकर छापने लगे और गांधीजी तब भी हिम्मत न हारकर उनसे पत्राचार करते रहे, तो क्षमा कीजिए, मुझे उनकी यह बात पसंद नहीं आई। क्योंकि मैं ही नहीं, तब तक समस्त देश जान चुका था कि जिन्ना साहब के अड़ियल रुख को बदला नहीं जा सकता। तब मैंने रूठी हुई पत्नी से उनकी तुलना करते हुए लिखा–

आज कलम की धार कुंठिता,
इंकपॉट भी खाली है।
कविता कैसे नई लिखूं ?
जब रूठ गई घरवाली है।

ओ घरवाली, खामखयाली
नाहक ही शमशीर निकाली,
मैं कब गया सिनेमा, तुमने
रोनी सूरत व्यर्थ बना ली।

और देर से घर आने का
कारण भी सुन लो, कल्याणी !
मिस्टर जिन्ना की सुनता था,
आज रेडियो पर से वाणी।
उनकी वाणी ऐसी सुंदर,
ऐसी मीठी, ऐसी मनहर,
जैसी कभी-कभी खुश होकर,
तुम मुझसे कहती हो, रानी !

उनके तर्क अकाट्य कि जैसे,
तुम कर देतीं मुझे निरुत्तर
ज्ञानवान वह ठीक तुम्हारी तरह
बुद्धि से पूर्ण प्रखर स्वर।

वे भी करते हैं प्रमाण के सहित
सदा ही तीखी बातें,
कौन पराजित नहीं हुआ है,
उनका भीषण भाषण सुनकर।

लंबी नाक, छरहरी काया,
सब कुछ मिल जाता समान है,
उनका पाकिस्तान तुम्हारे
पीहर बसने के समान है।

उस समय के वातावरण में यह कविता छा गई। सैकड़ों ही प्रशंसा के पत्र मुझे मिले। लेकिन अलीगढ़ से एक पत्र आया। लिफाफे के अंदर छोटे-छोटे बाल कतरकर रखे हुए थे। पत्र में लिखा था–"तुम तो जिन्ना साहब के 'इनके' बराबर भी नहीं हो।" और धमकी भी दी गई।

मैं न तो हतोत्साहित हुआ और न डरा। बल्कि उन कट्टर मुस्लिम-लीगियों के विरुद्ध मेरे व्यंग्य-बाण और तेज हो गए। मैंने लिखी एक कविता, जिसका शीर्षक था–'हिजड़िस्तान'। जब जयपुर के एक कवि-सम्मेलन में जिसकी अध्यक्षता सुप्रसिद्ध साहित्यकार और राजनेता श्री के. एम. मुंशी कर रहे थे, मैंने 'हिजड़िस्तान' नामक कविता वहां सुनाई तो पाकिस्तान के अंग्रेजी अखबार 'डॉन' ने मेरे साथ मुंशीजी की भी कसकर खबर ली। कविता की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं–

लाल कुआं नख्खास लखनऊ से
ढोलक पर नारा है–
दूर हटो ए मुए मर्दुओ !
हिजड़िस्तान हमारा है।

हम वृहन्नला के वंशज हैं,
व्यापक इतिहास हमारा है,
हमने ही पिछले भारत में
वह भीष्म पितामह मारा है।

तुम कोश-व्याकरण में देखो
तो लिंग नपुंसक पाओगे,
सब लोगों ने हम लोगों की
सत्ता को पृथक पुकारा है।

है धर्म हमारा अलग, जाति भी अलग
न भाषा मिलती है,
तो कहो कि हम किसलिए
नहीं फिर हिजड़िस्तान बना सकते ?

तो अये हये हम लोगों की
मांगों को भी मंजूर करो...
आदि-आदि ।

अलीगढ़ शहर में इन कविताओं की अलग-अलग प्रतिक्रिया थी । मेरी ऐसी कविताओं को सुनने के लिए अलीगढ़ के लोगों ने एक कवि-सम्मेलन का आयोजन किया। इसमें मुस्लिम यूनीवर्सिटी के छात्र भी काफी तादाद में आए थे। मेरी कविताओं पर कोहराम मचना स्वाभाविक था । वह मचा भी । अलीगढ़ के जिलाधीश जो इस आयोजन की अध्यक्षता कर रहे थे, उनके कारण कवि-सम्मेलन तो अराजकता से बच गया। लेकिन जाते-जाते मुस्लिम छात्र यह चेतावनी दे गए कि यह कवि अलीगढ़ से जिंदा वापस नहीं जा सकता।

कवि-सम्मेलन समाप्त होने पर धर्म समाज कॉलेज के छात्रों ने मुझे अपने घेरे में ले लिया और डेरे तक मुझे पहुंचाने आए। मैं रात की ही गाड़ी से दिल्ली लौटनेवाला था। लोगों ने मना किया कि इस गाड़ी से मत जाओ। लेकिन मैं अपने निश्चय पर दृढ़ रहा । तब धर्म समाज तथा दूसरे स्कूलों के लड़के और कुछ अन्य लोग हॉकियां और लाठियां ले-लेकर मेरे साथ स्टेशन तक हो लिए।

अलीगढ़ स्टेशन पर लीगी छात्र पहले से ही हॉकियां लेकर तैयार थे। लोगों ने मुझे बताया कि कुछ के पास छुरे-चाकू भी थे । जिला प्रशासन को भी इसकी भनक थी । इसलिए वहां पुलिस का भी खासा प्रबंध था। लाठियां और हॉकियां तो नहीं चलीं, लेकिन दोनों तरफ से नारेबाजी जमकर हुई। मैं जिस डिब्बे मे बैठा उसमें मेरे रक्षक छात्र भी सवार हो गए। उधर विरोधी दल के लोग भी यह कहते हुए कि अलीगढ़ स्टेशन पर बचा लिया तो क्या है, हम दिल्ली तक नहीं छोड़ेंगे, दूसरे डिब्बों में जबरन घुस गए।

गाड़ी स्टेशन पर स्टेशन पार करते हुए गाजियाबाद आई । तब कहीं जाकर यूनीवर्सिटी के छात्र उतर पड़े। यह देखकर मेरे पक्ष के लोग भी गाड़ी से उतर आए। लेकिन मेरे डिब्बे में सवार आठ-दस हृष्ट-पुष्ट छात्रों ने मुझे दिल्ली जंक्शन तक ही नहीं, मेरे घर तक सकुशल पहुंचाया।

मैं बच गया। मेरे समर्थक छात्र भी बच गए। कोई दंगा-फसाद हुआ ही नहीं, तब समाचार कैसे छपता ? अगर दंगा हो गया होता तो मैं भी हिन्दू-मुस्लिम फसाद का एक कारण बनने से नहीं बच सकता था। शुक्र है कि मेरी राष्ट्रीय भावना कायम रही। जो भी हो, मेरी कविता ने एक रंग यह भी दिखाया। मेरे कवि-सम्मेलनों के इतिहास में यह घटना मेरे लिए अविस्मरणीय बन गई। शायद ही किसी कवि के साथ उसकी रचनाओं को लेकर ऐसी घटना घटी हो, लेकिन दोनों तरफ की कट्टर मानसिकता अभी भी कायम है। सलमान रुश्दी आज भी ऐसी मानसिकता के परिणाम को अज्ञातवास में रहकर भोग रहे हैं।

नीरज ने फंसाया : प्रेमी ने बचाया : बुरा किया

बात तब की है जब दूसरा महायुद्ध चल रहा था। अंग्रेज और उनके मित्र राष्ट्र युद्ध के मोर्चों पर तो आगे बढ़ रहे थे, लेकिन भारत में उनके पैर उखड़ रहे थे। जैसे दीपक की लौ बुझने से पूर्व भड़कती है वैसे ही भारत की गोरी सरकार जाने से पूर्व भड़की हुई थी। यद्यपि धरती पांवों के नीचे से खिसक रही थी और ब्रिटिश सरकार का पतन तेजी से निकट आ रहा था, लेकिन उसने अभी तक हिम्मत नहीं हारी थी। वह सहारे के लिए तिनका-तिनका टटोल रही थी। बुद्धिजीवियों को साथ लेने के लिए उसने डोरे डालने शुरू कर दिए थे। लोगों का ध्यान 'भारत छोड़ो आंदोलन' से हटाने के लिए उसने तरह-तरह के प्रयोग शुरू कर दिए। इनमें मुशायरे और कवि-सम्मेलन भी थे। हमारे दिनकरजी और उसके बाद नीरज इस जाल में फंस गए। देश-भर में मुशायरों और कवि-सम्मेलनों के आयोजन होने लगे। हमारे ये दोनों मित्र हिन्दी-कवियों को बड़ी-बड़ी राशियां देकर इनमें आमंत्रित करने लगे। कवियों से आशा की जाती थी कि वे हिटलर को रावण और मित्र राष्ट्रों को राम-दल सिद्ध करें तथा उनकी 'वी फॉर विक्ट्री' के गीत गाएं। यदि सीधा विजय-गान न गा सकें तो प्रकारांतर से ही सही। और कुछ न करें तो अपनी रोमानी शायरी और प्यार-मोहब्बत के गीतों तथा हंसी-मज़ाक से जनता को बांधे रहें, बहलाए रखें।

मेरी कविताएं उन दिनों लोकप्रियता की ऊंचाई पर थीं। कवि-सम्मेलनों में मेरी उपस्थिति लगभग अनिवार्य-सी बन चुकी थी। प्रति सप्ताह दिल्ली के 'हिन्दुस्तान' में मेरी कविताएं छपती थीं और लगभग प्रति सप्ताह मुझे एक दिन तो अवश्य ही कविता-पाठ के लिए बाहर जाना होता था। मेरा बिस्तरबंद और अटैची हरदम तैयार रहते थे। बुलावा आया और मैं गया। मेरे साथी कहा करते थे—"शनिवार की रैन, व्यास को कहां चैन ?" परंतु मैं इस प्रकार के सरकारी कवि-सम्मेलनों में मित्रों के आग्रह के बावजूद नहीं जाता था।

लेकिन एक बार इटावा से मेरे द्वारा बुलाए, अपने घर पर बिठाए-जिमाए,

कवि-सम्मेलनों में चलाए-तैराए नीरज के जाल में फंस गया। उसने कहा, "तुम तो हास-परिहास के कवि हो। तुम्हारी कविताओं पर कोई पाबंदी नहीं है।" मैं नीरज के आग्रह को तो शायद टाल भी जाता, पर भाई कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' का संदेश आया और मेरठ के पत्रकार, वहां के सामाजिक और राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता श्री विश्वंभर सहाय 'प्रेमी' अपने किसी मित्र की गाड़ी लेकर मेरे पास आ गए तो सहारनपुर के उस स्मरणीय कवि-सम्मेलन में जाना पड़ ही गया।

देखा, वहां कवियों की अच्छी-खासी जमात मंच पर जमी थी। विशाल पंडाल श्रोताओं से खचाखच भरा हुआ था। मेरे पहुंचने की जब घोषणा हुई तो श्रोताओं ने तालियों से मेरा स्वागत किया। मैंने सोचा—ठीक है, चलेगा। मैं फॉर्म में आ गया। श्रोताओं ने उछल-उछलकर मेरी कविताओं का स्वागत किया। मुझे कई बार कविताएं पढ़नी पड़ीं। श्रोताओं तथा मंच की सराहना भी प्राप्त की। कवि-सम्मेलन राजी-खुशी संपन्न हो गया। जिलाधीश इसकी अध्यक्षता कर रहे थे। तहसीलदार और दूसरे बड़े अधिकारी भी इस आयोजन में उपस्थित थे। इनमें पुलिसवाले भी शामिल थे।

कवि-सम्मेलन के बाद जाते-जाते जिलाधीश, तहसीलदार साहब के कान में कुछ कह गए। कुछ कहा होगा ? मेरा ध्यान उस तरफ नहीं, पारिश्रमिक के लिफाफे की ओर था। एक-एक कर कवियों को पुकारा जा रहा था और उन्हें लिफाफे दिए जा रहे थे। मैं अपनी बारी की प्रतीक्षा कर रहा था। लेकिन यह क्या ? सभी कवि चुका दिए गए। वे लिफाफे जेबों में रखकर रफू-चक्कर भी हो गए, लेकिन मैं बैठा ही रहा। बाद में मुझे बताया गया कि लिफाफा ही नहीं, मुझे भी रोके रखने के आदेश दिए गए हैं।

कवि चले गए थे। भीड़ भी चली गई थी। मैं सोच रहा था—बच्चा, अब तक तो बचे रहे, लेकिन आज की उतरती रात यह शुभ घड़ी आ ही गई। अच्छा है, तोड़-फोड़ के इल्जाम में नहीं, कविताओं के कारण मुझे बंदी बनाया गया तो स्वतंत्रता-सेनानियों में मेरा भी नाम लिख जाएगा कि एक साहित्यकार भी अपनी कविताओं के कारण गोरी सरकार का मेहमान बन गया।

जानोगे, मेरा कसूर क्या था ? जिलाधीश और सरकारी अधिकारियों को कविता से क्या लेना-देना था। वे तो अपनी ड्यूटी पर थे। जब उन्होंने मेरी कविताओं में हिटलर का नाम सुना, जब चर्चिल को डिक्टेटर बनाते हुए पाया और जगह-जगह कामरेड और स्टालिन शब्द सुने तो भड़क उठे तथा मुझे बागी करार दे दिया गया।

मैं उन दिनों पत्नी के माध्यम से रोचकता उत्पन्न करके गोरी सरकार पर व्यंग्य-बाण छोड़ा करता था। मेरा यह पत्नीवाद उस समय साहित्य में जोर मार रहा था। मैंने उस कवि-सम्मेलन में अपनी एक कविता में ऐसा कह सुनाया था—

उनको अपनी हिटलर समझो,
चर्चिल-सा डिक्टेटर जानो,
पत्नी को परमेश्वर मानो।

इस प्रकार एक अन्य कविता का यह उदाहरण भी नोट किया गया—

ऐ कामरेड, घर-गवर्मिंट
मेरी स्टालिन, बोलो तो ?
मैं चर्चिल कब का खड़ा,
अजी, फौलादी मुखड़ा खोलो तो।

उस समय की तानाशाह गोरी सरकार के लिए मेरे विरुद्ध कार्रवाई करने के लिए इतना ही काफी था।

वह जमाना ऐसा था, जब पंडित किशोरीदास वाजपेयी ने एक विनोदपूर्ण कविता लिखी, जिसका आशय था—पत्नी ने उर्द की दाल के बड़े बनाए। बड़ी रुचि से काफी तादाद में खाए। रात को सोया तो अपान वायु का धड़ाका हुआ—बम ! बम ! ! बम ! ! ! सरकार घबरा गई। कहां फटा ? कैसे फटा ? व्याकरणाचार्य वाजपेयीजी तब कांग्रेस के कर्मठ कार्यकर्त्ता ही नहीं, हरिद्वार के नेता भी थे, धर लिए गए। सजा हो गई। मैं उस कविता को याद करके हंस पड़ा।

लेकिन, भाई प्रभाकरजी और प्रेमीजी चिंता में पड़े थे तथा दौड़-धूप कर रहे थे। उन्होंने अधिकारियों से कहा—व्यास केवल कवि ही नहीं है, हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ दैनिक 'हिन्दुस्तान' में एक संपादक भी है। उसे कविताओं के कारण अगर बंदी बनाया गया तो ये खबर कल के अखबारों में मोटी-मोटी सुर्खियों में छपेगी और जनता में आग की तरह फैल जाएगी। बात प्रांतीय असेंबली से लेकर केन्द्रीय सरकार के कानों तक पहुंचेगी और आप परेशानी में पड़ जाएंगे।

मेरे वकीलों की यह दलील जोरदार थी। बात समझ में आ गई। उन्होंने सोचा कि ठाली बैठे कौन झंझट मोल ले ? कवि-सम्मेलन पूरा हो गया। सफलता से हो गया। यही बहुत है। टालो इस बला को। सूरज की किरण फूटते-फूटते मुझे लिफाफा मिल गया और मैं सुर्खरू होने से बच गया। आज सोचता हूं कि अगर उस दिन मुझे बंदी बना लिया जाता तो कितना अच्छा होता !

उस दिन कविता धन्य हो गई

मैंने तीन लंबे काव्य लिखे हैं। इनमें से दो को अपनी तरफ से खंडकाव्य और एक को संगीत नृत्यनाटिका भी कह दिया है। लेकिन काव्यशास्त्र और परंपरा के अनुसार ऐसा न मानने के लिए लोग स्वतंत्र हैं। कथ्य प्रमुख है। भाव उससे भी प्रमुख है। विधाओं के कटघरे में उनको बांधना विद्वानों और समीक्षकों का कार्य है। मानो न मानो, मेरा इस पर कोई आग्रह नहीं है।

ये काव्य हैं–'कदम-कदम बढ़ाए जा', (वीर रस), 'अनारी नर' (व्यंग्य-विनोद), और 'रास रसामृत' (ब्रजभाषा में ब्रज, ब्रजेश श्रीकृष्ण तथा उनका रास-रहस्य)। इनमें 'कदम-कदम बढ़ाए जा' अधिक लोकप्रिय हुआ। उसके कई संस्करण निकले। अब वह बाजार में उपलब्ध नहीं है। इसकी रचना-प्रक्रिया भी निराली है। जब नेताजी सुभाषचन्द्र बोस की 'आजाद हिन्द फौज' के तीन सेनानायकों सर्वश्री शाहनवाज, सहगल और ढिल्लो पर दिल्ली के लाल किले में मुकदमा चलाया गया और पैरवी के लिए नेहरूजी भी काला चोगा पहनकर भूलाभाई देसाई की बगल में खड़े हो गए तो मैं जोश से भर उठा। नेताजी से मेरा पुराना संबंध था। यह संबंध जब वह नजरबंदी से साधु का वेश बनाकर निकल भागे और पठान का वेश बनाकर अफगानिस्तान के रास्ते विदेशों में जगह-जगह गए तथा स्टालिन और हिटलर से निराश होकर पश्चिम को छोड़कर पूरब में आए, तब तक भिन्न-भिन्न सूत्रों से कायम रहा। नेताजी ने जब भारत के पूर्वी देशों में बसे भारतीयों को एकत्र करके आजाद हिन्द फौज का गठन किया, उस समय मैंने कुछ जोशीले गीत भी उनके पास पहुंचाए थे। उनकी सभाओं में वे जब-तब गाए जाते थे। आजाद हिन्द फौज के प्रसिद्ध प्रयाण गीत 'कदम-कदम बढ़ाए जा' को भी मैंने अपनी तरफ से उनके पास भेजा था, जो अब परिवर्तित रूप में प्रचलित है।

हां, तो मैं आजाद हिन्द फौज के मुकदमे की बात कर रहा था। उधर लाल किले में मुकदमा शुरू हुआ और इधर देशभक्ति में सराबोर मेरी कविताएं प्रारंभ हो गईं। ये

प्रतिदिन दैनिक 'हिन्दुस्तान' में छपने लगीं। ऐसी कि जनता का कंठहार बन गईं। प्रभात फेरियों में गाई जाने लगीं। कलकत्ता में तो इन कविताओं ने समां बांध दिया। वहां के एक कवि उन्हें अपनी बताकर मंचों पर गाने लगे। मैं उक्त कवि को वचन दे चुका हूं, इसलिए उनका नाम नहीं बताऊंगा। इन कविताओं के द्वारा उन्होंने कुछ धन भी एकत्र कर लिया। लेकिन जब उन्होंने एक ऐसे मंच पर कविता पढ़ी, जिसके अध्यक्ष 'कलकत्ता के हिन्दी दैनिक 'विश्वमित्र' के स्वामी और संपादक श्री मूलचंद अग्रवाल थे और संयोजक थे प्रसिद्ध साहित्यकार 'नया समाज' के संपादक मेरे मित्र श्री मोहन सिंह सैंगर तो कवि की कलई खुल गई। वह मंच से चिल्लाए–'गलत ! ये कविताएं दिल्ली के गोपालप्रसाद व्यास की हैं ! मैं 'हिन्दुस्तान' अखबार लेता हूं। मैंने इन कविताओं को काटकर रखा है। दिखा सकता हूं। बाबू मूलचंदजी अग्रवाल ने भी इसकी पुष्टि की। कवि का चेहरा तो यह सुनकर उतर गया, लेकिन उसने अपनी गलती स्वीकार नहीं की। श्रोता दुविधा में पड़ गए।

इन सब बातों की सूचना पत्र द्वारा मुझे सैंगरजी ने भेजी। यह भी लिखा कि इस भ्रम के निराकरण के लिए हम कलकत्ते में अमुक तिथि को एक कवि-सम्मेलन कर रहे हैं। उसमें आप अवश्य आइए। मैंने निमंत्रण स्वीकार कर लिया। लेकिन उक्त सम्मेलन और उसमें मेरे पहुंचने की बात का पता उन कवि महोदय को भी लग गया। वह घबरा गए। उन्होंने पत्र लिखकर अपनी गलती स्वीकार की और लिखा–"मुझे जो रुपये प्राप्त हुए थे, उनमें से इस समय तेरह सौ रुपये ही बचे हैं। वह भेज रहा हूं। कृपया मुझे बचाइए। मेरी इज्जत अब आपके हाथ में है।" मैंने उत्तर दिया–"पत्र और राशि के लिए धन्यवाद ! मैं मंच पर अपनी तरफ से आपके संबंध में कुछ नहीं कहूंगा। आश्वस्त रहिए। ऐसा तो कभी-कभी हो ही जाया करता है। आपने तो मेरी कविताओं को और उनकी भावनाओं को जनता तक पहुंचाया है। शेष रुपये भी लौटाए हैं, यही संतोष मेरे लिए काफी है।"

कलकत्ता के बड़ा बाजार में बड़े पैमाने पर कवि-सम्मेलन का आयोजन किया गया। पत्र-पत्रिकाओं में, हैंडबिलों में और निमंत्रण-पत्रों में मेरे नाम का प्रमुखता से प्रचार किया गया। कलकत्ता के कवि-सम्मेलनों में मैं कई बार गया हूं, परंतु इतना बड़ा कवि-सम्मेलन मैंने वहां कभी नहीं देखा। सड़कें और गलियां श्रोताओं से भरी हुई थीं। मकानों की छतें और छज्जों पर नर-नारी बैठे थे। दिनकरजी सभापतित्व कर रहे थे। मूलचंदजी स्वागताध्यक्ष थे। सैंरगजी संचालन कर रहे थे। उन्होंने उक्त कवि-सम्मेलन का प्रयोजन बताया और कहा कि असली कवि आज आपके सामने हैं। मैं जब कविता सुनाने उठा तो देर तक तालियां बजती रहीं। दिनकरजी ने इस तरह मेरा परिचय दिया कि मैं उत्साह से भर उठा। एक के बाद एक 'कदम-कदम बढ़ाए जा' की कविताओं का मैंने बुलंदी के साथ पाठ किया। जनता मुझे छोड़ ही नहीं रही थी। जित्तनी कविताएं मुझे याद थीं, मैंने सब सुना दीं। जनता 'नेताजी जिन्दाबाद !' और मेरी जय-जय के नारे लगा रही थी। दिनकरजी ने मंच पर ही मुझे अपनी छाती से लगा लिया। कहा–"तुम धन्य हो ! कवि नहीं, महाकवि हो।" बाबू मूलचंदजी ने एक तोले सोने का मैडल मेरे सीने पर टांक दिया। जनता से

भी रुपये आने लगे। पर मैंने आभार सहित रुपयों को लौटा दिया और कहा कि आपकी उदारता के लिए धन्यवाद, किंतु कविता को रुपयों से नहीं आंका जाता। आपकी सराहना ही मेरे लिए लाखों रुपयों के बराबर है। विशेष बात यह हुई कि मेरे पिताजी भी उन दिनों कलकत्ता में थे और भीड़ के एक कोने में खड़े हुए मेरी कविताएं सुन रहे थे। विशेष इसलिए कि मेरी हास्यरस की कविताओं से उन्हें कोई लगाव नहीं था। पर जब दूसरे दिन उन्होंने मेरी कविताओं की प्रशंसा की, तो मैं अपने विरक्त वैष्णव पिता के आशीर्वाद से अमूल्य निधि पा गया। मेरी कविताओं को अपनी बताकर मंचों पर पढ़नेवाले कवि भी भीड़ में कहीं दुबके बैठे थे। वह अवश्य आश्वस्त हुए होंगे कि न मैंने उनका नाम लिया और न प्रकारांतर से धनसंग्रह की बात ही कही। बिना भूमिका के सिर्फ कविताएं सुनाता रहा।

फिर तो कलकत्ता में पूरे सप्ताहभर तक विभिन्न सस्थाओं द्वारा मेरे एकल कविता-पाठ के आयोजन दिन में दो-दो, तीन-तीन बार होते रहे। इस तरह कलकत्ता का प्रत्येक हिन्दी प्रेमी मुझे जान गया और मान गया।

परंतु यह तो कलकत्ता की परंपरा है। कोई कवि हो, गायक हो, विद्वान हो, नेता या अभिनेता हो, जो उन्हें पसंद आता है, उसे कलकत्तावासी कंधों पर उठा लिया करते हैं।

इस कविता-यात्रा में सबसे अधिक मार्मिक और सौभाग्यशाली अवसर तो मेरे लिए वह था, जब नेताजी के परिवार ने मुझे अपने घर पर बुलाकर मेरी आजाद हिन्द फौज वाली कविताओं को अश्रुपूर्ण नयनों से सिसकियां भरते हुए बार-बार सुना। जब मैंने अपनी 'तुलादान'वाली कविता सुनाई तो रोमांचकारी दृश्य उपस्थित हुआ। नेताजी की माताजी रोती-बिलखती उठीं और मुझे अपनी छाती से लगा लिया। पुत्र-पुत्र ! पुत्र-पुत्र ! ! शब्द के अतिरिक्त उनसे कुछ नहीं बोला गया। मैंने उनके चरण छुए और कृतकृत्य हो गया। आज मेरी कविता सचमुच धन्य हो गई थी। और मैं ? अपनी उस समय की अवस्था का वर्णन शब्दों में नहीं कर सकता। 'कदम-कदम बढ़ाए जा' के कवि के कदम भी उस समय लड़खड़ा गए थे।

कवि-सम्मेलन लाल किले के

न कम न ज्यादा, पूरे पच्चीस वर्षों तक मैंने लाल किले पर एकछत्र राज्य किया है। ऐसा जैसा कि न शाहजहां ने किया और न बहादुरशाह जफर ने। राजा तो असली वह होता है जिसे प्रजा का प्यार मिले। आदर मिले। लोग यही कहते सुने जाएं कि वाह ! वाह ! ! मुझे दिल्ली की प्रजा से यही बेशकीमती उपहार मिला है। लाल किले पर हुकूमत करनेवाले बादशाहों से लेकर आजादी के बाद उस पर झंडा फहरानेवाले प्रधानमंत्रियों तक के नाम जिस तरह हिन्दुस्तान की तवारीख़ में दर्ज हैं, वैसे ही दिल्ली के लोगों में ही क्यों, भारत-भर के काव्यप्रेमियों में यह व्यास नाम का जो व्यक्ति है, उसका नाम भी लाल किले के साथ ऐसे जुड़ गया है, जैसे अंगूठी में नगीना। शायद आप समझ गए होंगे, मैं किसी राजा या राज की नहीं, लाल किले के कवि-सम्मेलनों की बात कह रहा हूं। सन् तिरेपन से अठहत्तर तक मैंने इस अखिल भारतीय ही क्यों, विदेशों तक में चर्चित लाल किले के ऐतिहासिक कवि-सम्मेलन का संचालन किया है। देश में इतने विशाल, इतने साहित्यिक और इतने लोकप्रिय कवि-सम्मेलन आज तक कहीं और कभी नहीं हुए। कविवर बच्चनजी ने इस कवि-सम्मेलन को देखकर अपने कविता-पाठ से पहले कहा था–"न भूतो" यानी ऐसा कवि-सम्मेलन मैंने पहले कहीं नहीं देखा। जब महाकवि दिनकर इस कवि-सम्मेलन के अध्यक्ष बने और पंडित जवाहरलाल नेहरू इसका उद्‌घाटन करने आए तो 'रश्मिरथी' के प्रणेता ने अपने धीर-गंभीर स्वर में उद्‌घोष किया था–"न भूतो न भविष्यति।" अर्थात् न ऐसा पहले कभी हुआ और न ही होगा।

यह ऐसा कवि-सम्मेलन था, जिसकी प्रतीक्षा में लोग महीने और तारीखें गिना करते थे। देश के लब्धप्रतिष्ठ और उदीयमान कवि महीनों पहले मुझे याद किया करते थे। प्रेम-पत्र लिखा करते थे। बड़े-बड़े कवियों और साहित्यकारों की मन ही मन यह कामना रहा करती थी कि वे ही इस बार अध्यक्षता के लिए सबसे उपयुक्त हैं। कवि-सम्मेलन के टिकट तेईस जनवरी से प्रायः पहले ही बिक जाया करते थे। कुछ लोग टिकटों को पहले से प्राप्त करके

बचाकर रख लिया करते थे और लाल किले के लाहौरी दरवाजे के बाहर ब्लैक में भी बेचते सुने जाते थे। रात के बारह बजे के बाद श्रोताओं की भीड़ को रोक पाना न स्वयंसेवकों के वश में होता और न अधिकारियों के अधिकार में। तब सबके लिए फाटक खोल दिया जाता। उसका परिणाम यह होता कि पंडाल की कनातें हटानी पड़तीं। श्रोताओं को बिठाने के लिए दरियां बिछा दी जातीं। एक-दो बार तो ऐसा भी हुआ कि दरियों का ये सिलसिला लाल किले के दरवाजे के बाहर तक पहुंच गया। वहां तक लाउडस्पीकरों का भी प्रबंध करना पड़ गया। यह सब व्यवस्था मेरे अनन्य साथी श्री महावीरप्रसाद बर्मन, जो नाम से नहीं, काम से भी महावीर थे, के अधीन होती थी। वह रात-रात जागकर पंडाल खड़ा करते थे और जिस मुस्तैदी तथा सूझबूझ से फटाफट दरियों, लाउडस्पीकरों और प्रकाश की व्यवस्था करते, वह उनके अद्भुत शौर्य और अनुभव का परिचायक होता था। स्वयंसेवक और सुरक्षा का दायित्व महावीर दल के दलपति व मेरे साथी श्री ओमप्रकाश गोयल के जिम्मे होता था। वह दिल्ली से ही नहीं, दूर-दूर से इस कवि-सम्मेलन के लिए स्वयंसेवकों को व्यवस्था के लिए बुलाया करते थे। विनम्रता के साथ-साथ जरूरत पड़ने पर वह दंड-प्रहार से भी नहीं चूकते थे। क्या मजाल कि कहीं से कोई शोर हो जाय? पंडाल पच्चीस हजार लोगों के बैठने के लिए बनता था। लेकिन आधी रात के बाद संख्या बढ़ती ही चली जाती थी। सुबह पौ फटने के बाद भी लोग उठने को तैयार नहीं होते थे। उनका आग्रह होता था कि अभी बसे नहीं चली हैं। कुछ देर और। कवि-सम्मेलन रात को आठ बजे प्रारंभ होता और कम-से-कम प्रातःकाल छह बजे तक तो चलता ही था। कुछ श्रोता तो कंबल साथ लाते और समाप्ति पर दिन चढ़ने तक सोते रहते थे।

किसी कवि-सम्मेलन का महत्त्व अधिक देर तक चलने या उसमें अधिक लोगों के उपस्थित होने से नहीं आंका जा सकता। कवियों की अधिक संख्या होने से या उसका सभापतित्व अथवा उद्घाटन कितना बड़ा राजपुरुष करता है, ये भी महत्त्वहीन है। नामवर कवियों और नामी गिरामी व्यक्ति के स्वागताध्यक्ष बनने को भी कवि-सम्मेलन की सफलता की कसौटी नहीं माना जा सकता। लाल किले के कवि-सम्मेलन में स्वागताध्यक्ष तो होता ही नहीं था। आजकल की तरह घंटों तक बारी-बारी से राजपुरुषों या कवियों को मालाएं पहनाकर लोग फोटो नहीं खिंचवाते थे। केवल दो मालाएं मंगवाई जाती थीं। पहली अध्यक्ष के लिए जो वरिष्ठ साहित्यकार होता था और दूसरी उद्घाटनकर्त्ता के लिए। कवि-सम्मेलन का महत्त्व उत्तम कवियों के चुनाव, उनकी सर्वोत्तम कविताओं के प्रभावी प्रस्तुतीकरण और श्रोताओं की रसज्ञता से आंका जाना चाहिए। लाल किले के कवि-सम्मेलन में हमारा इन्हीं बातों पर ध्यान रहता था। निमंत्रण-पत्र भी काव्य-रसिकों को ही भेजे जाते थे और टिकट बेचनेवाली संस्थाओं, दुकानों और व्यक्तियों को यह सख्त हिदायत रहती थी कि टिकट किसी ऐसे व्यक्ति को पैसे के कारण न बेची जाए, जो हिन्दीनिष्ठ या कविता का प्रेमी न हो। फिर भी इतने बड़े हुजूम में दो-चार अरसिक, अराजक और बीच-बीच में उठकर जानेवाले आ ही जाया करते थे। ऐसे लोगों को प्रायः आस-पास के लोग ही समझा लेते थे, बरज देते थे। नहीं तो स्वयंसेवक तो थे ही। यही कारण है कि इन पच्चीस वर्षों में न किसी महिला के साथ कोई तानाकशी या छेड़खानी हुई और न आपस में हाथापाई

की नौबत ही आई। आज तो कवि-सम्मेलनों में श्रोता ही परस्पर नहीं झगड़ते, कवियों तक की पिटाई हो जाती है। एक-दो जगहों से गोली चलने के समाचार भी प्राप्त हुए हैं। लाल किले में लोग कविता सुनने आते थे, न कि हुड़दंग करने। वैसे भी तब दिल्ली की जनता अनुशासनप्रिय और शांति तथा व्यवस्था के प्रति स्वयमेव प्रयत्नशील रहती थी और कवि-सम्मेलन निर्विघ्न तथा अबाध रूप में चलता रहता था।

यह नहीं कि कवि-सम्मेलन में जब-तब आवाजें न उठती हों, परंतु यह शोर नहीं, हूटिंग भी नहीं, बल्कि आग्रह होता था कि उक्त कवि से एक कविता और सुनवाई जाए। विशेष पंक्तियों को फिर दुहराया जाए या दूसरे या तीसरे दौर में उनके मनपसंद कवियों से ही कविता-पाठ कराया जाए आदि। अब तो कवि सम्मेलनों में हो-हो, बोर-बोर, नहीं-नहीं, बैठ जाओ-बैठ-जाओ तथा तालियों की ऐसी गड़गड़ाहट और ऐसी हूटिंग कि कवि का खड़ा रहना भी मुश्किल हो जाए, आदि बातें आम हो गई हैं। लाल किले के कवि-सम्मेलन में ऐसा कभी नहीं हुआ। तब मेरी आंखें दूर-दूर तक देख सकती थीं। दूर-दूर तक बैठे व्यक्ति-व्यक्ति को पहचान सकती थीं। उनमें से अधिकांश मुझसे किसी-न-किसी प्रकार से जुड़े होते थे। मैं उनका प्यारा कवि ही नहीं, हिन्दी भाषा और कवि-सम्मेलन का आदर-प्राप्त व्यक्ति था। अतिशयोक्ति न समझी जाए तो मैं कहूंगा कि लाल किले के हजारों श्रोता मेरे हसाए हंसते थे, मेरे अंगुली उठाते ही छम्म पड़ जाते थे। मै जिस कवि को प्रोत्साहन देता, वह उसका तालियों से स्वागत करते। वाह-वाह और धन्य-धन्य के साथ-साथ पुनः-पुनः और फिर-फिर की आवाजें भी लगाया करते। जब मैं उन्हें गभीर होकर किसी खास कवि को सुनने के लिए कहता तो श्रोतागण मेरे कहे को मान देते थे। इसलिए लाल किले के मंच पर प्रायः सुरीले कंठ या आकर्षक व्यक्तित्व के साथ-साथ साहित्यिक कृतियों को भी बड़े चाव से सुना जाता था। सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, सुमित्रानंदन पंत, भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा, उदयशंकर भट्ट आदि दर्जनों साहित्य के इतिहास में मान्य महापुरुषों को मैंने लाल किले के मंच से पढ़वाया और जनता ने उनका यथोचित सम्मान किया। कहना नहीं होगा कि ऐसे कवि लिखने में तो पटु होते हैं, छोटी गोष्ठियों में अपनी रचनाएं प्रभावोत्पादक ढंग से प्रस्तुत कर सकते हैं, लेकिन भारी जनसमूह के सामने कविता-पाठ करने में वे झिझकते हैं। क्योंकि पढ़त-पटुता उनमें प्रायः नहीं पाई जाती। अब तो कवि-सम्मेलनों में अच्छे और ऊंचे कवि बुलाए ही नहीं जाते। लोग अब साहित्य सुनने के लिए कवि-सम्मेलनों में नहीं जाते। अब ऐसी राजनीतिक कविताएं कहनेवालों को बुलाया जाता है जो विपरीत मत के मान्य नेताओं की खुलकर खिंचाई कर सकें और उनकी रचनाओं के शब्द गालियों की नालियों तक में बहने लगें। हास्य के नाम पर ऐसे कवि आमंत्रित किए जाते हैं, जिनकी कविता ही नहीं, नाम भी बेतुके होते हैं। वेशभूषा भी अटपटी और विदूषकी होती है। आजकल के कवि-सम्मेलनों में प्रायः ऐसे ही कवियों का जोर रहता है। हास्य लाल किले के कवि-सम्मेलन में भी आमंत्रित होता था, लेकिन आटे में नमक के बराबर। नमक भी इतना नहीं कि पदार्थ ही कड़वा हो जाए। कवि-सम्मेलन को इस स्तर तक लाने के लिए मुझे, मेरे साथियों को और दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन को, जिसके द्वारा लाल किले का कवि-सम्मेलन आयोजित किया जाता था, वर्षों तक दिल्ली

में हिन्दी भाषा और साहित्य का अलख घर-घर जाकर जगाना पड़ा था। गली-मुहल्लों तक में पच्चीसों मंडल बनाने पड़े। वहां छोटी-छोटी गोष्ठियों से लेकर स्थान और सुविधा के अनुसार छोटे-बड़े कवि-सम्मेलन भी करने पड़े। नहीं तो दिल्ली कभी उर्दू और मुशायरों का गढ़ रही थी। जब मैं अगस्त क्रांति के बाद दिल्ली में बसा तो मैंने देखा कि दिल्ली मुगलिया तहजीब, वेशभूषा और शेरो-शायरी के रंग में डूबी हुई है। दिल्ली के हर रईस का घर मुशायरों का केंद्र था। सरकारी और गैर सरकारी बड़े-बड़े बीसियों मुशायरे उन दिनों दिल्ली में हुआ करते थे। दिल्ली के लोग हिन्दी को पूजापाठी ब्राह्मणों की और रामायण बांचनेवाली महिलाओं की भाषा समझते थे। हिन्दी भी कोई भाषा है और उसमे भी कविता हो सकती है, यह लोगों के लिए आश्चर्य और परिहास का विषय था। इसका उदाहरण पंडित जवाहरलाल नेहरू से ही देता हूं। पहले आम चुनाव हुए और उसके लिए कांग्रेस का प्रचार दिल्ली से प्रारंभ करने का निश्चय हुआ तो पंडितजी के दरबार में एक बैठक बुलाई गई। उन दिनों 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के दुर्गादास, शंकर कार्टूनिस्ट और रवि दिवाकर आदि के साथ मैं भी उसका एक सदस्य था। सुकवि गीतकार नरेन्द्र शर्मा भी इसमें शामिल थे। प्रस्ताव आया कि चुनाव अभियान की शुरुआत मुशायरे से की जाय। श्री नरेन्द्र शर्मा और कृष्णचन्द्र विद्यालंकार ने हिन्दी कवि-सम्मेलन की वकालत की। पंडितजी बोले—"हिन्दी कविता को सुनने के लिए दिल्ली में कितने लोग आएंगे ? मुश्किल से पचास-सौ।" मुझे ताव आ गया और मैंने पंडितजी से पूछा—"आप कितने आदमी चाहते है ?" पंडितजी बोले—"कम से कम एक लाख तो होने ही चाहिए।" मैंने कहा—"बस, आप अपने गुप्तचरों से गिनती करवा लेना। हिन्दी कवि-सम्मेलन होने दीजिए और देखिए कितने लोग उसमें उपस्थित होते हैं।" पंडितजी ने मेरी ओर घूरकर देखा। उन्हें कदाचित् विश्वास तो नहीं हुआ, लेकिन मेरे मत का समर्थन लगभग सभी ने किया तो पंडितजी मान गए। रामलीला मैदान में कवि-सम्मेलन आयोजित किया गया। मैंने इसके लिए जी-जान लगा दिए। पंडित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' को अध्यक्ष बनाया। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त से लेकर हिन्दी के सभी शीर्षस्थ साहित्यकार और ऐसे कवि बुलाए कि जिनके नाम से विशाल रामलीला मैदान खचाखच भर गया। जनशक्ति को आकर्षित करने में पंडितजी के व्यक्तित्व का भी काफी योगदान था। कवि-सम्मेलन की समाप्ति पर नेहरूजी ने पीठ ठोककर कहा—"शाबाश ! मैं नहीं जानता था कि लोग हिन्दी कविता से इतना प्रेम करते हैं।" इसीलिए भारत के गणतंत्र घोषित होने पर जब लाल किले में पहले-पहल जश्ने-जम्हूरियत आयोजित किया गया तो मैंने भीतर-ही-भीतर आंदोलन खड़ा कर दिया कि हिन्दी का कवि-सम्मेलन और जश्ने-जम्हूरियत अलग-अलग होने चाहिए। नेहरूजी ने इस पर विचार करने के लिए कुछ लोगों को बुलाया। इसमें उर्दू के लोग भी थे और हिन्दी के लोग भी। हिन्दी के लोगों में नवीनजी, बच्चनजी, नरेन्द्र शर्मा और मैं भी शामिल था। जब मेरे प्रस्ताव का समर्थन उर्दू के प्रसिद्ध शायर और दिल्ली की असेंबली के मंत्री गोपीनाथ 'अमन' ने किया तो पंडितजी मान गए। निश्चय हुआ कि गणतंत्र दिवस के अवसर पर 23 जनवरी को हिन्दी का कवि-सम्मेलन और 24 जनवरी को मुशायरा आयोजित किए जाएं। ये दोनों कार्यक्रम भारत सरकार के प्रतिरक्षा मंत्रालय और दिल्ली प्रशासन की देखरेख और सहायता से संपन्न

हों। श्री अमन को मुशायरे का दायित्व सौंपा गया और मुझे कवि-सम्मेलन का। मेरा यह अनुरोध भी मान लिया गया कि हिन्दी कवि-सम्मेलन व्यक्ति को नहीं, दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन को सौंपा जाए, क्योंकि उसका दिल्ली में व्यापक संगठन है। उसकी अनेक शाखाएं हैं और उसके पास सैकड़ों सेवाभावी कार्यकर्त्ता हैं। इस निश्चय के अनुसार पच्चीस वर्षों तक दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तत्त्वावधान में इन पंक्तियों का लेखक लाल किले में हर तेईस जनवरी को कवि-सम्मेलन का संयोजन करता रहा। यह सिलसिला तब समाप्त हुआ जब आपातकाल के बाद सरकार ने यह निश्चय किया कि ये दोनों ही आयोजन दिल्ली प्रशासन की ओर से होने चाहिए।

मैंने कवि-सम्मेलनों को सदैव हिन्दी-प्रचार का सर्वोत्तम साधन माना है। लाल किले से पहले और उसके बाद भी मैं देश में जगह-जगह हिन्दी कवि-सम्मेलनों में जाता रहा हूं। मैंने सभी स्थानों पर अपनी कविता के साथ-साथ भारतीयों से हिन्दी अपनाने की अपील की है। कन्याकुमारी से कश्मीर तक और कलकत्ता से लेकर करांची तक मैं हिन्दी की ज्योति प्रज्वलित करता रहा हूं। लाल किले के सरकारी आयोजन में भी नहीं चूका। दिल्ली में जिसका नामपट्ट (साइन बोर्ड) सर्वोत्तम होता, उसे ट्राफी दी जाती और पुरस्कृत किया जाता। जिसके शादी-विवाह का निमंत्रण-पत्र हिन्दी में सर्वोत्तम मुद्रित होता, उसे भी सम्मानित किया जाता। प्रतिवर्ष ऐसा ही सम्मान हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कार्यकर्त्ता को भी लाल किले में प्रदान किया जाता था। लाल किले के कवि-सम्मेलन से प्रभावित होकर देश-भर में हिन्दी कवि-सम्मेलन की बाढ़ आ गई। होते पहले भी थे, परंतु लाल किले के कवि-सम्मेलन की प्रतिष्ठा और प्रचार से वे व्यापक बने। जैसे आजकल इंग्लैड रिटर्न्ड और अमेरिका रिटर्न्ड लोगों को राज और समाज में विशेष दर्जा प्राप्त है, वैसा ही दर्जा लाल किले में सम्मिलित होनेवाले कवियों को प्राप्त होने लगा था। वे देश में 'लाल किले के कवि' के नाम से विख्यात हो गए। वे अपने लेटरहेडों पर भी 'लाल किले के कवि' को उपाधि की तरह लिखने लगे। जब उन्हें अन्यत्र किसी कवि-सम्मेलन में कविता-पाठ करने के लिए संयोजक आमंत्रित करते तो उनकी विरुदावली में यह अवश्य जोड़ते कि "ये लाल किले के कवि-सम्मेलन के विख्यात कवि हैं।"

लाल किले के कवि-सम्मेलन ने हिन्दी को अनेक कवि प्रदान किए हैं। बालकवि बैरागी के कथनानुसार—"ये सब चाचाजी (व्यास) के अश्वमेध यज्ञ के घोड़े हैं, जो देशभर में दौड़ रहे हैं।" यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि आज देश में कवि-सम्मेलनों के मंच पर जो सर्वाधिक जमनेवाले और लोकप्रिय कवि हैं, उनमें से नब्बे प्रतिशत पर लाल किले की मुद्रा अंकित है। यहां कुछ नामों का उल्लेख करूंगा, जैसे—नीरज, बालकवि बैरागी, संतोषानंद, निर्धन, मुकुल राजस्थानी, माया गोविंद, काका हाथरसी, ओमप्रकाश आदित्य, सुरेन्द्र शर्मा, अल्हड़ बीकानेरी, जैमिनी हरियाणवी, देवराज दिनेश, रामकुमार चतुर्वेदी 'चंचल', पंजाबी कवि तुलसी, राधेश्याम 'प्रगल्भ', अशोक चक्रधर, विमलेश राजस्थानी, गजानन वर्मा, और दर्जनों ऐसे कवि जो अब नहीं रहे या जिनके नाम इस समय मुझे याद नहीं आ रहे। ये सब लाल किले के कवि-सम्मेलन की उपलब्धियां हैं। एक विशेषता और, इस कवि-सम्मेलन में हम प्रतिवर्ष हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के कवियों को भी बुलाया करते थे।

जैसे—उर्दू, पंजाबी, गुजराती, मराठी, असमिया, बंगाली, मलयाली, तेलुगु और तमिल के अनेक प्रख्यात कवियों ने लाल किले के कवि-सम्मेलन में भाग लिया है। एक बार तो उर्दू के मशहूर शायर फिराक गोरखपुरी भी पधारे थे। सागर निजामी भी आए थे। बिहार के श्री केदारनाथ 'प्रभात', श्री हंसकुमार तिवारी और श्री जानकीवल्लभ शास्त्री ने भी लाल किले को सुशोभित किया है। दिनकर और बच्चन प्रायः हर सम्मेलन में उपस्थित रहते ही थे।

लाल किले के कवि-सम्मेलन को सुशोभित किया नेहरूजी ने, शास्त्रीजी ने, जगजीवन रामजी ने, नेपाल, मॉरीशस और फीजी के भारत स्थित राजदूतों ने, कई केन्द्रीय मंत्री और प्रदेशों के मुख्यमंत्रियों ने और हिन्दी तथा समाज सेवा के क्षेत्र में उल्लेखनीय महापुरुषों ने, जैसे—श्रीनारायण चतुर्वेदी, बनारसीदास चतुर्वेदी, पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामकुमार वर्मा, सोहनलाल द्विवेदी, डॉ. नगेन्द्र, कहां तक नाम गिनाऊं, जिनसे प्रार्थना करता वे दौड़े चले आते।

लाल किले का कवि-सम्मेलन आज भी मेरी आंखों के सामने चलचित्र की तरह छविमान होता रहता है। वह लंबा-चौड़ा मंच, उस पर बिल्ले लगाए हुए बीसियों पदाधिकारी, कविजन और विशिष्ट आमंत्रित व्यक्ति बैठे होते। एक कोने में मेरे लिए विशेष गद्दी तकियों की आसंदी बनाई जाती थी। मेरे दाहिनी ओर पनडब्बा होता था। बाईं ओर पीकदान। सामने होते दो-दो माइक और पीछे होते बार-बार मुझे परामर्श देनेवाले लोग। हजारों की भीड़ में मैं अलग से पहचाना जाता। हर साल इस कवि-सम्मेलन के लिए नए कपड़े बनवाता। इत्रों से महकता रहता। मैं चुटकुलों द्वारा कवि-सम्मेलनों का संचालन नहीं किया करता था। न कभी नेताओं की भंड़ैती करता और न कवियों की अनावश्यक प्रशंसा। मेरी आवाज माइक को सूट करती थी और बुलंद भी थी। मैं श्रोताओं को डांटता भी था और उनकी सराहना भी करता था। मैं दिल्ली की जनता का प्यारा, दुलारा कवि था। लेकिन लाल किले के कवि-सम्मेलन में अपनी कविता सुनाने से प्रायः बचता था। केवल एक बार मैंने रिकॉर्ड तोड़ा था। तब जबकि अध्यक्ष पद को लेकर मैथिलीशरणजी और दिनकरजी में कुछ भ्रांतियां पैदा हो गई थीं। मैथिलीशरणजी को अपनी कविता से कवि-सम्मेलन का शुभारंभ करना था। नेहरूजी उद्घाटन करने आए थे। दिनकरजी जाने या अनजाने यथासमय राष्ट्रकवि को बुलाना भूल गए और मंच पर जमनेवाले पांच कवियों को बुलाकर काव्यपाठ करा दिया। इनमें एक मैं भी था। नेहरूजी आधे घंटे के लिए आए थे, लेकिन डेढ़ घंटे बैठे रहे और मेरी कविता सुनने के बाद वह उठ खड़े हुए। उनके साथ ही मैथिलीशरणजी, नवीनजी, भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा सहित दिल्ली के भी पांच कवि चल दिए। मंच लगभग खाली हो गया। लोकप्रिय कवि पहले ही अपनी कविताएं सुना चुके थे। दिनकरजी सकपका गए, मुझसे बोले—"गोपाल बाबू, अब क्या होगा ?" पहले मैंने गुस्से में आकर कह दिया—"जो किया है उसे भुगतो !" लेकिन जब उन्होंने मेरी ओर कुछ कातर दृष्टि से देखा तो मैंने कहा—"कोई चिंता की बात नहीं, अभी मैं हूं !" यह कहकर मैं अपनी गद्दी पर चला गया। सामने श्रोताओं में मेरठ की एक कवयित्री सावित्री रस्तोगी बैठी थीं। उन्होंने मेरी कविताओं पर विनोदात्मक पैरोडियां लिखी थीं। मैंने उन्हें नाम लेकर

मंच पर बुलाया। कहा–"आज तुम्हारा जौहर देखना है। मैं उन कविताओं को पढ़ूंगा जिन पर तुमने लिखा है। मेरी कविता के बाद तुम बिना बुलाए माइक पर आ जाना और निर्भीक होकर मुझे खरी-खरी सुनाना।" ऐसा ही हुआ। एक कविता मेरी और दूसरी सावित्री रस्तोगी की। इस तरह हम दोनों ने रात के तीन बजा दिए। जनता हंसी के मारे लोट-पोट हो गई। दिनकरजी उठकर मेरे पास आए और बोले–"जम गया !" मैंने कहा–"अभी जमे रहो। छः बजाने हैं।" दिनकरजी वापस जाकर बैठ गए। मैंने श्रोताओं से कहा–"यह जुगलबंदी पांच बजे बाद फिर चालू होगी। तब तक आप जो उत्कृष्ट कवि शेष रह गए हैं उनको प्यार से एवं धैर्यपूर्वक सुनो।" जनता ने आज्ञा का पालन किया। लेकिन मैंने वचन पालन नहीं किया। जैसे ही शेष कवि निःशेष हुए, मैंने जयकारा लगाया–"बोल अटल छत्र की जय !" घड़ी देखी साढ़े पांच बजे थे।

लाल किले के कवि-सम्मेलन को देखकर अन्यत्र भी कई स्थानों पर कवि-सम्मेलन होने लगे। वहां से कविता-प्रेमियों ने हूटिंग की विद्या भी सीख ली। ऐसा लगा कि एक बार जैसे वह निश्चय करके आए हों कि आज लाल किले में भी हूटिंग का आनंद लेना है। केवल कमजोर ही नहीं, जोरदार कवियों को भी वह हताश करने में जुट गए। मेरे संकेतों और डांट-फटकारों का भी असर उस दिन नहीं पड़ रहा था। तब मैंने हूटरों पर एक ब्रह्मास्त्र छोड़ा और वह घबराकर बार-बार कहने लगे–नहीं ! नहीं ! ! नहीं ! ! !

कविता में एक छंद होता है अमृतध्वनि। नाम तो है उसका अमृतध्वनि, लेकिन बड़ी कर्कश ध्वनि उत्पन्न करता है। इसमें वीररस लिखा जाता है। शब्दों का ऐसा घटाटोप होता है कि अर्थ समझ में ही नहीं आता। श्रोता को ऐसा लगता है कि कवि मुंह से नक्कारा बजा रहा है। संयोग से उस दिन मेरे मित्र कविरत्न रामलला मथुरा से आए थे। वह अमृतध्वनि छंद लिखने-पढ़ने में अपना सानी नहीं रखते थे। उन्होंने मुझसे कहा–"भइया, मोय लाल किले कौ कवि-सम्मेलन तो दिखाय दै।" मैंने उन्हें पुरानी की जगह नई साफ धोती दी। ऊपर से एक शेरवानी पहनाई। छाती पर बिल्ला लगा दिया और दर्शनीय कवि बनाकर मंच पर बिठा दिया। जब श्रोता मेरे वश में नहीं आ रहे थे तो मैंने रामलला को बुलाया और कहा–"सुनाओ प्यारे, आज जमकर अपनी अमृतध्वनि ! जब तक मैं तुमसे न कहूं, माइक से नहीं हटना।" मेरा ब्रह्मास्त्र छूटा। ललाजी के मुख से–"धद् धद् धद् धद्। गद् धद् धद् धद्।" की अमृतध्वनि फूटी। वीररस का अनुपम छंद और इतनी जोर से कि श्रोताओं के कान फटने लगें। ललाजी भांग छानकर आए थे। श्रोता तालियां बजाकर उन्हें माइक से हटाना चाह रहे थे। परंतु ललाजी समझ रहे थे कि ये तालियां उनकी प्रशंसा में बज रही हैं। वह छंद पर छंद पेले जा रहे थे, लेकिन जनता से नहीं झेले जा रहे थे। मेरे पास पर्चियां आने लगीं कि इन्हें विदा करो। मैंने माइक से घोषणा की कि आज हूटिंग पर उतरे हो तो पूरी भड़ास निकाल लो। देखें कौन जीतता है ? श्रोता हारे और लला जीते। अब फिर जब किसी कवि के लिए श्रोता उत्पात पर उतारू होते तो मैं विनोद में उनसे कहता–"फिर बुला दूं रामलला को ?" चारों ओर से आवाजें आतीं–नहीं ! नहीं ! ! नहीं ! ! ! मेरा ब्रह्मास्त्र सफल रहा। प्रतिवर्ष उनमें से कुछ पूछते थे कि

इस बार तो रामलला को नहीं बुलाया है।

परंतु मेरे बालमित्र कवि लला निर्विकार। परम संतोष की मुद्रा में। इसलिए भी कि उन्हें लाल किले में कविता पढ़ने का अवसर तो मिला ही, साथ में सौ रुपये की दक्षिणा भी।

एक संस्मरण और। मध्य प्रदेश के एक छोटे-से कस्बे से दुबला-पतला और नाटा एक लड़का, जिसकी चप्पलें ही टूटी हुई नहीं थीं, कोट भी फटा हुआ था। उसने मेरे पास पर्ची भिजवाई कि मैं कविता पढ़ना चाहता हूं। पर्ची के नीचे अपना नाम-पता भी लिख दिया। उन दिनों भवानी भाई सम्मेलन के साहित्य मंत्री थे। बगल में ही बैठे थे। उनसे पूछा–"इसे जानते हो ?" वह बोले–"बुला लो। लड़का मजा देगा। बड़े ऊंचे सुर में गाता है।" मैंने झिझकते–झिझकते उसे बुला लिया। अजी, वह तो ऐसा जमा, ऐसा जमा कि लोग उससे कविता पर कविता सुनने का आग्रह करने लगे। कवि-सम्मेलन की समाप्ति पर एक श्रोता ने नया कोट बनवाकर देने का वचन दिया और किसी ने चप्पल और किसी ने धोती का। कवि की मांग बढ़ गई। अब तो वह हर साल लाल किले में आने लगा और 'नेहरू चाचा हो !' 'लाल किले की लल्लाई से' जैसी कविताओं को मुठ्ठी बांध-बांधकर सुनाने लगा। फिर तो प्रदेश और देश में उसकी शोहरत ऐसी बढ़ी कि विधायक बना, मंत्री बना। गार्ड ऑफ आनर लेने लगा। सांसद बनकर ही दिल्ली लौटा। बाल-बाल बच गया, नहीं तो केन्द्रीय मंत्री भी बन जाता। समझनेवाले समझ गए होंगे। गोविंद व्यास की तरह मुझे 'चाचाजी' कहनेवाले मेरे इस परम आत्मीय कवि का नाम है–बालकवि बैरागी।

अब एक अप्रिय प्रसंग भी सुन लीजिए। अपने को महाकवि और गीतकार समझने-वाले एक कवि को उनके बार-बार आग्रह करने पर भी मैंने जब उन्हें लाल किले के दर्शन नहीं कराए तो मुरैना के एक कवि-सम्मेलन की समाप्ति पर उन्होंने मुझे पान में कुछ दे दिया। मुझे चक्कर आने लगे और रास्ता दिखाई देना बंद हो गया। वह तो तात्कालिक उपचार से मैं बच गया, नहीं तो आपको यह लेख पढ़ने को नहीं मिलता। आपके लाख पूछने पर भी मैं उस कवि का नाम नही बताऊंगा, क्योंकि अब वह मुझे अपना परम मित्र मानने लगा है। बस अपने एक कवित्त की एक पंक्ति ही उद्धृत करता हूं–

ऐ हो करतार, तैनैं मित्र ही बनाए शत्रु-
शत्रुओं को भेज दिया मित्रता जताने को।

वे भी क्या दिन थे जब मैं लाल किले में प्रवेश करता तो सैकडों की संख्या में लोग मेरे साथ चलते। कवि-सम्मेलन समाप्त होने पर लौटता तो नर-नारियों के झुंड मुझसे बातें करने के लिए अवसर की तलाश में रहते। जब घर की ओर चलता तब भी पीछे जमात होती। पत्थरवालों के तिराहे पर एक चायवाला हमारी प्रतीक्षा करता रहता था। वह मक्खन, टोस्ट और खाने-पीने की दूसरी चीजें भी रखता था। दिल्ली का कोई समर्थ व्यक्ति मेजबान बनता और सबको खिलाता-पिलाता। इस तरह आकाश में उधर अंधेरा छंटता और हम अलग-अलग रास्तों पर बंट जाते।

लाल किले का कवि-सम्मेलन जब हम लोगों के हाथ से गया तो मित्रों ने कहा–"हमें

इसके जवाब में तेईस जनवरी को ही लाल किले के सामने खुले मैदान में निःशुल्क कवि सम्मेलन जमाना चाहिए।" मुझे यह प्रस्ताव रुचिकर नहीं लगा कि अपने लगाए पौधे को अपने हाथ से ही काटूं। एक साल तो मैं घुमा गया, लेकिन सम्मेलन की कार्य समिति के निर्णय से विवश होकर मैंने एक साल परेड ग्राउंड में और दूसरे वर्ष रामलीला ग्राउंड में विशाल नहीं, विशालतम कवि-सम्मेलन करके ये बता दिया कि वृक्ष की छाया और पुरुष की माया उसी के साथ रहती है और उसी के साथ चली भी जाती है।

जो बेहाल आया था, वह मालामाल हो गया। जिसने सौ रुपये नहीं देखे थे, वह हजारों में खेलने लगा। लाल किले के नब्बे प्रतिक्षत कवि अब लखपति हैं। आयकरवाले मेहरबानी करें तो दो-तीन करोड़पति भी हो गए हैं। जो होशियार थे उन्होंने ट्रस्ट बना लिए हैं और जो बेवकूफ थे, वे जैसे आए थे आज भी वैसे ही हैं। भाग्य की बात देखिए कि जो ठीक से छंद लिखना भी नहीं जानते थे, वे प्रबंध लिखने लगे। जो आंचलिक भी नहीं थे, वे अखिल भारतीय तो हुए ही, अमरीका-कनाडा रिटर्न भी हो गए। जो गीतकार थे वे मंच की बजाय फिल्मों के लिए गीत लिखने लगे। फिल्मी गीतकार बनने से संतोष नहीं हुआ तो फिल्में भी बनाने लगे। वे फिल्में नहीं चलीं या पिट गईं तो इसमें उनका क्या दोष ? और जमाने की हवा भी ऐसी चली कि जो शिष्य बनते थे, वे गुरु हो गए। जो जूठन खाते थे, उतरन पहनते थे, कविताओं को ठीक कराकर फिर लाल किले के कवि-सम्मेलन में पढ़ते थे और व्यास पूर्णिमा पर पैरों को धो-धोकर पीते थे, वे बचकर निकलने लगे, मुंह बिचकाने लगे। ऐसे हो गए कि जैसे उनसे हमारा कभी कोई ताल्लुक ही नहीं रहा है।

लेकिन यह तो दुनिया का चलन है। होता आया है और होता रहेगा। पर लाल किले के कवि-सम्मेलन से एक बडा काम हो गया। जिन्हें लोग केवल पुस्तकों में पढ़ते थे, पाठ्यक्रमों में रटते थे, अब उनके दर्शन सुलभ हो गए। उनकी वाणी कर्णगोचर हो गई। बनारसीदास चतुर्वेदीजी ने एक बार नवीनजी से मेरे संबंध में एक ठेठ ब्रज का शब्द कहा कि व्यास, कुछ न कुछ 'औटपाय' करता ही रहता है। तो बनारसीदासजी ने ही मुझे बताया कि नवीनजी का कहना था कि जो भी हो वह काम का आदमी है। ब्रज के लोगों पर लगाम नहीं लगाई जा सकती। दिनकरजी ने तो स्वयं एक बार भरी सभा में कहा था–

"संपूर्ण हिन्दी जगत को, विशेषकर हिन्दी के साहित्यकारों को व्यास का ऋणी होना चाहिए कि इसने हिन्दी के कवियों और साहित्यकारों के लिए मंच प्रदान किया। नहीं तो दिल्ली जैसी राजनीतिक नगरी में हम जैसों को कौन पूछता ?"

यह लेख अधिक व्यक्तिवादी हो गया। "आपुन मुख हम आपुन करनी, बार अनेक भांति बहु बरनी।" पाठक इस आत्मश्लाघा को क्षमा कर दें तो ठीक है, नहीं करें तो मैं क्या कर सकता हूं ?

गरब कियौ सोई हारौ

मैं अपने-आपको कवि-सम्मेलनो का बड़ा हीरो समझने लगा था। सोचता था कि गीतकार फेल हो सकते हैं। वीररसवालों का गला बैठ सकता है। हास्यरस के कवि भी हूट हो सकते हैं। परंतु मुझे, बिना मेरी इच्छा के 'पिच' पर से कोई नहीं हटा सकता। मेरी कविता के चौके और छक्के तो अचूक हैं। अगर कवि-सम्मेलनों की भी क्रिकेट की तरह रनिंग-कमेंट्री हांती तो मुझे कविता का ग्रेट गावस्कर करार दे दिया जाता। परंतु उस दिन मेरा गर्व ऐसा चूर हुआ कि सोच-सोचकर हंसता रहता हूं–"गरब कियौ सोई हारौ।"

यह जो हरियाणा के भगवतदयाल शर्मा हैं न, कभी मेरी कविताओं के बड़े दीवाने थे। तब वह नेता नहीं, साहित्यप्रेमी थे। आसपास जहां भी मेरे कवि-सम्मेलन होते, पहुंचा करते थे। जब मिलते तब कहते–"एक बार मेरे गांव चलो।" हमारा उनका मिलन दिल्ली के कटरानील में जहां मैं पान खाने और अपने बड़े भाई जैसे पं. रामधन शास्त्री और उनकी काव्यरसिका पत्नी माधवी भाभी से मिलने अक्सर जाया करता था, वहीं हुआ करता था। एक बार शर्माजी ने बहुत आग्रह किया। रामधनजी का घर उन दिनों हिन्दी कवियों का केन्द्र था। वहां पर देवराज 'दिनेश', रामावतार त्यागी, रमानाथ अवस्थी तथा एक कवि महोदय और बैठे थे। सभी ने कहा–"चलो न, यार !" कवि-सम्मेलन का दिन तय हुआ और हम चारों चल दिए। निकलते-निकलते, टैक्सी लेते-लेते देर हो गई। गांव में पहुंचते-पहुंचते तो दस बज गए। शर्माजी गांववालों से पहले ही कह आए थे कि आज चौपाल पर कवि-सम्मेलन होगा। लोग हमारी प्रतीक्षा में काफी देर तक बैठे रहे। कब तक बैठते ? कुत्ते भौंकने लगे तो गांववालों ने सोचा कि अब आए शायद ! लेकिन नहीं आए तो अपने-अपने घर जाकर सो गए। जब हम लोग पहुंचे तो चौपाल सूनी पड़ी थी।

शर्माजी ने लालटेन और टॉर्च ले-लेकर अपने लोगों को दौड़ाया। घर-घर में खबर पहुंचाई कि "कवि आ गए ! कवि आ गए ! !" गांववालों के लिए कवि शब्द ऐसा था कि जैसे बावले गांव में ऊट आ गया हो। जाड़ों के दिन थे। वे रजाई ओढ़े कानों से

अंगोछा बांधे, खार लपेटे, लाठियां लिये चले आए। चौपाल भर गई। हम लोगों को एक तख्त पर बैठाया गया। शर्माजी ने हमारी प्रशंसा के पुल बांधे। कवि-सम्मेलन शुरू हुआ। हमारे साथ गए नए कवि का पहला विकेट शून्य पर गिरा। दिनेश को चौथी बॉल पर ही कैच आउट कर लिया गया। रामावतार त्यागी पिये हुए थे। उनके कदम पिच पर नहीं टिक सके। एक खिलाड़ी की सनसनाती हुई बॉल आई और उनका 'स्टम्प' उखाड़ ले गई। रमानाथजी ने कहा—"मैं पांचवें नम्बर पर खेलूंगा। पहले व्यासजी को मैदान में उतारो। हुक्कों की गुडगुड़ाहट बन्द हो। बोली-ठोली रुकें। खेल जमे। तब कविता पढूंगा।"

मुझे पुकारा गया। शर्माजी और उनकी चौकड़ी ने तालियां बजाईं। मैंने उतरते ही अपनी तरफ से चौका जमाया—

प्रेमियों की शक्ल कुछ-कुछ भूत होनी चाहिए,
अक्ल उनकी नाप में छह सूत होनी चाहिए,
इश्क करने के लिए काफी कलेजा ही नहीं,
आशिकों की चांद भी मजबूत होनी चाहिए।

लेकिन गांववालों की समझ में भूत, सूत, चांद और मजबूत शब्द ही पल्ले पड़े। श्रोताओं मे कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। मारी हुई गेंद उछली ही नही, लुढ़ककर रह गई। तब इसके बाद मैंने अपनी 'आराम करो' कविता सुनाई। श्रोताओं में एक बोला-"तन्नै तो म्हारा आराम हराम कर दिया।" दूसरा बोला—"बैठ जा, बैठ जा, आराम कर!" कोई पढ़ा-लिखा छोरा बोला—'आउट!' अम्पायर ने खेल जारी रखने को कहा। पर मेरी कविता के बल्ले ने साथ नहीं दिया। जिस तरह गावस्कर मैदान में बेकायदे हुड़दंग और गेंदबाजो की बेईमानी से खीझकर, बिना खेले बल्ला कंधे पर रखकर मैदान छोड दिया करता था, मैंने भी यही उचित समझा और 'बैक टु द पैवेलियन' हो लिया। लिफाफा लेना था इसलिए अवस्थी को कविता पढ़ने आना पड़ा। रमानाथ को कविता से पहले भाषण देने की आदत है। ठीक उस तरह जैसे क्रिकेट का चतुर खिलाड़ी खेलने से पहले चारो ओर नजरें घुमाकर यह भांपा करता है कि गेंद को लेग ब्रेक पर कैसे टर्न किया जा सकता है। गली से निकाला जा सकता है या उछलकर आती हुई गेंद पर किसी तरह चौका लगाया जा सकता है? वह देखते, भांपते यानी भाषण देते ही रह गए। एक चौधरी ललकार उठा—"देख लिया कवि-सम्मेलन! जा रे फलाने, ढोलक ले आ! तू मंजीरों की जोडी उठा ला! ले आ रे तू अपना चिकाड़ा!"

चौपाल पर सभी साज आ गए। सगत जम गई। रागिनियां छिड गईं। आल्हा-ऊदल हुंकारने लगे। गांववाले झूम-झूमकर सुनने लगे। और हम सब मुंह लटकाए वापस दिल्ली की ओर चल दिए। जब मेरे साथी कवि शर्माजी को कोस रहे थे, तब मैं मन ही मन लोकजीवन और लोकगीतों की लोकप्रियता के बारे में सोच रहा था। मन ही मन हंस रहा था लोकजीवन से कटी आज की शहराती कविता पर जो देश की अस्सी प्रतिशत जनता के लिए बेमानी है। शहर के बुद्धिजीवी भी उसे मान्यता नहीं देते। समीक्षक उसे साहित्य मानने को भी तैयार नहीं हैं। कुछ लाले, कुछ बैठे-ठाले ही उसे सिर्फ मनोरंजन

का साधन समझते हैं। सिनेमा न देखा, कवि-सम्मेलन देख लिया। मुजरे न सुने, कवियों की गजलें और बहर-ए-तवील सुन ली। वह भी बेटिकट। शगल बुरा तो नहीं है। इस पर भी मंच के कवि अपने-आपको न जाने क्या समझते हैं। इनमें से एक मैं भी था।

मेरा सुझाव है कि जैसे डॉक्टरी पास करते ही डाक्टरों को गांवों में दो साल तक प्रैक्टिस करने का कानून बना हुआ है, वैसे ही कवियों का मिजाज दुरुस्त करने के लिए उनको कवि-सम्मेलनों के मंच पर प्रतिष्ठित करने से पहले दो साल तक गांवों की चौपालों पर कविता सुनाने के लिए भेजना चाहिए। इससे उनकी भी अक्ल मेरी तरह ठिकाने आ जाएगी।

मैं तो पहले अध्यापक हूं। बाद में हास्यरस का लेखक। मुझे तो पैरोडी लिखने में अधिक आनंद आता है। लेकिन हमारे व्यासजी ने तो व्यंग्य-विनोद में चतुर्दिक कीर्तिमान कायम किए हैं। कविता में तो उन्होंने 'पत्नीवाद' ही स्थापित कर दिया है। केवल स्फुट कविताएं ही नहीं, उन्होंने हास्यरस में खंडकाव्य भी लिखा है। इनके निबंधों को मैं चाव से पढ़ता हूं। जब कभी हिन्दुस्तान हाथ लग जाता है तो इनके कॉलमों का स्वाद भी लेता हूं। दशाब्दियों तक प्रतिदिन व्यंग्य-विनोद का स्तंभ लिखते रहना कोई हंसी-खेल नहीं है। ये हमारी विधा के अविस्मरणीय कृतिकार हैं।

–बेढब बनारसी

दक्ष-यज्ञ-विध्वंस

मुझे कोई न मारे तो मैं जमाने को मार आऊं। हमारे मंचीय कवियों ने भी तुलसीदास की इस पंक्ति को हृदयंगम कर लिया था–"परम स्वतंत्र न सिर पर कोऊ।" जनता उन दिनो काग्रेस-विरोधी लहर में बह रही थी। शासन यद्यपि कांग्रेस का था। परंतु मंच के कवि, विरोधी दलों के नेताओं की तरह सरकार के विरुद्ध उछल-उछलकर कांग्रेस के कुशासन की धज्जियां उड़ाने लगे थे। ऐसी कविताओं पर वाहवाही भी खूब मिलती थी। ये बुलाए भी खूब जाते थे। विरोधी दलों ने अपने प्रचार के लिए कवि-सम्मेलनों को हथियार बना लिया था।

कुशासन का विरोध करना कोई गलत बात नहीं है। लेकिन चोट व्यवस्था पर होनी चाहिए, व्यक्तियों पर नहीं। कविता में से शालीनता चली गई तो बचेगा क्या ? कवियों के अपने राजनीतिक विचार हो सकते हैं। उन्हें अपने विचारों को व्यक्त करने का पूरा अधिकार है। ऐसे लोगों को चाहिए कि वे राजनीतिक दलों में शामिल हो जाएं और अपने विचारों के लिए कार्य करें। लेकिन कवि-सम्मेलनों को राजनीति का अखाड़ा नहीं बनाना चाहिए। वह सरस्वती का मंच है। उसे विकृत करना कवि-धर्म नहीं।

उस दिन तो हद हो गई। कवियों की कविता गाली-गलौज से भरी हुई थी। इंदिराजी देश की शासक ही नहीं, विश्व की एक मान्यताप्राप्त महिला भी थीं। जब उनके संबंध में अशोभनीय और कुछ हद तक अश्लील कविताएं पढ़ी जाने लगीं तो कांग्रेसी श्रोता भड़क उठे। मंच पर उपस्थित एक मंत्री ने अपने दल के नौजवानों को ललकारा और वे कवियों पर टूट पड़े। लातों से, मुक्कों से, लाठियों से और जो मिला उससे कवियों की धुनाई होने लगी। जो कवि सीना तान-तानकर, मुट्ठियां बांध-बांधकर अपने को बहादुर और निडर घोषित कर रहे थे, पिट-पिटकर मंच से भाग रहे थे। टोपी छोड़कर। जूते और चप्पलें छोड़कर। अटैची और झोले भूलकर। जिसको जहां जगह मिली, जाकर छिप गया। जो रास्ता मिला, उसी पर दौड़ पड़ा। दो-तीन कवि तो मंच के नीचे ही छिप गए। पंडाल

में अफरा-तफरी मच गई। श्रोता जो तालियां बजा रहे थे, वे भी भाग खड़े हुए। दक्ष-यज्ञ विध्वंस हो गया।

दुर्भाग्य से इस कवि-सम्मेलन का अध्यक्ष मैं था। सुबह छह बजे दिल्ली से निकला था। रात को नौ बजे पहुंचा था। साढ़े नौ बजे मंच पर मेरी प्रशस्ति हुई और मालाएं पड़ीं। मैं कविताओं को सुन-सुनकर ऊब रहा था। कवियों को समझा भी रहा था। एक-दो बार माइक पर डांट भी लगाई। पर कौन सुनता है ? होंगे व्यासजी अपने घर के ! अध्यक्ष हैं तो क्या हुआ ? कोई लफ्टैन्ट तो नहीं हैं। मैंने आखें मूंद लीं। थका हुआ तो था ही। झपकी आ गई। मेरे पलक झपकते ही ये सब हो गया। एक कवि हिम्मत करके मेरे पास आया और बोला–"गुरुदेव ! निकल चलो यहां से। आपको कुछ हो गया तो बड़ी बदनामी होगी।"

मैंने पीछे मुड़कर देखा। मारधाड़ चल रही थी। माइक खींचकर कुछ कहना चाहा। तो देखा, उसका करंट गायब था। माइकवाले भी लापता थे। मैंने अपनी छड़ी की ओर हाथ बढ़ाया। वह भी नदारद थी। अहिंसा के पुजारी महात्मा गांधी को चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य द्वारा भेंट की गई छड़ी, जो दिल्ली छोड़ते समय उनकी पुत्रवधू श्रीमती लक्ष्मी देवदास गांधी स्मृति-स्वरूप मुझे दे गई थीं, उसी छड़ी से आज हिंसा बरसाई जा रही थी। अपने त्राता कवि से मैंने कहा–"तुम जल्दी से सुरक्षित निकल जाओ। मैं तो इस यादवी को अंत तक देखूंगा।" मैं जाकर मंच के एक कोने में पिटते हुए कवियों की ओर मुंह करके बैठ गया। किसी आक्रांता श्रद्धालु ने मेरी पीठ के पीछे एक मसनद भी लगा दिया। ब्रजवासी गोपाल हूं न ? वह भी प्रभास-क्षेत्र मे इसी तरह चुपचाप यादवों का विनाश देखते रहे।

घटना बदायूं की है। मैं इस कवि-सम्मेलन में जा नहीं रहा था। परंतु अपने मित्र ब्रजेन्द्र अवस्थी और मेरे प्यारे गीतकार उर्मिलेश के आग्रह को नहीं टाल पाया। उन्होंने मेरे आने-जाने के लिए वाहन-व्यवस्था भी कर दी थी। गया और जो अब तक न देखा था, अपनी आंखों से देख लिया। गनीमत यह हुई कि मुझे किसी ने नही छुआ। जाते-जाते आक्रांताओं में से एक-दो ने मेरे पैर भी छुए। इसे श्रद्धा कहूं या बेशर्मी ? कांग्रेसियों को हिंसा पर नहीं उतरना चाहिए था। आलोचना बर्दाश्त नहीं हो रही थी तो सभा-भवन छोड़ जाते। बहिष्कार की घोषणा कर देते। लेकिन मारपीट पर उतारू होकर उन्होंने अपने दल को नेकनाम नहीं किया।

उक्त घटना की अखबारों में खूब चर्चा हुई। पक्ष-विपक्ष में नोटिसबाजी भी हुई। एक कवि के अखबार ने तो आंदोलन ही छेड़ दिया। दोनों तरफ के लोगों ने मुझसे इस घटना की निंदा और समर्थन के पक्ष में बयान देने और लिखने को कहा। मैं क्या कहता ? क्या लिखता ? इधर गिरूं तो कुआं और उधर गिरूं तो खाई।

साहित्य-जगत में भी उक्त घटना से क्षोभ और बेचैनी व्याप्त हो गई। महादेवी वर्मा तो किसी को पत्र नहीं लिखती थीं, लेकिन उन्होंने पुछवाया कि मुझे तो कोई चोट नहीं लगी। बाद में दिल्ली में मिलीं तो भी अपनी बेचैनी व्यक्त की।

बदायूं कवि-सम्मेलन के बाद कांग्रेसियों के हौसले बढ़ गए और जगह-जगह

कवि-सम्मेलनों में ऐसे दृश्यों की जहां-तहां पुनरावृत्ति भी होने लगी। एक-दो जगह से तो गोली चलने की खबर भी आई। कवि भी सतर्क हो गए। उन्हें तालियां चाहिए। लिफाफा चाहिए। मारपीट नहीं। कवि-सम्मेलनों को महत्व देनेवाले, इनका प्रचार करनेवाले, इनका प्रचलन करनेवाले और इनमें भाग लेनेवाले, वाणी के वरदपुत्रों ने कभी सोचा भी नहीं होगा कि कवि-सम्मेलन इस दुर्गति तक पहुंच सकते हैं। अच्छा हुआ वे स्वर्गवासी हो गए। वे सौभाग्यशाली थे। यह दुर्भाग्य तो मेरे खाते में ही लिखा था।

सोचता हूं कि साहित्य को भ्रष्ट राजनीति की ओर नहीं जाना चाहिए। यह भी सोचता हूं कि राजनीति को साहित्य में दखल नहीं देना चाहिए। परंतु साहित्य हो तब न ! कवि-सम्मेलनों में तो लगभग साहित्य अब दुर्लभ ही हो गया है।

■

काश ! मैं हिन्दी पढ़ा होता और व्यासजी हिन्दी पोयट्री तथा प्रोज में उनके लिखे हुए कॉमेडी, आयरनी और सेटायर का लुत्फ ले पाते। फिर भी मैंने अपने मित्र 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के न्यूज एडीटर श्री कल्हण से सुन-सुनकर उनकी पुस्तक 'मैंने कहा' के कार्टून बनाए हैं। मुझे खुशी है कि मैं उनके कुछ काम आ सका।

—अहमद
(कार्टूनिस्ट)

राम दुहाई

जब हिन्दी कवियों मे सुरापान और दूसरी बुरी आदतों की लत खुले रूप से सामने आने लगी तो मैंने धीरे-धीरे कवि-सम्मेलनों में जाना बन्द कर दिया। मुझको अपना अग्रज और गुरु माननेवाले कवि भी जब मंचों पर ही कोकाकोला की बोतलों और चाय के प्यालों में शराब पीने लगे तो मुझे कवि-सम्मेलनों से नफरत होने लगी। एक बार तो जब मैं एक कवि-सम्मेलन के बाद सोकर उठा तो मेरे पलंग के नीचे किसी ने शराब की खाली बोतल रख दी और मुझे चिढ़ा-चिढ़ाकर कहने लगे कि हमें तो उपदेश देते हो, रात को चुपके से बोतल गटक जाते हो। मैंने सोचा—"वा सोने को जारियै, जाते टूटें कान।" कवि-सम्मेलनों को नमस्कार।

कवि-सम्मेलनों के निमंत्रण आते रहे और मैं इनकार करता रहा। हद हो गई थी। एक कवि तो ऐसे भी थे जो पहले भांग की गोली गटकते, फिर गांजे का दम लगाते, बाद में शराब भी पीते थे। वह बाल-अभ्यासी भी थे। बालाभ्यासी तो पचहत्तर प्रतिशत हो गए थे। एक कवि तो सगर्व यह भी कहते थे कि भारत के प्रत्येक नगर में उनकी एक प्रेमिका है। दो-तीन कवि ऐसे भी थे कि यदि महिलाएं साहस करके उन पर बलात्कार का मुकदमा दायर कर देतीं तो वर्षों जेलों में सड़ते रहते। मैंने निश्चय किया—"तजो मन इन दुष्टन कौ संग।"

मैंने कवि-सम्मेलनों को हिन्दी-प्रचार का सशक्त माध्यम मानकर अपनाया और देश में फैलाया। अपने व्यंग्य-विनोद के माध्यम से जहां मैं समाज-परिष्कार और विषमताओं पर कभी मीठी और कभी करारी चोटें किया करता था, वहां प्रत्येक मंच से लोगों को हिन्दी अपनाने की अपील भी किया करता था। ऐसा मैंने बंगाल में भी किया, कर्नाटक, केरल, आंध्र और तमिलनाडु में भी किया। परंतु मेरे साथी कवि विदेशी पोशाक में तो होते ही थे, वे अपनी कविताओं में अंग्रेजी के शब्द ही नहीं, वाक्य और मुहावरे भी प्रयोग में लाने लगे थे। गीत और प्रचलित छंदों को छोड़कर अशुद्ध रुबाइयां और गजलें भी गाने

लगे थे। जो कवि फिल्मों में चले गए थे, वे मंचों पर जमने के लिए अपनी कविताओं को तिलांजलि देकर मटक-मटककर फिल्मी गीत गाने लगे थे। हास्य-व्यंग्य के कवि व्यंग्य में अपने को असमर्थ पाकर हास्य के नाम पर भंड़ैती और जोकरी भी करने लगे थे। बड़े कवि, समालोचक और बुद्धिजीवी इसके लिए मुझे दोष देने लगे थे। उनका कहना था कि कवि-सम्मेलनों की इस गिरावट के लिए व्यास उत्तरदायी है। उसके साथी और शिष्यों ने कविता को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। मैं इन सब बातों को सुनता था और समझता था। कुछ हद तक अपने को उत्तरदायी भी मानता हूं। परंतु, जब संतान कपूत निकल जाए तो उतरती अवस्था में पिता या तो झल्ला सकता है या मन मसोसकर बैठ सकता है। लेकिन जब कुनबा ही खराब हो जाए, समाज भी विकृत होने लगे तो अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। यही हालत मेरी थी। परंतु कवि-सम्मेलनों के माध्यम से मुझे यश ही नहीं, धन भी मिल रहा था। मुझे भी अपने परिवार को पालना था और शिक्षित करना था। इसलिए जब तक तीनों पुत्रियों के विवाह और पुत्रों को पर्याप्त शिक्षा के साथ नौकरी नहीं मिल गई, मैं कवि-सम्मेलनों से चिपका रहा। जैसे ही ये जरूरतें पूरी हुईं, मैंने कवि-सम्मेलनों में जाना बंद कर दिया। बुलावे आते थे। आज भी पचहत्तर साल की उम्र में आते हैं। पर मैं नहीं गया, न ही जाता हूं। क्योंकि न मुझे अब यश की चाह है और न धन की परवाह–"संपति-संतति दुख के कारन, याते भूल परी।"

पत्रकारिता से अवकाश प्राप्त हो जाने पर मैं अपनी प्यारी वैकुंठपुरी मथुरानगरी में ही बसना चाहता था। वहां मैंने एक छोटा-सा मकान भी बना लिया था। लेकिन जब पत्रकारों की यूनियन ने सहकारी संस्था बनाकर पत्रकारों के लिए भूमि प्राप्त करने की योजना बनाई और मित्रों ने जब जबरन मुझे उसका सदस्य बनाकर मेरे वेतन में से पैसे कटवाकर गुलमोहर पार्क में जमीन खरीद ली तथा मेरे लिए भी एक प्लाट निश्चित कर दिया तो समस्या खड़ी हो गई कि दिल्ली में घर बनाऊं या नहीं ? बनाऊं भी तो कैसे बनाऊं ? पास में कुछ टिकता नहीं था। कवि-सम्मेलनों में जाता नहीं था। पुस्तकों से रॉयल्टी मिलती नहीं थी। ये दो सौ वर्ग गज का प्लाट बने तो कैसे ? मैं चुप होकर बैठ गया। 'बनाओ या जमीन छोड़ो' के नोटिस पर नोटिस आ रहे थे। मैं भले ही हिम्मत हारे बैठा था, लेकिन 'हिन्दुस्तान' परिवार के और दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मित्रों ने हिम्मत नहीं हारी थी। पत्रकारों ने दफ्तर की को-ऑपरेटिव सोसायटी से अपने-अपने नाम से कर्जे लिये और मुझे दिए। सम्मेलन के कई लोगों ने ब्याज सहित और बिना ब्याज के धनराशि उपलब्ध कराई। पत्नी दिल्ली में मकान बनाने पर तुली हुई थीं। वह सुबह-सुबह दिनभर के लिए चार परांठे और अचार लेकर जमीन पर जम जातीं और निर्माण-कार्य की देखरेख करतीं। रात को नौ-दस बज जाते उन्हें लौटते-लौटते। मेरे लड़के अपने-अपने कामों में व्यस्त थे। अभी अल्हड़ जवानी थी। उन्हें मकान की विशेष चिन्ता नहीं थी। मैं पखवारे में एक दिन मजदूरों को वेतन बांटने जाता था और उन्हें लड्डू बांटकर लौट आता था। जब लौटता तो यही सोचा करता था कि देखो, ये मजदूर कितने निस्पृह और निष्काम कर्म करनेवाले हैं कि यह जानते हुए भी कि मकान के बन जाने के बाद, न तो वे ड्राइंग-रूम में बैठ सकेंगे, न गुसलखानों के फव्वारों के नीचे नहा सकेंगे, इतना ही

क्यों, इस घर के फाटक सदैव के लिए उनके लिए बंद हो जाएंगे, लेकिन दिन-रात पूरे मनोयोग से काम कर रहे हैं। जब वे रात को मोटी-मोटी रोटियां चटनी के साथ खाते तो मेरा मन करुणा से विगलित हो जाता। मैं पत्नी की आंख बचाकर चुपके-से उन्हें अतिरिक्त रुपये भी दे दिया करता था। पत्नी की लगन और हिम्मत से केवल आठ महीनों में जिसे आज लोग कोठी कहते हैं, वह तिमंजिला मकान बनकर तैयार हो गया।

मकान तो तैयार हो गया। प्रभु की कुछ ऐसी कृपा रही कि धनाभाव के कारण काम एक दिन भी नहीं रुका। परंतु कर्जे की रकम एक लाख से ऊपर सिर पर सवार हो गई थी। तब मैंने उसे चुकाने के लिए फिर से कमर कसी। कलम भी उठाई और फिर से कवि-सम्मेलनों में जाना शुरू कर दिया। कसम तोड़ दी। एक कवि-मंडली का गठन किया, जिसमें सात जमे हुए मंचीय कवियों को एकत्र किया। इनमें एक कवयित्री, दो हास्यरस के कवि, एक वीररस का कवि और दो गीतकार सम्मिलित किए और सातवां मैं स्वयं। मेरे प्रशंसक और मित्र तो देशभर में बिखरे हुए थे ही। कवि-सम्मेलनों की लोकप्रियता भी देशभर में बढ़ गई थी। मैंने श्रृंखलाबद्ध यानी 'चेन कवि-सम्मेलन' करने शुरू कर दिए। यानी कि एक यात्रा में लगातार पांच-पांच, सात-सात कवि-सम्मेलन किया करता था। मध्यप्रदेश, बिहार, बंगाल और उड़ीसा में विशेषकर यह श्रृंखला चली और खूब जमी। होली से शुरू की और दशहरा, दिवाली तक खत्म भी कर दी। जैसे ही कर्जा चुका, मैंने कहा—दोस्तो, राम-राम !

इन कवि-सम्मेलनों के बड़े संस्मरण हैं। बड़े-बड़े जीव-जंतु, चोर-डाकुओं, कंजूस और दाताओं, नेताओं और समाजसेवियों तथा चालू संयोजकों से पाला पड़ा। उनकी बातें लिखकर आपका समय नष्ट नहीं करूंगा। केवल एक सस्मरण बताना काफी है।

मेरी मंडली बिहार के दौरे पर थी। लगातार चार कवि-सम्मेलन हमें करने थे। पहले दिन भागलपुर, दूसरे दिन रांची, तीसरे दिन मुजफ्फरपुर और चौथे दिन दरभंगा। भागलपुर शांति से निबट गया। कवि-सम्मेलन खूब जमा। रांची के लिए सवेरे गाड़ी जाती थी। तब तक चला। पारिश्रमिक भी बढ़ाकर दिया गया। काफी लोग स्टेशन पर छोड़ने आए। पहले से रिजर्वेशन भी करा दिया था। जय-जयकार के साथ नोट मनपसंद मिलें तो सारी थकान उतर जाती है। हम लोग खाते-पीते, हंसते-बतियाते, सोते-जागते रांची पहुंच गए। रांची का कवि-सम्मेलन खूब जमा।

थककर ऐसे सोए कि मुजफ्फरपुरवाली बस निकल गई। दूसरी का कोई ठिकाना नहीं था। एक टैक्सी स्टैंड पर खड़ी थी। ड्राइवर आया, बोला—"दूसरी बस तो शाम को चार बजे जाएगी। मेरे पास दो सवारियां हैं। आप लोग चलना चाहें तो चलें।" मुझे ड्राइवर के रंग-ढंग और उसकी शक्ल पर शक हो गया। मैंने साथी कवियों से कहा कि इस टैक्सी से मत चलो। लेकिन दूसरा कोई चारा नहीं था। कवि लोग नहीं माने। हम उसी टैक्सी में एक-दूसरे पर लदकर चल दिए। टैक्सी रास्ते में खराब होती रही और रुक-रुककर चलती रही। शाम होते-होते एक देहाती तालाब के पास झटका खाकर गाड़ी खड़ी हो गई। ड्राइवर बोला कि इसका एक पुरजा खराब हो गया है। इसे ठीक कराकर लाता हूं। वह अपने साथियों के साथ, जिन्हें उसने सवारी बताया था, जंगल की ओर चला गया।

मेरा शक और भी बढ़ गया। हम लोग टैक्सी से उतरकर नीचे आ गए।

जहां हम रुके थे, उस गांव का नाम द्वारिका था और वह नालंदा के आसपास था। कुछ चरवाहे वहां अपने-अपने पशुओं को लाठी लिये चरा रहे थे। अब साथी कवि भी घबरा गए। उन दिनों भी बिहार में लूटपाट और हत्यारों का बाजार गर्म था। परंतु मैं नहीं घबराया। मैंने कवियों को अपने पास बिठाया और कहा कि सामूहिक स्वर में कीर्तन शुरू कर दो। कीर्तन शुरू हुआ। ग्वाले हमारे पास एकत्र हो गए। मेरे पास भांग की कुछ मीठी गोलियां थीं। मैंने प्रसाद के रूप में चरवाहों को उन्हें वितरित किया और साथ में कीर्तन करने को कहा। कुछ गाने लगे। कुछ अपने-अपने पशुओं को लेकर घर जाने लगे। कुछ अंटाचित हो गए और तालाब के किनारे जाकर सो गए। हम कीर्तन के साथ गाने भी गा रहे थे, परंतु रात होने लगी थी—हे राम आगे क्या होगा ?

तभी राम ने सहायता की। कोई अफसर अपनी बडी गाड़ी लेकर आ रहा था। हम लोगों ने हाथ दिया। गाड़ी रुक गई। परिचय बताया और हालात बयान किए तो उक्त अफसर ने कहा—"जल्दी-जल्दी सामान डिग्गी मे भरो और एकदम गाड़ी में बैठ जाओ। यह स्थान खतरनाक है। देर न करो।" हम सबने वैसा ही किया और गाड़ी हमें लेकर चल दी। थोड़ी देर बाद जब हमने पीछे मुड़कर देखा तो उस टैक्सी को अपने पीछे दौड़ते पाया। दो की जगह उसमें पांच आदमी सवार थे। अफसर को बताया तो गाड़ी उसने फुल स्पीड पर छोड़ दी। बोला—"घबराओ मत। मेरे पास रिवाल्वर है।" गाड़ी आगे-आगे और टैक्सी पीछे-पीछे। सामने आ गया रेलवे क्रासिंग। फाटक बन्द था। खोलनेवाला नदारद था। अफसर ने सूझबूझ से काम लिया। उसने फाटक से हटकर गाड़ी रेल की पटरियों से ऊपर निकाल दी। तब तक एक कस्बा आ गया। अफसर को एक बस आती हुई दिखाई दी। उसने उसे इशारा देकर रुकवाया और हमसे कहा—"जल्दी से इस बस में बैठ जाओ।" कवियों ने पूछा— बस कहां जा रही है ?" उत्तर मिला—"जहां भी जा रही हो। यहां से निकल जाओ। आगे अपने गन्तव्य के लिए बस बदल लेना।" फिर मुझसे हाथ मिलाते हुए बोला—"व्यासजी, मैं आपका पुराना पाठक हूं। आपके कुछ काम आ सका, यह मेरा सौभाग्य है।" इतना कहते-कहते उसने मुझे लगभग बस में धकेल दिया। बसें बदलते-बदलते हम जैसे-तैसे मुजफ्फरपुर पहुंचे। वहां का नजारा ही दूसरा था। तीन बुलाए तेरह आए, दे दाल में पानी। जिन-जिन कवियों को बुलाया था, वे बिना सूचना दिए आ पहुंचे। कोई-कोई तो साथ में एक चमचा या चमची भी लाए थे। महाजन संयोजक ने कवि-सम्मेलन के लिए जो राशि इकट्ठी की थी, वह कवियों में बराबर-बराबर बांट दी। सबके साथ मेरे दाम भी बट्टे-खाते चले गए, लेकिन अब हमें चिंता दरभंगा पहुंचने की थी। वहां के लोग हमें लेने आनेवाले थे। उनकी गाड़ी देर रात पहुंची। वह भी रास्ते में खराब हो गई। दूसरी मंगवाई गई।

जह हम दरभंगा के मंच पर पहुंचे तो देखा लंका लुट गई थी। श्रोताओं ने मंच तहस-नहस कर दिया था। आयोजकों के साथ मारपीट भी हुई थी। वे जान बचाकर भाग खड़े हुए थे। हमारे साथ जो आयोजक थे, उन्होंने जैसे-तैसे एक तख्त बिछाकर माइक चालू कराया। कविताएं प्रारंभ हुईं। कुछ लोग आए। लेकिन लगातार शोर करते रहे।

बचे हुए आयोजक को भी खींचकर ले गए। उसके साथ क्या बीती, यह पता नहीं, परंतु वह भी नौ-दो-ग्यारह हो गया था।

पंडाल खाली। केवल हम पांच कवि वहां पर अकेले। दूर पर एक जीप खड़ी थी। उसमें से एक लंबा-तड़ंगा नौजवान मेरे पास आया और बहस करने लगा।

मैं पक्की तरह नहीं कह सकता कि वह नक्सलवादी था या नहीं ? जीप हमें अपहरण करने को आई थी या उसके इरादे क्या थे ? लेकिन आगंतुक जवान ने मुझसे सैद्धांतिक बहस शुरू कर दी। वह जानना चाहता था कि मैं कांग्रेसी हूं या पूंजीवाद का समर्थक ? मेरे होश-ओ-हवास कायम थे। मैंने उसके सामने समाजवाद का और देश में हो रहे शोषण का जोरदार शब्दों में समर्थन किया। बातों ही बातों में उससे निकटता स्थापित कर ली। अपनी मुसीबत बताई कि हमारा सामान किसी आयोजक के घर में पड़ा है। हम उसके घर को नहीं जानते। कृपया हमारा सामान दिलवा दीजिए और किसी होटल तक पहुंचा दीजिए। प्रत्येक दुर्जन मनुष्य के हृदय में भी दयालु भगवान निवास करते हैं। उसने सामान दिलवाया और हमें सकुशल एक होटल में पहुंचा दिया।

हम लोगों ने राहत की सांस ली। परंतु होटल में एक चौकीदार के सिवाय और कोई नहीं था। खाना-पीना तो दूर, पानी और चाय का भी कोई डौल नहीं था। तभी मुझे याद आया कि उक्त कवि-सम्मेलन में पुलिस सुपरिंटेंडेंट भी बैठे थे। वह जाते-जाते मुझसे मिले भी थे और अपना कार्ड भी मुझे दे गए थे। मैंने रात को साढ़े तीन बजे उन्हें फोन किया। मेरा नाम सुनकर वह गहरी नींद से उठकर फोन पर आ गए। मैंने उन्हें फोन पर अपनी व्यथा-कथा सुनाई। वह नाइट सूट में ही दौड़े हुए आए। हमारे लिए चाय-बिस्कुट का इंतजाम किया। पकड़कर एक आयोजक को ले आए। उसके पास जो कुछ भी था, उसने हमें हाथ जोड़कर दे दिया। कोई-कोई पुलिस अफसर भी कितना अच्छा होता है, हमें उस दिन इसका पता चला। जाते-जाते वह कह गए—"सवेरे छः बजे गाड़ी जाती है। उससे ही निकल जाना। यहां का माहौल ठीक नहीं है।"

अफसर के जाते ही हम स्टेशन रवाना हो गए। थर्ड क्लास का टिकट लेकर सेकेंड क्लास में घुस गए। उसमें भी जगह नहीं थी। काफी देर बाद कोई खिड़की पर बैठा, कोई संडास के दरवाजे पर। मुझे तो कह-सुनकर लोगों ने बिठा दिया। पर बाकी की तो पटना तक खड़े-खड़े ही गुजरी। जैसे-तैसे दिल्ली आ गए। दिल्ली आकर मन ही मन कहा कि "अब खाई सो खाई, अब खाऊं तो राम दुहाई।"

कुछ विशिष्ट कवि-सम्मेलन

कवि-सम्मेलनों पर मैं बार-बार क्यों लिख रहा हूं ? आप भी शायद इस विषय के विस्तार से ऊब गए होंगे। परंतु मैं क्या करूं ? मैंने लगभग पचास वर्षों तक कवि-सम्मेलनों का जीवन जिया है। एक महीने में चार तो मामूली थे। प्रारंभ में इनका औसत इससे भी अधिक था। बीच में पांच साल कवि-सम्मेलन किए ही नहीं। फिर प्रारंभ किए तो लगातार। मोटा अंदाज यह है कि कम से कम दो हजार कवि-सम्मेलन तो मैंने अटैन्ड किए ही होंगे। इनकी सैंकड़ों सुधियां रह-रहकर मन में उभरती हैं। किनको छोडूं और किनको लिखूं ? यहां कुछ स्तरीय सम्मेलनों की गिनती-भर कर रहा हूं।

आजादी से पहले हर साल रेडियो पर कवि-सम्मेलन हुआ करते थे। उनमें सुमित्रानंदन पंत, रामधारी सिंह 'दिनकर', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', नरेंद्र शर्मा, हरिवंशराय 'बच्चन' रामकुमार वर्मा, भगवतीचरण वर्मा और उदयशंकर भट्ट जैसे अनेक वरिष्ठ कवि भाग लिया करते थे। मुझे भी इन काव्य-शिरोमणियों के बीच अपनी कविता सुनाने का सौभाग्य प्राप्त होता रहता था। एक बार की बात है कि उदयशंकरजी भट्ट ऐसे ही एक रेडियो कवि-सम्मेलन का निमंत्रण-पत्र लेकर स्वयं मेरे पास आए। जब वह लाहौर में थे तभी से मेरा उनसे परिचय था। वह मुझसे बड़ा स्नेह रखते थे। निमंत्रण का कागज हाथ में देते हुए उन्होंने मुझसे कहा–"व्यासजी, मैं स्वयं इस निमंत्रण-पत्र को लेकर इस आग्रह के साथ आपके पास आया हूं कि इस बार रेडियो कवि-सम्मेलन में आप अपनी कोई गंभीर रचना सुनाएं।" मैंने उनसे विनोद में कहा–"भट्टजी, मैं और गंभीरता ! क्यों मेरा चरित्रहनन कर रहे हो ?" भट्टजी गंभीर होकर बोले–"बात यह है कि तुम्हारी कविता के बाद अन्य कवि नहीं जम पाते और हमारे वरिष्ठ कवि हतप्रभ हो जाते हैं। कई तो अपने को अपमानित भी महसूस करते हैं। तुम पूरे कवि-सम्मेलन को लूट ले जाते हो।" मैंने फिर विनोद में उत्तर दिया–"कविता के धनियों के बीच लुटेरे का क्या काम ? मुझे छोड़ दीजिए।" भट्टजी का कहना था, "यही तो दिक्कत है। हमारे अधिकारी और श्रोता आपको नहीं छोड़ना

चाहते। आप मेरा आग्रह स्वीकार लें और इस बार कोई गंभीर कविता सुना दें।"

यह बातचीत कटरानील में ब्रजवासी मिठाईवाले की दुकान पर हो रही थी। मैंने कहा–"भट्टजी, गंभीरता छोड़िए। मैंने अभी खाई है। आप भी पिस्ते की लौज लीजिए।" भट्टजी भी मेरी तरह ठंडाई और मिठाई के शौकीन थे। मिठाई के बाद गंभीर वातावरण समाप्त हो गया। कटरानील में बनारसी पानवाले की एक मशहूर दुकान है। वहां हम दोनों ने मगही पान की दो-दो गिलौरियां दबाईं और मोद-विनोदपूर्वक अपनी-अपनी राह ली।

उन दिनों पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी रेडियो के एक डायरेक्टर थे। उनका जब मन होता, रात्रि का भोजन करने मेरे यहां आ जाया करते थे। मैंने उनसे गंभीर प्रकरण की चर्चा की तो बोले–"भट्टजी की बात को छोड़ो। तुम अपने रंग की ही कविता पढ़ना। अकेले तुम ही तो व्यंग्य-विनोद का प्रतिनिधित्व करते हो। अपने रस को तुम्हें नहीं छोड़ना चाहिए।"

मैं धर्मसंकट में पड़ गया। दोनों स्नेही और आदरणीय मित्रों की बात को नहीं टाल सकता था। इसलिए बीच का रास्ता निकाला। गंभीरता पर व्यंग्य करते हुए मैंने कविता लिखी, सुनाई और सबकी सराहना भी पाई। कविता की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं–

तन भी दुरुस्त, मन भी दुरुस्त,
टीबी का नहीं कुयोग प्रिये !
पच जाता दूध-दही-मक्खन,
खा जाता मोहनभोग प्रिये !
हो गए वर्ष बारह पूरे,
आगरा छोड़ मैं आया हूं।
कविता गंभीर सुनाने को,
फिर भी कहते हैं लोग प्रिये।
तो तुम्हीं कहो पुष्पा की मां,
अब किस बजार में जाऊं मैं
गंभीर भाव के ये सौदे,
कितने तक में कर आऊं मैं ?
या बिना भाव ही लिखूं पढ़ूं ?
या बिना गले ही गाऊं मैं ?
या बिना चोट ही मरा,
मर चला हाय ! चिल्लाऊं मैं ?
अब किस अनदेखी को बोलो,
सपनों की राह बुलाऊं मैं ?
सालियां, भाभियां सब मोटी,
पलकों पर किन्हें बिठाऊं मैं ?

तुम भी कुछ दिन में सो लेना,
जागेंगे रातोंरात प्रिये !
तारे ही तार बनेंगे तब,
कर लेंगे दो-दो बात प्रिये !
मैं तुम्हें लिखूंगा प्रेम-पत्र,
तुम देना नहीं जवाब प्रिये !
दिल थोड़ा पत्थर कर लेना,
पहुंचेगा तुम्हें सबाब प्रिये !

फिर मैं चंदा में आंख फाड़,
तेरा ही रूप निहारूंगा ।
कोई भी आती-जाती हो,
तुमको ही समझ पुकारूंगा ।
कुछ रोऊंगा, कुछ गाऊंगा,
कुछ जीतूंगा, कुछ हारूंगा,
धीरे-धीरे थोड़े दिन में,
मैं अपने कपड़े फाडूंगा ।

कविता को सुनकर बच्चनजी को छोड़कर सारे कवि खिलखिला उठे। बच्चनजी की लाचारी है। उन्हें हास्यरस की कविताओं पर हंसी आती ही नहीं।

दूसरी घटना अहमदाबाद की है। नेताजी सुभाषचंद्र बोस की जयंती पूरे देश में मनाई जा रही थी। अहमदाबाद में भी एक अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन हुआ। इसमें हिन्दी-उर्दू के कई कवि आमंत्रित थे। आजाद हिन्द सेना की कप्तान लक्ष्मी विशिष्ट अतिथि के रूप में मंच पर आसीन थीं। मेरे पास तो आजाद हिन्द सेना और नेताजी पर लिखी हुई कविताओं का खजाना था। श्रोताओं की याचना पर मैंने सब लुटा दिया। मां सरस्वती की ऐसी कृपा रही कि उस दिन वे मेरी जिह्वा पर आ विराजीं। कप्तान लक्ष्मी मेरे पास आईं और मेरे माथे को चूम लिया। गुजरात के मुख्यमंत्री देसाई ने गले लगा लिया। सबसे अधिक आश्चर्यजनक घटना यह हुई कि चाय के एक खाली प्याले में मुंह से निकाल-निकालकर जो सुपाड़ियां डालता जाता था, उन्हें गुजराती गजल गानेवाले उठा-उठाकर खाने लगे। मैंने उन्हें रोका तो उनका जवाब था–"यह तो आपका प्रसाद है। हमें लेने दीजिए।" मंच के आगे की कतार में भारत के विख्यात वैज्ञानिक विक्रम साराभाई और उनकी नृत्य विशारदा सुन्दर पत्नी भी बैठी हुई थीं। कवि-सम्मेलन के बाद वे दोनों मंच पर आए और मुझे भोजन पर आमंत्रित कर गए। मैं गया। मेरे अनुरोध पर श्रीमती साराभाई ने कृपा करके एक नृत्य मुद्रा भी प्रदर्शित की और मैंने प्रसन्न होकर अपनी व्यंग्य-विनोद की कविताएं सुनाईं। विक्रमजी जैसे महान वैज्ञानिक कितने साहित्य-रसिक हैं, यह मैंने उस दिन जाना

और माना कि विज्ञान और साहित्य एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं।

तीसरी घटना कलकत्ता की है। वहां की साहित्य कला संसद ने एक अंतरप्रांतीय हास्य कवि-सम्मेलन का आयोजन किया। इसमें देश की लगभग सभी भाषाओं के व्यंग्य-विनोद लिखनेवाले कवि उपस्थित हुए। बिड़ला बंधुओं में से एक साहित्य-रसिक महानुभाव इसके स्वागताध्यक्ष थे। मुझे इस आयोजन का अध्यक्ष बनने का सौभाग्य प्राप्त हो गया था। मैंने पहली बार जाना कि बंगला, मराठी, कन्नड़, मलयालम और तमिल में भी एक-से-एक अच्छे हास्य-व्यंग्य लिखनेवाले कवि हैं। मैं मन ही मन डर रहा था कि इन उत्कृष्ट कवियों के बीच हिन्दी की लाज कैसे रहेगी ? परंतु वह रह गई। इसमें जहां उपस्थित कवियों की उदारता एक कारण थी, वहां शायद प्रमुख कारण यह भी था कि उपस्थित श्रोता समूह हिन्दी का तो प्रेमी था ही, वह मेरे व्यक्तित्व-कृतित्व से भी वर्षों से भलीभांति परिचित था। कलकत्ता के कवि-सम्मेलनों में इससे पूर्व मैं बीसियों बार जा चुका था और मैंने वहां अपने चाहनेवालों की संख्या में खासी वृद्धि कर ली थी। मंच पर मेरा जब अभिनंदन किया गया तो मैंने अपनी 'काम करो' कविता सुनाई। इसमें सिर्फ बातें बनानेवाले तथा काम न करनेवालों की प्रशस्ति करते हुए अंत मे कहा गया था–

ये कर नहीं काम के लायक,
इनमें मानपत्र दो, भाई,
इनमें हार लपेटो प्यारे,
हंसकर दो ताम्बूल मिठाई।
फिर मेरी जय बोलो लोगो,
यही काम मैं आ सकता हूं।
भारत मां के लिए सिर्फ मैं,
इतना कष्ट उठा सकता हूं।

और सचमुच उस दिन मेरी जय-जय के नारे लगने लगे। इनमें श्रोता ही नहीं, हमारे हिन्दीतर कवि भाई भी शामिल थे।

कवि-सम्मेलन के संस्मरणों का सिलसिला समाप्त करते हुए मैं यही कहना चाहता हूं कि हमारे हिन्दी के कवि-बंधुओं को हिन्दीतर भाषाओं के कवियों के संपर्क में आना चाहिए। उनसे बहुत कुछ सीखा जा सकता है। उनमें भी मौलिकता प्रचुर मात्रा में है। विशेषकर उर्दू के शायरों से तो हम लोग तहजीब के साथ-साथ तरन्नुम भी सीख सकते हैं। उनकी रुबाइयों, उनके गीत, उनकी गजलें, उनका स्पष्ट और बुलंद उच्चारण और अपने साथी शायरों को बढ़ावा देने की रीति-नीति अभी भी हिन्दी में नहीं आई है। मैं अम्बाला, अलीगढ़, हैदराबाद और दिल्ली में कई ऐसे कवि-सम्मेलनों में शामिल हुआ हूं, जहां हिन्दी और उर्दू दोनों के कवि और शायरों को आमंत्रित किया गया था। यहां यह नहीं कहूंगा कि मैंने शायरों के बीच सराहना पाई, बल्कि यह कहूंगा कि बिना गाए कविता पढ़ना और श्रोताओं के हृदयों को छूना मैंने बहुत कुछ उर्दू के शायरों से सीखा। परंतु

इस समय उर्दू पहले जैसी सरल और सुबोध नहीं रही। उसमें अरबी और फारसी शब्दों की भरमार होने लगी है। यही वजह है कि वह आम जनता से दूर होती जा रही है। लेकिन हिन्दी के कवि आजकल उर्दू के सरल शब्दों का धड़ल्ले से प्रयोग करके उर्दू की बहर में हिन्दी कविता की लहर को खूब लहराने लगे हैं। यह शुभ लक्षण है।

कम लोग अपने ऊपर व्यंग्य कर सकते हैं। दूसरों को पीड़ा पहुंचाकर हंसाना बहुत कष्टप्रद मालूम होता है। सड़क पर छिलका फेंककर राहगीर को फिसलन का शिकार बनाकर हंसा गया तो क्या हंसी हुई ? व्यासजी अपने ऊपर व्यंग्य कर सकते हैं। औरों के ऊपर की गई उनकी चोट आक्रोश की सीमा लांघ सकती है। उनकी सफलता 'टाइप' चुनने में है। जो हास्यास्पद व्यक्ति या परिस्थिति ऐसी होती है जो 'टाइप' के रूप में आती है वह विशुद्ध हास्य की कोटि में आ जाती है या आ सकती है। पर जहां लक्ष्य व्यक्ति या किसी के निजी परिवेश की निश्चित परिस्थिति होती है, वहां वह कभी-कभी आक्रोश बन जाता है। व्यासजी में प्रायः इस प्रकार की कटुता या आक्रोश नहीं पाया जाता।

व्यंग्य के लक्ष्य व्यक्ति हो सकते हैं पर विशुद्ध काव्य-रस में खुले रूप में इस प्रकार की निशानेबाजी बाधा ही उत्पन्न करती है। इस श्रेणी के व्यंग्य में न तो कवि के चित्त में सत्त्वोद्रेक हो पाता है, न काव्यरसिक को 'लोकोत्तर' आनंद मिल पाता है। परंतु ऐसा व्यंग्य भी कभी-कभी 'विनोद' बन जाता है और निंदारस के रसिक उससे तृप्ति भी पाते हैं। व्यंग्य बड़ी ही सुकुमार कला है। व्यासजी व्यक्ति की इस राजसिक या तामसिक निशानेबाजी से बचते हैं। बचने के इस प्रयत्न में वह सफल भी हुए हैं।

—पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी

व्यंग्यमेव जयते

जीवन क्या है– कठोर यथार्थ। जीवन का परम लक्ष्य क्या है–आनंद। आनंद किससे प्राप्त होता है–कर्म से। कर्म के बिना आनंद कहां ? आनंद के बिना जीवन कहां ? इसे यों समझिए कि व्यंग्य के बिना हास्य कहां और स्मिति और उल्लास के मिलनोत्सव के बिना साहित्य कहां तथा बिना साहित्य के जीवन कहां ?

इसे यों भी समझें कि धरित्री ही जीवन की कठोर वास्तविकता है। जगतीतल की नैसर्गिक छटा ही साहित्य है। उससे मिलनेवाली सुख-शांति ही आनंद यानी हास्य है। प्रकृति का रौद्र रूप यानी भूकंप, बाढ़ और तूफान यही प्रकृति का व्यंग्य है और साहित्य का भी व्यंग्य है। वह सर्वनाश की चेतावनी भी है और विनाश के खंडहरों पर नव-निर्माण की प्रेरणा भी। यही प्रकृति का और साहित्य का अट्टहास भी है और व्यग्य भी।

इसे यों भी समझ सकते हैं कि जीवन उत्कर्ष की लालसा है। साहित्य जीवन का सौंदर्यबोध है। उसको आनंदपूर्वक जीने की कला का नाम हास्य है। और व्यंग्य इस सौंदर्य में निहित वासना, कला में निहित कलुष और जीवन में व्याप्त विसंगति और विडंबना की सशक्त अभिव्यक्ति है।

सौंदर्यबोधी साहित्य सदैव सत्यम् और शिवम् भी हो, यह आवश्यक नहीं है। उसकी पहुंच आनंद तक तो है, पर उस शिव तक नहीं जो विषधरों को धारण किए रहता है, गरल ही जिसका कंठाभरण है और उसके मस्तक में एक तीसरा नेत्र भी है जो सब कुछ भस्म करने की शक्ति रखता है। वही सत्यम् है, वही शिवम् है और अपनी चरम परिणति में सुंदरम् भी। यही बात हास्य और व्यग्य के संबंध में भी खरी उतरती है। जो व्यंग्य-विनोद असत्य पर आधारित है, अशिव है और असुंदर है, वह अग्राह्य है, अपाच्य है और सहृदयजन उसे अपने पास नहीं फटकने देते। दूध में पानी मिल सकता है, व्यंग्य-विनोद में कुरुचि, अश्लीलता, क्लेश और कलुष कभी नहीं मिल सकते।

एक उदाहरण और—साहित्य क्रिकेट का खेल है। उसमें लगनेवाले चौके और छक्के हर्षोल्लास हैं और गुगली, तेज गेंदबाजी और बंपरों से धाकड़ बल्लेबाजों के भी विकेट उखाड़ देना या लपक लेना व्यंग्य है।

अब बात को अपने शौक से जोड़ता हूं—साहित्य पान का पत्ता है। हास्य उसमें लगा कत्था है और चूना लगा कि व्यंग्य हुआ। बिना चूने के कत्थे में रंग नहीं आता। पान रचता नहीं। चूने में कैल्शियम है। कैल्शियम स्वास्थ्य के लिए बहुत आवश्यक है। समाज के स्वास्थ्य के लिए इसी प्रकार व्यंग्य-विनोद भी आवश्यक है।

इतना सब कहने के बाद निष्कर्ष यह कि साहित्य हास्य के बिना सूना है और हास्य बिना व्यंग्य के ऊना है। व्यंग्य के संपुट के साथ वह ऊना नहीं, पूना है, दूना है।

मेरी ख्याति हास्यरस के कवि-लेखकों में ही जानबूझकर प्रस्तुत की जाती है। इसका एक कारण ख्यातिजनित ईर्ष्या है और दूसरा कारण मेरी वे मंचीय कविताए हैं, जिन्होंने कुछ विघ्नतोषियों को मुझे साला, साली और सलवारवाला कवि कहने की मोहलत प्रदान की। मैं समझता हूं कि इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि जहां मेरी हास्यप्रधान कविताएं जनता में और साहित्य में रच-बस गईं, वहां व्यंग्यप्रधान कविताएं 'धर्मयुग' और 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के पन्नों तक ही सिमटकर रह गईं। जहां अन्य कविताओं के एक-एक लाख तक संस्करण हुए वहां व्यंग्यप्रधान कविताओं की एक पुस्तक भी नहीं छपी। पत्रकारिता और हिन्दी की सेवा से इतना समय ही नहीं मिला जिससे ऐसी कविताओं को संगृहीत करके पाठकों और समीक्षकों तक पहुंचा पाता। मैंने अनेक व्यंग्य कविताएं लिखी हैं। छांट-छांटकर भी छपें तो इनके दो संग्रह तो निकल ही सकते हैं। परंतु बीत गई सो बात गई। इस लेख में ऐसी कुछ रचनाओं का कड़वा-मीठा स्वाद आपको चखा रहा हूं। एक लंबी कविता का छोटा-सा अंश—

बोए गुलाब, उग आए कांटे !
सांपों और बिच्छुओं ने,
दंश-डंक बांटे,
नागफनी हंसी,
तुलसी मुरझाई।

और तुम कहते हो
सृजन को संवारो !
कंटकित करीलों की
आरती उतारो !
प्रतिभा के पंखों पर।
सुविधाओं के पत्थर !
चप्पल पर पालिश है,
टोपी पर धूल !

और तुम कहते हो,
आंसू मत बोओ !
सुमनों को छेद-छेद
माला पिरोओ !
दफ्तर में
खटमल की वंश-वेल फैली !
कुर्सी पर बैठ गई
चुपके-से थैली !
बोतल से बहती है
गंगा की धारा !
मंझधार सूख गई
डूबता किनारा !

इसी तेवर की एक अन्य कविता में मैंने हास्य, व्यंग्य और साहित्य के संबंध में जो कुछ कहा है, वह इस प्रकार है–

व्यंग्य कोई कांटा नहीं–
फूल के चुभो दूं,
कलम कोई नश्तर नहीं–
खून में डूबो दूं,
दिल कोई कागज नहीं–
लिखूं और फाड़ूं,
साहित्य कोई घरौंदा नहीं–
खेलूं और बिगाड़ूं ।
मैं कब कहता हूं–
साहित्य की भी कोई मर्यादा है ।
कौन वह कुंठित और जड़ है,
जिसने इसे सीमाओं और रेखाओं में बांधा है ।
साहित्य तो कीचड़ का कमल है,
आंधियों में भी लहरानेवाली पतंग है,
वह धरती की आह है,
पसीना है, सड़न है, सुगंध है ।
साहित्य कुंवारी मां की आत्महत्या नहीं,
गुनाहों का देवता है,
वह मरियम का पुत्र है,
रासपुटिन का धेवता है ।
साहित्य फ्रायड की वासनाओं का लेखा नहीं,

गोकुल के कन्हैया की लीला है,
उसके आंगन का हर छोर
विरहिणी गोपियों के आंसुओं से गीला है।

हास्य केले का छिलका नहीं–
सड़क पर फेंक दो और आदमी फिसल जाए।
व्यंग्य बदतमीजों के मुंह का फिकरा नहीं–
कस दो और संवेदना छिल जाए।
हास्य किसी फूहड़ के जूड़े में
रखा हुआ टमाटर नहीं,
वह तो बिहारी की नायिका की
नाक का हीरा है।
मगर इसे वे क्या समझेंगे
जो साहित्य का खोमचा लगाते हैं
और हास्य जिनके लिए जलजीरा है।

मैंने नई तरह की कई कविताएं ही नहीं लिखीं, तथाकथित नई कविता के मुखौटे लगानेवालों की असलियत को भी उजागर करने का एक बार प्रयत्न किया है। कविता का एक अंश–

मैं नई कविता लिखना चाहता हूं ?
नहीं लिख सकते।
क्योंकि इसके लिए धारा नहीं,
नाव बदलनी पड़ती है।
हर नौका के साथ पतवार बदलती पड़ती है।
प्रश्न साहित्य के मान बदलने का नहीं,
मकान बदलने का है।
और मकान मिल जाए,
तो ईमान बदलने का है।
लेकिन बूढ़ा तोता क्या पढ़ेगा,
और तुम क्या बदलोगे, किबला !
लोगों के दृष्टिकोण बदल गए,
तुम्हारे तो चश्मे का नंबर भी नहीं बदला।

तुम बीवी बदलो, विधा बदल जाएगी,
कलम बदलो, रचना बदल जाएगी।
अपने आसन पर जमे रहो,

मगर दूसरों की कुर्सियां हिला डालो।
सोफे पर पांव पसारकर कहो–
क्रांति आ गई है।
अब मेरे सिवाय कोई नहीं बचेगा।
सबको तिलमिला डालो।
मगर तुम यह सब नहीं कर सकते,
'टंडनाइट' हो न !
हिन्दी में सिक्सटी परसेंट अंग्रेजी शब्द
नहीं भर सकते।

तुम नवयुग और नए सृजन के लिए नहीं हो,
हम तुम्हें अच्छी तरह पहचानते हैं
कि तुम वही हो ! वही हो !

जी हां, मैं वही हूं। ठीक पहचाना। मैंने भी स्वीकार किया है–

मैं सींग कटाकर
बछड़ों में मिलना चाहता हूं ?
नहीं मिल सकते।
क्योंकि आजकल के बछड़े
बैलों को ही नहीं,
बैलवालों को भी अच्छी तरह पहचानते हैं।

लेकिन क्या करूं ? मेरे मन में यह भ्रम बुरी तरह से बैठ गया है कि कवि स्वयंभू होता है। मैं स्वयंभू तो नहीं बन सका। हां, स्वयं को समझने बहुत कुछ लगा–"कविताई क्या आई, खुद को मैं अफलातून समझ बैठा।" लेकिन जब से यह सुना और पढ़ा कि कवि होने की पहली शर्त यह है कि उसे क्रांतिद्रष्टा होना चाहिए। क्रांति करना तो मेरे वश की बात थी नहीं। वैसे भी कवि क्रांति नहीं करते, उसकी बातें करते हैं और घोषित करते हैं कि उनकी क्रांतिकारी कविताएं ही युग की कायापलट कर देंगी तथा क्रांति ले आएंगी। मैंने भी साहस करके इस ओर कदम बढ़ाया और कहा–"यह क्रांति नहीं तो क्या है, जी ?" कविता के कुछ अंश–

हो गए मूर्ख विद्वान, प्रिये !
गंजे बन गए महान, प्रिये !
दल्लाल लगे कविता करने,
कवि लोग लगे पानी भरने,
तिकड़म का ओपन गेट, प्रिये !
मालिश का ऊंचा रेट, प्रिये !

नेता से मुश्किल भेंट, प्रिये !
मंत्री का मोटा पेट, प्रिये !
यह क्रांति नहीं तो क्या है, जी ?

बढ़ते जाते ये (बन) मानुष,
युद्धों से कब घबराते हैं ?
खुद को ही स्वयं मिटाने को,
हथियार बनाए जाते हैं ।
इसलिए नहीं अब दुश्मन को
सम्मुख ललकारा जाता है ।
पीछे से घोंपा जाता है,
मिलकर के मारा जाता है ।
यह क्रांति नहीं तो क्या है, जी ?

चेले गुरुओं को डांट रहे,
अंधे खैरातें बांट रहे ।
गीदड़ कुर्सी पा जाते हैं,
चिमगादड़ मौज उड़ाते हैं ।
बगुले पा जाते हैं वोट यहां,
कौए गिनते हैं नोट यहां ।
यह क्रांति नहीं तो क्या है, जी ?

परंतु यह क्या ! विवाद छिड़ गया कि क्या साहित्य से क्रांति होना संभव है ? भाषण हुए। संगोष्ठियां हुईं। लेख-प्रलेख लिखे गए। निष्कर्ष यह निकला कि कवि के हाथ से क्रांतिदर्शी होने का अधिकार छिन गया। राजनीति इसे ले उड़ी। स्वयंभू कवि के बजाय स्वयंभू नेता बोले–क्रांति तो राजनीति से ही हो सकती है। उसके संवाहक साहित्यकार नहीं, हम हैं। इन 'हम' पर हमारा अहम जाग्रत हुआ। लिखा कि नेता किसे कहते हैं–

उसको कहते हैं नेता ।
वाणी में जिसके चीनी हो,
मुस्कान बड़ी नमकीनी हो ।
तन काला हो तो हुआ करे,
लेकिन मन में रंगीनी हो ।
हरदम हारों का गाहक हो,
उपहारों का भी वाहक हो ।
कुर्सी, माइक, डंडे, जूते,
सब पर जिसका पहला हक हो ।

रोटी-रोजी के बदले में
जनता को जो भाषण देता।
हम उसको कहते हैं नेता।

जो सब विषयों का ज्ञाता हो,
जो सभी जगह मिल जाता हो।
जो लोगों को पीछे धकेल,
फोटो में आगे आता हो।
चंदा ही जिसका धंधा हो,
व्यापार न जिसका मंदा हो।
जो सदाचार पर भाषण दे,
व्यवहार मगर कुछ गदा हो।
सर्दी-गर्मी कम करने को,
चुपके से थोड़ी पी लेता।
हम उसको कहते हैं नेता।

सर्दी में देश सुहाता हो,
गर्मी में लंदन जाता हो।
बरसात बिता वाशिंगटन में,
पेरिस में मून मनाता हो।
दफ्तर में जिसका साला हो,
समधी भी पैसेवाला हो।
मंत्रीजी जिसके मामा हों,
अंटी में जिसके लाला हों।
परमिट से लेकर पासपार्ट
तक हो जिसका उल्लू चेता।
हम उसको कहते हैं नेता।

ना कहना जिसे न आता हो,
हां कहने में शरमाता हो।
आगे बढ़ने को कहकर के,
जो खुद पीछे हट जाता हो।
मतलब पर दांत दिखाता हो,
लेकिन पीछे गुर्राता हो।
मिलने से आंख चुराता हो,
हर मसले को टरकाता हो।

नोटों से, वोटों, चोटों से,
जो अपनी नयूया को खेता।
हम उसको कहते हैं नेता।

वह नेता क्या जो जनता को देशभक्ति की घुट्टी न पिलाए। उन्हें कर्मयोग का पाठ न पढ़ाए। यह न कहे कि देश हमारे बनाए नहीं बनेगा, आपके बनाए बनेगा। देश को बनाना है। आगे बढ़ाना है। विश्व की महान शक्तियों के समकक्ष पहुंचाना है तो "हल पकड़ो या कल पकड़ो, कुछ काम करो, कुछ काम करो, रे !" इस प्यार-भरे, मनुहार-भरे उपदेशामृत का पान हमने भी किया। लोग अक्सर नेताओं की बात को इस कान से सुनकर उस कान से निकाल देते हैं। क्योंकि नेता भी बोलने के लिए बोलते हैं और सुननेवाले सुनने के लिए ही सुनते हैं। परंतु कवि तो संवेदनशील है न ! वह अपनी वेदन, न में आ की मात्रा और जोड़ो, मतलब कि वेदना को मजबूरी बनाकर नेताजी की तस्वीर ही उनके सामने इस तरह रख देता है–

अमां, काम करना तो हमको
नहीं पिताजी ने सिखलाया।
छः दर्जे तक पढ़े, वहां भी
नहीं काम का 'लेसन' आया।

फिर गीता में लिखा हुआ है–
काम-क्रोध से दूर रहो रे !
मुझ जैसे निष्काम पुरुष से
बात काम की नहीं कहो रे !

देह बड़ी या काम बड़ा है ?
यह तो जरा मुझे बतलाओ !
मेरा मत है मरो भुक्ख,
पर नहीं देह का दुक्ख उठाओ !

लख चौरासी में भ्रम करके
बड़े भाग नर-देही पाई।
उसी देह को जोड़ काम में
करवाते हो हाड़-तुड़ाई।

कमल-कली सी नरम अंगुलियां,
इनमें हल पकड़ाते हो तुम !
कमल-नाल से बांध हथौड़ा
दिल में छेद कराते हा तुम !

ये कर नहीं काम के लायक
इनमें मानपत्र दो, भाई !
इनमें हार लपेटो प्यारे,
हंसकर दो ताम्बूल-मिठाई ।

फिर मेरी जय बोलो लोगो,
यही काम मैं आ सकता हूं ।
भारत मां के लिए सिर्फ मैं
इतना कष्ट उठा सकता हूं ।।

मेरे प्रेमी पाठक जानते हैं कि मैंने 'काम करो' के बदले 'आराम करो' का नारा दिया था। मेरी यही कविता पाठ्य-पुस्तकों के योग्य समझी गई। क्योंकि न इसमें नेताओं का जिक्र खैर था और न व्यवस्था तथा सरकार पर कोई चोट की गई थी। शुद्ध हास्य और मीठे व्यंग्य के रूप में इसे जनता और समालोचकों ने स्वीकार किया है। लाखों श्रोताओं ने इसे सुना है। उत्तर से दक्षिण तक के हिन्दी-छात्रों ने इसे पढ़ा है। जब-तब ऐसे लोग भी मिल जाते हैं, जिन्हें यह कविता पूरी तरह कंठस्थ है। इसे छोड़ता हूं। देता हूं सिर्फ नेताओं के भाषण देने की आदत पर अपनी तीरंदाजी के कुछ नमूने–

यदि दर्द पेट में होता हो,
या नन्हा-मुन्ना रोता हो,
या आंखों की बीमारी हो,
अथवा चढ़ रही तिजारी हो,
तो नहीं डाक्टरों पर जाओ,
वैद्यों से अरे न टकराओ,
है सब रोगों की एक दवा–
भई, भाषण दो ! भई, भाषण दो !

हर गली, सड़क चौराहे पर
भाषण की गंगा बहती है ।
हर समझदार नर-नारी के
कानों में कहती रहती है–
मत पुण्य करो, मत पाप करो,
मत राम-नाम का जाप करो,
कम से कम दिन में एक बार-
भई, भाषण दो ! भई, भाषण दो !

भाषण देने से सुनो, स्वयं
नदियों पर पुल बंध जाएंगे,

बंध जाएंगे बीसियों बांध,
ऊसर हजार उग आएंगे !
तुम शब्द-शक्ति के इस महत्त्व को
मत विद्युत से कम समझो।
भाषण का बटन दबाते ही
बादल पानी बरसाएंगे।
इसलिए न मैला चाम करो,
दिन-भर प्यारे, आराम करो।
संध्या को भोजन से पहले,
छोड़ो अपने कपड़े मैले,
तन को संवार, मन को उभार,
कुछ नए शब्द लेकर उधार,
प्रत्येक विषय पर आंख मूंद
भई, भाषण दो ! भई, भाषण दो !

नेताओं से देश कितना बनता है और कितना बिगड़ता है, यह आप मुझसे अधिक जानते हैं। लेकिन नेता देश को बना सके या न बना सके, सरकार तो बना ही लेता है। पहले कहा करते थे—"यथा राजा तथा प्रजा", लेकिन अब कहना चाहिए इस प्रकार—"यथा नेता तथा सरकार!" नेताओं और सरकार पर व्यंग्य करने का काम आजकल आम फैशन हो गया है। साहित्य, संस्कृति, सभ्यता, मानवता और आम आदमी के दुःख-दर्द को भूलकर व्यंग्यकार आज इन्हीं विषयों के पीछे पड़े हैं। चालू सिक्का है यह विषय। मैंने भी इस सिक्के की ओर हाथ बढ़ाया है। इसका एक ऐतिहासिक प्रसंग भी है कि जब मुझे सरकार ने पद्मश्री दी तो मैंने उस रायसाहबी के प्रति जो धन्यवाद प्रकट किया, उसके कुछ अंश नीचे देता हूं। सरकारपरस्तों ने इसकी कतरनें गृह मंत्रालय को भेजीं कि देखो, आपके पद्मश्री आपकी कैसी प्रशंसा कर रहे हैं—

बुढ़ापे में जो हो जाए उसे हम प्यार कहते हैं,
जवानी की मुहब्बत को फ़कत व्यापार कहते हैं।
जो सस्ती है, मिले हर ओर, उसका नाम महंगाई,
न महंगाई मिटा पाए, उसे सरकार कहते हैं।

जो पहुंचे बाद चिट्ठी के उसे हम तार कहते हैं,
जो मारे डाक्टर को हम उसे बीमार कहते हैं।
जो धक्का खाके चलती है, उसे हम कार मानेंगे,
न धक्के से भी चल पाए, उसे सरकार कहते हैं।
आदि-आदि।

सरकार मुझे कभी रास नहीं आई। मैंने उसकी विरुदावली कभी नहीं गाई। क्योंकि

शुरू-शुरू में मैं समाजवादी और क्रांतिकारी लोगों के संपर्क में आया जो सरकार के जानी दुश्मन थे। फिर गांधीजी का रंग चढ़ा, जो सरकार को उखाड़ फेंकना चाहते थे। उसके बाद नेताजी सुभाषचंद्र बोस, राममनोहर लोहिया और टंडनजी का संग मिला, जो स्वतंत्रता से पहले अंग्रेज सरकार के विरोधी थे और स्वराज मिलने के बाद कांग्रेस सरकार के भी विरोधी थे। टंडनजी तो कांग्रेस में रहकर भी कांग्रेस-सरकार की आलोचना करने से नहीं चूकते थे। स्वराज के बाद स्वभाषा को न अपनाने के कारण पहले और बाद में जनसेवा को भूलकर उसकी कुर्सी-परस्ती के कारण मेरे सरकार-विरोधी संस्कार बढ़ते ही गए। लेकिन मैंने हमेशा व्यक्ति का नहीं, व्यवस्था का विरोध करके अपने कवि-धर्म का पालन किया है।

कहां तक कहें ? हमने तो जो समझना था, समझ लिया। परखना था, वह परख लिया। अब जनता का काम है कि वह सोचे-समझे, परखे-पहचाने, माने न माने और बदले या बने रहने दे। मुझे निम्नलिखित कविता अपने पशु-काव्य में देनी थी, लेकिन नेता-प्रकरण के समापन के रूप में यहीं उद्धृत कर रहा हूं—

आदमी और रीछ में क्या अंतर है ?
आदमी की हजामत बनती है, रीछ की नहीं।

आदमी और बंदर में क्या अंतर है ?
आदमी अंडरवीयर पहनता है, बंदर नहीं।

आदमी और हाथी में क्या अंतर है ?
हाथी पर अंकुश लगता है, आदमी पर नहीं।

आदमी और नेता में क्या अंतर है ?
आदमी नेता हो सकता है, नेता आदमी नहीं।

नेता-पुराण कुछ ज्यादा ही हो गया। अब चलें व्यंग्य-बहर की नई डगर पर। कोई एक ही विषय तो है नहीं कि जिस पर टॉर्च फेंकी जाए। हमारे महान देश में बहुत-से गांव ऐसे हैं जहां विजली नहीं पहुंची। बहुत-से विषय ऐसे हैं जिन पर प्रकाश नहीं पड़ा। तो स्विच ऑन करें—

नहीं जिससे सुनाई दे,
वो ऊंचा कान होता है।
कि जिससे कान कच्चे हों,
वो पक्का गान होता है।

जिसे खा लें मजे में सब,
वही ईमान होता है।
जो बेईमान होता है,
वही इंसान होता है।

कटे बाजार में पाकिट,
समझ लो, दान होता है।
लगे चूना मुहब्बत से,
करारा पान होता है।

अगर वो देख-भर लें,
तो बड़ा अहसान होता है।
मगर हम मर मिटें तो भी
नहीं बलिदान होता है।

किसी को हार पहनाकर
कहो—सम्मान होता है।
किसी की पीटकर ताली
कहो—कल्याण होता है।

थमा दो नोट के बंडल,
नहीं नुकसान होता है।
इसी से जिंदगी के बल्व
का स्विच ऑन होता है।

सिड़ी ही सीढ़ियां चढ़कर
सदा श्रीमान होता है।
बिदककर बुद्धिमानी से
मनुज विद्वान होता है।

जो लंबी तानकर सोता,
वही शैतान होता है।
भगत जिसको भगा देते,
वही भगवान होता है।

मेरी कविता ने अपनी चूनर को कई चटक रंगों से रंगकर ओढ़ा है। अनेक ढंग अपनाए हैं। गीत हैं, गज़ल हैं, रुबाई हैं, कवित्त, सवैये, दोहे और चोपाई हैं। तुकांत तो हैं ही, अतुकांत छंद भी उसने लिखे हैं। कुछ छंद ऐसे भी हैं जो अतुकांत होते-होते तुकांत हो गए हैं और कुछ ऐसे भी जो तुकांत बनते-बनते अतुकांत बन गए हैं। मेरी कविता लीक पर भी चली है और लीक छोड़कर भी चली है। जैसे, शब्द कार्टून कहें या खाके कहें या टिपिकल चरित्र-चित्रण कहें, कुछ भी कहें, आपके मजे के लिए ये चसकदार तो

हैं ही। एक 'लाला' का वर्णन करने से पहले यह लिखना आवश्यक है कि लाला किसी जाति विशेष की उपाधि नहीं, एक मनोवृत्ति है। एक विश्वव्यापी संस्कृति है, जो व्यवसाय के साथ-साथ धर्म, संस्कृति, समाज-सेवा और शोषण से भी संबद्ध है। समाज को आज राजनीति नहीं चला रही, विश्वभर में समाज-व्यवस्था को ही क्यों, राज्य-व्यवस्था को भी लाला-संस्कृति ही चला रही है। उसके धन के बल पर ही सरकारें बनती-बिगड़ती हैं। बड़े-बड़े तानाशाह और लोकतंत्री शासक सभी उसकी मुठ्ठी में रहते हैं। वह युद्धकाल में भी लाभ उठाती है और शांतिकाल में भी उसके ला-ला शब्द गूंजते रहते हैं। अब पढ़िए–

है कद इनका गुटका,
मगर पेट मटका,
अजब इनकी बोली,
गजब इनका लटका.
है आंखों में सुरमा,
औ' कानों में बाला,
ये ओढ़े दुशाला चले आ रहे हैं !
ये लाली के लाला चले आ रहे हैं !
है ओठों पर लाली,
रुखों पर गुलाली,
घड़ी जेब में है
छड़ी भी निराली,
ये सोने में पलते,
ये चांदी में चलते,
ये लोहे में ढलते हैं, गरमा रहे हैं !
ये लाली के लाला चले आ रहे हैं !
ये कम नापते हैं,
ये कम तोलते हैं,
ये कम जांचते हैं,
ये कम बोलते हैं,
ये 'ला' ही पढ़े हैं,
तभी तो बड़े हैं,
न छेड़ो इन्हें, हाय शरमा रहे हैं !
ये लाली के लाला चले आ रहे हैं !
ये पोले नहीं हैं,
बड़ा इनमें दम है,
ये भोले नहीं हैं,
छंटी ये रकम हैं,

बड़ा हाज़मा है,
इन्हें सब हजम है,
हैं बातें बहुत, हम न कह पा रहे हैं !
ये लाली के लाला चले आ रहे हैं !

लाला छोड़, अब तो कोई बाला भी बाला नहीं पहनती। वे सिर खोले चलने लगीं, तो इन्होंने भी पगड़ी, टोपी, दुशाले खूंटी पर टांग दिए। मंदोदरियों के युग में हमारे लाला भी अब मंदोदर हो चले हैं। लालाजी की 'लाला-संस्कृति' बदस्तूर चल रही है और चल रहे हैं इनकी बदौलत राजनीतिक दलों के चक्के, धर्म के ठेकेदारों के पंजे-छक्के। लेकिन गनीमत है कि सभी लाला ऐसे नहीं हैं। माना कि अब जमनालाल बजाज जैसे नहीं रहे, लेकिन जयदयाल डालमिया जैसे तो कुछ अभी भी बचे हैं। पर लालाओं पर लिखने के कारण कृपया मुझे कम्युनिस्ट मत समझ लीजिए; क्योंकि न मैं कम्युनिस्ट हूं और न कमीनेस्ट। मैं मौज-मजे में लिखता हूं। कलम की धार के नीचे जो भी आ जाए उसका कल्याण। उदाहरण के लिए मेरी तरुणाई के हिन्दी-अध्यापकों को ही लीजिए। कुछ अंश–

मैं हिन्दी का अध्यापक हूं।
मेरी भी लंबी चुटिया है,
है बंद गले का कोट,
गोल टोपी,
लंबा सिर, पूरा तन,
मैं खम्भा सदृश,
चलायमान युग में हूं खड़ा हुआ अविचल
अपने कालिज के घेरे में
'पंडितजी' कहकर व्यापक हूं।
मैं हिन्दी का अध्यापक हूं।

कुछ पत्नी से, कुछ बच्चों से,
कुछ ट्यूशन, कुछ यजमानी से
मुझको कब फुरसत मिलती है–
दुनिया के नए समाचारों को,
अखबारों को,
सुन लेने की,
पढ़ पाने की,
फिर इस जग की नूतन चीजें,
नूतन खबरें,
नई व्यवस्था–

हैं अस्पृश्य,
अदृश्य,
मोहमय,
सब छलना है,
सब जड़ता है,
धोखा है,
सब प्रवंचना है,
इसने जितना संभव होवे,
दूर-दूर रहना श्रेयस्कर।
इसी नीति से जगतीतल की
रीति-नीति का मापक हूं।
मैं हिन्दी का अध्यापक हूं।

अब गए ऐसे पंडितजी काम से। वे गए तो धोती भी गई, चोटी भी गई और टोपी भी गई। अब तो लिखवा-लिखवाकर ओरों से, पूछ-पूछकर बौरों से, उद्धृत करके देशी-विदेशी सिरमौरों से हिन्दी अध्यापक डाक्टर साहब हो गए हैं। कोट-पतलून पहनते हैं। लंच-डिनर लेते हैं। सिगरेट-शराब आई। हिन्दी-संस्कृत पढ़ाते हैं और आपस में फटाफट अंग्रेजी बोलते हैं। ऐसे सौ-दो सौ नहीं, हजारों हैं, जिनके हिन्दी-रथ का पहिया रश्मिरथी कर्ण के समान अंग्रेजी के गड्ढे में धंस गया है।

जी, मैंने भी कभी-कभी अक्ल से काम लिया है। जान गया हूं कि बिना प्रतीकों, बिम्बों और क्या कहते है उसे, रचना में मानवीयकरण के बिना, न कोई कवि कहलाने योग्य हो सकता और न समालोचकों की सराहना का शिकार। अब जरूरत हो तो खोजनेवाले खोजें इन्हें मेरी रचनाओं में। मैं तो बतौर नमूने के कुछ पंक्तियां उद्धृत कर रहा हूं–

लंबा है, काला है,
आलू का साला है,
जीजा टमाटर का,
बड़ा भोला-भाला है।
काट लो, बनार लो,
चढ़ा लो, उतार लो,
मना नहीं करता है,
बन जाता भुरता है।

बाहर से काला है,
भीतर से उज्ज्वल है,
कोमल है, चिकना है,

निर्मल है, निश्छल है।
मिर्चें लगा दें आप,
छीलकर सुखा दें आप,
जरा नहीं तनता है,
भारत की जनता है।

बैंगन चुन लीजिए,
बे-गुन सुन लीजिए,
थाली के बैंगन को,
नेता गुन लीजिए।
पर यह चुप रहता है,
उफ नहीं कहता है,
नाम सिर्फ बतिया है,
वैसे कलकतिया है।
तुमको यह बादी है,
मुझको तो पथ्य है,
इंडियन सियासत में,
बैंगन ही तथ्य है।

बैंगन का राज है,
बैंगनी समाज है,
भंटे के सिर पर ही,
कांटों का ताज है।

जी, मैंने बैंगन का ही मानवीयकरण नहीं किया, अपनी कवि-बिरादरी का भी गुड़गुड़ीकरण कर डाला है। यह रूपक है या बिम्ब है, आप जानें। भूमिका छोड़कर कविता के कुछ अंश–

भाषा की भैरवी में,
भावों की पैरवी में,
आप देखते रहें कमाल क्या दिखाता हूं ?
लम्प नहीं, तुक्का हूं,
तर्क नहीं, तुक्का हूं,
हिन्दी के हल्ले में,
कवियों के गल्ले में,
छंद नहीं, मुक्तक हूं, तुक्तक हूं, तुक्का हूं !

अंदर कुछ पानी है,
बाहर कुछ धुआं है,
मुंह पर अंगारे हैं,
दिल हुआं-हुआं है।
मिनट-मिनट जलता हूं,
मिनट-मिनट सड़ता हूं,
फिर भी लहरता हूं,
फिर भी अकड़ता हूं,
बैठकर बिरादरी में,
पंचों में, गोष्ठी में,
गड़बड़ भी करता हूं,
गुड़-गुड़ भी करता हूं,
आप जरा सोचिए,
अक्ल को खरोंचिए,
सोच को दबोचिए,
सिर के बाल नोंचिए,
कवि मैं नहीं हूं,
आदमी भी नहीं, हुक्का हूं !

मैंने समय के साथ चलने की कोशिश की है। जो सफलता का दावा करता है, वह मेरी ही तरह मूढ़ होता है। लेकिन मैंने राजनीति, समाज और साहित्य के उतार-चढ़ाव और वादों पर सोचा-विचारा है तथा लिखा है। गांधी कलंदर के बंदरों पर भी लिखा, हड़तालों पर भी लिखा और घिरावों पर भी कलम चलाई। पछताया भी, विडंबना भी सही। साहित्य में छायावाद के कुहासे में झांका। प्रगतिवाद के पर-गतिवाद को भी परखा। प्रयोगवाद के दुरुपयोग पर भी दुहत्थड़ मारा। हर महीने बदलनेवाले कविता के पैंतरों पर भी प्रश्नचिन्ह लगाए। अब इन्हें क्या लिखूं और क्यों लिखूं ? परंतु यदि कविता का जन्म दर्द से होता है और व्यंग्य-विनोद के अंतस में यदि कही गहरी वेदना पैठी होती है तो ये पंक्तियां निवेदित हैं–

कुछ होली, कुछ ईद हो गए,
लाखों वीर शहीद हो गए।
मेरी तरह सभी ने यारो,
रात-रात सपने बोए थे,
भारत मां की दीन-दशा पर,
जार-जार हम सब रोए थे।
सिर्फ इसलिए अपना भारत
फिर से शोषणहीन हो सके,

मिटे विषमता, सरसे समता,
जन-गण स्वस्थ अदीन हो सके।

उन्हें क्या पता यह स्वतंत्रता,
कुछ वर्षों में ऐसी होगी,
पुलिस और भी जालिम होगी,
सत्ता बन जाएगी रोगी।
राजा अंधा हो जाएगा,
अंधी हो जाएगी रानी,
अंधे रायबहादुर होंगे,
अंधे बन जाएंगे ज्ञानी।
अंधी पुलिस, प्रशासन अंधा,
अंधे वोटर, अंधा चंदा।
कहां-कहां तक मित्र गिनाएं,
अंधी पीसे, कुत्ते खाएं।
अंधों की दुनिया में यारो,
अब अंधों की ही कीमत है,
अंधे लोग रेबड़ी बाटें,
अंधों का ही अब बहुमत है।
क्यों करते आश्चर्य, कमाई,
अंधी है, सब जोड़ रहे हैं।
जिसकी जहां आंख खुलती है,
उसकी मिलकर फोड़ रहे हैं।
यही विकास है, यही प्रगति है,
यही योजना का वितान है,
सबको अंधा करते जाओ,
स्वतंत्रता का नवविहान है।
आजादी का यही सुफल है,
अरे शहीदो ! नाचो, गाओ,
आसमान से फूल नहीं तो,
थोड़े से आंसू टपकाओ।

और क्या लिखूं ? कौन पढ़कर मर्म को जानेगा ? जानकर इस दुर्व्यवस्था को मिटाने के लिए कौन कमर कसेगा ? क्या सोचा, क्या हुआ ? सुराज से 'ज' जाता रहा। राजनीति से 'नीति' निकल गई। साहित्य का हित से संबंध टूट गया। कला चकला में चली गई और बिकने लगी। समाज तेजी से भ्रष्टाचार की ओर दौड़ने लगा। रह गया अहम में खाली

हम। हम ही क्यों, तू-तू, मैं-मैं।

अब तो बस एक ही काम शेष बचा है कि इस औपचारिकता के युग में बाई-बाई, टाटा-टाटा, प्लीज-प्लीज, सॉरी-सॉरी कहकर अभी तक मैंने आपको जो कष्ट दिया है, उसके लिए धन्यवाद दूं–

उनका कलम उन्हें लौटाया–धन्यवाद जी !
पत्र लिखा तो उत्तर आया–धन्यवाद जी !
छायावाद, रहस्यवाद तो बहुत सुने थे,
किंतु कहां से आ टपका यह धन्यवाद जी !
पत्नीवाद मान लेने से गदगद औरत,
पूंजीवाद पकड़ लेने से मिलती दौलत।
सत्य, अहिंसा, सदाचार को मारो गोली,
गांधीवादी ने भी पा ली इनसे मोहलत।

मार्क्सवाद के हो-हल्ले में
नाम-धाम तो हो जाता है।
लेकिन कोरे धन्यवाद में,
क्या जाता है, क्या आता है ?
भेजी–नहीं रसीद पहुंच की,
आया–फाइल करें कहां पर ?
धन्यवाद धोबी का कुत्ता,
घर से घाट, घाट से फिर घर।

चला यहां से, गया वहां को,
वहां न पहुंचा, कहां गया फिर ?
घूम रहा है मारा-मारा,
धन्यवाद है नेता का सिर।

नेताजी भाषण देते हैं, लालाजी पहनाते माला,
संयोजक ने पूरा डिब्बा मक्खन का खाली कर डाला।
लेकिन जनता बिगड़ उठी है–इसे उतारो, उसे लाद दो,
मटरूमलजी जल्दी आओ, खत्म करो अब धन्यवाद दो।

धन्यवाद है या कि मुसीबत ? बला आ गई, इसको टालो,
जिसका भाषण नहीं कराना, उससे धन्यवाद दिलवा दो।
अयशपालजी धन्यवाद का भाषण देने खड़े हुए हैं,
लोग उठ गए, नेता गायब, वह माइक पर अड़े हुए हैं।

धन्यवाद है या पत्थर है ? आए हो तो खाना होगा ।
माला भले नहीं ले जाओ, धन्यवाद ले जाना होगा ।

धन्यवाद ऐसी गाली है, देकर इसे लेख लौटा दो,
धन्यवाद उल्लू का पट्ठा, खड़ा रहेगा भले लिटा दो ।
नाक काटकर इसे उड़ा दो, धन्यवाद वह दोशाला है,
पाकर हाथ जोड़ने पड़ते, ठंडी कॉफी का प्याला है ।

हास्य एक कचोटनेवाली विधा भी है, जहां हंसी का लक्ष्यीभूत पात्र हंसाकर भी कचोट उत्पन्न करता है। मनुष्य हंसाकर भी मानवीय संवदेना से पसीजता रहता है। व्यासजी इस ओर बढ़ते तो सफल होते, परंतु वह इस ओर नहीं गए। मुझे उनके इस ओर बढने से प्रसन्नता होती क्योंकि उनके व्यक्तित्व में यह संभावना दिखाई देती है। वस्तुतः उन्मुक्त और अनासक्त मस्ती ही इस प्रकार के द्रावक हास्य की उद्गम भूमि है और व्यासजी में वह है।

—पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी

मेरा पशु-काव्य

मेरा नाम गोपाल क्यों है ? मैंने तो कभी गाय पाली नहीं। मेरी दादी मुझे प्यार से बछवा क्यों कहती थीं ? जब मेरी मां का देहांत मेरी नानी की गोद में हुआ तो वह "अरी, मेरी बछिया !" "अरी मेरी बछिया !" कहकर क्यों रोई थीं ? उन्होंने बेटी, बिटिया या चमेली क्यों नहीं कहा ? जो आदमी दिन-रात काम में खटता है उसे बैल क्यों कहते हैं ? बिल्ली को मौसी क्यों कहा जाता है ? सुंदर, चंचल नयनों की उपमा हिरनियों से ही क्यों दी जाती है ? शैतान लड़के को उसके बाप को साथ लगाकर उल्लू का पट्ठा क्यों कहा जाता है ? गधा क्यों कहा जाता है ? मदमस्त और खूंख्वार व्यक्ति के लिए भैंसे की ही उपमा क्यों सूझी ? "हाथी के पांव में सबका पांव" की भी तो एक लोकोक्ति है। कुत्ता ही नहीं, आदमी भी भौंकता है। क्या आदमी ने चिमगादड़ को इसीलिए दलबदलू नहीं कहा कि वह कभी पक्षियों में जा मिलता है, कभी पशुओं में। और तो और आज करोड़ों लोगों के नाम के पीछे सिंह लगा हुआ है। गीदड कायरता का पर्याय बन गया है। यह मनुष्यों का पशुओं के प्रति लगाव है या इस बात की सहज स्वीकृति है कि आदमी के भीतर भी एक पशु बैठा हुआ है जो समय-समय पर उसके स्वभाव में, आचरण में और प्रवृत्तियों में प्रकट होता रहता है।

मैं व्यास हूं न ? मेरे पूर्वजों ने पुराणों में शिव को पशुपतिनाथ कहा है। उन्हें बैल पर बैठाया है। दुर्गा को सिंहवाहिनी कहा है। गणेश इसीलिए बुद्धि के देवता बने हैं कि उनके धड़ पर बुद्धिमान हाथी का सिर है। चंद्रमा के रथ को हिरन खींचते हैं, सूर्य के रथ को घोड़े। इसी तरह नवग्रहों की सवारी के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के पशुओं का उल्लेख पुराणों और ज्योतिषशास्त्र में मिलता है। इससे मेरे मन में एक प्रश्न उत्पन्न हुआ है कि सृष्टि के आरंभ में पहले आदमी पैदा हुआ या पशु ? हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर यदि पहले आदमी मिला था तो क्या वह बर्फ खाकर जीवित रहा था ? या पत्थरों अथवा नाखूनों से उसने किसका शिकार करके अपना पेट भरा था ? निश्चय ही द्विपद

से पहले धरित्री पर चतुष्पद पैदा हुए होंगे। यदि इस पौराणिक और भौतिक विकास की बात को यहीं छोड़कर हम डार्विन की उस थ्योरी पर ही विश्वास कर लें कि आदमी बंदर की औलाद है। बंदर ही विकास को प्राप्त होकर आदमी बना है।

मैं सनातनी हूं। अवतारवाद को मानता हूं। परंतु यह क्या कि ईश्वर के पहले अवतारों में वाराह और नृसिंह को मान्यता दी गई है ? माना जाता है कि वाराह ही अपने दांत पर इस पृथ्वी को उठाकर समुद्र से बाहर लाए थे ? मैंने जब से होश संभाला है तब से अब तक इन्हीं प्रश्नों के उत्तरों की खोज में लगा हुआ हूं। इस ऊहापोह में से मुझमें पशुप्रेम जागृत हुआ है। क्यों आप ऐसा नहीं सोचते ? क्या मैं गलत हूं ?

मैंने देश-विदेश में भांति-भांति के रंग और ढंग वाले नर-नारियों को देखा है। अगर आप बुरा न मानें तो कहूं कि उनमें से किसी को भी मैंने मानव-धर्म के प्रति दृढ़प्रतिज्ञ नहीं पाया। इसका कारण या तो यह हो सकता है कि मानव का कोई धर्म ही नहीं है। उसकी मर्जी, उसका भोग-उपभोग, उसका स्वांर्थ यानी वह जहां जो कुछ अपने लाभ के लिए करता है, वही उसका धर्म हो जाता है। लेकिन अपने प्रिय पशुओं में मैंने पाया है कि सृष्टि के आरंभ से लेकर अब तक वे अपने धर्म पर, मर्यादा पर, आचरण पर और स्वभाव पर कायम हैं। एक श्लोक में कहा गया है–

आहार, निद्रा, भय, मैथुनं च
सामान्यमेतत् पशुभिः नराणाम् ।
धर्मो हि तेषाम् अधिको विशेषः
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ।।

परंतु पशुओं का आहार-व्यवहार तो नियमित है, मनुष्य का नहीं। पशु समय से सोते हैं और समय पर उठते हैं, मनुष्य नहीं। पशुओं को भय का तो भान है, फिर भी वह निर्भय होकर जीवन जीते हैं, लेकिन मनुष्य को निर्भयता के इतने पाठ पढ़ाए गए, फिर भी वह अपने अस्तित्व को लेकर, भविष्य को लेकर सदैव भयभीत ही रहता है। पशु ऋतुकाल आने पर केवल संतानोत्पत्ति के लिए ही मैथुन में प्रवृत्त होते हैं, लेकिन आदमी के संबंध में आप मुझसे अधिक जानते हैं। संयम-नियम से बढ़कर धर्म कौन-सा है, यह मैं नहीं जानता। मैं इतना जानता हूं कि पशु इनका दृढ़ता से पालन करते हैं, लेकिन मनुष्य अपनी सुविधा और भोग के लिए इनको बार-बार तोड़ता रहता है। फिर कौन-सा धर्म है जो मनुष्य के पास है और पशुओं के पास नहीं ? वनचारियों को पशु कहकर उन्हें हेय बताने की बजाय आज आवश्यकता इस बात की है कि पशुओं से हम कुछ सीखें।

मेरे बोलों को लिखनेवाले चेतावनी दे रहे हैं कि भूमिका लंबी होती जा रही है। कहना तो बहुत है, लेकिन यहीं समाप्त करता हूं और हिन्दी में विरल अपने पशु-काव्य, जिसे अंग्रेजी में 'एनीमल पोयट्री' कहते हैं और आप में से कुछ इसे जंगलीपन भी कह सकते हैं, उस पर आता हूं। सिर्फ एक बात की अनुमति और कि मेरी व्यंग्य-विनोद की कविताएं किसी महाशय या महीयसी से प्रेरित न होकर 'महिषी' (भैंस) से अनुप्राणित हुई थीं। अब छिहत्तर साल का हुआ तो संयोग ही समझ लीजिए की मेरी कविता-यात्रा का

समापन भी पशु-काव्य से ही हो रहा है। गधे से शुरू करता हूं-

मेरे प्यारे सुकुमार गधे !
जग पड़ा दुपहरी में सुनकर
मैं तेरी मधुर पुकार गधे !
मेरे प्यारे सुकुमार गधे !

कितनी मीठी, कितनी मादक,
स्वर, ताल, तान पर सधी हुई
आती है ध्वनि, जब गाते हो
मुख ऊंचा कर, आहें भरकर,
तो हिल जाते छायावादी
कवि की वीणा के तार, गधे !
मेरे प्यारे... !
तुम दूध-चांदनी सुधा-स्नात,
बिल्कुल कपास के गाले-से
हैं बाल बड़े स्पर्श सुखद–
आंखों की उपमा किससे दूं ?
वे कजरारे आयत लोचन
दिल में गड़-गड़कर रह जाते,
कुछ रस की बेबस की बातें
जाने-अनजाने कह जाते,
वे पानीदार कमानी से
हैं श्वेत-श्याम रतनार गधे !
मेरे प्यारे... !
तुम अपने रूप, शील, गुण से
अनजान बने रहते हो क्यों ?
हे लात फेंकने में सकुशल !
पगहा-बंधन सहते हो क्यों ?
हे साधु, स्वयं को पहचानो,
युग जाग गया, तुम भी जागो,
क्यों शासित होकर रहते हो,
मन की कायरता को त्यागो,
इस भारत के धोबी-कुम्हार भी
शासक पूंजीवादी हैं,
तुम क्रांति करो, लादी पटको,

बर्तन फोड़ो, घर से भागो,
हे प्रगतिशील युग के प्राणी,
तुम रचो नया संसार, गधे !
मेरे प्यारे... ।

खबरदार ! मेरी इस कविता को पढ़ने के बाद यदि किसी आदम की औलाद को मूर्ख बताने के लिए आगे से गधा कहा। गधा ही क्यों, मैं उन मनुष्यों को निहायत निकृष्ट और बदतमीज समझता हूं जो अपने पौरुष के दंभ में किसी सेवाभावी, बिना पैसे की चौबीसों घंटे की बंधुआ मजदूर नारी को कुतिया कहकर अपमानित करते हैं। किसी सेविका नारी को तो कुतिया कहने में उन्हें शरम नहीं आती, लेकिन कुतिया को अपना परम सेव्य समझते हैं। मेरी दृष्टि में कुतिया क्या है, पढ़िए–

बहुत दिन बाद
आज कविता जगी थी,
चित्र सुंदर लगा था,
एक नया दृश्य देखा–
छवि चाहता था
आंकना उस मोहिनी की
जो मेरे पड़ोस के
मकान में अतिथि थी ।

श्यामा थी,
सलोनी थी,
न षोडशी थी, किंतु
वह डेढ़ हाथ की ही,
जन-मन को वेध लेती थी ।

उसकी चपलता
अंग-भंगिमा,
दृगों के भाव–
सुंदर थे,
भव्य थे,
समुत्तम थे ।
बढ़िया थे ।

बाबू कप्तानसिंह
शिमले से लाए थे,

वह झबरीली थी
विलायती नसल की,
साहब मजिस्ट्रेट
पाकर प्रसन्न होंगे
'रायसाहबी' के भी
चांस बढ़ जाएंगे।

कुतिया नहीं थी
कामधेनु ही कहेंगे उसे
'रायसाहबी' का
मानो स्वप्न साकार थी,
पपी कहा करते थे
बाबू कप्तानसिंह
घर में मम्मी से बढ़ी
उसकी वकत थी।

टांगें फैला कर
थी पड़ी हुई कोच पर,
बाबू कप्तानसिंह
उसे सहला रहे थे,
मंद-मंद गा रहे थे,
कोई अंग्रेजी गीत।
आज इसी छवि को
मैं गीतबद्ध चाहता था,
पैड जो निकाला तो
पपी ने मुझे धोखा दिया—
कोच पर से उछली
कि मेज पर उचक गई,
परदे में दुबकी
कि अंदर खिसक गई,
खिड़की से कूदी
या किवाड़ से बिचक गई,
यहां गई, वहां गई,
नहीं-नहीं, कहां गई ?
ये गई, वो गई।
खो गई—खो गई !

कुतिया तो खो गई, लेकिन कुत्ता मिल गया। मिला तो उसे नीचे से ऊपर तक देखा। मन पर खिंच गई उसकी वफादारी की रेखा। आज का कुत्ता भी आधुनिक हो गया है। अदालत के वकील माफ करें, रोजी-रोटी के चक्कर में कुत्ते का चरित्र भी खो गया है। अब पढ़ें–

पालतू कुत्ता–जैसे फौजदारी का वकील
गुर्रा-गुर्राकर देता है दलील
हाकिम के सामने तो दुम हिलाता है
"मी लार्ड !" "मी लार्ड !" कहते
दुहरा हुआ जाता है
मगर कुत्ते को देखकर
कुत्ता शेर हो जाएगा
ऐसे झपटेगा जैसे फाड़ खाएगा
बोटी मिले तो वफादार है
सौदा खुशी का है
जिससे फीस मिल जाए
उसी का है।
फिर जिस पर कहो
उस पर भौंकेगा
कोई बेगुनाह मर जाए
नहीं चौंकेगा,
तर्क अचूक है
सिद्धांत बेलाग है
इलाके में जुर्म बढ़ते रहें
तो देशी कुत्ता भी बुलडॉग है।

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' मेरे बड़े मित्र थे। लेकिन एक बार कुत्तों को लेकर उनसे झगड़ा हो गया। बात यह थी कि उन्होंने कुछ चाटुकार कुत्ते पाल रखे थे और उग्रजी को पाल रखा था उस समय एक प्रकाशक ने। उन्होंने दिल्ली के नामी-गिरामी साहित्यकारों, पत्रकारों और लेखकों पर अपने स्वभाव के अनुसार अपने पालतुओं को लेकर हमला बोल दिया। मैंने समझाया–यह कलकत्ता नहीं, दिल्ली है। यहां हम लोग हिन्दी के लिए संघर्ष कर रहे हैं। कृपया हिन्दी-साहित्यकारों की छवि मत बिगाड़िए। तो वह बिगड़ उठे। एक छोटा-सा अखबार उन्होंने निकाला। उसमें सांसदों-साहित्यकारों, संपादकों और उनके अहम को स्वीकार न करनेवाले लेखकों पर पिल पड़े। मुझे भी व्यास नहीं, घास लिखने लगे। हारकर मुझे भी लिखना पड़ा–

लालाजी ने कुत्ते पाले।
ये झबरे हैं, चितकबरे हैं,

कुछ थुल-थुल, कुछ मरघिल्ले हैं।
बनते हैं बुलडॉग, दोगले,
लेकिन सब देसी पिल्ले हैं।
ये टुकड़ों पर पलनेवाले,
बोटी देख मचलनेवाले,
अपने को ही छलनेवाले,
महावीर हैं, बड़े उग्र हैं,
तन के उजले, मन के काले।
लालाजी ने कुत्ते पाले।

लालाजी ने कहा कि गाओ,
तो भूं-भूं भुंकियानेवाले।
लालाजी ने कहा कि रोओ,
तो कूं-कूं किकियानेवाले।
लालाजी ने कहा कि काटो,
तो पीछे पिल जानेवाले।
लालाजी ने कहा कि चाटो,
तो थूथरी हिलानेवाले।
घर के शेर, शहर के गीदड़,
पिटकर पूंछ हिलानेवाले।
लालाजी ने कुत्ते पाले।

बुद्धिमान हैं, हर खटके पर
आंख खोल चौंका करते हैं।
समझदार हैं, पहले से ही,
ये ताका मौका करते हैं।
बड़े विचारक, बात-बात में
ये अपनी छौंका करते हैं।
बड़े प्रचारक, सन्नाटे में,
रात-रात भौंका करते हैं।
पूंजीवालों के प्रहरी हैं,
हमको सदा सताते साले।
लालाजी ने कुत्ते पाले।

मैंने भी उग्रजी और उनके कुत्तों के विरुद्ध किराए के अपने बुलडॉग छोड़ दिए। जहां उग्रजी रहते, जाते या बैठते, वहीं मेरे बुलडॉग सामूहिक स्वरों में इस कविता को

भौंकने लगते। लालाजी यानी आत्माराम एंड संस के श्री रामलाल पुरी। वह मेरे मित्र थे। मेरे भी प्रकाशक थे। वह चिंतित हुए। बंद कमरे में पंचायत बैठी। उग्रजी चुप रहे। प्रकाशक और उग्रजी के पक्ष के लोग एक तरफ और अकेला मैं एक तरफ। पुरीजी सबको समझा रहे थे और उग्रजी से अपना स्वभाव छोड़ने को कह रहे थे। अब 'उग्र' उग्र हुए। बोले–"मैं व्यास पर लिखता हूं। व्यास मुझ पर लिखता है। तुम बीच में पड़नेवाले कौन होते हो ? भाइयों की लड़ाई में गैर का क्या काम ?" कहकर उठे। चटखनी खोली। बाहर चल दिए। आगे-आगे वह और पीछे-पीछे दुम दबाकर 'वे'। उग्रजी ने प्रकाशक को छोड़ दिया। दिल्ली को भी छोड़ दिया। अखबार भी बंद हो गया। मैं भी घास की बजाय दाल-रोटी खाने लगा।

जी, मैं भैंसे से भी टकराया हूं। आप भी उससे नहीं बचे होंगे। लालफीते से सबकी फाइल बंधी है। भैंस के प्रसंग में कुछ बंद–

चिढ़ता है लाल दुपट्टे से,
भिड़ता है उठते पट्ठे से,
भीतों से सींग खुजाता है,
टक्कर लेता है लट्ठे से,
अब भी जैसे का तैसा है।
यह भैंसा है।
मस्तक पर स्वेद न पाओगे,
चेहरे पर खेद न पाओगे,
ऐसी इसकी मोटी चमड़ी,
भालों से छेद न पाओगे,
बस कुंभकर्ण के जैसा है।
यह भैंसा है।
यह कवि है नहीं, लिफाफा है,
पूंजीपति नहीं, मुनाफा है,
लीडरी मिली है नई-नई,
कुर्सी में हुआ इजाफा है,
मोटी रिश्वत का पैसा है।
यह भैंसा है।
तुमसे उपहास नहीं करता,
यह खाली घास नहीं चरता,
पूरा ड्रम भरकर ले आओ,
पउए से पेट नहीं भरता,
आदमी नहीं, यह भैंसा है,
बस भैंसा है।

ऊपर मैंने भैंसे के माध्यम से कुछ कहा। आपने भी कुछ-कुछ समझ लिया होगा। अब घोड़े के बहाने थोड़े में कुछ कहता हूं–

भेद अफसर और घोड़े में
सुन लीजिए थोड़े में–
दोनों को घास डलती रहे
तो चलते रहते हैं।
लगाम खींचकर न रखो
तो उछलते रहते हैं।
दोनों थान पर पुजते हैं,
दोनों लीद करते हैं,
सवार कमजोर हो
तो मिट्टी पलीद करते हैं।
चाबुक के यार हैं
चाहे मैला ढुला लो
चाहे छत्र-चंवर लगाकर
अश्वमेध यज्ञ में बुला लो।
अफसर रिश्वत से बचेगा
तो क्या पाएगा ?
घोड़ा घास से यारी रखेगा
तो क्या खाएगा ?

अब सांड़ के माध्यम से जिन पर कुछ कहने जा रहा हूं, उनका नाम नहीं लूंगा आप भी नहीं लीजिए। नहीं तो फंस जाओगे। भगवान बचाए इन दोनों से–

सांड़ और पुलिस का दीवान
अगर सामने से आते हों
तो किनारे हो जाओ
पड़ोस में इनकी रेड हो
तो आंख बंद करके सो जाओ
हर गाय इनकी है
कहीं भी मुंह मार सकते हैं
दोनों अदमनीय हैं
किसी की भी इज्जत उतार सकते हैं
एक को सरकार ने भेजा है–
जाओ बेटा, चरो !
दूसरे को धर्म ने सहेजा है

दोनों से डरो
हर चलती गाड़ी को
हर फलती बाड़ी को
इनसे अंदेशा है
मुफ्त का खाना
और सींग मारना
इनका पेशा है।

खूंख्वार सांड़ों के चक्कर में लो हम अपनी कामधेनु गोमाता को भूले ही जा रहे हैं। सांड़ों पर तो ध्यान गया, लेकिन गायों के बछड़ों पर नहीं। पढ़े इसे हमारा परम धार्मिक गो-रक्षक समाज कि क्या हो रहा है आज–

बूंद-बूंद दुह लिया
बछड़ा मां-मां पुकारता रहा
यह खूंटे पर रंभाती रही
वह खूंटा उखाड़ता रहा
गाय ने चाट-चाटकर खड़ा किया
तिनके-तिनके ने विटामिन बनकर
उसे बड़ा किया।
उसके पुष्ट होते कंधों को देख
आदमी घबराया
उठते हुए सींगों से सीना थर्राया
अब घर में रहना ठीक नहीं
चुपचाप उसका रस्सा
बनजारे को जा थमाया
भरी जवानी में बैल बधिया हो गया
जुए में जुत-जुतकर
उसका पुसंत्व सो गया
तिक-तिक कर हमने उसे जोता
तब तक काम का रहा
खिलाया, पिलाया, मेहंदी से पोता
जिस दिन वह चलते-चलते बैठा
स्वार्थ घनीभूत हुआ, ऐंठा
पत्नी तुलसी के फेरे करती रही
मगर बैल कसाई का हुआ
मरते समय बैल ने
चुनाव चिन्ह की भी याद दिलाई

मगर कसाई को दया नहीं आई
इधर बैल के सिर पर
कटघर का आरा था
उधर 'भारतीय संस्कृति अमर रहे'
और 'गो-हत्या बंद हो' का नारा था।

सांड़ों की, गायों की, बछड़ों की बात तो हुई, परंतु बेचारी बछिया–

लड़की बछिया है
बामन को दे दो या कसाई को
शराबी, व्यभिचारी या अन्यायी को
दूध ही देगी
तृण खाकर भी जी लेंगी
न होगा, मुंह सी लेंगी
कपिला का धर्म जो निभाना है।
खूंटे पर बंधे-बंधे
बिना डिगे सधे-सधे
स्वामी को सेना है, देना है, चाहना है
सींग नहीं मारेंगी
लात नहीं झाड़ेंगी
घर-कुल को तारेंगी
मरने के बाद भी इन्हें काम आना है
गीता-गायत्री
गोपाल की शप
इन्हें कटने से पूर्व गोमाता कहाना है।

लडकियों पर लिखा तो लड़के नाराज हो गए। घरों से, स्कूलों से, कॉलेजों से निकलकर सड़कों पर आ गए। टायरों की फूंक निकाली, शीशे तोड़े। कुछ अंडर ग्राउंड हो गए। धमकी मिली कि हम पर लिखोगे तो उड़ा दिए जाओगे। हम पशुओं की शरण में गए। विचार आए नए। वह इस कविता के अंदर हैं। लड़के बंदर हैं–

लड़के बंदर हैं
कुछ नीचे हैं
कुछ ऊपर हैं
कुछ बाहर हैं
तड़के ही तड़के
छत पर बंदर
नीचे लड़के

कूदते-फांदते
खौं-खौं करते
राहगीरों को घुड़की देते
या पौं-पौं करते
चले आ रहे हैं
चले जा रहे हैं
छोटे, बड़े, मंझोले
किसकी हिम्मत है जो बोले ?

जमाना गया
जब ये लकड़ी के बल नाचते थे
मदारी के डर से
लिखते थे, गुनते थे, बांचते थे
अब डुगडुगी ही नहीं,
गेट तोड़ देते हैं
मुंह देखकर आईना फोड़ देते हैं
बया को रोती देख
बोल उठी मैना—
ऐसी ही होती है वानरी सेना
आदमी थोड़े ही हैं
जो असल करेंगे
बंदर हैं, नकल करेंगे।
बंदर ने कभी कमाकर खाया है?
ये तो छीनेंगे
अ-बंदरों को एक-एक कर बीनेंगे
अदरक नहीं,
तोड़-तोड़कर अंगूर खा रहे हैं
रावण परेशान है
अशोक वन के रूख
एक-एक कर गिराए जा रहे हैं
लंका में हलचल है
बुजुर्ग सकपका रहे हैं
बिल्लियो, सावधान !
बंदर आ रहे हैं !

चलो, अब बंदरों से आगे बढ़ें। जानवरायण पढ़ें। हमने पढ़ी, पर पशुओं ने गुनी

चक्कर में पड़ गया ईश्वर। पशु पहुंच गए उसके घर—

एक दिन ईश्वर के घर लूट हुई
चूहा दांत ले भागा
बिल्ली मूछें
खुदा स्टोर तलाश करने लगा
किससे पूछें ?
ऊंट ने उठाकर
उसे अपने पेट में फिट कर लिया था
हाथी ने बुद्धि का बंडल
अपने मस्तक में धर लिया था
घोड़े ने शक्ति
कुत्ते ने भक्ति
सियार ने संगीत
सूअर ने सृजन
बंदर ने तोड़-फोड़
शुतुरमुर्ग ने पलायन
लोमड़ी ने जोड़-तोड़
गाय ने श्रद्धा
भालू ने ताड़ी का अद्धा
गधे ने सहनशीलता
कुतिया ने अश्लीलता
शेर ने सम्मान
देसी पिल्ले ने अपमान
जब खजाना खाली हो गया
पहुंचा इंसान
खुदा बोला—
इंसानी तो रही नहीं,
उसे तो जानवर ले गए
अब तो हमारे पास
हैवानियत, खुदगर्जी
और काम-क्रोध ही रह गए हैं
चाहिए तो ले जाओ
मनुष्य बोला—लाओ, लाओ !
देर न लगाओ।

बात ईश्वर तक पहुंच गई तो कवि कुनमुनाए, भुनभुनाए। हमने कहा—तसल्ली रखो

और इस कविता का स्वाद चखो—

राष्ट्रकवि हिन्दी के
पहनते गजी
कविता में पद-पद पर
कहते—अजी !
एक दिन आ गया उनसे मजा
अजी की जगह
हाय कह दिया—'अजा !'
जी की जगह जैसे ही
जा पा गया
कविजी का ध्वस्त अहम
चोट खा गया
बोले—तुम आदत से
नहीं बाज आते
हिन्दी के कवियों को
बकरी बताते ?
भोले हैं अवश्य
मगर इस कदर नहीं
जानदार हैं जरूर
जानवर नहीं
बोले हम—नहीं, बन्धु !
छोड़ो मत सस्मिता
बकरी का अहम-बोध
कविता की अस्मिता
स्वयं महादेवी ने
पंक्ति गुनगुनाई—बक री मत !
साजन की सुधि नियराई ।
बकरी का ऊर्ध्व चरण
युग-प्रक्षालित,
बकरी महान
स्वयं बापू से पालित
बकरी के मस्तक पर
चंदन धर हे !
वंदन कर हे !
अभिनंदन कर हे !

पहले कवि, बाद में कविता। मेरे जिनावरी-साहित्य की कविताएं हैं कई गुनी, लेकिन इस लेख में थोड़ी-सी ही चुनीं। वे भी इनी-गिनी। लंबी नहीं, लीजिए एक छोटी-सी, यानी मिनी–

भेड़िए ने भेड़ को मारा,
खून पिया
चल दिया।
आदमी ने आदमी को मारा,
खून बोतल में भर लिया।
कहा–बाद में काम आएगा।

अपने मानवेतर कविता-प्रेम ने मुझसे बहुविध कविताएं लिखवाई हैं–जैसे–मेंढ़क, गिरगिट, कौआ, चिमगादड़ ही नहीं, बिच्छू और सांप भी। बर्र और ततैया भी। बगुला और उल्लू भी। कहां तक गिनाऊं और कहां तक लिखूं ? उदाहरण के लिए सिर्फ सांप-वाली कविता नीचे दे रहा हूं, घटना के साथ।

घटना यह कि स्वर्गीय सच्चिदानंद हीरानंद वात्सायन 'अज्ञेय' लिख-लिखकर आगे बढ़ रहे थे, तब वह मेरे अच्छे मित्र थे। एक ही दस्तरखान पर खाते। जब-तब साथ चाय-कॉफी पीते। चिट्ठी-पत्री ही नहीं, परस्पर विचारों का भी आदान-प्रदान करते। पहले बहिर्मुखी थे, बाद में अंतर्मुखी हो गए। पहले हंसते-मुस्कराते थे, बाद में गंभीर हो गए। उनके साथ मेरा अहं भी जागा। मैंने जब-तब उन पर भी व्यंग्य-बाण दागा। अकेले में नहीं, भरी सभाओं में भी। उनकी उपस्थिति में ही, मैंने उनकी कविताओं पर लिखी अपनी कविताएं सुनाईं। वह शांत रहे। पर एक बार जब सांपवाली मेरी कविता उन्होंने सुनी तो पहले की तरह मेरे कंधे पर हाथ रखा। बोले–"मेरे सांप से तुम्हारा सांप ज्यादा जहरीला है।" वह कविता इस तरह है–

सांप !
दो-दो जीभें होने पर भी भाषण नहीं देते
आदमी न होकर भी
पेट के बल चलते हो
यार !
हम तेरे फूत्कार से नहीं डरते
सांप ही तो हो
भारत के रहनुमा तो नहीं।

एक बात रह गई कि सबसे समझौता हो सकता है, सांप से नहीं। दूध पिलाओ, फिर भी काटेगा। ऊंचा उठकर आस्तीन में घुस जाएगा। सपेरे लाख नचा लें, उन्हें भी काट खाएगा। लेकिन जानवरों में यह बात नहीं। उन्होंने भारतीय नेताओं की यह सीख मान ली है कि हिंसा से नहीं, अहिंसा से मारो। लड़ाकुओं से लड़ो मत, बात करो। समझौता

करो। भारत की यह आवाज भारतीयों ने तो नहीं सुनी। विदेशी भी नहीं सुन रहे हैं। अपने दबदबे के लिए जल-थल और नभ से दुश्मनों को भून रहे हैं। लेकिन हिंसक माने जानेवाले पशुओं ने देखो, समझौता कर लिया। हैं न आदमियों से ज्यादा समझदार–

चीते और भालू ने समझौता किया
भेड़ मारकर, एक-दूसरे की
सेहत का जाम पिया
घोषणा हुई–बीता सो बीता
अब पहाड़ पर भालू
तराई में चीता
एक-दूसरे की हद में
दखल नहीं देंगे
अपना-अपना शिकार मारेंगे
दूसरे को सलाह या अकल नहीं देंगे
यों परंपरागत
हममें भेद अनेक हैं
पर तीसरे के लिए
हम दोनों एक हैं
मिलकर नाखूनों का सुधार करेंगे
घिसे हुए दांतों पर
फिर से धार धरेंगे
अगर चीते से लड़ने शेर आएगा
तो भालू चुप नहीं रहेगा
गुर्राएगा
अगर भालू पर मुसीबत पड़ी
तो चीते की औलाद
देख नहीं सकती खड़ी
तराई के जानवरो, खुश हो जाओ
अब भालू तुम्हें नहीं खाएगा
इस समझौते के फलस्वरूप
चीता भी पहाड़ पर नहीं आएगा
खरगोशों ने सुना
उछल पड़े
दुनिया भर के गीदड़
इसका संवाद देने निकल पड़े
पशु-क्रांति जिन्दाबाद !
विश्व शांति जिन्दाबाद ! !

हां, तो मैंने डंके की चोट पहले कहा है कि मेरे साहित्य की आदिप्रेरणा भैंस है। तो अपने इस पशु-काव्य को, जिनावरी-शायरी को, एनीमल पोयट्री को भैंस के अभिनंदन के साथ ही इति शुभम् कहता हूं। इस कविता के पीछे एक छोटी-सी कहानी है और हिन्दी के ईर्ष्यालु कवियों, साहित्यिकों और आलोचकों की उस खलबली की याद दिलाती है जिसको लेकर यह कविता लिखी गई थी।

मेरी स्वर्ण जयंती पर कई चमत्कार एक साथ हुए। मेरी तीन पुस्तकें एक साथ निकलीं। छोटी-सी उम्र में मुझे अभिनंदन-ग्रंथ भेंट किया गया। मिल गई पद्मश्री भी। राज-समाज में कानाफूसी होने लगी कि लो, यह चला राज्यसभा में। बड़ा तिकड़मी है। अपनी कौड़ी को गिन्नियों में भुना रहा है। देश-भर में अभिनंदन पर अभिनंदन कराए जा रहा है। हजारों फूल इसकी मालाओं के लिए छिद-बिद गए हैं। शाल-दुशालों और मानपत्रों को अब यह बेचेगा या ड्राइंगरूम में सजाकर लोगों पर रौब डालेगा ? दिल्ली से प्रकाशित होनेवाली 'दिनमान' पत्रिका में तो मुझ पर कसकर छींटाकशी की गई। इसके उत्तर में मैंने बयान नहीं दिए, कविता लिखी। 'धर्मयुग' में छपने गई तो भाई धर्मवीर भारती उछल पड़े। लिखा—"मजा आ गया ! खूब खबर ली। धर्मयुग में तुम्हारी भैंस कूद रही है।" मैंने कहा—"भैंस न कूदी, कूदा कौन ?," कविता यह है—

हो गया भैंस का अभिनंदन
खच्चर चरते रह गए घास
करते रह गए गधे क्रंदन !
हो गया भैंस का...

हू-हू कर रंगे सियार उठे
खरगोश कुलाचें मार उठे
चूहे बोले—हम भी तो हैं
बकरे मैं-मैं उच्चार उठे
कुत्ते बनवाकर पासपोर्ट
चल दिए खबर करने लंदन !
हो गया भैंस का...

बौने-पौने फुंकार उठे
गण्डेश कुंडली मार उठे
बरुआ के बीन बजाने पर
दुमुंहे भी जीभ पसार उठे
दिन मान रात को मच्छर भी
कानों पर करते हैं भन-भन !
हो गया भैंस का...

चिमगादड़ दांत दिखाते हैं
कौए आंखें फड़काते हैं
तक रहे गिद्ध, बक रहे बाज
झींगुर भी शोर मचाते हैं
अनगिनत साधनारत बगुले
भी लगा रहे घिस-घिस चंदन !
हो गया भैंस का...

मेंढ़क टर्राए–अजब हुआ !
घोंघे चिल्लाए–गजब हुआ !
गर्दन निकाल–कछुए बोले–
क्या कारण था, क्या सबब हुआ ?
यारो, क्यों मस्तक धुनते हो ?
धक्का दे निकल गया स्यंदन !
हो गया भैंस का...

अंत में एक सुझाव। नहीं, प्रेरणा। समझो इसे आह्वान। जैसे गांधीजी ने कुछ विशेष जातियों को 'हरिजन' संबोधन दिया था। उन्हें शूद्र तथा अन्य नामों से पुकारने को मना किया था। ऐसे ही अब चतुष्पदों को हरगिज पशु न कहा जाए। मैं उन्हें नया नाम देता हूं–पुरुषोत्तम। और गाता हूं–"पायौ जी मैंने नाम रतन धन पायौ।" •

व्यासजी, आज आपका भाषण और कविताएं सुनकर मुझे लगा कि मैं अभी तक आपके कृतित्व से क्यों वंचित रहा। अब लायब्रेरी से खोज-खोजकर आपकी पुस्तकें पढ़ूंगा और आपके बहुचर्चित कॉलम 'नारदजी खबर लाए हैं' के लिए दैनिक हिन्दुस्तान का रविवार का अंक भी मगाया करूंगा।

–श्रीलाल शुक्ल

मेरा दरद न जाने कोय

मैं अपने संबंध में बहुत सजग हूं। पत्रकार हूं न। इसलिए असावधानियों, भ्रमों और गलतियों पर पहले दृष्टि जाती है। हमारे प्राचीन साहित्यकारो में ऐसी आत्म-सजगता नहीं थी कि वे अपनी कृतियों में ऐसे संकेत छोड़ जाते जिनसे उनके जीवन, कर्म और स्वभाव के संबंध में कुछ जाना जा सकता। बहुत हुआ तो अपने पदों या छंदों में अपने नाम की छाप डाल दी। लेकिन इतने भर से, यह जो शोध का नया धंधा चला है, बात नहीं बनती। अनुसंधानकर्त्ताओं को बड़ी माथापच्ची करनी पड़ती है। निराले-निराले यानी मौलिक निष्कर्ष निकालने पड़ते हैं। हिन्दी-साहित्य का इतिहास इसी से गड़बड़ हो रहा है।

अब यही लीजिए कि 'पदमावत' के लेखक मलिक मुहम्मद ने थोडी-सी सावधानी बरती तो इतना भर पता लगा कि "एक नयन कवि मुहमद गुनी।" यह भी कि वह जायस के रहनेवाले थे। परतु सूरदास बड़ी परेशानी पैदा कर गए। कहीं लिखते है सूर, कहीं लिखते हैं सूरज, कहीं लिखते हैं सूरस्वामी और कहीं लिखते हैं सूरदास। अब खोजी समीक्षक हैरान हैं कि सूर और सूरज एक थे या दो ? सूरस्वामी और सूरदास के संबंध में भी आलोचकों का कहना है कि पहले वह स्वामी थे और बाद में वह दास हुए। आज तक वे यह भ्रम नहीं मिटा सके कि भक्त विल्वमंगल ही बाद में सूरदास बने या सूरदास अलग थे ? लोगों ने पता लगाया है कि सूरदास मदनमोहन नाम के एक कवि अलग थे। यह तो हुई नाम की बात। अब काम की बात पर आएं। सूरदास को लेकर यह विवाद अभी तक चल रहा है कि वह जन्मान्ध थे या नही ? अगर उनके आत्म-साक्ष्य को लें तो एक स्थान पर वह कहते हैं–"सूर कहा कहि दुविध आंधरौ।" एक अन्य स्थान पर उन्होंने स्वयं को जनमत (जन्म से ही) अंधा कह दिया है। परतु एक अन्य पद में वह कहते है–"सूरदास की एक आंख है ताहू में कछु कानौ।' इसीलिए मैंने जब सूरदास पर एक व्यंग्य लेख लिखा तो उसमें यह बताया कि सूरदासजी की आखो में मोतियाबिंद था। एक नाई ने उसे अपने नहन्ने से उचेल दिया। मथुरा में एक मदनगोपाल की चश्मे की दुकान थी। उसने चश्मा

लगा दिया। सूरदासजी प्रतिदिन गोवर्द्धन पर चढ़कर श्रीनाथजी के आगे कीर्तन किया करते थे। एक दिन उतरते समय वह चश्मा भी आंख से उतर गया और टूट गया। बिना चश्मे के वह देख नहीं सकते थे। सूरदास हो गए। आप पूछेंगे—इसका प्रमाण ? तो प्रमाण है उनका लिखा हुआ एक पद कि "नैना भये अनाथ हमारे। मदनगुपाल यहां ते सजनी सुनियत दूर सिधारे।" अब सूरदासजी क्या करते ? चश्मेवाला तो मथुरा छोड़कर दूर कहीं चला गया था।

इन प्राचीन कवियों के बारे में एक तर्क यह दिया जा सकता है कि उन्हें अपने नाम, काम और गांव से कुछ लेना-देना नहीं था। उनकी रचनाएं तो अपने इष्ट के आराधन में लिखी गई हैं। उनकी आसक्ति अपनी प्रसिद्धि के लिए नहीं, अपने इष्ट की सिद्धि के लिए थी। अपने प्रति वह अनासक्त थे। क्षमा कीजिए, मैं इस बात से सहमत नहीं। मेरा मानना तो यह है कि उन्हें पता ही नहीं था कि उनके न रहने पर लोग उन्हें महाकवि कह बैठेंगे। साहित्य में उनका नाम शिरोमणि होगा। उनकी रचनाएं धड़ाधड़ छपेंगी, पाठ्यक्रमों में लगेंगी और उन पर शोध भी होंगी। इसलिए अनजाने में उनसे यह भूल हो गई।

अपने संबंध में भी मैं दुविधा में हूं। पक्की तौर पर नहीं कह सकता कि मरने के बाद, यानी काल-कवलित होने पर मुझे भी लोग कालजयी कहने लगेंगे या नहीं ? लेकिन एक आशा की किरण मन में कौंध रही है कि जब बुरे से बुरे कर्म करनेवाला आदमी मर जाता है तो पीछे बचे लोग उसे स्वर्गीय ही कहते हैं। इसी तरह चार गजलें, आठ गीत और सोलह मुक्तक लिखनेवाला असमय विदा हो जाता है तो उसके मित्र पत्रकार, उसके खेमेवाले और उसकी मौत पर भी लेख लिख-लिखकर टके वसूल करनेवाले जब उसे कालाजयी कहने में नहीं चूकते तो क्या पता मैं भी उनका कृपाभाजन बन जाऊं ? ये लोग बाद में मेरे जीवन, साहित्य और कार्यकलापों को लेकर किसी असुविधा में न पड़ जाएं, इसलिए मैंने हिचक छोड़कर या मिथ्या लोक-लज्जा को तिलांजलि देकर अपने संबंध में सब कुछ लिख दिया है, भाइयो ! आपको रेडीमेड मैटर मिलेगा। आप बेसब्री से उस क्षण की प्रतीक्षा कर सकते हैं।

हां, तो राम का नाम लेकर आत्मकथ्य के बहाने आत्मप्रचार शुरू करता हूं। 'राम के' नाम पर कई बंद की एक कविता है। उसके कुछ टुकड़े मुलाहिजा फरमाएं—

चकवा हम 'चन्द्र सरोवर' के,
मथुरा के मलंग धड़ाम के हैं।
गुन-आगरे आगरे में हूं रहे,
नहीं वावरे हैं, कछू काम के हैं।
न मुसाहिब काहू अमीर के हैं,
न गुलाम किसी गुलफाम के हैं।
नहीं खास के हैं, हम आम के हैं,
हम तो जगजीवन राम के हैं।

राम-कृपा से जो गुण, कर्म और स्वभाव हममें विकसित हुए, उसे आप भले ही अहम का विस्फोट कहें, परंतु वास्तविकता कुछ ऐसी ही है–

हम वाहक मोद-विनोद के हैं,
अरु गाहक पान-किमाम के हैं।
गुन-आगरी नागरी पै हैं डटे,
नहीं धौंस के हैं, न सलाम के हैं,
दिल्ली में रहें, दिल थाम के हैं,
कविता के, कला के, कलाम के हैं।
कवि 'व्यास' सखा घनश्याम के हैं,
बलहीन नहीं, बल राम के हैं।

आस्तिक हूं और ब्रज का आदिवासी हूं। कीर्तन करता भी हूं और सुनता भी हूं। क्योंकि पुरखे उपदेश दे गए हैं–"कलौ केशव कीर्तनात्।" तो मैंने भी अपने दोषापहरण की दृष्टि से राधे-गोविंद का कीर्तन करते हुए अपने दोष गिनाए हैं–

ब्रजमंडल कूं चौबे जैं गए,
सम्मेलन कूं लाला,
अपने हाथ रह गई भय्या–
यह तुलसी की माला।
भजो राधे गोविंद।
भजो राधे गोविंद।।
तन कौ नास तमाखू कीनौ,
धन कौ छोरा-छोरी,
मन कूं मसकि लियौ दिल्ली नैं–
करि-करि कैं बरजोरी।
भजो राधे...
आंख हरी अखबारनवीसी,
गांठ हरी फय्याजी,
बुद्धि हरी नेतागीरी नैं–
पीछें परि गए पाजी।
भजो राधे...
नींद-चैन महंगाई लै गई,
शांति मर गई जिंदी,
पद्मश्री कूं लै गई, लाला–
टंडनजी की हिंदी।
भजो राधे...

ब्रजवल्लभ श्रीकृष्ण सोलह कलाओं से युक्त थे। लेकिन मुझ ब्रजवासी ने सत्रहवीं कला का विकास किया है। उसका नाम है–खिंचाई। इसका प्रयोग मैंने व्यंग्य-विनोद में तो किया ही है, लेकिन व्यवहार में भी अपने और अपनों को भी नहीं बख्शा। खरी कहने की मुंहफट आदत से और छेदने-भेदने की खिंचाई-कला से मैंने अपने बीसियों सन्मित्रों को या तो अपने से अलग कर दिया है या अपना शत्रु बना लिया है। लोग मित्रों से अपनी बड़ाई सुनना पसंद करते हैं। नीति भी यही कहती है कि मित्र की प्रशंसा करनी चाहिए। लेकिन मुझमें यह खराबी है कि मैं मित्रों की प्रशंसा पीठ पीछे करता हूं, पर उनके दोषों का वर्णन उन्हीं के सामने करने को भला और कला समझता हूं। अहम किसमें नहीं होता ? अहम न हो तो आदमी का व्यक्तित्व ही क्या ? परंतु मैंने न जाने कितने मित्रों के अहम को खंड-खंड कर डाला है। ऐसे लोग कम हैं या कहना चाहिए कि अब रह ही नहीं गए जो व्यंग्य को विनोद में लें। अहम को लगी ठेस पर हसें-मुस्कराएं। वे समझ ही नहीं पाते कि मेरी खिंचाई का मतलब क्या है ? चल देते हैं पीठ मोड़कर। करने लगते हैं सामना। मारने लगते हैं टंगड़ी। भौंकने लगते हैं पीठ में छुरा। ऐसा नहीं कि मुझे अपनी इस गलती का अहसास न हो। पछताता भी हूं। परंतु आदत से मजबूर हूं। अब मित्रों को विश्वासघाती बनाकर पछताता हूं–अपनी आदत, अपने भाग्य और अपनी करनी पर। लिखा है मैंने–

मन तो बनाया बादशाहों जैसा ऊंचा,
पर भेज दिया कंगलों में जीवन बिताने को।
आशिक मिजाज किया, रसिकों का साथ दिया,
भेजी किंतु लैला सिर्फ शिकवे सुनाने को।
मर्द तो बनाया, पर हाथ-पैर बांध दिए,
भावना जगाई सिर्फ जिगर जलाने को।
एहो करतार, तैने मित्र ही बनाए शत्रु,
शत्रुओं को भेज दिया मित्रता जताने को।

परंतु यह तो जगत की रीति है। जीवन का विसंगत व्यापार है। इसमें करतार कहां से आ गया ? यह तो जैसी करनी, वैसी भरनी है। मित्र बनाने से अधिक मित्र खोने की कला या बला पर अब खेद प्रकट करने से क्या होता है। जीवन-यात्रा में ठोकरें खा-खाकर अब तो यह विश्वास दृढ़ हो गया है–

जिनकौं अपनौ हितू मानत हौ,
तिनकौं कबहू विसवास न कीजियै।
विधना नैं दई तौ दई-दई क्यों ?
हंसि झेलियै चित्त उदास न कीजियै।
कवि 'व्यास' व्यथा कौं सहेजे रहौ,
[illegible] उहि कौ उपहास न कीजियै।

कथनी पै न जाइयै मीतन की,
बिस खांय तऊ बिसवास न कीजियै।

उतरती उम्र में मित्रहीन होना बड़ा दुःखद होता है। लेकिन मैंने इस दुःख को भी हंसते-हंसते झेला है। यही मेरी पूंजी है। यही मेरी छड़ी है, जिसके सहारे मै चलता हूं। नहीं तो अब स्थिति यह है–

चेले हुए रफूचक्कर,
चेली गईं पराए घर,
साथी गए किनारा कर,
जय बम भोले शिवशंकर !

रस्सा तुड़ा बैल भागा,
गौरा ने खर्चा मांगा,
अलग हो गया टन्न गणेश,
धूनी तपते रहो महेश।

घी चुक गया–हाथरस गया,
लंगड़ा आम बनारस गया,
कान गए तो बतरस गया,
नैन गए तो सबरस गया।

मोहनभोग मिठाई गई,
मक्खन और मलाई गई,
डाक्टर कहते–नो-नो प्लीज,
'व्यास' तुम्हें है डायबिटीज।

कड़वा खाएं, कड़वा गुनें,
कड़वा बोलें, कड़वा सुनें,
कड़वा दर्शन, कड़वा कथ्य,
यह जीवन का कड़वा सत्य।

पर हम कलाकंद-कामी,
व्यंग्य-विनोदी हंगामी,
कड़वा-कड़वा,
थू-थू-थू
यू लव मी, एंड
आई लव यू !

पीड़ा मानवीय धर्म है–"वैष्णवजन तो तेनें कहिए जो पीर पराई जाणे रे।" पराई पीड़ा को जाननेवाला ही वैष्णवजन होता है और उस वेदना को संवेदना बनानेवाला ही कवि बनता है। पीड़ा किसे नहीं सालती ? परंतु दूसरे की पीड़ा को कोई विरला ही पहचान पाता है। पहचाननेवाले हो सकते हैं, पर उसे बांटनेवाले, दुखी की दिलजोई करनेवाले, उसको अभिव्यक्त करके समाज की पीड़ा बनानेवाले कवि और साहित्यकार ही होते हैं। ऐसा कौन है जो पीड़ित न हो ? संवेदनशील व्यक्ति के हृदय में तो पीड़ा सदैव निवास करती है। वही पीड़ा, यानी दर्द उसके सृजन का उत्स होती है। बिना दर्द का दीवाना बने कोई कवि हो ही नहीं सकता। इसीलिए करुण रस को संवेदनशील लोगों ने रसराज कहा है। दुःखांत काव्य या नाटक को श्रेष्ठता प्रदान की है।

हर्ष भी विषाद से उत्पन्न होता है। व्यंग्य तो विषाद का सपूत है ही। पश्चिमवाले इसे ट्रेजेडी कहते हैं। उर्दू-काव्य में पैथास की बहुलता है। हिन्दी की मीरा गाती है–"मैं तो प्रेम दिवानी, मेरा दरद न जाने कोय।" प्रेम भी दर्द को जन्म देता है। जैसे सुख दुःख को। परंतु कवि नाम का प्राणी अपने दर्द को समाज का और मानवता का दर्द बनाकर अभिव्यक्त करता है। पर ढूंढ़नेवाले उसमें से उसके अपने दर्द को पहचान ही लेते हैं। रह-रहकर मेरे दिल में भी तरह-तरह के दर्द उठे हैं। परंतु मैं उन्हें भुलाता रहा हूं और धकेलता रहा हूं। जिसने जीवन में हास्य का वरण किया हो, जो आंनद-मार्ग का राही हो, उसे अपने दर्द के दरिया में झांकने का मौका ही कहां मिलता ? फिर भी दर्द है कि फूट ही पड़ते हैं। उदाहरण के लिए मुझसे भी लिखवानेवाले ने लिखवा ही लिया–

कांटों ने हमें ख़ुशबू दी है,
फूलों ने हमेशा काटा है।
बाहों ने पिन्हाई जंजीरें,
आहों ने दिया सन्नाटा है।
अपनों ने अड़ंगी मारी है,
गैरों से सहारा आया है।
अनजान से राहत मिल भी गई,
पहचान से धोखा खाया है।
ख़ुशियों को ख़रीदा है हमने,
सेहत को सदा नीलाम किया।
लमहा वो याद नहीं आता,
जिस वक्त कि हो आराम किया।
रोगों को सहेजा है हमने,
भोगों को नहीं परहेजा है।
गम बांटे नहीं, ख़ुशियां बोईं,
मुस्कान को सब तक भेजा है।

इस मुस्कान के लिए, इस मुक्त हास्य को बिखेरने के लिए और कड़वे व्यंग्य को

भी मीठी चाशनी में डुबोने के लिए न जाने कितना सहा है, कितना झेला है। दुःख लेकर सुख बांटना आसान काम नहीं है, दोस्तो ! परंतु "कोई जानेगा जाननहारा।"

अंत में अपने व्यक्तित्व और कृतित्व पर एक प्रतीकात्मक छंद और–

सूर सूर, तुलसी शशी,
उडगन केशवदास।
पंत-निराला बल्व हैं,
लालटेन है–'व्यास'।।
लालटेन है व्यास,
कि जिसमें तेल नहीं है,
बत्ती बिगड़ी हुई,
जलाना खेल नहीं है।
चिमनी फूटी हुई,
कि जिसका मेल नहीं है।
मॉडल उनतालीस,
कि जिसकी सेल नहीं है।
शब्द, अर्थ और व्यंग्य से,
यद्यपि कोसों दूर हूं।
लेकिन इसको क्या करूं ?
आदत से मजबूर हूं।

मेरी लालटेन, यानी मेरी कविता झोंपड़ियों तक को प्रकाशित करे। बिजली चले जाने पर काम आए। कविता चले, न चले, पर लालटेन जले और जलती रहे। यही मेरा आत्मकथ्य है।

तृतीय उल्लास

कंपोजीटर से संपादक तक

पत्रकारिता की पहली सीढ़ी

यमुना चढ़ रही थी। जब यमुना चढती है तो मथुरा नगरी उस पर तैरती-सी लगती है। दूर से देखो तो ऐसा लगता है कि महानदी के तट पर कोई सुंदर जहाज आकर खड़ा हो गया है। बरसात के दिनों में संध्या-आरती के बाद मैं अक्सर नदी किनारे के किसी बुर्ज पर आ बैठता था और घंटों नदी की लहरों के उठने और गिरने का क्रम देखता रहता था। भंवरों का पड़ना और बनना, बहती नदी में ठहरी हुई चादरों का बन जाना और पुण्यार्थियों के द्वारा छोटी-छोटी किश्तियों में बहाए हुए दीपकों का बहना और डूबना एक ऐसा मनोहारी दृश्य था, जो हर शाम मुझे यमुना-तट की ओर खींच ले जाता था। उस दिन भी मैं खोया-खोया-सा उसी दृश्य को देख रहा था कि किसी ने पीछे से कंधे पर हाथ रखा। चौंककर पीछे देखा तो गोपी गुरु खड़े थे।

गोपी गुरु तीन लोक से न्यारी मथुरा नगरी के एक निराले व्यक्तित्व थे। लंबे, भंवर काले। घड़घड़ाती हुई आवाज से वह जब कविता पढ़ते थे तो दूर से ही पहचान लिए जाते थे। चौपड़ के खेल मे बड़े माहिर थे। शायद ही कोई ऐसा रहा हो, जिसने उन्हें चौपड़ के खेल में मात दी हो। बड़े भोजनी थे।

गोपी गुरु हमारे पड़ोसी थे। दूर रिश्ते में मेरे चाचा भी लगते थे। उन्ही को देखकर मुझे कविता का चस्का लगा। उन्हीं से मैंने चौपड़ खेलना सीखा। अकसर खाली समय में कवित्तबाजी की अपनी हौंस मिटाने के लिए वह भी मेरे पास आ बैठते थे। परंतु आज वह कवित्त सुनाने या सुनने नहीं आए थे। उन्होंने मेरी बगल में बैठते हुए फरमाइश की–"गुपालजी, एक चवन्नी चाहिए।"

उनकी फरमाइश पर मुझे मन-ही-मन हंसी आ रही थी। कहावत याद आई–"नंगी क्या नहाएगी और क्या निचोड़ेगी।" गोपी गुरु को क्या पता कि चील के घोंसले में मांस नहीं मिला करता। हालत उस समय वही थी कि "आप तो मियां मंगते, द्वार खड़े दरवेश।" गोपी गुरु इस तथ्य से अनभिज्ञ थे कि पिताजी ने मुझे अलग कर दिया है

और स्वयं मेरे सामने यह सवाल दरपेश है कि कल क्या होगा ? फिर भी निज-मन की व्यथा को मन में ही गोय कर मैंने उनसे पूछा—"गुरु, इस समय चवन्नी की क्या जरूरत पड़ गई ?"

"दम लगाएंगे," उत्तर मिला।

अब मेरी हंसी नहीं रुकी। सोचने लगा कि ले-देकर कुल एक रुपये की जमा-पूंजी मेरे पास है और ये महाशय उसमें से भी एक-चौथाई झपट लेना चाहते हैं ! वह भी चार-छह कशों में फूंक देने के लिए। उन्हें समझाना बेकार था। नशेबाजी की बुराई पर वे कोई 'लेक्चर' उस समय सुनने को तैयार नहीं थे।

तभी मेरे मन में एक विचार बिजली की तरह कौंधा, या कहूं कि विधाता ने मेरे भविष्य के निर्माण के लिए एक द्वार अनायास चुपके-से खोल दिया। काशी की तरह मथुरा भी उस समय पुस्तक-व्यवसाय का एक बड़ी केंद्र थी। कई बड़े-बड़े छापेखाने उन दिनों मथुरा में चलते थे। इनमें श्याम काशी प्रेस काफी पुराना था। बंबई भूषण प्रेस, जमुना प्रिंटिंग प्रेस और अग्रवाल प्रेस भी खूब चलते थे। इनमें मशीनमैनी का काम मुस्लिमों के हाथ था और कंपोजिंग का काम अधिकतर ब्राह्मणों के लड़के किया करते थे। ब्राह्मणों के बेकार लड़कों को इस कला की शिक्षा देने में गोपीनाथजी का बड़ा हाथ था। पचासों कंपोजीटर उनके शिष्य थे। इसी गुरुता के कारण उनका नाम गोपी गुरु पड़ गया था। मुझे लगा कि गंगा स्वयं दरवाजे पर आ गई है। मैंने गोपी गुरु से कहा, "चवन्नी की तो कोई बात नहीं, परंतु इसकी एवज में आपको एक कृपा करनी पड़ेगी।"

उन्होंने उत्साहित होकर मुझसे पूछा, "वह क्या ?"

मैंने कहा, "चाचाजी, आजकल मैं खाली हूं। पढ़ाई भी छूट गई है। मैं कंपोजीटरी सीखना चाहता हूं।"

वह बोले, "यह कौन-सी बड़ी बात है ? कल चार आने के बताशे लेकर सवेरे आठ बजे श्याम काशी प्रेस आ जाना। बहुत-से गधों को मैंने आदमी बना दिया, तुम तो अपने घर के हो।"

एक रुपये की रकम में से चवन्नी गई दम को और दूसरे दिन शेष चवन्नी के बताशे लाने पड़े हमको। इस तरह प्रेस की दुनिया से हमारा प्रथम साक्षात्कार हुआ।

लाचारी मनुष्य से क्या कुछ नहीं करा लेती। मन मेरा रमा था साहित्य में और करनी पड़ रही थी कंपोजीटरी। पढ़ता था पिंगल और गिनता था इधर कंपोज की हुई लाइनें। जितनी लाइनें, उतने पैसे। उधर सीखता था—प्रस्तार, नष्ट उद्दिष्ट, मेरू, पताका और मरकटी, इधर कैलेंडर, पंचांग और गणित के कोष्ठों (टेबुलों) में अंक और अक्षर फंसाता रहता था। यहां गण, मात्रा और दग्धाक्षर और वहां ऐसे प्रेस के भूत, जो केस पर बैठे-बैठे बीड़ी फूंकते, गाली बकते और एक-दूसरे के केसों से टाइप ही नहीं चुराते, बल्कि छीनते भी। इधर पढ़ता मैं अलंकार, रस और ध्वनि और उधर होती मशीनों की धड़धड़, सरेस के पकने की बदबू, स्याही की कलौंच, सीलन-भरे अंधेरे कमरे, बहती हुई नालियों की सड़ांध और खांसते-खखारते-थूकते बूढ़े 'फौरमैन'। कहां नख-शिख तथा नायिका-भेद और

कहां नख से शिख तक शोषण, अन्याय और असामाजिकता। ठेकेदार कर्मचारियों के पैसे खा जाता। मशीनमैन कागज काटनेवाले और स्याही देनेवालों की मजदूरी हड़प जाता। लाला का मुनीम पेशगी और वक्त पर वेतन देने के लिए धौंस से अपनी उजरत वसूल करता और लाला या मालिक महीने के अंत में अकसर हिसाब में गड़बड़ी करके मशीनमैन के छपे हुए फर्मों और कंपोजीटरों के कंपोज किए हुए पंजों की संख्या कम कर देता। बाहर कवि-गोष्ठियों में मेरी वाह-वाह होती, ब्रजभाषा के पढ़ंत-दंगलों में मुझे सर्वत्र शाबाशी दी जाती और मेरे रस, अलंकार और नायिका-भेद संबंधी ज्ञान के कारण सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, डा. वासुदेवशरण अग्रवाल और डॉ. सत्येंद्र मुझे स्नेह देते। लेकिन साथी कंपोजीटर मुझसे प्रायः अभद्र व्यवहार करते। मेरे केस में से बरबस टाइप उठा ले जाते। मुझे वक्त पर 'डिस्ट्रीब्यूट' नहीं मिलने देते, मेरे कंपोज मैटर में से 'लेडें' खींच लेते और 'क्वाड' निकाल लेते। उन्हे ऐसा लगता था कि उनके बीच में कोई गलत आदमी आ गया है, जो न उनकी तरह बोलता है और न उनकी तरह व्यवहार करता है। गाली-गलौज तो अकसर करते ही थे। परतु शरीर मेरा कसरती था। जब पानी नाक से ऊपर जाने लगा तो एक बार मैंने अपने से अधिक लंबे खलीफा किस्म के आदमी को स्टूल से उठाकर नीचे दे मारा। घोषणा भी कर दी कि आगे से जो बकवास करेगा, उसका इससे भी अधिक बुरा हाल होगा। लेकिन इसका परिणाम यह हुआ कि गिरोहबंदी हुई और मुझे वह प्रेस छोड़ना पड़ गया।

मेरा कंपोजीटरी काल सौभाग्य से अधिक लंबा नहीं रहा। मुश्किल से ढाई-तीन साल इस दुनिया में रहा हूं। इस बीच चार प्रेस बदले कहीं ठेकेदार से नहीं पटी, कहीं मालिक की बेईमानी पर तैश आ गया। कहीं मालिक की मां ने घर का काम करने के लिए कहा तो जवाब दे दिया और कहीं साथी कंपोजीटरों के दुर्व्यवहार और प्रेस-मालिक की उपेक्षा के कारण काम छोड़ना पड़ गया। लेकिन हर बार काम छोड़ने के बाद मुझे ठेके पर या नौकरी पर काम आसानी से मिल जाया करता था।

प्रेस से छुट्टी होते ही बगीची जाता। ठंडाई छानता। थोड़ी देर कुश्ती-कसरत भी करता। शाम को सैंया चाचा की दुकान पर कवित्त सुनता और सुनाता। वासुदेवशरणजी के पास बैठकर पुरातत्व व चित्रकला के संबंध में ज्ञानार्जन करता और सत्येंद्रजी के पास बैठकर विशारद एवं साहित्यरत्न की तैयारी करता।

मेरे जीवन पर डॉ. सत्येंद्र की कृपा का बहुत बड़ा ऋण है। मेरी पढ़ाई छूटने का उन्हें बड़ा गम था। मथुरा के चंपा अग्रवाल विद्यालय में वह लोकप्रिय अध्यापक थे। मैं उनका प्रिय छात्र था। उन दिनों ब्रज के काव्य-क्षेत्र में स्वर्गीय नवनीत चतुर्वेदी की बड़ी प्रतिष्ठा थी। उनसे तो मैंने विधिवत् काव्य-दीक्षा ही ली थी। स्वर्गीय जगन्नाथदास रत्नाकर के बाद उन्होंने ही अंतिम बार पिंगल मुझे पढ़ाया था। इसी तरह ब्रज के प्रसिद्ध पद-गायक और नृत्य-विशारद वल्लभ-सखा से नृत्य सीखने के कारण और मथुरा की साहित्यिक और नाटक-मंडलियों में भाग लेने तथा मथुरा की रामलीला में क्रमशः सीता, लक्ष्मण और राम का पार्ट करने के कारण मैं लोकप्रियता और विविध कलाओं के निकट जाने लगा।

सत्येंद्रजी की कृपापूर्ण निगाह मुझ पर अधिक-से-अधिकतर होने लगी। वे प्रतिदिन मुझे रात के 9 बजे से 11 बजे तक पढ़ाया करते थे। उन्होंने मुझे ब्रजभाषा से निकालकर हिंदी-साहित्य के विभिन्न विषयों में प्रविष्ट किया। जब मैंने कंपोजीटरी करते-करते हिंदी-साहित्य सम्मेलन की विशारद परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की, तो गुरुवर सत्येंद्रजी ने मुझे उपहारस्वरूप एक लेटर-पैड छपवा कर दिया। उसमें मेरे नाम के नीचे छपा हुआ था–कवि, लेखक और पत्रकार। परंतु सच्चाई यह है कि तब न मैं कवि था, न लेखक और न पत्रकार। कवि और लेखक होने की संभावनाएं तो मुझे दिखाई पड़ रही थीं, परंतु पत्रकारिता से भी मेरा संबंध जुड़ेगा, ऐसी तो मैं कल्पना भी उस समय नहीं कर सकता था। सत्येंद्रजी शायद विधाता के इस संकेत को समझ गए थे। उन्होंने मुझसे एक दिन कहा था–"कंपोजीटरी ही नहीं, तुम मशीनमैनी भी सीखो, कागज का हिसाब भी जानो, प्रूफरीडरी भी किया करो। पत्रकार कला की ये प्रारंभिक सीढ़ियां हैं।"

मेरे अनन्य मित्र और साथी, निकट पड़ोसी, बड़े भाई और स्वीकार करता हूं कि मेरे प्रेरक गुरु व्यासजी हिंदी के लोकप्रिय कवि, प्रबुद्ध लेखक और वरिष्ठ पत्रकार के साथ-साथ स्वतंत्रता संग्राम का अलख जगानेवाले वीर सेनानी रहे हैं। भारत के ऐतिहारिक स्वतंत्रता संग्राम में केवल कलम के बल पर ही नहीं, सन बयालीस में भूमिगत होकर हथियारों और औजारों से विदेशी हुकूमत का सामना किया है। अपने शोध प्रबंधों के लिए जब मैंने दैनिक हिन्दुस्तान की पुरानी फाइलों को पलटा तो देखा उसके पृष्ठ-पृष्ठों पर व्यासजी की देश को जगानेवाली ओजस्विनी कविताएं व प्रेरक निबंध छाए हुए हैं। नेताजी सुभाषचंद्र बोस की आजाद हिन्द फौज पर लिखी हुई उनकी वीरकाव्य संबंधी कविताएं प्रतिदिन लगातार दैनिक हिन्दुस्तान में छपी हैं। मुझे याद आता है कि इन कविताओं ने देशभर में आजादी के लिए कैसी ललक पैदा कर दी थी। समूचे उत्तर भारत में ये कविताएं स्वतंत्रता के दीवानों का कंठहार बन गई थीं। ये प्रभातफेरियों में गाई जाती थीं, जलसों में गाई-गवाई जाती थीं और पंजाब से लेकर बंगाल तक व्यासजी के मुख से इन कविताओं को सुनने के लिए लोग लालायित रहा करते थे।

व्यासजी के व्यंग्य-विनोदी साहित्य ने जो अखिल भारतीय ख्याति प्राप्त की और हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए व्यासजी ने जो अथक परिश्रम किया उसकी मनोरंजक छटा और निष्ठा, लगन और परिश्रम के मुकाबले उनका वीरकाव्य और राष्ट्रीय कृतित्व दब-सा गया। लेकिन मेरा विश्वास है कि व्यासजी की राष्ट्रीय ऐतिहासिक भूमिका को कभी भुलाया नहीं जा सकता।

–डॉ. विश्वमित्र उपाध्याय

पत्रकार कैसे बना ?

पत्रकारिता के बीज मुझमें प्रारंभ से ही थे या मैं पत्रकार बनने के लिए ही पैदा हुआ, ऐसा दावा मैं नहीं कर सकता। यद्यपि प्रसंगवश अथवा यों कहें कि मित्रों के संयोगवश मैंने अपने स्कूली जीवन में सन् 1927 में ही एक हस्तलिखित पत्र 'जागरण' भाई जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी, भारतभूषण अग्रवाल आदि के साथ मिलकर निकाला था। स्कूली जीवन, जो बहुत जल्दी ही समाप्त हो गया, के बाद डॉ. सत्येन्द्रजी की प्रेरणा से कोई सालभर तक हम लोगों ने एक हस्तलिखित मासिक पत्रिका 'मंजरी' भी निकाली। इसमें मेरे साथी थे–श्री कृष्णाचार्य, जो बाद में नेशनल लाइब्रेरी कलकत्ता में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष बने और इतिहास, पुरातत्व तथा साहित्यिक अनुसंधानों से संबंधित कई ग्रंथों के प्रणेता भी हुए। अगर प्रारंभ की बात करूं तो सबसे पहले मैंने मथुरा से निकलनेवाले एक ऐसे साप्ताहिक में काम किया जो सरकारी नोटिसों, विज्ञप्तियों और विज्ञापनों के बल पर निकलता था तथा खुलकर ब्रिटिश हुकूमत का समर्थन करता था। पंद्रह दिन बाद ही मैंने यह अखबार छोड़ दिया एवं आधे महीने का वेतन साढ़े सात रुपये लेकर आ गया। उस अखबार और उसके स्वामी का नाम लेना भी मैं पाप समझता हूं। उसके बाद जब मैं रोजी-रोटी के लिए मथुरा में कंपोजीटरी करता था, तब भी खाली समय में एक हकीम ब्रजलाल बर्मन के कांग्रेसी पत्र में, डॉ. मंगीलाल की एक साहित्यिक पत्रिका में और दवाएं बेचनेवाली एक कंपनी के बुलेटिन के रूप में प्रकाशित होनेवाले कविता-कहानी से संयुक्त पत्रों का काम भी क्रमशः देखता रहता था। मथुरा से प्रकाशित होनेवाले 'गौड़ हितकारी' और 'सनाढ्य संदेश' नामक पत्रों को भी मैंने कुछ महीनों तक निकाला है। तब, जबकि मेरे फाकेमस्ती के दिन थे और इन अखबारों से मुझे फूटी कौड़ी भी नहीं मिलती थी।

मैं पत्रकार कैसे बना या कहूं कि ठोंक-पीटकर कैसे बना दिया गया अथवा यह कहना सही होगा कि मेरे मन में पत्रकार बनने की लालसा कैसे जगी, इसका श्रेय मेरे

गुरुवर डॉ. सत्येन्द्र को है। मैं जो कुछ भी आज हूं, उन्हीं की कृपा से हूं। मेरी स्कूली पढ़ाई खत्म होने के बाद उन्होंने रास्ता निकाला कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन की प्रथमा परीक्षा उत्तीर्ण करने की अनिवार्यता से मुझे डॉ. बाबूराम सक्सेना को इलाहाबाद पत्र लिखकर निजात दिलवा दी और विशारद परीक्षा की तैयारी में मुझे जुटा दिया। रात को नौ बजे से लेकर ग्यारह बजे तक वह मुझे प्रतिदिन पढ़ाया करते थे। मेरी ब्रजभाषा-साहित्य में तो पैठ थी, परंतु उस समय की विशारद परीक्षा विविध विषयों के उत्तमोत्तम ज्ञान से संबद्ध थी। संस्कृत का 'कठोपनिषद्' तक उस समय विशारद के पाठ्यक्रम में था। अपनी लगन और मास्साब (डॉ. सत्येन्द्र) के अध्यापन से में विशारद परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हो गया। इस सफलता से प्रसन्न होकर उन्होंने आशीर्वादस्वरूप एक लैटरहेड का पैड मुझे बतौर इनाम दिया। इसमें मेरे नाम के नीचे लिखा हुआ था–कवि, लेखक और पत्रकार। जबकि वास्तविकता यह थी, तब न सही अर्थों मैं कवि था और न लेखक के रूप में मेरी कोई पहचान थी तथा मैं कभी पत्रकार भी हो सकता हूं, इसकी तो कल्पना तक मेरे मन में नहीं थी।

पर यह कल्पना सत्येन्द्रजी के मन में थी। वह मुझे इसी रूप में देखना चाहते थे। उन्हें मालूम था कि मैं कंपोजीटरी करता हूं। उन्होंने कहा–"यही पत्रकारिता की पहली सीढ़ी है। समझकर कंपोज करो। प्रूफ में कितनी गलतियां निकलती हैं, प्रूफरीडिंग के क्या सिद्धान्त और विशेष चिन्ह होते हैं ? इन्हें सीखो। प्रेस कापियों में लेखक कैसे संशोधन करते हैं और क्या-क्या लिखने से वंचित रह जाते हैं तथा कहां अवांछित विस्तार करते हैं, इसे भी समझो। यह पत्रकारिता की दूसरी सीढ़ी है।"

मास्साब ने यह भी बताया कि काम कोई छोटा नहीं होता। प्रेस की मशीनें कैसे चलती हैं ? कागज कैसे भाना जाता है और काटा जाता है तथा जिल्दबंदी कैसे होती है ? कवर टाइटिल कैसा होना चाहिए ? साथ-साथ इसे भी गुनते-समझते चलो। मैं श्रद्धापूर्वक उनके निर्देशों का पालन करता रहा। तब उन्होंने साहित्यरत्न की परीक्षा के लिए मुझे तैयार किया। जहां विशारद में मेरे सहपाठी कृष्णाचार्य थे, वहां साहित्यरत्न में मेरे साथी थे कवि भारतभूषण अगवाल के बड़े भाई श्री विद्याभूषण अग्रवाल। वह उस समय सेंट जांस कालेज, आगरा में एम. ए. की परीक्षा दे रहे थे और गोकुलपुरा में रहते थे। सभी विषय सत्येन्द्रजी ने मुझे मथुरा में प्रतिदिन पढ़ाकर तैयार करा दिए। उन दिनों 'सूरसागर' की प्रति उपलब्ध नहीं थी। मैंने सूर को विशेष कवि के रूप में लिया था। श्रद्धेय सत्येन्द्रजी ने इसे वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से वी. पी. द्वारा मंगवाया। खुद वी. पी. छुड़ाई और 'सूरसागर' का प्रत्येक पद समझा-समझाकर बताया। लेकिन भाषा-विज्ञान रह गया। वह मेरे लिए कठिन विषय भी था। तब उन्होंने मुझे पन्द्रह दिन के लिए आगरा भेज दिया। वहां मैंने और विद्याभूषण ने मिलकर परीक्षा की तैयारी की। विशेषकर भाषा-विज्ञान की। एक कमरे में हम दोनों ने जमीन पर बिस्तर लगा लिया। पाठ्यक्रम और उससे संबंधित साहित्य की लगभग डेढ़ सौ पुस्तकें दीवार के सहारे-सहारे चिन लीं। दिन-भर वह कई पुस्तकें खत्म करते और मैं भी वैसा ही करता। शाम को और रात-भर अपनी-अपनी पुस्तकों के सारांश एक-दूसरे को बताया करते थे।

कुछ दिन के लिए सत्येन्द्रजी भी आगरा आ गए थे। जटिल भाषा-विज्ञान मेरे लिए सरल हो गया। भाई विद्याभूषण की लिखावट बहुत सुंदर थी। एम. ए. तक पहुंचने के कारण अभिव्यक्ति भी उनकी आकर्षक और परीक्षक को लुभानेवाली थी। वह फर्स्ट क्लास फर्स्ट पास और मैं उनसे कुछ ही नंबरों से पिछड़ गया। तब सत्येन्द्रजी ने फिर एक लैटरहैड छपवाकर दिया। उसमें फिर लिखा था—साहित्यरत्न गोपालप्रसाद व्यास तथा उसके नीचे "कवि, लेखक और पत्रकार।"

उन दिनों साहित्यरत्न की परीक्षा का बड़ा सम्मान था। स्वर्गीय गणेशंकर विद्यार्थी और श्री कृष्णदत्त पालीवाल तक ने यह परीक्षा उत्तीर्ण की थी। तब इसकी मौखिक परीक्षा लेने के लिए हिन्दी के बड़े-बड़े विद्वान साहित्यकार आया करते थे। मुझे मौखिक परीक्षा में आचार्य रामचंद्र शुक्ल, बाबू गुलाबराय और प्रो. जगन्नाथ तिवारी का सामना करना पड़ा।

शुक्लजी को मैंने पढ़ाते हुए काशी विश्वविद्यालय में देखा था, परंतु परीक्षा लेते देखने का यह पहला अवसर था। वह बड़ा मीठा और परिष्कृत परिहास करते थे। वह ओठों-ओठों में ही हंसते। ओठों की हंसी भी बड़ी-बड़ी मूंछों के कारण ध्यान देने पर ही रसिकों को परिलक्षित हो पाती थी। उन्होंने आते ही मेरा सत्कार किया—"आइए पंडितजी !" पंडितजी शायद उन्होंने इसलिए कहा कि मेरी लंबी चुटिया में डेढ़ गांठ लगी थी। गले में छोटे-छोटे दानों की तुलसी की माला थी और शायद मस्तक पर तिलक भी था। मैंने उन्हे झुककर नमस्कार किया। उन्होंने सामने रखी कुर्सी की ओर इशारा करते हुए कहा—"विराजिए !" मैं बैठा और देखा कि शुक्लजी के तरकस के तीर मुझे वेधने के लिए एक के बाद एक तेजी से चले आ रहे हैं। चर्चा सूरदास से प्रारंभ हुई। शुक्लजी ने पूछा—"पढ़ा है ?" शुक्लजी का अब तक का व्यवहार और वाक्-विदग्धता मुझे चुनौती प्रतीत होने लगे। मैंने सगर्व उत्तर दिया—"मैंने विशेष कवि के रूप में सूर को ही पढ़ा है और थोड़ा-बहुत गुना भी है।"

शायद शुक्लजी को भी मेरे ये शब्द चुनौतीपूर्ण लगे होंगे। इस छोकरे की यह हिम्मत। तब उन्होंने सूर-साहित्य के अतिरिक्त उसके अध्यात्म-पक्ष शुद्धाद्वैत और विशिष्टाद्वैत, सूरदास और वल्लभाचार्य, सूरदास और स्वामी हरिदास, लीला-रस और वात्सल्य में ही सूर को निपुणता क्यों प्राप्त हुई, आदि प्रश्नों से मुझे झिंझोड़ना शुरू कर दिया। मैने कुल-परंपरा, अष्टसखाओं की वाणी और सूर से संबंधित स्वयं शुक्लजी के सिद्धांतों तथा उन्हीं दिनों ताजा-ताजा प्रकाशित डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी के विचारों को भी पढ़ा था। मैंने निर्भीक विनम्रता के साथ शुक्लजी के सभी प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर दिया। बाबू गुलाबराय तो इस वार्ता को पमुदित होकर सुनते रहे। उन्होंने कुछ नहीं पूछा। लेकिन तिवारीजी महाराज ने अपने काव्यशास्त्रीय और विशेषकर अलंकारीय विशेषज्ञता को मुझ पर उंड़ेल दिया। मैं तब तक पिंगल, अलंकार, नायिका-भेद आदि का ज्ञान मथुरा में इस विषय के आचार्यों से अच्छी तरह समझ चुका था। मैंने तिवारीजी को प्रश्नों के उत्तर ही नही दिए, लगे हाथ मिलते-जुलते जटिल अलंकारों के संबंध में भी उनसे पूछ लिया। मेरा यह साक्षात्कार एक घंटे से ऊपर चला। इसे गुलाबरायजी

ने भी सुना और नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा के तत्कालीन मंत्री महेन्द्रजी ने भी। महेन्द्रजी का साहित्यरत्न भंडार उस समय देश-भर में प्रसिद्ध था। उनके संस्थान द्वारा प्रकाशित हिन्दी-समीक्षा के प्रथम पत्र 'साहित्य-संदेश' के भी दो या तीन अंक निकल चुके थे।

परीक्षा भवन से निकलते ही बाबू गुलाबराय ने मुझे अपने घर चाय पर बुलाया। भाई विद्याभूषण ठेलकर मुझे वहां ले गए। महेन्द्रजी भी वहां मौजूद थे। प्रस्ताव आया कि मैं 'साहित्य-संदेश' से जुड़ जाऊं। मैंने सोचने के लिए समय मांगा, लेकिन विद्याभूषण ने पूछा—"कब से ?" महेन्द्रजी ने उत्तर दिया—"आज से ही।" बाबू गुलाबराय बोले—"अभी से ही।" मैं थक गया था। विद्याभूषण ने मुझे अटैची और बिस्तर नहीं उठाने दिए। मैं 'साहित्य-संदेश' से जुड़ गया। मतलब कि डॉ. सत्येन्द्रजी की पत्रकारवाली उपाधि चरितार्थ हो गई।

■

व्यासजी जब दैनिक 'हिन्दुस्तान' में आए तो पत्र में साहित्य भी आ गया। साहित्यकारों से उनके व्यापक संपर्क के कारण हमारे 'हिन्दुस्तान' में अनेक साहित्यकार चाव से लिखने लगे। व्यासजी ने प्रतिष्ठितों को ही प्रतिष्ठित नहीं किया, हिन्दी की अनेक नई प्रतिभाओं को भी वह प्रकाश में लाए। दैनिक हिन्दुस्तान में उनका आगमन एक बड़ी उपलब्धि साबित हुआ।

व्यासजी को हीनभाव छू तक नहीं गया। वह बड़े-बड़े साहित्यकारों और नेताओं से समान स्तर पर मिलते हैं। मैंने स्वयं उनके साथ जाकर उनका यह रूप देखा है। उनकी निर्भीकता का तो निराला आलम है। बिना झिझक के निःशंक होकर वह बड़े से बड़े व्यक्तियों पर अपनी लेखनी तान सकते हैं। लेकिन उनकी चोट घायल करनेवाली नहीं होती। इसीलिए वह जिस पर लिखते हैं, वह बुरा नहीं मानता, मित्र बन जाता है। वह हिन्दुस्तान में एडीटोरियल असिस्टैंट के रूप में शामिल हुए थे। आज जब मैं यह लिख रहा हूं तो वह एक दैनिक पत्र के प्रधान संपादक पद पर आसीन हैं और कभी उनका संपादक रहा हुआ मैं आज उनके दैनिक पत्र का लेखक हूं।

—मुकुटबिहारी वर्मा

पत्रकारिता : ताजमहल के साये में

आगरा मेरे साहित्य का ताजमहल है। इसमें मैंने महेन्द्रजी के व्यक्तित्व और कृतित्व के विशाल द्वार से प्रवेश किया है। मेरे ताजमहल में प्रभाकर माचवे, रांगेय राघव, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, अमृतलाल चतुर्वेदी, पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', श्यामसुंदर लाल दीक्षित और थान सिंह आदि साहित्यकारों के ऊंचे-ऊंचे फव्वारे अपनी सरस जलधारा से वातावरण को स्निग्ध और मनोरम बनाते रहते थे। इसकी ऊंची-ऊंची चार मीनारों को मैंने श्री कृष्णदत्त पालीवाल, हरिशंकर शर्मा, श्रीराम शर्मा और केदारनाथ भट्ट की बुलंदियों में देखा। इसके विशाल गुंबद में बाबू गुलाबराय के दर्शन किए। इसमें मैंने ब्रज कोकिल सत्यनारायण 'कविरत्न' और नजीर अकबराबादी की समाधियों के दर्शन किए। मेरे ताजमहल की पच्चीकारी करनेवाले कलाकार थे—रावी, हृषीकेश चतुर्वेदी, रामचंद्र सैनी आदि। इस मंदिरनुमा ताजमहल की परिक्रमा के पृष्ठभाग में कल्पनाओं की यमुना का कल्लोल होता रहता था। श्रीधर पाठक, बनारसीदास चतुर्वेदी, सत्येन्द्रजी, अम्बाप्रसाद सुमन जैसे उज्ज्वल रत्न इसमें जगह-जगह खड़े हुए थे। मैंने ताजमहल को जब-जब देखा तब इसी रूप में देखा। अन्यथा न मुझे यह शाहजहां के अमर प्रेम का प्रतीक लगा और न ललित कला का कोई अनुपम नमूना। मेरी समझ में नहीं आता कि दुनिया-भर के लोग उसे देखने के लिए क्यों दौड़ते हैं ? उसे मुगलों के वैभव का प्रतीक तो माना जा सकता है। उसकी कला और शिल्प, जाली-झरोखे, कटाव-छंटाव का महत्त्व इसके मरमरी पत्थरों के कारण ही है, नहीं तो हमारे समृद्ध भारत में वास्तुकला और स्थापत्य के एक से एक सुंदर नमूने बिखरे पड़े हैं। इसके संबंध में मुझे यह कविता बहुत सटीक लगती है—

इस शाही दूधिया महल की,
छत पर दूध भरी रातें,
बता रही हैं शाहजहां के
बीते वैभव की बातें !

अब तो पुरातत्व के कई विद्वान इसके शाहजहां द्वारा निर्मित होने में भी शंका प्रकट करने लगे हैं। जो भी हो इसमें ज्योमेट्री और सिमेट्री के अतिरिक्त अमल-धवल शुभ्रता तो है ही।

लेकिन आगरा शहर मुझे बिल्कुल पसंद नहीं आया। बेतरतीब रूप से फैला हुआ, धूल-धक्कड़, नालों और कीचड़ से भरा हुआ, मक्खियों से भिनभिनाता, प्रकाश, पानी और परिवहन की सुविधाओं से वंचित ऐसा नगर है, जिसमें ताजमहल, पेठा और जूतों के अतिरिक्त कुछ नहीं। लोगों ने ठीक ही कहा है–

भूमि हमवार नहीं,
पानी मजेदार नहीं,
मर्द वफादार नहीं,
वह औरत क्या... ।

क्षमा कीजिए, मेरी आगरा की औरतों के बारे में विशेष जानकारी नहीं है, इसलिए उनके बारे में कुछ नहीं कहूंगा। मैं तो अपने साहित्य के ताजमहल की बात करने चला हूं।

ताजमहल आगरा में तब भी था। लाल किले में मोती मस्जिद और जोधा बाई के महल पहले भी दर्शनीय थे। सम्राट अकबर का मकबरा और दयालबाग का औद्योगिक केंद्र उन दिनों भी चर्चा के विषय थे। आगरा की दालमोठ और पेठा भी, तब आज से कहीं अधिक जायकेदार और स्वादिष्ट हुआ करते थे। लेकिन जिस समय का जिक्र मैं कर रहा हूं, उस समय आगरा की यात्रा करनेवालों के लिए कुछ जीवंत आकर्षण भी ऐसे थे, जिन्होंने इस ऐतिहासिक नगरी की ख्याति में अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से चार चांद लगा दिए थे। उत्तर प्रदेश के दुर्धर्ष नेता और पत्रकार पं. श्री कृष्णदत्त पालीवाल, कवि-लेखक और पत्रकार पं. हरिशंकर शर्मा, हिंदी में शिकार-साहित्य के प्रणेता और 'विशाल भारत' के तत्कालीन संपादक पं. श्रीराम शर्मा, सुप्रसिद्ध शिक्षाविद् बाबू गुलाबराय, प्रख्यात लेखक श्री बदरीनाथ भट्ट के सहोदर एवं व्यंग्य-विनोद की जीवंत प्रतिमूर्ति श्री केदारनाथ भट्ट तथा साहित्य प्रेस, साहित्यरत्न भंडार, 'साहित्य-संदेश' के सर्वस्व और समाजसेवी महेन्द्रजी आदि ऐसे महापुरुष थे, जिनके दर्शन करने, उनसे कुछ सीखने और सलाह लेने के लिए देश के कोने-कोने से लोग आगरा आया करते थे।

ये सभी पत्रकार थे। पालीवालजी 'सैनिक' निकाला करते थे। हरिशंकरजी शर्मा जब तक जीवित रहे, तब तक 'आर्य मित्र' से लेकर छोटी-बड़ी विविध पत्र-पत्रिकाओं से संबद्ध रहे। भट्टजी का 'नोकझोंक' मासिक 'मतवाला' के बाद व्यंग्य-विनोद की मशाल को उठाए हुए था। बाबू गुलाबराय उन दिनों हिंदी-साहित्य के प्रथम समीक्षात्मक 'साहित्य संदेश' मासिक का संपादन किया करते थे और महेंद्रजी ने 'सैनिक' छोड़ने के बाद पहले 'सिंहनाद' निकाला और तब 'आगरा पंच' निकाल रहे थे। 'साहित्य-संदेश' के संपादन में भी दिशा-निर्देश किया करते थे। इन सभी महानुभावों के व्यक्तित्व और इनके द्वारा संपादित पत्र-पत्रिकाओं की तब हिंदी-जगत में बड़ी धाक थी। तब के अंग्रेजी शासन

में ये सभी संदेह की दृष्टि से देखे जाते थे, लेकिन सभी को समाज और हिंदी-जगत में विशेष आदर प्राप्त था।

पालीवालजी का व्यक्तित्व सारे आगरा पर छाया हुआ था। कोई भी राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक संस्था बिना उनके नहीं चलती थी। बड़े दबंग और निर्भीक थे। वह क्रुद्ध होने पर कभी-कभी अपने प्रेसवालों, अपने संपादकों और मैनेजरों की ठुकाई भी कर दिया करते थे। कई पुलिसवाले और अंग्रेज भी उनके धौल-थप्पड़ों से प्रायः पुरस्कृत होते रहते थे। अंग्रेजों के कुशासन और अफसरशाही के कारनामों को वे भद्र भाषा में लिखने के अभ्यासी नहीं थे, लेकिन उनका गुस्सा जवाहरलालजी से भी अधिक क्षणिक होता था। अपने कर्मचारियों को तो गुस्सा शांत होते ही वे पुरस्कृत भी कर दिया करते थे।

एक बार ऐसा हुआ कि उन्होंने किसी बात पर नाराज होकर पत्र के संपादक पं. जीवाराम पालीवाल को बर्खास्त ही नहीं किया, उन पर सौ रुपये जुर्माना भी कर दिया। उसी कलम से उसी क्षण दूसरे सहसंपादक श्री रामसिंह हिंदुस्तानी को भी बर्खास्त करके सौ रुपये जुर्माने के ठोक दिए। अब काम करने को केवल एक संपादक बच गया। वह थे श्री हरिकृष्ण त्रिवेदी उन्होंने बीस घंटे लगातार काम करने के बाद पालीवालजी को लिख भेजा कि कल से मैं 'सैनिक' की सेवा करने में असमर्थ हूं। दूसरे दिन घरों से सब बर्खास्त संपादककर्मियों को बुलाया गया और सुलह-सफाई हो गई। पालीवालजी कहते ही नहीं, लिखते भी थे कि देश में केवल तीन ही नेता हैं–पटेल, पंत और पालीवाल। इन पालीवालजी के अखबार में कभी उग्रजी, अक्षयजी और 'अज्ञेय'जी जैसे लेखक भी कार्य करके अपने को धन्य मान चुके थे। इनके साथ क्या बीती, वे जानें। सन् सैंतीस में जब मैं 'साहित्य-संदेश' में नियुक्त हुआ, तो मुझे इन सबका कृपापूर्ण साहचर्य सहज ही सुलभ होगया। मेरे आने से पूर्व 'साहित्य संदेश' के तीन-चार अंक ही निकले थे। महीने-दो महीने देख-परखकर महेंद्रजी और गुलाबरायजी ने उसका सारा भार मुझको सौंप दिया।

यह भार संपादकीय टिप्पणियां लिखने, पुस्तकों की समालोचना करने या समय-समय पर व्यक्ति और साहित्य की भावधाराओं पर लेख लिखने तक ही सीमित नहीं था। मुझे पत्रों के उत्तर, समालोचना के लिए आई और गई पुस्तकों के विवरण के साथ-साथ ग्राहकों की संख्या का हिसाब भी रखना पड़ता था। मैं डिस्पैच के रैपर भी तैयार किया करता था। आवश्यकता पड़ने पर 'आगरा पंच' का काम भी देखता था। उस समय मेरी ही ऐसी नियति नहीं थी, हिन्दी की अधिकांश पत्रिकाओं का यही हाल था–"ला री बांदी, ऐसा नर। पीर, बवर्ची, भिश्ती, खर।" पत्रों के स्वामी किसी एक नामधारी व्यक्ति को संपादक बनाकर उसके सहायक पर सारा बोझ डाल दिया करते थे। इसे शोषण की संज्ञा देना उचित नहीं होगा। पत्र-मालिक भी तब प्रायः उद्देश्यपरक हुआ करते थे और घाटा सहकर भी अखबार निकाला करते थे। पत्रकार तो तब होते ही मिशनरी थे।

आज के लेखकों, पत्रकारों और पाठकों को यह जानकर बड़ा आश्चर्य होगा कि

जब मैं 'साहित्य-संदेश' में गया तो उस समय बाबू गुलाबराय को मानदेय के रूप में केवल अस्सी रुपये वार्षिक मेहनताना मिलता था। प्रायः लेख निःशुल्क छपा करते थे। अगर देना ही पड़ जाए तो पांच रुपये का पारिश्रमिक कोई कम नहीं कूता जाता था। समीक्षक को एक पुस्तक की समालोचना के लिए दो रुपये मिलते थे। कभी-कभी तो समालोचनार्थ भेजी हुई पुस्तक भी उनसे वापस ले ली जाती थी, लेकिन इसका किसी को गिला नहीं होता था। लेखकों के मन में सबसे बड़ा संतोष यही था कि वे साहित्य की 'उल्लेखनीय' सेवा कर रहे हैं। नाम छप जाना भी कोई कम उपलब्धि नहीं थी। मैंने स्वयं उस पत्र में पच्चीस रुपये महीने से काम शुरू किया था और जब सन् बयालीस में इसे छोड़ा, तो बयालीस रुपये ही मुझे मासिक वेतन मिला करता था।

शुरू-शुरू में 'साहित्य-संदेश' का यह आलम था कि समीक्षार्थ आई हुई पुस्तकें कॉलेजों के विद्यार्थियों और अध्यापकों को बांट दी जाती थीं। उनमें से कुछ तो उन्हें पढ़कर कृति के साथ न्याय करने की कोशिश करते थे, अन्यथा अधिकांश प्राध्यापक और छात्र पुस्तकों की भूमिका पढ़ी, आदि के कुछ अंश पढ़े, कुछ अंत के, बीच में से कोई एक-आध उदाहरण उठाया और समालोचना लिख मारते थे। क्योंकि महेंद्रजी का पुस्तक व्यवसाय भी था, इसलिए वे किसी पुस्तक की कठोर आलोचना करने के पक्ष में नहीं थे। लोग नई-नई पुस्तकें पढ़ने के शौकीन बनें, पुस्तकालयों में और हिन्दी के पाठकों में भंडार की बिक्री बढ़े, उनका एक बड़ा उद्देश्य यही होता था। बाबू गुलाबरायजी 'साहित्य-संदेश' का काम इतना अवश्य देखते थे कि आखिरी फर्मा छपते-छपते वह अपना संपादकीय भेज देते थे और अपनी रुचि की पुस्तकों को छांटकर पहले ले जाते थे। अवसर मिलने पर उनकी समीक्षाएं भी लिख दिया करते थे। जब मैंने अपने कार्य और व्यवहार से गुलाबरायजी और महेंद्रजी का विश्वास अर्जित कर लिया तब मेरा नाम सह-संपादक के रूप में भी छपने लगा। 'साहित्य-संदेश' से ही मैंने लेखों का संक्षेपीकरण करना सीखा। भाषा के संशोधन की कसौटी भी मुझे यहीं से प्राप्त हुई। संक्षेप में सार को ग्रहण करके कैसे प्रस्तुत किया जाए, उस कला में बाबू गुलाबराय माहिर थे। उन्हें पढ़ते, काम करते और लिखते देखकर मैंने बहुत कुछ सीखा है। एक बार मैंने प्रेमचंद के उपन्यासों पर और आधुनिक हिंदी उपन्यासों के प्रवृत्तिगत विकास पर दो लंबे-लंबे लेख लिखे। पहले उन्हें प्रोफेसर प्रकाशचंद्र गुप्त के पास भेजा और बाद में तब के अपने घनिष्ठ मित्र और आज के स्वर्गीय आचार्य पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी के पास जांचने के लिए रवाना कर दिया। द्विवेदीजी ने तो उनकी तारीफ लिखकर लेख वापस कर दिए, लेकिन प्रकाशचन्दजी ने मुझे एक बड़े मार्के की बात कही। यह बात उन्होंने स्वर्गीय प्रेमचंदजी से सुनी थी। प्रेमचंदजी ने गुप्तजी से कहा था—"क्या लिखना जरूरी है, इससे अधिक लेखक को यह जानना चाहिए कि क्या बात लिखना जरूरी नहीं है। लिखते समय अनेक भाव, अनेक प्रसंग चारों ओर से आकर उसे घेरते हैं; उसकी कुशलता इसी में है कि जो लिखने योग्य न हो उसे छोड़ दे और जो लिखने लायक हो उसे कभी न छोड़े। यह बात साहित्य के लेखक से अधिक पत्रकार के लिए बहुत महत्त्व की है।"

यह वह समय था जब हिन्दी सही अर्थ में नवयुग में प्रवेश कर रही थी। द्विवेदी युग के मूर्धन्य लेखक पूरे ओज पर थे और पंत, निराला और महादेवी की काव्यकृतियां हिन्दी का कंठहार बन गई थीं। सोहनलाल द्विवेदी, दिनकर, गुरुबख्श सिंह, सियारामशरण, नरेंद्र शर्मा, बच्चन और श्यामनारायण पांडेय आदि के काव्य-संग्रह नई-नई भावधाराओं से हिंदी की मंदाकिनी को हर द्वार तक पहुंचा रहे थे। हिन्दी कथा साहित्य में जैनेन्द्र कुमार के प्रादुर्भाव को एक मौलिक क्रांति के रूप में स्वीकार किया गया था। वृंदावनलाल वर्मा, भगवतीचरण वर्मा और यशपाल एक-दूसरे को चुनौती देते हुए आगे बढ़ रहे थे। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के 'हिंदी साहित्य का इतिहास' के बाद कृष्णशंकर शुक्ल और रामकुमार वर्मा नवीनतम शोध संबलों के साथ इतिहास लेखन में प्रवृत्त हुए थे। समीक्षा के क्षेत्र में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का तब पदार्पण ही हुआ था। डॉ. नगेंद्र दिल्ली के कमर्शियल स्कूल में अंग्रेजी पढ़ाते-पढ़ाते मैथिलीशरण गुप्त और सुमित्रानंदन पंत पर अंग्रेजी पद्धति का अंतरंग विश्लेषण करके हिंदी समालोचना में प्रवेश कर रहे थे। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी तब प्रयाग से निकलनेवाले 'भारत' के संपादक हुआ करते थे। द्विवेदी-कालीन खंडन-मंडन का युग समाप्त हो गया था।

'साहित्य-संदेश' ने तब समीक्षा के क्षेत्र में एक नए युग का सूत्रपात किया। इसका उद्देश्य हिंदी के पाठकों को नए से नए साहित्य की जानकारी देना, साहित्य की नई-नई धाराओं का विश्लेषण करना और हिन्दी के रचनाधर्मियों को प्रोत्साहन देकर आगे लाना था। 'साहित्य संदेश' ने उन दिनों 'प्रसाद अंक', 'द्विवेदी अंक,' 'उपन्यास अंक' और 'शुक्ल अंक' निकालकर साहित्य-जगत में एक कीर्तिमान स्थापित कर लिया था।

मैं जिस समय की बात कर रहा हूं, उस समय हिंदी भाषा भी अपना स्वरूप ग्रहण कर रही थी। साहित्य में भी और व्यवहार में भी। खड़ीबोली काव्य का रूप निखर गया था। आगरा का साहित्यरत्न भंडार उस समय उत्तर भारत में हिंदी पुस्तक विक्रय का सबसे बड़ा केन्द्र था। हिंदी की नई-से-नई पुस्तकें विषयवार यहा खरीदारों को बिक्री के लिए ही नहीं, साहित्य के अध्येताओं के लिए भी प्रायः निःशुल्क सुलभ थीं। 'साहित्य-संदेश' के काम से निवृत होकर मैं इस पुस्तक भंडार के अनुशीलन में रात के दो-दो बजे तक प्रवृत रहता था। मथुरा के साहित्यिक वातावरण ने जहां मुझे संस्कृत, प्राकृत, पालि, अपभ्रशं, डिंगल और पिंगन के साहित्य का अध्ययन करने का अवसर दिया, वहां आगरा के साहित्यरत्न भंडार और 'साहित्य-संदेश' के कार्य ने मुझे हिंदी के नवीन और अधुनातन साहित्य से भी जोड़ दिया। इस प्रकार आगरा मेरे साहित्यिक और पत्रकारिता के जीवन-निर्माण की कर्मभूमि बन गया। प्रोफेसर प्रकाशचंद्र गुप्त के साथ मैंने यहां प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना की और पुराने साहित्यकारों के साथ मिलकर बाबू गुलाबराय के सहयोग से 'सुहृद साहित्य गोष्ठी' भी चलाई। इसी गोष्ठी में पढ़ने के लिए मैंने व्यंग्य-विनोद की कविताएं लिखनी शुरू कीं। इस विधा में मेरी पहली कविता 'बाबूजी की डबल भैंस' बाबू गुलाबरायजी की भैंस पर ही लिखी गई थी।

आगरा से ही मुझे स्वतंत्रता संग्राम और स्वदेशी आंदोलन की प्रेरणा प्राप्त हुई। यहीं से मैं गांधीमय और खादीमय हुआ। मथुरा में जो बीज-वपन बाबू हरिश्चंद्र के

'भारत-दुर्दशा' नाटक को खेलने और मैथिलीशरणजी के 'भारत-भारती' काव्य के पठन-पाठन से हुआ था, वह आगरा में आकर पल्लवित हो गया। सुंदरलालजी के 'भारत में अंग्रेजी राज' और 'चांद' के 'फांसी अंक' ने मेरे मानस की जो राष्ट्रीय भूमिका तैयार की थी, उसे आगरा के वातावरण ने और भी उकसा दिया। हिन्दी पत्रकारिता का यह स्वर्णिम काल था। वह राष्ट्रीयता के रंग में पूरी तरह से रंगी हुई थी। गांधीजी का 'नवजीवन,' आचार्य नरेंद्र देव का 'संघर्ष,' साप्ताहिक 'प्रताप' में पं. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के ओजस्वी लेख, कविताएं और संपादकीय टिप्पणियां, 'कर्मवीर' में पं. माखनलाल चतुर्वेदी के ललकार-भरे काव्यात्मक उद्बोधन उस समय के युवकों और बुद्धिजीवियों को कुछ कर गुजरने की निरंतर प्रेरणा देते रहते थे।

यहीं से मेरी राजनीति में विशेष रुचि जाग्रत हुई। व्यक्तिगत सत्याग्रह के लिए गांधीजी के पास अपना नाम भी भिजवाया। आगरा सेंट्रल जेल में आए हुए राजनीतिक बंदियों की, जिनमें मैथिलीशरण गुप्त के साथ डॉ. बालकृष्ण केसकर भी थे, सेवा-सहायता आदि करने का भी अवसर मुझे मिला।

राष्ट्रकवि से जेल में मिलने के लिए बड़े-बड़े साहित्यकार प्रायः आते ही रहते थे। वे सब साहित्यरत्न भंडार में ही ठहरते थे। । रायकृष्णदास, सियारामशरण गुप्त, जैनेंद्र कुमार और भाई वाचस्पति पाठक से मेरा आंतरिक सौख्य यहीं से बढ़ा। उन दिनों 'साहित्य-संदेश' कार्यालय एक प्रकार से साहित्य का तीर्थ बन गया था। जो भी हिन्दी भाषा और साहित्य' से जुड़ा उल्लेखनीय व्यक्तित्व होता, वह आगरा आता ही इसलिए था कि उसे 'साहित्य संदेश' कार्यालय में बाबू गुलाबराय, महेन्द्रजी और मुझ द्वारपाल से भी मिलना होता था। इनके आने पर छोटी-बड़ी गोष्ठियां भी भंडार में हुआ करती थीं। श्री पुरुषोत्तमदासजी टंडन जब आगरा आए तो साहित्यरत्न भंडार के हिन्दी पुस्तक विक्रय केंद्र को देखकर बहुत प्रसन्न हुए। मुझे भी पहली बार उनसे मिलने और दो बातें करने का सौभाग्य तभी प्राप्त हुआ। जब पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी वियना से लौटकर आगरा आए तो भंडार में उनके स्वागत में एक आयोजन किया गया। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध व्यंग्य-विनोदी कविता 'वियना की सड़क' सुनाई। चतुर्वेदीजी तब रायसाहब थे। उत्तर प्रदेश के विशेष शिक्षा अधिकारी थे। लेकिन अफसरी उनको छू तक नहीं गई थी। बड़े मोद-विनोदी थे और साहित्यकार बड़ा हो या छोटा वह शीघ्र ही उनका स्नेहभाजन बन जाता था। मैं भी इस परिधि में आ गया। 'वियना की सड़क' की तर्ज पर मैंने 'ठंडी सड़क' कविता लिखी जो उन्हें बहुत पसंद आई।

पं. बनारसीदास चतुर्वेदी, मेरे अग्रजतुल्य पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी, भावुक और रंगीनमिजाज, लेकिन कानों से कम सुननेवाले शांतिप्रिय द्विवेदी, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल,' कुंवर हरिश्चन्द्रदेव वर्मा 'चातक' और आगरा के समाजवादी लेखक श्री रमेश वर्मा का साहचर्य भी मुझे 'साहित्य-संदेश' के द्वारा ही मिला। कहने का तात्पर्य यह है कि आगरा से मुझे साहित्य-दर्शन तो सुलभ हुआ ही, नई दिशा भी मिली और मिला साहित्यिक परिवेश, अखिल भारतीय स्तर पर साहित्यकारों से संपर्क और उनमें से कुछ के साथ आजीवन स्नेहिल संबंध। श्रीमती महादेवी वर्मा, सुमित्रानंदन पंत, निराला

आदि कई शीर्ष साहित्यकारों से मैं 'साहित्य-संदेश' के माध्यम से ही जुड़ा।

उस समय आगरा में साहित्यकारों के दो मिलन केन्द्र थे--एक, महेंद्रजी का साहित्यरत्न भंडार, जिसके प्रमुख आकर्षण थे बाबू गुलाबराय और दूसरा स्थान था लोहा मंडी का 'शंकर-सदन'। एक छोटा-सा कमरा। बैठने को चटाइयां। सुनने को संस्मरण और साहित्यिक चर्चाएं। मोद-विनोद का वातावरण। यह श्री हरिशंकर शर्मा की बैठक थी। मुझे इन दोनों केन्द्रों की सक्रिय सदस्यता प्राप्त थी। आगरा में ये दोनों केन्द्र परस्पर विरोधी माने जाते थे, परंतु वास्तव में ऐसा था नहीं। उन दिनों आगरा के साहित्यकारों में आपस में मिलनसारी और एक-दूसरे का आदर करने की भावना विद्यमान थी। बाहर से जो भी साहित्यकार और राजनैतिक पंछी आते, वह इन अड्डों पर अवश्य उतरते थे। मैं भी हरिशंकरजी के यहां अक्सर जाया करता था। श्री केदारनाथ भट्ट से यहीं से मेरी मित्रता बढ़ी। वह मिलने पर मुझे प्रायः खिलाया करते थे रबड़ी। सुनाया करते थे बड़े मनोरंजक लतीफे। सच्चे अर्थों में वह आनंदमूर्ति थे। जब तक आगरा में रहा मेरी उनसे खूब पटी।

उन दिनों आगरा में एक तीसरा केंद्र भी उभर रहा था। वह प्रगतिशील बंधुओं का था। इसमें साहित्य और अदब के नए-पुराने हिन्दी-उर्दू के लेखक, कवि, शायर, कहानीकार और अफसानानिगार सम्मिलित थे। प्रोफेसर प्रकाशचंद्र गुप्त इस केंद्र के सूत्रधार थे। उन्होंने इन सबको जोड़कर प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना आगरा में की। मुझे बना दिया गया संयोजक। पुराने लेखकों की चलती-फिरती साहित्य संगोष्ठी का संयोजक तो मैं पहले से था ही। गुप्तजी ने मुझे नए लेखकों से भी जोड़ दिया।

इस तरह आगरा में मैंने साहित्य पढ़ा भी और गुना भी। लिखा भी और लिखवाया भी। मेरी पहली संपादित पुस्तक 'प्रतिच्छाया' आगरा से ही निकली। बाबू गुलाबराय ने हिन्दी भवन, लाहौर से परिचय करा दिया तो वहां से छप गई मेरी एक पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का सरल अध्ययन'। उन दिनों एक मार्का बहुत प्रसिद्ध था—मेड इन इंग्लैंड। एक मार्का आप मुझ पर भी लगा दीजिए—मेड इन आगरा।

फाकिस्तान से 'हिन्दुस्तान' में

दूसरा विश्वयुद्ध चल रहा था। देश मे 'भारत रक्षा कानून' लागू था। जनता अभावों और कंट्रोलों से परेशान थी। यद्यपि गाधीजी और कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्य जेलों से बाहर आ गए थे, लेकिन शासन का शिकंजा ढीला नहीं हुआ था। न खुलकर बोला जा सकता था, न लिखा जा सकता था। अखबारों की हालत खस्ता थी। प्रकाशन-व्यवसाय ठप्प पड़ा था। मैं इटावा से मथुरा लौट आया था और फाकामस्ती चालू हो गई थी।

मंडियों में अनाज दुर्लभ था। कोयला, मिट्टी का तेल और कपड़ा कंट्रोल की परिधि में आकर सर्वसाधारण के लिए असुलभ हो गए थे। माचिस की डिब्बी तक आसानी से नहीं मिलती थी। दिन बड़ी तंगी से कट रहे थे। अकड़ में 'साहित्य-संदेश' छोड़ तो दिया, जोश में आकर '42 के आंदोलन में कूद भी पड़ा, लेकिन अब आटे-दाल का भाव मालूम पड रहा था। पहले पत्नी का छल्ला-छल्ला जेवर बिका, फिर घर के पुराने पीतल-तांबे के बर्तनो का नंबर आया। उसके बाद विवाह-झोम्झक पर आए शाल-दुशालों, साड़ियों और धोतियों, दुपट्टों और पगड़ियों तक को बेचने की नौबत आ गई। उन दिनों रह-रहकर यह ख्याल आता था कि बड़ी गलती हुई। इससे तो अच्छा था कि हजारीप्रसादजी ने शांति निकेतन से प्रकाशित होनेवाली 'विश्व भारती' पत्रिका में बुलाया था, चला जाता। भाई श्रीपत राय का 'हस' में बुलाने का प्रस्ताव भी बुरा नहीं था। अगर दूर न जाने की ही बात थी, तो दिल्ली से भाई मार्तंडजी उपाध्याय का जो 'जीवन साहित्य' के संपादन का आग्रह था, वह तो मुझे स्वीकार कर ही लेना चाहिए था। पर बीत गई सो बात गई।

उस समय तो मैं मुफलिसी के ऐसे दौर से गुजर रहा था कि मेरे दो प्यारे-प्यारे बच्चे बिना दवा और पथ्य के अकाल मृत्यु को प्राप्त हो गए थे। सबसे बड़ा कष्ट तो मुझे उस समय हुआ, जब रत्नाकरजी, 'हरिऔध'जी, शुक्लजी, श्यामसुंदरदासजी, मैथिलीशरण गुप्त और मुंशी प्रेमचंदजी की हस्ताक्षरयुक्त पुस्तकें मुझे बेचनी पड़ गईं।

'त्यागभूमि', 'गंगा', 'चांद', 'कर्मयागी' और 'सरस्वती' की पुरानी फाइलों को जब मैंने बेचा, तो मेरी लाचारी फूट-फूटकर रो पड़ी।

अब तक मैं अपनी कलाकारी और लेखकी के मिथ्याभिमान पर जी रहा था। पर जब मेरे भेजे हुए लेखों की स्वीकृति नहीं मिलती, स्वीकृत होने पर भी लेख नहीं छपते और छपने पर भी हिंदी के नामधारी पत्र उनका पारिश्रमिक नहीं भेजते तो मुझे रह-रह कर लगता कि इससे तो कहीं अच्छा है कि मैं वापस छापेखाने की दुनिया में पहुंच जाऊं। वहां रोटी तो मिलेगी। लेकिन मैंने फिर भी हिम्मत नहीं हारी। एम. ए., साहित्यरत्न और प्रभाकर परीक्षा में बैठनेवाले छात्रों की ट्यूशनें करने लगा। मथुरा से एक 'सनाढ्य संदेश' नामक पत्र निकलता था, उसमें बिना नाम दिए काम करना शुरू कर दिया। लेकिन मामूली जरूरतें इतनी थीं और महंगाई इस कदर बढ़ी हुई थी कि मेरे वे सभी प्रयत्न ऊंट के मुंह में जीरे के समान साबित हुए।

तभी एक दिन डाक आई। उसमें एक लिफाफा भी था। खोला, डाकिये की ईमानदारी पर प्रभु को धन्यवाद दिया। दस-दस के पांच नोटों के साथ किसी छपे हुए रद्दी कागज की पीठ पर लिखा था–"बहुत हुआ ! अब दिल्ली आ जाओ और जल्दी ही।"– जैनेंद्र कुमार।

भाग्य से मैंने हमेशा लड़ाई लड़ी है। जीवन में उसका तिरस्कार करके ही चला हूं। पर आज ?

पत्नी सहित सबकी यही राय बनी कि मुझे दिल्ली चले जाना चाहिए। घर के लिए जरूरी जिंसें जुटाईं। बचे हुए दस-बारह रुपये पत्नी के हाथ पर रखे। दिल्ली का टिकट लिया। दो आने पैसे बचे। रात के दो बजे थे। गाड़ी पकड़ने की जल्दी में कोई काउंटर पर एक चवन्नी छोड़ गया था। दिल्ली जंक्शन पर उतरा तो इस समय मेरे पास छह आने थे। वह रिक्शेवाले ने घुमा-फिराकर दरियागंज पहुंचाने के लिए साधिकार वसूल कर लिए और मैं दिल्ली आ गया।

जैनेंद्रजी के साथ कैसी गुजरी और कैसे उनका साथ छूटा, यह कहानी नहीं, अलग से एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास का विषय है। उसकी चर्चा में आपको इस समय नहीं उलझाऊंगा। हां, इतना अवश्य स्वीकार करूंगा कि जैनेन्द्रजी का लेखन-कार्य करते-करते मैंने त्वरित लेखन की कला सीख ली। शिरोरेखा हटाकर विनोबाइ लिपि भी अपना ली। लेखन में वक्र शैली के साथ-साथ गंभीरता या उसमें दार्शनिकता का पुट कैसे दिया जाता है, इसका भी मर्म पहचाना। लेखन का मनोविज्ञान ही नहीं, जीवन का मनोविज्ञान भी उनके संसर्ग से समझ में आया। इसके लिए मुझे जैनेंद्रजी का उपकार मानना ही चाहिए।

जैनेंद्रजी का काम छोड़ तो दिया, अब क्या किया जाए ? यह प्रश्न फिर मुंह बाए खड़ा था। पत्नी और बच्चे दिल्ली आ गए थे। उनके लिए आवास की भी समस्या थी और गुजारे की भी।

दिल्ली तब हिंदी का गढ़ नहीं बनी थी। हिंदी पढ़ने-पढ़ानेवालों को तब यहां शास्त्री कहा जाता था। यह स्त्रियों की ही भाषा समझी जाती थी। वे ही हिंदी के नाम पर आरती, भजन, रामायण और चिट्ठी-पत्री लिखने के लिए हिंदी सीखा करती थीं। लड़कियों

को अच्छा घर-वर पाने के लिए रत्न, भूषण और प्रभाकर की परीक्षाएं दिलवाई जाती थीं। गली-गली में मुशायरे होते थे। पढ़े-लिखे बड़े लोगों में ही नहीं, दिल्ली के लालाओं और खत्रियों में भी शेरो-शायरी का बोलबाला था। ऋषभचरण जैन, पं. दीनानाथ दिनेश के साप्ताहिक और मासिक पत्र हिंदी में अवश्य निकलते थे, लेकिन उनमें लेखकों को पारिश्रमिक देने की व्यवस्था नहीं थी। 'वीर अर्जुन' (साप्ताहिक) और 'नवयुग' (साप्ताहिक) की सामग्री अच्छी होती थी, लेकिन लेखकों के लिए यहां से भी कुछ विशेष प्राप्त होने की गुंजाइश नहीं थी। इलाहाबाद से 'देशदूत' और कलकत्ता से साप्ताहिक और मासिक 'विश्वमित्र' भी अच्छे निकलते थे, पर लेखकों को पारिश्रमिक देने के मामले में इन पत्रों में भी दारिद्र्य का ही बोलबाला था। ऐसे समय मैंने फिर से कलम उठाने की जुर्रत की।

मेरी कविताए इटावा से ही दैनिक ''हिंदुस्तान' में छपने लगी थी। पहले मुझे यहां से प्रति कविता चार रुपये और बाद में सात रुपये तक प्राप्त होने लगे। मेरे पूछने पर बताया गया कि सात रुपये तो हम निरालाजी, सोहनलाल द्विवेदी और सुधींद्रजी आदि को भी नही देते। 'वीर अर्जुन' में आम रेट पांच रुपये का था। मुझे यहां लिखने पर कभी दस रुपये से अधिक नहीं मिले। 'नवयुग' से मुझे अधिकतम जो राशि प्राप्त हुई, वह थी पन्द्रह रुपये। यद्यपि इन सभी पत्रों में मेरी रचनाएं छपती थीं, लेकिन हर समय 'नौ लाभ और तेरह की भूख' बनी रहती थी। पेट तो पालना ही था। मकान का किराया यद्यपि केवल आठ रुपये मासिक ही था, लेकिन उसको चुकाने की भी समस्या थी ही। अखबारों के दफ्तरों में तो पैदल ही जाया करता था, लेकिन कपड़े तो साफ रखने पड़ते थे। खादी के कपड़े मैले भी तो जल्दी होते हैं।

मैंने सोचा, ऐसे काम नहीं चलेगा। उन दिनों मेरी एक कविता छपी थी–'नया रोजगार'–

मेरे घर पर मत कह देना,
मैं दिल्ली से बोल रहा हूं।
पढ़ना-लिखना छोड़,
हजामत की दुकान मैं खोल रहा हूं।
दो आने दाढ़ी के लेकर छह आने में बाल छांटता,
बड़े-बड़े अफलातूनों की मूछों के मैं बाल काटता।

मैंने केश कर्तनालय तो नहीं खोला, लेकिन एक प्राइवेट स्कूल में रात को बी. ए. और एम. ए. करनेवालों को हिंदी अवश्य पढ़ाने लगा। पाठ्यक्रमों में लगनेवाले कुछ दुरूह साहित्यिक ग्रंथों जैसे सूर्यकांत शास्त्रीजी की 'साहित्य मीमांसा' और प्रसादजी की 'कामायनी' की कुंजियां भी लिखीं। अलंकारों और छंदों के कुछ सरल चार्ट भी बनाकर बाजार में फेंके। लेकिन जैसी बात बननी चाहिए थी, बनी नहीं। तब मैंने ऑल इंडिया रेडियो (आकाशवाणी) में प्रवेश किया। उन दिनों श्यामाचरण काला और गिरिजाकुमार माथुर हिंदी वार्ता विभाग में कार्य किया करते थे। दोनों ही मेरे अच्छे मित्र थे। इन्होंने

मुझसे बलपूर्वक लिखवाना शुरू किया। मेरी आवाज भी रेडियो के अनुकूल थी। भाषा और शैली भी पसंद आ गई।

मुझे कार्यक्रम मिलने लगे। केवल कविता-पाठ और कवि-सम्मेलन ही नहीं, हल्की-भारी वार्ताएं भी। मैं जन्माष्टमी पर मथुरा, सूर्यग्रहण पर कुरुक्षेत्र और हरिद्वार से आंखों देखा हाल भी सुनाया करता था। सामयिक और राजनीतिक वार्ताओं के लिए भी मेरी बुलाहट होने लगी। काम चल पड़ा। हाथ भी खुल गया। लेकिन जब मेरे मित्र मुझे सरकारी प्रोपेगेंडा कार्यों में भी बुक करने लगे तो मुझे अपने इस कार्य पर ग्लानि हुई और जब निदेशक बुखारी के समय हिंदी साहित्य सम्मेलन के आह्वान पर मैंने रेडियो बहिष्कार का झंडा उठाया तो मैं रेडियो से 'ब्लैक लिस्ट' भी कर दिया गया। लेकिन मैंने इसकी परवाह नहीं की, क्योंकि तब तक मेरे व्यक्तित्व में शोहरत के पंख लग चुके थे। कवि-सम्मेननों मं भी जाना-आना शुरू हो गया था। सौ-दौ सौ रुपये माह तब यहां से भी मिल जाया करते थे।

कवि-सम्मेलनों में तब कवियों को पुरस्कार देने की प्रथा शुरू ही हुई थी। केवल एक प्रसंग का जिक्र करूंगा। बुलंदशहर की नुमाइश में कवि-सम्मेलन था। पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी उसके अध्यक्ष थे। उसमें 'बच्चन'जी को दो सौ रुपये पर और मुझको डेढ़ सौ रुपये पर बुलाया गया था। रात को ग्यारह बजे जब चतुर्वेदीजी ने कवि-सम्मेलन समाप्त करने की घोषणा करनी चाही, तो संयोजक ने उनसे कहा, "वाह जी, वाह ! हमने दो सौ रुपये में बच्चनजी को और डेढ़ सौ रुपये में व्यासजी को बुलाया है। हम तो रातभर इन्हें सुनेंगे। आप हमारे पैसों को बरबाद क्यों कर रहे हैं ?" इस पर भैया साहब (श्रीनारायणजी) उठ खड़े हुए और उन्होंने कहा, "आप शौक से बच्चन भाई और व्यास भाई को सुनिए, यह रहा आपका अध्यक्ष पद, हम तो चले।" तब चतुर्वेदीजी महाराज हिंदी कवि-सम्मेलनों को जमाने के लिए अपनी मंडली सहित गांठ का किराया खर्च करके जाया करते थे।

उन्हीं दिनों एक घटना घटी। दैनिक हिंदुस्तान से एक मनीऑर्डर आया। शायद अस्सी रुपये का था। कूपन में नीचे लिखा हुआ था कि यह राशि लेखक को बोनस के रूप में दी जा रही है, स्वीकार करें। लेखक भी बोनस के अधिकारी हो सकते हैं, यह पत्रकारिता के लिए परम आश्चर्य का विषय था। मैंने इसके लिए 'हिंदुस्तान टाइम्स' के प्रबंध निदेशक और संपादक श्री देवदास गांधी को धन्यवाद का पत्र लिख भेजा। तीसरे दिन उन्होंने मुझे चाय पर बुला लिया और सातवें दिन मेरी दैनिक 'हिंदुस्तान' में नियुक्ति हो गई।

जब मैं दिल्ली की अखबारी दुनिया में दाखिल हुआ, तो उस समय दैनिक पत्रकारिता में तीन भव्य मूर्तियां संपादक के महत्त्वपूर्ण पदों पर आसीन थी। पहले थे स्वामी श्रद्धानंदजी के यशस्वी पुत्र पं. इंद्र विद्यावाचस्पति, दूसरे थे दिल्ली के बड़े नेता श्री देशबंधु गुप्त और तीसरे थे, कठोर परिश्रमी और सुविज्ञ पत्रकार श्री सत्यदेव विद्यालंकार। इंद्रजी 'अर्जुन' दैनिक निकालते थे। देशबंधुजी उर्दू 'तेज' निकालते थे और सत्यदेवजी मेरे 'हिंदुस्तान' में आने से पूर्व दैनिक 'हिंदुस्तान' से तो सेवानिवृत्त हो चुके थे, लेकिन 'विश्वमित्र', 'अमर

भारत' और 'नवभारत टाइम्स' में दिन-रात खपकर अपनी आंखों के साथ-साथ अपनी जीवनीशक्ति को भी क्षीण किए जा रहे थे। इन तीनों ने मुझे बड़ा प्यार और दुलार दिया।

इंद्रजी उस समय कांग्रेस के एक बड़े नेता थे। गुरुकुल कांगड़ी के कुलाधिपति थे। संपूर्ण आर्य जगत पर और आर्य संस्थाओं पर उनका व्यापक प्रभाव था। बड़े मंजे हुए लेखक थे। उन जैसी शुद्ध, सरल और सटीक भाषा लिखनेवाला मेरी समझ में हिंदी पत्रकारिता में अभी तक पैदा नहीं हुआ। उन्होंने अनेक हिंदी पत्रकारों का निर्माण किया, जो बाद में पत्रकारिता के क्षेत्र में खूब चमके। इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, राजनीति और समाजशास्त्र आदि विविध विषयों के वह प्रकांड पंडित थे। 'अर्जुन' में उनके लिखे हुए 'वीणा की झंकार' और 'गांडीव के तीर' नामक व्यंग्य-विनोद के स्तंभ मुझे भुलाए नहीं भूलते। गुरु-गंभीर ज्ञान के अगाध सागर होने के साथ-साथ उनके मन-मानस में मोद-विनोद की निश्छल तरंगें प्रायः लहराया करती थीं। हिंदी के तो वह अडिग पक्षधर थे ही, दिल्ली में आते ही उन्होंने मुझे अपना लिया।

मेरे लेखों और कविताओं को वह बड़े चाव से पढ़ा करते थे। जब कोई बात बहुत अच्छी लगती, तो मुझे शाबाशी का पत्र लिखने में भी कंजूसी नहीं करते। उनके रसगुल्लों का स्वाद अभी तक मेरी जीभ पर है। मैं अक्सर उनके यहां जाता था और वह सदा मुझे रसगुल्ले खिलाया करते थे। ऊपर से ही देखकर उनकी दत्तक पुत्रिया अपनी मां के कान में यह सदेशा कह दिया करती थीं कि रसगुल्लेवाले कवि आ रहे हैं। एक बार मैंने 'नवयुग' में अपने दिल्ली के साहित्यिक मित्रों (जैनेंद्रजी, नगेंद्रजी, देवेंद्र सत्यार्थीजी और दीनानाथ 'दिनेश'जी) पर एक छेड़छाड़वाला लेख लिख दिया। चार मे से दो बंधु इसका बुरा मान गए। नौबत अदालत तक पहुंचने की आ गई। लेकिन इससे पूर्व मामला इंद्रजी की अदालत में पेश हो गया। इंद्रजी ने फैसला दिया कि विनोद को विनोद में ही लेना चाहिए और व्यग्य अगर चुभ गया है, तो आप भी कलम के धनी हैं, लिखकर इसका प्रतिकार कीजिए। मान-हानि के मुकदमे में सबसे अधिक किरकिरी आपकी ही होगी। इससे पूर्व यह मुकदमा, देवदास गांधी की अदालत में भी जा चुका था और वहां भी फैसला मेरे ही हक में हुआ था। लेकिन इंद्रजी की अदालत तो सुप्रीम कोर्ट थी, मैं साफ बरी हो गया। यों मुझसे पूर्व श्री विष्णुदत्त 'तरंगी' हिंदुस्तान में हास्यरस का स्तंभ लिखते थे, परंतु मुझे बाद में दैनिक 'हिंदुस्तान' में 'यत्र-तत्र-सर्वत्र' और 'नारदजी खबर लाए हैं' की प्रेरणा इद्रजी के लेखन से ही प्राप्त हुई। राजर्षि टंडनजी के संकेत पर इंद्रजी ही मुझे ब्रज साहित्य मंडल से निकालकर हिंदी साहित्य सम्मेलन में भी लाए। दिल्ली के प्रतिष्ठित घरानों स भी मेरा संपर्क उन्हीं के माध्यम से हुआ।

लाला देशबंधु गुप्त ऊपर से नीचे तक राजनीतिज्ञ थे। मेरे लेखन और काव्य से अधिक मुझे राजनीति में सक्रिय करने में उनकी अधिक दिलचस्पी थी। एक बार तो उन्होंने इसके लिए मुझे गांधीजी के सामने पेश कर दिया था। श्री रघुनंदनशरण और लाला ओंकारनाथ (भूतपूर्व संसद-सदस्य) को भी वे गवाह के रूप में गांधीजी के पास ले गए थे। लेकिन जब बापू ने मेरे कवि, लेखक और पत्रकार होने की बात जानी और

मेरा जीवन-उद्देश्य पत्रकारिता सुना, तो यही निर्णय दिया कि "सच्ची पत्रकारिता भी तो सच्ची देशसेवा है। इसीलिए मैंने देवदास को पत्रकारिता में ही रहने दिया है।" भगवान की कृपा से मैं बाल-बाल बच गया, नहीं तो आज मेरी क्या 'सुगति' होती, इसका अंदाज सहज ही लगाया जा सकता है। खरी और मसखरी के आदी लोगों का राजनीति में क्या स्थान ? कवि, लेखक और व्यंग्यकार का व्यक्तित्व तो अहम पर ही टिका रहता है। इसके विपरीत चापलूसी, दलबंदी और सत्ता की राजनीति में अपने सत्य या मिथ्या अहम को लेकर चलनेवाले कब किसके हुए है ?

सत्यदेवजी में आदमियों को पहचानने और उनसे काम लेने की बड़ी विलक्षण प्रतिभा थी। दिल्ली में आते ही उन्होंने मेरा हाथ पकड़ा। आर्य समाज दीवान हॉल में उन्होंने एक राजस्थानी कवि-सम्मेलन का आयोजन किया और उसमें मेरी हिंदी कविता पढ़वाई। दूसरे दिन सेठ जुगलकिशोर बिड़ला के पास मुझे ले गए और सौ रुपये की दक्षिणा दिलवाई। सौ रुपये उन दिनों बहुत हुआ करते थे। मैंने तो सौ रुपये का नोट जीवन में पहली बार उसी दिन देखा था। बाद में सत्यदेवजी जिस-जिस अखबार में गए, मुझसे कुछ-न-कुछ लिखाते ही रहे। 'हिंदुस्तान' में बाद मे कई संपादक आए और गए, लेकिन देश-भर में जिस प्रकार सत्यदेवजी ने सवाददाताओं का जाल बिछाया, राजस्थान, मध्यप्रदेश और उत्तर प्रदेश के सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को दैनिक 'हिंदुस्तान' के साथ संबद्ध किया और पत्र मे जो परंपराएं स्थापित कीं, आगे चलकर वही 'हिंदुस्तान' की उन्नति का प्रमुख कारण बनीं। उनके बनाए हुए कई सवाददाता आगे चलकर राजस्थान, मध्यप्रदेश और उत्तर प्रदेश के मंत्री ही नहीं, मुख्यमंत्री भी बने, तो हम लोगों का सिर गर्व से ऊंचा उठ गया। मुझे इस बात का बडा खेद है कि जहां सत्यदेवजी लेखकों, कार्यकर्त्ताओं और नेताओं के महत्त्व को एक ही नजर में पहचान जाते थे, वहां लोगों ने क्या, उनके साथियों ने भी उनके महत्त्व को ठीक से नहीं पहचाना। वह दिल्ली की हिंदी पत्रकारिता के और पत्रों के जनक थे। जीवन के उत्तरार्द्ध में दोनों आखें खोकर भी वे बोल-बोलकर लिखवाते रहे। लेख तथा पुस्तकें छपवाते रहे, यात्राओ पर यात्रा करते रहे और एक दिन राजस्थान की भरी गर्मी की लू-लपट से झुलसकर दिल्ली लौटे और बिस्तर पकड़ा तो उठ नहीं सके।

ऐसे ही महान पत्रकारों के आशीर्वाद और आशा-आकांक्षाओं की एक अदना-सी देन हूं मैं।

साहित्यिक पत्रकारिता

हिंदी में साहित्यिक पत्रकारिता की व्याख्या अभी शेष है। दैनिक और साप्ताहिक पत्रों में पहले एक संपादक हुआ करता था, बाकी सब सहायक संपादक। लेकिन आजकल पत्रों की ग्राहक संख्या और विज्ञापन की आमदनी बढ़ने तथा वेतन बोर्डों की कृपा से कार्य-विभाजन के साथ-साथ पद-विभाजन भी हो गया है। अब दैनिक पत्रों में संयुक्त संपादक, सहसंपादक, समाचार संपादक, सह समाचार संपादक, उप समाचार संपादक, मुख्य उपसंपादक, उपसंपादक, व्यापार संपादक, खेल संपादक के साथ-साथ साहित्य संपादक भी होने लगे हैं। इस साहित्य संपादक को, जो प्रायः रविवारीय संस्करणों और विशेषांकों की सामग्री का संकलन और संपादन करता है, क्या साहित्यिक पत्रकार की परिधि में स्वीकार किया जा सकता है ? जो लोग साहित्य-संगोष्ठियों, काव्य-गोष्ठियों, नाटकों या साहित्यिक अथवा कला के अन्य क्षेत्रों के प्रदर्शन, परिचर्चा या समारोहों के वृत्तांत तैयार करके अखबारों में देते हैं, उनके लेखन को क्या साहित्यिक पत्रकारिता की संज्ञा दी जा सकती है ? विशेष अवसरों पर विशेष व्यक्तियों से जो भेंटवार्ताएं ली जाती हैं और ललित साहित्य के विविध अंगों पर जो रिपोर्ट और रिपोर्ताज तैयार किए जाते हैं, क्या उन्हें साहित्यिक पत्रकारिता का अंग माना जाना चाहिए ? यही नहीं, कुछ लोग यह भी कहते हैं कि नियतकालिक पत्रों में समसामयिक विषयों पर जो लेख, कविता और कहानी आदि लिखे जाते हैं, वे भी साहित्यिक पत्रकारिता के ही अंग हैं।

विडंबना यह है कि ऊपर पत्रकारों की जिन साहित्यिक विधाओं का मैंने जिक्र किया है, उन्हें साहित्य के स्वीकृत समालोचक मान्यता देने को तैयार नहीं हैं और जो लोग अपने-आपको साहित्यिक पत्रकारिता का अलमबरदार कहते हैं, उनका मानना यह है कि आज के समालोचकों का दायरा और दृष्टि बहुत संकुचित है। कविता, कहानी, नाटक और उपन्यास के अतिरिक्त ललित निबंधों तक ही उनका लेखन सीमित है। बाल साहित्य, क्रीड़ा साहित्य, यात्रा वृत्तांत, जीवनी साहित्य, पर्यटन साहित्य आदि ऐसी बहुत-

सी विधाएं हैं, जिनका हिंदी समीक्षा में या तो उल्लेख ही नहीं होता, अथवा होता भी है तो केवल नाम परिगणन और छुट्टी। यदि माखनलाल चतुर्वेदी अथवा बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' जैसे साहित्यकारों की कृतियां अलग से पुस्तकाकार न होतीं, तो हिंदी साहित्य के इतिहास में शायद इनका उल्लेख होने से भी रह जाता।

प्रश्न उठता है कि साहित्यिक पत्रकारिता की कसौटी क्या है–भाषा, शैली या कथ्य की विशेष विधा ? कविता का प्रमुख गुण अन्य कलाओं की तुलना में प्रभावोत्पादकता माना जाता है। लेकिन हिंदी में ऐसे साहित्यिक पत्रकार हुए हैं और आज भी हैं, जिनके लेखन की प्रभावोत्पादकता कविता से किसी मायने में कम नहीं। अगर पक्षपात न समझा जाए तो धर्मवीर भारती ने मॉरीशस या चीन की यात्रा के बाद जो संस्मरण लिखे हैं, राजेंद्र अवस्थी, कमलेश्वर और क्षितीश वेदालंकार आदि ने जो यात्रा वृत्तांत प्रस्तुत किए हैं, क्या वे उत्तम कोटि की साहित्यिक पत्रकारिता के नमूने नहीं हैं ? इस कड़ी में आप चाहें तो 'अरबों के देश में' नामक मेरी पुस्तक को भी जोड़ सकते हैं। ऐसे अनेक नामों को मैं स्थानाभाव के कारण छोड रहा हूं। मेरे लिखने का तात्पर्य इतना ही है कि हिंदी के अनेक साहित्यजीवियों ने साहित्यिक पत्रकारिता को बहुविध पुष्ट किया है, लेकिन उनका मूल्यांकन तो दूर, अभी तक एक जगह उनका लेखा-जोखा भी उपलब्ध नहीं है। कारण यह है कि साहित्यिक पत्रकारिता अभी तक विवाद का विषय बनी हुई है। इसका एक ही उदाहरण देना पर्याप्त होगा। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के साहित्यिक आंदोलनों की चर्चा तो साहित्य के इतिहासों में यत्र-तत्र मिल जाती है, लेकिन पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी, जिनके साहित्य आंदोलनों ने पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' और 'निराला'जी से लेकर महात्मा गांधी तक को उद्वेलित कर दिया, की चर्चा हिंदी साहित्य के कदाचित् किसी इतिहास में नहीं मिलती।

मैं साहित्य से पत्रकारिता में आया। पत्रकारिता में प्रवेश का मेरा प्रमुख माध्यम साहित्यिक लेखन, विशेषकर व्यंग्य-विनोद रहा है। कविता द्वारा प्राप्त लोकप्रियता ने मेरे पत्रकारिता-प्रवेश के द्वार खोल दिए। प्राचीन साहित्य के ज्ञान और ब्रजभाषा के कवियों में मेरा नाम होने के कारण 'साहित्य संदेश' में और हिंदी साहित्य में पैठ तथा व्यंग्य-विनोद की कविताओं के कारण दैनिक 'हिंदुस्तान' में मेरा आसानी से प्रवेश हो गया। अपनी साहित्यिक पत्रकारिता के प्रयोगों पर आपसे कुछ निवेदन करूं, इससे पूर्व 'हिंदुस्तान' में अपनी स्थिति और परिस्थिति का संक्षेप में कुछ विवरण देना चाहूंगा।

जब मैं 'हिंदुस्तान' के संपादकीय विभाग में सम्मिलित हुआ, तो मैंने श्री देवदास गांधी से यह आश्वासन प्राप्त कर लिया था कि मैं अन्य पत्र-पत्रिकाओं तथा रेडियो आदि के लिए लिखता रहूंगा। 'हिंदुस्तान' में जो कुछ छपेगा उसे पुस्तकाकार करा सकूंगा, क्योंकि मेरी रुचि अनुवादमूलक पत्रकारिता में नहीं थी। देवदासजी मेरे साहित्यिक लेखन से कुछ तो परिचित थे और बाकी इस संबंध का ज्ञान सस्ता साहित्य मंडल के मंत्री भाई मार्तण्डजी उन्हें करा चुके थे। देवदासजी ने मुझे पत्र में साहित्यिक कार्यों के लिए ही नियुक्त किया था, लेकिन तत्कालीन संपादक श्री मुकुटबिहारी वर्मा को उस समय अपने संपादकीय और

उससे इतर दफ्तरी कार्यों के लिए एक सहायक की बहुत आवश्यकता थी। उन्होंने प्रारंभ में मुझसे यही काम लेने शुरू कर दिए।

मुकुटजी की एक विशेषता थी। अगर संपादकीय लिखनेवाले या डाक समाचार का काम करनेवाले साथी ड्यूटी पर नहीं आए तो वह संपादकीय तो लिखते ही थे, डाक समाचार का काम भी करने लगते थे। प्रूफ देखना तो उन्हें शुरू से ही प्रिय था। संपादक को इस तरह काम करते हुए देखकर मैंने भी किसी कार्य को कभी छोटा नहीं समझा। क्योंकि प्रारंभ से ही मेरी मान्यता रही है कि कोई काम कभी छोटा या बड़ा नहीं होता, करनेवाला ही उसे छोटा या बड़ा बना देता है।

संपादक के निजी सहायक के रूप में यह कार्य मैं कर तो रहा था, लेकिन इन कार्यों के लिए 'हिंदुस्तान' में नहीं आया हूं, इसका भी मुझे प्रतिक्षण अहसास होता रहता था। एक दिन गैलरी में आते-जाते देवदासजी से भेंट हो गई। उन्होंने पूछा, "आजकल क्या कर रहे हो ?" मैंने लक्षणा मे उत्तर दिया-'क्लर्की'। उन्होंने मुझसे तो कुछ नहीं कहा, पर गंभीर अवश्य हो गए। बाद में क्या हुआ और कैसे, नहीं मालूम, लेकिन मुझे क्लर्की के साथ-साथ चित्रों और कार्टूनों के कैप्शन यानी परिचय लिखने का काम भी सौंप दिया गया। मैंने यहीं से अपनी करामात दिखानी शुरू की। उस समय शंकर के कार्टून प्रतिदिन 'हिंदुस्तान टाइम्स' के साथ-साथ दैनिक 'हिंदुस्तान' में भी मुखपृष्ठ पर छपा करते थे। चित्रों में तो नहीं, मैंने कार्टूनों में कविता का प्रयोग करना प्रारंभ कर दिया। कार्टून उस समय राजनीतिक हुआ करते थे। वे प्रायः अंग्रेजी भाषा में सोच-विचार कर बनाए जाते थे। अंग्रेजी भाषा के मुहावरे और उनके 'पन' को न समझने के कारण हिंदी के पाठक इन कार्टूनों का आनंद पूरी तरह नहीं ले पाते थे। मैने तब अपने साहित्यिक ज्ञान का सहारा लिया। मैं कार्टूनों के अंग्रेजी संदर्भ को हटाकर एक तरफ रख दिया करता था और भारतीय सदर्भ में अपनी और परायी कविताओं के साथ उनके व्यंग्य को ऐसे उभार दिया करता था कि पाठकों को मजा आ जाता था। पहले तो कार्टूनिस्ट शंकर ने इस पर ध्यान नहीं दिया, परंतु जब 'हिंदुस्तान टाइम्स' के हिंदी जाननेवाले संपादकों ने उनको बताना और समझाना शुरू किया, तो वह भी रस लेने लगे और बाद में तो वह मेरे अच्छे मित्र भी बन गए। मेरे इन सभी कार्टूनो का संग्रह हैदराबाद के श्री वेंकटलाल ओझा ने एकत्र करके अपने पत्रकारिता संग्रहालय में रख छोड़ा है। मुझे मालूम नहीं कि कार्टूनों के कैप्शन के रूप में पहले भी किसी ने ऐसे पद्यात्मक प्रयोग प्रतिदिन किए हैं। क्या कार्टून कला की ऐसी पद्यात्मक अभिव्यक्ति को साहित्यिक पत्रकारिता कहा जा सकता है ?

जब मेरी यह कार्टूनबाजी लोकप्रिय हो गई और हिंदी-अंग्रेजी अखबारों के दफ्तरों में यह चर्चा का विषय बन गई तो मुकुटजी ने मुझे रविवारीय संस्करण का भी काम सौंप दिया और मेरे पास साहित्य-संपादक के नाम से पत्र आने लगे। उन दिनों अखबारों को विज्ञापन भी कम मिलते थे और डाक के समाचार कम से कम पूरे दो पृष्ठों पर तो आ ही जाया करते थे। लगभग बारह कॉलम डाक का मैटर प्रतिदिन तैयार करना और उनके प्रूफ भी देखना, डाक संपादक का ही दायित्व होता था। मैंने ऐसा बहुत

दिनों तक किया। जब राजस्थान के भूतपूर्व कांग्रेस अध्यक्ष और दैनिक हिंदुस्तान के वरिष्ठ सहायक संपादक श्री शंकरलालजी वर्मा, जो मुकुटजी के मामा होने के कारण हम सबके भी 'मामाजी' थे, जेल से छूटकर आ गए तो मेरा डाक समाचार का भार काफी हल्का हो गया।

■

युग बदल गया। दुनिया बदल गई। लेखन और पत्रकारिता के मानदंड बदल गए। लेकिन व्यासजी अभी तक साहित्य, समाज और राजनीति के शाश्वत मूल्यों पर कायम हैं। महात्मा गांधी और राजर्षि टंडनजी ने उनके जीवन और कर्म को प्रभावित किया है। माखनलाल चतुर्वेदी और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का उन पर साया रहा है। इसीलिए व्यासजी स्वदेश, स्वदेशी और स्वाभिमान का व्रत धारण किए हुए हैं। आज की कांग्रेस गांधी की कांग्रेस नहीं रही, लेकिन व्यासजी पुराने कांग्रेसी सिद्धांतों पर डटे हुए हैं। खादी का बाना एक बार पहना तो उसे ओढ़े चले जा रहे हैं। स्वतंत्रता-संग्राम में योगदान दिया तो जब-जब स्वतंत्रता पर आंच आने को होती है, तब-तब उनकी लेखनी आग उगलने लगती है और वह प्रायः गुनगुनाया करते हैं—"सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है।" उनका साहचर्य और उनकी मित्रता पाकर मैं अपने को धन्य अनुभव करता हूं।

—शोभालाल गुप्त

आ गया ज्वार वह जीवन में

कृपया ठहरिए ! मै जाने कहां से कहां बह गया। हां, तो बात साहित्यिक पत्रकारिता की कर रहा था। जब कोई साहित्यकार कहीं सम्मानित होता, या विशिष्ट अतिथि बन कर राजधानी में आता, या स्वर्ग का 'सतिथि' मेहमान बन जाता, तो उस पर लिखने या श्रद्धा अथवा श्राद्ध संबंधी कार्य मुझे ही सौंपा जाता। हिंदी साहित्य सम्मेलनों के अधिवेशनों की रिपोर्टिंग तो मेरे जिम्मे थी ही। यों मैंने कांग्रेस के ऐतिहासिक मेरठ अधिवेशन की भी विशेष रिपोर्ट 'हिंदुस्तान' के लिए लिखी है। शुरू-शुरू में महात्मा गांधी की प्रार्थना सभाओं के प्रवचनों की शब्दशः रिपोर्टिंग भी की है। देवदासजी की प्रेरणा पर नान्हालाल, दलपत राम और झवेरचंद मेंघाणी जैसे अनेक हिंदीतर साहित्यकारों के व्यक्तित्व और कृतित्व पर भी लिखा है। खबरों के अनुवाद तो दैनिक पत्रों में काम करनेवाले सभी पत्रकारों को करने पड़ते हैं, मैंने भी किए। लेकिन उसके साथ-साथ मैंने 'छवि रंजन' के नाम से प्रति सप्ताह हर नई फिल्म की अच्छी-बुरी आलोचना भी की है। खिलावन सिंह के नाम से खेल समाचार भी दिए हैं और महीनों तक व्यापार पृष्ठ में भावों के आंकड़े भी भरे है। मैंने एक प्रिय कार्य जो 'हिन्दुस्तान' में रहते किया है, वह है 'व्यक्ति, साहित्य और समस्याएं' नामक साप्ताहिक स्तंभ का लेखन, संचालन और संपादन। इसमें प्राचीन से प्राचीन और नए से नए ज्ञात एवं अज्ञात साहित्यकारों के व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डाला जाता था। इसमें मैं भी लिखता था और दूसरे प्रामाणिक लेखकों से भी लिखवाया करता था। यह स्तंभ काफी दिन चला। श्री ब्रह्मदत्त शर्मा नामक एक पुराने हिंदी-प्रेमी और विद्वान पंडित ने इस लेखमाला में सर्वाधिक योगदान दिया था। इस स्तंभ की सभी कतरनों को वह बहुत संभाल कर रखते थे। यह सामग्री इतिहास लेखन के बड़े काम की थी, लेकिन उनकी मृत्यु के बाद जब मैंने उनके उत्तराधिकारियों से पूछा तो उस सामग्री का कहीं पता नहीं चला। क्या इस प्रकार के लेखन को साहित्यिक पत्रकारिता की कोटि में गिना जा सकता है ?

अपने पत्रकार जीवन के प्रारंभ में मुझसे ऐसा उल्लेखनीय तथा जन-मन उद्वेलनीय कार्य एक और संभव हो गया। उसकी चर्चा किए बिना मेरी पत्रकारिता का प्रसंग अधूरा ही नहीं, एक प्रकार से निस्सार रह जाएगा। बात तब की है, जब स्वतंत्रता से पूर्व दिल्ली के लाल किले में आजाद हिंद फौज के सैनिकों पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया जा रहा था। स्वयं भूलाभाई देसाई और आसफ अली जैसे बैरिस्टर स्वतंत्रता संग्राम के इन सैनिकों की पैरवी कर रहे थे। पं. जवाहरलाल नेहरू भी काला चोगा पहनकर वकीलों की पंक्ति में बैठा करते थे। जनरल शाहनवाज, कप्तान सहगल और ढिल्लों इस मुकदमे के मुख्य अभियुक्त थे। देशभर में इस मुकदमे को लेकर सनसनी फैली हुई थी। राष्ट्रीयता में ज्वार आ रहा था। तब मैंने दैनिक 'हिन्दुस्तान' के पृष्ठों में प्रतिदिन समाचारों के बीचोंबीच वीररस से ओतप्रोत लंबी-लंबी राष्ट्रीय कविताएं लिखना प्रारंभ किया। उन दिनों आजाद हिंद फौज का गठन जिन परिस्थितियों में हुआ, उनका संपूर्ण वर्णन करते हुए मैंने लिखा था–

कलकत्ते के फुटपाथों पर,
भूखी गगा घहराती थी।
बच्ची माता के हाथों से,
टुकड़ों पर बेची जाती थी।
आ गया ज्वार वह जीवन में,
मर मिटने के अरमान उठे।
कुछ करने की लालसा उठी,
सोए आहत अपमान उठे।

इस काव्य को साहित्यिक पत्रकारिता का नमूना बताने की धृष्टता मैं इसलिए कर रहा हूं कि इसका कथानक कल्पना पर नहीं, यथार्थ पर आधारित है। फौज के सैनिकों पर लाल किले में मुकदमा चलाया जाना मेरे जीवन और जाग्रत रहने पर घटा है।

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस से मेरा व्यक्तिगत परिचय भी था। उन्होंने मुझे अपने साथ रखने और चलने को भी कहा था। जिन भाई उत्तमचंद के साथ वह पठानी वेश में पेशावर के रास्ते काबुल गए थे, वह भी मेरे परिचय की परिधि में थे और आजाद हिंद फौज के सूचना अधिकारी भाई रामसिंह रावल से तो बाद में घनिष्ठता भी हो गई थी। पुस्तकाकार होने से पूर्व इस काव्य को मैंने जनरल शाहनवाज, कैप्टन सहगल और कप्तान लक्ष्मी को भी दिखाया-सुनाया था। सहगलजी ने तो इस पुस्तिका की भूमिका ही लिखी थी। बर्मा के मोर्चे से आजाद हिन्द फौज के समाचार हिंदी और विशेषकर बंगला पत्रों में उन दिनों छपते थे और मैं उन्हीं को आधार बनाकर 'हिन्दुस्तान' में काव्य रचना किया करता था। जब नेताजी ने आजाद हिंद फौज के सैनिकों की भर्ती का पहला शिविर लगाया, तो उस रोमांचक राष्ट्रोन्मादी दृश्य को मैंने इस प्रकार चित्रित किया–

वह खून कहो, किस मतलब का,
जिसमें उबाल का नाम नहीं

वह खून कहो किस मतलब का,
आ सके देश के काम नहीं
उस दिन तारों ने देखा था,
हिंदुस्तानी विश्वास नया
जब लिक्खा था रणवीरों ने,
खूं से अपना इतिहास नया।

इस कविता के प्रकाशन पर दिल्ली के तत्कालीन अंग्रेज शासक बौखला उठे, पहले तो दिल्ली के अंग्रेज कमिश्नर ली पैली ने 'हिंदुस्तान' के निदेशक श्री देवदास गांधी को इस काव्य-श्रृंखला को बंद करने की सलाह दी और जब उसका कोई असर नहीं हुआ, तो उसने धमकीभरा एक लिखित नोटिस भी दे डाला। इस पर देवदासजी ने मुझे बुलाया और कहा कि "मैं यह तो नहीं कहता कि कविताएं लिखना बंद कर दो, लेकिन मैं यह अवश्य चाहता हूं कि इनका स्वर मद्धम अवश्य कर दिया जाए।"

पाठकों के निरंतर प्रोत्साहन और मित्रों की वाहवाही के कारण उस समय मेरे हौसले बुलंद थे। 'महात्मा गांधी' के पुत्र से मैं ऐसी आशा नहीं कर सकता था, यह कहकर मैं उनके कमरे से चला आया। शाम को उन्होंने चाय के समय मुझे फिर बुलाया। उस समय बिरला प्रकाशन समूहों के सलाहकार और हिंदी के सुधी लेखक बाबू पारसनाथ सिंह भी वहां उपस्थित थे। बात लंबी हुई, पर संक्षेप यही है कि देवदासजी ने कहा–"जो होगा देखा जाएगा, आप लिखते जाइए।" तब मैंने और भी जम कर लिखा। ये कविताएं आग की तरह सारे उत्तर भारत में फैल गईं। देशरत्न बाबू सुभाषचन्द्र बोस की वृद्धा मां ने मेरे मुंह से 'नेताजी का तुलादान' नामक कविता को सुना और फफक-फफक कर रो उठीं। 'धन और जन की आमद,' 'नेताजी का तुलादान', 'दिल्ली की ओर कूच', 'मुकदमा और मुक्ति' आदि के कई अंश, मैंने देखा कि लोगों को कंठाग्र हो गए थे। उस समय कलकत्ते में कई जगह इन्हीं कविताओं के लिए विशेष कवि-सम्मेलन भी आयोजित किए गए। 'दिनकर'जी इन सम्मेलनों के प्रायः सभापति हुआ करते थे। एक बार तो उन्होंने रोते-रोते मंच पर ही मुझे छाती से लगा लिया।

मैं स्वयं इस बात से बहुत दुखी हूं कि मेरे हास्यरस ने इस राष्ट्रीयरस को पीछे धकेलकर निश्चय ही मेरा चरित्रहनन किया है। केवल एक प्रसंग का उल्लेख और करूंगा। नेताजी ने दिल्ली की ओर कूच करने से पहले भारतीय सैनिकों का आह्वान करते हुए भारतमाता की पुकार पर जो ऐतिहासिक भाषण दिया था, उसको शब्दशः पद्य में मैंने इस प्रकार उतारा था–

तुम देखो, दूर क्षितिज के तट
उस पार हमारी दुनिया है,
उस पार हमारे जंगल हैं,
उस पार हमारी नदियां हैं।
इन धूमिल बड़े पहाड़ों के

उस पार हमारी माता है,
यह वायु हमारे खेतों की
मिट्टी को छूता आता है।

लेकिन नेताजी की फौज के लिए दिल्ली दूर ही रह गई। उक्त फौज के लिए ही नहीं, आजाद हिन्द फौज पर लिखे मेरे इस काव्य ग्रंथ के प्रकाशन के लिए भी दिल्ली दूर हो गई। दिल्ली के अंग्रेज शासकों ने इसे दिल्ली से छपने ही न दिया। मेरे पीछे गुप्तचर ही नहीं, गुंडे भी लगाए गए। प्रेस और प्रकाशकों को भी सावधान कर दिया गया। तब इसे छापने के लिए तैयार हुए लाहौर के हिंदी भवन के श्री देवचंद्र नारंग। परंतु उन्होंने भी अपने प्रेस में छपाने का खतरा मोल नहीं लिया। 'कदम कदम बढ़ाए जा' के नाम से यह वीररसपूर्ण खंडकाव्य देहरादून के एक छोटे से प्रेस में चुपके-चुपके छापा गया और लाहौर से छिपाकर दिल्ली लाया गया, जहां कुछ दिन के अंदर ही इसका पहला संस्करण समाप्त हो गया। इस प्रसंग पर मैंने कविता-यात्रा नामक अध्याय में एक लेख विस्तार से लिखा है।

क्या ऐसी समसामयिक, समाज और राष्ट्र की गतिविधियों का प्रतिनिधित्व करनेवाली साहित्यिक रचनाओं और नियतकालिक पत्रों में छपनेवाली अन्य कृतियों को साहित्यिक पत्रकारिता में रेखांकित किया जा सकता है ?

■

अगर व्यासजी दिल्ली नहीं आते और हिन्दी का काम हाथ मे नहीं लेते तो दिल्ली उर्दू और अंग्रेजी का गढ़ बनी रहती। व्यासजी ने मेरे साथ राजधानी के मुहल्ले-मुहल्लों में, बस्तियों-बस्तियों में, यहां तक कि बहुत-से प्रभावशाली घरों में हिन्दी की ज्योति जगाई है। वह हमारे दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन के निर्विवाद नेता रहे है। हम कांग्रेसजनो ने कई बार उनसे पार्टी का काम करने तथा पार्टी टिकट पर चुनाव लड़ने का प्रयत्न किया, लेकिन उन्होंने हमेशा उनसे कहा गया गांधीजी का मंत्र दोहरा दिया कि "हिन्दी-सेवा और पत्रकारिता देश की सच्ची सेवा है।"

–डॉ. युद्धवीर सिंह

मैं और मेरा 'हिन्दुस्तान'

उन दिनों दिल्ली का दैनिक 'हिन्दुस्तान' हिन्दी का बहुप्रचारित एवं प्रतिष्ठाप्राप्त राष्ट्रीय पत्र था। एक समय था जब दिल्ली में इन्द्रजी के दैनिक 'अर्जुन' का दबदबा था और 'हिंदुस्तान' की हालत खस्ता थी। कर्मचारियों को वेतन भी समय पर नहीं मिलता था। इसलिए न साधन थे और न कुशल पत्रकार ही अधिक संख्या में संपादकीय विभाग को सुलभ थे। लेकिन जब महामना मालवीयजी की प्रेरणा से श्री घनश्यामदास बिड़ला ने इसका दायित्व संभाला और महात्मा गांधी के छोटे पुत्र श्री देवदास गांधी हिन्दुस्तान टाइम्स कंपनी, जो हिन्दी का 'हिन्दुस्तान' भी प्रकाशित करती थी, के प्रबंध निदेशक बने तो अखबार की कायापलट हो गई। हिन्दुस्तान टाइम्स का दफ्तर नया बाजार से कनाट प्लेस में आ गया। हिंदुस्तान के लिए भी मोनो टाइप मशीन की व्यवस्था हो गई। अखबार रोटरी पर छपने लगा। विज्ञापन मिलने लगे। दिन-दिन प्रसार-संख्या बढ़ने लगी।

बाबू घनश्यामदास बिड़ला महात्मा गांधी के निकट सहयोगी थे। प्रारंभ में क्रांतिकारी लोगों से जुड़े थे, लेकिन बाद में गांधीजी के कारण और स्वतंत्रता की लड़ाई में कांग्रेस की महत्त्वपूर्ण भूमिका के कारण वह कांग्रेस-समर्थक बन गए और उसकी सहायता करने लगे। इसके कारण और श्री देवदास गांधी की रीति-नीति और संचालन के कारण हिन्दुस्तान अघोषित रूप से कांग्रेस का मुखपत्र जैसा बन गया। राष्ट्रभक्त स्वतंत्रता-सेनानियों को, जो पत्रकार-कला में भी दखल रखते थे, चुन-चुनकर हिन्दुस्तान के संपादकीय विभाग में नियुक्त किया जाने लगा। जब मैं दैनिक हिन्दुस्तान में आया, उस समय संपादकीय विभाग में आठ पत्रकार काम करते थे। मेरे आने पर यह संख्या नौ हो गई। आठ में से चार ऐसे थे जो कई बार जेल जा चुके थे। आठों के आठों मिशनरी भावना से काम करते थे। इन्हें न वेतनवृद्धि की चिंता थी और न ये समय की पाबंदी के शिकार थे। समय पूरा करना और वेतन प्राप्त करना इनका उद्देश्य नहीं था। देश स्वतंत्र हो और हिन्दी की प्रतिष्ठा बढ़े, यही सबका लक्ष्य था। दस-बारह घंटे काम करना तो मामूली

बात थी। कभी-कभी तो यह सवेरे-सवेरे आते और रात को काम करते-करते जिन मेजों पर लिखते थे, उन्हीं पर लुढ़क जाते। अखबारों की फाइलें तकिये बन जाती थीं। यह सब आनंद मैंने भी वर्षों लिये हैं। कभी अपनी वेतनवृद्धि के लिए देवदासजी से नहीं कहा। कभी किसी प्रकार की सुविधा उनसे नहीं चाही। कार्यालय पैदल आता-जाता। सिगरेट और चाय की लत तब सबके साथ मुझको भी नहीं थी। किसी के घर से दोपहर या शाम का खाना आता तो उसे सब मिल-बांटकर खा लिया करते थे। बड़ा भाईचारा था आपस में।

प्रारंभ में मेरी नियुक्ति साठ रुपये मासिक पर हुई। तीस रुपये महंगाई के मिल जाते थे। मुझे देवदासजी ने बाहर लिखने-पढ़ने तथा रेडियो में वार्ता प्रसारित करने की छूट दे रखी थी। तब पुस्तक छपने पर भी थोड़े-बहुत पैसे मिल जाया करते थे। मेरा काम बखूबी चल जाता था। सबसे बडी बात यह थी कि श्री देवदास गांधी जहां अंग्रेजी के वरिष्ठ से वरिष्ठ संपादकों को बुलाते तो उन्हें कुर्सी पर बैठने को भी नहीं कहा करते थे, लेकिन खादीमय और गांधीमय हिन्दी के पत्रकारों को वह उनके नाम में जी जोड़कर अपने सामने या बगलवाली कुर्सी पर बैठाते थे। उनकी समझते थे और अपनी समझाते थे। मेरी कविता और लेखन के कारण मुझसे तो वह अधिक ही स्नेह किया करते थे। उनका स्नेह कार्यालय में विशेष रूप में प्रकट तब होता था, जब वह किसी को चाय पिलाते तथा अपनी मेज से दो बिस्कुट निकालकर उसकी तश्तरी में रख देते थे। मैं इस सम्मान का पात्र तो बना ही, उनकी पत्नी श्रीमती लक्ष्मीदेवी और पुत्रों का भी स्नेहभाजन बन गया। हिन्दी-अंग्रेजी के संपादकों में मैं ही अकेला ऐसा था, जिसे लक्ष्मी बहन अपने हाथों से काटकर फल खिलाया करती थीं और उनकी रसोई में जब कोई विशेष चीज बनती तो मुझे बुला लिया करती थीं। देवदासजी हिन्दुस्तान टाइम्स के ऊपरवाले फ्लैट में ही रहा करते थे। बडे से बड़ा व्यक्ति बिना फोन किए या चौकीदार से पुछवाए बिना नहीं जा पाता था। लेकिन मैं तो उनके परिवार का अंग बन गया था और समय-असमय बेरोक टोक पहुच जाता था। मेरे लिए कोई बाधा नहीं थी।

देवदासजी अपने ससुर चक्रवर्ती श्री राजगोपालाचार्य की सिफारिश पर हिन्दुस्तान टाइम्स में आए थे। प्रारंभिक दिनों में वह हरिजन कालोनी में रहे। काम सीखने के लिए पहले उन्हें विज्ञापन विभाग में लगाया गया। फिर प्रसार विभाग का काम भी उन्हें देखने को कहा गया। वह हिन्दी और अंग्रेजी के अच्छे ज्ञाता थे। उनमें जहां गांधीजी के अनेक सदगुण थे, वहां वह हिन्दुस्तान टाइम्स के कर्मचारियों को वांछित तरक्की देने में संकोची थे। अगर वह पैसा-पैसा न पकड़ते तो आज कस्तूरबा गांधी मार्ग पर हिन्दुस्तान टाइम्स की बहुमंजिली इमारत न खड़ी होती। कम से कम वेतन और अधिक से अधिक काम, लेकिन आदेश से नहीं, प्रेम से। वह स्वयं बड़े कर्मठ थे। रात को ढाई-ढाई बजे तक अंग्रेजी के संपादकीय विभाग में बैठकर खबरों की छंटनी किया करते थे। हिन्दी के संपादकों को भी अंग्रेजी के संपादकों के साथ एक ही कमरे में रात को बिठाया करते थे। अंग्रेजी की खबरों की 'नैरो' उठवाकर हिन्दीवालों को दिया करते थे और लेने योग्य खबरों पर निशान लगा दिया करते थे। हम सबको यह कह रखा था कि देर रात अगर

कोई महत्त्वपूर्ण खबर आ जाए तो उन्हें जगाने में संकोच न किया जाए। ऐसे अवसरों पर वह धोती-बनियान पहने, जाड़े हुए तो चाादर ओढ़े, तत्काल चले आते थे। यूं वह अक्सर स्वयं संपादकीय नहीं लिखते थे, लेकिन जब भी लिखते तो अनकी अंग्रेजी और उनके विचारों को पढ़कर बड़े-से-बड़े अंग्रेजी के संपादक दांतों तले अंगुली दबा जाते थे।

यही हाल उनका हिन्दी के सबंध में भी था। बगल में चटाई और हाथ में लालटेन देकर गांधीजी ने उन्हें पहले पहल दक्षिण भारत में हिन्दी का प्रचारक बनाकर भेजा था। उन्होंने अहिन्दीभाषियों को हिन्दी तो पढ़ाई ही, स्वयं भी हिन्दी का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उनका आग्रह था कि जब अंग्रेजी लिखें तो शुद्ध अंग्रेजी लिखें तथा जब हिन्दी लिखें तो शुद्ध हिन्दी लिखें। ब्रज का होने के कारण मै ब और व में फर्क करना भूल जाता था। उर्दू शब्दों का प्रयोग करता तो उनमें भी गलती हो जाती थी। देवदासजी मुझे बुलाते और कहते—"बीबी' पत्नी नहीं, बहन होती है। पत्नी के लिए प्रयोग करना हो तो 'बीवी' लिखा करो।" यही बात उर्दू शब्दों तथा मुहावरों के संबंध में भी थी। मुझे तो देवदासजी ने ही तरह-तरह के कार्यों में लगाकर हिन्दी-पत्रकारिता के लायक बनाया है। कभी मुझे खेलो की रिपोर्टिंग का काम देते तो कभी व्यापार डेस्क पर बैटने को कहते। सिने पत्रकारिता के लिए भी उन्होंने मुझे प्रशिक्षित किया था। मुझे देशी-विदेशी भाषाओं के महान व्यक्तित्वों पर लेख लिखने के लिए सामग्री देते, अपनी जानकारी नोट करवाते और लेख लिखवाया करते थे। लेख अच्छा बन जाने पर हौसला भी बढ़ाया करते थे। उन्होंने ही मुझे गांधीजी के प्रार्थना-प्रवचनों की शब्दशः रिपोर्टिंग का काम पहले पहल दिया था। एक बार उन्होंने मुझसे मेरठ के कांग्रेस अधिवेशन की रिपोर्टिंग भी कराई थी। सपादक श्री मुकुटबिहारी वर्मा मुझे साहित्य-समारोहों और अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशनों की रिपार्टिंग व संस्मरणों के लिए भेजा करते थे।

मैं अक्सर रविवासरीय संस्करणों, विशेषांकों और संपादकीय पृष्ठों पर छपनेवाले लेखों का संपादन करता था। इसलिए रात की ड्यूटी से बचा रहता था। कई वर्षों तक यह सिलसिला चलता रहा। लेकिन जब हिन्दुस्तान मे कुछ अनमिल पेशेवर पत्रकार आ गए और मेरी विशेष स्थिति के प्रति ईर्ष्या करने लग गए तो मेरी शिकायत देवदासजी तक पहुंचने लगी। उन्होंने कहना शुरू किया कि जब सब संपादकों को नाइट ड्यूटी करना अनिवार्य है तो व्यास को क्यों नहीं ? जब इस शिकायत पर ध्यान नहीं दिया गया तो एक न्यूज एडीटर ने देवदासजी से कह दिया कि व्यास को अंग्रेजी नहीं आती और उसे तरक्की पर तरक्की दी जा रही है ? देवदासजी ने शिकायतकर्त्ता से तो कुछ नहीं कहा, लेकिन दूसरे दिन मुझे बुलाकर महात्मा गांधी के छोटे-छोटे दो अंग्रेजी के पत्र दिए और कहा कि इनका अनुवाद मुझे चाहिए। मैंने पत्र देखे। बापू सरल अंग्रेजी लिखा करते थे। मैंने उनका अनुवाद कर दिया। कहीं कोई गलती न रह जाए, इसलिए अपने साथी मित्र शिवकुमार विद्यालकार से जंचवा भी लिया। उन्होंने एक शब्द बदला। मैं एक घंटे के भीतर फेयर करके दोनों पत्रों का अनुवाद देवदासजी को दे आया। देवदासजी ने बिना कुछ कहे उन्हें रख लिया। दूसरे दिन उन्ही न्यूज एडीटर को बुलाया और उन्हें

भी वही दोनों पत्र अनुवाद करने के लिए दिए। न्यूज एडीटर अंग्रेजी के अच्छे ज्ञाता माने जाते थे। वह अपने घर पर बच्चों को अंग्रेजी पढ़ाया भी करते थे। लेकिन पत्रों को पाकर वह घबरा गए। लिखते और काटते और बदलते उन्हें दो दिन लग गए। देवदासजी ने उनका अनुवाद भी लेकर रख लिया। फिर दूसरे दिन उन्हें बुलाकर उनसे कहा कि इस शब्द की जगह अगर यह शब्द रहे तो कैसा रहेगा ? न्यूज एडीटर महोदय में न कहने की हिम्मत नहीं थी। बोले–यही शब्द ठीक है। दूसरे-तीसरे शब्दों के बारे में भी उनका रवैया यही रहा। तब देवदासजी ने उनके सामने मेरे अनुवाद रख दिए और बोले–देखिए, ये अनुवाद कैसे हैं ? अंग्रेजी विशेषज्ञ को कहना पड़ा–जी, ठीक हैं। तब देवदासजी ने उन्हें बताया कि ये अनुवाद व्यास के हैं। बेचारे को पसीना आ गया और मुंह लटकाकर लौट आए। इस घटना से वह मेरे और भी विरोधी हो गए। जब मेरे लिए दफ्तर में फोन आते तो अक्सर वह उन्हें काट दिया करते और यह पूछने पर कि कहां मिलेंगे, कह दिया करते कि थाने में।

एक बार आचार्य किशोरीदास वाजपेयी मुझे पूछते हुए दफ्तर में आए। न्यूज एडीटर ने उनसे भी ऐसा ही कुछ अंटशंट कह दिया। कभी-कभी वाजपेयीजी दुर्वासा भी हो जाते थे। उन्होंने कहा–थू ! और थूक दिया। यह कहकर जाने लगे कि "अब कभी 'हिन्दुस्तान' में नहीं आऊंगा।" तो मैं दौड़कर उनके पास गया। संपादक के कमरे में ससम्मान बैठाया। मुकुटजी ने भी खेद प्रकट किया। वाजपेयी पिघल गए और चाय के साथ प्रेमपूर्वक वार्तालाप होने लगा।

एक बार मैंने एक लेख लिखा। सपादक को दिया। संपादक भी मेरे विरुद्ध शिकायतों से परेशान थे कि जब किसी पत्रकार का नाम तक दैनिक हिन्दुस्तान में नहीं छप पाता तब व्यास के लेख और कविताएं आए दिन नाम से क्यों छप जाते हैं ? संपादकजी ने बिना पढ़े वह लेख मुझे वापस कर दिया। मैंने उनसे पूछा कि इसे बाहर भेज दूं तो उत्तर मिला–भेज दो। मैंने वह लेख 'धर्मयुग' को भेज दिया। जब उक्त लेख चित्र तथा टिप्पणी के साथ प्रमुखता से छपा तो उस लेख को लेकर वही न्यूज एडीटर फिर देवदासजी के पास पहुंचे। कहा–"हमारे लोग ही जब प्रतिद्वंद्वी अखबारों में लिखेंगे तो अखबार पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? दूसरे लोग भी लिखने लगेंगे।" देवदासजी ने उनसे तो कुछ नहीं कहा, लेकिन संपादक मुकुटबिहारी वर्मा को बुलाकर कहा कि वह मुझे बता दें कि मैंने ऐसा करना पसद नहीं किया है। मुकुटजी ने कहा कि उन्होंने मुझसे पूछकर भेजा है। तो देवदासजी ने कहा कि आपने बाहर भेजने के लिए कैसे कह दिया ? यह घटना जब संपादकजी ने मुझे बताई तब महीना समाप्त होने में सात दिन रह गए थे। मैंने मुकुटजी से साफ तौर से कह दिया कि आज से मैं काम नहीं करूंगा और सात दिन बाद आना भी छोड दूंगा। बात देवदासजी तक पहुंच गई। वह प्रतिदिन सपत्नीक कॉफी हाउस जाया करते थे, अपने दरवाजे से। चौथे दिन मैं निकला प्रेसवाले दरवाजे से होकर। मोड़ पर मिल गए। मैंने आंख बचाकर निकलना चाहा तो उन्होंने आवाज देकर बुला लिया। कॉफी पिलाने ले गए। बातों-बातों में उन्होंने कहा कि उन्होंने 'धर्मयुग'-वाला मेरा लेख पढ़ा है। पर वह उन्हें उतना अच्छा नहीं लगा जैसा कि मैं लिखा करता

हूं। मैं तो भरा हुआ था ही। तत्काल कहा–"आपको तो पढ़कर पसंद नहीं आया, लेकिन आपके सपादक ने तो बिना पढ़े ही अपनी नापसंदगी व्यक्त कर दी।" बहुत-सी बातें हुईं। लक्ष्मी बहन भी बीच में पड़ीं और सुलह-सफाई हो गई।

ईर्ष्यालुओं का विरोध अब भी जारी था। मुझे नाइट ड्यूटी में भेज दिया गया। रविवासरीय का काम किसी अन्य संपादक को सौंप दिया। परतु मेरी हिम्मत, लगन और साथियों ने मेरा साथ दिया। वे मुझे सरल से सरल खबर अनुवाद के लिए देते। उसका सार पहले से हिन्दी मे बता देते और मैं फटाफट लिखकर उन्हें दे दिया करता था। मेरी खबरें प्रथम पृष्ठ पर मुख्य खबर यानी फर्स्ट लीड भी बनीं. सेकेंड लीड और थर्ड लीड भी। तब स्व. हरिकृष्ण त्रिवेदी, स्व. यशपाल वेदालंकार, स्व. शिवकुमार वेदालंकार, नाइट शिफ्ट के इंचार्ज हुआ करते थे। इनके स्नेहपूर्ण सहयोग से मेरी काली रातें उजली हो गई। रात को ग्यारह बजे ये बंधु मेरी छुट्टी कर दिया करते थे और देवदासजी सुन लें. इस तरह मुझसे कहा करते थे कि जाओ, प्रेस में देखो कि क्या हो रहा है ? इस खबर का प्रूफ नहीं आया। उस खबर का प्रूफ नहीं आया, आदि। मैं प्रेस में जाने की बजाय टाइमकीपर के पास जाता और कहता–"दोस्त ! घर तक तो पहुंचाओ।" रात में गाडियां उन्हीं के चार्ज में रहती थीं। वह फौरन मुझे घर पहुंचाने की व्यवस्था कर देते। जब इसकी शिकायत भी देवदासजी के पास पहुची तो उन्होंने मुकुटजी से कहा कि जो आदमी जिस काम के योग्य है, उससे वही काम आप क्यों नहीं लेते ? इस तरह मेरी नाइट ड्यूटी खत्म हुई और मैं अनुवाद के चक्कर से बच गया। मुझे फिर वही काम मिलने लग गए जो मै पहले किया करता था।

उन दिनो हिन्दुस्तान के पास एक टू-सीटर वायुयान भी था, जो अखबार के बंडल सवेरे-सवेरे कानपुर और लखनऊ पहुंचाया करता था। चालक आस्ट्रेलियन था। मैंने उससे दोस्ती गांठी और रोज उसमे बैठकर कानपुर उतरने लगा। वायुयान लखनऊ से लौटता और मै गंगा-स्नान करके फिर उसमें सवार होकर दिल्ली आ जाता। यह क्रम लगभग एक महीना चला। देवदासजी को खबर लगी तो उन्होंने बुलाया और पूछा–"क्या बीमा करा लिया है ?" मैंने कहा–"जी, नहीं !" तो उन्होंने कहा–"क्यों हिन्दुस्तान टाइम्स को ब्रह्महत्या लगाने की सोची है ?" सिलसिला बंद हो गया। मैंने मन ही मन कहा–मन चंगा तो नल के नीचे गंगा। इस तरह हिन्दुस्तान मे मैंने बडे मजे लिये हैं।

उन दिनों हमारे संपादक मुकुटबिहारी वर्मा थे। वह लिखते-पढते तो कम थे, लेकिन आगंतुकों से घिरे रहते थे और उनसे राजनीति से लेकर निंदा-स्तुति के दौर चला करते थे। मुकुटजी संस्मरणों की खान थे। उन्होंने माखनलालजी चतुर्वेदी और हरिभाऊजी उपाध्याय के साथ पत्रकारिता का काम किया था। नारियों से हेल-मेल के पक्षपाती थे। नारी-समस्या पर उन्होंने स्तंभ ही नहीं, पुस्तकें भी लिखी थीं। जब किस्से छेड़ते तो यह भूल जाते कि मैं इन्हे छह बार सुना चुका हूं। वह हर तरह के काम करने को तैयार रहते थे। प्रूफ इकट्ठे हो जाते तो पढ़ने लग जाते। पढ़े सिर्फ मिडिल तक थे, मगर अनुवाद अच्छा कर लेते थे। जब कभी संपादकीय लिखनेवाले नहीं आते तो कुटेशन मार्का संपादकीय भी लिख दिया करते थे। किसी से कभी कठोर शब्द नहीं कहते थे।

देवदासजी और बिड़लाजी के कारण उन्होंने भी मुझे हिन्दुस्तान में आगे बढ़ने के बहुत अवसर दिए। कंपनी के जनरल मैनेजर श्री गिरिजानंदन साही तो मेरे मित्र ही बन गए थे। उनसे मैं विनोद के साथ-साथ सख्त-सुस्त भी कह लिया करता था। वह हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक श्री पारसनाथ सिन्हा के भांजे थे। पत्रकारिता के साथ-साथ उनकी साहित्य में भी रुचि थी। उन्हीं की कृपा से मुझे दो-दो, तीन-तीन तरक्कियां एक साथ मिलीं। सब-एडीटर से चीफ सब-एडीटर बना। जब मुझे पद्मश्री मिली तो उन्होंने हिन्दुस्तान के संपादकीय परिवार को दावत दी, हिन्दुस्तान को वी श्रेणी में घोषित किया और बाद में मुझे सह-सपादक भी बना दिया। तब तक साहीजी हिन्दुस्तान के प्रबंध संपादक भी बन गए थे। लेकिन मैं जब उनकी किसी बात से असहमत होता तो स्पष्ट कह दिया करता था। साप्ताहिक हिन्दुस्तान जब निकला तो सपादक की जगह नाम तो मुकुटबिहारीजी का जाने लगा, परंतु दायित्व मुझ पर आ गया। लेकिन जब मुकुटजी के स्थान पर दूसरा सपादक बन गया तो साहीजी ने मुझे बुलाकर कहा कि मैं उनके काम से संतुष्ट नहीं हू। यह उनकी फाइल है। इसे कंपलीट कर दो तो उनकी छुट्टी हो जाए। मुझे अच्छा नहीं लगा। मैंने कह दिया कि मै यह काम नहीं कर सकता। इस तरह शिकायतो का पेटा भरकर मुझे संपादक नही बनना। इसी तरह जब 'कादम्बिनी' निकली और उन्होंने मुझे वरिष्ठ संपादक बनाकर इलाहाबाद भेजना चाहा तो मैं सहमत नही हुआ। जब बाल पत्रिका 'नंदन' के निकलने की बात चली तो साहीजी ने मुझे बुलाकर कहा कि रविवासरीय का बाल-पृष्ठ आप बहुत अच्छा निकालते हैं, अगर कोई बाल पत्रिका निकले तो आप उसमें जाना चाहेंगे। मैंने कहा—"जी नही, मै दैनिक में रहना चाहता हू।" लेकिन इन सब निषेधों के बावजूद मेरी-उनकी मित्रता बनी रही और जब वह हिन्दुस्तान टाइम्स से रिटायर होने लगे तब उन्होंने मुझे भोजन पर बुलाया तथा दूसरे दिन हिन्दुस्तान में की गई मेरी सेवाओं के लिए एक बहुत अच्छा पत्र टाइप कराकर मुझे भिजवाया जो मेरी हिन्दुस्तान की पत्रकारिता का सबसे अच्छा प्रमाणपत्र है।

इस समय मुझे हिन्दुस्ता. परिवार के पुराने साथियों की याद आ रही है।

मेरे एक वरिष्ट साथी थे श्री शोभालाल गुप्त। थे क्या अभी तक अट्ठासी वर्ष की उम्र में नौजवानों को मात कर रहे है। स्व. पथिकजी के बिजौलिया आंदोलन से लेकर गांधीजी के सभी कार्यक्रमों और आंदोलनों में शामिल हुए। जीवन का बहुत बड़ा भाग जेलों में बीता। वह तब भी मुझसे स्नेह करते थे और आज तो उम्र के साथ-साथ प्रेम की परिधि बढ़ ही रही है। उन दिनों हिन्दुस्तान में एक संपादक था और बाकी सब उपसंपादक थे। शोभालालजी बहुपठित और बहुज्ञ स्वतंत्र सेनानी होने के कारण पत्र के संपादकीय लिखने का कार्य करते थे। इसलिए सहज ही उन्हें वरीयता प्राप्त हो गई थी। तीन-चार घंटे के लिए आते। संपादकीय लिखते। डाक से आए उपयोगी अखबारों को झोले में रखते और घर चल देते। मिजाज भी उनका उन दिनों गरम था। उनके पास भी राजस्थान के नेताओं का प्रायः आना-जाना रहता था। इसलिए वह मेरी तरह ही ईर्ष्या का शिकार हो गए। उन्हें भी नाइट ड्यूटी में ठोंक दिया गया। लेकिन वहां भी उनका वही आलम था। आठ-साढ़े आठ बजे आते और गयारह बजे सो जाते।

फोरमैन कहता कि मैटर नहीं है तो उत्तर देते परेशान मत करो। डाक समाचार, विज्ञप्तियां जो भी पड़ी हों, उन्हें दे दो। कभी-कभी ऐसा होता कि डाक समाचार तथा विज्ञप्तियां भी नहीं होती थीं, तो कहते कि रविवासरीय के लेख तो होंगे। उन्हें डाल दो। मेरा पिंड छोड़ो। सोने दो। उनकी भी शिकायत देवदासजी तक पहुंची। देवदासजी ने उनके साथ वही किया जो मेरे साथ किया था। वह नाइट ड्यूटी से मुक्त हो गए। उन्हीं के एक अग्रलेख के कारण जो श्री कृष्णा मेनन पर लिखा गया था, संपादक मुकुटबिहारीजी के साथ उनकी भी ससम्मान छुट्टी हो गई।

हमारे एक साथी थे केदारनाथ शर्मा। नामकरण तो उनका भी नहीं हुआ था, लेकिन काम वह नगर संवाददाता का करते थे। बिना शॉर्टहैंड जाने वह नेहरूजी के भाषणों को शब्दशः लिख दिया करते थे। बड़े खुशदिल थे, लेकिन हरियाणे के होने के कारण थोड़े अक्खड़ भी थे। न्यूज एडीटर से उनकी भी नहीं पटती थी। निर्भीक थे। एक दिन देवदासजी के पास जा पहुंचे। कहा–"इतने साल हो गए। इतना काम करता हूं। न मुझे डेजिग्नेशन मिला है और न वेतनवृद्धि।" देवदासजी ने उनसे पूछा–"जब आप हिन्दुस्तान में आए थे, तब कितने पर आए थे ?" उत्तर–"साठ प्लस तीस नब्बे पर।" प्रश्न–"अब आपको क्या मिला है ?" उत्तर–"साढ़े तीन सौ रुपये।" देवदासजी ने कहा कि आपने तो अच्छी तरक्की की है। फिर शिकायत क्यों ? केदारनाथ चुप नहीं रहे। तुर्की-ब-तुर्की जवाब दिया–"देवदासजी, जब आप हिन्दुस्तान में आए थे तो कितने वेतन पर आए थे। ढाई सौ, तीन सौ के आसपास ही न ? और आजकल आपको क्या मिल रहा है–ढाई-तीन हजार और ढेर सारी सुविधाएं। आपको अपने अलावा अपने कर्मचारियों का भी ख्याल रखना चाहिए।" देवदासजी मुस्कराकर चुप हो गए। केदारनाथ कमरे से बाहर चले आए। लेकिन हम सबने देखा कि जब उन्हें अगला वेतन मिला तो वह बढ़ा हुआ था। तब ऐसे थे मेरे साथी पत्रकार और ऐसे थे कंपनी के सर्वप्रभुत्वसंपन्न संचालक, जिनके संबंध में घनश्यामदासजी बिड़ला कह दिया करते थे कि अखबार मेरा नहीं देवदास का है।

कंपनी के एक डायरेक्टर ने मिल में काम करनेवाले एक व्यक्ति को हिन्दुस्तान के संपादकीय विभाग में नियुक्त करवा दिया। वह हर रोज यह घोषणा करता कि मैं संपादक बनने के लिए आया हूं। मुझसे कहता कि सबसे ऊपर मेरा नाम रजिस्टर में लिखो। मेरा उत्तर होता कि देवदासजी से या संपादकजी से कहलवा दो। परंतु दोनों में से किसी ने न लिखकर दिया, न कहकर दिया। एक दिन यह आरोपित पत्रकार अपनी पर आ गया। मुझसे तू-तड़ाक पर भी उतर आया। मैं काफी देर चुप रहा। परंतु जब वह मर्यादा को लांघ गया और अपनी कुर्सी से ऐसे उठा कि जैसे हाथापाई पर उतारू हो, तो मेरी सहनशक्ति ने भी साथ छोड़ दिया। मेरी मेज पर कांच के दो पेपरवेट रखे थे और दो ट्रे में थे। कुछ अंग्रेजी लाइनो के सीसे के टुकड़े भी कागजों को दबाने के लिए पड़े हुए थे। इससे पहले कि वह आक्रमण करे मैंने मोर्चा साधकर गोलाबारी शुरू कर दी। निशाना बांधा तो पहला पेपरवेट लगा उसके सीने पर, दूसरा सिर पर, तीसरा पेट पर। वह अपनी मेज के नीचे "मार डाला–मार डाला" कहकर घुस गया। फिर भी

मेरे प्रहार जारी रहे और उसका "बचाओ-बचाओ" और "मार डाला-मार डाला" कहना भी जारी रहा। मुझे साथियों ने घेर लिया। शांत रहने को कहने लगे। चपरासी पानी का गिलास ले आया। मैंने उससे कहा-"कायर ! नीचे से निकल और अब गाली दे। तुझे खिड़की से नीचे न फेंक दिया तो मेरा नाम नहीं।" साथी मुझे पकडकर बाहर ले गए। वह मेरे जाने पर चिल्लाता हुआ संपादक मुकुटजी के कमरे में पहुंचा, जो कुर्सी पर बैठे-बैठे ही इस हंगामे को सुन रहे थे। उन्होंने उससे कहा-"आप व्यासजी से क्यों उलझे ? जो कुछ कहना था मुझसे कहते।" वहां से निराश होकर वह चिल्लाता हुआ देवदासजी के कमरे में गया और बढ़ा-चढ़ाकर अपनी दास्तान कह डाली। देवदासजी ने कोई उत्तर नहीं दिया। इतना भर संकेत दिया कि वह मालूम करेंगे। दूसरे दिन देवदासजी ने मुझे बुलाया और पूछा-"क्या आपने उस पर पेपरवेट फेंके थे ?" मैंने कहा -"जी हां।" फिर पूछा-" क्या उसे खिड़की से नीचे फेंकने की धमकी दी थी ? " मैंने कहा-"दी थी।" पूछा गया-"क्यों ?" तो मैंने आवेश के साथ उत्तर दिया -"मैं यहां काम करने आया हूं, अपशब्द सुनने नहीं आया।" फिर सारी दास्तान भी सुना दी। सुनकर देवदासजी गंभीर हो गए। फिर तीसरे दिन बुलाया और पूछा-"निष्पक्ष होकर बताओ कि यह आदमी कैसा है और काम कैसा करता है ?" मैंने उत्तर दिया-"काम तो सभी करते हैं। गलतियां कर-करके सीख भी जाते हैं। परंतु हिन्दुस्तान-परिवार के दूध में यह खटाई की तरह है। किसी के साथ मिलकर नहीं चलता और रौब के साथ संपादक बनने की घोषणाएं करता रहता है।" कहकर मैं चला आया। उसके बाद हम सभी साथी पत्रकारों ने देखा कि "आए भी वो और गए भी वो।" लेकिन आज उस आवेश पर पछताता हूं कि मुझे जैसे के साथ तैसा उग्र बरताव नहीं करना चाहिए था।

मुकुटजी के बाद कई संपादक बदले। यद्यपि उनका कार्यकाल थोड़ा ही रहा, परंतु इनमें कार्यकारी संपादक श्री हरिकृष्ण त्रिवेदी सबसे शांत, सबमें प्रिय और अपना काम मुस्तैदी से करनेवाले थे। फिर आए चंद्राकर। बड़े मस्तमौला। दुनिया घूमे। कृषि विशेषज्ञ और राजनीति की अंतर-सूझबूझ रखनेवाले। पहले रिपोर्टर थे। फिर विशेष संवाददाता हुए। मेरे बाद गांधीजी के प्रार्थना-प्रवचनों की रिपोर्टिंग भी उन्होंने की। लेकिन अपने साथियों के साथ वही पुराना सलूक बरता करते थे। मुझे 'कहो पंडित !' कहकर संबोधित किया करते थे। बड़े हृष्ट-पुष्ट थे। थे क्या, है। संसद-सदस्य बने और फिर केन्द्रीय मंत्री भी। एक दिन मैं शिवकुमार विद्यालंकार की मेज पर झुककर उनसे बातें कर रहा था। वह मेरी पीठ पर अपना बोझ डालकर लद गए। पीछे से ही गले में हाथ डाल दिए। बोले-"पंडित ! बड़ा दमखम है !" शिवकुमारजी को शैतानी सूझी। उन्होंने मुझे ललकारा-"बस ! इसी पर कहते थे कि मैंने पहलवानी की है। मुझे भी पुराने दांवपेंचों की याद आ गई। उनके बाएं हाथ को कसकर नीचे की ओर खींचा और दाहिनी टांग को उठाकर धोबीपाट मार दिया। भारी-भरकम चंद्राकर चित। लोगों ने तालियां बजा दीं। लेकिन चंद्राकर नाराज नहीं हुए। पीठ ठोंकते हुए बोले-"शाबास ! पंडित शाबाश !!"

संपादक कई देखे, पर एक अनोखे संपादक भी आए। बड़े-बड़े विशेषणों और

अनूठे उद्धरणों के साथ बहुज्ञता प्रदर्शित करते हुए ललित लेख लिखते थे। पहले स्वतंत्र लेखन करते थे। मुझे भी रविवासरीय और साप्ताहिक में छपने के लिए भेजा करते थे। लेखों के साथ मेरे लेखन की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा भी उनमें रहा करती थी। जिस दिन दिल्ली उनकी रेल पहुंची तो उन्होंने मुझे स्टेशन पर ही दर्शन देने की कांक्षा की। मैं उन्हें सादर उनके दिल्ली निवास पर ले गया। कुछ महीनों तक उन्हें पुरानी बातें याद रहीं। फिर कुर्सी का रंग चढ़ा तो सब भूल गए। शुरू-शुरू में मिलते-जुलते, खाते-पीते, बतियाते थे। फिर कतराने लगे। मेरा तो शुरू से ही यह सिद्धांत रहा है कि "आपको न चाहे, बाके बाप को न चाहियै।" वह अपने कमरे में और मैं अपने कमरे में। मुझसे छुटकारा पाकर वह खुलकर खेलने लगे। लिखना-पढ़ना छोड़ दिया। वातानुकूलित कमरा। मेज पर तीन-तीन फोन। एक निजी सहायक। दो चपरासी। दिमाग आसमान पर। ऐसा तो प्रायः सभी के साथ होता है, परंतु उनकी मजेदारी अलग थी। दिनभर एक-एक करके अपने साथी पत्रकारों को बुलाते और उन्हें सुनाते कि कल रात मैंने उस राजदूत के साथ, उस राज्यपाल के साथ, उस केन्द्रीय मंत्री के साथ डिनर लिया। आज सवेरे-सवेरे उन मुख्यमंत्री का फोन आ गया कि मैं आ रहा हू। बड़ी देर तक बातें होती रहीं। आज शाम को चाय होम मिनिस्टर के साथ है। बीच-बीच में फोन आते तो वह लोगों को सुनाकर कहते—हां, बाबू बोल रहे हैं। कृष्णकुमारजी, मैंने आपका वह काम कर दिया है। कल पक्की बात हो गई। फिर फोन की घंटी बजती। चोगा उठाते और कहते—जी, बड़ी कृपा ! मगर आज नहीं आ सकता। शाम को होम मिनिस्टर के साथ चाय है। रात को मेरे यहां उन मुख्यमंत्री का डिनर है। कल नहीं, परसों का कोई टाइम रख लीजिए। फिर साथियों को उस वी. आई. पी. का नाम बताते। फिर लौटकर सब मुझे उनके किस्से सुनाते। वे क्षण हम सबके मोद-विनोद के होते। लेकिन ऐसी कृपा मेरे सामने उन्होंने कभी नहीं की। सिर्फ एक बार संपादकीय रौब झाड़ा—"आपका यत्र-तत्र अब पहले जैसा नही रहा। इसमें धार लाइए। कुछ और कोशिश कीजिए।" मैंने उत्तर दिया—"कोई धारदार आपकी तलाश मे हो तो यह मेहरबानी उस पर कर दीजिए। और हां, मैं कोशिश करूंगा। लेकिन कल से एक सपादकीय नहीं लिखूंगा।" वह चुप हो गए और मैं चला गया। फिर बातचीत भी बंद। जब वह हिन्दुस्तान से विदा होने लगे तो न उनकी विधिवत विदाई हुई और न कोई छोड़ने उन्हें गाड़ी तक गया। फूल-पान तो दूर। मेरे पास लोग एकत्र हो गए, और बोले—मिठाई खिलाओ।

इस तरह बड़े मौज में, बड़ी मस्ती से, बड़े ठाठ से मेरी हिन्दुस्तान में गुजरी। संपादक कोई रहा हो, यारों का रंग निराला था।

याद आती है जब मृत्यु से पूर्व देवदासजी बंबई जाने लगे तो उन्होंने मुझे चाय पर बुलाया और कहा—"मैंने आपके लिए कुछ नहीं किया। लेकिन अब वेज बोर्ड की सिफारिशें आनेवाली हैं। बंबई से लौटकर अब कुछ करना है।" पर वह लौटे ही नहीं। इसी तरह एक बार बाबू घनश्यामदास बिड़ला ने मुझे बुलाया। मैं क्या करता हूं ? क्या मिलता है ? पूछा। फिर गंभीर होकर कहा—"मिस्टर साही से मेरी तरफ से कहो कि मेरे लिए अलग से कमरा होना चाहिए। एक सहायक मिलना चाहिए। पद और वेतन में भी वृद्धि होनी चाहिए।" आदि-आदि। घनश्यामदासजी की मुझ पर पहले से ही अच्छी

नजर थी। मैंने अपनी 'अरबों के देश में' नामक पुस्तक भी उन्हें समर्पित की थी। लेकिन इसके लिए वह तब तक राजी नहीं हुए जब तक उन्होंने पुस्तक के सारे लेख पढ़ नहीं लिए। यही हाल राजर्षि टंडनजी का भी था। उन्होंने भी गांधीजी संबंधी मेरी पुस्तक की भूमिका तब तक नहीं लिखी, जब तक उसकी पूरी पांडुलिपि नहीं पढ़ ली।

हां,तो मैं बिड़लाजी की बात कर रहा था। उनकी बातें सुनकर मैं खुशी से उछलता हुआ मुकुटजी के पास गया। सारे समाचार बताए। लेकिन सीधे-सादे, भोले और भले लगनेवाले मुकुटजी ने मेरे उत्साह पर पानी फेर दिया। वह बोले मैं इस संबंध में कुछ नहीं कर सकता। आप साहीजी से बात कीजिए। जब वह पूछेंगे तो मैं अपनी राय दे दूंगा।

मुझे साहीजी से पूरी उम्मीद थी। लेकिन वह भी सुनकर गिरिजानंदन से एकदम जनरल मैनेजर हो गए। बोले—"लोग मालिकों तक पहुंचते रहते हैं और सिफारिशें कराते रहते हैं। लेकिन बिड़लाओं को कंपनी के काम की और कैडर की बातों का क्या पता ? कंपनी तो मैं चलाता हूं। मुझे हर तरह की ऊंच-नीच देखनी पड़ती है।"

मैंने आगे सुनना पसंद नहीं किया और कमरे से बाहर हो गया। घनश्यामदासजी ने मुझसे कहा था कि साहीजी जो कुछ कहें, मुझे सूचित करना। उन्हें भी इन सब बातों की सूचना नहीं हुई। मेरा भावुक मन वर्षों के साथियों और मित्रों के असहयोगी और कूटनीतिक व्यवहार से खिन्न हो गया था। अब सोचता हूं कि अगर मैंने बाबू को ये बातें बता दी होतीं तो मेरा काम तो बन ही जाता, रुकावट पैदा करनेवालों को भी लेने के देने पड़ जाते। अगर किस्मत ने साथ दिया होता तो मुकुटजी के बाद मालिकों को शायद अन्य संपादक की तलाश न करनी पड़ती।

अगर मैं श्री कृष्णकुमार बिड़ला के संबंध में उनके अनुग्रहों की बात न कहूं तो मेरी हिन्दुस्तान की कहानी अधूरी रह जाएगी। मेरी आंखें खराब हुईं तो उन्होंने कंपनी से ही नहीं, अपने पास से भी अच्छी सहायता दी। मेरे सबसे छोटे लड़के ब्रजमोहन को उन्होंने पिलानी के पब्लिक स्कूल में दाखिल ही नहीं किया, खर्चा भी उठाया। जब मेरे अवकाश प्राप्त करने का समय आया तो उन्होंने तत्कालीन संपादक और जनरल मैनेजर को बुलाया और मेरे सामने ही उनसे कहा—"व्यासजी जब तक काम करना चाहें, उन्हें एक्सटेंशन मिलते रहने चाहिए। इनकी तरक्की तथा सुविधाएं बढ़ती रहें, इससे मुझे खुशी होगी।" फिर एक बार मुझसे कहा—"व्यासजी, अगर आपकी आंखों ने साथ दिया होता तो आप कंसर्न में बहुत ऊपर जा सकते थे।" क्या मैं उनके ऐसे व्यवहार को कभी भूल सकता हूं ? इतना ही नहीं, आज भी 'नारदजी खबर लाए हैं' स्तंभ हिन्दुस्तान में निकल रहा है, उसके पीछे भी कृष्णकुमारजी का अनुग्रह काम कर रहा है। अंत में इतना ही कहूंगा कि 'हिन्दुस्तान' ने मुझे बनाया और मैंने भी 'हिन्दुस्तान' को बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। अगर मुझे 'हिन्दुस्तान' की सेवा करने का सुअवसर न मिलता तो मैं न हिन्दी की सेवा कर पाता, न हिन्द की। मेरे व्यंग्य-विनोद के उभार और निखार का श्रेय भी 'हिन्दुस्तान' को ही है। बातें बहुत हैं, लेकिन कहां तक लिखूं, यहीं समाप्त करता हूं।

स्तंभ-लेखन

पद्य लिखना, यानी काव्य रचना जन्मजात प्रतिभा, परिस्थितियों और परिश्रम से संभव हो सकता है। लेकिन गद्य, जिसके संबंध में कहा गया है कि "गद्यं कवीनाम् निकषं वदन्ति।" यानी, गद्य की कसौटी पर हर एक कवि खरा नहीं उतरता। उच्चकोटि के कवि गद्य को ललित बनाकर बाणभट्ट बन सकते हैं। वह कविता के स्वर्ण में सुहागा मिलाकर उसे चमका सकते हैं। लेकिन अपने लेखन को व्यंग्य की आग में तपाकर कुंदन नहीं बना सकते। व्यंग्य लिखना 'क्षुरस्य धारा' है। इसके संबंध में हिन्दी के बोधा कवि ने लिखा है–"यह प्रेम कौ पंथ कराल महा तरवार की धार पै धावनौ है।" प्रेम के स्थान पर व्यंग्य पढ़ लीजिए और जान लीजिए कि व्यंग्य लिखना खाड़े की धार पर चलने के समान है। जैसे प्रेम करना और प्रेम प्राप्त करना हर किसी के भाग्य में नहीं, वैसे ही व्यंग्य लिखना और पाठकों का उसे समझना भी असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। इसीलिए उत्तम कलाकार व्यंग्यरूपी मणि को तपे हुए निर्मल कुंदन में जड़कर आभूषित किया करते हैं।

किसी को व्यंग्य-विनोद लिखना आ जाए और वह उसमे महारत भी हासिल कर ले तो उसमें वह महाभारत, महाव्यंग्यायण, वृहद उपन्यास नहीं लिख सकता। बीच-बीच में पुट दे सकता है। अब तक तो यह संभव नही हुआ, आगे कुछ भी हो सकता है। कविता रोज लिखी जा सकती है। गद्य भी रोज लिखा जा सकता है। परंतु व्यंग्य का इंद्रधनुषी रंग तो लेखक के आकाश में कभी-कभी ही तनता है। परंतु इसे प्रभुप्रदत्त पतिभा कहिए, परिस्थितियों की आवश्यकता कहिए या परिश्रमशील अभ्यास कहिए, मैं यह कार्य सन् 38 से करता आ रहा हूं। मैं यहां कविता की बात नहीं, व्यंग्य-विनोदी लेखन, वह भी इस विधा के स्तंभ-लेखन की बात कर रहा हूं। पहले आगरा के दैनिक 'पंच' में लिखा। फिर दिल्ली के हिन्दुस्तान में 'यत्र-तत्र-सर्वत्र' के रूप में लिखा। फिर जयपुर की दैनिक 'राजस्थान पत्रिका' में 'बात-बात में बात' के रूप में लिखा। फिर आगरा के

विकासशील भारत (दैनिक) में 'चकाचक' के रूप में लिखा। कभी-कभी नहीं, प्रतिदिन। लगातार और अखंडित रूप में। जब जहां लिखा, एक दिन नागा नहीं हुई। जब जो लिखा, उसे फिर कभी दोहराया नहीं। अपनी समझ से नित नूतन और चिरनवीन। ऐसा कि लोग कहने लगे कि व्यास की कविताओं से अधिक उसके स्तंभों को पढ़ने में अधिक आनंद आता है।

यह धारावाहिक लेखन आकाशवाणी से 'चचे की चौपाल' के रूप में भी चला और ग्वालियर के 'निरंजन' पत्र मे 'मनसुखा की मौज' के रूप में भी। साप्ताहिक रूप में 26 सितंबर सन् 58 से 'नारदजी खबर लाए हैं' के रूप में दैनिक 'हिन्दुस्तान' में छपा, तो दिल्ली, प्रयाग, पटना, जयपुर, कलकत्ता आदि के प्रसिद्ध पत्रों में भी छपने लगा। फिर से अब पांच साल से ऊपर हो गए–आज 16 जनवरी, 94 तक तो छप ही रहा है। इसके संबंध में पत्र मिलते रहते हे और साथी पत्रकार तथा पाठक कहते रहते हैं कि व्यास के लेखन की धार उम्र के साथ कुंठित होने के बजाय कुछ अधिक पैनी ही हुई है। इसका कारण शायद मेरी सहज मोद-विनोदी प्रवृत्ति ही है। मेरा आलम यह है कि जिस दिन लिखने को नही मिलता, उस दिन मन बहुत उदास रहता है। राज और समाज की नई-नई घटनाएं मन को सदैव उद्वेलित करती रहती हैं। लिखने को कुलबुलाती रहती हैं। आज भी यदि किसी दैनिक पत्र से हर रोज ऐसा स्तंभ लिखने का सानुरोध निमंत्रण मिल जाए तो यह छटपटाहट दूर हो सकती है।

हिन्दी में व्यंग्य-विनोद के स्तंभ-लेखन की परंपरा पुरानी है। भारतेन्दु काल की पत्र-पत्रिकाओ में भी यदाकदा ऐसे स्तंभ निकलते रहते थे। श्री बालमुकुंद गुप्त का 'शिव शंभु का चिट्ठा' तो बहुत ही लोकप्रिय हुआ। मेरे समय में श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़ 'बेढब' भी ऐसे स्तंभ लिखा करते थे। श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति भी 'वीणा की झंकार' लिखते थे। कानपुर के 'वर्तमान' मे भी एक ऐसा कॉलम छपता था। 'हिंदुस्तान' में भी मुझसे पहले श्री विष्णुदत्त मिश्र 'तरंगी' साप्ताहिक रूप में एक ऐसा स्तंभ लिख चुके थे। श्री हरिशंकर परसाई और श्री शरद जोशी ने भी बौद्धिक और स्तरीय स्तंभ लिखे हैं। श्री शरद जोशी तो आज भी 'प्रतिदिन' नामक स्तम्भ में कभी-कभी लिखते रहते हैं। मैंने इन सबको पढ़ा है और पढता रहता हूं। इनके गुणों पर रीझता रहता हूं और दोष भी निकालता रहता हूं। परंतु न मैने किसी नए-पुराने ऐसे लेखन से विषय चुने हैं और न शैली। मेरी भाषा अपनी है। अभिव्यक्ति अपनी है। न मैं सिद्धांत बघारता हूं और न किसी राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक मतवाद से बंधा हुआ हूं। मैंने अपने लेखन को प्रश्नोत्तरी शैली में रोचक बनाने का यत्न किया है। प्रश्नों में से उत्तर निकले हैं। उत्तरों ने फिर प्रश्नों को जन्म दिया है। मैंने समाधान की तलाश प्रायः नहीं की। प्रश्न को प्रश्न रहने दिया और उत्तर को उत्तर। मानें तो वे ही समस्या और वे ही समाधान।

मैं ब्रजवासी हूं। मेरे लेखन में ब्रज का रंग और मस्ती है। कहावतें हैं और पहेलियां हैं। किंवदंतिया हैं, कविताएं हैं, शेरोशायरी ही नहीं, नई से नई फिल्मों के तराने भी उनमें जब-तब फिट हो जाते हैं। ज्यादा दावा तो नहीं करता, लेकिन इतना अवश्य है कि मैंने देश के लाखों लोगों को अपने व्यंग्य-विनोदी स्तंभों को पढ़ने की लत अवश्य

डाली है। ऐसा कोई मनहूस अभी तक नहीं मिला, जिसने कुछ पंक्तियां पढ़कर मेरे स्तम्भ को उठाकर रख दिया हो। मेरी मौज-मस्ती, मेरा फक्कड़पन, मेरी पत्रकारी बहुज्ञता और कलाकारी निर्भीकता के पाठक कायल भले न हुए हों, परंतु इतना निश्चयपूर्वक कह सकता हूं कि उनके मन पर अपने कृतित्व और व्यक्तित्व की छाप छोड़ने में मैंने कोई कसर नहीं छोड़ी।

आइए, अब इन स्तंभों पर अलग-अलग संक्षेप में कुछ चर्चा कर लें। आपके पास समय है न ? नही है तो निकालिए। कुछ खोइएगा नहीं, पाइएगा ही।

यत्र-तत्र-सर्वत्र

दैनिक 'हिन्दुस्तान' में प्रकाशित होनेवाला मेरा 'यत्र-तत्र-सर्वत्र' अन्य सभी स्तंभों से अधिक चर्चित और लोकप्रिय हुआ है। यह बिड़ला समूह के अन्य हिन्दी दैनिकों में तो निकलता ही था. देश के कुछ भाषायी और आंचलिक पत्र भी इसे यदाकदा छापते रहते थे। उसके निकलने की तिथि तो मुझे याद नही रही, लेकिन मैंने इसे पच्चीस वर्षों से ऊपर अपने अवकाश ग्रहण करने के दिन तक, प्रतिदिन बेनागा लिखा है। छुट्टी पर जाता तो भी पेशगी लिखकर रख जाने पड़ते थे या भेजने पड़ते थे। इस स्तंभ के कारण मेरे तीन महीनों के अर्जित अवकाश का वेतन भी मारा गया। वह इसलिए कि पाठकों के साथ मुझे भी इसे लिखने में रस आता था। लिखने का विषय तलाश करने के लिए ढेर सारे पत्रों को तो पढ़ता ही था. मेज-दर-मेज अपने हिन्दी-अंग्रेजी के साथी पत्रकारों से भी पूछा करता था कि बताओ भाई, आज क्या लिखा जाए ? पाठकों के पत्रों से भी सुझाव मिलते रहते थे। दिल्ली के कई राजपुरुष, समाजसेवी और मेरे साहित्यिक मित्र भी सुझाया करते थे कि यह लिखो, वह लिखो। मेरी स्मरण-शक्ति अपेक्षाकृत कुछ अधिक तीव्र रही है। प्राचीन और नए साहित्य की कविताएं, शेर, गजल, लोकोक्तियां, कहावतें, एक बार सुनता हूं तो स्मृति में अटक जाती हैं और वक्त पड़ने पर सामने आकर कहती हैं कि हम हाजिर हैं। इनके कारण इस स्तंभ को सजीव और चटपटा बनाने में मुझे सदैव मदद मिली है। यह व्यंग्य-विनोदपूर्ण स्तंभ था, जो मेरे 'हिन्दुस्तान' छोड़ने के बाद भी कुछ दिनों चला। कई लोगों ने नकल और असल के रूप में इसे जारी रखने की कोशिश की, लेकिन मुझे दुःख है कि अंततः यह कॉलम बंद ही हो गया। वृक्ष की छाया और पुरुष की माया उसी के साथ चली जाती है।

इस स्तंभ को मैंने शुरू नहीं किया था। इसको शुरू किया था हमारे साथी पत्रकार स्वर्गीय सीताचरण दीक्षित ने। 'यत्र-तत्र-सर्वत्र' नाम भी उन्होंने ही रखा था। तब व्यंग्य-विनोद से इसका कुछ लेना-देना नहीं था। एक दिन उन्होंने कोशिश की और हम सब साथी पत्रकारो का अपने तरीके से हुलिया खींच डाला। बगावत हुई और कोई महीने भर बाद यह स्तभ मेरे हाथ में आ गया। 'हिंदुस्तान' से अवकाश लेने के बाद कुछ ने तो इस स्तंभ में मेरे विरोध में ही लिखना शुरू कर दिया। कुछ ने स्तंभ के लोकप्रिय पात्रों के स्थान पर नए पात्र गढ़ डाले और अपनी श्रीमती और अपने बर्खुरदार के बहाने

ऐसा कुछ लिखने लगे कि पाठक से लेकर संपादक तक को यह सोचने के लिए विवश होना पड़ा कि इसे बंद ही कर दिया जाए। मैंने एक जगह लिखा है कि पत्र में संपादक के अतिरिक्त किसी और साथी पत्रकार का नाम देने की परंपरा उन दिनों 'हिन्दुस्तान' में नहीं थी। इसलिए इस स्तंभ के नीचे भी मेरा नाम कभी नहीं छपा। लेकिन धीरे-धीरे मेरी शैली और कथ्य तथा व्यक्तित्व की छाप होने के कारण पाठकों सहित समूचा हिन्दी-जगत यह पहचान गया कि यह व्यास का लेखन है।

मूलतः यह स्तभ व्यंग्य-प्रधान था और हास्य का पुट लिये रहता था। इसलिए यदि मै अपने व्यंग्य-विनोद के सबंध में कुछ विचार व्यवत करूं तो अनुपयुक्त नहीं होगा। जब इस स्तंभ के कुछ लेख 'यत्रम्-तत्रम्' के नाम से दो भागों में सकलित हुए तो मैंने उनकी भूमिका में लिखा—

"यह जो व्यंग्य-विनोद का साहित्य है वह कुछ भी हो, कैसा भी हो, यथास्थिति का समर्थक नही है। वह आकाश की ओर नहीं, धरती की ओर देखता है। उसकी धरती पर, उसके आसपास, उसके समाज में, उसके साहित्य में, उसके सांस्कृतिक अपलाप में, उसकी राजनीति मं, जहां कहीं पाखड है, रूढ़िबद्धता है, अनाचार है, अन्याय है, असमानता है और है घिनौनापन, वहां-वहां मुक्का तानकर निर्भीक खड़ा हुआ है। शब्द प्रयोग के लिए मुझ पर फतवा न कसा जाए तो मैं कहना चाहता हूं कि व्यंग्य-विनोद का लेखक मूलतः यथास्थिति के प्रति असंतुष्ट, व्यवस्था के नाम पर कुव्यवस्था का विरोधी, अर्थात् मूलतः वामपंथी होता है। मै मानता हू कि शुद्ध दूध और शुद्ध व्यंग्य-विनोद आजकल मिलता कहां है ? दूध मे सपरेटा है और पानी है। व्यंग्य-विनोद में भोंडापन है, अश्लीलता है और चल पड़ा है बाजारूपन। हास्य को जहां बाजार ने विकृत कर दिया, वहां व्यंग्य को राजनीति ने कसैला, 'प्रतिबद्ध' और प्रायः पार्टीपरक बना दिया है।

'पार्टी', जब से इसके आगे बाजी शब्द लगा है, तब से इसने राजनीति शब्द की गरिमा को भ्रष्ट कर दिया है। शब्द की गरिमा भले ही नष्ट हुई हो, लेकिन इसके द्वारा प्राप्त 'अर्थ' की व्यापकता और महत्ता दिन पर दिन बढ़ती ही जा रही है। राजनीति हमेशा साहित्य और समाज पर हावी होने के लिए प्रयत्नशील रही है। भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग गुप्तकाल से लेकर कांग्रेस के स्वर्णयुग नेहरूकाल तक, और बाद में भी, राजनीति ने साहित्यकारों को थोक में खरीदा है। उन्होंने यानी, हम साहित्यकारों ने, सदा-सर्वदा राजनेताओं के पुरुषार्थ और अपनी विजय पर आदर्शों का मुलम्मा चढ़ाकर चाहे-अनचाहे सत्ताधीशों की इच्छापूर्ति की है। सुविधा-भोगी बुद्धिजीवियों ने युग-युग से राज-सिंहासन के सामने नत होकर सर्वत्र समाज में अपने को भी सामंत की तरह प्रतिष्ठित किया है।

आज पक्ष-विपक्ष की सत्तामूलक राजनीति ही नहीं, अंतर्राष्ट्रीय महाशक्तियों की राजनीति भी हमारे साहित्यकारो, कलाकारों और बुद्धिजीवियो को अपने शिकंजे में कस रही है। ऐसा दीन-हीन और परमुखापेक्षी तो हमारा बुद्धिवादी शायद कभी नहीं रहा।

आज के परिप्रेक्ष्य मे व्यग्य-विनोद की इससे बड़ी सार्थकता और क्या हो सकती है कि बुद्धि के इस दिवालियेपन और साहित्यकारों के बाजारू माल पर खुलकर हंसें,

तीखे कटाक्ष करें और आवश्यकता हो तो उसकी बखिया उधेड़ने में भी न चूकें।"

यह तो रहीं कहने की बातें। परंतु जब लिखने बैठता था तब मेरे सामने न व्यंग्य होता था, न हास्य। कभी-कभी तो विषय भी नहीं होता था कि किस पर लिखना है। कागज पर कलम रखी। जो वाक्य उभरा वह लिखा और उसी पहले वाक्य से प्रश्न पर प्रश्न, समस्या पर समस्या, कहीं कटाक्ष, कहीं हास्य, अपने-आप उतरते जाते थे और स्तंभ पूरा हो जाता था। मैंने देखा है और पाठकों से सुना है कि ऐसे अनायास लेख अप्रत्याशित रूप से प्रायः अधिक आकर्षक बन पड़ते थे।

अब कहो तो कुछ रसज्ञ पाठकों की बातें भी आपको सुना दूं। यत्र-तत्र के लेखन से मेरे सैकड़ों रसज्ञ पाठक ऐसे मोहित हुए कि मुझे देखने के लिए सैकड़ों मील की यात्रा करके 'हिन्दुस्तान' में चले आते थे कि मैं क्या बला हूं। वे केवल जुबानी जमाखर्च ही नहीं करते थे, मतलब कि खाली हाथ नहीं आते थे। कोई गाजियाबाद से कलाकंद लाता तो कोई मेरठ से कैंची। बीकानेर से भुजिया ही नहीं, गाय के दूध के रसगुल्ले भी आया करते थे। जयपुर से मिसरी-मेवा तथा जोधपुर से मेवा-मावे की मीठी कचौड़ियां। क्योंकि मेरे लेखन से वे जान गए थे कि मैं मिष्ठान्नप्रिय हूं। कुछ आते तो जन्मतिथि पूछकर जनमपत्री बनाकर भेजते। एक मस्तमौला बाबा ने तो हर महीने आने का नियम बना लिया था। वह हर महीने प्रसाद की दौनी लाया करते थे। प्रसाद तो नाथद्वारा, वृंदावन और मथुरा से भी आया करता था। बनारस से लंगड़ा आम, हाथरस से घी और कई पाठक मुझे भांग के पेड़े, भांग का चूरन ही नहीं, कभी-कभी मिर्चें भी पुड़ियों में बांधकर दे जाते थे कि लगाओ इनको। मुझे मालूम नहीं कि कितने लेखक ऐसे हुए हैं या हैं, जिन्हें ये सब आनंदोपहार प्राप्त हुए हैं।

जब मेरी आंखें दिन-पर-दिन खराब होने लगीं तो मेरा सुलेख बिगड़ने लगा। शिरोरेखाहीन मेरे अक्षर पढ़ने में कंपोजीटर भाइयों को असुविधा होने लगी। आगे चलकर तो ऐसा समय भी आया जब लिखते समय लाइन पर लाइन चढ़ने लगी। तब मेरे पत्रकार मित्र सहायता के लिए आगे आए। कई प्रूफरीडरों ने अपनी सहायता मेरे लिए उपलब्ध की। कभी-कभी तो प्रेस का फोरमैन ही मेरा बोला 'यत्र-तत्र-सर्वत्र' लिख देता था। लेकिन सभी परोपकारी नहीं होते। समाज में ईर्ष्यालु और विघ्नतोषियों की कमी नहीं। मेरे पीछे भी ऐसे कुछ लोग लगे थे। जब मैं ग्लूकोमा का ऑपरेशन कराने के बाद 'हिन्दुस्तान' में फिर काम पर लौटा तो डॉक्टरों के मतानुसार बर्फ के पानी में रूई के फाहे ठंडे करके आंखों पर रख लिया करता था और मेज पर टांगें फैलाकर कुर्सी पर कुछ देर के लिए बैठ जाता था। एक दिन 'यत्र-तत्र-सर्वत्र' को हड़पने का स्वप्न देखनेवाले एक महाशय फोटोग्राफर को भी ले आए और मेरी ऐसी अवस्था का एक चित्र लेकर संपादक और मैनेजर को दिखाया। सुनता हूं कि वह मालिकों के पास भी भेजा गया। लेकिन ईश्वर की कृपा कहूं या पाठकों की सहानुभूति, अवकाश प्राप्त करने के दिन तक मेरा यह कॉलम चलता ही रहा—

जाको राखै साइयां, मार सकै ना कोय।
बाल न बांका कर सकै जो जग बैरी होय।।

बात-बात में बात

'हिन्दुस्तान' से अवकाश प्राप्त करने के बाद अचानक एक दिन जयपुर से प्रकाशित होने-वाली दैनिक 'राजस्थान पत्रिका' के संपादक और स्वामी श्री कर्पूरचंद्र कुलिश मेरे पास आए। मुझे स्वस्थ और प्रसन्न देखकर बोले—"हमारे लिए भी कुछ लिखिए।" बात तय हुई और वहां मेरा 'बात-बात में बात' नाम से यत्र-तत्र की तरह एक दैनिक स्तंभ छपने लगा। यह भी एक वर्ष तक बेनागा छपा। हवाई डाक से यह प्रतिदिन जयपुर पहुंचता। रात में कंपोज होता और सवेरे पाठकों के हाथ में। 'राजस्थान पत्रिका' उन दिनों पूरे राजस्थान मे अपने पैर फैला रही थी। जयपुर के अतिरिक्त जोधपुर से भी इसका संस्करण निकलने लगा था। यह कॉलम मेरे नाम से छपता था। राजस्थान में मेरे पाठकों की पहले भी कमी नही थी। 'यत्र-तत्र-सर्वत्र' का अभाव उन्हें खल रहा था। वे मुझे पत्रिका में पाकर प्रसन्न हुए। वे भी पत्रों द्वारा मेरी बात-बात में से अपनी बात निकालने लगे। लेकिन इस कॉलम को लिखना और भेजना मेरे लिए दिन-पर-दिन दुष्कर होता जा रहा था। उन दिनों मेरे पास कोई सहायक भी नहीं था। इसे कभी अपनी बहुओं से लिखवाता तो कभी बेटों से। ये कामकाजी लोग भी उकता चले थे। एक सहायक मिला तो इतने पारिश्रमिक पर कि आधा मानदेय तो वही ले जाता था। मुझे यह कार्य गुनाह और बेलज्जत लगने लगा। उधर अखबारवालों की भी परेशानी बढ़ रही थी। कभी डाक रात को आठ बजे मिलती तो कभी बारह बजे। दैनिक कॉलम था सो छापना पड़ता था, लेकिन असुविधा तो होती ही थी। जब उनकी यह कठिनाई मुझे मालूम पड़ी तो वही बात हुई कि "भली भई मेरी गगरी फूटी, दधि बेचन सौं छूटी।"

मैं शुरू से ही बतरस-प्रेमी हूं। बात में से बात निकालना, बात का बतंगड़ बनाना, बात को कहीं से कहीं मोड़ देना, कहीं उसे लात बना देना और कहीं उसे मात बना देना, यह कलाबाजी मेरे स्वभाव में रही है। बात-बात में से व्यंग्य, बातों के तरकस से नए-नए तीर मैंने निकाले है इस स्तंभ में। बात को अपने जज्बात से भी जोड़ा है और यह गर्वोक्ति भी की है—

ज्यों केला के पात में, पात-पात में पात।
त्यों चतुरन की बात में, बात-बात में बात।।

जब इसके कुछ लेख पुस्तकाकार हुए तो मैंने लिखा। लिखा क्या व्यंग्य-विधा की बात कही—

"व्यंग्य, वह साामाजिक और साहित्यिक सिद्धि है, जो हरेक को प्राप्त नहीं होती। इसे अभ्यास से भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसके लेखक को पहले स्वयं आलंबन बनना पड़ता है। विसंगतियों और विषमताओं के दौर से जो स्वयं नहीं गुजरा, वह राजनीति के मंच पर भाषण तो दे सकता है, व्यंग्य में कशाघात नहीं कर सकता। अगर वह फिर भी ऐसा करने की चेष्टा करता है तो वह केवल आक्रोशी बन जाएगा। गाली-गलौज करने लगेगा। ऐसे बोलेगा जैसे किसी राजनीतिक दल विशेष का एजेंट हो। उसकी

कटूक्तियां स्वयं उसे खा जाएंगी। या उसके पेशवर व्यंग्य लिखने के प्रयत्न मात्र शब्दजाल, गपोड़े और बीच-बीच में पाठकों की खीस निकालनेवाले सस्ते प्रकरण बन जाएंगे।

अच्छे व्यंग्य लेखक के लिए सामाजिक नैतिकता पहली शर्त है। जिंदादिल विद्वज्जनों की अंतरंगता प्राप्त किए बिना कोई अच्छा व्यंग्य लेखक नहीं बन सकता। इसके साथ-साथ आम आदमी की मानसिकता के साथ उसका निरंतर जुड़े रहना बहुत जरूरी है। व्यंग्य लिखने के लिए साहित्य की विधाओं का ज्ञान प्राप्त करना ही पर्याप्त नहीं, उसमें राजनीति के नए से नए आंदोलनों, समाज में अनुदिन के उतार-चढ़ावों, वैज्ञानिक विकृतियों, इतिहास के बदलते पृष्ठों तथा दुनिया कहां से कहां जा रही है, सबकी प्रामाणिक जानकारी के प्रति ललक बनी रहनी चाहिए। जो आंख से नहीं देखता, कान से नहीं सुनता, समाज में घुसकर उसकी भलाई-बुराई को स्वयं अनुभव नहीं करता और जो संवेदनशील नहीं है, वह कभी व्यंग्यकार नहीं बन सकता।"

मेरे द्वारा बार-बार व्यंग्य की डींग हांकने से अगर आपको अपच हो गया हो तो यह लीजिए, हींगवटी हाजिर है–

पर-उपदेश कुशल बहुतेरे।
जे आचरहिं ते नर न घनेरे।।

चकाचक

दैनिक 'विकासशील भारत' (आगरा) का 'चकाचक' नामक दैनिक स्तंभ का लेखन मेरे लिए बड़ा मनभावन रहा है। 'बात-बात में बात' अगर राजस्थान में फैला तो 'चकाचक' वृहत्तर ब्रज प्रदेश में। यही एक ऐसा शीर्षक सिद्ध हुआ जो पाठकों में मुहावरा बन गया। उसकी बात मैं यहां अधिक नहीं लिखूंगा। क्योंकि 'विकासशील भारत' पर मैंने इस पुस्तक में अलग से जो एक लेख लिखा है, उसमें इस स्तंभ की विस्तार से चर्चा आ गई है। छोटे-बड़े पत्रों में कुछ-कुछ समय निकलनेवाले अन्य स्तंभों के संबंध में लिखकर आपका समय नष्ट नहीं करूंगा। हां, 'नारदजी खबर लाए हैं' नामक साप्ताहिक स्तंभ कुछ कहने योग्य अवश्य है। उसे अगले लेख में स्वतंत्र रूप से लिख रहा हूं। भूल-चूक लेनी-देनी।

प्रिय व्यासजी,

आपका स्नेह और विश्वास ही मेरा बल है, उसे बनाए रखने का सतत प्रयास करूंगा।

आशा है आप अपने अमूल्य सुझावों से लाभान्वित करते रहेंगे।

शुभकामनाओं सहित

आपका

–विश्वनाथप्रताप सिंह

नारदजी खबर लाए हैं

गोस्वामी लक्ष्मणाचार्य ने यज्ञोपवीत के अवसर पर गायत्री मंत्र देते हुए मेरे कुलगोत्र का परिचय पाकर मेरे नाम के आगे व्यास जोड़ दिया। मेरे पितामह श्री मुरलीधर भंडारी और पिताजी पं. ब्रजकिशोर शास्त्री दोनों ही ब्रज के विख्यात भागवती पंडित रहे हैं। दोनों ने ही देश-परदेश भ्रमण करके पंडितों की मंडली में व्यास-गद्दी को सुशोभित किया है। मुझे भी भागवती पंडित बनाने के लिए प्रारंभ में 'सारस्वत चंद्रिका' रटाई गई थी। श्रीमद्भागवत सहित अनेक पुराणों को मैंने किशोरावस्था समाप्त होते-होते पढ़-सुन लिया था। जब सितंबर 1958 में दिल्ली के दैनिक 'हिन्दुस्तान' में मुझे एक साप्ताहिक स्तंभ प्रारंभ करने को कहा गया तो मैं इसके नाम और काम के संबंध में सोचने लगा। उसी समय नारदजी की छवि अकस्मात मेरे मानस-पटल पर उभर आई।

वह नारद, जिनका उल्लेख 'अथर्ववेद' में बार-बार हुआ है। वह नारद, जो राजा हरिश्चन्द्र के पुरोहित सोमक साहदेव्य के शिक्षक और युधौष्ठि को अभिषिक्त करनेवाले रहे हैं। वह नारद, जो 'मैत्रायणी संहिता' में एक आचार्य और 'सामविधान ब्राह्मण' मे बृहस्पति के शिष्य के रूप में वर्णित हैं। वह नारद, 'छांदोग्योपनिषद्' में जिनका उल्लेख सनत्कुमार के साथ आता है। वह नारद, जिनका नाम संगीत विद्या के आचार्य के रूप में लिया जाता है और कहा जाता है कि वीणा का अविष्कार इन्होंने ही किया था। वह नारद, जिनकी महाभारत में मोक्ष-धर्म के नारायणीय आख्यान में उत्तरदेशीय यात्रा का उल्लेख है, जिसमें उन्होंने नर-नारायण ऋषियों की तपश्चर्या देखकर उनसे प्रश्न किया तथा उन्होंने नारद को 'पाञ्चरात्र धर्म' सुनाया।

वह नारद, जिनके संबंध में श्रीमद्भागवत में लिखा है—नारद वेदज्ञ ब्राह्मणों की एक दासी के पुत्र थे। बाल्यकाल में यह उन ब्राह्मणी की सेवा करते थे। ब्राह्मण भी इनसे बहुत प्रेम करते थे। एक दिन इन्होंने ब्राह्मणों का उच्छिष्ठान्न खा लिया। इससे उनका चित्त शुद्ध हो गया और वह हरि-गुणगान करने लगे। इस समय उनकी अवस्था

पांच वर्ष की थी। इसके कुछ ही दिनों बाद सांप के काटने से इनकी माता का देहांत हो गया। अब नारद स्वाधीन हो गए। आश्रम छोड़कर वह उत्तर दिशा की ओर चल पड़े। घूमते-घूमते एक जंगल में पहुंचे। भूख-प्यास से सताए हुए थे ही, सो एक तालाब में स्नान-जलपान करके वह उसी के तीर पर एक बरगद के पेड़ की छाया में बैठ गए और भगवान का स्मरण करने लगे। भगवान ने उनको हृदय में दर्शन दिए। नारद भगवान का दर्शन फिर बहुत समय तक नहीं कर सके। इससे उन्हें बड़ा कष्ट हुआ। आकाशवाणी हुई कि –"नारद, इस जन्म में तुम हमारा सतत् दर्शन नहीं कर सकते। हमने तुम्हारी अनुराग-वृद्धि के लिए ही तुमको दर्शन दिया है। तुम साधु-सेवा करो, उसी से हमारे पास आ सकते हो।" इसके अनंतर नारद शरीर त्यागकर परमधाम पहुंचे। पुनः युग-सृष्टि के समय नारद मरीचि, भृगु आदि अष्ट ऋषियों के साथ ब्रह्मा के मानस-पुत्र हुए। ब्रह्मवैवर्त पुराण में नारद को ब्रहमा का पुत्र बतलाया गया है।

वह नारद, जिन्हें प्राचीन शास्त्रों में मनुष्यों का संदेश देवों तक तथा देवों का संदेश मनुष्यों तक पहुंचानेवाला बतलाया गया है। वह नारद, जिन्हें देवता और मनुष्यों में कलह का बीज बोने के कारण 'कलिप्रिय' (कलह-प्रिय) कहा गया है। वह नारद, जो दासी-पुत्र होकर भी देवर्षि पद पर प्रतिष्ठित हुए।

वह नारद, जो स्वयं गृहस्थी के चक्कर में नहीं पड़े, अपितु प्रजापति की सृष्टि को भी सीमित करने के लिए मानवों को आसक्ति से विरक्ति की ओर प्रेरित करने लगे। भले ही इसके लिए उन्हें ब्रह्मा के इस शाप का भाजन बनना पड़ा कि वह किसी एक स्थान पर अधिक देर तक न ठहर पाएं और निरंतर यायावर ही बने रहें। वह नारद, जो दुराचारियों के समूल नाश का कारण बने। वह नारद, जिनके कारण 'रामायण' और 'महाभारत' की रचना हो सकी। वह नारद, जो आज भारत के घर-घर में सत्य नारायण की कथा के रूप में "एकदा, नारदो योगी लोकानुग्रहकांक्षया" से ऐसी धार्मिक, सामाजिक और लोकोपकारी कृति छोड़ गए हैं, जिसका नाम तो कथा अवश्य है, पर कथा उसमें ढूंढ़ने को भी नहीं मिलती। कथा नहीं, नारदजी का मंत्र यह है कि सत्य ही नारायण है और उसका व्रत लेनेवाले को निश्चय ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्त हो जाते हैं।

अब मेरे सामने प्रश्न यह था, इन सूक्त और संहिताओं को लिखनेवाले, वाल्मीकि और व्यास को रचनाओं की प्रेरणा देनेवाले, नारायण के परमप्रिय और प्रभु के अनन्य भक्त शिरोमणि को आधुनिक संदर्भ में कैसे रूपायित किया जाए ? कि तभी मेरे मन-मानस में नारदजी की अनेकानेक ललित लीलाएं लहर लेने लगीं।

वह नारद, जिसने बिना क्रोध के कामदेव को वशीभूत किया और उनके इस अहंकार की कथा स्वयं अपने मुख से कहने पर नारायण ने अपनी माया दिखाई। नारद एक कन्या पर रीझ गए। बैकुंठनाथ से प्रार्थना की कि वह उन्हें अपने जैसा रूप दे दें। नारायण ने रूप तो दिया, लेकिन मुख बना दिया बंदर जैसा। वह नारद, जो मनुष्यों से तो कहते थे कि तप करो और इन्द्र को सूचना देते थे कि अगर उस व्यक्ति का तप पूरा हो गया तो तेरा सिंहासन गया। वह नारद, जो कंस को देवकी के पुत्रों की एक ओर हत्या

करने को प्रेरित करते थे, तो दूसरी ओर कंस को यह भी सूचना देते थे कि तेरा काल गोकुल में बड़ा हो रहा है। वह नारद, जो रुक्मणि से कहते थे कि कृष्ण सत्यभामा को ज्यादा प्यार करते हैं और सत्यभामा से कहते कि कृष्ण की हृदय साम्राज्ञी तो रुक्मणि ही है। वह नारद, जिसका लोक ने अर्थ लगाया कि इसके मुंह में दांत नहीं हैं, इसलिए कोई बात अपने मुंह में नहीं रख पाते। इधर की उधर करना और चोर से कहे कि चोरी कर तथा साहू से कहे कि जागता रह। पापियों से कहे कि पाप किए जाओ और भगवान से कहे–हे प्रभु ! पृथ्वी पर पाप बढ़ रहे हैं। पापियों का नाश करने के लिए अवतार धारण करो।

मुझे लक्ष्य प्राप्त हो गया। मैंने सोचा कि आज के अनर्थ को, पाखंड को, राजनीति की विभीषिका को और समाज की विषमताओं को उद्घाटित करने के लिए नारद ही सबसे उचित माध्यम है। मैंने अपने स्तंभ का नाम 'नारदजी खबर लाए हैं' रख लिया।

हमारे नारदजी ने 'हिन्दुस्तान' के पाठकों को प्रथम बार 26 सितंबर 1958 को दर्शन दिए। फिर तो वह 1 मार्च 1978 से पहले प्रति सप्ताह राष्ट्रीय डायरी के रूप में इस पत्र के द्वारा मेरे कल्पना लोक में आते रहे और उनके साथ मेरे संवाद नियमित रूप से छपते रहे। कोई बीस वर्ष तक नारदजी हिन्दी जगत में छाए रहे। केवल 'हिन्दुस्तान' में ही नहीं, प्रयाग से निकलनेवाले 'भारत' तथा पटना से निकलनेवाले 'प्रदीप' में भी इनका साथ-साथ प्रकाशन होने लगा। हिन्दी के कई छोटे-बड़े दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्र भी इन्हें कभी साभार और कभी आभार रहित छापने में रुचि लेते रहे। हिन्दी के अतिरिक्त भारत की अन्य भाषाओं में भी जब-तब नारदजी की दी हुई खबरें छपती रहती थीं। 'हिन्दुस्तान' में पहले यह स्तंभ मंगलवार को छपता था, बाद में रविवासरीय में छपने लगा। पाठक बड़ी उत्सुकता से इसकी प्रतीक्षा किया करते थे। पाठकों पर ही नहीं, मुझ पर भी स्तंभ का नारदीय असर पड़ गया था। मेरे पेट में भी कोई बात नहीं पचा करती थी। दम्पतियों को छेड़ने में और लोगों को परस्पर लड़ा देने और बाद में मिला देने में मुझे बड़ा रस आया करता था। मेरी पत्नी तो मेरी इस आदत पर मुझे आज भी नारदजी कह दिया करती हैं। मैं नारदजी की खबर की सामग्री जुटाने के लिए पत्रकारों से खबरें सूंघता, सुपठित और राज तथा समाजनीति में दक्ष लोगों से मिलता और बात-बात में से बात निकालने की कोशिश करता, तो वह भी कह दिया करते थे–नारदजी, आज किसकी खबर लेनेवाले हैं ?

मैं सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक सभी विषयों पर नारदजी से वार्तालाप किया करता था। मेरे नारदजी मेरे समान ही अटपटे प्रश्नों के चटपटे उत्तर दिया करते थे। कभी वह बहुत गंभीर हो जाते और कभी बहुत हल्के। कभी सनातन धर्म का जमकर समर्थन करते तो कभी पोंगा-पंडितों की बखिया उधेड़ने में भी कोई कसर नहीं छोड़ते। राजनीति में कभी सत्ता पक्ष का समर्थन करने लगते तो कभी विपक्ष के जबर्दस्त हामी बन जाते। नारदजी को भला किसका भय। वह राज-समाज के बड़े से बड़े व्यक्ति को ललकारते, पुचकारते और जब कभी बिगड़ पड़ते तो उसकी धज्जियां उड़ा देते। तीनों लोकों में जिनकी निर्बाध गति हो, उन्हें बड़े से बड़े राजप्रासादों, गुप्त

मंत्रणागृहों, कान्फ्रेंसों, सम्मेलनों और निजी शयनागारों तक में प्रवेश करने से कौन रोक सकता था ? हमारे नारदजी तो आदियोगी हैं। वह किसी भी जीव में प्रवेश कर सकते हैं। आदि पत्रकार हैं। कोई भी रूप धारण कर सकते हैं। आला खबरनवीस हैं। कहीं भी, कोई भी धमाका कर सकते हैं। मॉडर्न जर्नलिस्ट हैं। कोई भी स्कूप मार सकते हैं। ऐसे पत्रकार हैं कि लोक की खबर को परलोक से जोड़ दें और परलोक की खबर को धरती पर उतार दें। उनके नाना रंग हैं और नई से नई रोचक स्टोरियां गढ़ने में उनका कोई सानी नहीं। उनकी वीणा में ऐसा यंत्र लगा हुआ है, जो किसी भी वार्तालाप को पकड़ सकता है। उनकी चोटी स्वयं में वायरलेस है। उनकी पादुकाएं क्या हैं, ऐसे आधुनिकतम राकेट हैं जो पलक झपकते अंड से ब्रह्मांड में और ब्रह्मांड से अन्य ब्रह्मांडों का चक्कर लगाकर पुनः वेदव्यास के पास लौट आते हैं।

नारदजी अद्भुत और उनकी खबरें भी अद्भुत। इनमें रहस्य भी है और रोमांच भी। सांसारिक कलह-क्लेश भी है तथा आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय उपदेश भी। यह है संक्षेप में 'नारदजी खबर लाए हैं' का परिवेश।

ध्येय नारदजी का राष्ट्रीयता और स्वतंत्रता की रक्षा। भारत की सांस्कृतिक-साहित्यिक उन्नति को महत्त्व पहले, राजनीति को बाद में। राजनीति को विवेक से युक्त करना पहले और उससे भी पहले उसके स्वार्थ, दंभ और पाखंड का उच्छेदन। राजनीतिज्ञों को भी कर्त्तव्यबोध का ज्ञान नारदजी ने समय-समय पर कराया है। नारदजी हिन्दी के कट्टर समर्थक हैं और संस्कृति के भी। हिन्दू धर्म के प्रबल पक्षधर हैं, लेकिन धर्म के नाम पर कठमुल्लापन या धार्मिक विद्वेष और उसके ढोंगी स्वरूप के कदापि नहीं। नारद आस्तिक हैं। भारतीय संस्कृति को, भारत भूमि को, भारत के वसुधैव कुटुंबकम के सिद्धांत को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं, लेकिन स्वधर्म, स्वसंस्कृति, स्वभाषा, स्वदेश और स्वाभिमान को मिटाकर कदापि नहीं। नारदजी पुरातन के, सनातन के, आदर्श परंपराओं के सर्वोत्तम प्रतीक हैं, लेकिन दकियानूस नहीं, चिरनवीन, चिरयुवा, अत्यंत संवेदनशील।

मैं अपना अहोभाग्य मानता हूं कि पत्रकारिता में मुझे नारदजी के रूप में अनमोल रतन प्राप्त हो गया। कोहिनूर क्या वैदूर्यमणि से भी दुर्लभ। स्वाभाविक है कि इससे बहुतों को ईर्ष्या होती। वह हुई भी। स्तंभ के विरुद्ध आंदोलन हुए। मेरे घर पर प्रदर्शन भी हुए। धार्मिक असहिष्णु लोगों ने धमकियां भी दीं। राजेनताओं का कोपभाजन भी बना। परंतु सदा-सर्वदा नारदजी मेरी रक्षा करते रहे।

कभी-कभी मैं सोचता हूं, यदि सचमुच किसी समय परलोक में मेरी नारदजी से भेंट हो गई तो अब तक जो मैं उनकी खबर लेता रहा हूं, वहां वह भी मेरी खबर लेना नहीं भूलेंगे। कहेंगे–बच्चा तुमने मेरे साथ कैसा-कैसा खिलवाड़ किया है और मुझे कार्टून बनाकर रख छोड़ा है–बोल तेरे साथ क्या सलूक किया जाए ? परंतु मुझे विश्वास है कि साधुजन संसारी लोगों के साथ अच्छा ही सलूक किया करते हैं।

नारदजी की खबरें रोचक आख्यानों का संग्रह मात्र नहीं हैं। न ये हिन्दी की कथोपकथनयुक्त संवाद शैली का ही मात्र कोई विशिष्ट उदाहरण हैं। ये भारत की तथाकथित बुद्धिवादिता या बुद्धि-दारिद्रय की एक दर्द-भरी दास्तान हैं, जो व्यंग्य-विनोद

के माध्यम से व्यक्त हुई हैं। ये भारतीय समाज, राजनीति और तत्कालीन घटनाओं का ऐसा इतिहास है जो अपने समय को तारीखों से नहीं, देश के उत्थान-पतन और समाज के उतार-चढ़ाव को मानवीयता के साथ जोड़ता है। मैंने यह काम विनोद-विनोद में करने का साहस किया है।

घूमते-घामते, हरिगुण गामते, बीणा बजामते राजस्थान, पश्चिमी बंगाल और ताजनगरी में कुछ दिन रुककर अब पुनः नारदजी भारत की राजधानी दिल्ली में आ गए हैं। 15 अगस्त 1985 से दैनिक 'हिन्दुस्तान' में इनकी खबरें फिर से छपने लगी हैं। पहले 'नारदजी खबर लाए है' नामक स्तम्भ इस बार महीने में दो दिन छपना शुरू हुआ और जब इसने लोकप्रियता पकड़ी और मांग बढ़ी तो इन पंक्तियों के लिखने तक अब यह स्तंभ प्रति रविवार को साप्ताहिक रूप में छपने लगा है। जिसकी नारद-वेदव्यास संवाद के प्रति जिज्ञासा हो, वे अपनी रुचि का प्रदर्शन और मेरे ऊपर कहे हुए कथ्य का सत्य जानने के लिए इसे पढ़कर पहचान सकते हैं।

जब यह स्तंभ पहली बार छपा तो संपादक मेरा नाम इसके नीचे देने को राजी नहीं हुए। मैं वेदव्यास के नाम से लिखने लगा। पर अपने कथन में नारदजी बार-बार व्यासजी-व्यासजी कहकर संकेत में यह बताते रहे कि यह कलियुगी वेदव्यास कोई और नहीं, गोपालप्रसाद व्यास है और मैं भी संकेतों द्वारा अपने कथनों से समय-समय पर यह सिद्ध करता रहा कि यह कलियुगी देवर्षि नारद हैं। अपनी वीणा पर आधुनिक राग बजाते है। परंपराएं सभी जगह टूट रही हैं तो नाम न देने की या कल्पित नाम देने की परंपरा भी टूट गई। आजकल यह मेरे नाम के साथ ही छप रहा है। इसकी लोकप्रियता के संबंध में केवल एक ही तथ्य का उजागर करूंगा कि केवल देशी भाषा-भाषी ही नहीं, जब हिन्दी भाषा और साहित्य में रुचि रखनेवाले विदेशी महानुभाव मिलते हैं तो नमस्ते के स्थान पर 'नमो नारायण' कहते हैं और पूछते हैं कि आजकल आपके नारदजी क्या खबर ला रहे हैं ? नारायण हरि !

राखी ब्रजवानी की निसानी रजधानी जाइ
राधिका गुबिंद गुनगानी रहि जायगी।
कम्य-कविताई के निकुंजन कही जो कथा
ललित लतान लिपटानी रहि जायगी।
जाकौ मन मँहक रह्यौ है मलयागिरि सों
झौंकन की रमक रबानी रहि जायगी।
लीजिए सँवार हिय सम्पुट सहेज न तौ
व्यास कवि मानी की कहानी रहि जायगी।।

–डॉ. विष्णु 'बिराट'

संपादित ग्रंथ

एक मन तो करता है कि मेरे द्वारा संपादित बड़े-बड़े ग्रंथों, जिनमें दो अभिनंदन ग्रंथ भी शामिल हैं, उनका विस्तार से वर्णन करके इस ग्रंथ को और भी बोझिल न बनाऊं। केवल आपको उनकी सूचना भर दे दूं। क्योंकि इनमें से केवल एक 'ब्रज विभव' को छोड़कर शेष अब उपलब्ध भी नहीं हैं। इन मोटे-मोटे ग्रंथों को पुस्तकालय में जाकर पढ़ने का समय भी आज किसके पास है ? फिर सोचता हूं कि जब छोटी-छोटी पुस्तकों पर मैंने बढ़-चढ़कर इस पुस्तक में व्याख्यान दिए हैं तो देश-विदेशों में सम्मानित और वहां के राष्ट्रीय पुस्तकालयों में सुरक्षित इन विशिष्ट ग्रंथों ने ऐसा क्या गुनाह किया है कि ये मेरे ही द्वारा उपेक्षा के पात्र बन जाएं। तो जैसे आजकल की पत्र-पत्रिकाओं में जिन पुस्तकों की समीक्षा नहीं की जाती, केवल प्राप्ति-स्वीकार की जाती है, पहले उसी पद्धति के अनुसार क्रमशः उनका परिचय दे रहा हूं–

1. **पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ :** पृष्ठ संख्या 1054। साइज बीस-तीस अठपेजी। सचित्र। लेख संख्या 131। पांच खंडों में विभाजित। प्रकाशक-अखिल भारतीय ब्रज साहित्य मंडल, मथुरा। प्रकाशन तिथि-अक्षय तृतीया, संवत 2010 वि.। मूल्य-तीस रुपये मात्र, जो अब पांच सौ रुपये में भी उपलब्ध नहीं है। इस ग्रंथ में हिन्दी के सुप्रसिद्ध द्विवेदीकालीन रस-अलंकार के सर्वमान्य लेखक, संस्कृत साहित्य के विद्वान, कवि और समीक्षक, मथुरा निवासी श्री कन्हैयालाल पोद्दार पर श्रद्धांजलि विषयक केवल बारह लेख हैं। शेष लेखों में साहित्य, श्रीकृष्ण और उनकी लीलाएं, इतिहास, पुरातत्व और कला तथा ब्रज जनपद पर विशिष्ट सामग्री संकलित है। इस ग्रंथ के संपादक-मंडल में मेरे अतिरिक्त सर्वश्री वासुदेवशरण अग्रवाल, बाबू गुलाबराय, डॉ. गौरीशंकर सत्येन्द्र एवं श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी सम्मिलित हैं। इस ग्रंथ को ब्रज की सांस्कृतिक-साहित्यिक संपदा का पहला प्रामाणिक ग्रंथ स्वीकार किया गया है।

2. **राजर्षि अभिनंदन ग्रंथ :** पृष्ठ संख्या–720। साइज तेईस-छत्तीस अठपेजी।

सचित्र। लेख संख्या 130। खंड संख्या 6–जीवनी, साहित्य, भारतीय संस्कृति, भाषा-विज्ञान, प्रादेशिक भाषा एवं हिन्दी-प्रसार। प्रकाशक–दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन। प्रकाशन तिथि–15 अक्टूबर 1960 को प्रयाग में समर्पित। उस समय का मूल्य इकत्तीस रुपये मात्र। यह भी अब उपलब्ध नहीं है। इस ग्रंथ में टंडनजी के व्यक्तित्व, उनकी राष्ट्र तथा राष्ट्रभाषा सेवा और जिन-जिन विषयों पर वह स्वयं इस ग्रंथ में सामग्री चाहते थे, वे सब अधिकारी विद्वानों द्वारा इसमें संगृहीत हैं। टंडनजी और उनकी हिन्दी सेवा का यह एक प्रामाणिक दस्तावेज बन गया हैं। संपादक-मंडल-मेरे अतिरिक्त सर्वश्री लालबहादुर शास्त्री, रामधारी सिंह 'दिनकर', जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी, मोत्तुरि सत्यनारायण, यशपाल जैन, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. विजयेन्द्र स्नातक, बाबूराम सक्सेना, डॉ. भोलानाथ तिवारी, मोहनलाल भट्ट एवं श्री माधव।

3. **गांधी हिन्दी दर्शन :** पृष्ठ संख्या 520। साइज तेईस-छत्तीस अठपेजी। चार खंडों मे विभाजित। पहला, गांधीजी के हिन्दी विषयक लेखन और वचन। दूसरा, गांधीजी के हिन्दी संबंधी पत्र और संस्मरण। तीसरा, सिद्धांत और विवेचन। चौथा और अंतिम, विशिष्ट और परिशिष्ट। प्रकाशक–दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन। गांधी जन्म शताब्दी के अवसर पर प्रकाशन तिथि–26 जनवरी, 1970 तथा उस समय का मूल्य पचास रुपये मात्र। शायद इसकी कुछ प्रतियां अभी सम्मेलन में शेष हों। संपादक–इन पंक्तियों का लेखक। परामर्श-मंडल में सर्वश्री आचार्य काका कालेलकर, बनारसीदास चतुर्वेदी, हरिभाऊ उपाध्याय, वियोगी हरि, हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्रीमन्नारामण, मार्तण्ड उपाध्याय एंव भवानीप्रसाद मिश्र आदि। यह ग्रंथ राष्ट्रपिता महात्मा गांधी द्वारा राष्ट्रभाषा के लिए किए गए बहुविध कार्यों का प्रामाणिक इतिवृत्त है। गांधीजी ने हिन्दी के लिए क्या कहा, क्या लिखा और क्या किया, इसकी संपूर्ण जानकारी इस ग्रंथ में संकलित की गई है। गांधीजी के हिन्दी संबंधी कार्यों पर न इस ग्रंथ से पूर्व और न पश्चात् ही ऐसा कोई अन्य ग्रथ देखने-सुनने में आया।

4. **स्वतंत्रता रजत जयंती अभिनंदन ग्रंथ (हिन्दी के पच्चीस वर्ष) :** पृष्ठ संख्या आठ सौ (अलंकरण और चित्रों सहित साइज तेईस-छत्तीस अठपेठी। इस ग्रंथ में सात खंड हैं जो इस प्रकार हैं–प्रथम, स्थिति और परिस्थिति। द्वितीय, विकास और क्रम। तृतीय, प्रचार और बाधा। चतुर्थ, क्या और कैसे ? पंचम, साहित्य और समीक्षा। षष्ठ, जयंती और कार्यक्रम और सप्तम, संगठन और सेवा। लेखों की संख्या एक सौ दस। प्रकाशक–दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन। प्रकाशन तिथि–15 जुलाई, सन् 1973 ई., मूल्य–एक सौ चालीस रुपये। इसकी भी कुछ प्रतियां सम्मेलन कार्यालय में शेष्र हों। संपादक इन पंक्तियों का लेखक। परामर्शदाता–सर्वश्री उमाशंकर दीक्षित, राजबहादुर, कृष्णचंद्र पंत, विद्याचरण शुक्ल, राधारमण, विजयेन्द्र स्नातक, भवानीप्रसाद मिश्र, मार्तण्ड उपाध्याय एवं श्री हरिबाबू कंसल आदि। इस ग्रंथ में प्राचीनतम से लेकर आधुनिकतम राष्ट्रगीतों के अतिरिक्त भारतीय स्वातंत्र्य के जयघोष के साथ-साथ स्वतंत्रता के बाद के पच्चीस वर्षों में हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं में जो उल्लेखनीय कार्य हुआ, उसका तथ्यपरक विवेचन है।

5. **ब्रज विभव :** पृष्ठ संख्या-चित्रों सहित आठ सौ चौबीस। साइज बीस-तीस अठपेजी। प्रकाशक–दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन। प्रकाशन तिथि–13 मई, 1980 मूल्य–तीन सौ रुपये। इसकी कुछ प्रतियां श्री पुरुषोत्तम हिन्दी भवन न्यास समिति नई दिल्ली के पास उपलब्ध हैं। संपादक–इन पंक्तियों का लेखक। छह खंडों में विभाजित–पहला, ब्रज-गरिमा। दूसरा, इतिहास एवं संस्कृति। तीसरा, भाषा एवं साहित्य। चौथा, कला एवं संस्कृति। पांचवां, ब्रज का लोकमानस और छठा, शेष एवं विशेष। लेखों की संख्या एक सौ इक्कीस। इस ग्रंथ को देशी-विदेशी विद्वानों ने ब्रज के सांस्कृतिक अब्दकोश के रूप में मान्यता दी है। विशेषज्ञों तथा ब्रजप्रेमियों का कहना है कि जो इस ग्रंथ में है वह ब्रज में है और जो इसमें नहीं है, वह शोध का विषय है।

यह हुई संक्षेप में जानकारी। अब केवल एक बात रह गई कि इन भारी-भरकम ग्रंथों का वजन कितना है ? यह समझ लीजिए कोई हट्टा-कट्टा आदमी ही इन्हें सिर पर लादकर ले जा सकता है। आज के दुर्बल बुद्धिजीवी तो इन्हें देखते ही हाथ जोड़ देंगे और कहेंगे दर्शन कर लिए यही बहुत है। समीक्षाएं तो इनकी बहुत हो चुकी हैं। फिर भी लिखवाना चाहो तो हमें बिना पुस्तक पढ़े भी आलोचना लिखना आता है।

छोड़िए वजन को। आइए, अब अपनी सुपरिचित कथोपकथन शैली में कुछ चर्चा करें–

आप संपादन-कार्य को कला मानते हैं ?

क्या कलाएं पहले से ही कुछ कम हैं कि इनमें एक और जोड़ी जाए ?

कला आखिर है क्या बला ?

कला वह है जो गाई जाए, बजाई जाए और नाची जाए। हमारा मतलब है गायन, वादन और नृत्य से।

और जो हृदय से कागज पर उतरे, कैनवास पर चित्रांकित हो, पत्थरों को मूर्तिमान करके जीवंत बनाए, क्या इनको कला की श्रेणियों में नहीं मानेंगे ?

आप कहेंगे तो मान लेंगे, पर कागज पर अंकित हुई हर चीज अंग्रेजी का लिटरेचर तो हो सकती है, भारतीय साहित्य-कला नहीं।

क्या कैनवासी कारीगरी को कला कहने में आपको संकोच है ? जाली-झरोखे, तोरण-स्तंभ, प्रासाद-मंदिर और छोटी-बड़ी मूर्तियों के बारे में आपका क्या विचार है ?

कैनवास पर कूची फेरना ही कला नहीं है। हर धब्बों और लकीरों के अर्थ खोज-खोजकर कला सिद्ध करने को माथापच्ची ही क्यों न कहा जाए ? फिर तो सिनेमाघरों में चलनेवाली नई फिल्मों के लिए चलती-फिरती प्रचारात्मक हाथ-गाड़ियों पर बने हुए दुतरफा रंगीन चेहरों और दृश्यों को भी कला मानना पड़ेगा। हर रोशनदान, खिड़की, दरवाजे, महल, मंदिर और मूर्तियां आंख फाड़कर प्रणाम करने योग्य हैं, कला-वस्तुएं नहीं। तब तो मिट्टी में कलावे से बंधे हर ढेले को गणेश मानना पड़ेगा। हर शिव-लिंग में कला के दर्शन करने पड़ेंगे। भैरवनाथ और पूंछरी के लौठा को भी कला का उत्कृष्ट उदाहरण कहना होगा। आप इन कलाओं के चक्कर में क्यों पड़े हैं ?

इसलिए कि लोग संपादन-कार्य को भी कला मान लें।

पहले आप पत्रकारिता को तो कला घोषित करा लीजिए। जो देखते-देखते एक उद्योग बन गई है। जिसका संपादक एक अफसर बन गया है। जो छोटे-बड़े कई बाबुओं के बल पर अखबार निकालता है। बाकी जो लोग अपने को पत्रकार कहते हैं, वे कामगार हैं। दिन-रात खटते हैं। यूनियन बनाते हैं। हल्ला मचाते हैं। हड़तालें करते हैं। संपादक अफसर पहले अपने बाबुओं के साथ इनका विरोध करता है और फिर तटस्थ हो जाता है। तब हो जाती है तालाबंदी। बताइए, इस क्षेत्र में कला का कैसे प्रवेश हो सकता है ?

परंतु इन पत्र-पत्रिकाओं द्वारा निकाले गए चित्र-विचित्र विशेषांक और साहित्यिक पत्रकारिता से विकसित हुए बड़े-बड़े ग्रंथों को तो कृपया साहित्य-कला की कोटि में रख लीजिए।

जी नहीं। जो मौसमी हैं, पढ़ते ही रद्दी में बेच दिए जाते हैं, ऐसे जुगनुओ का रात के अंधकार में चमकना कला के प्रकाश का द्योतक नहीं। अभिनंदन ग्रंथ तो निरालाजी की कृति 'कुल्ली भाट' के नाम को शुद्ध करके इन्हें कुली और भाट लोगों का कारनामा बताया जा सकता है। हिन्दी के अधिकतर अभिनंदन ग्रंथ इसी कोटि के हैं। रह गए विशेष उद्देश्य से निकाले गए बड़े-बड़े पोथे। वे या तो पुस्तकालयो की शोभा बढ़ाते हैं या बुद्धिमानों की श्रेणी में खुद को गिनवाने वाले धनीमानी व्यक्तियों की अलमारियों में करीने से चुन दिए जाते हैं अथवा दीमकों के आहार बन जाते हैं। इन व्यर्थ के विवादों को छोड़कर आप अपनी बात कहिए।

तो जी, अपनी बात यह है कि यह अव्यापारेषु व्यापार मैं बहुत पहले से करता रहा हूं। 'साहित्य संदेश' आगरा मे जब था, तब युग-प्रवर्तक श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी, उपन्यास-सम्राट प्रेमचंद, आलोचक प्रवर आचार्य रामचंद्र शुक्ल और उपन्यास अंक जैसे विशेषांकों का संपादन कर चुका हूं। दैनिक 'हिन्दुस्तान' में जब आया तो 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' निकलने से पहले यहां से एक वार्षिक विशेषांक प्रायः कांग्रेस अधिवेशनों के अवसर पर निकलता था, जो लाखों की संख्या में छपता था और देश के सभी अंचलों और विदेशों में भी भेजा जाता था। इनके संपादन में भी मेरा योगदान रहा है। इसी तरह ब्रज साहित्य मंडल और दिल्ली के हिन्दी साहित्य सम्मेलन से भी निकलनेवाली साहित्यिक पत्रिकाओं, छोटी-बड़ी किताबों, शोध ग्रंथों और स्मारिकाओं को मैंने यत्नपूर्वक संपादित ही नहीं किया, प्रकाशित भी कराया है।

तो कौन-सा तीर मार लिया ? प्रत्येक संस्था चलानेवाले को या पत्रों में काम करनेवाले को ये काम करने ही पड़ते हैं। ये तो संस्थानों के धंधे हैं। अपने को प्रचारित और प्रतिष्ठित करने के कारनामे हैं। ऐसा करनेवाले तो बहुत हुए हैं और हैं। उन्हें साहित्य और कला की कोटि में नहीं गिना जा सकता। आप इन सब लफड़ों में न पड़िए। जिन पांच ग्रंथों का आपने पहले जिक्र किया है, उनके संबंध में कोई उल्लेखनीय बात हो तो बताइए ?

तो सुनिए, पहले पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ को ही लें। सबसे पहले मैंने सामग्री एकत्र की। लेख मंगवाए। जब छपने का कहीं डौल नहीं बैठा तो डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के पास आया। वह उन दिनों दिल्ली में एशियन एन्टीक्विटीज़ में उच्च पदाधिकारी थे। ब्रज साहित्य मंडल के भी अध्यक्ष रह चुके थे। पोद्दार परिवार से भी उनका निकट का परिचय था। महापंडित और ब्रज के तो प्रेमी थे ही, मेरे भी कृपालु मित्र, कहूं कि शिक्षक थे। उन्होंने सामग्री ले ली। उसमें पुरातात्विक आदि विषयों के लेख जोड़े। इस ग्रंथ को छपवाने के लिए कोशिश भी करने लगे। फिर मैं डॉ. सत्येन्द्रजी के पास पहुंचा। वह भी ब्रज साहित्य मंडल के संस्थापकों में थे। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के पुत्र कलकत्तावासी श्री मदनगोपाल पोद्दार के सहपाठी रह चुके थे। पोद्दारजी को ही नहीं, हम सबको भी आशा थी कि श्री मदनगोपाल पोद्दार इसके प्रकाशन का व्यय-भार उठा लेंगे। फिर वासुदेवशरण अग्रवाल तथा सत्येन्द्रजी जैसे लोगों के कहने पर तो वह इनकार कर ही नहीं सकते। लेकिन मदनगोपालजी ने कहा कि संपादक लोग कलकत्ता आएं, मैं धन एकत्र करा दूंगा। 'मरता, क्या नहीं करता।' मैं, वासुदेवशरणजी, गुलाबरायजी, नवीनजी आदि को लेकर कलकत्ता पहुंचा। हम लोग चंदा एकत्र करने के कार्य में जुट गए। लेकिन मदनगोपालजी हमारे साथ कहीं नहीं गए। चंदा वसूली के अनेक संस्मरण हैं। केवल एक दूंगा।

एक ख्यातिनामा धनी सेठ के पास हम सब रात को नौ बजे पहुंचे। उन्होंने आदरपूर्वक स्वागत किया। चांदी के गिलासों में चंदन का शरबत पिलाया। उन्हें भी कुछ धार्मिक और गोरक्षा विषयों पर लिखने का शौक था। छोटी-बड़ी पुस्तकें भी छाप रखी थीं। इससे पूर्व कि हम कुछ अपनी कहें, वह अपनी कहने लगे और पुस्तकें सुनाने लगे। हम लोग याचक बनकर गए थे। श्रद्धालु श्रोता बनना हमारी लाचारी थी। वासुदेवशरणजी ने आंखें मूंदकर समाधि धारण कर ली। बाबू गुलाबरायजी तकिए के सहारे लगभग लुढ़क गए। नवीनजी के चेहरे पर आक्रोश के रंग उभरते आ रहे थे। मुझे डर था कि कहीं ये श्वेत केशी, श्वेत वस्त्रधारी, श्वेत शार्दूल कहीं शिकार पर झपट न पड़े। मैं भी धीरज खो बैठा था, लेकिन विनम्रता से कहा–"अपनी पुस्तकों का एक-एक सेट हमें दे दीजिए। घर पर आराम से पढ़ लेंगे। इस समय तो हम किसी महत्त्वपूर्ण कार्य से आपकी सेवा में उपस्थित हुए हैं।" वासुदेवशरणजी ने वह कारण बताया। गुलाबरायजी ने प्रतिपादन किया। मैंने सहायता के लिए धनराशि की अपील की। सेठजी ने घंटी बजाई। नौकर फिर चांदी के गिलासों में केसरिया बादाम का दूध लेकर आया। कुछ तसल्ली हुई। भरोसा हुआ कि कुछ मिलेगा। लेकिन हमने गिलास नीचे भी नहीं रखा था कि सेठजी बोले–"मैं तो अपने सभी साधन अपनी इन्हीं प्रवृत्तियों में लगा रहा हूं। क्षमा कीजिए, मैं आपकी कोई सहायता नहीं कर सकता।" सुनकर नवीनजी को ताव आ गया। बोले–"ए धन्नासेठ ! क्या अपने ये पेम्फलेट सुनाने को हमें टाइम दिया था ?" फिर हमसे बोले–"चलो-चलो, रात के बारह बज गए।" हम लिफ्ट से सात मंजिल नीचे उतरते आ

रहे थे। गुलाबरायजी ने सूम प्रवृत्ति पर एक परिहासपूर्ण दोहा कहा। और मैं मन ही मन कह रहा था–अभिनंदन किसी का और किसी के बाप का। खेती चरेगा कोई और जुत रहे हैं हम बैल।

खैर, यह ग्रंथ बड़ी सजधज और छपाई-सफाई की दृष्टि से बहुत उत्तम निकला। इसका समर्पण समारोह पूरी साहित्यिक गरिमा के साथ कलकत्ते में संपन्न हुआ। अध्यक्षता की देश के सुप्रसिद्ध भाषा-विज्ञान विशेषज्ञ डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने। ग्रंथ समर्पित किया श्री पुरुषोत्तमदास टंडन ने कन्हैयालालजी पोद्दार को। बंगला और हिन्दी के सभी श्रेष्ठ साहित्यकार उस आयोजन में उपस्थित थे। मथुरा में पोद्दारजी की शोभायात्रा निकली। यद्यपि संपादक-मंडल में बड़े-बड़े विद्वतजन शामिल थे, परंतु उस समय भी और आज भी जाननेवाले जानते और मानते हैं कि इस ग्रंथ की धुरी इन पंक्तियों का लेखक ही था। यह सब रचना व्यास की ही है। इसे प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में सबने स्वीकार किया। परंतु मैं मानता हूं कि इसके विद्वान संपादक केवल नाम के नहीं थे। उन्होंने अपने-अपने क्षेत्र चुने और उनमें महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इनके साथ से मैं भी तर गया। आप पूछेंगे मुझे मिला क्या ? तो मैं बताऊंगा कि बंबई जाने पर जब मैं पोद्दारजी के बड़े पुत्र रामनिवासजी के पास ठहरा तो उन्होंने मुझे एक कलाई घडी, एक पारकर पैन और एक ग्रंथ भेंट किया, बस। इतना ही क्या मुझको कम है।

अब राजर्षि अभिनंदन ग्रंथ की बात करें। प्रस्ताव किया दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने कि ग्रंथ निकले। जुड़े इसके साथ तत्कालीन गृहमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री। समस्या थी कि टंडनजी से स्वीकृति कौन प्राप्त करे ? मैंने कहा–शास्त्रीजी, आप करें। शास्त्रीजी ने कहा–आप करें। टंडनजी अपने व्यक्तिगत प्रचार के लिए किसी योजना को स्वीकार करनेवाले नहीं थे। परतु मुझ पर उनका बहुत स्नेह था और वह मेरी हिन्दी-सेवा को मान भी देते थे। उन्होंने स्वीकृति तो दे दी, परंतु शर्तें भी लगा दीं। उन्होंने मुझे लिखा कि ग्रंथ में उन पर बहुत कम और हिन्दी पर अधिकतम प्रकाशित किया जाए। उन पर जो लेख छपें वे उन्हें दिखा लिए जाएं। कोई अतिशयोक्तिपूर्ण बात न छपे। अगर चित्र छापने हों तो उनका चुनाव उन्हें बताकर किया जाए। यह भी कहा कि ग्रंथ समर्पण किसी राजनेता से कराना हो तो राजेन्द्र बाबू से कराया जाए। इलाहाबाद में जो स्वागत समिति बने उसमें श्रीमती महादेवी वर्मा, सुमित्रनदन पंत शीर्षस्थ पदों पर रहें। स्वागत समिति का मंत्री श्री वाचस्पति पाठक को बनाया जाए। आयोजन में राजनेताओं के बजाय सेवाभावी हिन्दी-कार्यकर्त्ताओं को निमंत्रित किया जाए। आदेश स्वीकार किए गए। शास्त्रीजी के योगदान के कारण इस ग्रंथ के प्रकाशन में धन संकट आड़े नहीं आया। संपादक-मंडल बना। खंड विभाजित हुए। प्रत्येक खंड के लिए एक नामधारी और दूसरा सक्रिय विद्वान उसके साथ जोड़ा गया। उन्हें लेखकों से संपर्क करने, पत्र-व्यवहार करने के लिए अग्रिम धनराशि भी दी गई। अच्छी प्रामाणिक सामग्री एकत्र

हो गई। ग्रंथ भी उत्तम रीति-नीति से छप गया।

राजेन्द्र बाबू से मैंने प्रार्थना की। वह सहर्ष तैयार हो गए। दिल्ली से एक स्पेशल रेलगाड़ी प्रयाग के लिए रवाना हुई। इसमें राजधानी के विद्वान साहित्यकार, टंडनजी के प्रेमी तथा सम्मेलन के लोग चले। राजेन्द्र बाबू भी इस गाड़ी में थे। शास्त्रीजी भी सपरिवार इसी गाड़ी में चल रहे थे। मैं सपत्नीक अपने मित्रों के साथ एक सामान्य डिब्बे में बैठ गया। शास्त्रीजी को जब मालूम हुआ तो वह मेरे डिब्बे में अपने सहायक के साथ आए और मेरा बिस्तर-अटैची उठवाकर अपने लिए सुरक्षित विशेष डिब्बे में सपत्नीक ले गए। प्रयाग में मेरे ठहरने के लिए उन्होंने अलग से विशेष प्रबंध किया। रास्तेभर गाड़ी जिस-जिस स्टेशन पर रुकी, वहां-वहां सत्कार हुआ। गाड़ी को हमने विशेष रूप से हिन्दी संबंधी वाक्यों तथा फूलों से सजाया हुआ था। इलाहाबाद में शास्त्रीजी पहले उतरकर स्वागतकर्त्ताओं में जा मिले। समर्पण समारोह के लिए जो सभा हुई उसमें अपार भीड़ थी। लोगों का कहना है कि इतनी भीड़ तो कभी नेहरूजी के लिए भी नहीं जुटी। समारोह की अध्यक्षता डॉ. सम्पूर्णानंद ने की। महोदवीजी स्वागताध्यक्षा थी। पंतजी सांस्कृतिक कार्यों के संयोजक थे। देशभर के हिंदी-प्रचारक उपस्थित थे। अनेक राज्यों के राज्यपाल और मुख्यमंत्री भी अपने-आप आ गए थे। सभा में इतना कोलाहल था कि किसी का भाषण नहीं सुना जा रहा था। मंच पर भी जगह नहीं थी। मैं भी एक कोने में किसी तरह लटका हुआ था। शास्त्रीजी मंच के आगे जमीन पर बैठे थे। टंडनजी बहुत जर्जर हो गए थे और उस समय बहुत रुग्ण थे। उन्हें स्ट्रेचर पर सम्मेलन के कार्यकर्त्ता अपने कंधों पर लाए। जय-जयकार के तुमुल निनादों ने और भी कोलाहल उत्पन्न कर दिया। एक से एक धाकड़ व्याख्यान-वाचस्पति मुंह लटकाकर लौट रहे थे। तब शास्त्रीजी भाई वाचस्पति पाठक के साथ मेरे पास आए और जबरन उठाकर मुझे माइक के पास ले गए। मुझे भाषण देना नहीं आता। पर उस दिन देवी सरस्वती मेरी जिह्वा पर ऐसी बैठीं कि मेरा भाषण पूरा सुना ही नहीं गया, उसे बार-बार सराहा भी गया। कोलाहल थम गया। मंच के विद्वतजन तथा नेता अभिभूत हो गए। मेरा पहला वाक्य यह था—"आज दिल्ली की यमुना इलाहाबाद की गंगा से मिलने आई है। साहित्य सरस्वती भी आज अप्रकट नहीं रहीं, आपके सामने हैं। आज राष्ट्र, राष्ट्रभाषा और आदर्शों का अभिनंदन है। नेहरूजी नहीं आए। अगर आते तो देखते कि उनको राजनीति में लानेवाले पुरुषोत्तम सचमुच पुरुषोत्तम हैं।" आदि-आदि। भाषण समाप्त हुआ तो वाचस्पति पाठक ने मुझे गले लगाया और शास्त्रीजी ने पीठ ठोंकी। फिर तो अन्य वक्ताओं को ही नहीं, टंडनजी के क्षीण स्वर को भी लोगों ने शांत भाव से सुना। जैसा ग्रंथ निकला, उससे भी अधिक सफल समर्पण समारोह रहा। यह किसी राजनेता का नहीं, भारत के एक अभिनव ऋषि के प्रति जनता का विशिष्ट श्रद्धा-समर्पण था। इस ग्रंथ को लेकर कुछ खट्टी-मीठी यादें भी इस समय आ रही हैं।

शास्त्रीजी इस ग्रंथ का संपादक मुझे बनाना चाहते थे। संपादक-मंडल की गोष्ठी

में कई लोग भी इस पक्ष में थे। लेकिन नगेन्द्रजी का कहना था कि इतने विशिष्ट लोगों के रहते हुए व्यास का नाम कार्यकारी या संयोजक संपादक के रूप में ही जाना चाहिए। कभी कटु वचन न बोलने और क्रोध न करनेवाले शास्त्रीजी को भौंहें भी मैंने तनी देखीं। जब वह मेरे पक्ष में बोलने लगे तो मैंने बीच में ही हस्तक्षेप करते हुए कहा–"मैंने काम कर दिया, मुझे नाम नहीं चाहिए। शास्त्रीजी, हर खंड पर अपने संपादकों के नाम जाएं और भूमिका आप लिख दें।" मैंने सबको इस प्रस्ताव पर सहमत कर लिया। शास्त्रीजी भी जैसे-तैसे सहमत हो गए। लेकिन भूमिका लिखने के लिए मुझसे कहने लगे। लेकिन मैंने अनुनय-विनय करके उनसे भूमिका लिखवा ही ली।

इस ग्रंथ से एक महत्त्वपूर्ण कार्य और हुआ। ग्रंथ के प्रकाशन के बाद कुछ धनराशि बच गई थी। शास्त्रीजी के प्रयत्न से सरकार ने भी इसकी पांच सौ प्रतियां खरीद ली थीं। इस राशि की ओर सम्मेलन के कुछ लोग ललचाई दृष्टि से देखने लगे। तब मैंने यह निश्चय किया कि इस राशि को लेकर टंडनजी के नाम से एक ट्रस्ट बना दिया जाए। सम्मेलन में इसका विरोध भी हुआ। कुछ लोग सम्मेलन से कुछ वर्षों के लिए निकाले भी गए। शुरू से लेकर अब तक मै निर्विरोध सम्मेलन का महामंत्री चुना जाता था। तब अगले चुनाव में मेरे विरुद्ध श्री अक्षयकुमार जैन को असंतुष्ट खेमे ने खड़ा कर दिया। चुनाव तो मैं जीत गया, परंतु उक्त चुनाव को अदालत में चुनौती दे दी गई। समझौता हुआ, लेकिन मेरी सूझबूझ और साथियो के सहयोग से श्री पुरुषोत्तम हिन्दी भवन न्यास समिति का स्वतंत्र रूप से संगठन बन गया। शास्त्रीजी इस न्यास के पहले अध्यक्ष बने और मै मंत्री। यही न्यास अब दिल्ली में हिन्दी भवन का निर्माण करा रहा है।

'गांधी हिन्दी दर्शन' ऐतिहासिक और शोधपूर्ण ग्रंथ है। जब तक गाधीजी की कीर्ति कथा, उनके राष्ट्र और राष्ट्रभाषा के लिए किए गए कार्यों को देश याद रखेगा, तब तक राष्ट्रकर्मियों और राष्ट्रभाषा-प्रेमियो तथा देश में अखिल भारतीय हिन्दी-प्रचार का इतिहास खोजने और शोधनेवालों को इस ग्रंथ की तलाश रहेगी। इसमें गांधीजी के हिन्दी संबंधी सभी कार्य-कलापों का प्रामाणिक विवरण है। गांधीजी ने अपने पत्रों में, चिट्ठियों में, लेखों में हिन्दी के लिए कब-कब क्या लिखा, अपनी प्रार्थना सभाओं में, व्याख्यानों मे, उद्बोधनो में और बड़े-बड़े नेताओं से लेकर छोटे-छोटे कार्यकर्त्ताओं से हिन्दी के सार्वदेशिक महत्त्व के संबध में क्या-क्या कहा, इसका तिथिवार ब्यौरा दिया गया है। गाधीजी के आगमन से ही टंडनजी का हिन्दी साहित्य सम्मेलन चमका। धुर दक्षिण (मद्रास) में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा का गठन हुआ और उनके द्वारा संस्थापित वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति का जाल अहिन्दी क्षेत्रों में फैल गया। उनकी प्रेरणा से अनेक छोटी-बड़ी हिन्दी-संस्थाएं भी गठित हुई। कानपुर के कांग्रेस अधिवेशन में हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार करने का प्रस्ताव भी स्वीकृत किया गया। हजारों कांग्रेसजन गांधीजी के इस रचनात्मक

कार्यक्रम में भाग लेने लगे। टंडनजी पूरी तरह हिन्दी के प्रति समर्पित हुए। यह गांधीजी ही की हिन्दी-निष्ठा का प्रभाव था कि आगे चलकर संविधान में हिन्दी को राष्ट्रभाषा और राजभाषा का पद प्राप्त हुआ। इस प्रकार गांधीजी ने हिन्दी के लिए जो-जो कार्य किए, इस ग्रंथ में उनका प्रामाणिक विवरण तो है ही, गांधीजी के जीवन-काल में जिन्होंने हिन्दी की महत्त्वपूर्ण सेवा की, उनके संस्मरण भी इस ग्रंथ में सम्मिलित हैं। इस ग्रंथ का संपादन मेरे लिए जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

इस ग्रंथ की तैयारी में मोरारजी भाई ने महत्त्वपूर्ण योग दिया। उन्होंने नवजीवन ट्रस्ट से इस ग्रंथ को छपाने की अनुमति दिलवाई। इस ग्रंथ की सामग्री को बाद में देखा और उसे नवजीवन ट्रस्ट तथा हिन्दीप्रेमी गांधीवादियों को खरीदने के लिए प्रोत्साहित भी किया। मोरारजी ने स्वयं भी इसकी एक प्रति खरीदी। भेंट में नहीं ली। गांधीजी के साथी आचार्य काका कालेलकर ने इस ग्रंथ में सर्वाधिक रुचि ली। तब उन्हें दिखाई नहीं देता था और सुनते भी कान के पास जाकर बहुत जोर से बोलने पर थे। परंतु इस कार्य के लिए जब-जब मैं उनके पास गया, उन्होंने अपने युग की महत्त्वपूर्ण बातें बताईं, स्वयं लिखा और इस ग्रंथ में क्या-क्या जाना चाहिए तथा वह कहां-कहां से प्राप्त होगा, इसकी मुझे सूचना दी। कई पुस्तकें भी उन्होंने मुझे अपने निजी पुस्तकालय से देकर कृतार्थ किया। इस समय मुझे अपने मित्र सुकवि एवं पत्रकार भवानी भाई की बहुत याद आ रही है। उन दिनों वह संपूर्ण गांधी वाङ्मय का संपादन कर रहे थे। यह वाङ्मय कई खंडों में प्रकाशित हुआ है। इन खंडों में जहां-जहां गांधीजी के हिन्दी संबंधी वचनों के उद्धरण मिलते, उनको अथ से इति तक तिथिवार वह मेरे पास लगभग प्रतिदिन भेजा करते थे। उन्होंने अपने दो साथी सहायक संपादकों को इस कार्य के लिए लगा दिया था। यद्यपि संपूर्ण गांधी वाङ्मय के अनेक खंड मेरे पास थे, लेकिन मेरी आंखें भी दगा देती जा रही थीं। मैं उनमें से ऐसी सामग्री नहीं खोज सकता था। इस ग्रंथ के लिए भवानी भाई का यह अकथनीय सहयोग जहां उनकी गांधी-दर्शन में पैठ का प्रमाण है, वहां मेरे साथ उनकी अभिन्न मित्रता का भी परिचायक है। यदि मैं इस अवसर पर समधी होने के कारण सस्ता साहित्य मंडल के तत्कालीन मंत्री भाई मार्तण्डजी उपाध्याय के योगदान का उल्लेख न करूं तो यह अक्षम्य कृतघ्नता होगी। वह और उनका सस्ता साहित्य मंडल गांधीजी की स्मृतियों और ग्रंथों का विपुल भंडार था। मार्तण्डजी की कृपा से मुझे ये सब सुलभ हो गए। मार्तण्डजी ने अथ से लेकर इति तक, तैयारी से लेकर ग्रंथ बिक्री तक बड़े उत्साह से कंधे से कंधा भिड़ाकर मेरे साथ काम किया। गांधीजी जब आंदोलन स्थगित करते थे, तब कांग्रेसजनों को रचनात्मक कार्यों में प्रवृत्त कर देते थे। इन रचनात्मक कार्यों में उनका राष्ट्रभाषा संबंधी कार्य कदाचित् सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसी रचनात्मक कार्य का प्रामाणिक दस्तावेज हैं 'गांधी हिन्दी दर्शन'।

•

'स्वतंत्रता रजत जयंती अभिनंदन ग्रंथ' (हिन्दी के पच्चीस वर्ष) की दो विशेष बातों की

ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूं। प्रथम तो यह कि इसमें प्राचीनतम से लेकर आधुनिकतम राष्ट्रगीतों को अविकल रूप से उपलब्ध कराया गया है। बंकिमचंद्र चटर्जी का ऐतिहासिक राष्ट्रगीत 'वंदे मातरम्' आजकल संक्षिप्त रूप में गाया जाता है। उक्त गीत के संघर्षी तेवर परवर्ती राजनीति ने छोड़ दिए हैं, लेकिन इस ग्रंथ में वह पूरा का पूरा दिया गया है। अपने मित्र कानपुर के श्री श्यामलाल पार्षद का जोशीला राष्ट्रगीत 'झंडा ऊंचा रहे हमारा' में भी कतर-ब्यौंत कर दी गई है। इस ग्रथ में उन्हीं की हस्तलिपि में पूरा गीत प्रकाशित हुआ है। इसमें भारतेन्दु हरिश्चंद्र के 'डूबत भारत नाथ', कवीन्द्र रवीन्द्र के 'जन-गण-मन' के साथ-साथ सर्वश्री माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सोहनलाल द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, दिनकर और सुमित्रानंदन पंत आदि के राष्ट्रगीतों के साथ-साथ मेरा भी एक राष्ट्रगीत संकलित है। दूसरी बात यह है कि इसमें स्वतंत्रता के बाद के पच्चीस वर्षों में हिंदी भाषा और साहित्य की विविध विधाओं में क्या-क्या उल्लेखनीय कार्य हुआ, इसका विस्तृत विवरण है। इसमें ललित साहित्य के साथ ज्ञान के साहित्य को भी सम्मिलित किया गया है। विज्ञान और तकनीकी साहित्य का भी विहंगावलोकन है। शब्दावली की भी चर्चा है। विशेष बात यह है कि इसमे सिने-साहित्य, क्रीड़ा-साहित्य, संस्मरण-साहित्य, प्रकाशन-साहित्य, बाल-साहित्य, अनुवाद-साहित्य के साथ-साथ अभिनंदन ग्रंथों के साहित्य को भी सम्मिलित किया गया है। अर्थात् हिंदी लेखन की जिन विधाओं को साहित्य की संज्ञा नही मिली है, उनको इस ग्रथ में मान्यता प्रदान की गई है। कहना नहीं होगा कि स्वतंत्रता रजत जयंती के माध्यम से मैंने स्वतंत्रता के पच्चीस वर्षों मे हिन्दी में जो प्रगति हुई थी, उसके साथ-साथ यह भी दर्शाया है कि अब स्थिति और परिस्थिति क्या है ? इसके अतिरिक्त मैंने खोज-खोजकर हिंदी के संबंध में विभिन्न भाषा-भाषियों, साहित्यकारों, विद्वानों, राजनीतिज्ञों तथा बुद्धिजीवियों ने जो कहा है उनके आदर्श वाक्य भी संगृहीत करके दिए हैं, जो अब दुर्लभ हो चले हैं। इस ग्रंथ मे श्री तूलिका द्वारा बनाए गए रेखांकन अत्यंत सुंदर बन पड़े है। मैं तो नहीं रहूंगा, परंतु जब स्वतंत्रता की स्वर्ण जयंती मनाई जाए तो एक बार पुनः अगले पच्चीस वर्षों का लेखा-जोखा भी किसी कर्मठ विद्वान को ग्रंथ के रूप में प्रस्तुत करना चाहिए।

इस ग्रंथ के प्रकाशन और संपादन में मुझे बहुत असुविधाओं का सामना करना पड़ा। कुछ आंखो के कारण और कुछ विशेषज्ञ लेखकों के कारण। लेकिन मैंने हिम्मत नहीं हारी। प्रत्येक लेख को सुनकर संपादित किया। आखिरी प्रूफ भी सुनकर ठीक कराया। अनुनय-विनय करके तथा पारिश्रमिक देकर लेख भी लिखवाए। जैसे-तैसे ग्रंथ प्रकाशित हुआ और सामग्री तथा साज-सजा की दृष्टि से हिंदी जगत में सराहना का पात्र भी बना। दूसरी कठिनाई सामने यह आई कि दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कुछ लोग स्वतंत्रता रजत जयंती के इस ग्रंथ को छापने के लिए अन्यमनस्क थे। उनकी संख्या अधिक थी। व्यक्तिगत स्नेह और आदर के कारण प्रस्ताव तो स्वीकार कर लिया गया, लेकिन

प्रकाशन-व्यय जुटाने में लोग नहीं लगे। बड़े-बड़े कांग्रेसी नेताओं ने भी अपने वचन का पालन नहीं किया। वे धनराशि उपलब्ध कराने के अपने वादे को भूल गए और मैं अकेला पड़ गया। तब मैं एक बड़े धनपति के पास गया। वह मेरे परिचित थे। आदरभाव की भी कमी नहीं थी। चेक बुक मेरे सामने रख दी कि रकम भर लो। लेकिन साथ ही यह भी कहा कि मैं हिन्दी का पक्षपाती नहीं, देश में अंग्रेजी चलने का हिमायती हूं। ग्रंथ प्रेस में छपा पड़ा था। कागज और छपाई के चालीस हजार रुपये देने थे। इस कड़वे घूंट को पी जाता तो संकटमुक्त हो सकता था। लेकिन मैंने चेक बुक लौटा दी। मेज पर मेवा-मिठाई और चाय-पान रखे हुए थे। मैंने पानी तक नहीं पिया। नमस्कार करके वहां से उठ आया। मुझे अंग्रेजी के हिमायती की एक कौड़ी इस ग्रंथ में नहीं लगानी थी। लेकिन जहां चाह वहां राह, सम्मेलन के परम हितैषी और सम्मेलन के उपाध्यक्ष लाला किशनलाल कटपीसवाले, श्री देवकीनंदन किरानेवाले, श्री विपिनचंद्र रस्तोगी तथा उनके मित्रों ने सहयोग किया। श्री हेमवतीनंदन बहुगुणा ने इसकी सौ प्रतियां खरीदीं। नैया पार लग गई।

ब्रज विभव : यह मेरे जीवन-भर के संचित ज्ञान और पंद्रह वर्षों के सतत् परिश्रम का परिणाम है। ब्रजभाषा, साहित्य, कला, संस्कृति, संगीत, इतिहास, पुरातत्त्व, लोककला, और ब्रज लोकमानस की परंपराओं पर एक सौ इक्कीस लेखों से युक्त यह ग्रंथ गांधी हिन्दी दर्शन के बाद मेरी दूसरी और अंतिम भेंट है। सोवियत संघ, ब्रिटेन, फ्रांस, अमरीका और जर्मनी के भारत-विद्या विशेषज्ञों की सराहना इसे प्राप्त हुई है। ब्रज के विद्वान तो इसे 'पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ' का पूरक मानते हैं। हिंदी के समीक्षकों ने इसे ब्रज का सांस्कृतिक अब्दकोष बताया है। इसके सभी लेख अधिकारी विद्वानों से अमूल्य और समूल्य लिखवाए गए हैं। इसमें डॉ. ग्राउस के 'मथुरा मेमॉयर्स' का हिन्दी अनुवाद भी श्री भगवान सहाय पचौरी की सहायता से प्राप्त करके छापा गया है। लोग कहते हैं और थोड़ा-थोड़ा मैं भी मानता हूं कि ब्रज के माध्यम से भारत-विद्या पर और ब्रज की विशेषताओं पर अभी तक कोई ऐसा ग्रंथ देखने में नहीं आया।

इस ग्रंथ की तैयारी का प्रारंभिक व्यय-भार आगरा के श्री देवकीनंदन विभव ने उठाया था। लेकिन बाद में कुछ लोगों के कहने से उनके मन में यह महत्त्वाकांक्षा जगी कि इस ग्रंथ का नाम देवकीनंदन विभव अभिनंदन ग्रंथ कर दिया जाए तो वह शेष व्यय-भार भी उठा लेंगे। लेकिन मैं इसके लिए सहमत नहीं हुआ। मैंने ब्रज के विभव को दर्शाने के लिए अपने जीवन-भर की कमाई और श्रेष्ठ पंद्रह वर्षों को लगाया था, किसी व्यक्ति विशेष के वैभव को प्रदर्शित करने के लिए नहीं। फिर अर्थ-संकट ! कागज कहां से आए ? छपाई के लिए रुपये कैसे मिलें ? मैं चिंता के सागर में डूबने-उतराने लगा। तब मेरे मन में प्रेरणा जगी कि मुझ पर कृपा और स्नेह की वर्षा करनेवाले पंडित कमलापति त्रिपाठी से अपना दुःख-दर्द कहूं। मैंने कहा। त्रिपाठीजी ने गंभीरता से सुना।

फिर मुझे दस नाम बताए और निर्देश दिया कि मैं उनके नाम से सहायता के लिए पत्र टाइप कराकर उनके पास भेज दूं। मैंने भेजे। किसी ने पांच, तो किसी ने दस हजार की सहायता त्रिपाठीजी के कहने पर अनुग्रह करके भेज दी। श्री पुरुषोत्तम हिंदी भवन न्यास से सम्मेलन को ऋण भी दिलवाया। गाड़ी का गड्ढे में धंसा पहिया निकल आया और वह लक्ष्य तक पहुंच गई।

इन सब ग्रंथों के चक्रव्यूह से निकलने के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि किसी भावुक कवि या स्वतंत्रचेता लेखक को अपनी जिम्मेदारी पर ऐसे कार्यों का बोझ अपने सिर नहीं लेना चाहिए। स्वयं योजना बनाना, उनके लिए अर्थ की व्यवस्था करना और बाद में उनको छपाने का जटिल कार्य करने के साथ-साथ उनकी बिक्री का प्रबंध करना अपनी मौलिक प्रतिभा का ह्रास करना है। कवि या लेखक के लिए अपना लेखन अपेक्षाकृत सरल, स्वाभाविक और आनंददायक कार्य है। लेकिन बड़े-बड़े अभिनंदन ग्रंथों और अन्य प्रकार के ऐसे बड़े ग्रथों का जिनमें दूसरों के लेख देखने, संशोधन करने या परिवर्द्धन करने का कार्य ऐसी दिमागी कसरत है, जिसमें संपादक पसीने-पसीने हो जाता है और हर ग्रंथ के प्रकाशन के बाद कहता है—अब खाई सो खाई, अब खाऊं तो राम दुहाई।

सबसे बड़ी परेशानी सामने यह आती है कि विषय के अधिकारी लेखकों को लिखने के लिए कैसे सहमत किया जाए ? क्योंकि ऐसे ग्रंथों से उन्हें पारिश्रमिक प्राप्ति की संभावना नहीं होती और वे ऐसा भी अनुभव करते हैं कि यश का भागी तो संपादक हो जाएगा, हम उसके इस कार्य में भागीदार क्यों बने ? कुछ लेखकों का अहम भी इस कार्य में आड़े आता है। उनमें से अधिकतर तो ऐसे होते हैं जो पत्रों के उत्तर तक नहीं देते। यदि देते भी हैं या बहुत अनुनय-विनय करने पर लिखते भी हैं तो प्रायः टरकाऊ लेख लिखते हैं। उनमें कलम लगाना उनकी शान के खिलाफ होता है। लौटाना अपमानजनक होता है। हमेशा के लिए नाराजगी मोल लेना होता है। फिर उद्देश्यपरक योजना के अनुरूप लेख कैसे प्राप्त हों और कहां से प्राप्त हों ? आधे से अधिक समय तो इसी क्लेशपूर्ण कार्य में गुजर जाता है।

फिर जो सज्जन महापुरुष ग्रंथ की महत्ता और संपादक से घनिष्ठ संबंध के कारण अपना विशिष्ट लेख भेज देते हैं, उनके संबंध में यह जरूरी नहीं है कि संपादक स्वयं भी इतना बहुज्ञ है कि जो ऐसे लेखकों के साथ न्याय करके उनमें कुछ काट सके या जोड़ सके। मान लो यदि वह ऐसे विषयों का ज्ञाता भी है तो बार-बार उसके मन में यह आता है कि इन लेखों को छापने से अधिक अच्छा तो यह है कि वह स्वयं ऐसे लेख क्यों न लिख दे ? मैंने ऐसी सब परेशानियों को झेला है और अपने द्वारा संपादित ग्रंथों में अपने नाम से या फर्जी नाम से कई-कई लेख लिखे भी हैं। जब मैंने यह अनुभव किया है कि कुछ लेखक बिना पारिश्रमिक के लिखने के लिए तैयार ही नहीं होते, तो पत्र-पुष्प ही नहीं, मुहमांगा मानदेय भी दिया है। कुछ महाशय ऐसे भी निकले हैं, जिन्होंने

मेरी लेख-सूची को देखकर बिना मेरे संबंधों और पूर्व सहयोगी रुख की उपेक्षा करके मुझे साफ लिख भेजा है कि वे योजना के अनुसार जैसा लेख अपेक्षित है, वह इसे उस लेखक से लिखवा देंगे। लेकिन इसके लिए इतनी रकम पेशगी भेजनी पड़ेगी।

वह युग चला गया, जब अभिनंदन ग्रंथों और योजनाबद्ध ग्रंथों में लिखना लोग अपना कर्त्तव्य समझते थे और संपादक के अनुरोध को आदर का विषय मानते थे। आज के अधिकांश नामधारी लेखक ऐसे कार्यों को निरर्थक समझते हैं। मुझे पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ, राजर्षि अभिनंदन ग्रंथ और गांधी हिन्दी दर्शन ग्रंथ में ऐसी परिस्थितियों का सामना नहीं करना पड़ा। तब यशस्वी लोग मेरे साथ थे और हिन्दी में आदर्शोन्मुखी लेखकों का अभाव नहीं था। लेकिन स्वतंत्रता रजत जयंती अभिनंदन ग्रंथ और ब्रज विभव ग्रंथ के संपादन में पग-पग पर मुझे ऐसी कठिनाइयों को झेलना पड़ा। यशलिप्सु और अर्थलोलुप आज के कुछ लेखकों से काम लेना कंटीली राह पर चलना है। सब बिना कुछ किए संपादन में भागीदार होना चाहते हैं। जो संस्थाएं इन ग्रंथों को प्रकाशित करती हैं, उनके पदाधिकारी और महत्त्वपूर्ण लोग चाहते हैं कि वह भले ही लेखक न हों, साहित्य का 'सा' भी उन्हें न आता हो, लेकिन उनके नाम ग्रंथ में अवश्य सम्मिलित किए जाएं। न चाहते हुए भी, ऐसे अवसरों पर संपादक को अनिच्छापूर्वक समझौता करना पड़ जाता है। इसलिए, हे हिन्दी के लेखको ! हे यशकामी संपादको ! ऐसे ग्रंथों से हिन्दी के इतिहास में अपना गौरवास्पद नाम लिखवाने वालो, सावधान ! मेरे अनुभवों से कुछ सीख ले सकते हो तो लो। लेकिन मेरे लिखने या कहने से क्या होता है ? पृथ्वी वीरविहीन नहीं है। हिन्दी में भी अभी ऐसे लेखकों का अभाव नहीं है, जो ऐसे दुष्कर कार्यों में लग रहे हैं और आगे भी लगे रहेंगे। भगवान उन्हें संकटों से बचाएं और उनके संकल्पों की पूर्ति करें।

प्रिय व्यासजी,

आपका पत्र मिला, साथ में ब्रज विभव और ब्रज विभव की दर्पणिका भी मिली। आपकी वर्षों की तपस्या और साधना सफल हुई। हिन्दी का भंडार गौरवान्वित हुआ। आप जल्दी स्वस्थ हो जाएं। तब राष्ट्रपतिजी से मिला जाए। आपके आरोग्य प्राप्त करने के बाद आपका जो आदेश होगा, पालन करूंगा।

आपका
कमलापति त्रिपाठी

जब मैं प्रधान संपादक बना

आखिर अनहोनी हो ही गई। साधारण कंपोजीटर एक उदीयमान दैनिक पत्र का मात्र संपादक ही नहीं, प्रधान संपादक बन गया। वह भी वहां जहां से कभी उसने पैंतालीस वर्ष पूर्व अपने पत्रकार-जीवन का शुभारंभ किया था। बात आगरा की है। पत्र का नाम–विकासशील भारत।

कहते हैं कि खुदा जब देता है तो छप्पर फाड़कर देता है। सूरदास उसकी कृपा को गाते हुए कह गए हैं–"जाको कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधरे को सब कछु दरसाई।" जब दैनिक 'हिंदुस्तान' से सेवानिवृत्त हुआ तो आंखें काफी कमजोर हो गई थीं। रही-सही न चली जाएं, इसलिए आंखो का काम कानों से लेता था और अपने लेख आदि बोलकर लिखवाता था। पंगु तो नहीं हुआ था, लेकिन कदमों को आहिस्ता-आहिस्ता संभालकर रखता था कि अंधेरे-उजाले में सीढ़ों के साथ गोड़े भी कहीं दगा न दे जाएं। सोचता था कि पत्रकारिता का अध्याय शायद बीच में ही समाप्त हो गया। अपने लोकप्रिय लेखन, लंबी सेवा-अवधि, अनुभव तथा पद्मश्री जैसे अलंकरण की संप्राप्ति के बावजूद जब 'हिंदुस्तान' से भी यह उपलब्धि नहीं हो सकी तो हिंदी में बड़े अखबार ही कितने हैं और उनमें स्थान ही कहां खाली हैं जहां मैं प्रधान संपादकी की 'धाई' छू सकता। मैं इस बात से भी बेखबर नहीं था कि पत्रों के संपादक अब अपने गुणों के कारण नहीं, शासन में उनकी पहुंच और राजनीतिक सिफारिशो के कारण रखे जाते हैं। उनसे संपादक का काम तो नाम मात्र का ही लिया जाता है. वास्तव में वे होते हैं, एक प्रकार से 'लाइजन ऑफिसर' ही। यद्यपि किसी भी संपादक से मेरे शासन-सूत्र कमजोर नहीं थे, परंतु हिंदी के लगभग सभी पत्र-स्वामी इस बात से परिचित हो गए थे कि व्यास उस मिट्टी का बना नहीं है जो उनके मनचीते कर सके। इसलिए मैंने भी इस अध्याय को समाप्तप्राय

समझ लिया था।

मैंने जीवन में सदैव भाग्य के मुकाबले कर्म को ही श्रेष्ठ माना है। लेकिन समय-समय पर भाग्य ने ऐसे चमत्कार दिखाए हैं कि मै दंग रह गया हूं।

एक दिन अचानक सवेरे-सवेरे तीन व्यक्ति आए। अपना परिचय देते हुए उन्होंने बताया कि उनका विचार आगरा से एक दैनिक पत्र प्रारंभ करने का है। उनकी अपनी बिल्डिंग है। अपना प्रेस है। छपाई ऑफसेट पर होगी। पत्र को राष्ट्रीय स्तर का बनाने का विचार है। आगरा में अखबार जम जाए तो उसे दिल्ली से निकालने के बारे में भी सोच सकते हैं।

पूछने पर बताया गया कि उनका एक उद्योग समूह है, जिसके अंतर्गत कई फैक्ट्रियां चलती हैं। तात्पर्य यह था कि पैसे की तंगी उन्हें नहीं रहेगी।

प्रस्ताव आया कि उक्त पत्र की बागडोर मैं अपने हाथ में ले लूं और बताऊं कि इसके लिए उन्हें मेरी खातिर क्या-क्या करना होगा ? यह आश्वासन भी मिला—आवश्यक नहीं है कि मैं लगातार आगरा ही रहूं। पत्र की और अपनी सुविधा देखते हुए मैं दिल्ली में रहता हुआ भी काम कर सकता हूं! यह बात 30 अक्टूबर, 1982 की है।

मैंने उन्हें अपनी असुविधाएं बताईं कि मैं आंखों से लाचार हूं। आयु का भी उत्तरार्द्ध है। अपने बनाए मकान में अपनी सुविधा से रहता हूं। मुझे प्रधान संपादक बनाना आपके लिए अधिक लाभदायक नहीं रहेगा। लेकिन शायद वे लोग निश्चय करके आए थे और मैंने जो-जो शर्तें उनके सामने रखीं, वे सब मानते चले गए। लिखित अनुबंध हुआ। इसके अनुसार मुझे सभी सुविधाओं से युक्त आवास, टेलीफोन, कार और घरेलू नौकर के साथ-साथ मुझे अखबार सुनाने तथा मेरा बोला हुआ लिखने के लिए एक सहायक की व्यवस्था की बातें तय हो गईं। मानदेय भी ठीकठाक ही था।

तब मैंने कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दे उनके सामने रखे—प्रत्येक लेख पर पारिश्रमिक दिया जाएगा। जो भी संवाददाता नियुक्त किए जाएंगे, उन्हें डाक-व्यय के अतिरिक्त पारिश्रमिक भी देना होगा। संपादकीय विभाग में नियुक्ति करने और पदमुक्त करने का अधिकार संपादक का होगा। लेखकों तथा संवाददाताओं का पारिश्रमिक संपादक ही निश्चित करेगा। मेरे लेखन में किसी को काट-छांट करने या संपादकीय रीति-नीति में हस्तक्षेप करने का अधिकार व्यवस्थापक अथवा प्रबंध संपादक को नहीं होगा।

सभी शर्तें सहर्ष स्वीकार कर ली गईं। जनवरी के पहले सप्ताह में मैं आगरा गया। प्रेस तथा दूसरी व्यवस्थाएं देखीं। व्यवस्थापकों का रुख श्रद्धा और सहयोग से भरपूर था और पत्र में काम करनेवाले संपादकगण एवं विभागीय अधिकारी भी मुझे अच्छे लगे। आगरा मेरा जाना-पहचाना शहर था। यद्यपि पुराने आदरणीय नेता, समाजसेवी और साहित्यकार मित्र अब वहां नहीं रहे थे। लेकिन जो बच गए और नई पीढ़ी के लोग थे, सभी ने मेरे आगरा लौटने का स्वागत किया। इस तरह सब ओर से आश्वस्त होकर मैं 14 जनवरी, 1983 को आगरा जाकर जम गया तथा अखबार का प्रवेशांक 29

जनवरी, 83 को पूरी सजधज के साथ धूमधाम से प्रकाशित हो गया। पत्र के मुखपृष्ठ पर मेरा नाम प्रधान संपादक की जगह और व्यवस्थापक श्री बांकेबिहारी अग्रवाल तथा उनके बड़े भाई श्री मनीराम अग्रवाल का नाम अंतिम पृष्ठ पर प्रिंट लाइन में प्रबंध संपादक एवं प्रकाशक के रूप में जाने लगे।

'विकासशील भारत' में जाने से पूर्व मेरी एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी–'मोहि ब्रज बिसरत नाहीं'। जब पुनः ब्रजांचल में लौटने का अवसर मिला तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि पुस्तक के शीर्षक की सार्थकता जैसे ब्रजभूमि ने स्वीकार कर ली हो, यानी तू मुझे नहीं बिसरा तो मैं भी तुझे नहीं भूली हूं। एक सुयोग तुझे मिला है तो कुछ करके बता।

मथुरा को जब अंग्रेजी में 'मूत्रा' या 'मुटरा' (Muttra) लिखा जाता था। परासौली को मोहम्मदपुर या महमदपुर बना दिया गया था। श्रीकृष्ण जन्मभूमि खंडहर पड़ी हुई थी और उसमें मुसलमान घोसी रहा करते थे। राजकीय संग्रहालय बनने से पूर्व ब्रजक्षेत्र से प्राप्त मूर्तियां और पुरातत्त्व की दुलर्भ वस्तुएं मथुरा की कचहरी के पास एक छोटे से मकान मे अस्त-व्यस्त हालत में पड़ी रहती थीं। ब्रज की संस्कृति, कलाएं, वन-उपवन सब नष्ट होते जा रहे थे। तीन लोक से न्यारी मथुरा की महिमा घट रही थी। वृंदावन में केवल प्राचीन मंदिर ही बचे थे। यमुना घाटों से हट चली थी। ब्रज में रेगिस्तान घुस रहा था। तब मैंने ब्रज साहित्य मंडल के प्रधानमंत्री और अध्यक्ष के रूप में ब्रज की उपेक्षा की ओर सरकार और जनता का ध्यान आकृष्ट करने के लिए कई आंदोलन किए। कुछ में सफलता मिली और कुछ में नहीं। मेरे दिल्ली आने के बाद ब्रज साहित्य मंडल का काम शिथिल हो गया और एक-एक करके ब्रज की प्रतिभाएं भी राजधानी तथा अन्य महानगरों की ओर पलायन कर गईं। स्वतंत्रतापूर्व सब लोग आजादी की लड़ाई में लगे थे और स्वतंत्रता मिलने पर स्वतंत्रता-सेनानी उसका लाभ लूटने और राजनीति का दुष्चक्र चलाने में व्यस्त हो गए थे। ब्रज पहले ही उपेक्षित था, अब उसकी हालत और भी बिगड़ गई। इसलिए 'विकासशील भारत' मेरे हाथ में आया तो मैंने निश्चय किया कि फिलहाल राष्ट्रीय पत्र बनाने की परिकल्पना छोड़कर इसे ब्रज की आंचलिकता का स्वस्थ और रचनात्मक जामा पहनाया जाए। आगरा इसके लिए सबसे उपयुक्त स्थान है। ब्रज के पूरे अंचल मे आगरा से चारों ओर यातायात की समुचित व्यवस्था है।

मैंने यह भी अनुभव किया है कि ब्रज की प्रतिभाओं को ब्रज से बाहर के पत्रों में प्रायः स्थान प्राप्त नहीं होता। दिल्ली-लखनऊ के पत्रों में भी प्रायः ब्रज के समाचारों को महत्त्व नहीं दिया जाता। इसलिए आगरा को ब्रज का केन्द्र बनाकर मैंने 'विकासशील भारत' के माध्यम से ब्रज को संगठित करने, उसके विकास को गति देने, उसकी महत्ता को पुनः प्रतिष्ठापित करने और उसके अभावों को जनता तथा सरकार तक पहुंचाने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

कुछ ही दिनों में ब्रज के लोग इसे अपना पत्र समझने लगे और इसके द्वारा चलाए गए आंदोलनों में सहयोग करने लग गए। 'विकासशील भारत' की गिनती ब्रज के प्रमुख

अखबारों में होने लगी।

पत्रकारिता की दृष्टि से आगरा का स्थान प्रारंभ से ही महत्त्वपूर्ण रहा है। श्री कृष्णदत्त पालीवाल के 'सैनिक' और श्री डोरीलाल अग्रवाल के 'अमर उजाला' ने तो इस क्षेत्र में अखिल भारतीय ख्याति भी प्राप्त की है। जब मैंने 'विकासशील भारत' में कार्य प्रारंभ किया, उस समय भी आगरा से कई छोटे-बड़े पत्र निकल रहे थे। मेरे सामने चुनौती थी कि किस प्रकार पत्रकारिता के आदर्श को कायम रखते हुए अपने 'विकासशील भारत' की अलग से पहचान बनाऊं ? इसके लिए कुछ निर्णय किए। सबसे पहले यह कि पत्र की नीति विकास कार्यों मे सहयोग देने तथा पीत पत्रकारिता से बचने की होगी। दूसरे यह कि पत्र सभी राजनीतिक दलों, वर्गों और सम्प्रदायों के उचित और सही समाचारों को उनकी महत्ता के अनुसार स्थान देगा। पत्र किसी भी राजनीतिक दल या व्यक्ति के साथ विशेष रूप से नहीं जुड़ेगा। मैंने यह भी निश्चय किया कि अंतर्राष्ट्रीयता के नाम पर व्यर्थ के विदेशी समाचार पत्र में नहीं दिए जाएंगे। कम से कम पहले पृष्ठ पर राष्ट्रीय समाचार ही रहा करेंगे। पाठकों को अंतर्राष्ट्रीय गतिविधियों से परिचित कराने हेतु अंदर एक पृष्ठ नियत कर दिया गया। इसी तरह ब्रज के आंचलिक समाचारों के लिए भी अलग से एक पूरे पृष्ठ की व्यवस्था कर दी। मैंने यह अनुभव किया है कि खेलों और व्यापार के नाम पर अखबारों में व्यर्थ की चीजें छापकर पाठकों को महत्त्वपूर्ण समाचारों और विचारों से प्रायः वंचित कर दिया जाता है। मैंने इन दोनों को एक ही पृष्ठ में समाहित करा दिया। यद्यपि आगरा के स्थानीय समाचारों के लिए पूरे एक पृष्ठ की अलग से व्यवस्था थी, लेकिन मैंने साथियों से कह रखा था कि आगरा और ब्रज के प्रमुख समाचारों को आवश्यकता पड़ने पर देशी-विदेशी समाचारो के स्थान पर अन्य पृष्ठों पर भी दिया जा सकता है।

संपादकीय पृष्ठ को मैंने पूरी तरह अपने लिए सुरक्षित रखा। इस पर विज्ञापन देने की सख्त मनाही कर दी। संपादकीय लेखों के ऊपर वेदामृत अर्थात् किसी वेद का एक उत्तम श्लोक और उसका भावार्थ दिया जाता था। उसके नीचे प्रायः दो कॉलमों में तीन संपादकीय रहा करते थे। इनमें से एक आंचलिक होता था। मैं ऐसा यत्न करता था कि संपादकीय घिसे-पिटे विषयों पर न हों कि किसी ने कोई वक्तव्य दिया और उस पर उद्धरण देकर संपादकीय लिख मारा। छोटी किंतु महत्त्वपूर्ण खबरों पर भी संपादकीय लिखना मैंने जरूरी समझा।

एक उदाहरण देता हूं–पंजाब में एक हिन्दू और एक सिख युवक ने रेल के आगे कूदकर इसलिए आत्महत्या कर ली कि ये दोनों यह दर्शाना चाहते थे कि अकालियों के पृथकतावादी और उग्रवादियों के हिंसक कारनामों के बावजूद पंजाब के हिन्दू-सिख एक हैं और एक रहेंगे। अपने बलिदान से ये दोनों युवक हिन्दू-सिख एकता का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत कर गए! लेकिन मैंने देखा कि देश के पत्रों ने संपादकीय लिखना तो दूर इस खबर को भी ठीक से नहीं छापा। कई राष्ट्रीय पत्रों में तो यह खबर छपने

से भी रह गई। मैं पूछता हूं कि क्या यह अमर बलिदान उपेक्षा के योग्य था ? क्या हमारे पत्रकार बंधु इस समाचार को तेजोमय बनाकर इससे पंजाब और देश में एक नई लहर पैदा नहीं कर सकते थे ? पर उन्हें नेताओं की निंदा-स्तुति करने और हत्या, अपहरण, बलात्कार की खबरें उछालने से फुर्सत मिले तब न। मेरे संपादकीय प्रायः ऐसी प्रेरक घटनाओं पर ही हुआ करते थे।

जब तक मैं उक्त पत्र का संपादक रहा, तब तक मैंने निर्भीकता से विघटनकारी प्रवृत्तियों की कसकर आलोचना की और हमेशा देश की अखंडता, राष्ट्रभाषा की महत्ता, देश और समाज में फैली हुई अराजकता, महंगाई और भ्रष्टाचार के विरुद्ध जमकर लिखा। सदैव अपने पाठकों को इसके लिए प्रोत्साहित किया कि वे अभावों का रोना न रोएं। मांगों के लिए हाथ न पसारें। हर बात के लिए सरकार का मुंह न ताकें। अपनी आशा-आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए स्वय कमर कसकर खड़े हो जाएं। अपने जनप्रतिनिधियों को जगाएं। जनता जागेगी तो उपेक्षा भागेगी।

हिन्दी-अखबारों के संपादकीय प्रायः पढ़े नहीं जाते। प्रांतीय और केंद्रीय सरकारें तो उनका नोटिस भी नहीं लेतीं। परंतु सौभाग्य से 'विकासशील भारत' के संपादकीयों का प्रभाव जनता और सरकार दोनों पर हुआ। आगरा के लोग अपने बिजली-पानी के कष्टों और नगर में फैली गंदगी को दूर करने के लिए तनकर खडे हो गए। बुद्धिजीवियों में भी चेतना आई। लखनऊ की विधानसभा से लेकर दिल्ली की संसद तक में ये संपादकीय चर्चा के विषय बने। मंत्रियों को उन पर वक्तव्य और आश्वासन देने पड़े। ब्रज प्रदेश की मांग जोरों से उठने लगी। मथुरा, वृंदावन, गोवर्द्धन, गोकुल तथा ब्रज के परिक्रमा क्षेत्र की ओर सरकार का ध्यान गया। घाटों की मरम्मत, यमुना नदी के बहाव, गोवर्द्धन के परिक्रमा मार्ग की व्यवस्था, होटलों और धर्मशालाओं के निर्माण, सड़कों पर वृक्ष लगवाने आदि के संबध में सरकारी स्तर पर योजनाएं बनीं। राशि भी मंजूर की गई और जहां-तहा काम भी प्रारभ होने लगे। फीरोजाबाद को जिला बनाने की मांग भी 'विकासशील भारत' ने उठाई और वह जिला बन भी गया।

स्वतंत्रता के बाद हिन्दी के पत्रों में अगेजी अखबारों के अंधानुकरण की प्रवृत्ति बुरी तरह चल पड़ी है। गांधी, नेहरू और इंदिरा गांधी को छोड़कर अब उनमें राष्ट्रीय नेताओं, सुप्रसिद्ध साहित्यकारों तथा समाजसेवियो पर प्रायः कुछ नहीं छपता। उनकी जयंतियों के दिन भी हमारे संपादक बंधु भूल गए हैं। देश के महत्त्वपूर्ण पर्वों, उत्सवों, ऐतिहासिक मेलों और सांस्कृतिक व साहित्यिक समाचारों की भी उनमें प्रायः अवहेलना होने लगी है। मैने इस संबंध में एक डायरी बनाई और जिस-जिस दिन जिस महापुरुष की जयंती होती या राष्ट्रीय अथवा सांस्कृतिक पर्व आता या साहित्यकारों के पुण्यस्मरण का दिन उपस्थित होता तो उन पर यत्न करके एक लेख अवश्य छापा करता था। भले ही वह दिन ईसा मसीह का हो या पैगम्बर मुहम्मद साहब का अथवा गुरु गोविंद सिंह का। ब्रज कोकिल कविरत्न सत्यनारायण का हो या भारतेन्दु हरिश्चंद्र का, आगरा के

महेन्द्रजी या कमलेशजी का हो अथवा सूरदास या हितहरिवंश का। क्रांतिकारी चन्द्रशेखर 'आजाद' का हो या शहीद भगत सिंह का अथवा मैनपुरी, एटा, अलीगढ़, मथुरा आदि के किसी स्वतंत्रता सेनानी का।

संपादकीय पृष्ठ पर लेखों के चयन के संबंध में भी इस बात का ध्यान रखा जाता था कि जहां राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय विषयों पर लेख दिए जाएं, वहां पाठकों के ज्ञान की भूख शांत करने के लिए ऐसी सामग्री भी छापी जाए जो मजदूरों व किसानों से लेकर बुद्धिजीवियों तक को अनुप्राणित कर सके। संपादकीय और इन लेखों के संबंध में प्रतिदिन मेरे पास दर्जनों पत्र आते थे। इसका अर्थ यह था कि वे रुचि के साथ पढ़े जाते थे। 'विकासशील भारत' की रीति-नीति को देखकर पाठक अपनी व्यथा-कथा संपादक तक पहुंचाते थे। तब उनकी बातें जनता और अधिकारियों तक पहुंचाने के लिए अलग से एक स्तम्भ खोलना पड़ा–"शिकायत है कि..."। यह सब लिखने का तात्पर्य यह है कि 'विकासशील भारत' अपने पाठकों के साथ तादात्म्य स्थापित कर गया था। एक नए निकले पत्र के लिए यह सामान्य उपलब्धि नहीं है।

हिन्दी के पाठक जानते हैं कि मेरा संबंध व्यंग्य-विनोद से है। वर्षों मैंने दैनिक 'हिंदुस्तान" में 'यत्र-तत्र-सर्वत्र' और 'नारदजी खबर लाए हैं' स्तम्भ लिखे हैं। बाद में दैनिक 'राजस्थान पत्रिका' और दैनिक 'सन्मार्ग' में भी नारदजी गए हैं। मेरे व्यंग्य-विनोदी कॉलम इन पत्रों में भिन्न-भिन्न शीर्षकों से छपे हैं।

'विकासशील भारत' में भी प्रति रविवार नारदजी नई-नई खबरें लेकर पधारते थे और प्रतिदिन 'चकाचक' नाम से एक रोचक स्तम्भ भी मैं लिखता था। शीघ्र ही ये दोनों स्तम्भ अखबार की जान बन गए। बिना पढ़े-लिखे लोग जब किसी को 'विकासशील भारत' पढ़ते देखते तो पूछते–"भइया, बताना आज गुलकंदी क्या कह रही है ?" पाठकों में 'चकाचक' एक मुहावरा बन गया था। कोई अपने मित्र से पूछता कि "क्या हाल है ?" तो उसे उत्तर मिला करता था कि "चकाचक है।" जहां तक मैं समझ पाया हूं, इसका कारण यह रहा होगा कि मैंने इस स्तम्भ को ब्रज की मस्ती और विनोदप्रियता से जोड़ दिया था। इसमें ब्रज के लोकगीतों, कहावतों और कहानियों को चुनचुनकर संजोता रहता था। इस स्तम्भ का एक पात्र चकाचक बड़ा भोजनप्रिय था और दूसरा पात्र प्यारेलाल विरोधी दल के विचारोंवाला था। ये दोनों परस्पर साले-बहनोई थे। इनमें खूब छेड़छाड़ चलती थी। चकाचक की पत्नी रामप्यारी जहां इंदिराभक्त थी, वहां हसीना गुलकंदी महत्त्वाकांक्षिणी होने के साथ-साथ बड़ी नटखट महिला थी। ये चारों पात्र अपने संवादों से पूरी रोचकता के साथ पत्र की लोकप्रियता और प्रतिष्ठा के कारण बने हुए थे।

इस तरह मैंने अपने लेखन, संपादन और अनुभव से जो कुछ थोड़ा-बहुत सीखा था, उसे पूरी ईमानदारी के साथ 'विकासशील भारत' को समर्पित कर दिया।

उन दिनों मैं प्रातः साढ़े चार-पांच बजे उठ जाता था। छह बजे तक हिंदी-अंग्रेजी के कई दैनिक पत्र तथा साप्ताहिक, पाक्षिक और मासिक पत्रिकाएं आ जाती थीं। इनके

शीर्षक देखकर निशान लगा दिया करता था। आठ बजे मेरे पहले सहायक स्वर्गीय विनोद गुप्ता और उनके बाद श्री शिवप्रसाद चतुर्वेदी आ जाया करते थे। दस बजे तक वह मुझे अखबार सुनाया करते थे। उसके बाद मैं बोलता और वह लिखने लगते। प्रतिदिन दो या तीन संपादकीय लिखवाता, फिर 'चकाचक' और नियत दिन आने पर 'नारदजी खबर लाए हैं'। बाहर के अखबारों में जो विशेष समाचार होते या मनोरंजक खबरें और सांस्कृतिक समाचार मिलते, उन्हें भी अपनी तरह से लिखा दिया करता था। इस प्रक्रिया में कभी एक और कभी डेढ़ बज जाता था। सहायक को संपादकीय पृष्ठ में आज क्या देना है, इसकी हिदायतें देकर विदा करता। दो बजे से पहले भोजन नहीं हो पाता था। तीन बजे लेने के लिए दफ्तर से गाड़ी आ जाया करती थी। वहां से रात्रि आठ बजे से पूर्व उठने का प्रश्न ही नहीं था। शुरू-शुरू के दिनों में रात के ग्यारह-बारह भी दफ्तर में बज जाया करते थे। दफ्तर पहुंचते ही मैं हर पृष्ठ के लिए जिम्मेदार साथी पत्रकारों को बुलाता और उन्हे बताता कि आज कौन-कौन-सी खबरें प्रकाशित होने से रह गई हैं। क्या-क्या खबरें दो स्थानों पर छप रही हैं। खबरों के शीर्षक इस प्रकार लगते तो ज्यादा अच्छा रहता। यह समाचार प्रथम पृष्ठ के योग्य था या इस खबर को प्रथम पृष्ठ पर क्यों छापा गया। कौन-सी खबर प्रथम, द्वितीय या तृतीय स्थान के योग्य थी। यह भी साथियों को बताता कि अनुवाद मे कहां गलती हुई है। इस तरह सभी पत्रकार साथियों से, जिनमें अनुवादक भी होते और संवाददाता भी, प्रतिदिन अलग-अलग या सामूहिक रूप से चर्चा करता रहता था। अखबार में प्रतिदिन कुछ लोग ब्लैकमेल करने के लिए कोई न कोई ऐसी खबर छपवा दिया करते थे, जिन पर कभी भी मानहानि का मुकदमा चल सकता था। ऐसी खबरों को प्रेस से निकलवाता। फिर लिखनेवाले को समझाता और कभी-कभी डांटता भी। उसके बाद चौथे पेज पर और रविवासरीय में लेख भेजने के लिए लेखकों को पत्र लिखवाता। प्रतिदिन आनेवाले ढेर सारे पत्रों में से अधिकांश का जवाब देने का यत्न करता। दूसरे दिन जानेवाले लेखों को छांटता। सुन-सुनकर उनका संपादन भी करवाता जाता। अगले रविवासरीय मे क्या-क्या सामग्री जानी है ? उसके लिए चित्र कहां से प्राप्त होंगे और इलस्ट्रेशन (अलंकरण) किस-किसके कैसे बनेंगे ? इसकी व्यवस्था करता।

श्री शिवेन्द्र सिंह हमारे यहां आर्टिस्ट के रूप में पार्ट टाइम काम देखा करते थे। उनसे इलस्ट्रेशन ही नहीं, समय-समय पर सुझाव देकर कार्टून भी बनवाया करता था।

उसके बाद नंबर आता प्रेस का। प्रतिदिन प्रूफ की भयंकर भूलें हुआ करती थीं। कुछ गलतियां प्रूफरीडर छोड़ दिया करते थे और कुछ को करेक्शन करनेवाले नहीं सुधारा करते थे। फोरमैन अक्सर रात को खबरो का चुनाव स्वयं कर लिया करते थे। इस कारण बहुत-सी खबरें छपने से रह जाती थीं। कभी-कभी प्रेस के प्रूफरीडर, कंपोजीटर और फोरमेन स्वयं खबरें लिखकर अखबार में चुपके से छपवा दिया करते थे और बंडलों से उनकी मूलकापियां भी गायब हो जाया करती थीं। इसमें काफी माथा-पच्ची करनी

पड़ती थी। मैं शांत रहने की काफी कोशिश करता, लेकिन हर बार एक जैसी भूलों के दोहराए जाने से झल्ला भी पड़ता था।

पत्रकारों और प्रेसवालों की भी अपनी लाचारियां थीं। पत्रकार बिचारे सवेरे आते और देर रात तक लगे रहते। न उन्हें बीच में चाय पीने की सुविधा थी और न सुस्ताने के लिए कोई जगह। उनमें से कई तो पार्ट टाइम काम करते थे। दिन में कहीं और काम करके शाम को हारे-थके आकर अखबार के काम में लग जाया करते थे। कुछ अपवादों को छोड़कर आगरा में सधे हुए पत्रकारों का अभाव है। जो हैं उन्हें बहुत कम वेतन मिलता है और उनके मन में कब नौकरी से निकाल दिए जाएं, इसका भी सदैव भय बना रहता है। इसलिए गम गलत करने को वे शराबी, भंगेडी और गंजेडी बन गए हैं। हमारे अखबार में भी कई लोग ऐसे थे जो ठर्रा पीकर या अंटा चढ़ाकर काम करते थे। ऐसे लोगों से सही काम की उम्मीद कैसे की जा सकती है ? इसलिए हर खबर तथा प्रत्येक लेख को सुनना, जाचना और सुधारना पड़ता था। अखबार 'अमर उजाला' की प्रतियोगिता में निकला था। व्यवस्थापक लोगों ने मुझ हाथी को इसलिए बांधा था कि मैं उस बहुप्रचारित और सुसंपादित पत्र से टक्कर ले सकूं। मेरी हालत उस सेनापति जैसी थी कि जिसके सैनिकों के पास न अच्छे हथियार थे और न जिनमें अनुशासन ही था। जिस पत्रकार को साधकर खडा करता, देखता कि कुछ ही दिनो मे उसकी छुट्टी हो गई है। अखबार अखबार की तरह नहीं, व्यवस्थापकों की ओर से फैक्ट्री की तरह चलाया जा रहा था। कंपोजीटर ठेके पर लाइनों के हिसाब से काम करते थे। संपादकों और पत्रकारों के लिए साप्ताहिक अवकाश तक नियत नहीं था। गैरहाजिर होने पर उनका वेतन कट जाया करता था। किसी को भी नियुक्ति पत्र नहीं दिया गया था। किसी के भी वेतनमान स्थिर नहीं थे। जो व्यवस्थापकों के मुंह लग जाता और चापलूसी की कला में सिद्धहस्त हो जाता, उसे बिना रजिस्टर में दिखाए चुपचाप अपनी जेब से कुछ रुपए दे दिए जाते थे। मुझे इन सब बातों के लिए बहुत संघर्ष करना पडा। लेकिन मैंने हिम्मत नहीं हारी। साप्ताहिक अवकाश तय कराए। उनकी ड्यूटी के घंटे निश्चित किए। योग्य लोगों को तरक्कियां भी दिलवाईं। कुछ एकदम निकम्मे लोगों को हटाने का अप्रिय कार्य भी करना पड़ा। तब कहीं जाकर अखबार थोडी लाइन पर आया।

जब प्रेस और संपादन विभाग की व्यवस्था बैठ गई तो वह फर्राटे भरने लगा। कुछ ही दिनों में ऐसी स्थिति हो गई कि अखबार की प्रशंसा में मुझे सप्ताह मे कम से कम दो बार पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी के प्रशंसात्मक प्रमाणपत्र प्राप्त होने लगे। केवल ब्रज-अंचल से ही नहीं, कलकत्ता से डॉ. प्रभाकर माचवे और सन्मार्ग के संपादक श्री रामावतार गुप्त, बम्बई से श्री धर्मवीर भारती और श्री रामावतार चेतन, लखनऊ से पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी और श्री अमृतलाल नागर तथा डॉ. मुकुददेव शर्मा, कानपुर से 'जागरण' के संपादक श्री नरेन्द्र मोहन गुप्त, वाराणसी से 'आज' के संपादक श्री शार्दूल विक्रम, जयपुर से श्री युगलकिशोर चतुर्वेदी, उदयपुर से डॉ. महेन्द्र भानावत, जालंधर

से श्री यश, मसूरी से डॉ. कैलाशचंद्र भाटिया, सहारनपुर से श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', इंदौर से श्री आर. आर. दिवाकर, धुर मद्रास से डॉ. संतोष माटा और डॉ. रवीन्द्र जैन जैसे महानुभावों के साधुवाद प्राप्त होने लगे। दिल्ली के मेरे साथी साहित्यकार और पत्रकार तो अखबार को देखकर दंग थे। सर्वश्री अक्षयकुमार जैन, मुकुटबिहारी वर्मा, जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी, हर्षदेव मालवीय, डॉ. विजयेन्द्र स्नातक, डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, विष्णु प्रभाकर आदि सभी का यह लिखना था कि 'विकासशील भारत' तो दिल्ली के पत्रों से होड़ लेने लगा है। राजनैतिक नेताओं ने भी एक स्वर से इसकी प्रशंसा की। इनमें सर्वश्री मोरारजी देसाई, बाबू जगजीवन राम, यशवंतराव चव्हाण, हेमवतीनंदन बहुगुणा, चन्द्रशेखर, कृष्णचन्द्र पंत और सबसे अधिक वरिष्ठ पत्रकार और नेता पंडित कमलापति त्रिपाठी ने मुझे अपने आशीर्वादों से लाद दिया। उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान, बिहार और हरियाणा के मुख्यमंत्रियों तथा उनके सहयोगियों की शुभकामनाएं भी आएदिन प्राप्त होती रहती थी। अब स्थिति ऐसी हो गई थी कि हिंदी का अच्छे से अच्छा लेखक और पत्रकार 'विकासशील भारत' में अपनी रचनाएं छपवाने को उत्सुक हो उठा।

पत्र में प्रायः सभी प्रतिष्ठित लेखक और पत्रकार लिखा करते थे। लेकिन मैं उनकी भीड़ में होनहार और विकासशील लेखकों को नहीं भूला। मैंने आंचलिक प्रतिभाओं के लेख और कविताएं चित्र दे-देकर छापे। देखते ही देखते 'विकासशील भारत' लोकप्रिय अखबार बन गया।

मुझे इस बढ़ी हुई उम्र में इतना काम करते देखकर और अखबार को पत्रकारिता के प्रति आदर्शोन्मुख अनुभव करके आगरा के अन्य अखबारों में भी सुधार आया। उनमें भी चुन-चुनकर सामग्री जाने लगी। नए-नए स्तम्भ भी निकलने लगे। एजेन्टों और हॉकरों का कमीशन भी बढ़ा तथा पत्रकारों के सम्मान और वेतन में भी वृद्धि हुई। अन्य सब बातों से अधिक मैं इसे अपनी सर्वाधिक उपलब्धि मानता हूं।

पं. बनारसीदास चतुर्वेदी ने एक बार मुझे लिखा कि इस तरह काम करोगे तो स्वास्थ्य खराब हो जाएगा। सुबह-शाम टहला करो। दोपहर को दो घंटे सोया करो। दिन में कम से कम दो बार फलों का रस पिया करो। मैंने उन्हें परिहास में जवाब दिया कि "आपने जनम-भर चैन की छानी है और न किसी ससुरे की नौकरी की है। कभी दैनिक पत्र भी नहीं निकाला। इसीलिए आप आराम की बात लिख रहे हो। लेकिन जो जन्मभर सेवा-संलग्न रहा है और जिसने सेहत खोकर अपना उत्तरदायित्व निभाया है, उसके लिए तो नेहरूजी के शब्दों में 'आराम हराम' ही है।" दिल्ली के मेरे साथी पत्रकारों ने मेरे गिरते हुए स्वास्थ्य को देखकर सलाह दी कि काम बांट दो और साथियों पर अपनी जिम्मेदारी डाल दो। अपने पास सिर्फ देखरेख का ही काम रखो, नहीं तो खट मरोगे। लेकिन मैं जिम्मेदारी सौंपता किसे ? सिर्फ दो अदद व्यक्ति संपादकीय विभाग में ऐसे थे, जिन पर भरोसा किया जा सकता था। उनमें से एक थे—श्री श्याम 'अनजान' जिन्हें मैंने पहला पृष्ठ बनाने का काम सौंपा और दूसरे थे—श्री शिवप्रसाद चतुर्वेदी, जो

मेरे साथ सुबह आठ बजे से लेकर रात के ग्यारह बजे तक लगे रहते थे। वह आंचलिक समाचार भी देखते, चौथा पृष्ठ भी और रविवासरीय भी। लेकिन क्या इन दो अदद पत्रकारों के बूते पर आठ पृष्ठ का अखबार अच्छी तरह निकल सकता था ? इसलिए मुझे अधिक पश्रिम करना पड़ रहा था।

इसका दुष्परिणाम भी शीघ्र सामने आ गया। दबी हुई बवासीर उखड़ आई। रक्त में शुगर की मात्रा बढ़ गई। आंखों की ज्योति और गिर गई। कानों में सांय-सांय इतनी बढ़ी कि श्रवण-यंत्र खरीदना पड़ गया। सीढ़ियां चढ़ने-उतरने में पैर भी लड़खड़ाने लगे। यदि अपने ढंग से कहूं तो आलम यह था—"दिन नहीं चैन, रैन नहिं निंदिया।"

इसी डर के मारे मैं अपनी पत्नी को आगरा नहीं ले गया था। लेकिन जब उन्होंने आकर मेरी यह हालत देखी तो दूसरे दिन से ही मेरे पैर उखाड़ने शुरू कर दिए—"क्या यहां जान देने आए हो। यहां पंखा नहीं, कूलर नहीं, फ्रिज नहीं। बोलने-चालनेवाला नहीं। तुम्हारे टहलने के लिए पार्क नहीं। आसपास फल अच्छे नही मिलते। धोबी नहीं, मुझसे कपड़े नहीं धोए जाते। इन लोहे के पलंगों पर मुझसे नहीं सोया जाता। मकान में खूंटी नहीं, आलमारी नहीं। सुबह चार बजे चाय मांगते हो। यहां क्या फ्रिज रखा है जो दूध साबुत बच जाए। मुझे जंगल में लाकर पटक दिया है। बच्चे याद में रो-रोकर आधे हुए जा रहे हैं। लड़के-लड़कियां कोई भी तुम्हारे आगरा आने से खुश नहीं है। बहुत कमा लिया। बहुत नाम कर लिया। सब लड़कियां, लड़के ब्याह दिए। नौकरियों पर लगा दिए। घर, मकान, दुकान, मंदिर सब भगवान की कृपा से बन गए। अब किसके लिए हाय-हाय कर रहे हो ?"

श्रीमतीजी ने उठते-बैठते, खाते-पहनते मुझे कसना शुरू कर दिया। बम्बई से बड़ी लड़की पुष्पा आई और आगरा की भयंकर गर्मी में जमीन पर चटाई बिछाकर और हाथ से पंखा झलकर तौबा-तौवा करके लौट गई। बार-बार बेटे और बहुएं आते और हम दोनों की सेहत तथा असुविधाओं को देख-देखकर मन मसोसकर रह जाते। सबका यही कहना था—बस हो गई प्रधान संपादकी ! अब चलो घर। एक ने तो मुझे मेरी कविता की ये पंक्तियां भी सुना दीं—

उफनते और उफनाते चलो दिल्ली,
विजय की भैरवी गाते चलो दिल्ली,
समय का शंख बाजा है चलो दिल्ली,
बुढ़ापे का तकाजा है चलो दिल्ली।

मेरी मूल कविता में बुढ़ापे की जगह जवानी शब्द था, इसलिए और इसलिए भी कि मैंने अपने से न तो कभी तन के बुढापे को स्वीकार किया है और न परिस्थितियों से हारकर पीठ दिखाना ही सीखा है, लोग उकसाते रहे और मैं डटा ही रहा। क्योंकि मैंने बड़ों को यह कहते सुना है कि "कार्यम वा साध्यामि, देहम् वा पातयामि।"

लक्ष्य एक ही था कि 'विकासशील भारत' वास्तव में विकासशील बने। दिन-रात इसी के संबंध में सोचता रहता। नई-नई योजनाएं बनाता। पत्र की प्रतिष्ठा के लिए यह आवश्यक था कि इसका एक अपना लेखक-परिवार हो। इसके लिए मैंने आगरा में 'विकास क्लब' चलाने का सुझाव दिया। इच्छा थी कि आगरा के बुद्धिजीवी इस पत्र के साथ जुड़ जाएं। बाहर के लेखकों से आएदिन सामयिक विषयों पर नहीं लिखाया जा सकता। आगरा के पत्रकारों और साहित्यकारों को इस पत्र का लाभ पहले मिलना चाहिए, फिर ब्रजांचल के मनीषियों को और उसके बाद बाहर के महानुभावों को। मैं दिल्ली, लखनऊ, कानपुर, भरतपुर, ग्वालियर और झांसी में पत्र के लघु कार्यालय खोलना चाहता था। मैंने मांग की कि सप्ताह में दो दिन कम से कम दो पृष्ठ इसमें और जोड़े जाएं। इनमें एक दिन किसानों की समस्याओं पर विचार हो और दूसरे दिन श्रमिकों की कठिनाइयों पर चर्चा रहे। जहां-जहा पत्र की प्रतियां जाती थीं, वहां-वहां मैं सधे हुए पत्रकारों को संवाददाता नियुक्त करना चाहता था, क्योंकि अभी तक पत्र के विक्रेता ही निःशुल्क खबरें भेजा करते थे। जो प्रायः समाधानकारक नहीं हुआ करती थीं। पत्र में प्रेस ट्रस्ट और यूनीवार्ता की समाचार सेवा उपलब्ध थी। इनकी मशीनें प्रायः खराब रहती थीं। कभी-कभी तो कई-कई दिन तक ये बिल्कुल ठप्प पड़ी रहती थीं, तब रेडियो से समाचार लेकर अखबार में देने पड़ते थे। मैंने सुझाव दिया कि ये दोनों मशीनें बदली जाएं और समाचार भारती तथा हिन्दुस्तान समाचार की मशीनें भी लगाई जाएं। आठ पृष्ठों के अखबार में केवल दो आदमी ऐसे थे जो पी. टी. आई. की खबरें कर सकते थे। भाषा, साहित्य, संस्कृति और राजनीति का ज्ञाता तो इनमें से एक भी नहीं था। मैं चाहता था कि कम से कम दो अनुवादक, एक साहित्यकार और दो प्रूफरीडर और रखे जाएं। संपादकीय विभाग के लिए मैंने एक कार की अलग से व्यवस्था करने को कहा। संवाददाताओं के लिए स्कूटर देने की मांग भी मैंने रखी। मेरी सबसे बड़ी मांग यह थी कि अस्थायी तौर पर रखे हुए पत्रकारों को स्थायी करके नियुक्ति पत्र दे दिए जाएं और विधिवत् सहसंपादक, समाचार संपादक तथा मुख्य उप संपादक बनाकर उन्हें जिम्मेदारी सौंप दी जाए। लेखकों का पारिश्रमिक दूसरे महीने अवश्य चला जाए।

जब-जब मै इन मांगों पर जोर देता तो अर्थाभाव के किस्से बखान कर दिए जाते। बताया जाता कि कंपनी पर इतने लाख का ऋण है और प्रतिमाह एक लाख रुपये का घाटा है, जो मेरे हिसाब से शायद सही नहीं था। फिर यह भी दलील दी जाती कि आगरा के सभी अखबारों में इसी प्रकार काम होता है। वहां भी जैसी व्यवस्था मैं चाहता हूं, वैसी नहीं है। इन दलीलों में कुछ हद तक सच्चाई भी थी। लेकिन जब मैं देखता कि नेताओं के स्वागतसत्कार पर खर्च करने मे मालिक लोग कभी कोई कोताही नहीं बरतते और हजारों रुपये यूं ही फूंक देते हैं तथा पत्र के सर्वे के लिए लड़कियों की भीड़ को पैसा देने में भी उन्हें कोई आपत्ति नहीं है तो मेरा मन खिन्न हो उठता।

मैंने यह अनुभव किया कि व्यवस्थापक लोग मुझे व्यक्तिगत रूप से संतुष्ट करने

में तो सदैव तत्पर रहते हैं और मेरे नाम तथा काम का उपयोग करने में भी कभी पीछे नहीं रहते। शायद उनकी मंशा यह थी कि मैं चुपचाप काम करता जाऊं और अपनी 'व्यर्थ' की पत्रकारिता को उन पर नहीं थोपूं। वे मेरा ही नहीं, मेरे द्वारा साथी पत्रकारों और प्रेस के अन्य कर्मचारियों का शोषण भी कराना चाहते थे। शुरू-शुरू में तो मैं इन बातों की अनदेखी करता रहा, किन्तु बाद में मुझे ये चीजें सालने लगीं। मैंने सोचा कि व्यास, क्या तेरा उदेश्य पत्र के ऊपर अपना नाम छपा देखना ही रह गया है ? कंपोजीटरी से लेकर प्रधान संपादकी तक तूने कभी अपने हित के लिए अन्याय और शोषण से समझौता नहीं किया तो अब तेरी आत्मा इस प्रकार क्यों मर गई है ?

मेरा मन काम से उचटने लगा। सहज परिहास तीखा व्यंग्य बनकर अब मेरे ओठों पर आ गया। एक बार जब अर्थ-कष्ट की बात जोरों से दुहराई जा रही थी तो मैंने कह दिया कि सबसे अधिक तो अर्थ कष्ट मेरे कारण है। मैं इससे आपको मुक्त करता हूं। इस पर प्रतिपक्ष का स्वर नरम हो गया। व्यवहार में भी कुछ दिनों तक परिवर्तन दिखाई दिया। एक सप्ताह मैं कार्यालय भी नहीं गया, लेकिन लिवाने के लिए गाड़ी आती रही और मनुहार चलते रहे। परंतु मूल बातों पर व्यवस्थापक ध्यान देने को तैयार नहीं थे।

धीरे-धीरे मैंने समझ लिया कि व्यास, तू किस खामख्याली में है ! केवल 'विकासशील भारत' ही नहीं, हिंदी में जो यह आंचलिक पत्रों की बाढ़ आई हुई है, उसका उद्देश्य जनसेवा या पत्रकारिता के मानदंड स्थापित करना नहीं है। अधिकतर ऐसे पत्र-स्वामियों की आर्थिक और राजनैतिक महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए ही निकला करते हैं। शुरू-शुरू में एक नामधारी आदमी को संपादक के लिए पकड़ लिया और जब अखबार कुछ चल निकला तो भले ही कलम पकड़ना न आता हो. स्वयं सपादक बन बैठे। तब शायद कोटा, परमिट और ठेके प्राप्त करने में, उलझे हुए व्यापारिक मामलों को सुलझाने में और दांव लग जाए तो विधानसभा या संसद तक पहुंचने में ऐसे अखबार उनके लिए बैसाखियों का काम कर सकते हैं। यदि इतना संभव न हो तो, स्थानीय नेतागीरी तो कहीं गई ही नहीं है। जिन्हें नाक छिनकने का शऊर नहीं, वे जिलाधीशों, कमिश्नरों और प्रदेश के मंत्रियों की बगल मे बैठकर अपने चित्र छपा सकें, तो यह कोई कम उपलब्धि है क्या ?

जब बात पूरी तरह समझ में आ जाए और मैं निश्चय कर लूं तो मुझे कोई डिगा नहीं सकता। भगवान की कृपा से अभी तक यह स्वभाव और स्वाभिमान कायम है। मैंने निश्चय कर लिया कि बहुत हुआ अब संपादकीय कार्य में हस्तक्षेप और उसके स्तर को सुधारने के प्रति बढ़ती जा रही उपेक्षा को नहीं सहा जा सकता। अब आगरा छोड़ ही देना चाहिए। तभी दैवयोग से इसके लिए एक उपयुक्त अवसर भी प्राप्त हो गया। आगरा में उत्तर-प्रदेशीय व्यापारी सम्मेलन का आयोजन किया गया। व्यवस्थापकों ने भी इसमें बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। मुझसें आशा की गई कि मैं संयोजक, स्वागताध्यक्ष

और इस अवसर पर पधारनेवाले मुख्य अतिथि श्री राजीव गांधी के भाषण लिख दूं। मैं भरा हुआ तो था ही, लेकिन मैंने तत्काल अपने आवेश पर काबू पा लिया। शांति से कहा—"मेरे लिए यह संभव नहीं है। इन सभी महानुभावों के पास भाषण तैयार करने-वाले लोग हैं। आप उनकी चिंता छोड़ दीजिए।" व्यापारी सम्मेलन पर एक परिशिष्ट निकाला गया। मुझसे इसके लिए प्रथम पृष्ठ पर अलग से दो कॉलम का विशेष संपादकीय लिखने को कहा गया। 'व्यापारे वसते लक्ष्मी' शीर्षक से मैंने बड़े मन से संपादकीय लिख दिया। यह 'साइड एडीटोरियल' यानी नाम से जानेवाला संपादकीय था। रात को चार बजे तक इसकी छपाई होती रही। लेकिन दूसरे दिन मैंने देखा कि वह संपादकीय तो छपा परंतु मेरा नाम नदारद था। तब तक मैं काफी उदासीन हो चुका था। इसलिए मैंने दूसरे दिन किसी से इसकी कैफियत तलब नहीं की।

आगरा से निकलनेवाला 'अमर उजाला' उक्त व्यापारी सम्मेलन की अनेक बातों को लेकर कसकर आलोचना कर रहा था। उत्तर प्रदेश के अन्य कई पत्र भी इसकी व्यवस्था और रीति-नीति से अप्रसन्न थे। लोग खुलकर कह रहे थे कि यह व्यापारी सम्मेलन का तमाशा कुछ लोगों ने अपने स्वार्थ-साधन के लिए किया है। लेकिन मैंने उनके स्वर में स्वर नहीं मिलाया। समर्थन या विरोध के चक्कर में न फंसकर मैंने इस अवसर पर व्यापारियों की समस्याओं, आगरा तथा उत्तर प्रदेश के व्यापारियों की उपेक्षा एवं प्रदेश में व्यापार की अभिवृद्धि के लिए क्या-क्या किया जाना चाहिए, इस पर कई रचनात्मक संपादकीय लिखे। अपने साथियों से भी कह दिया कि व्यापारी सम्मेलन के समाचारों को प्रमुखता के साथ सचित्र छापा जाए। लेकिन अपने 'चकाचक' नामक स्तम्भ में एक दिन, वह भी सम्मेलन के बाद जरा-सा हंसी-मजाक कर डाला। उसे जहां मित्रों ने फूल की तरह मोहक और सुगंधित समझा, वहां वह व्यवस्थापकों के हृदय में शूल की तरह चुभ गया। विनोद को समझना और सहना हरेक के बूते की बात नहीं।

रात को जब मैं सोने जा रहा था तो फोन आया—"हम तो अपनी जान लड़ा रहे हैं और आप मजा ले रहे हैं। आपका आज का 'चकाचक' तो पत्र की रीति-नीति के एकदम विरुद्ध है।" मैंने तत्काल फोन रख दिया और कोई उत्तर नहीं दिया। दूसरे दिन मुझे सवेरे ही दिल्ली आना था। दिल्ली से वापस आगरा लौटने पर मुझे मालूम हुआ कि मेरा वह 'चकाचक' और उसके बाद एक पेशगी भेजा 'चकाचक' पत्र में नहीं छपा। आशय स्पष्ट था—"तांत बजी और राग जाना।"

मुझे श्री घनश्यामदास बिड़ला की याद हो आई। उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमंत्री श्री चन्द्रभानु गुप्त को चुभनेवाला 'यत्र-तत्र-सर्वत्र' मैंने 'हिन्दुस्तान' में लिख दिया था। गुप्तजी ने बिड़लाजी से इसकी शिकायत एक पत्र लिखकर की। लेकिन बाबू घनश्याम दासजी ने इस पर न मुझे बुलाया, न फोन किया, न डांटा और न पत्र से ही निकल जाने को ही कहा। बिना अपनी टिप्पणी के मुख्यमंत्री का पत्र सीधे मेरे पास भेज दिया। जब उनके बाद श्री कृष्णकुमार बिड़ला 'हिंदुस्तान टाइम्स लिमिटेड' के मैनेजिंग डायरेक्टर

बने तो मेरे लेखन पर उनके पास भी ऐसी ही बहुत-सी शिकायतें आईं। क्योंकि अपने व्यंग्य-विनोद के स्तम्भों में मैंने नेहरूजी से लेकर राजनारायण तक ऐसा कोई नहीं बचा जिससे छेड़छाड़ न की हो। समाज में मनहूसों की कमी नहीं। विनोद को वे विनोद में लेते ही नहीं। कृष्णकुमारजी के पास भी बहुतों ने लिखकर और मिलकर शिकायतें पहुंचाईं। लेकिन आज तक उन्होंने मुझसे किसी का कोई जिक्र तक नहीं किया। बड़ों का बड़प्पन इन्हीं बातों से आंका जाता है। लेकिन 'विकासशील भारत' के कर्ता-धर्ताओं का आलम ही अलग था। उन्होंने फैक्ट्रियां चलाई थीं, अखबार नहीं।

इसलिए दिल्ली से आगरा लौटने पर मैंने पहला काम यह किया कि श्रीमान बांकेबिहारी अग्रवाल को फोन करके यह सूचना दी–"मैं परसों (1 अगस्त, 1983) को वापस सपरिवार दिल्ली जा रहा हूं। मेरे संपादकीय कक्ष में लेख. फाइलें, चिट्ठी-पत्री और स्टेशनरी जहां की तहां सुरक्षित है। उसे संभाल लीजिए। चौबेजी को इसका पता है, पूछ लीजिए। और कुछ पूछना हो तो कल तक मुझे बता दीजिए।"

उत्तर मिला–"जी।"

मैंने आगे कहा–"यहां मेरे निवास पर जो आपका सामान है, उसकी सूची बना ली है। किसी को भेजकर उसे संभाल लीजिए। मैं प्रातः आठ बजे चल दूंगा। अपना ताला लगा दीजिएगा"। मैंने उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की और फोन रख दिया।

दो दिन तक बड़ी हलचल रही। पत्र के सभी पत्रकार, विभागाध्यक्ष और आगरा में मेरे तथा व्यवस्थापकों के मित्र आते रहे और मुझे समझाते रहे। साथी पत्रकारों ने भी त्यागपत्र देने की पेशकश की। मैंने उत्तर दिया कि मैं पत्र का हितैषी हूं। उसका अहित नहीं चाहता। मुझे आप सबसे भी प्यार है। काम छोड़ना आसान है, पर पाना आसान नहीं। इसलिए मन लगाकर प्रेमपूर्वक काम कीजिए, ताकि पत्र चलता ही नहीं रहे, तरक्की भी करे और मैं भी इसे देखकर गर्व का अनुभव कर सकूं कि हां, कभी मैं भी अखबार का प्रधान संपादक था।

किस्सा कोताह यह कि "जान बची और लाखों पाए, लौट के बुद्धू दिल्ली आए।" यह कहावत मैंने आपको कहने के लिए लिखी है। इस संबंध में मेरा कहना यह है कि "भली भई मेरी गगरी फूटी, दधि बेचन सौं छूटी।"

लोक में रमे वही लोकनायक

उन दिनों मेरा पता था–बुधसिंह ठेकेदार का मकान, गली खातियान, मोहल्ला रोदगरान, लाल कुंआ, दिल्ली। यहां रहते थे खाती, जुलाहे और भारी संख्या में कदीमी बसे हुए मुसलमान। बनियों के घर कुल अदद दो। ब्राह्मण के नाम पर अकेले, मेरे चचिया ससुर पंडित कुंदनलाल।

अजीब बस्ती थी। एक तरफ हिजड़े और दूसरी तरफ जी. बी. रोड से निकलो तो घुंघरुओं की झनक, तबलों की खनक और सारंगी पर लहराते हुए स्वरों की गमक। रात को देर गए साजिंदे-बाजिंदे लौटते तो मोहल्ले के हलवाइयों की दुकानें उन्हें सुबह तक खुली मिलतीं। 'हिन्दुस्तान' के दफ्तर से रात ड्यूटी करके मैं भी अक्सर इस लाल हो गए दूध का पान किया करता था। इस राह से गुजरना और हलवाइयों की दूकान पर सन्नाटे में ठहरना सरासर जोखिम उठाना था। मुझे भी दलालों की निगाहों का शिकार होना पड़ता। अक्सर उनके गिरोहों से बच निकलने की हिकमत खोज निकालनी पड़ती थी। दो-चार बार तो उनके बल प्रयोग का भी सामना करना पड़ा। अंधेरी रात में उनके चमकीले छुरों के भी दर्शन एक बार हो गए, पर धीरे-धीरे लोग मुझे पहचान गए कि यह अड्डों का पंछी नहीं है। यह जानकर कि मैं एक अखबारनवीस हूं, वे मुझसे दूर रहने लगे।

दिल्ली का यह आत्मनिर्भर मोहल्ला था। यहां मीठे पानी के कुएं भी थे और सार्वजनिक नल भी, जिनका पानी हिंदू-मुसलमान दोनों के लिए खुला हुआ था। जुम्मन मियां की लकड़ी, कोयले की दूकान थी। बुंदू मियां अपना तंदूर चलाते थे।

मेरे मकान के सामने एक नफीरी नवाज रहते थे। तारों की छाया में दिन निकलने से पहले रियाज करते स्वरों में डूब-डूबकर पुनः सो जाता। बगल में एक शौकिया

बांसुरीवादक भी थे। जब आकाश पर बादल घिरते या रात नशीली हो आती, तो उनकी बांसुरी के स्वर रह-रहकर मेरे मनप्राण को मोह लेते थे। यहां बरातों और रामलीलाओं में आगे निकलकर बजाने-नाचनेवाले ताशा ढोलवादक भी रहते थे। मोहल्ले के चौक में अक्सर फकीरों, मुल्ला-मौलवियों के प्रवचन हुआ करते थे। मैं प्रायः उनमें शरीक हुआ करता था। ईद के दिन हमारे घर बड़े मेवे, मिठाइयां और सिंवइयां मुसलमान दोस्तों के घरों से आया करती थीं। इसमें हिंदू-मुसलमान सब शरीक हुआ करते थे।

मुसलमान इस मोहल्ले में ज्यादा तादाद में थे, लेकिन हिंदुओं के साथ उनका कभी तनाव नहीं हुआ। यहां के हिंदू ताजियेदारी में शरीक होते थे और मुसलमान हर रोज रामलीला की सवारी को देखने से नहीं चूकते थे। कैसी मोहल्लेदारी थी ! हिंदुओं की बहू-बेटियां रात में कहीं भी अकेली आएं-जाएं, कोई खटका नहीं था।

सन् 47 में जब दिल्ली में हिंदू-मुसलमानों में खून-खराबा हुआ, तो इलाके के मुसलमानों ने यहां के मुट्ठीभर, हिंदुओ की हिफाजत का काम अपने हाथ में ले लिया। जब आगजनी और छुरेबाजी, लूटपाट और गोलीबारी तेज हुई, तो एक-एक करके यहां के हिंदू मकान खाली कर गए। एक नब्बे वर्ष की हिंदू बुढ़िया अपना घर छोड़ने को तैयार नहीं हुई और यहां के मुसलमानों ने मुझे भी मोहल्ला छोड़कर जाने नही दिया। मै उन दिनों दैनिक 'हिन्दुस्तान' में काम करता था। जब ड्यूटी करके लौटता तो मोहल्ले की सीमा पर मुसलमान नोजवान मुझे संभाल लेते और सुरक्षित घर तक पहुंचा देते। जो लोग घर खाली करके गए थे, उनके घरों की पहरेदारी मुसलमान भाई ही किया करते थे। जब झगड़ा चरम सीमा पर पहुंच गया, तो उन्होने खुद ही मुझे सलाह दी—"व्यास साहब, अब आपका यहां रहना ठीक नहीं। राह चलते कुछ हो गया तो हमेशा के लिए हमारा मुंह काला हो जाएगा।" उधर बाजार सीताराम के हिंदू भाई मुझ पर वह मोहल्ला छोड़ने के लिए दबाव डाल रहे थे। आखिर मजबूर होकर मुझे अपनी पत्नी और दो बच्चों के साथ वह इलाका छोड़ना पड़ा। अजीब नजारा था। काजी हौज के थाने तक मेरे मुसलमान दोस्त मुझे छोड़ने आए थे और वहां से सौ कदम दूर मेरे हिंदू मित्रों की टोली अगवानी के लिए तैयार खड़ी थी। लाल दरवाजे में एक मकान मेरे लिए पहले ही खाली करवा लिया गया था। मैं वहां पहुंचा तो सही, पर मेरा मन मोहल्ला रोदगरान में ही रह गया था। सामान भी वहीं था। साल-भर बाद जब मैं वहां पर गया तो देखा, वहां कील-कील सुरक्षित थी।

इसी मोहल्ले में रहकर मैंने दैनिक 'हिन्दुस्तान' में नौकरी प्राप्त की थी। उससे पूर्व यहीं बैठकर मैंने पं. दीनानाथ भार्गव दिनेश के 'मानव धर्म' मासिक का कुछ महीनों संपादन किया। यहीं बैठकर मेरी पहली कविता पुस्तक 'उनका पाकिस्तान' लिखी गई और प्रकाशित भी हुई। यहीं पर मेरी 'नया रोजगार', 'अजी सुनो', 'मैने कहा', 'कदम-कदम बढ़ाए जा', 'आराम करो', 'हमारे राष्ट्रपिता' आदि पुस्तकें लिखी और प्रकाशित हुईं। यहीं से मैने मूर्ख महासम्मेलन की शुरुआत की। यहीं पर दिल्ली के हिंदी साहित्य सम्मेलन

की जड़ जमी और लाल किले का कवि-सम्मेलन शुरू हुआ। रेडियो के लिए रोचक निबंध और वार्ताएं लिखी गईं। मेरी शैली और व्यक्तित्व में निखार आया और यहीं से मेरा नाम देश-विदेश में जाहिर हुआ। निश्चय ही यह मेरे लेखन और व्यक्तित्व का स्वर्णकाल था। इसके बनाने में इस मोहल्ले का, यहां के वातावरण और तहजीब का, यहां की मिल्लत और राष्ट्रीयता का, यहां की शेरो-शायरी और पुरसुखन जिंदगी का बड़ा हाथ था। अपने चौदह साल के इस मुकाम को, जो मेरी जिंदगी का भी अहम मुकाम था, मैं कभी नही भूल सकता।

लोग कहते हैं कि लिखने के लिए सुविधाओं का होना बहुत जरूरी है। कम से कम एकांत और स्वच्छ वातावरण तो होना ही चाहिए। बैठने को एक कुर्सी और मेज तो बहुत ही जरूरी है। खुली हवा, रोशनी और बादलो से घिरे या चांद-तारों से जड़े आसमान से दीदार तो होना ही चाहिए, परंतु मेरे मामले में यह बात गलत साबित हुई है। मै जिसमे रहता था, वह एक टूटा-सा सायबान था। आगे एक छोटी-सी छत थी, मुश्किल से चार मीटर चौड़ी और उतनी ही लंबी। इसके एक कोने पर खुला हुआ नल था और दूसरे कोने पर ऊपर टीन की चादरों से खड़ी की गई सवा मीटर की रसोई। गर्मियों में टीन तपती, हवा तीर की तरह चोट करती।

बिजली की जगह लालटेन। न टेलीफोन और न रेडियो। बहुत दिनों तक अपनी या दूसरो की वार्ताए, खबर, नाटक, मुशायरे, कवि-सम्मेलन तथा मैचों और राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक पर्वों का आखों देखा हाल सुनने के लिए नाई या पनवाड़ी की दूकान का सहारा लेना पड़ता था। बाद मे तो टीन में टेलीफोन भी लग गया और बैटरी का एक रेडियो भी आ गया।

इस जीने पर राष्ट्रकवि मैथिलीशरण भी चढ़े और कवि, योद्धा और वाग्मी पं. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' भी। इस जीने पर चढ़कर प. उदयशंकर भट्ट, बाबू भगवतीचरण वर्मा और भाई इलाचंद्र जोशी ने भी हमारे साथ अक्सर ठंडाई छानी है। सुप्रसिद्ध समालोचक बाबू गुलाबराय, भारतीय विद्याविद् वासुदेवशरण अग्रवाल और रायकृष्णदासजी ने भी डगमगाते कदमों से इन सीढ़ियों को नापा था। जब इन सीढ़ियों पर चढ़ने के लिए एक बार विजयलक्ष्मी पंडित मोहल्ले में दाखिल हुई, तो हुजूम इकट्ठा हो गया था। यहीं से सुकवि नीरज और क्या कहूं उन्हें गोपालकृष्ण कौल जैसे अनेक साहित्यकारों और पत्रकारों का भी कला जगत में प्रवेश हुआ। भाई विष्णु प्रभाकर और नटखट उपेंद्रनाथ अश्क यहां अक्सर ही आया करते थे।

मैं विनम्रतापूर्वक यह कहना चाहता हूं कि सच्चा पत्रकार बनने के लिए विश्वविद्यालय की ऊंची-ऊंची डिग्रियां या डिप्लोमा पर्याप्त नहीं है। पत्रकार-पथ के पथिक का आम आदमी की जिंदगी से वास्ता होना बहुत जरूरी है। उनके सुख-दुख किताबों से नहीं जाने जा सकते। जब तक पत्रकार जन-जीवन में घुलता-मिलता नहीं, तब तक वह न सिटी रिपोर्टर बन सकता है और न विशेष संवाददाता। मुझे उत्तर प्रदेश, राजस्थान

और महानगरी दिल्ली के जन-जीवन में रलने-मिलने, विचित्र वर्गों के लोगों के विश्वासों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम करने और समाज की आला शख्सियतों के साथ संपर्क साधने का सहज सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इससे मेरी भाषा आम-फहम बनी है। मेरी कविता में, व्यंग्य में, विनोद में सामाजिक टीस पैदा हुई है। यही मेरी छोटी-मोटी सफलता का एक बड़ा कारण है। क्षमा कीजिए, मैं अंग्रेजी से हिंदी में अनुवाद करनेवाले लोगों को पत्रकार नहीं मानता। उनकी जिंदगी तो क्लर्कों से भी बदतर है। सच्चा पत्रकार सच्चा समाज-सेवक होता है। वह राजनीतिज्ञों से भी अधिक समाज और शासन का रहनुमा होता है। जिसने गरीबी देखी ही नहीं, वह गरीबों की क्या वकालत करेगा ? जिसने हिंदू-मुसलमानों की कट्टरता और नफरत का नजारा देखा ही नहीं, वह हिंदू-मुस्लिम एके की वकालत कैसे कर सकता है ? जो लोक में रमता है, वही लोकनायक बनता है। पत्रकार स्वयं लोकनायक न बन सके, लेकिन लोकनायकों का निर्माता तो होता ही है। वैसे लोकमान्य तिलक और लोकनायक बाबू जयप्रकाश भी अपने प्रारंभिक दिनों में पत्रकार ही थे।

■

आदरणीय व्यासजी,

आपकी कृतियां कालजयी हैं। आपकी कीर्ति अक्षुण्ण है।

हिन्दी भवन के लिए 5001/ का चेक भेज रहा हूं। भारत सरकार को भी कोंचूंगा। मेरे धनीमानी मित्र तो पहले ही आपके प्रेमपाश मे हैं। जो बचे-खुचे हैं उन्हें जरूर उलाहना दूंगा।

कांग्रेस ने तमिलनाडु में वोट के लिए हिन्दी को त्रिभाषी फार्मूले से हटा दिया। संस्कृत पहले ही अपदस्थ की जा चुकी है। हिन्दी भवन अवश्य बनाएं; किंतु हिन्दी-संस्कृत की उपेक्षा पर मौन न रहें। भाषा ही नहीं रही तो भवन का क्या होगा ?

–अटलबिहारी वाजपेयी

पत्रकार हमेशा पत्रकार

पत्रकार हमेशा पत्रकार रहता है—चाहे वह अखबार में काम कर रहा हो या अवकाश प्राप्त कर चुका हो अथवा करा दिया हो। कहते है सिगरेट अकेले का साथी है, लेकिन मैं कहता हूं कि अखबार, रेडियो, दूरदर्शन पत्रकारों के आजन्म साथी है। सिगरेट की लत छूट सकती है, परंतु अखबारनवीसों से अखबारो की लत मरते दम तक नहीं छूटती। हमारे एक वयोवृद्ध, रोगग्रस्त, कुछ दिनों के ही मेहमान एक पत्रकार साथी थे। उठ-बैठ नहीं सकते थे। पढ़ना-देखना भी कठिन था। उन्होंने अपने एक पुत्र की ड्यूटी पास रखे रेडियो के पास लगा दी थी कि वह चुनाव-परिणामों का हर बुलेटिन सुने और उन्हें बताए कि ताजा स्थिति क्या है ? एक रात ग्यारह बजे जब उन्हें यह बताया गया कि लोकसभा में कांग्रेस को तीन-चौथाई बहुत मिल गया है तो वह इतने खुश हुए, इतने खुश हुए कि हार्ट फेल हो गया। डॉक्टरों ने कहा कि इन्हें अस्पताल ले जाने की आवश्यकता नहीं है, निगम बोध घाट ले जाइए। "अंत मता सो गता" के अनुसार निश्चय ही अगले जन्म में वह समाचार संपादक ही होंगे।

हमारे एक अन्य पत्रकार साथी हैं। पिचासी पार कर चुके हैं। भगवान की कृपा से आंखें सही हैं। सुबह से अखबारों को लेकर बैठते हैं तो रात हो जाती है। पत्नी नाश्ते और भोजन के लिए झल्लाती रहती है। अखबारों के पन्ने समेटते-समेटते और झाडू लगाते-लगाते वह पति को दस-बीस चुभनीय बातें लगा देती है। लेकिन उन्होंने यत्न करके अपने एक पुत्र को ऐसे विभाग में लगा दिया है कि उनके पास ढेर सारे अखबार मुफ्त में आ जाते हैं—"मुफ्त का चंदन घिस मेरे नंदन।" लेकिन यह चंदन उन्हीं के लिए लगता है, किसी अखबार में उसके दर्शन नहीं होते। जब संपादकों की अहमन्यता के कारण उनके लेख लौटने लगे तो उन्होंने लिखना ही बंद कर दिया। लेकिन पत्र-पारायण

उन्होंने अभी तक बंद नहीं किया है। इसका लाभ अन्य पत्रकार उठाते हैं कि काकूजी, तब क्या हुआ था ? वह कौन-सी तारीख थी ? आज हवा का रुख किधर है ? काकूजी तरोताजा हैं और युवकों की तरह सबको उत्तर देते रहते हैं।

एक अन्य वरिष्ठ संपादक हैं। कई वर्ष हो गए सेवानिवृत्त हुए। अन्य पत्रों में तो क्या, स्वयं उनके जमाए और कमाए हुए पत्र में भी उनके लेख नहीं छपते। पर बड़े लोगों से पुराने संबंध है। काम के नए लोगों से भी संबंध बनाए रहते हैं। कभी आकाशवाणीवालों ने बुला लिया तो कभी दूरदर्शन ने। कभी भूले-भटके किसी आंचलिक और प्रादेशिक पत्र ने कुछ मांग लिया तो दो घंटे में एक रेडीमेड लेख तैयार। रेडियो, दूरदर्शन के बुलावे पर बीमारी काफूर। श्रीमानजी का आलम यह है कि घर के नवशिक्षित लड़के और लड़कियां उन्हें अखबारों का कीड़ा कहने लगे हैं।

हमारे एक सहयोगी पत्रकार थे श्री शिवकुमार विद्यालकार। आठ घंटे की ड्यूटी में उनके दो घंटे कतरने काटने मे जाते थे। देशी विदेशी फाइलें उन्होंने छलनी कर दी थीं। मुझसे कहा करते थे कि रिटायर होने पर इनका उपयोग करूंगा। पुस्तकों पर पुस्तकें भर जाएंगी इन कतरनों से। भारत के इतिहास को नए सिरे से लिखने का बीड़ा उठाया है मैंने। परंतु वह बीड़ा चाब नहीं सके। समय से पहले रिटायर होने का सदमा उन्हें ऐसा लगा कि चल बसे। अब वे कतरनें सुरक्षित हैं या कूड़े में फिक गईं अथवा दीमकों का पेट भर रही हैं, कुछ पता नहीं।

मैं औरों की क्या, अपनी ही बात क्यों न कहूं। प्रातःकाल छह बजे से रात्रि ग्यारह बजे तक आकाशवाणी की बार-बार दुहराई जानेवाली खबरे पलंग के पास रखे रेडियो से बार-बार सुनता रहता हूं। अखबारवाले को सुबह देर हो जाती है तो मैं वैसे ही तड़पने लगता हूं जैसे मंजनू...। अखबार कई आते हैं, कुछ मुफ्त के और कई पुत्रों तथा पोतों द्वारा खरीदे हुए। सवेरे-सवेरे इनके दर्शन करने मैं वैसे ही दौड़ता हूं जैसे मथुरा के द्वारिकाधीश के मंदिर की ओर मंगला के दर्शनों के लिए भक्त दौड़ते है। परंतु जैसे मंदिर के देवता केवल दर्शन ही देते है, बोलते नहीं, ऐसे ही अभी तक बोलनेवाले अखबारों का आविष्कार नहीं हुआ है। जैसे मैं देवमूर्ति के चमकीले कुंडलों तथा मुकुट को ही देख पाता हूं, वैसे ही जोर लगाकर अखबारों की सिक्स लाइन और फोर लाइन हैडिंग पढ़ पाता हूं। आगे क्या लिखा है, इसके लिए मुझे वाचको की वैसे ही प्रतीक्षा रहती है, जैसे हनुमानजी के मंदिर में दर्शन करने जानेवालों को बूंदी-प्रसाद की। मेरे लड़के-लड़कियां, पुत्रवधुएं और पोते सभी पढ़े-लिखे हैं, पर सवेरे-सवेरे वे तैयार होकर अपने-अपने कामों पर जाएं या अखबार सुनाएं ? मुझे अखबार सुनाना उनके लिए महान मुसीबत का कारण है। कोई जबर्दस्ती करने पर आधा सुना गया तो कोई तीन चौथाई। किसी ने दो महत्त्वपूर्ण खबरें छोड़ दीं तो किसी ने तीन। फिर भी भगवान सबको देता है। मुझे भी कोई न कोई वाचक भेजता रहता है। सुबह सही, दोपहर सही या रात सही।

पत्नी कहती हैं कि वही-वही खबरें सुनकर और अखबारों की एक-सा खबरें पढ़वाकर अब तक आपने क्या तीर मार दिये हैं जो अब मारोगे। अरे उठो, घूमने जाओ। नहाओ-धोओ। नाश्ता करो। क्यों अपना और दूसरों का समय बरबाद करते रहते हो ? परंतु साहब भांग पीने की आदत छूट गई। शतरंज और ताश को छुए बरसों बीत गए। कभी चेन-स्मोकर था, अब पच्चीस साल में सिगरेट को अंगुलियों ने छुआ ही नहीं है। इस उमर के आते-आते बहुत से काम न छोड़ना चाहते हुए भी, अपने आप छूटते चले गए। परंतु घंटे-घंटे-भर बाद चाय, उसके बाद तंबाकू का पान और हरदम श्रीमदभागवत रूपी अखबार का अहर्निश श्रवण न अब तक छूटा है और लगता है कि न जीवन-भर छूटेगा।

अब पत्नी को कैसे समझाऊं और आपको क्या कैफियत दूं कि वह क्रोध नहीं छोड़ सकतीं और आप लोभ नहीं छोड़ सकते। वह मोह नहीं छोड़ सकतीं और आप ईर्ष्या नहीं छोड़ सकते। तो भाई, मैं अखबार क्यों छोड़ दूं ? यह कोई ऐसा नशा तो नहीं है कि कपड़े फाड़ने की नौबत आ जाए। कि दिमाग खराब हो जाए। कि जिसके कारण अन्य दुर्व्यसन लग जाएं। अजी, आपने क्या समझ रखा है। पत्रकार हूं, पत्रकार—"सारे जहां का दर्द हमारे जिगर में है।" आपको अपने पड़ोस में क्या हो रहा है, इसकी खबर नहीं, लेकिन मैं सोवियत संघ के ग्लास्तनोस्त और पेरेस्त्राइका की पूरी-पूरी खबर रखता हूं। आप तो पड़ोस में आग लग जाती है तो भी बेखबर रहते हैं, लेकिन मैं केलीफोर्निया के भूकंप, बंगलादेश के तूफान, बेनजीर की मुसीबत, थैचर के ठसके, दक्षिण अफ्रीका की गोराशाही के जुल्मों की खबरें सुनकर दहल-दहल जाता हूं। कहो तो अभी बता सकता हूं कि इन आम चुनावों में किसको टिकट मिलेगा और किसका टिकट कटेगा ? कौन जीतेगा और कौन हारेगा ? किसकी सरकार बनेगी और कौन रह जाएगा ? लेकिन देखो, मैं कैसा निर्विकार हूं। योगी ही कह दीजिए न—"कोऊ नृप होय हमें का हानी।" न हमें त्रिपाठीजी की तरह किसी को चिट्ठी लिखनी है और न कहीं से चुनाव लड़ना है या राज्यसभा में जाना है। मैं भ्रष्टा, नहीं-नहीं भ्रष्टाचार को कुरेदने वाला नेता भी नहीं हूं। न कुर्सी पर ही बैठे-बैठे अपुन को प्राण त्यागने हैं। मैं पत्रकार था, पत्रकार हूं और पत्रकार ही रहूंगा। आप न मानें, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। मैं तो इसी सिद्धांत का माननेवाला हूं कि पत्रकार हमेशा पत्रकार रहता है। हरदम बाखबर। हरदम चौकन्ना। हरदम चौकस।

एक सूक्ति है—"अथातो ब्रम्ह जिज्ञासा।" पत्रकारिता के प्रसंग में इसे यों कहिए—"अथातो न्यूज जिज्ञासा।" न्यूज के साथ व्यूज (विचार) वैसे ही चले आते हैं जैसे सूर्य के आगे आदमी और आदमी के पीछे परछाई। जैसे सूर्य के साथ-साथ मनुष्य की परछाई घूमती है, वैसे ही हर खबर के साथ विचार भी उसके दिमाग में चक्कर लगाया करते हैं। वह हमेशा ज्ञान-गंगा में गोते लगाता रहता है। ज्ञान न जाने किस अवस्था में कब प्राप्त हो जाए, उसका पीछा नहीं छोड़ना चाहिए। जैसे गांधीजी और विनोबाजी अंतिम क्षणों तक दक्षिण की भाषाएं सीखते रहे थे, वैसे ही हमारे पत्रकार अंतिम समय तक देश-विदेश की, ज्ञान-विज्ञान की, सदाचार-भ्रष्टाचार की, आत्मनिर्भरता

और परवशता की, शोषण और पोषण की, प्रदूषण और राजनीति के खरदूषणों की खोज-खबर लेते ही रहते हैं। यह उनका मौलिक अधिकार है। इसे उनसे कोई नहीं छीन सकता।

पत्रकार जन्म से ही पत्रकार नहीं होते–"करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।" सुजान बनने पर वे अपने ज्ञान का वर्द्धन अंतिम क्षणों तक उसी प्रकार करते रहते हैं, जिस प्रकार लखपति करोड़पति और करोड़पति अरबपति बनने के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहता है। धनी धन यहीं छोड़ जाता है, लेकिन पत्रकार का ज्ञान-धन पीढ़ी-दर-पीढ़ी लोगों को प्रभावित करता रहता है। इसीलिए मैं कहता हूं कि पत्रकारों की सेवा-निवृत्ति की अवधि 58-60 से बढ़ाकर 65-68 वर्ष तक कर देनी चाहिए। उसके बाद भी यदि उनका स्वास्थ्य साथ दे तो उनके ज्ञान और अनुभव से लाभ उठाने का पवित्र कर्त्तव्य हमारे आज के संपादक बंधुओं को निभाना ही चाहिए। क्योंकि एक सच्चा पत्रकार वर्षों में घिस-पिटकर, पढ़-लिखकर ज्ञान-पुष्ट होता है, परिपक्व बनता है। उसे चुनाव के दंगल में बूढ़े नेताओं की तरह विस्मृति के गर्त में नहीं फेंक देना चाहिए। न यह मानना चाहिए कि वह पत्रकार नहीं रहा। पत्रकार हमेशा पत्रकार रहता है।

प्रिय व्यासजी,

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आपने आगरा से 'विकासशील भारत' पत्र की सेवा करने का निश्चय किया है। इसके लिए हार्दिक बधाइयां। जैसा कि आप जानते ही हैं कि मैंने 7 जनवरी 1983 से कन्याकुमारी से अपनी पदयात्रा शुरू की है जो 26 जून को राजघाट, दिल्ली में समाप्त होगी। इस पदयात्रा के माध्यम से मैं केरल, तमिलनाडु, कर्नाटक, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, हरियाणा प्रदेशों का दौरा करते हुए दिल्ली पहुंचूंगा। मैं संभवतः 14-15 जून को आगरा शहर से भी होकर गुजरूंगा।

मुझे पूरा विश्वास है कि आप जैसे राष्ट्रसेवी निश्चय ही पत्रकारिता के माध्यम से पत्रकारिता के लिए निर्धारित सिद्धांतों के हितों की रक्षा करते हुए जनमानस की सेवा करने में सफल होंगे।

विशेष भेंट करने पर।

सादर,

आपका
–चन्द्रशेखर

प्रतिबद्धता क्या : स्वतंत्रता कैसी

अगर कहीं कोई पत्रकार आज स्वतत्र और अप्रतिबद्ध है तो मैं उस महाभाग के दर्शनों का पुण्य लाभ करने को लालायित हू। पत्रकार स्वतंत्र रहने को बना ही नहीं। उसे कहीं न कही, किसी न किसी से प्रतिबद्ध होना ही पड़ता है। किसी की स्वतंत्रता पर समाचार सपादक का अंकुश है तो किसी के विचार संपादक की रीति-नीति के सामने मुखर नहीं हो सकते। संपादक उदार मिल सकते हैं, लेकिन संपादकीय विभाग से उदारता बरतना प्रायः व्यवस्थापकों ने नही सीखा। कुछ पत्रों के स्वामी अपने पत्रों को स्वतंत्रता देनेवाले हो सकते हैं, परंतु पत्र की स्वतंत्रता यदि सत्ता का मार्ग अवरुद्ध करती हो तो आज के मालिक उससे टक्कर लेने की स्थिति में नहीं हैं। कुछ पत्रों के स्वामी अवश्य ऐसे है जो सत्ता से टक्कर लेने को ही पत्रकारिता की स्वतंत्रता मान बैठे हैं। परंतु वे भी पूंजी से प्रतिबद्ध हैं और उनके पत्रों की स्वतंत्र-नीति उनकी व्यावसायिक कुशलता की ही द्योतक है। इन पत्रों के पत्रकार भी सत्ता की आलोचना करने के अलावा अपने मन की बात लिखने में स्वतंत्र नहीं हैं। व्यवस्थापक महोदय खड़े-खड़े संपादकों को निकाल देते हैं और पत्रों का प्रकाशन बंद कर देते हैं।

लेकिन सभी व्यवस्थापक ऐसे नहीं होते। मुझे इस प्रसंग में बाबू घनश्यामदास बिड़ला की याद आ रही है। एक बार पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी दिल्ली में उनसे मिलने गए। साथ में विड़ला समूह के पत्रों की रीति-नीति के व्यवस्थापक श्री पारसनाथ सिंह भी थे। मैं भी चतुर्वेदीजी के साथ था। चतुर्वेदीजी ने 'हिन्दुस्तान टाइम्स' की रीति-नीति की कड़ी आलोचना की। बिड़लाजी चुपचाप सुनते रहे। अंत में उन्होंने एक ही वाक्य कहा—"पत्र मेरा नहीं, देवदास गांधी का है।" स्पष्ट था कि वह पत्र की रीति-नीति के मामले में न किसी का हस्तक्षेप पसंद करते थे और न खुद हस्तक्षेप करते थे।

इससे भी बड़ी एक घटना और याद आ रही है। मेरे पुराने मित्र और साथी श्री मुलगांवकर बड़े बेलौस और निर्भीक किस्म के पत्रकार थे। बड़े से बड़े आदमी की गलत

बात को वह नजरअंदाज नहीं करते थे। जब वह 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के संपादक थे, तब उन्होंने नेहरू और सत्ता के विरुद्ध अपनी कलम तान ली। नेहरूजी को भी उनका लेखन दिखाया गया; परंतु वह तो सच्चे मायने में लोकतंत्री थे और पत्रकारों की आजादी के सही अर्थों में समर्थक थे। उन्होंने पढ़ा और रख दिया। लेकिन इंदिराजी ताव खा गईं। उन्होंने श्री मुलगांवकर से सख्त-सुस्त बातें कीं। श्री मुलगांवकर ने नेहरूजी को पत्र लिखा और साथ में 'हिन्दुस्तान टाइम्स' से त्यागपत्र भी संलग्न कर दिया। उसकी एक प्रति बाबू घनश्यामदास बिड़ला को भी भेज दी। पर, वाह रे जवाहरलाल ! उन्होंने श्री मुलगांवकर से कुछ कहने के बजाय इंदिराजी से ही कहा कि उन्होंने श्री मुलगांवकर से मिलकर ऐसी बातें क्यों कीं ? और, वाह रे बाबू घनश्यामदास बिड़ला ! जब वह नेहरूजी से मिले तो उन्होंने फिर यही दोहराया कि अखबारों के मामले में मैं कोई हस्तक्षेप करना पसंद नहीं करता। और श्री मुलगांवकर का त्यागपत्र सखेद लौटा दिया।

ऐसी ही एक छोटी-सी घटना मेरे साथ भी घटी। मैं दैनिक 'हिन्दुस्तान' में 'यत्र-तत्र-सर्वत्र' नामक स्तंभ लिखता था। अपने मीठे और तीखे व्यंग्य-बाणों से न मैं पक्ष को बख्शता और न विपक्ष को, न मंत्री को और न नेता को। एक बार मैंने उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री चन्द्रभानु गुप्त पर अपने तरकस के तीर छोड़ दिए। गुप्तजी मेरे पुराने साथी और मित्र थे। लेकिन यार लोगों ने उन्हें भड़का दिया तथा उन्होंने मेरे कॉलम की कतरन के साथ एक चिट्ठी श्री घनश्यामदास बिड़ला को भेज दी। बिड़लाजी ने गुप्तजी को क्या उत्तर दिया, यह तो मुझे पता नहीं, लेकिन श्री चन्द्रभानु गुप्त के मूल पत्र के साथ वह कतरन बिना किसी टिप्पणी के मेरे पास भेज दी। वह चाहते तो मेरे संपादक को भी लिख सकते थे और व्यवस्थापक श्री देवदास गांधी को भी। मुझे भी कुछ निर्देश दे सकते थे। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। इस पर मेरा हौसला बढ़ गया। मैंने दो-तीन 'यत्र-तत्र-सर्वत्र' गुप्तजी के संबंध में और भी लिख डाले। लेकिन शांतम् पापम्। न गुप्तजी ने कुछ कहा, न बिड़लाजी ने।

अब कहां रहे बाबू घनश्यामदास बिड़ला जैसे पत्रों के स्वामी और कितने हैं श्री मुलगांवकर जैसे पत्रकार ? आज तो पूरे कुएं में भांग पड़ी हुई है।

प्रश्न उठता है कि पत्रकारिता की बहुचर्चित स्वतंत्रता आखिर है क्या ? वह किसके लिए है ? उसकी सार्थकता क्या है ? भारत सरकार पत्रों की स्वतंत्रता को बहुत महत्त्व देती सुनी जाती है। लेकिन उस स्वतंत्रता का अर्थ प्रायः यह है कि सत्ता की रीति-नीति का बढ़-चढ़कर समर्थन करने के लिए आप पूरी तरह स्वतंत्र हैं। इसके विपरीत लिखने या रुख ग्रहण करने पर आपकी स्वतंत्रता खतरे में पड़ सकती है। इस स्वतंत्रता के सरकार ने पहले भी पर काटे हैं, आज भी इस पर कुदृष्टि है और कल भी शायद पत्रों की ऐसी 'हरकतों' को बर्दाश्त नहीं किया जा सकेगा।

भारत के विरोधी दल भी पत्रकारों और पत्रकारिता की स्वतंत्रता के बड़े हामी हैं। उनका कहना है कि सरकार ने पत्रों और पत्रकारों को खरीद रखा है। एकाधिकार प्रणालीवाले पत्रों के स्वामियों पर वह इसलिए अंकुश नहीं लगाती कि उनसे सरकार की मिलीभगत है। आज की पत्रकारिता स्वतंत्र नहीं है। वह तो तब होती जब विरोधी दल

दल के समाचार भी विस्तार के साथ उनमें छपते।

स्वतंत्र विचारकों का कहना है कि राजनीति की तरह पत्रकार भी आज खेमों मे बंट गए हैं। कुछ ने समाजवादी चश्मे पहन लिए हैं तो कुछ पूंजीवादी दूरबीन से तथ्यों को देख-परख रहे हैं। कुछ ने सत्ता का दामन थाम लिया है तो कुछ ने साहूकार का। ऐसी स्थिति में स्वतंत्र पत्रकारिता कैसे पनप सकती है ?

दुनिया के देशों की तरह भारत के पत्र भी आज चार श्रेणियों में विभाजित है–विकसित, विकासशील, अल्पविकसित और निर्धन। विकसित वे हैं, जिन्होंने पूंजीवाद या समाजवाद का सहारा लिया है। विकासशील वे हैं जो सत्ता और साहूकारों के बल पर चल रहे है। अल्प-विकसित वे है, जो समाजवाद, पूंजीवाद, सत्ता और साहूकार, चारो को नाराज न करने की नीति अपनाए हुए हैं। निर्धन वे है जो अपने-आपको सिद्धांतवादी कहते है या किसी विशेष लक्ष्य के लिए प्रकाशित होते हैं। चंदा से चलते हैं। जब चदा छिप जाता है तब उनके आंगन मे भी अंधेरा हो जाता है।

सिद्धात ! बात कुछ-कुछ समझ में आती है कि सिद्धांतो की स्वतत्रता ही पत्रकारिता की स्वतत्रता है और अपने सिद्धांतो पर अटल रहनेवाला पत्रकार ही सही अर्थों में पत्रकार है। वह टूट जाता है, रगमच से हट जाता है, पर अपने सिद्धांतों को नहीं छोड़ता। वह ही स्वतत्र पत्रकारिता के सिद्धांत की नींव की ईट है, परंतु सिद्धांत तो अलग-अलग हैं। परस्पर एक-दूसरे से विपरीत भी है। उनमें सहअस्तित्व का भाव भी नहीं है। सोवियत संघ के पत्रकार को पूंजीवाद मे अगर कुछ अच्छाई भी लगे तो उसे व्यक्त करने की छूट नही है। अमरीकी पत्रों मे साम्यवाद की चर्चा भारी गुनाह है। लेकिन इसके बावजूद वे अपने-अपने तरीके से जनता के कल्याण की दुहाई देते हैं। दुहाई ही क्यों, अपने-अपने तरीकों से पाठकों का मानसिक स्तर उठाने में भी महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। लेकिन पूंजीवाद कहता है कि साम्यवादी सिद्धांत ने मनुष्य को मशीन बना दिया है। उसकी बोलती बंद कर दी है। रूसी पद्धति में आदमी को अपने तरीके से रहने, काम करने और अभिव्यक्त करने की आजादी नहीं है। इसके विपरीत, साम्यवादी विचारकों की मान्यता है कि मानवता की राह मे पूंजीवाद ही अनर्थों की सबसे बडी जड़ है। उसका समूचा आधार ही शोषण पर टिका हुआ है। असहाय और विपन्न व्यक्ति का शोषण, निर्बल और निर्धन देशों का शोषण, अल्पविकसित और विकासशील देशों की बेबसी का शोषण और अंत में अपने स्वार्थो के लिए दुनिया की सुख-शांति का भी शोषण।

दोनो व्यवस्थाएं अपने प्रचार के लिए और प्रभाव-विस्तार के लिए पत्रकारों पर डोरे डालती रहती हैं। उनकी खरीद-फरोख्त जारी है। कोई इसके साथ प्रतिबद्ध हो जाता है तो कोई उसके साथ। आज की पत्रकारिता स्वार्थों के लिए सिद्धांतों के झंडे उठाए हुए है। चाहे वे देशी सत्ता या साहूकारों के हों अथवा रूस या अमरीका के हों। अपने-अपने खेमे में काम करने की स्वतंत्रता सबको है। ढोल उनके और डंके आपके। फोड़िए मत, स्वतत्रतापूर्वक नई-नई तालों पर उन्हें बजाते जाइए, नाचते जाइए और गाते जाइए। तब क्या स्वतंत्रता ? कैसी स्वतंत्रता ? क्या सीमित स्वतंत्रता को ही हम मुकम्मिल आजादी मान लें ?

•

हमारे विचार से प्रतिबद्धता और स्वतंत्रता दोनों ही पत्रकारिता की आवश्यक शर्तें हैं। बिना प्रतिबद्धता के, यानी सिद्धांत-संलग्नता के स्वस्थ पत्रकारिता चल नहीं सकती। भारत की पराधीनता के युग में भी पत्रकारिता देश की स्वतंत्रता के लिए प्रतिबद्ध थी। राष्ट्रीय पत्रों में ब्रिटिश हुकूमत के समर्थन में लिखने की छूट पत्रकारों को नहीं थी। आज भी पत्रकारिता को इन बड़े-बड़े सिद्धांतों और व्यक्तियों के साथ प्रतिबद्ध न होकर जनजीवन के कल्याण के साथ प्रतिबद्ध होना चाहिए। जन वह नहीं, जो सुविधा-संपन्न है, जन वह जो शोषण से पीड़ित है, भूख से दम तोड़ रहा है, रंगभेद की चक्की में पिस रहा है, सांप्रदायिकता से आहत है, अन्याय से दलित है, अत्याचार से मरणासन्न है और जिसकी सुख-शांति को युद्ध-लिप्सुओं ने, मानवता के शत्रुओं ने, सत्ता ने, साहूकारों ने तथा बड़े-बड़े सिद्धांतों के नाम पर किए जा रहे दमन और दलन ने दबोच रखा है। इसके विरुद्ध लिखने की स्वतंत्रता आज पत्रकार को नहीं है जो जन-हित के लिए उन्हें मिलनी चाहिए। जैसे राष्ट्र की स्वतत्रता का अर्थ अनुशासनहीनता या उच्छृंखलता नहीं है, वैसे ही पत्रकारों की स्वतंत्रता का अर्थ समाजद्रोहियों का समर्थन, अत्याचारो के प्रति अवहेलना और अन्याय की अनदेखी करना नहीं माना जा सकता।

पत्रकारिता एक तपस्या है, सुख-सुविधाएं बटोरने का साधन नहीं। जो मनस्वी या तपस्वी नहीं, उसके लिए पत्रकारिता में प्रवेश वर्जित होना चाहिए। यह कष्टों और कंटकों का मार्ग है। कृपया ढिंढोरची, चापलूस और ऐशपरस्त, साधना के इस मंदिर में घुसकर इसे अपवित्र न करें। जो पत्रों और पत्रकारिता की स्वतंत्रता के नाम पर अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं, वे अपनी महत्त्वाकांक्षाओं से पीड़ित हैं, राष्ट्र और जन-कल्याण के शुभचिंतक नहीं। जो पत्रकार अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए अपनी कलम को स्वच्छंद करना चाहते हैं, उन्हें क्या परमार्थी कहा जा सकता है ? पत्रकारिता स्व-सेवा नहीं, पर-सेवा है, परोपकार है। पर-पीड़न के विरुद्ध संघर्ष है। परमात्मा की खोज है। वह परमात्मा नहीं, जो चौथे या सातवें आसमान पर रहता है। परमात्मा वह भी नहीं जो सागर, पाताल, हिमालय, स्वर्ग अथवा किसी जन्नत में बैठा हुआ है। वह परमात्मा जिसका नाम जनार्दन है और जिसे हम दरिद्रनारायण कहते हैं। उससे प्रतिबद्ध हूजिए और स्वतंत्रतापूर्वक उसका चिंतन कीजिए। मेरे लेखे यही सही स्वतंत्रता है और सच्ची प्रतिबद्धता।

दिल्ली से प्रकाशित होने वाले हिन्दी के एक पत्र के सेवानिवृत्त संपादक से हमने प्रतिबद्धता के संबंध में बातें कीं। अपने आदर्श प्रवचन के अंत में उन्होंने कहा—पत्र की प्रतिबद्धता तो पाठकों के साथ होनी चाहिए। पाठक जो चीज चाहता है, वह यदि पत्र में न दी जाए तो यह उसके साथ अन्याय होगा। इसलिए पत्रकार का प्रथम कर्त्तव्य यह है कि वह पाठक की रुचि देखे, उसकी जिज्ञासा को शांत करे और अभिलाषा को पूरा करे।

बात सही लगती है। आज की व्यावसायिक पत्रकारिता इसी सिद्धांत पर चल रही है। पत्रों की पाठक संख्या की निरंतर बढ़ोतरी का कारण भी संभवतः यही है। पत्र की ग्राहक संख्या बढ़ती है तो विज्ञापन से आमदनी भी बढ़ जाती है। अधिक संख्या में बिकनेवाले पत्र के संपादक का वर्चस्व भी बढ़ जाता है। मालिक को माल मिले और

और संपादक को मान मिले, तो और क्या चाहिए।

प्रश्न उठता है कि पाठक को क्या चाहिए ? यदि आज के व्यावसायिक पत्रों के पन्नों को पलटकर पाठकों की रुचि का अंदाजा लगाया जाए तो निष्कर्ष यही निकलता है कि पाठकों को चाहिए–राजनीति के सत्ता-पक्ष का प्रबल विरोध, उसके नेताओं का आए दिन चरित्रहनन, हंगामों और हाथापाइयों की उछाल-उछालकर लिखी गई खबरें, अपहरणों और बलात्कारों के पारदर्शी चित्रण, औरतों की अधनंगी तसवीरें, कामुकता से ओतप्रोत कहानियां, सस्ते फूहड़ और अश्लील हास-परिहास–क्या पाठक-समाज की यही अभिरुचि है ? क्या हमारे पाठक-समाज की मनोवृत्ति यहां तक आ पहुंची है ? या हमारी पत्रकारिता की पाठकों के प्रति जो प्रतिबद्धता है, यह सब उसी की देन है ? क्या पाठकों का सस्ता मनोरंजन ही पत्रकारिता का उद्देश्य है ? उसे ज्ञान-विज्ञान से संयुक्त करना या पाठकों के मानसिक स्तर को कुरुचि से उठाकर सुरुचि की ओर ले जाना पत्रकार का कर्त्तव्य नही ?

आज की पत्रकारिता लगता है कि केवल राजनीति के रंग में ही रंग गई है। भ्रष्टाचार ही उसे सर्वाधिक आकृष्ट कर रहा है। तभी तो आज के पत्रों में न साहित्य को स्थान है, न संस्कृति को। न प्राचीन का स्मरण है, न नवीन की प्रेरणा। राष्ट्रीयता और भारत की एकता का जिक्र केवल नेता और मंत्री के बयानों के छपने पर ही मिलता है। न आज की पत्रकारिता हमारे ग्राम्य जीवन को छूती है और न मजदूर जगत को। वह अपने पाठकों को नागरिकता का पदार्थ-पाठ भी नहीं पढ़ाती। पढ़ाए तो तब जब उसे राजनीति के बखेड़ों से फुर्सत हो। पत्रों के स्वामियों के लिए अब पत्रो का प्रकाशन राष्ट्र-जागरण, चरित्र-निर्माण और मानवता के शील-संस्कारों का शिक्षण देना न होकर रुपया कमाना हो जो गया है। वे अखबारों के दफ्तरो को भी फैक्टरियों की तरह चलाते हैं और वही माल तैयार करते हैं, जिसकी बाजार में मांग होती है।

पाठकों के प्रति प्रतिबद्धता का अर्थ है–आज के तथाकथित पाठकों की बाजारू मांग को प्रोत्साहन देना। इससे व्यावसायिक पत्रों की ग्राहक संख्या तो निरंतर बढ़ रही है, लेकिन पाठक समाज की या दूसरे अर्थो में भारतीय समाज की रुचियां ऐसी पत्रकारिता से दिन-ब-दिन विकृत होती चली जा रही हैं। आमदनी बढ़ने से व्यावसायिक पत्रों के कलेवर, छपाई-सफाई के स्तर तो बढ़ रहे हैं, लेकिन पत्रकारिता का स्तर दिन-पर-दिन गिरता चला जा रहा हैं। बड़े अखबारों के प्रभाव और उनकी संपन्नता की शक्ति से भाषायी छोटे अखबार दिन-प्रति-दिन क्षीण होकर अकाल मृत्यु को प्राप्त होते जा रहे है। क्या बड़े पत्रों के स्वामियों को ऐसा करने की छूट दी जानी चाहिए ? क्या पत्रकारों को पाठकों के प्रति प्रतिबद्धता के नाम पर अखबारों के कॉलमों में इस तरह मैले के ट्रक उंड़ेलने की स्वतंत्रता दी जा सकती है ? नहीं, कभी नहीं। इससे राष्ट्र की पत्रकारिता कलंकित हो रही है। उसका स्वर्णिम इतिहास धूमिल हो रहा है। इस अपवित्र आचरण के लिए भावी पीढ़ियां हमें कभी माफ नहीं करेंगी।

आप पूछेंगे कि महाशय, आपने पचास साल की पत्रकारिता में अपने उक्त प्रवचनों को पूरा किया या यों ही उपदेश दे रहे हो। इस संबंध में मैं इतना ही निवेदन करना

चाहता हूं कि मैंने हिन्दी पत्रकारिता के लगभग अथ से लेकर स्वातंत्र्योत्तर काल की आज की पत्रकारिता के सभी रंग देखे हैं। पत्रकारों की जो नियति पहले थी या आज है, उसके सभी दुःख-दर्द मैंने झेले हैं। केवल इस बात का ध्यान दृढ़तापूर्वक रखा है कि अपनी कलम से या लेखन से ऐसा कुछ न निकलने दूं जो जनहित के विरुद्ध जाता हो। इस संत्रास से बचने के लिए मैंने लगातार यह कोशिश की है कि मैं प्रचारवादी पत्रकारिता से हटकर ऐसे काम में लगूं जिसे विचारवादी पत्रकारिता कहा जा सकता है। अपने कॉलमों में मैंने काफी निर्भीकता बरती है और उसके खतरे भी मोल लिये हैं। मेरा हमेशा यही प्रयत्न रहा है कि मेरे हाथ में पत्र के रविवासरीय संस्करण रहें। लेखों के चयन का काम मुझे मिले और इन कार्यों के द्वारा मैं स्वभाषा, स्व-संस्कृति, शुद्ध साहित्य और स्वस्थ मनोरंजन को अपने पाठकों को परोसता रहूं। जब आगरा में मुझे दैनिक 'विकासशील भारत' में प्रधान संपादक का काम मिला तो मैंने भरसक अपने सिद्धांतों का पालन किया और जब मेरी स्वतंत्रता पर अंकुश लगाए जाने की कोशिश की गई तो उसी दिन क्या, उसी क्षण अखबार को छोड़ दिया और पुनः स्वतंत्र पत्रकारिता अपना ली।

अंत में पत्रकारिता के संबंध में एक ऐतिहासिक संस्मरण आपको सुनाता हूं। यह तब की बात है जब आजादी निकट आती दिखाई पड़ रही थी और मैं सक्रिय राजनीति से अलग होने लगा था। दिल्ली में, विशेषकर चहारदीवारी से घिरी पुरानी दिल्ली में, मेरी लोकप्रियता कुछ अधिक ही थी। कांग्रेस के स्थानीय और केन्द्रीय नेताओं से मेरी घनिष्ठता भी कम न थी। यही सोचकर राजधानी के कुछ बड़े-बड़े नेता एक रात मुझे गांधीजी के पास ले गए। उन्होंने बापू से कहा कि वह मुझे राजनीति में सक्रिय होने का निर्देश दें।

गांधीजी ने पूछा—आजकल क्या करते हो?

मैंने उत्तर दिया—देवदास भाई के साथ हिन्दी के दैनिक 'हिन्दुस्तान' में काम कर रहा हूं।

गांधीजी ने फिर पूछा—इसके अलावा खाली समय में क्या करते हो ?

मैंने कहा—थोड़ी-बहुत हिन्दी की सेवा और कुछ लेखन-कार्य भी चलता रहता है।

गांधीजी सर्वस्वर्गीय आसफ अली, रघुनंदनशरण, लाला ओंकारनाथ और डॉ. युद्धवीर सिंह की तरफ मुखातिब हुए और बोले, "पत्रकारिता भी देश की एक बड़ी सेवा है। हमारे स्वराज की लड़ाई का महत्त्वपूर्ण साधन है। स्वराज-प्राप्ति के बाद देश के नव-निर्माण का काम भी भाषायी पत्रकार करेंगे।"

फिर मुझसे बोले—"तुम जो कर रहे हो, वही ठीक है। पत्रकारिता ही तुम्हारे लिए सक्रिय राजनीति है। हिन्दी की सेवा भी हिन्द की सेवा है।"

और इस तरह मैं राजनीति की दलदल में जाने से बच गया तथा आज तक पत्रकारिता, हिन्दी-सेवा और थोड़ा-बहुत लेखन के उन्हीं कार्यों में लगा हुआ हूं, जिसका मुझे गांधीजी ने आदेश दिया था।

मैं प्रतिबद्ध हूं तो गांधी के साथ, लेकिन उनकी इच्छा के विपरीत कांग्रेस का अध्यक्ष

बन जानेवाले नेताजी सुभाषचंद्र बोस पर मैंने वीररस का एक खंडकाव्य 'कदम-कदम बढ़ाए जा !' भी लिखा है। राजर्षि टंडनजी के साथ अंत तक हिन्दी की सेवा में जुटा रहा। उन टंडनजी के साथ जिनका गांधीजी की 'हिन्दुस्तानी' के प्रश्न पर उनसे मतभेद हो गया था और नेहरूजी की इच्छा के अनुसार जिन्होंने कांग्रेस के अध्यक्ष पद से त्यागपत्र भी दे दिया था। देश को स्वतंत्र करानेवाली कांग्रेस से भी मैं प्रतिबद्ध रहा हूं, लेकिन तत्कालीन जनसंघियों, समाजवादियों, साम्यवादियों और उनके विरोधी पूंजीपतियों के साथ मिलकर मैंने दिल्ली और उत्तर भारत के राज्यों में हिन्दी का कार्य किया है। प्रतिबद्धता कोई बुरी चीज नहीं है। प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को अपना मन और मस्तिष्क किसी न किसी विचारधारा से जोड़ना पड़ता है। लेकिन अपने पक्ष के समर्थन के मायने यह नहीं कि हम विपक्ष का गला घोंटें, उसकी खबरों को दबाएं और अपने मन की खबरों को रंग दें। तब उन मतदाताओं और पत्रकारों में क्या फर्क रह जाएगा जो चुनावों के समय बूथों पर कब्जा करते हैं, जाली मतपत्र डालते हैं, विरोधियों को लाठियों-गोलियों से मारकर भगा देते हैं। पत्रकारों और पत्रों के आचरण से ही समाज में ऐसे अशुद्ध आचरणों की वृद्धि होती है। हम अपना पक्ष रखें, लेकिन निष्पक्ष होकर। हम स्वतंत्र पत्रकारिता अपनाएं, लेकिन दूसरों की स्वतंत्रता पर प्रहार न करें। मेरे लेखे यही पत्रकारिता का धर्म है और पवित्र कर्म भी।

मैं श्री गोपालप्रसाद व्यास को दीर्घकाल से निकट से जानता हूं। जब मैं ब्रज साहित्य मंडल का अध्यक्ष था, तब वह मेरे साथ कार्यवाहक अध्यक्ष रहे।

मेरी घनिष्टता का एक कारण यह भी है कि राजस्थान और विशेषकर भरतपुर से उनका आरंभ से ही संबंध रहा है। उनका लालन-पालन भरतपुर में ही हुआ है। व्यासजी नत्थी बंडा की प्रारंभिक पाठशाला में पढ़े हैं और वहीं के राजकीय मिडिल स्कूल में उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई है। भरतपुर की हिन्दी साहित्य समिति और कोटा की भारतेन्दु समिति से भी वह संबद्ध रहे हैं।

दिल्ली में हिन्दी व हिन्दी भवन का जो कार्य वह कर रहे हैं, वह सदैव स्मरणीय रहेगा।

—राजबहादुर

नेता बनाम पत्रकार

अगर धरती पर पत्रकार और दिमाग से आसमान पर चढ़े हुए नेता न हों तो दुनिया फीकी पड़ जाए। न अखबारों में सुर्खी रहे, न खबरो में जान। न घटनाओं का पता चले, न दुर्घटनाओं का। न कोई टोपी पहने और न किसी की टोपी उछले। न जलसे हों, न जुलूस निकलें। यह समझो कि दुनिया का कारोबार ही ठप्प हो जाए। विचार नेता के और समाचार अखबार के। काम, दुष्काम और उनके परिणाम नेता से और प्रचार, जय-जयकार तथा धिक्कार पत्रकार से। यों समझ लीजिए कि नेता सूर्य है और पत्रकार उसका प्रकाश। या कहें कि नेता दीपक है और पत्रकार उसका दीवट। पत्रकार के आधार पर ही नेता टिके हुए हैं। उसके खिसकते ही वे बुझ जाते हैं, गिर जाते हैं। आधार मजबूत हो तो अंधेरे में भी टिमटिमाते रहते हैं। पत्रकारों से तेल मिलता रहे तो दीपक जलते रहते हैं और मशाल रोशनी देती रहती है।

ऐसे लोग हो सकते हैं जो हमारी उक्त बातों से सहमत न हों। वे कह सकते हैं कि कहां बेकार का पत्रकार और कहां साकार-चमत्कार हमारा नेता। नेता जोरदार है, पत्रकार तो उसकी जोरू है। नेता तो भर्ता है और पत्रकार उसकी भार्या। उसका एक ही काम है कि जीवनभर सती-साध्वी बनी रहे। परपुरुष यानी अपर नेता का मुंह तक न देखे। हर समय उसका रुख और मुख ही देखती रहे। उसके अवगुणों पर कान न दे। उसने उसे धनुष तोड़कर प्राप्त किया है। उसके साथ वह राज में भी रहे और वनवास में भी। अगर गैरराजी से किसी रावण के साथ चली जाएगी तो उसे अग्नि-परीक्षा देनी होगी। अगर वह संपादक के पद पर है तो हटना पड़ेगा। अगर आकाशवाणी, दूरदर्शन और सरकारी प्रकाशनों से वह जुड़ा है तो कैंची चल जाएगी। अगर अग्नि-परीक्षा में सफल रहा तो नेता की अयोध्या में वापस लौट सकता है। लेकिन किसी धोबी तक ने उसके पूर्वाचरण पर आपत्ति उठा दी तो फिर उसे आजीवन वनवास ही भोगना पड़ेगा। तब उसका एक ही हश्र है कि धरती फट जाए और वह उसमें समा जाए।

लेकिन हम जानते हैं कि अपने को प्रभावी समझनेवाले हमारे पत्रकार बंधु इस रूपक को कतई पसंद नहीं कर सकते। वे कहेंगे कि नेता तो हमारे खेल के गुड्डे हैं। हम उन्हें चाहे जहां बैठाएं और चाहे जहां से उठा दें। हम ही थे कि जिन्होंने चर्चिल को उठाकर फिर नीचे दे मारा। इंदिरा गांधी को उतारकर फिर ऊपर चढ़ा दिया। भारत में स्वतंत्रता नेताओं के सत्याग्रह या क्रांतिकारियों के हत्याग्रह से नहीं आई। हिन्दुस्तान से अंग्रेजों के पैर अखबारों के प्रचार ने उखाड़े। हम ही हैं जिन्होंने गांधी को राष्ट्रपिता बनाया और नेहरू को राष्ट्रनायक। हम ही थे कि जिन्होंने मरते-मरते जयप्रकाश को लोकनायक बना दिया। हम जब बदला लेने पर उतरते हैं तो बड़ों-बड़ों को धूल चटा देते हैं। मोरारजी देसाई हमारी बिरादरी के खानपान पर बहकने लगे तो हम उनकी मूत्र-चिकित्सा पर दनादन चहकने लगे। बाबू जगजीवनराम को सफल प्रशासक घोषित करनेवाले हम ही थे। फिर आपने देखा कि हमारी उपेक्षा से देश में उनका मोल-भाव क्या रह गया था। हमने ही यशवंतराव चव्हाण के हाथ में शिवाजी की भवानी तलवार थमाई थी और हम ही थे कि संसद में सत्ता पक्ष की सीट मिलने से पहले उनका कैसा हाल-बेहाल कर दिया। अजी हम जोकर को भी नेताजी बना सकते हैं और नेताजी को बंदर भी। हमारी कलम में वह ताकत है कि खाक को लाख बना दें और लाख को खाक कर दें। हम आपातकाल के संवाहक हैं। हम राष्ट्रपति शासन की चेतावनी हैं। हम शासकों के दिमाग दुरुस्त रखनेवाले हैं। हम जनपतियों और धनपतियों के संरक्षक हैं। हम जनता की जुबान हैं, नेताओं के मस्तिष्क हैं, ज्ञान की आंख हैं तथा षड़यंत्रों, दुरभिसंधियों और बदचलनियों को सूंघनेवाली नाक हैं।

बड़ा जटिल प्रश्न है। कांग्रेस के विकल्प से भी जटिल। असम समस्या के हल से भी जटिल। हिन्दी के चलन और अंग्रेजी के स्खलन से भी जटिल। कश्मीर के प्रश्न पर भारत-पाक मैत्री से भी कठिन कार्य है नेता और पत्रकार के संबंधों का छायावादी विश्लेषण। फिर भी कोशिश करते हैं। दोनों के सदगुणों को परखने की हिम्मत जुटाते हैं।

रात के ग्यारह बजे हैं। सजी-धजी, इत्र में बसी और बुढ़ापे में बनी हुई उर्वशी, पत्नी छह बार उनके कमरे में आकर सोने के समय की सूचना दे चुकी है। मगर हर बार उसे पानी, काजू, कॉफी और पान-इलायची भेजकर ही मन मारकर उबासियां लेनी पड़ती हैं।

मध्यरात्रि। बारह बजने को आए। पी. ए. चले गए हैं। चपरासी लुढ़क गया है। दरबान ऊंघ रहा है। तब के नेता और आज के मंत्रीजी फाइलें निबटा रहे हैं। दिन में मुलाकातों, मीटिंगों, कान्फ्रेंसों, उद्‌घाटनों, भाषणों और पार्टियों से ही कहां फुरसत मिलती है। मंत्री-पद भी अच्छी-खासी नौकरी है। बेमन से ही सही, कुछ न कुछ काम तो करना ही पड़ेगा।

एक बज गया। मंत्रीजी ने जम्हाई ली। कुर्सी से उठे। दरवाजे तक गए। पहुंचे भी न थे कि फोन की घंटी बज उठी–प्रधानमंत्री का प्लेन सुबह चार बजे पालम पर उतर रहा है। अपने कुछ और लोगों को भी कह दीजिए कि समय से पहले पहुंचें।

मुश्किल से कमर सीधी की। कैसी नींद ? वह तो फोन की आवाज सुनते ही हवा हो गई थी। झटपट उठे। फ्रैश हुए। मोटर ने की सर्र और वह पहुंच गए पालम पर।

दिनभर चाय कहां पी, लंच कहां लिया और शेरे-नर ने डिनर कहां मारा, इसका पता घर में किसी को नहीं है। कितनी देर बोले और कितनी देर चुप रहे, यह उनका प्राइवेट सेक्रेट्री भी नहीं बता सकता। किस पर गरजे और किस पर बरसे, यह तो राम जाने या जिस पर बीती हो वह जाने। हां, किन-किनके सामने झुके और किन-किनके सामने तने, इस गर्दनी व्यायाम का लेखा सिर्फ उन्हीं के पास है। इलाके के एक जूनियर नेता से उन्हें इतना कहते अवश्य सुना गया कि न जाने लोग मालाएं पहनाना कब बंद करेंगे। इन्हें उतारते-धरते हाथ दुखने लगे हैं और गर्दन में दर्द हो रहा है।

इन बाहरी बातों को छोड़िए। उनके दर्देदिल का हाल कुछ-कुछ पता है। वह देश के प्यार से फटा जा रहा है। उसमें गरीबों के शोषण, बेकारी और उन पर हुए अत्याचारों से जो रह-रहकर टीस उठ रही है, भगवान खैर करे, कहीं असमय हार्टफेल न हो जाए। वह दिन गए जब अकबर इलाहाबादी के शब्दों में "रंज लीडर को बहुत है, मगर आराम के साथ।" नेता के जीवन में अब न राम है और न आराम। वह तो काम और काम की ही प्रतिमूर्ति है।

कैसा 'स्टेमिना', क्या कहते हैं हिन्दी में इसे ? जो भी कहते हों, हम तो इसे दमखम कहेंगे, पाया है मेरे प्यारे ने। दिन-भर छकता है, मगर थकता नहीं। अहर्निश बकता है, मगर थकता नहीं। सर्वत्र अराजकता है, परंतु "सब कुछ ठीक है" कहते थकता नहीं। खुली आंखों और चश्मे से ही नहीं, आंख मूंदकर भी चारों ओर तकता है, पर थकता नहीं। कभी जीप में तो कभी कार में। कभी पदयात्रा में तो कभी श्रमयात्रा में रेंग-रेंगकर ढरकता है, पर थकता नहीं। कभी देश में तो कभी विदेश में। कभी रैली में तो कभी रेस में। कभी कांग्रेस में तो कभी पार्टी फ्रेश में। इस दल से उस दल में, कभी सूखे में तो कभी दलदल में। कभी चढ़ाई में तो कभी कढ़ाई में। कभी मुट्ठीभर चने में तो कभी घी घने में लहकता है, दहकता है, बहकता है—पर थकता नहीं।

यह काम रोगी के वश का नहीं। भोगी के भी बूते का यह खेल नहीं। महीने-दो महीने की बात नहीं, यह तो जीवनभर की अनंत साधना है। ऐसा तो कोई योगी ही कर सकता है। हमारा नेता पक्का योगी है। चौरासी से अधिक आसन जानता है। मंच पर ध्यानासन लगा सकता है और कुर्सी के लिए शीर्षासन भी लगा सकता है। इसके तप पर ही धरती और आसमान कायम हैं। राष्ट्र की एकता बनी हुई है। योजनाएं चल रही हैं। चतुर्दिक विकास हो रहा है। वह न हो तो देश विनाश के गर्त में जा गिरे।

और हमारे पत्रकार, न जिन्हें खाने का होश न पहनने का। सलीके से खाएं-पिएं तो तब, जब काम का समय निश्चित हो। आज सुबह की ड्यूटी तो कल दोपहर की। शाम की ड्यूटी लगी तो रात बारह बजे घर लौटे। रात की ड्यूटी लगी तो रात भी काली और दिन भी काला। अनियमित जीवन और अनियमित ही आहार-व्यवहार। सौ में से नब्बे पेट के रोगों से परेशान। सत्तर फीसदी अनिद्रा और रक्तचाप से पीड़ित।

आधे से अधिक की मृत्यु हृदय-गति रुकने से। कम ही पत्रकार ऐसे हैं जो पत्रों के कार्यालयों में काम करते-करते अपने अठ्ठावन वर्ष पूरे कर लेने का सौभाग्य प्राप्त करते हों। सेवा-निवृत्ति के बाद उनका सक्रिय रहकर जीवित रहना तो आश्चर्य की ही बात है। यह दशा है–डेस्क पर काम करनेवालों की।

अब कार्यालय संवाददाताओं, नगर संवाददाताओं और विशेष संवाददाताओं को लीजिए। उनसे तो यह आशा की जाती है कि वे चौबीसों घंटे के चतुर्चाकर हैं। एक पांव पालम पर तो दूसरा सचिवालय में। कभी इस प्रेस कान्फ्रेंस में तो कभी उस कान्फ्रेंस में। वहां आग लगी तो चलो। यहां कोई इमारत ढह गई तो भागो। वहां कोई लाश पड़ी तो जाओ। यहां कोई बस लड़ी है तो फुर्ती करो। इतने बजे इनका भाषण है तो उतने बजे उनका भाषण है। यहां हड़ताल है तो वहां चाकू चले हैं। अदालत में उसकी पेशी है तो उसका फैसला। मालिक महोदय इनमें इंटरेस्टेड हैं तो संपादकशरीफ उनमें रुचि रखते हैं–कवर करो, अलग से बयान लो, खबर के साथ फोटो लगाओ। दिन में भागम-भाग और रात में जल्दी-जल्दी दिनभर की खबरों को निबटाना। फिर हारे-थके तन-मन से घर लौटना। भूख नहीं है। सिर में दर्द है। सोते-सोते चिंता इस बात की कि न जाने कौन-सी खबर कैसी डिसप्ले हो, कौन-सा समाचार छप जाए, कौन-सा छूट जाए ? किसमें से समाचार-संपादक क्या काट दे और मुख्य उप-संपादक से उस दिन कहा-सुनी हो गई थी, न जाने वह किस खबर के साथ कैसा बदला निकाल ले ? सुबह उठते ही कैसा राम का नाम ! गीता-गायत्री की जगह दिल्ली-भर के अखबारों का वाचन और आज की मुसीबत के रूप में दिनभर के कार्यक्रमों का स्तोत्र-पाठ। अगर कोई देशी या विदेशी अतिथि आ टपका हो तो लपके। बच्चों को पिताजी सोते हुए ही दर्शन देते हैं।

और स्वनामधन्य संपादक ! बेचारे हरदम सूली पर टिके रहते है। कहीं इस खबर से मालिक नाराज न हो जाएं और इससे मंत्रीजी ? सह-संपादक ने यह अग्रलेख तो मेरी जड़ें खोदने के लिए लिख मारा है। यह अनुवाद ठीक नहीं हुआ, यह खबर अंग्रेजी में सही गई है, हैडिंगों तक में गलती। हम उस खबर पर जरूरी लिख आए थे, कहां गई ? हमारे मित्र की पुस्तक की ऐसी कटु आलोचना ! जनरल मैनेजर का इस लेखक से झगड़ा है, फिर इस लेखक का लेख कैसे छाप दिया ? सारा स्टाफ हमें मिटाने में लगा हुआ है। वे तो गलती करके अलग हो जाते हैं, पत्र पर नाम तो हमारा छपता है, भोगना तो हमें पड़ता है। परंतु कोई बात नहीं। अखबारी कागज बंदरगाह पर नहीं उतर रहा। सरकारी विज्ञापन कम मिले हैं तो चलो दफ्तर जाने से पहले सूचना एवं प्रसारण मंत्री से मिल लिया जाए। उन्हें अगर अपनी पब्लिसिटी करानी है तो हमारा काम करना ही पड़ेगा। जी. एम. कौन हिन्दी का अखबार रोज पढ़ते हैं। जब उन्हें सूचनामंत्री का आश्वासन देंगे तो गद्‌गद हो जाएंगे और छोटी-मोटी गलतियों को भूल जाएंगे। लेकिन पत्र के स्वामी ! हां, याद आया, परसों वह एक शिक्षण संस्था में सभापतित्व करने गए थे। अखबार में उसकी छोटी-सी खबर गई है। आज संस्था और सेठ पर एक बड़ा फीचर लिखवा देते हैं, सब ठीक हो जाएगा। इसीलिए तो मैं अखबार के सभी

कार्यों से अपने-आपको खाली रखता हूं। संपादक का काम संपादकीय लिखना नहीं, सब पर नजर रखना है। नजर दफ्तर पर ही नहीं, राजनीति पर भी। राजनीति से अधिक, नेताओं पर भी। नेताओं के सुकर्मों पर ही नहीं, उनके कुकर्मों, कमजोरियों और कलाबाजियों पर भी। केवल प्रशंसा करके कोई संपादक टिका नहीं रह सकता। उसे पूंछ हिलाने के साथ-साथ गुर्राना भी आना चाहिए। बड़े लोगों को यह मालूम होना चाहिए कि संपादक के हाथ में उनकी नस है–बिगाड़ी तो दबा देंगे।

लेकिन इन सब रोग-दोखों, अभाव-अभियोगों के कोल्हू में दिन-रात जुते रहने के बावजूद पत्रकार जनता पर हावी है, नेता पर हावी है और सरकार पर हावी है, क्योंकि वह लोकशक्ति के घोड़े पर बैठा हुआ है। राज और समाज की लगाम उसके हाथ में है। उसकी चाबुक से बड़े-बड़े बिगड़ैल सीधे हो जाते हैं। नेता तप नहीं, भोग करता है। पत्रकार भोग नहीं, तप करता है। नेता बोलता है, पत्रकार चुप रहता है। नेता हाथी अवश्य है, पर पत्रकार वह चींटी है जो उसकी नाक में घुसकर नाकों चने चबवा सकता है। नेता शेर अवश्य है, लेकिन पत्रकार खरगोश जैसे कद के सेह नामक जानवर के उस नुकीले कांटे की तरह है कि पंजे में छिद जाने के बाद शेर राजा अपनी दहाड़ भूल जाते हैं और हमेशा के लिए पंजा मारने की शक्ति खो बैठते हैं।

हो सकता है कि पत्रकारों के पक्ष में की गई हमारी पैरवी से आपमें से कुछ सहमत न हों। कहें, कि आज के युग में सबसे अधिक लुटिया पत्रकारों ने ही डुबोई है। न उनका कोई दीन है, न ईमान। न उनके लिए कुछ उचित है, न अनुचित। जो डाकिन फूलन को हीरोइन और रंगा-बिल्ला को हीरो बना सकते हैं, वे समाज के कोढ़ हैं। जो कल तक उनके गीत गाते थे, आज उन्हें ठोकर लगाते हैं, वे जनता को गुमराह करने के दोषी हैं। रंग बदलनेवाले गिरगिट हैं वे। धोखेबाज हैं। पढ़े-लिखे धूर्त हैं। समाज और राजनीति को इन्होंने ही गंदा किया है। वे प्रथम श्रेणी के भ्रष्टाचारी हैं। ये लोकतंत्र के अलंबरदार नहीं, उसकी ओट में शिकार करने वाले शिखंडी हैं।

बस-बस ! बहुत हुआ। अपशब्दों की भी एक सीमा होती है। भले-बुरे सब जगह होते हैं। पत्रकारिता बंगलादेश की कोई गृह सरोवर नहीं है कि एक मछली सारे तालाब को गंदा कर दे। पत्रकारिता महासमुद्र है। इसमें घोंघों और घड़ियालों के साथ-साथ अमूल्य रत्न भी भरे पड़े हैं। अब तो स्नेह राशि (खनिज तेल) भी उसमें मिलने लगी है। वह देश को विदेश से और विदेश को देश से जोड़ती है। सागर सम्राट और विक्रांत उसी के वक्षस्थल पर टिके हैं। देश की उफनती और प्रलयंकारी नदियों के तूफानी जल को वही तो है जो अपने अंक में समेट लेती है। माधुर्य होगा नेताओं की जुबान में और रूप में। लेकिन लावण्य तो पत्रकारिता में ही है। पत्रकारिता शिव-संकल्प से युक्त है। देश के जहर को पीकर ही वह नीलकंठी बनी है। मित्र, विष को छोड़कर उसके अमृत को ग्रहण करो। हमारे देश में एक से एक महान पत्रकार हुए हैं। उदाहरण के लिए एक ही नाम काफी है–अमर शहीद गणेशंकर विद्यार्थी, जो लेखनी के धनी थे। न ब्रिटिश सरकार उन्हें डरा सकती थी और न धनपति उन्हें खरीद सकते थे। उनके साथ काम करनेवाले केवल संपादक ही नहीं, छोटे-छोटे कर्मचारी भी उनके स्वजन थे। कौन क्रांतिकारी

कहां फंसा है और उसे क्या चाहिए, उसकी पूर्ति वह आनन-फानन में करते थे। उनके एक हाथ में गांधीजी और कांग्रेस थे तो दूसरे हाथ में आजाद और भगत सिंह। उनकी कलम साम्राज्यवाद के विरुद्ध शोले उगलती थी। फिर चाहे जेल हो, जब्ती हो, कुर्की हो या फाकाकशी—इनका गम उन्हें नहीं था। मूर्तिमंत इस गणेश ने देश को ज्ञान-विज्ञान दिया। सत्ता के विरुद्ध यह विघ्नेश की तरह प्रकट हुए। सैकड़ों पत्रकार और हजारों कार्यकर्त्ताओं के आश्रयदाता इस शंकर ने सांप्रदायिकता के विष को पीने के लिए कानपुर के हिन्दू-मुस्लिम दंगे में अकेले और निहत्थे घुसकर अपने प्राणों की बाजी भी लगा दी। ऐसे होते हैं पत्रकार। इसे कहते हैं पत्रकारिता। जो लिखकर और छापकर ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं मान लेती। जो कहती है, वह करके भी दिखा देती है।

हे पत्रकारो, और हे मेरे देश के आज के नेताओ ! तुम गुड़ और चींटों का उदाहरण प्रस्तुत मत करो कि नेता रूपी गुड़ के चारों ओर पत्रकार चींटों की तरह चिपक रहे हैं। कि पत्रकार को पब्लिसिटी का प्राणदायक गुड़ मानकर नेता चारों तरफ से उसे चाटे जा रहे हैं। सच्चे पत्रकार किसी की रखैल नहीं हुआ करते कि उनकी जवानी को चंद चांदी के ठीकरों में कोई खरीद ले। सच्चे पत्रकार कामधेनु की वरद संतान हैं। सदगृहस्थ, सदगुणी और राज-समाज की मंगलेच्छा लेकर उनके पास जाओगे तो निश्चय ही मन-वांछित फल पाओगे। लेकिन विश्वामित्र (विश्व के अमित्र) बनकर उसे हांककर ले जाना चाहोगे तो यह दुधारू धेनु तुम्हारे विनाश का कारण भी बन सकती है।

प्रिय व्यासजी,

अब तक तो 'विकासशील भारत' पाठकों के सम्मुख पहुंच गया होगा।

समर्पित जीवन ही उत्तम है। आकांक्षा पूरी करने का संघर्ष और फिर वह पूरी हो जाय, इससे सफल जीवन और क्या हो सकता है। आपके भाग्य की सराहना करता हूं।

मुझे विश्वास है कि पीत पत्रकारिता के युग में भी आप आदर्श स्थापित कर लेंगे। अथर्ववेद में एक मंत्र है कि किसी से भय न करो और सबको अपना मित्र समझो। मरो निडर होकर, जियो निडर होकर। सफलता वीर पुरुष को ही मिलती है। डरपोक तो इसके पास तक नहीं फटक सकता।

सादर,

आपका

लोकपति त्रिपाठी

पत्रकार खुदा होता है

पत्रकार खुदा होता है। उसके खुद के अलावा भी कहीं कोई खुदा है, इसकी उसे कोई जानकारी नहीं। अगर खुदा कहीं होता तो उसे अवश्य ही इंटरव्यू देता या पब्लिसिटी करने के लिए कहता।

पत्रकारों को परमेश्वर की पहचान क्यों हो ? उसकी पहचान तो धर्मभीरु लोगों को हुआ करती है। अखबारवाले तो धर्म-निरपेक्ष हैं और भीरुता से उनका क्या वास्ता ? वे किसी से नहीं डरते। न समाज से, न सरकार से। बड़े से बड़े शक्तिपुंज से वे सीना तानकर भिड़ जाते हैं। भयंकर से भयंकर खतरों की जगहों में अपने को बेखौफ झोंक देते हैं। निगाह के नीचे आ जाना चाहिए, फिर छोटा हो या बड़ा, छाती न हो तो पीठ ही सही, उसमें अपनी कलम का खंजर भोंक देते हैं। डरते तो सिर्फ वे दो ही से हैं–घर में बीवी से और दफ्तर में बॉस से। बीवी के कहने से पलंग के बिस्तर झाड़ सकते हैं और घर में बुहारी मार सकते हैं। बॉस के डर से सिंगल को डबल और डबल को लीड बना सकते हैं। भुनगे को हाथी स्वीकार सकते हैं। पत्नी के हौसला दिलाने पर वे मक्खी, खटमल और चूहों तक को संहार सकते हैं तथा मिल जाए बॉस का इशारा तो प्रधानमंत्री तक को ललकार सकते हैं। 'फटकार' के भय को बिसारकर वे सांसदों तक को दुत्कार सकते हैं। आपातकाल को धराधाम पर उतार सकते हैं और सेंसर के बावजूद दाएं-बाएं होकर फुंकार सकते हैं। यही कारण है कि खुदा भी इनसे बचकर रहता है। वह भी गरीबों, कमजोरों, भोलेभाले लोगों या मूर्खों पर ही अपना हाथ डालता है, पत्रकारों पर नहीं। क्योंकि उसे मालूम है कि पंच 'मकारों' से संयुक्त ये महापुरुष न देवनागरी (हिन्दी) के पक्षधर हैं और न देववाणी (संस्कृत) के। इनके प्रिय विषय, यानी हथियार–परनिंदा, स्वस्तुति, अपहरण, बलात्कार, डाकेजनी, लूटमार और छिद्रान्वेषण हैं। अगर इन्हें लेकर ये खुदा पर पिल पड़े तो वह गरीब कहीं का नहीं रहेगा। उस सर्वशक्तिमान की अखंड सत्ता के विरुद्ध भी ये असंतोष को उभार

सकते हैं। उसके विपक्ष को प्रचार सकते हैं। बगावत का पूरा-पूरा खतरा है। बैठे-बैठे खुदा इस खतरे को मोल नहीं ले सकता।

इसलिए विधाता की सृष्टि में अगर स्वर्ग कहीं है तो कनाडा की तरह उसमें हर भारतीय प्रवेश पा सकता है, हमारे पत्रकार बंधु नहीं। असम और त्रिपुरा में बंगलादेश के हर शरणार्थी को घुसने और जमकर बैठ जाने की अबाध छूट मिल सकती है, पत्रकारों को स्वर्ग जाने का वीसा नहीं मिल सकता, क्योंकि देवताओं के मतानुसार इन्होंने स्वर्ग को बेहद सस्ता यानी 'चीप' बना दिया है। कोई भी नेता, मंत्री या समाज के धन और शील का हरण करनेवाला मरना चाहिए, ये पत्रकार उसके नाम से पहले आंख मूंदकर 'स्वर्गीय' शब्द ठोंक देते हैं।

पत्रकारिता को कला माना जाता है। कला की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती बताई जाती हैं। पता चला है कि शारदाजी भी हमारे कलाबाज पत्रकारों की करतूतों पर अक्सर सिर धुनती रहती हैं। संसारी जीवो की स्तुति-निंदा से वह कभी प्रसन्न नहीं होतीं। बाबा तुलसीदास फतवा दे गए हैं-"कीन्हें प्राकृत जन गुनगाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।" इसलिए वाणी-कल्याणी भी पत्रकारों के स्वर्गिक पासपोर्ट पर अपनी संस्तुति नहीं दे सकतीं। लेकिन हमारे अखबारनवीसों को स्वर्ग और देवी-देवताओं से क्या लेना ? मंत्रीजी का ड्राइंगरूम ही उनका स्वर्ग है। शासक दल का नेता ही उनके लिए परम देवता है और यदि किसी प्रकार महापुरुषों की पत्नियों, चहेतियों अथवा उनकी महिला स्टेनोग्राफरों तक उनकी पहुंच हो जाए तो स्वर्ग की अप्सराओं की उन्हें क्या आवश्यकता है ? वे मरने के बाद मिलनेवाले स्वर्ग-नरक के झमेले में नहीं पड़ना चाहते। अपने छोटे-से जीवन में एक से एक बढ़कर नारकीय कष्ट भोग चुके हैं और स्वर्ग के विलासों के लिए इसी जीवन में साधन जुटाते रहने में वे किसी से पीछे नहीं हैं। पत्रकारिता का धंधा इसके लिए सबसे सुगम और छोटा रास्ता, यानी 'शार्टकट' है।

जी हां, पत्रकारिता में प्रतिष्ठा तो पहले भी थी, आज तो सुविधाएं भी आ जुटी हैं। आज के छोटे-से-छोटे पत्रकार का वेतन (अगर मिलने लगे तो) कलेक्टरों, इंजीनियरों, डॉक्टरों और प्राध्यापकों से कम नहीं है। मुफ्त की पियो और अधिकाधिक सुविधाएं प्राप्त करने के लिए जियो। बाहर की मैं नहीं जानता, जानता भी हूं तो इस समय नहीं कहता, लेकिन आज दिल्ली का लगभग हर पत्रकार लखपति है। सस्ते दामों पर मिली भूमि पर सरकारी कर्जे से महंगी-महंगी बस्तियों में उसने लंबी-चौड़ी और ऊंची-ऊंची इमारतें खड़ी कर ली हैं। इनके एक कमरे का किराया एक हजार रुपए से तीन हजार रुपए तक है। किराया भी हजारों में, वेतन भी हजारों में और रिटायर होने के बाद फंड और ग्रेच्युटी भी हजारों नहीं, लाखों में। फिर वह किसी और स्वर्ग की कांक्षा क्यों करे ? कुछ लोग शायद मेरे इस कथन को चुनौती देने की कृपा करें तो मैं यह कहना चाहता हूं कि सोने की लंका में भी दरिद्री रहा ही करते थे। एक विभीषण भी उनमें निकल ही आया था।

हां, तो मैं कह रहा था कि पत्रकारिता बड़े लाभ का धंधा है। बड़े रौब का रोजगार है। दरोगाजी देखते ही कुर्सी से खड़े हो जाते हैं। नेता और मंत्री उनसे मिलने को लालायित

रहते हैं और श्रीमंतों को भी पत्रकारों की तलाश रहती है। कितनी आजादी मिली हुई है पत्रकारों को कि चाहें तो किसी की छींक के समाचार भी उछालकर छाप दें और न चाहें तो किसी के मरने पर भी दो शब्द न लिखें। चाहें तो किसी मामूली-सी घटना को बढ़ा-चढ़ाकर रंग दे दें और न चाहें तो बड़े से बड़े समाचार को ऐसे दबा दें, जैसे चहेते मुख्यमंत्री के विरुद्ध बगावत करने पर असंतुष्ट बहुमत को दबा दिया जाता है।

भूमिका लंबी होती जा रही है। मुझे जल्दी से मुद्दे की बात पर आना चाहिए। मैं कहना चाह रहा हूं कि आज की दुनिया में पत्रकारों के मजे हैं। धर्म और मोक्ष से क्या लेना ? अर्थ और काम तो उनकी मुट्ठियों में हैं ही। अफसर रिश्वत लेने पर पकड़ा जा सकता है, पत्रकार नहीं। वह खबरें छापने पर भी टैक्स वसूल करता है और न छापने पर भी। स्तुति करने को तैयार हो जाए तो व्यक्ति, दल, नेता और दूतावासों से घर बैठे अच्छी रकम ऐंठ सकता है। देश में मुफ्त सैर करो और विदेशों के सम्मानित सैलानी बन जाओ। इससे लेकर इसके हो जाओ और उससे प्राप्तकर उसके हो जाओ। बड़ी-बड़ी महाशक्तियां भी इन कलाबाज पत्रकारों को उपकृत करने में किसी से पीछे नहीं रहतीं। दुर्भाग्य से देशी भाषाओं के पत्रकारों को अभी ये सुविधाएं कम मिल रही हैं। जैसे भारत में अंग्रेजी भाषा को प्रमुखता प्राप्त है, वैसे ही साधन, सुविधा और ऊपर की कमाई के मामले में अंग्रेजी के पत्रकार ही इस लंबी दौड़ में सबसे आगे हैं।

मुझे पत्रों में काम करनेवाले उप-संपादक (सब-एडीटर) उप-मुख्य संपादक (चीफ सब एडीटर) और संवाद समितियों में भी इन्हीं पदों पर काम करनेवाले पत्रकार क्षमा कर दें। कार्यालयों के रजिस्टरों और वेतन बोर्ड की सिफारिशों में भले ही उन्हें पत्रकार मान लिया गया हो, लेकिन पत्रकारिता की मलाई उनके भाग्य में नहीं है। उनका काम तो सिर्फ अनुवाद करना और सिंगल-डबल हैडिंग लगाना है। वह भी अपने मन से नहीं, ऊपर के रुख को भांपते हुए। जिन सुविधाओं और मौज-मजों का मैंने अभी जिक्र किया है उसे तो प्रधान संपादक, समाचार संपादक, ब्यूरो प्रमुख और संवाददाता ही नहीं, कार्यालय संवाददाता भी अपनी किस्मत में लिखाकर लाए हैं।

आप कहेंगे कि मैं अपनी बिरादरी के साथ गद्दारी कर रहा हूं। यह भी आप कह सकते हैं कि ये सारी बातें मुझे दैनिक पत्रकारिता से अवकाश प्राप्त करने के बाद ही क्यों सूझ रही हैं ? कुछ लोग मुझे कहीं ईर्ष्यालु, विद्वेषी या हीन भावना से ग्रस्त भी कह सकते हैं। इसलिए मैं पहले अपने से ही शुरू कर रहा हूं।

मैंने भी अपने पचाससाला नियमित अखबारी जीवन में कम हाथ नहीं मारे। जब वेतन कम मिलता था तो स्वाध्याय और ज्ञान-वृद्धि के नाम पर मैं कई-कई पत्र-पत्रिकाएं अपने झोले में दबा लाया करता था। विश्वयुद्ध के जमाने में रद्दी का भाव रद्दी नहीं था। आसानी से साग-भाजी का काम चल जाया करता था। परंतु यह हुई चोरी। सीनाजोरी भी मैंने की है। जब मैं डाक समाचार देखता था तो अपने समर्थ संवाददाताओं पर विशेष मेहरबान रहा करता था। अपनी खबरें पूरी-पूरी छप जाने पर वे भी कृतज्ञता-ज्ञापन करने में कोई कोताही नहीं बरतते थे। उदाहरण के लिए गाजियाबाद से कलाकंद, मेरठ से गजक-रेबड़ी, खतौली-मुजफ्फरनगर से सरौली आम, सहारनपुर से लीचियां, देहरादून से

चावल, आगरा से दालमोंठ-पेठा, हाथरस से चाकू, हिंडौन-महावीरजी से आम का अचार, बीकानेर से गाय का घी और मथुरा से खुरचन-पेड़े अक्सर मिलते रहते थे। परंतु मैं इनको अकेले ही हजम नहीं करता था। दो-तिहाई बांटकर एक-तिहाई ही घर ले जाया करता था।

कुएं पर बैठकर कोई अभागा ही प्यासा लौटा करता है। अखबार में काम करके भी किसी ने नाम और नामा न कमाया तो वह भी कोई पत्रकार है ? कवि-सम्मेलनों में मुझे अपनी कविताओं के कारण ही नहीं बुलाया जाता था। संयोजक जानते थे कि अगर व्यास को बुलाया गया तो 'हिंदुस्तान' में खबर अवश्य छप जाएगी। मैं भी अपनी पूरी निष्ठा के साथ इस काम में उन्हें सहयोग दिया करता था। अगर उन्हें लिखना न आता या लिखने में वे संकोच करते तो मैं स्वयं लिखकर ऐसे कवि-सम्मेलनों के समाचार छाप दिया करता था। वर्षों तक 'हिन्दुस्तान' दैनिक में प्रति सप्ताह मेरी कविताएं छपी हैं। ये सब अच्छी होने के कारण ही नहीं छपा करती थीं। यह मेरा 'ट्रेड सीक्रेट' था। हर बार सामयिक विषय पर लिखता। संपादक भी खुश और पाठक भी खुश। कवि-सम्मेलनों में जमने के लिए ताजी कविताएं ही तो चाहिए। कहने का तात्पर्य यह कि मैंने अखबारी सुविधा से उस समय जितना संभव था, दोहन करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। आप पूछेंगे तो फिर आज के सुविधाभोगी पत्रकारों से शिकायत क्यों ? तो एक चतुर या जिसका पर्याय धूर्त भी होता है, व्यक्ति की तरह मैं सीना तानकर यह उत्तर दूंगा कि दोस्तो, मैंने देश-भाषा और साहित्य की सेवा की है। अपने साथी संवाददाताओं को अपने-अपने स्थानों पर प्रभावशाली बनाने में योगदान दिया है। पेट के लिए अपनी कलम नहीं बेची।

मेरे उक्त कथन में अधिक नहीं तो आंशिक सच्चाई अवश्य है। जिन छोटी-छोटी बातों का जिक्र मैंने ऊपर किया, उनके अतिरिक्त कुछ बड़े प्रलोभन भी मेरे जीवन में आए हैं। पर उन्हें भले ही आप मेरी बेवकूफी, भीरुता या लाचारी कहें, मैं हमेशा उनसे बच ही गया हूं। यहां सिर्फ दो घटनाओं का जिक्र करूंगा–

मध्यप्रदेश की एक रियासत के राजमहल में गोली चली। वहां से तत्काल संवाददाता का समाचार चला। उसके पीछे-पीछे क्या, साथ-साथ महाराजा का एक विश्वस्त अनुचर भी चला। समाचार मेरी मेज पर और अनुचर ठीक मेरे सामने। साथ में वहां के एक साहित्यिक और सार्वजनिक कार्यकर्त्ता का एक पत्र भी। लिखा था–"कृपया पत्रवाहक से पत्र के मिलते ही बातें कर लीजिए और हो सके तो इनकी सहायता भी कीजिए।"

मैं शराब नहीं पीता, इसलिए चर महोदय मुझे मिल्क बार में ले गए। समाचार की बात बताई। उसे न छापने के लिए उनकी फुसफुसाहट-भरी आवाज गिड़गिड़ाई। जब मुझे गंभीर पाया तो उन्होंने अपना बैग उठाया और एक बड़ा-सा लिफाफा मेरे आगे सरकाया।

न जाने मुझ पर कहां से उस वक्त ईमानदारी सवार हो गई। जैसे-तैसे मैंने क्रोध जब्त किया और समाचार लेकर सीधा देवदास गांधी के पास पहुंचा। मिल्क बार में जो घटना घटी थी, उसका विवरण दिया। देवदासजी ने आदेश दिया–"समाचार को डबल

कॉलम में पहले पृष्ठ पर दो। और हां, इसकी मूल प्रति प्रेस में मत छोड़ना। अपने घर ले जाना।" मैंने वैसा ही किया। समाचार छपा। लेकिन चर के गुप्तचर हम लोगों से भी आगे थे। न जाने कैसे-क्या हुआ कि रियासत की राजधानी में उक्त समाचारवाले अखबार के बंडल उस दिन पहुंचे ही नहीं।

दूसरी घटना एक विदेशी दूतावास से संबंधित है। यह उस समय का जिक्र है जब हिन्दी-जगत में मेरा नाम चल पड़ा था और 'हिन्दुस्तान' में एक स्तंभ भी मैं लिखा करता था। उक्त दूतावास से निकलनेवाली एक हिन्दी पत्रिका के संपादक मुझसे मिले और आग्रह किया कि उनकी पत्रिका के लिए मैं कुछ लिखूं। राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू उन दिनों उस दूतावास के देश की यात्रा पर जा रहे थे। मैंने एक लेख पत्रिका को भेज दिया। लेख लिखने का एक कारण यह भी था कि उस पत्रिका में हमारे बड़े-बड़े साहित्यकारों के लेख प्रायः छपा करते थे। लेख छप जाने पर उसकी एक प्रति लेकर संपादक स्वयं मेरे पास आए और पारिश्रमिक के रूप में मुझे ढाई सौ रुपये के नोट देने लगे। मुझे लगा कि इस रकम के पीछे कोई गड़बड़ है। पूछा—"अमुकजी को आप कितना पारिश्रमिक देते हैं ?" उत्तर मिला—"सौ रुपये।" मैंने कहा—"मैं तो उनकी तुलना में बहुत छोटा लेखक हूं। मुझे इतना क्यों ?" उन्होंने बताया—"आपकी बात दूसरी है। आप हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ दैनिक पत्र के वरिष्ठ पत्रकार हैं। हम तो आपकी और भी बड़ी सेवा करने की सोच रहे हैं।"

पत्रिका के संपादक अगर देशी होते तो निश्चय ही उस दिन उनसे कुछ अधिक सख्त-सुस्त हो जाती। मैंने विनम्रतापूर्वक सौ रुपये उठाकर शेष उन्हें वापस कर दिए। देखा कि उस समय उनके मुख पर बड़े आश्चर्य का भाव था। वह कुछ बोले नहीं। चुपचाप नमस्ते करके चले गए।

इसके बाद उनके यहां काम करनेवाले एक देशी सज्जन 'बड़ी सेवा' का प्रस्ताव लेकर आए। बिना हिसाब के, बिना दस्तखत के, बिना किसी विशेष आकांक्षा के वह मेरी मासिक वृत्ति बांधना चाहते थे। वह राशि मेरे वेतन से उस समय दुगुनी थी। परंतु मेरी देशभक्ति की भावना उस समय आड़े आ गई और मैं उस प्रलोभन से साफ बच गया। नहीं तो जीवन-भर के लिए यह कलंक का टीका मेरे मस्तक पर ऐसा लग गया होता, जो धोए नहीं धुलता।

उस समय ऐसा करनेवाला मैं अकेला तीसमार खां नहीं था। तब देश में अनेक ऐसे पत्रकार विद्यमान थे जो घोर कष्टों में रहकर भी ऐसे प्रलोभनों को गर्व के साथ ठुकरा दिया करते थे। परंतु आज सुनता हूं कि सारे कुएं में भाग पड़ी हुई है। कोई बिरला ही इन प्रलोभनों से बचा हो। जो बच गया है, उसे मेरे प्रणाम ! पत्रकारिता के गिरते हुए स्तर को ऐसे ही लोगों ने जहां-तहां से थाम रखा है। ऐसे ही प्रातः स्मरणीय बंधु पत्रकारिता-कला के शिरोमणि हैं। इन्हीं के लिए विश्वकवि रवीन्द्र ने गाया है—

जदि तोर डाक शुने केऊ न आंशे,
तवै एकला चलो, एकला चलो, एकला चलो रे !

हिंदी पत्रकार के दायित्व : निर्वाह कैसे करें ?

पूरे पचास साल हम भाड़ झोंकते रहे और हिन्दी-पत्रकारिता में अपना चंना जोर गरम बेचते रहे। आगरा के मासिक 'साहित्य-संदेश' से लेकर दिल्ली के दैनिक 'हिंदुस्तान' और 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' के लंबे कार्यकाल में हमारे संघर्ष का मुख्य मुद्दा अपने को प्रतिस्थापित करना ही रहा। यों 'अखिल भारतीय हिंदी पत्रकार सम्मेलन' के द्वारा हमने हिंदी पत्रकारिता की कुछ सेवा करनी चाही और मथुरा में उसका अधिवेशन कराने में थोड़ा-बहुत योगदान भी दिया। लेकिन कार्यशील पत्रकारों और मालिक संपादकों के सिद्धांत न मिलने के कारण यह संगठन बीच में ही बैठ गया। बाद में दिल्ली हिंदी साहित्य सम्मेलन के मंच पर 'हिंदी पत्रकार परिषद' का भी गठन किया। प्रारंभ में परिषद बड़े अच्छे स्तर पर चली। इसमें हिंदी के पत्रकारों के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के पत्रकारों ने भी अपने निबंध पढ़े और उन पर ज्ञानवर्द्धक चर्चाएं भी हुईं। लेकिन धीरे-धीरे यह केवल दैनिक 'हिंदुस्तान' के कुछ वरिष्ठ पत्रकारों तक ही सीमित रह गई। 'नवभारत टाइम्स' के लोगों ने इसमें आना बंद कर दिया। लगभग तीन वर्ष चलकर पत्रकारों की यह परिषद भी परमगति को प्राप्त हो गई। इसमें पढ़े जानेवाले निबंधों और परिचर्चा के विवरणों को उसके एक संयोजक दबा बैठे। संस्थाओं को चलाने और जमाने में, लोगों का कहना है कि मुझे महारत हासिल है, लेकिन इस संगठन को आपसी कलह के डर से चलाने में मैं असमर्थ सिद्ध हुआ। इसलिए सबसे बड़ी शिकायत मुझे अपने-आपसे है कि मैंने पत्रकारिता से खुद को तो पुष्ट किया, लेकिन उसे पुष्ट करने के लिए मैं कुछ कर नहीं पाया। तब किस मुंह से अपने अन्य बंधुओं की शिकायत करूं और उन्हें दोष का भागीदार बताऊं ?

मैं अपने इस दोष को भी स्वीकार करता हूं कि सेवारत रहते समय मैंने अपनी जुबान नहीं खोली और जब सेवानिवृत्त हो गया हूं तो कुछ लोग कह सकते हैं कि मैं बढ़-चढ़कर डींग हांक रहा हूं। सवाल तब भी था और आज भी है कि तब मेरी सुनता

कौन और आज भी सुनेगा कौन ? तब मेरे इस प्रकार के लेख छापनेवाला कौन था और आज भी मुझे ऐसे लेखों के बड़े पत्रों में छपने की संभावना नजर नहीं आती। हम पत्रकार दूसरों की आलोचना कर सकते हैं, लेकिन अपनी आलोचना सहने का साहस बिरलों में ही होता है।

अब मैं स्वतंत्र हूं। लड़कियों की शादी हो गई और लड़के काम पर लग गए। अपनी दैनिक आवश्यकताओं के लिए न मैं अपनी संतान पर निर्भर हूं, न संपादकों और प्रकाशकों की दया पर। इसलिए धड़ल्ले से खरी बात कह सकता हूं और कह रहा हूं कि हमारे हिन्दी पत्रकार अपने उत्तरदायित्व को नहीं समझ रहे और जिस तरह करना चाहिए, अपने कर्त्तव्यों का परिपालन नहीं कर रहे। उनमें से अधिकांश को पत्रकार कहने में मुझे झिझक होती है। वे अखबारी कारखाने के श्रमिक हैं, क्लर्क हैं, अधीक्षक यानी, सुपरिन्टेन्डेन्ट हैं या मात्र केयरटेकर हैं–पत्रकार नहीं।

वे मक्खी पर मक्खी बैठानेवाले अनुवादक हैं, विज्ञप्तियों को तोड़-मरोड़कर अपनी खबर बना देनेवाले संवाददाता हैं या जैसे लकड़ी के बल पर बंदर नाचता है, वैसे ही अपने अधिकारियों के इशारे पर गुर्राने और मक्खन लगानेवाले कुशल कलाकार हैं–पत्रकार नहीं।

वे खबरों को दबानेवाले, समाचारों को कुतरने और चबानेवाले या अपनों से बड़ों का रुख देखकर अथवा अपना इसी में भला समझकर समाचारों को चमकानेवाले, शीर्षकों में मोटे-मोटे अक्षरों की करामात दिखाने वाले और लाचारी को सिद्धांतों से सिद्ध करनेवाले, खबरों के कारीगर या बाजीगर अवश्य हैं–पत्रकार नहीं।

वे उद्धरणों से अपने अग्रलेख भर सकते है। उन्होंने यह कहा है और इन्होंने यह कहा है, अथवा "वर्तमान परिस्थिति में यही उचित है" तथा "इसे अवश्य ही राष्ट्र का समर्थन मिलेगा" ऐसा लिखनेवाले संपादकीय कॉलम भर सकते हैं–पत्रकार शिरोमणि संपादक नहीं हो सकते।

आज के अधिकांश संपादकों का काम अपने साथियों को दबाना और व्यवस्थापकों तथा मालिकों के चहेतों को उठाना है। उनका काम संपादकी करना नहीं, जनसंपर्क साधना है। ऐसा संपर्क जो मालिकों के हितों की रक्षा कर सके और कभी संकट पड़ने पर अपने भी काम आ सके।

संपादकों का असली कार्य विदेश यात्रा के या देश के बड़े-बड़े नेताओं, श्रीमंतों और अफसरों के यहां चाय-पान, लंच या डिनर के निमंत्रण प्राप्त करना है। जहां तक हो सके, मुख्यमंत्रियों, केंद्र के गृहमंत्री, सूचना प्रसारण मंत्री, उद्योग और वाणिज्य मंत्री से मेलजोल बढ़ाना तथा उनसे काम निकालना ही आज के संपादकों का परम कर्त्तव्य है। उन्हें मोटे-मोटे वेतन-भत्ते और सुविधाएं संपादकीय लेखन अथवा पत्र का स्तर ऊंचा उठाने के लिए नहीं मिलते, वे उन्हें उनके व्यापक जनसंपर्क और काम निकालने की क्षमता के आधार पर दिए जाते हैं। हमारे संपादक भी इस बात को अच्छी तरह समझते हैं। इसीलिए वे देश, भाषा, संस्कृति आदि के व्यर्थ के पचड़ों में नहीं पड़ते। वे जिस काम के पैसे लेते हैं, उसे ही सही अंजाम देते हैं।

आजकल लोगों की आम मनोवृत्ति यह हो गई है कि उन्हें हर जगह बुराई ही बुराई नजर आती है। कृष्ण-पक्ष में उन्हें चांद नजर ही नहीं आता। यही हालत इस समय कुछ हमारी है। यद्यपि स्वयं हमारा कद कोई बहुत ऊंचा नहीं है, किंतु कुछ को छोड़कर आज के हिंदी-पत्रकार प्रायः बौने ही नजर आते हैं। वह पत्रकारिता में नहीं, वाक्-पटुता में विशेष रूप से माहिर हैं। वे खुद आगे बढ़ने की कला नहीं जानते, लेकिन दूसरों की टांग खींचना कोई उनसे सीखे। फुंके जा रहे हैं ईर्ष्या और द्वेष से हमारे ये आज के तथाकथित पत्रकार–इसे क्या काम करना आता है। वह क्या काम करना जाने। उसने यह अनुवाद गलत किया है। उसने यह गलत लिखा है। यह इसका आदमी है। वह उसका आदमी है। यह संघी है। वह कम्युनिस्ट है। वह पूंजीपतियों का पिट्ठू है और वह सत्ता का दलाल है–अखबारों के दफ्तरों में ये वाक्य मंत्रों की तरह उच्चरित होते रहते हैं। यह उप-मुख्य संपादक न बन जाए। सावधान ! वह समाचार संपादक बनने जा रहा है। वह ब्यूरो में जाने योग्य नहीं है। इसे सह-संपादक बनाया जाए। लो इस पर दस्तख्त करो और मेमोरेंडम भेजो–हमारे पत्रकारों की चर्चा और चिंता के विषय अब यही रह गए हैं। कोई मालिक से मिलने के लिए कुलाबे मिला रहा है तो कोई मंत्रियों से सिफारिश कराने के लिए डौल बिठा रहा है। किसी ने इस दल की पूंछ पकड़ रखी है और किसी ने उस दल का पुंछल्ला। किसी ने चापलूसी का दामन थाम रखा है तो कोई चुगली की ताकत को आजमाने में लगा हुआ है। 'डेस्क' राजनीतिक विवादों का अखाड़ा बन गई है। ब्यूरो और संवाददाताओं के कक्ष बाहरी और भीतरी घुसपैठ के अड्डे बन गए हैं। देश की राजनीति में जो भ्रष्टाचार आज चल रहा है, दुर्भाग्य से उसी का रिहर्सल हमारे अखबारों में भी हो रहा है।

किसी को पत्रकारिता के मूल्यों और सिद्धांतों की चिंता नहीं है। एक अंधी दौड़ चल रही है कि लोग एक-दूसरे को धकियाते, गिराते, कभी सरपट तो कभी लंगड़ाते भाग रहे हैं। पता नहीं यह दौड़ कहां रुकेगी और कब रुकेगी ?

ऐसी हालत में किसे यह याद दिलाई जाए कि यह हिंदी की वह पत्रकारिता है, जिसे स्व. गणेशशंकर विद्यार्थी ने अपने खून से सींचा है। यह वह पुनीत पत्रकारिता का क्षेत्र है, जिसे पराड़करजी, अंबिकाप्रसाद वाजपेयीजी और इन्द्र विद्यावाचस्पति जैसे दर्जनों महापुरुषों ने अपने विशद ज्ञान और राष्ट्रप्रेम के श्रम-सीकरों से सिंचित किया है। इसमें स्व. माखनलाल चतुर्वेदी की ललकार और स्व. कृष्णदत्त पालीवाल तथा नवीनजी की हुंकार भरी हुई है। यह वह पत्रकारिता है, जिसमें पत्रों और पत्रकारों की स्थिति को सुधारने के लिए अर्द्ध-शताब्दी से भी अधिक स्वं. पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी ने अपने को खपा दिया था। यह वह पत्रकारिता है, जिसकी निस्वार्थ सेवा करने के लिए पुरानी पीढ़ी के सैकड़ों पत्रकार अभावों में घुले और संघर्षों में पले। इसकी सेवा के लिए लोगों ने अर्थ और राजनीति की व्यापक संभावनाएं छोड़ीं। सरकारी नौकरियों का परित्याग किया। उनके बाल-बच्चे जीवन की सीमित अभिलाषाएं प्राप्त करने में भी समर्थ न हो सके। क्या इसलिए कि देश और समाज की, भाषा और साहित्य की सेवा करनेवाली ये संस्थाएं मात्र कुछ लोगों को रोजगार जुटानेवाली फैक्टरियां बनकर रह जाएं ? क्या

इसलिए कि ये परमार्थ निकेतन स्वार्थ-साधन की इकाइयां बनकर राष्ट्र और समाज को पाताल तक पहुंचाने में अपनी प्रमुख भूमिका अदा कर सकें ?

हो तो कम से कम आज यही रहा है। पत्र हिंदी के हैं, किंतु उनमें हिंदी की चर्चा नहीं। हिंदी के पत्रकारों, साहित्यकारों और कार्यकर्त्ताओं के जिक्रे खैर का जहां लगभग निषेध है। पत्र हिंदी के हैं, मगर तर्ज उनकी अंग्रेजी की। हिंदी को उन्होंने हिंदी की जगह अनुवाद की भाषा बना डाला है। अनुवाद भी ऐसा जिसका वाक्य विन्यास और मुहावरा अंग्रेजीनुमा हो। लेख भी ऐसे जो अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं से नकल करके या उधार लेकर लिखे गए हों। बताइए, तब हिंदी का विकास कैसे होगा ? हिंदी पत्रकारिता कैसे समृद्ध होगी ?

स्वार्थों से परे कोई नहीं है। न मैं, न आप। जब पत्रकारिता व्यवसाय बन गई है तो वह व्यावसायिक स्वार्थों को छोड़कर नहीं चल सकती। उससे पुरानी मिशनरी भावना की आशा करना वर्तमान परिस्थिति में संभव भी नहीं लगता। जब ढांचा पूंजीवादी है तो उसमें समाजवादी सिद्धांत ज्यादा फिट नहीं हो सकते। व्यवसाय में जैसे श्रमिकों को संघर्ष करना पड़ता है, वैसे ही पत्रकारों को भी करना पड़ेगा और कम-बढ़ वे यह कर भी रहे हैं। लेकिन यह संघर्ष व्यक्ति के साथ-साथ राष्ट्र के हितों के लिए भी होना चाहिए। यह ठीक है कि व्यक्ति-व्यक्ति के सुखी और संपन्न होने पर राष्ट्र भी सुखी और संपन्न होता है, लेकिन पत्रकारिता के क्षेत्र में इससे विपरीत हुआ है। अपने संघर्ष से पत्रकारों ने अपने लिए थोड़ी-बहुत सुख-सुविधाएं अर्जित की हैं। लेकिन उससे न पत्रकारिता का स्तर बढ़ा है और न देश का। हमारे अखबारों ने देश में राजनीतिक चेतना तो जागृत की है, लेकिन सामाजिक चेतना या सांस्कृतिक परिष्कार के क्षेत्र में उन्होंने कितना कार्य किया है, यह शोध का विषय है। स्मरण रखिए, पत्रकारिता का मूल उद्देश्य परहित-चिंतन है। पत्रकार जब तक सेवाभावी नहीं बनेगा, तब तक न वह समाज के लिए कल्याणकारी सिद्ध होगा और न राष्ट्र के लिए। पत्रकार मंत्रदाता ऋषि के समान है। पत्रकार ज्ञानदाता प्राध्यापक की प्रतिमूर्ति है। कुर्सियों पर बैठकर हुकूमत करने वाले सही अर्थों में देश के नेता नहीं हैं। राज-समाज को सही नेतृत्व तो हमारे अखबार ही प्रदान करते हैं। यानी पत्रकार ही सही अर्थों में देश के निर्माता हैं। जब राजनीतिक नेतृत्व सही दिशा प्रदान नहीं कर सके तो पत्रकार का दायित्व और भी बढ़ जाता है। नेता तो चुनाव के समय ही जनता के पास पहुंचता है। पत्रकारों की तो अखबारों के माध्यम से जनता से हर सुबह मुलाकात होती रहती है। नेता तो अपने वायदे अक्सर भूल भी जाते हैं, लेकिन पत्रकार नहीं भूला करते। उन्हें बीसियों-पचासों वर्षों और शताब्दियों पहले की बातें याद रखनी पड़ती हैं। नेतृत्व इतिहास बनाता है, लेकिन पत्रकारिता उसके भले-बुरे को परिभाषित करती है। नेतृत्व के द्वारा घटनाएं, दुर्घटनाएं और गलतियां होती हैं और वह उन्हें छिपाने का प्रयत्न करता है, लेकिन पत्रकार उन्हें प्रकाश में लाने से नहीं हिचकता। पत्रकार नेताओं को योजनाएं बनाने के लिए विवश करता है। ये योजनाएं कागज पर ही न रह जाएं, इसके लिए वह निरंतर उद्योग करता है। अपने बहुमत से सत्ता-पक्ष विपक्ष की तो अनसुनी कर सकता है, लेकिन अखबारों

की अनदेखी नहीं कर सकता। राज और समाज के अनेक अपराधी न्यायपालिका की पकड़ से बाहर हो सकते हैं, लेकिन पत्रकारिता की पकड़ से कोई बाहर नहीं। कानूनी त्रुटियों और लाचारियों के कारण कभी-कभी बड़े अपराधी भी न्यायपालिका की दंड-प्रक्रिया को चुनौती देकर मुक्त हो जाते हैं, लेकिन अखबार जिसे एक बार अपराधी घोषित कर दें, वह जीवनभर नेकनाम नहीं बन पाता। इसीलिए लोकतंत्र में न्यायपालिका, कार्यपालिका और विपक्ष से भी कहीं ज्यादा बड़ी भूमिका पत्रकारिता की है। लेकिन तब, जब इसे हम अनुभव करें।

मुझे याद आती है स्वतंत्रता-संग्राम के दिनों की, जब अंग्रेजी के अधिकांश पत्र अपनी सही भूमिका अदा नहीं कर रहे थे। नाम नहीं लूंगा। उस पीढ़ी के जीवित सभी व्यक्ति इस बात को जानते हैं कि लखनऊ का एक अंग्रेजी पत्र जमींदारों और ताल्लुकेदारों के हितों का घनघोर समर्थक था। इलाहाबाद का अमुक पत्र 'मॉडरेटों' के नाम पर स्वतंत्रता-संग्राम के तरीकों की अक्सर नुक्ताचीनी किया करता था। दिल्ली से निकलनेवाला एक अंग्रेजी दैनिक उस समय भारतीय नरेशों और नवाबों के हाथों बिका हुआ था। अन्य प्रदेशों की राजधानियों से भी ऐसे कई छोटे-बड़े अंग्रेजी शासन के पालतू अखबार निकला करते थे। लेकिन देशी भाषाओं और विशेषकर राष्ट्रभाषा हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं ने स्वतंत्रता-संग्राम में प्रायः गद्दारी की भूमिका निभाई। हिंदी और हिंदी के अख़बार भारत के स्वतंत्रता-संग्राम में बहादुरी के साथ लड़े हैं। उस समय की हिंदी पत्रकारिता का इतिहास स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है, लेकिन स्वतंत्रता के बाद हिंदी पत्रकारिता के इतिहास को क्या नवयुग-निर्माता कहा जा सकता है ? हिंदी-पत्रों ने जिस निर्भीकता से ब्रिटिश साम्राज्यवाद का खुलकर विरोध किया था, क्या वे आज भी उसी प्रकार चतुर्दिक होनेवाले अन्यायों, अत्याचारों, अभावों और विविध प्रकार के शोषणों के विरुद्ध खड्गहस्त हैं ? राष्ट्र की नींव में घुन की तरह लगे हुए भाषा, जाति, प्रदेश, धर्म और वर्ग के विद्वेषों के विरुद्ध उन्होंने एक स्वर से कहीं कोई मोर्चा लिया है ?

अपवाद सब जगह होते हैं। स्वतंत्रता-संग्राम के समय भी कुछ अंग्रेजी अखबार और उनके यशस्वी पत्रकार मुक्ति-संघर्ष में देश का नेतृत्व कर रहे थे। आज हिंदी में भी कुछ पत्र ऐसे हैं जो राष्ट्रीय नवनिर्माण और गतिशीलता के अपने दायित्व को बखूबी निभा रहे हैं। लेकिन आम प्रवृत्ति वैसी नहीं है, जैसी होनी चाहिए। हिंदी हिंद का पर्याय है, तो हिंदी पत्रकारों को हिंद की भावनाओं का प्रतीक बनना ही चाहिए।

जी हां, हिंद के साथ-साथ हिंदी के प्रति भी हिंदी के पत्रकारों की विशेष जिम्मेदारी है। स्वतंत्रता के बाद हिन्दी की स्थिति में उन्नति के स्थान पर अवनति ही हुई है। राष्ट्रभाषा और राजभाषा स्वीकार किए जाने पर भी उसके मार्ग में पग-पग पर कांटे बिछाए जा रहे हैं। हम हिन्दी की रोजी-रोटी खाते हैं और हिन्दीवाले कहलाते हैं, लेकिन उसके प्रति अपना दायित्व नहीं निभाते। मैं पूछना चाहता हूं कि जब हमारी पत्रकारिता आपातकाल की तानाशाही का दिलेरी से सामना कर सकती है, तत्कालीन सत्ता के पैर उखाड़ सकती है और सबक सिखाने के बाद इंदिराजी को पुनः शासन में बिठा सकती है तो हिंदी को संपूर्ण राजभाषा का पद क्यों नहीं दिला सकती ?

हिंदी पर क्लिष्ट होने का आरोप लगाया जाता है तो क्या उसका परिहार विश्वविद्यालयों में पढ़ानेवाले प्राध्यापक करेंगे ? नहीं, यह काम हिंदी-पत्रकारों का है। अंग्रेजी शब्दों के लिए हिंदी में समान शब्दावली नहीं है। इसका व्यावहारिक उत्तर अव्यावहारिक भाषाशास्त्रियों और उनके द्वारा गढ़ी गई शब्दावलियों के पास भी नहीं है। इसका समाधान तो हमारे हिन्दी के पत्रकारों के पास ही है, क्योंकि वे शब्द बना ही नहीं, उसे प्रचलित भी कर सकते हैं। हिंदी वर्तनी के प्रश्न की कुंजी तो केवल हिंदी के पत्रकारों के पास ही है। वे अपनी मास्टर चाबी घुमाएं और राज-समाज के लौह-कपाट हिंदी के लिए खोल दें।

हिंदी का प्रश्न फिलहाल सरकार ने अपने मन से उतार रखा है। वह इसके लिए सिर्फ घोषणाएं करती है, समितियां बनाती है और जल्दी करने पर देश की एकता टूटने का खतरा दिखाती है। हिंदी के पत्रकार एक होकर इस स्थिति का मुकाबला करें। लेकिन करें तो तब, जब उनके मन में हिंदी के प्रति लगन हो, संकल्प हो और स्वाधीनता-संघर्ष की तरह देश में भाषायी-स्वराज्य कायम करने की कामना हो। इसके लिए हिंदी पत्रकारों का एक सुदृढ़ संगठन बनाना आवश्यक है, जो पत्रकारों को राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए प्रेरित भी करे और प्रशिक्षित भी। बड़े दर्द के साथ मैं यह शिकायत करता हूं कि आज के अधिकांश हिंदी पत्रकार स्वाध्याय से विरक्त हैं। उनमें से अधिकांश और तो और अपने अखबारों को भी पूरी तरह नहीं पढ़ते। व्यापार डेस्क पर काम करनेवालों से कितने अर्थशास्त्र की बारीकियों से परिचित हैं, यह कहना कठिन है। खेल के समाचार देनेवालों में से अधिकांश न जीवन में कभी क्रिकेट खेले हैं, न हॉकी। फिर उनके देशी-विदेशी इतिहास से परिचित होना तो बहुत दूर की बात है। हमारा हर एक पत्रकार अपने को राजनीति का विशेषज्ञ मानता है, लेकिन उनमें से कितने हैं, जिन्होंने मार्क्स, लेनिन, गांधी, माओ आदि के राजनीतिक सिद्धांतों को व्यक्त करनेवाले प्रामाणिक ग्रंथों को पढ़ा है। हिंदी के पत्रकार को संस्कृत, उर्दू और अंग्रेजी भाषा का अच्छा ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। आज के पत्रकारों को तो दुर्भाग्य से हिंदी भााषा और उसके साहित्य का भी ज्ञान नहीं है। तब उससे गुजराती, मराठी, बंगला, कन्नड़, तमिल, तेलुगू आदि भाषाएं पढ़ने की अपेक्षा करें ? जब तक हिंदी के पत्रकार हिंदीतर भाषाओं को नहीं पढ़ेंगे, तब तक हिंदी का सार्वदेशिक व्यवहार नहीं हो सकता। यह कार्य पत्रकारों के लिए गठित संगठन को करना चाहिए। जैसे हिंदी-प्रशिक्षण योजना के अंतर्गत सरकारी कर्मचारियों को हिंदी पढ़ाई जाती है, वैसे ही हिंदी-पत्रकारों को अनुवाद कला, प्रांतीय भाषाओं का शिक्षण, विविध विषयों का सम्यक् ज्ञान और भाषा की एकरूपता का विधिवत् प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। हिंदी पत्रकारिता कला के लिए यह अत्यंत आवश्यक कार्य है। इस पर तुरंत ध्यान दिया जाए।

पत्रकार को चाहिए कि

विचार करने पर लगता है कि जैसे अदृश्य ने प्रारंभ से ही मुझे पत्रकार बनाने की ठान ली थी। जाने-अनजाने जीवन की ऐसी राहों से मैं गुजर गया जो बाद में मेरे बड़े काम आईं। मेरे परिवार के लोग और मेरे मित्र तथा शुभचिंतक जिन बातों को उस समय व्यर्थ की और मेरी आवारगी की निशानी समझते थे, वही पत्रकार-जीवन में मेरी विशेषताएं बन गईं। पत्रकार को बहुभाषाविद और बहुज्ञ होना चाहिए। उसके लिए अर्थशास्त्र, राजनीति, देश-विदेशों के भूगोल और इतिहास का बहुल ज्ञान आवश्यक है। व्याकरण का ज्ञान तो उसके लिए बेहद जरूरी है। राज-समाज के ही नहीं, साहित्य-संस्कृति और पुरातत्त्व के जीवित और दिवंगत, स्थापित और ध्वंसावशेषों की पूरी जानकारी जब तक किसी व्यक्ति को न हो, तब तक उसे पत्रकारिता के पेशे में कदम नहीं रखना चाहिए। परंतु मैं हैरान और दुखी हूं कि पत्रकारिता का डिप्लोमा लेनेवाले और पत्रकारिता के लिए साक्षात्कारों में आनेवाले ही नहीं, आज की पीढ़ी के अधिकांश हमारे साथी जो अपने को पत्रकार कहने में गर्व अनुभव करते हैं तथा पत्रकारों की विशेष स्थिति और सुविधाओं के लिए निरंतर संघर्ष करते रहते हैं, उनमें ज्ञानार्जन के लिए जो ललक होनी चाहिए, वह प्रायः दिखाई नहीं पड़ती। आज के बी. ए., एम. ए. और पी. एच. डी. मित्रों को जब मैं साधारण भाषा-ज्ञान से भी वंचित देखता हूं तो सोचने लगता हूं कि श्रद्धेय बाबूराव विष्णु पराड़कर, श्री अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी और स्वानामधन्य श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति ने पत्रकारिता में जो कीर्तिमान स्थापित किए हैं, उनसे आगे बढ़कर रेखा खींचना तो दूर, क्या ये बंधु उन स्थापनाओं की रक्षा भी कर पाएंगे ?

फिलहाल इनकी बातें छोड़कर अपनी बातें आपको बताऊंगा। मेरे पास तो स्कूल-कॉलेज की कोई डिग्री नहीं। किसी पत्रकारिता विद्यालय में या किसी प्रधान संपादक अथवा वरिष्ठ पत्रकार से भी मैंने विधिवत् कोई शिक्षा-दीक्षा नहीं ली। मैंने जो कुछ सीखा है काम करते-करते सीखा है। आवश्यकता की चोटों ने मुझे ठोंक-ठोंककर गढ़ा है।

जब आगरा से निकलनेवाले मासिक 'साहित्य-संदेश' में गया तो मेरी नियुक्ति वहां कदाचित् प्रेस के काम की जानकारी होने और साहित्यरत्न की परीक्षा में साक्षात्कार के समय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के प्रश्नों का जमकर सामना करने के कारण ही हुई होगी। पत्र के स्वामी श्री महेन्द्रजी ने शायद सोचा होगा कि संपादन-कार्य में न चल सका तो यह व्यक्ति प्रेस को तो संभाल ही लेगा। दैनिक 'हिन्दुस्तान' में स्वर्गीय देवदासजी ने कनिष्ठ उपसंपादक के रूप में जब मुझे रखा तो उस समय उनके मन पर मेरी व्यंग्य-विनोदपूर्ण राजनैतिक कविताएं अधिक छाई हुई थीं। मुझसे बात करके उन्होंने सोच लिया होगा कि यदि समाचारों के अनुवाद आदि का काम यह न कर सका तो क्या है, दैनिक पत्रकारिता के लेखन-कार्य और रविवारीय अंकों में संपादन में तो योग दे ही सकता है। लेकिन दोनों ही स्थानों पर मैंने मेहनत करके और साथियों को काम करते देखकर, उनसे पूछ-पूछकर और पढ़-पढ़कर अपने को ऐसा बना लिया कि पत्र के स्वामी और संपादक, जब तक मैं इन संस्थाओं में रहा, मुझसे संतुष्ट ही रहे। 'साहित्य-संदेश' में क्लर्क से बढ़कर मैं संपादक बन गया और दैनिक 'हिन्दुस्तान' में कनिष्ठ उपसंपादक से तरक्की करते-करते वरिष्ठ सहसंपादक तक हो गया। बीच में अगर आंखों ने दगा न दी होती और भाग्य ने साथ दिया होता तो 'हिन्दुस्तान' के संपादक पद से सेवा-निवृत्त होना भी बहुत कठिन नहीं रह गया था। मेरी इस तरक्की का कारण न मेरी विशेष योग्यता थी और न विशेष सिफारिश। यदि इसका कोई कारण है तो वह है मेरी कार्य के प्रति उत्तरदायित्वपूर्ण भावना। उसे पूरा करने की लगन। मेरी साहित्य और विशेषकर व्यंग्य-विनोद के क्षेत्र में अपनी विशेष स्थिति तथा वे संस्कार जो अदृश्य ने मुझे प्रारंभ से ही सुलभ कर दिए थे।

मेरी ब्रजभाषा और ब्रज-साहित्य के क्षेत्र में रुचि और उस संबंध में किए गए कार्यों की जानकारी थोड़ी-बहुत हिंदी-जगत को है, लेकिन इस बात का पता कुछ वयोवृद्ध लोगों को ही है कि मैंने ब्रज-जनपद में लोक साहित्य और प्राचीन ग्रंथों की खोज का भी काम गांव-गांव जाकर महीनों तक किया है। इस कार्य में मुझे प्राचीन पांडुलिपियों को देखने और परखने के अलभ्य अवसर प्राप्त हुए हैं। पुराने लेखक और लिपिक कैसी भाषा लिखते थे, तब किस प्रकार के विराम-चिन्हों का प्रयोग किया जाता था, शीर्षकों के लिए कैसी स्याही और संशोधन के लिए किस तरह की 'हरताल' (इंक-रिमूवर) का उपयोग किया जाता था, यही नहीं, कौन-सा कागज मूंज से बना है, कौन-सा बांस से तैयार हुआ है और किस भोज-पत्र की उम्र कितनी है, इसकी भी मुझे अच्छी जानकारी हो गई। इनको देख-देखकर मेरा हस्तलेख भी सुधरा। एक समय था, जब मेरी पांडुलिपि या प्रेस कापी मोती जैसे अक्षरों से चमकती रहती थी। बाद में दैनिक पत्र में काम करते-करते मेरी लिपि इतनी भ्रष्ट हुई कि मेरा लिखा मुझसे ही नहीं पढ़ा जाता था। कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार प्राचीन भाषा, पुरातन साहित्य, लिपि-लेखन और कागज के विकास का इतिहास मुझे अनायास ही प्राप्त हो गया, जो आगे चलकर मेरे कार्य में बहुत सहायक सिद्ध हुआ।

ऐसा ही सुयोग मुझे भारतीय पुरातत्त्व विद्या को जानने में सुलभ हुआ। प्राचीन

मूर्तियों की दृष्टि से मथुरा का म्यूजियम विश्व में विख्यात है। कुषाण और गुप्तकालीन दुर्लभ मूर्तियां और प्राचीन स्थापत्य के अलभ्य नमूने मथुरा संग्रहालय में हैं। इस म्यूजियम की कला-वस्तुएं पहले मथुरा की कचहरी के पास एक छोटे-से मकान में बेतरतीब भरी पड़ी थीं। बाद में जब डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल इस म्यूजियम के क्यूरेटर बने तो इनके रख-रखाव के लिए डेम्पियर पार्क में लाल पत्थर का एक विशाल भवन बनाया गया। प्रारंभ से ही मैं इस म्यूजियम से और इसके क्यूरेटरों से संबद्ध रहा हूं। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने तो मुझे बड़े प्रेमपूर्वक भारत के इस कला-शिल्प का बौद्धिक और ऐतिहासिक ज्ञान कराया है। किस स्तम्भ पर, किस तोरण पर, किस वेदी पर, किस काल में कैसे तराशा जाता था, यह मुझे उन्हीं की कृपा से मालूम हुआ। किस काल में किस पाषाण का उपयोग होता था और उन कालों के कलाकार किस तरह अपने छैनी-हथौड़े से पाषाणों में प्राण-प्रतिष्ठा करते थे तथा किस तरह भारत के महान शिल्पियों ने छोटे-बड़े पाषाण खंडों से लेकर पहाड़ों तक को सत्-चित्-आनंद से और कला-कल्पना के निरुपम सौंदर्यबोध से अलंकृत कर दिया, इसकी जानकारी मुझे डॉ. वासुदेवशरणजी, रायकृष्णदासजी और डॉ. मोतीचंद्र से बातों-बातों में ही प्राप्त हो गई। इस प्रकार भारतीय मूर्तिकला, चित्रकला, स्थापत्य, जो भारत-विद्या को समझने के महत्त्वपूर्ण सोपान हैं, मैं अपनी युवावस्था के प्रारंभ काल में ही पार कर गया।

मेरे पत्रकार साथी सोचते होंगे कि आज की अनुवादमूलक, क्लर्क टाइप पत्रकारिता के लिए इन सब बातों की क्या आवश्यकता है ? जब राजनीतिक खबरें ही छापनी हैं और मंत्रियों तथा नेताओं के सुघड़ और अनगढ़, सुंदर और भौंड़े व्यक्तित्वों को जानने के अलावा और कुछ जानने की जरूरत है ही नहीं, तो कौन पुरानी पोथियों को उलटे-पलटे और मूर्तियों से सिर मारे ? हमें तो सिर्फ संपादक की रुचि और मालिक के 'इन्टरेस्ट' को ही जानना, देखना और 'सर्व' करना है। हम अखबार में अपनी रोजी-रोटी चलाने के लिए आए हैं, खुदाई खिदमतगीरी करने नहीं। भारत की बढ़ती हुई बेकारी की विषैली नागिन इस तरह हमारी पत्रकारिता को भी डसे जा रही है। एक उदाहरण लीजिए–

दैनिक हिन्दुस्तान में पत्रकारों की भर्ती के लिए विज्ञापन छपा। इतने प्रार्थना-पत्र आए कि उन्हें छांटने के लिए तीन वरिष्ठ संपादकों को नियुक्त करना पड़ा। साक्षात्कार के लिए जिन लोगों को बुलाया गया, उनमें से कुछ लोग मेरे पास भी आए। उनमें एम. ए. से कम कोई नहीं था। कुछ तो पी. एच. डी. तथा डी. लिट. भी थे। मैंने इन्हें टटोलकर देखा। इनमें से एक भी पत्रकारिता के प्रति एकनिष्ठ नहीं लगा। एक नवयुवक ने मुझे बताया कि उसने बैंक में भी क्लर्की के लिए प्रार्थना-पत्र दिया है। जहां भी काम मिल जाए, ठीक है। एक लड़की का कहना था कि उसके माता-पिता चाहते हैं कि यदि उसे कहीं कोई अच्छी नौकरी मिल जाए तो शायद उसकी अच्छे घर में शादी हो सकती है। एक युवती यह चाहती थी कि उसका लक्ष्य राजनीति में जाना है, पत्रकारिता की सीढ़ी उस मंजिल को करीब ला देगी। इनमें से प्रायः सभी का यह मत था कि पत्रकारों के वेतनमान अब काफी सुधर गए हैं और इस बिरादरी के लोगों को राज एवं समाज में हर जगह तरजीह और सुविधाएं प्राप्त हो जाती हैं। उनमें से किसी एक ने भी तो यह

नहीं कहा कि यह देश-सेवा का अचूक साधन है, इसलिए हम पत्रकारिता में आना चाहते हैं। इनमें से कोई भी पत्रकारिता द्वारा सामाजिक जागरण के प्रति लालायित नहीं था। सभी बातचीत में अपने अंग्रेजी के टूटे-फूटे ज्ञान को प्रदर्शित करने में लगे हुए थे। हिंदी पत्रकारिता में हिंदी-सेवा का भी कोई महत्त्व है, इसके प्रति उनकी कोई निष्ठा नहीं थी। न किसी को शास्त्रीय संगीत का ज्ञान था, न नृत्य का। न उन्हें हिंदी शुद्ध आती थी, न अंग्रेजी। साहित्य की बात तो छोड़िए, सिंधु घाटी सभ्यता और रवीन्द्र संगीत के संबंध में भी उनमें से अनेक को कोई जानकारी नहीं थी। तब बताइए हिंदी-पत्रकारिता का भविष्य कैसे उज्ज्वल माना जाए ? ऐसे उम्मीदवारों के सफल होने और कार्यरत हो जाने पर हम कैसे यह कल्पना कर लें कि एक दिन हिंदी-पत्रकारिता अंग्रेजी-पत्रकारिता को पीछे छोड़ जाएगी ?

मैं तो निश्चय ही इस मामले में बहुत सौभाग्यशाली हूं कि प्रारंभ से ही मुझे ऐसे महापुरुषों, कला-पारखियों और शास्त्रीय संगीतज्ञों, नृत्य-विशारदों, नाटक के निर्देशकों, व्याकरण के आचार्यों, संस्कृत, ब्रजभाषा और साहित्य के पंडितों, उर्दू और फारसी के आलिमों, प्रसिद्ध पहलवानों, शतरंज मास्टरों और राज-समाज के दिग्गजों जैसे भगवानदास केला (समाजशास्त्री), नवनीत चतुर्वेदी और रत्नाकरजी (साहित्याचार्य), राधेश्याम कथावाचक, रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण 'प्रेमी', उपेन्द्रनाथ अश्क, विष्णु प्रभाकर (नाटककार), चंदन पहलवान, चंदन चौबे (संगीतज्ञ), कृष्ण कवि (शतरंज मार्तण्ड) लक्ष्मण आचार्य (व्याकरणाचार्य), डॉ. सत्येन्द्र (समीक्षक), श्री कृष्णदत्त पालीवाल, हरिशंकर शर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', बनारसीदास चतुर्वेदी, इन्द्र विद्यावाचस्पति, देवदास गांधी (सभी पत्रकार), राजर्षि टंडन, गोविंदवल्लभ पंत, संपूर्णानंद, लालबहादुर शास्त्री, यशवंतराव चव्हाण, जगजीवनराम, मोरारजी देसाई, डॉ. युद्धवीर सिंह (सभी राजनेता), हरिऔध, रामचंद्र शुक्ल, बाबू गुलाबराय, नंददुलारे वाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, सुमित्रानंदन पंत, निरालाजी, महादेवी वर्मा आदि से निकट संपर्क प्राप्त करने और इनके कृतित्व एवं व्यक्तित्व को जानने-पहचानने का सुयोग प्राप्त हो गया। मेरे विचार से एक पत्रकार के लिए अपने देश के युगांतरकारी और उदीयमान व्यक्तित्वों को जानना-पहचानना उसकी पहली कसौटी है। व्यक्ति ही कृति का जन्मदाता है। व्यक्ति ही संस्था का निर्माता है। व्यक्ति ही समाज को नया मोड़ देता है और व्यक्ति ही अपनी काली करतूतों से राज-समाज, साहित्य और संस्कृति को कलंकित भी कर देता है। एक पत्रकार के लिए व्यक्तित्व की पहचान परमेश्वर की पहचान से कम नहीं है। कम से कम मैंने तो व्यक्तित्वों को पहचानने में अपनी बुद्धि का पूरा-पूरा उपयोग किया है। दैनिक हिंदुस्तान में मैंने वर्षों तक एक स्तम्भ चलाया है, जिसका शीर्षक था—'व्यक्ति, साहित्य और समाज'। कितना पहचान पाया हूं और वह कहां तक ठीक है, यह बात अलग है।

मेरे विचार से पत्रकार को घुमक्कड़ी होना बहुत आवश्यक है। केवल नागरिक सभ्यता की ही नहीं, उसे भारत के ग्राम-समाज की भी जानकारी होनी चाहिए। कल-कारखानों के उत्पादन और उसकी गिरावट के आंकड़ों से उद्योगों की सही-सही

जानकारी नहीं मिल सकती। इनमें काम करनेवाले मजदूरों की दशा को तो बिना देखे जाना ही नहीं जा सकता। आज के कारीगर, दस्तकार और छोटे-छोटे घरेलू उद्योगों में लगे स्त्री-पुरुष जैसा जीवन जीते हैं, इसका ज्ञान घुमक्कड़ी से ही प्राप्त किया जा सकता है। भारत की गरीबी और बेरोजगारी को नेता या मंत्रियों के बयानों से समझ लेना असंभव है। बिना सरकारी टूर के कितने ऐसे पत्रकार हैं, जिन्होंने भारत में बने हुए भाखड़ा नांगल आदि बांधों, दुर्गापुर, भिलाई आदि इस्पात उद्योगों, तारापुर का परमाणु संयंत्र, भाभा अनुसंधान केन्द्र, विशाखापत्तनम का समुद्री जहाज निर्माण केन्द्र और श्रीहरिकोटा का अंतरिक्ष अनुसंधान केन्द्र आदि भारत के नए तीर्थों की यात्रा की है ? जो गिरिजनों, हरिजनों और आदिवासियों की बस्ती में नहीं गया, जिनका हमारे मुस्लिम भाइयों के रहन-सहन और विचारों से परिचय नहीं, जो सिखों, द्रविड़ों, नक्सलियों और समाजवाद के द्वारा राजनीतिक क्रांति करनेवालों से नहीं मिला तथा जिसने गांधी-दर्शन का स्वाध्याय नहीं किया, वह पत्र में नौकरी भले ही पा जाए, पत्रकारिता के धर्म को नहीं निभा सकता। हमारे पत्रकारों को, पत्रकारिता को लोकतंत्र की एक बड़ी शक्ति माननेवालों को इन बातों पर विचार करना चाहिए और कोई उपाय तलाश करना चाहिए। नहीं तो पत्रकारिता, विशेषकर हिन्दी-पत्रकारिता का कलेवर और ग्राहक संख्या भले ही बढ़ जाए, पत्रों तथा पत्रकारों का स्तर ऊंचा नहीं उठ सकता।

मेरा यह सौभाग्य रहा है कि मैंने आसेतु हिमालय और ढाका से करांची ही क्यों, काहिरा तक की यात्राएं की हैं। बड़े-बड़े नगरों तक ही मेरा घुमक्कड़पन सीमित नहीं रहा। मैं छोटे-बड़े कस्बों, गहन वन-प्रांतरों और मरुप्रदेश में भी विचरा हूं। कहां की क्या वस्तु प्रसिद्ध है, किस बाजार में मिठाई की कौन-सी दुकान अच्छी है, पान की दुकान किस नुक्कड़ पर सबसे बढ़िया है, वहां कौन-सा मंदिर है, कौन-से नदी-तालाब हैं और किस हवेली या किस कब्र की नक्काशी बढ़िया है और उसकी क्या खासियत है, यह मुझसे आज भी पूछ लीजिए। मैंने लोगों को पेड़ों की छालें खाते, जंगली फलों को खोदते, बीनते तथा चबाते देखा है। ऐसे रईसजादे भी देखे हैं जो चांदी के बरतनों में खाते थे और सोने के कटोरों में शराब पीते थे। जिनकी बाकायदा कई-कई रानियां थीं और रखैलों की तो कोई शुमार ही नहीं थी। जमींदारों का गरीब किसानों की उपज पर अधिकार कर लेना, न्याय की बजाय अपने कारिंदों और पुलिस से उन्हें पिटवाना और पुश्त-दर-पुश्त उन्हें कर्जदार बनाए रखना, देखते-देखते मेरी दृष्टि कमजोर हो गई है। मन वेदना-विह्वल हो गया है। अभिव्यक्ति व्यंग्यमय हो गई है। फिर भी मैं हंसा हूं अपने पर, अपने समाज की विकृतियों पर, अपनी समाज-व्यवस्था और सरकार पर। लोग मुझे मुंहफट कहते हैं। गनीमत है कि मुंह ही फटा, कलेजा फटने से बच गया। कभी भारतेन्दु हरिश्चंद्र का 'हा-हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई' पढ़ा था, परंतु आज जो दुर्दशा है, उस पर हम पत्रकारों का कितना ध्यान है ? कैसे हम इन अन्याय और शोषणों के प्रति अपनी कलम को तलवार की तरह तानेंगे ? वह दिन कब आएगा, जब हम अपने से ही प्रश्न करेंगे कि क्या हमने पत्रकारिता के कर्त्तव्य को ठीक से निबाहा है ?

चतुर्थ उल्लास

वंदे ब्रज वसुंधराम

कहां लौं कहिए ब्रज की बात

जि मन करै है कै जा लेख कूं अपनी मिठबोलनी, रसघोलनी ब्रजभासा में ही च्यौं न लिखैं ? परंतु नहीं, भारत के राष्ट्रीय जागरण और हिंदी के अरुणोदय की बेला में ही हमारे अग्रचेता पूर्वजों ने यह अलिखित समझौता और दृढ़ संकल्प कर लिया था कि भाई, तुम लिखो गद्य और हमसे बन पड़ेगा तो रचते रहेंगे पद्य। संवर्धन रहा आज से हिंदी के लिए और संरक्षण रहा ब्रजभाषा के लिए। संप्रेषण हिंदी का और सर्वेक्षण ब्रजभाषा का। इस तरह प्रयाग पहुंचते-पहुंचते ही ब्रज की कलित कालिंदी राष्ट्रभाषा की पावन गंगा में स्वेच्छा से समाहित हो चुकी थी। पूर्वजों के ऐसे ऐतिहासिक समझौते और शुद्ध संकल्प को हम तोड़ेंगे नहीं। माना कि ब्रज हमारे रोम-रोम में बसा है, चित्त पर चढ़ा है और उसके साहित्य की सुघराई तथा ब्रज की लुनाई हम पर ऐसी छाई है कि "मन ह्वै जात अजौं वहै कालिंदी के तीर।" जैसे-जैसे हम ब्रज-रस में पैठते हैं, उसकी चन्द्र सरोवर में अवगाहन करते हैं, गोवर्द्धन गिरिराज महाराज की परिक्रमा देते हैं, ब्रज-साहित्य का अवलोकन करते हैं, उसके स्वर्णिम अतीत में झांकते हैं तो मन वृंदावन हो जाता है। मथुरा मनोहर लगने लगती है। गोकुल, नंदगांव, बरसाना, परम रासस्थली अर्थात् वृंदावन का परमानंद और महारास हमारी मनोभूमि पर अवतरित हो जाता है। बांसुरिया बज उठती है। मोर नाचने लगते हैं। कोकिलें कूकने लगती हैं। यमुना लहर-लहर हो जाती है। धौरी-धूमर और काजर गायें कहीं हूकती और कहीं हूलती दिखाई देती हैं, तो कहीं बछिया-बच्छे उछल-कूद मचाते मिलते हैं। तरु, लता, गुल्म, कुंज और कुटीर, सर-सरोवर, मंदिर-मठ, टीले, स्तूप, हरीभरी छोटी-छोटी पहाड़ियां, कोरे और भोरे ग्वाल तथा गोरी और चिरकिशोरी गोपियां एवं उनके सर्वस्व युगल प्रिया-प्रियतम राधाकृष्ण हमारे मन के हिंडोले पर ऐसे झूलने लगते हैं कि जैसे महाकवि देव कह रहे हों—"झूलत है हियरा हरि कौ, हिय मांहि तिहारे हरां के हिंडोरे।"

ब्रज ससीम नहीं, असीम

लोग ब्रज को सीमाओं में बांधते हैं कि गोकुल ही ब्रज है। कोई कहते हैं नहीं, वृंदावन ही ब्रज है। कोई गिरि गोवर्द्धन की तलहटी में बसे हुए गांवों को, यानी जहां-जहां से गोवर्द्धन दिखाई देता है, ब्रज बताते हैं। कोई कहते हैं ब्रज चौरासी कोस में फैला हुआ है–"ब्रज चौरासी कोस में चार गाम निज धाम। वृंदावन अरु मधुपुरी, बरसानौ नंदगाम।।" कुछ का मानना है कि ब्रज मथुरा जनपद तक ही सीमित नहीं है। ब्रजभाषा जहां-जहां बोली जाती है, ब्रज की व्यापकता की परिधि वहीं-वहीं तक जानिए। अर्थात् अलीगढ़, आगरा, एटा, इटावा मैनपुरी आदि इधर और धौलपुर, ग्वालियर बुंदेलखंड, झांसी तक उधर, फिर डीग, भरतपुर, बयाना, करौली, अलवर आदि जिलों में भी तो ब्रजभाषा और ब्रज-भावना की लटक पूरी तरह विद्यमान है। कुछ इस वृहत्तर ब्रज से भी संतुष्ट नहीं हैं। वे कहते हैं कि कृष्ण की रसमयी लीलाभूमि ही नहीं, जहां-जहां से कृष्ण का रथ गुजरा है, जहां वह बसे हैं और जहां-जहां तक उनकी गीता का संदेश है, वह सब ब्रज ही है। अर्थात्, ब्रज ससीम नहीं, असीम है। वह नयन-पथगामी भी है और पलक-कपाट लगाने के बाद भावुकों के भावना-जगत में भी अखंड रूप से विद्यमान है।

भारत में ब्रजभाषा कहां नहीं रची गई ? कहां बोली और समझी नहीं गई ? भारत के किस क्षेत्र ने अपने को ब्रजमय अनुभव नहीं किया ? कहां के आध्यात्मिक आचार्यों ने यह स्वीकार नहीं किया कि ब्रज के अवतारी महापुरुष ही कृष्णस्तु भगवान स्वयं ? इस मान्यता पर आगे बढ़ें तो एशिया में महाभारत की कथाओं के रूप में और शेष विश्व में हरे राम-हरे कृष्ण आंदोलन के रूप में ब्रज दुनिया के किस छोर में व्याप्त नहीं है ? इस व्यापकता का रहस्य क्या है ? इस पर कुछ विचार करें।

भारत मां का हृदय

भौगोलिक दृष्टि से देखें तो ब्रज भारत का हृदयस्थल है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो भारत की दो-दो राजधानियों दिल्ली और आगरा के बीच में अवस्थित मुख्य ब्रज भारत की कर्मस्थली, योगस्थली, भक्तिस्थली, साधनास्थली ही नहीं, रंगस्थली और शक्तिस्थली भी रहा है। ज्ञात इतिहास में जितने व्यापक स्तरों पर भांति-भांति के द्वंद्व, युद्ध, जय-पराजय, उत्थान-पतन और विनाश एवं निर्माण के जितने विविध आयामों से यह ब्रज गुजरा है तथा बिगड़-बिगड़कर बना है और आज की अभावग्रस्त परिस्थितियों में भी अपने अस्तित्व को बनाए रखकर सिर ऊंचा करके खड़ा हुआ है, उसे कौन भूल सकता है ? उसे कैसे भुलाया जा सकता है ? ब्रज भारत की महत्ता का, राष्ट्र की सांस्कृतिक एकता का, साहित्य का, कला का और आध्यात्मिकता का प्रतीक है। भारत माता का हृदय है न ! इसके स्पंदनों से ही संपूर्ण राष्ट्र में शुद्ध रक्त का, अजस्र ऊर्जा का और दिव्यता का अंखड रस प्रवाहित हुआ है। पूंछो दक्षिण के आचार्यों से। महाराष्ट्र के संतों से। गुजरात के आवाल-वृद्ध नर-नारियों से। गिरिधर गोपाल के रंग में रंगे मीरा के प्रदेश राजस्थान से। गुरुओं के प्रदेश पंजाब से। वैष्णो देवी की भूमि जम्मू-कश्मीर से। "भज

गोविंदम्। भज गोविंदम्।।" के गायक आदि शंकराचार्य के प्रदेश केरल से। राधाकुंड और गोवर्द्धन में अपनी इहलीला समाप्त करनेवाले उड़ीसावासियों से। ब्रज-बुलि में रचना करनेवाले पूर्वांचल प्रदेशों से। ब्रज का ग्वालवाल बनने की कामना करनेवाले विश्ववंद्य कवींद्र रवींद्र से। महाकवि सुब्रह्मण्यम भारती से। महारास को अपना महाप्राण अनुभव करनेवाले मणिपुर के लोगों से। और किससे नहीं ? सभी यह कहते सुने जाएंगे-"मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।"

जब से हड़प्पा और मोहनजोदड़ो तथा सिंधुघाटी की सभ्यता की खोज का सिलसिला प्रारंभ हुआ है, तब से पुरातत्त्ववेत्ताओं का ध्यान ब्रज के भग्नावशेषों, चैत्यों, स्तूपों, टीलों, प्राप्त मूर्तियों पर भी गया है। फलस्वरूप उत्खनन पर उत्खनन की श्रृंखलाओं से प्राप्त प्रागैतिहासिक सामग्रियां यह सिद्ध करती जाती हैं कि भारत की केंद्रीय संस्कृति और इतिहास के जितने अनूठे रत्न ब्रज-वसुंधरा में छिपे हैं, उतने भारत में कदाचित् कहीं नहीं। पूछो ह्वेनसांग से। जानो फाह्यान से। मुगलकाल में बादशाहों द्वारा लिखी या लिखवाई गई तवारीखों से। जानो ग्राउस क्या कहता है ? ग्रियर्सन क्या कह गए हैं ? और कुछ नहीं तो प्राचीन ब्रज-वैभव के दर्शन के लिए एक बार मथुरा के पुरातात्त्विक संग्रहालय में मत्था अवश्य टेक लीजिए। ब्रज की कला और संस्कृति की उपलब्धियों की एक छोटी-सी मनोहर झांकी से ही आपका मन गौरवान्वित और तृप्त हो जाएगा। यह तो प्रथम चरण है, शुभारंभ है। उत्खनन, अन्वेषण और अनुशीलन होता रहे तो ब्रज की सांस्कृतिक धरोहर के ऐसे चार संग्रहालय और स्थापित किए जा सकते हैं, जो निश्चय ही कालांतर में यह सिद्ध करने में समर्थ होंगे कि भारतीय सभ्यता, संस्कृति, इतिहास और कलाओं का केंद्र पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण से अधिक वास्तविक रूप में ब्रजभूमि में ही अवस्थित था और है।

वैदिक अवधारणा के अनुसार ब्रज गोलोक रहा है। यहां के लंबे-लंबे सीगोंवाली पुष्ट गायों, गोचर भूमि और मनोरम प्राकृतिक छटा को देखने के लिए देवता भी तरसते थे। वैष्णवों के मतानुसार भी ब्रज भूतल पर गोलोकधाम है। मथुरा बैकुंठपुरी है। गोपियां वेदों की ऋचाएं हैं। ग्वालवाल बैकुंठनाथ के पार्षदों के रूप में यहां अवतरित हुए थे। राजनीतिक दृष्टि से देखें तो पश्चिम की ओर से आनेवाले आक्रांताओं ने जब तक दिल्ली और आगरा अर्थात् ब्रज क्षेत्र पर फतहयाबी हासिल नहीं कर ली, तब तक वे जहांपनाह, शहंशाह और अकबर नहीं बन पाए। डच, पुर्तगाली और फ्रांसीसी छोटे-छोटे क्षेत्रों पर कब्जा करके बैठ गए और ब्रज की ओर नहीं बढ़े तो उन्हें महत्त्व नहीं मिला। अंग्रेज भी जब तक कलकत्ता को राजधानी बनाए रहे, भारत के शासक नहीं हो सके। ब्रज को कब्जाकर ही जब उन्होंने दिल्ली तख्त को कायम किया, तभी उन्हें भारतेंदु का आशीर्वाद प्राप्त हुआ-"पूरी अमी की कटोरिया-सी चिरजीवी रहो विक्टोरिया रानी।" तभी रवींद्रनाथ ठाकुर ने ब्रिटिश सम्राट की स्तुति में वह गीत गाया जो आज भारत का राष्ट्रगान बना हुआ है-"जन-गण-मन अधिनायक जय हे, भारत भाग्य विधाता।"

ब्रज एक भावलोक

क्यों भारत का जन-गण-मन ब्रज-वसुंधरा की ओर आकृष्ट हुआ ? क्यों शताब्दियों तक ब्रजभाषा भारत की साहित्यिक भाषा रही ? क्यों भारत के लाखों-लाखों लोग प्रतिवर्ष ब्रज की ओर अनंत कष्ट और असुविधाएं झेलकर भी दौड़ते हैं ? क्यों प्रदूषण से युक्त यमुना और कुंड-सरोवरों में आचमन और स्नान करके अपने को धन्य मानते हैं ? ब्रज-रज जहां अब कहने को ही बची है, क्यों उसमें लेट-लेटकर गिरिराज गोवर्द्धन की सात कोस की दंडौती परिक्रमा करते हैं ? क्यों गर्मियों में छोटे से नाले की तरह बहनेवाली यमुना के संबंध में कहते हैं–"तेरौ दरस मोहे भावै श्रीयमुने ?" क्यों लिखा वल्लभाचार्य ने 'यमुनाष्टक'–"नमामि यमुनामहम सकल सिद्धि हेतुम् मुदा" ? क्यों एक छोटी-सी पहाड़ी को लोग गिरिराज महाराज कहते हैं ? क्यों "बोलत हेला, बचनंत गारी" के लिए प्रसिद्ध ब्रजवासियों को कहा गया–"ब्रज के परम सनेही लोग" ? धर्म की दुकानों पर लुटते-पिटते और आज के यथार्थ से सुपरिचित व्यक्तियों की भी यही आकांक्षा है–"एहो विधिना तोपै अंचरा पसारकर मांगत हौं, जनम-जनम दीजो मोहि याही ब्रज बसिबौ।" क्यों रसखान नंद की गायें बनना चाहते हैं ? क्यों पंछी बनकर ब्रज के वृक्षों पर बसेरा करने की कामना करते हैं ? यदि पत्थर भी बनना पड़े तो उनकी प्रार्थना है कि गिरि गोवर्द्धन की शिला ही उन्हें बनाया जाए ? क्या ये मात्र पद्य या गीत हैं ? केवल कविता कहेंगे इन्हें ? नहीं, यह ब्रज का भावलोक है। इसका भूगोल, इतिहास, राजनीति और भौतिकता से कोई संबंध नहीं, रसिकों और भक्तों के हृदय में ब्रज आनंदधाम के रूप में अवस्थित है। इस आनंदधाम में ही उनके सच्चिदानंद आनंदकंद श्री कृष्णचंद्र अहर्निश निवास करते हैं। अनहद नाद की तरह उनकी मनोहर मुरलिया मन-प्राण में गूंजा करती है। नयनों में उन्हीं की छवि छाई रहती है। गाते हैं–"बसो मेरे नैनन में नंदलाल।" या "मेरे तो गिरिधर गुपाल, दूसरो न कोई।" सूरदास इसी अद्वैत भाव को आंतरिक आस्था से अभिव्यक्त करते हुए इस तरह कहते हैं–"ऊधो, मन न भए दस-बीस। एक हुतौ सो गयौ स्याम संग, को आराधै ईस ?" वैष्णव आचार्य लिख गए हैं–"कृष्णएव गतिर्मम" और वल्लभाचार्य गीता के अंतिम श्लोक–"यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः। तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।" के आधार पर अपने अनुयायियों को मंत्र देते हैं–"श्रीकृष्ण शरणम् मम।" इस तरह ब्रज की गीता ही श्रीकृष्ण के उपदेश के रूप में सर्वमान्य सर्व धर्म-ग्रंथ बन गई है।

ब्रज को जानना है, तो श्रीकृष्ण को जानना ही पड़ेगा। गोपालक के रूप में सही। कृषि के उन्नायक के रूप में सही। ब्रज के लोकनायक के रूप में ही सही। ललित लीलाधर के रूप में ही सही। आततताइयों के संहारक के रूप में ही सही। राष्ट्र को समृद्धि के शिखर पर पहुंचानेवाले द्वारावती के संस्थापक के रूप में ही सही। भारत की केंद्रीय सत्ता में धर्मराज को स्थापित करनेवाले के रूप में ही सही। परम आसक्ति और चरम निरासक्ति को अपने दोनों हाथों में धारण करनेवाले नर-नारायण के रूप में ही सही। महापुरुष और महानेता ही सही। भगवान ही सही। श्रीकृष्ण के बिना ब्रज के मानस

में प्रविष्ट होने की कोई अन्य राह ही नहीं है। जिज्ञासुओं को, चाहे वे नास्तिक हों या आस्तिक, ब्रज-तत्त्व को जानने के लिए श्रीकृष्ण की शरण में जाना ही होगा।

ब्रज का संदेश

क्या है श्रीकृष्ण के रूप में ब्रज का संदेश ? चिदानंद। कर्म के प्रति आसक्त होते हुए भी निरासक्ति का शाश्वत भाव। रूप, माधुर्य, स्नेह और संयोग में से गुजरते हुए चिरविरह की लालसा। यह विरह ही योग है। यह विरह ही भक्ति है। यह विरह ही जीवन-दर्शन है। यही साहित्य का शाश्वत सत्य है। यही ब्रज-वल्लभियों और उनकी स्वामिनी राधारानी का सच्चा स्वरूप है। यही भुक्ति के साथ-साथ मुक्ति का मार्ग भी है।

आज के संदर्भ में यदि इस संदेश को और अधिक नामांकित करना चाहें तो है–"चरैवेति चरैवेति"। चलते चलो, बढ़ते चलो ! क्योंकि यही जीवन की गति है, प्रगति है। बिना थके चलो। आनंद के साथ बढ़ो। परम आनंद की ओर बढ़ो। श्रीकृष्ण का जीवनवृत्त यही तो कहता है–जन्म लेते ही मथुरा के कारागार से चल पड़े। बाल्यावस्था से निकलते ही वृंदावन की ओर चल पड़े। तरुणाई आते ही मथुरा की ओर गमन किया। मथुरा में भी नहीं रुके, चल पड़े द्वारावती की ओर। वहां का वैभव भी उन्हें नहीं बांध सका। वह चलते रहे हस्तिनापुर की ओर, इंद्रप्रस्थ की ओर। जहां-जहां व्यथा-पीड़ित पांडवों को जाना पड़ा, उनकी ओर। धर्मराज के अनुज महाबाहु अर्जुन की सहायता के लिए देश-देशांतरों की ओर। यानी महाभारत की ओर। फिर अपने रथ पर बिठाकर अर्जुन को ले चले कौरव-पांडवों की सेना के मध्य की ओर। अपने सखा और भक्त अर्जुन को ले चले विरक्ति से हटाकर योग की ओर। अकर्मण्यता के बोध को नष्ट करके कर्मयोग की ओर। कर्म को ले चले संघर्ष की ओर। यहीं नहीं रुके, ईश्वर की विराट विभुता का दर्शन कराकर ले चले अर्जुन को अपनी, यानी अनंत सत्ता की ओर। पांडवों को चक्रवर्ती राज देकर भी वह उनके पास नहीं रुके। लौट चले द्वारिकापुरी की ओर। धन, वैभव, सुरा और सुंदरियों के जाल में फंसे अहंकारी यादवों को अंत में ले चले विनाश सागर की ओर–चलो आपस में ही लड़ मरो। भौतिक संपत्ति अंत में विनाश का कारण होती है–चलते-चलते कह गए श्रीकृष्ण। ऐसा अद्भुत व्यक्तित्व, ऐसा संपूर्ण कलाओं से युक्त, लोकरंजक, लोकरक्षक और सच्चिदानंद संदोह ब्रज के अतिरिक्त किसी और ने अवतरित किया है ? यही ब्रज का महत्त्व है। यही ब्रज का संदेश है। कहने को बहुत है। क्या-क्या कहें ? कैसे कहें ? यहां तो केवल इतना ही कहते हैं–"कहां लौं कहिए ब्रज की बात।"

ब्रज की ललक

यदि मुझसे कोई सेवा बन पड़ी है तो ब्रज की। ब्रज के माध्यम से धरती माता की। ब्रज-लोकमानस के चरित्र-चित्रण की। ब्रजभाषा के शब्द-सौष्ठव और रस-माधुरी को यथासंभव जन-जन तक पहुंचाने की। ब्रज के अनंत कला-भंडार और भारत की तात्त्विक पहचान के रूप में प्रतिष्ठित उस गरिमा को प्रकाश में लाने की, जिसे जानने और आत्मसात् करने के लिए देशी-विदेशी अध्येता युगों से कार्य करते रहे हैं। इन कार्यों को करने के लिए मैंने कहा भी, लिखा भी। छोटे-बड़े ग्रंथों का संपादन भी किया। स्वयं भी कई पुस्तकें लिखीं। अपने ज्ञानकोश और शोध-सामग्री को मित्रों और विद्वानों को दे-देकर उन्हें विविध विषयों पर लिखने के लिए चौरासी कोस से ही नहीं, वृहत्तर ब्रज से भी कार्यकर्ता जुटाए। छोटे-बड़े संगठन भी स्थापित किए। ब्रज साहित्य मंडल का नाम तो आपने भी सुना होगा। कुछ मित्रों और विद्वानों को एकत्र करके इसकी स्थापना में एक छोटा-सा हाथ मेरा भी है।

परंतु मैं यह सेवा जितनी करना चाहता था, कर नहीं पाया। परिस्थितियां मुझे इधर से उधर भटकाती रहीं। समय के तकाजे मुझे उधर-इधर खींचते ही रहे। रोजी-रोटी की तात्कालिक आवश्यकताओं ने भी मेरी लगन, आस्था और संकल्प को जैसे मैं पूरा करना चाहता था, नहीं करने दिया। ब्रज के पुनरुद्धार की चेतना जगी, परंतु वृहत्तर ब्रज में जो मशालें जलनी चाहिए थीं, नहीं जल पाईं। ब्रज पर घिरी काली घटाएं अभी तक नहीं छंटी हैं। कभी-कभी सोचता हूं कि ब्रज और ब्रज साहित्य मंडल को अपनी जवानी के जो महत्त्वपूर्ण क्षण दिए, वह अकारथ नहीं तो सुकारथ भी नहीं हो पाए। मेरी योजनाएं और मेरे कार्य अधूरे ही रह गए। अब वे कब पूरे होंगे और कौन पूरे करेगा, यही चिंता मुझे जब-तब सताती रहती है।

पहले उन कार्यों का वर्णन करूं जिन्हें मैं कर नहीं पाया। मैं चाहता था कि हबीबुल्ला खां के अप्राप्य 'हजारा' की तरह ब्रजभाषा के चुटीले एक हजार कवित्त-सवैयों का संग्रह

उनके अर्थ-संकेत, टिप्पणियों तथा संदर्भों सहित प्रकाशित कराऊं। कई कापियों में यह छंद संगृहीत भी हुए, पर पूरे नहीं हो पाए। मेरा यह विचार भी था कि हजारा तो हजार लोग भी नहीं पढ़ पाएंगे, एक सर्वोत्कृष्ट सौ छंदों की सरस और सुंदर पुस्तिका तो प्रकाशित हो ही सकती है। वह भी खटाई में पड़ गई। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने मुझसे 'सूरसागर' का व्युत्पत्ति कोश लिखने को कहा था। शब्द छंट गए। चिटों में अकारादि क्रम से लग गए। आगे जो काम होना था, वह नहीं हो पाया। चिटों के बंडल मथुरा में पड़े रह गए। कुछ यमुना की बाढ़ में बह गए और कुछ को दीमक चाट गई। जब मेरे गुरुभाई जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने 'बिहारी सतसई' की टीका प्रकाशित की और उनके अनन्य सखा पं. पद्मसिंह शर्मा ने सतसई के पूरे सात सौ दोहों की विशद व्याख्या की तो मैंने निश्चय किया कि मैं बिहारी सतसई के पूरे सात सौ दोहों की ऐसी टीका लिखूं जिसमें बिहारी के पूर्ववर्ती और परवर्ती कवियों ने सतसई में वर्णित नायिकाओं, अलंकारों, उक्ति-वैचित्र्यों पर जो सरस छंद लिखे हैं, उनका तुलनात्मक विवेचन हो। यह काम मैंने दिल्ली में कई महीनों किया। सतसई के काफी दोहे पूरे कर लिए। प्रयाग के डॉ. रसालजी, कनखल के आचार्य किशोरीदास वाजपेयीजी, दिल्ली के श्री वियोगी हरि आदि विद्वानों ने इस कार्य को पसंद भी किया। परंतु रात-दिन की पत्रकारिता, व्यंग्य-विनोद की लोकप्रियता और दिल्ली के हिंदी साहित्य सम्मेलन ने मुझे ऐसा घेरा कि यह काम भी ठप्प हो गया। मेरे गुलमोहर पार्क स्थित मकान की बुखारी के बस्ते में इसकी कापियां अब भी बंधी पड़ी हैं।

मथुरा के माता गली स्थित मेरे मकान से ग्वाल कवि द्वारा स्थापित महादेव मंदिर और उनकी हवेली कुछ सौ कदमों के फासले पर है। मैंने उस मंदिर के दर्शन किए। उस पर उत्कीर्ण शिलालेख को पढ़ा। कुछ समय पूर्व तक ग्वाल कवि की विधवा बूढ़ी पुत्रवधू इसमें रहती थी। वह तो मुझे नहीं मिली, लेकिन सर्वश्री नवनीत चतुर्वेदी, कन्हैयालाल पोद्दार और जवाहरलाल चतुर्वेदी के निजी पुस्तक भंडारों में मुझे ग्वालजी की ज्ञात और अज्ञात कई बहुमूल्य रचनाओं के दर्शन हुए। मेरे कंठ में भी कवि के अनेक सरस छंद विराजमान थे। सोचा मुझे ग्वाल कवि पर लिखना ही चाहिए। उस समय मथुरा में कई लोग ऐसे थे जो ग्वाल कवि के संबंध में पर्याप्त जानकारी रखते थे। अगर लिख पाता तो ग्वाल के साथ गुपाल भी जुड़ जाता। परंतु "मेरे मन कछु और है, कर्ता के कछु और।"

हिन्दी के प्रथम उपन्यासकार लाला श्रीनिवासदास गुप्त मथुरा के ही थे। बाद में मथुरा के सेठ लक्ष्मीचंद की दिल्ली कोठी के मुख्य व्यवस्थापक बनकर राजधानी आ गए। यहां से उन्होंने एक अखबार भी निकाला। नाटक सहित साहित्य की कई विधाओं में लिखा। उनके परिवार से मेरा अच्छा परिचय था। उनके पौत्र रणछोड़दास अजमेरा, जो बाद में कलकत्ता जाकर बस गए, से मैंने प्रस्ताव किया कि श्रीनिवासदास ग्रंथावली निकलनी चाहिए। उनसे समर्थन और सहयोग प्राप्त होने पर मैंने श्रीनिवासदास की सभी पुस्तकें एकत्र कर लीं। रणछोड़दासजी ने मुझे एक कापी भी दी, जिसमें गुप्तजी पर तत्कालीन देशी-विदेशी साहित्यकारों की सम्मतियां भी थीं। क्योंकि मुझे ग्रंथावली के

प्रकाशन हेतु अर्थव्यवस्था की गारंटी उनके परिवार से मिल गई थी, मैंने बड़ी लगन से ग्रंथावली पर कार्य प्रारंभ कर दिया। लालाजी का समूचा साहित्य पढ़ गया। संशोधन और टिप्पणी लिखने का काम भी साथ-साथ करता गया। श्रीनिवासदासजी के जीवन, साहित्य और तत्कालीन परिवेश पर एक विशद भूमिका भी लिख डाली। उसे टाइप कराकर उनके परिवारियों तथा कुछ विद्वानों से भी पुष्ट करा दिया। लेकिन इसी बीच रणछोड़दासजी का देहांत हो गया। उनके पुत्रों में वह उत्साह नहीं रहा। मेरे हाथ में भी कई काम थे। ग्रंथावली भी अन्य कृतियों की तरह बस्तों में बंध गई।

ये तो हुए साहित्यिक कार्य जो अधूरे रह गए। अब कुछ अन्य कार्यों की अपूर्णता का विवरण भी प्रस्तुत है। वृंदावन के घाटों पर यमुना नहीं आई। मथुरा की यमुना के बीच प्लेटफार्म नहीं बना। मथुरा के होली दरवाजे की तरह घीया मंडी, रामदास की मंडी और वृंदावन दरवाजे पर बुलंद दरवाजे नहीं बने। ब्रज में कदंबखंडियां पुनः आरोपित नहीं हुईं। तमाल-तरु अदृश्य ही रह गए। कुंड-सरोवर निर्मल नहीं हुए। वनों की कटाई और रेगिस्तानों की अवाई को नहीं रोक सका। गोवर्द्धन की उपत्यिका पूरी तरह हरी-हरी और सुरम्य नहीं बन पाई। परासौली में सूरदास का विशाल स्मारक नहीं बन पाया। जमुनामते में कुंभनदास का खिरक देखते-देखते नष्ट हो गया। गोवर्द्धन में नंददास की छतरी अब भी क्षतिग्रस्त पड़ी है। गोवर्द्धन और राधाकुंड के बीच के रास्ते में सुवासित पुष्पावली आरोपित नहीं हुई। मथुरा से लेकर गोवर्द्धन तक और गिरिराज की सप्तकोसी परिक्रमा को मैं बड़े-बड़े छायादार वृक्षों से पुनः आच्छादित करना चाहता था, नहीं कर पाया। मेरे देखते-देखते ब्रज का साहित्य-उपवन उजड़ गया। मेरे श्रमकणों से सींचा गया ब्रज साहित्य मंडल भी नामशेष रह गया। निश्चय ही मेरी सेवा में कोई त्रुटि रही होगी। ब्रज की गरीबी और भिखमंगेपन को दूर करने के लिए मैं इस क्षेत्र को उद्योग, पर्यटन, पर्यावरण और पुरातत्त्व संरक्षण से जोड़ना चाहता था, वह अभी तक तो जुड़ा नहीं, आगे की राम जानें।

प्रिय व्यासजी,

आप मधुमेह से पीड़ित हैं यह जानकर चिंता हुई। मैं जो उपचार बताऊंगा वह तो आप करेंगे नहीं। लेकिन एक महीने तक रात को सोने से पहले साबुत करेला चूस-चबाकर सेवन कीजिएगा। बीमारी बिल्कुल चली जाएगी।

आपका

मोरारजी देसाई

ब्रज-सेवा जो बन पड़ी

मैं मंडल का प्राण अवश्य बना, लेकिन ऐसा प्राण कि जिसे ऑक्सीजन सदैव गुरुजनों, सहयोगी मित्र-मंडली और ब्रज के अनेक उत्साही कार्यकर्त्ताओं से प्राप्त हुई। इसके बिना प्राण रहते ही नहीं। सच तो यह है कि मैं तो निमित्त मात्र था। मंडल को बनाने में, उठाने में बीसियों-पच्चीसियों हाथ लगे हैं। यह मेरे साथियों का बड़प्पन है कि उन्होंने स्वयं को पीछे रखकर मुझ श्रेयस्कर बना दिया। उन्हीं के कार्यों से मैंने ऊर्जा प्राप्त की। अभावों और अवरोधों को पार किया। जन और धन जुटाए। इस लेख में आगे जिन कार्यों और उपलब्धियों का जिक्र मैं करूंगा, उसमें से कृपया आप मैं शब्द को बाद कर दें। अब आगे पढ़ें–

मैंने ब्रज साहित्य मंडल के अधिवेशन और उत्सव किए भी और कराए भी। यह सोचकर कि कभी-कभी इनका होना भी आवश्यक है। लोग जुड़ते हैं। विचार मिलते हैं। कार्यकर्त्ताओं में नया जोश आता है। लोग गर्व का अनुभव करते हैं कि वे अध्यक्ष हैं, मंत्री हैं, कार्यसमिति और स्थायी समिति के सदस्य है, छाती पर बिल्ला है और मंच पर बैठने की सुविधा है। उन्हें देखकर दूसरों को भी प्रेरणा मिलती है। परंतु जहां मैं विनीत कार्यकर्त्ता हूं, वहां मुझमें तानाशाही की बू भी कम नहीं। जिससे पटरी नहीं बैठी, उसे निकाल बाहर किया। जो कब्जा करने आते थे, वे बेदखल होकर जाते थे। जो काम के और दाम के थे, होता रहे विरोध, उन्हें मैंने साथ ले लिया। जिसने गबन किया, उसे हवन में झोंक दिया। जो पार्टीबंदी करने लगा था, उसे बंदी तो नहीं बना सका, लेकिन निष्कासित अवश्य कर दिया। कहते रहें लोग इसे स्वेच्छाचारिता, लेकिन मैंने सदैव ऐसी मंडली का गठन किया है जो एकजुट होकर काम कर सके और अनुशासन में रहे। मेरे इस व्यावहारिक कौशल के कारण लोग दुःखी भी हुए, निराश भी हुए और उदासीन भी हो गए, लेकिन मंडल का कार्य मेरे जमाने में सुव्यवस्थित रूप से आगे बढ़ता ही गया। घरों से निकलकर मंडल का अपना दफ्तर बना। हिसाब-किताब बाकायदा जमने

लगा। कार्यालय अधीक्षक के रूप में श्री रामनारायण अग्रवाल को मिलिट्री एकाउन्ट्स की पक्की नौकरी से हटाकर मंडल में प्रतिष्ठित कर दिया। पं. क्षेत्रपाल के सुपुत्र श्री विश्वपाल शर्मा से धन की व्यवस्था करके 'ब्रज भारती' पत्रिका निकाली। पं. जवाहरलाल चतुर्वेदी को इसका संपादक बनाया। हिंदी की शोध-पत्रिकाओं में 'ब्रज भारती' ने अपना विशिष्ट स्थान बनाया। मंडल की शाखाएं ब्रज के कई नगरों में स्थापित कीं। गोष्ठियां, जयंतियां और ऋतुपर्व मनाए जाने लगे। ये गोष्ठियां घरों में ही नहीं, यमुना की नौकाओं में भी गीत-संगीत और काव्यपाठ के साथ हुआ करती थीं। कुछ दिनों तक श्री बरसानेलाल चतुर्वेदी भी इसके संयोजक रहे। जब सिद्धेश्वरनाथ श्रीवास्तव मंडल के प्रचार मंत्री बने तो इन्होंने मंडल के कई केन्द्र बनाए और बाद में मंडल से ही प्रेरणा प्राप्त करके रुनकता (आगरा) में अपने सद्प्रयत्नों से सूर स्मारक की स्थापना की। मेरे समय में जो उल्लेखनीय कार्य हुए, उनमें से कुछ ये हैं–

1. सूर-जयंती–सूरदासजी की जन्मतिथि घोषित की और देशभर में सूर-जयंती वैशाख शुक्ल पंचमी को मनाने के लिए व्यापक आंदोलन किया। देश की अनेक संस्थाओं द्वारा उसी दिन से सूर-जयंती मनाई जाती है। डॉ. वासुदेवशरणजी की देखरेख में श्री रमेश 'साथी' से सूरदासजी का प्रामाणिक तैलचित्र बनवाया। इस चित्र को आज सार्वदेशिक मान्यता प्राप्त हो गई है। मथुरा में तो सूर जयंती के आयोजन पूरी भव्यता से हुए। इस अवसर पर भारत सरकार ने सूरदासजी पर डाक टिकट भी जारी किया। प्रमुख हिंदी-पत्रों ने सूर-विशेषांक निकाले। सूर-जयंतियों में टंडनजी भी आए और बाबू जगजीवनराम भी। बाद में साहित्यकारों और राजनेताओं का तांता ही लग गया, जो अब तक चल रहा है।

2. सूर-स्थलों का जीर्णोद्धार–सूर के जन्मस्थान सीही का पता लगाया। वहां साहित्यकारों की मंडली लेकर गया। अनुमान से सोचा कि यही जगह हो सकती है जहां सूर ने जन्म लिया होगा। वहां स्मारक भवन, सभागार आदि बने। श्री धर्मवीर वशिष्ठ ने इस कार्य में बड़ा सहयोग दिया। अब वहां प्रतिवर्ष बड़े उत्साह से सूर-जयंती मनाई जाती है। रुनकता में जो सूर-स्मारक बना, उसकी बात पहले लिख चुका हूं। सूरदासजी के अंतिम कई वर्ष गोवर्द्धन के निकट परासौली ग्राम में व्यतीत हुए थे। यहीं पर 'सूर सागर' के अनेक पद रचे गए। वहां उनकी एक छोटी-सी कुटिया सूरकुटी के नाम से जानी जाती थी। जब डॉ. संपूर्णानंद उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री थे, तब उनसे मिला और सूरकुटी का और सूर-चबूतरे का जीर्णोद्धार हुआ। एक स्मारक-शिला भी वहां पर स्थापित हो गई।

3. सूर-साहित्य संगोष्ठी–जब मैं मंडल का कार्यवाहक अध्यक्ष था, तब मैंने सूर-साहित्य के संकलन, शोध और उसके प्रामाणिक प्रकाशन का कार्य करने के लिए विद्वानों की एक परिषद बुलाई। इस परिषद में लखनऊ से डॉ. माताप्रसाद गुप्त, अलीगढ़ से डॉ. हरिवंशलाल शर्मा, आगरा से प्रो. हरिहरनाथ टंडन और डॉ. टीकम सिंह तोमर, दिल्ली से डॉ. नगेन्द्र तथा डॉ. विजयेन्द्र स्नातक उपस्थित हुए। इस परिषद से पूर्व दिल्ली से अर्थव्यवस्था करके श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी की 'सूर-साहित्य सामग्री' पुस्तक भी

प्रकाशित कराई। डॉ. सत्येन्द्र के संयोजन में परिषद ने लिखित रूप में सूर-साहित्य संबंधी योजना प्रस्तुत की। तीन दिन के गंभीर विचार-विमर्श के बाद एक सेमीनार में मेरे द्वारा प्रस्तुत एक प्रस्ताव स्वीकार हुआ कि सूर-साहित्य की प्रकाशित और अप्रकाशित पुस्तकों के लिए एक पुस्तकालय, शोध के लिए एक केन्द्र तथा नए क्रम से सूर-साहित्य के कई जिल्दों में प्रकाशन की व्यवस्था की जाए। लगभग पांच लाख रुपये का व्यय अनुमानित किया गया। परंतु मंडल में विग्रह हो जाने के कारण यह योजना खटाई में पड़ गई।

4. पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ–जब यह ग्रंथ निकला, उन दिनों श्री रामनारायण अग्रवाल मंडल के प्रधानमंत्री थे। उनके शब्दों में–"हिंदी में अनेक अभिनंदन ग्रंथ निकले, लेकिन श्री कन्हैयालाल पोद्दार को भेंट किया गया मंडल का अभिनंदन ग्रंथ सबमें विशिष्ट है। इस ग्रंथ के संपादन और व्यवस्था में व्यासजी ने पूरे तीन वर्ष तक जो योग दिया, उसे भुलाया नहीं जा सकता। वह उसके लिए बार-बार कलकत्ता और बंबई गए। उन्हें नवीनजी और वासुदेवशरणजी अग्रवाल का सहयोग और समर्थन प्राप्त था। सेठजी के पुत्रों सर्वश्री रामनिवास पोद्दार और मदनगोपाल पोद्दार का आर्थिक सहयोग प्राप्त करने में वह सफल हो गए। इस अवसर पर कलकत्ता में जो मंडल का अधिवेशन हुआ, उसकी व्यवस्था के लिए व्यासजी नवीनजी के साथ पंद्रह दिन तक कलकत्ता जाकर जम गए। नवीनजी उन दिनों मंडल के सभापति थे और मैं प्रधानमंत्री था, इसलिए मैंने निकट से उनके इस कार्य को देखा है और जानता हूं कि यह व्यासजी ही थे, जिनकी सामर्थ्य ने पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ को साकार कर दिया। मंडल के समस्त कार्यों को एक तरफ करके अगर पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ को ही रहने दिया जाए तो वह काफी वजनी और मूल्यवान सिद्ध होगा।"

इस ग्रंथ को प्रकाशित करने का संकल्प 26 जनवरी, 1947 को किया गया। इसकी तैयारी में छह वर्ष लगे। पोद्दारजी को यह ग्रंथ उनकी हीरक जयंती के अवसर पर अक्षय तृतीया संवत को कलकत्ते में राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन द्वारा भेंट किया गया। अभिनंदन समारोह के अध्यक्ष भारत के प्रमुख भाषा-विज्ञानी डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या थे। इसकी सुंदर छपाई और प्रूफ आदि देखने का कार्य श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी ने कलकत्ता में रहकर ही किया। देश के प्रमुख कला-मर्मज्ञ और चित्रकार श्री जगन्नाथ अहिवासी ने इसके लिए चित्र और अलंकरण बनाए। 1054 पृष्ठ के इस ग्रंथ में पोद्दारजी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर केवल 72 पृष्ठ हैं। इसकी अधिकांश सामग्री का संकलन-संपादन इन पंक्तियों के लेखक ने किया। इसे अंतिम रूप डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने दिया। इस ग्रंथ की ख्याति 'ब्रज-संस्कृति के प्रथम विश्वकोश' के रूप में हुई। इस कार्य में मैं आदि से अंत तक लगा रहा। इस ग्रंथ में बहुत से विषय और लेख आने से रह गए। जब यह ग्रंथ अप्राप्य हो गया, तब मैंने ब्रज के सांस्कृतिक ज्ञानकोश के रूप में 'ब्रज विभव' ग्रंथ पंद्रह वर्षों की तैयारी के पश्चात् संपादित करके दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित कराया। ईसे 'पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ' का पूरक कह सकते हैं।

5. ब्रज भारती–ब्रज के सांस्कृतिक, साहित्यिक और शोध कार्यों के लिए मेरे

कार्यकाल में 'ब्रज भारती' नामक पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। हिंदी की शोध-पत्रिकाओं में इसने बहुत शीघ्र ही अपना विशिष्ट स्थान बना लिया। प्रारंभ में श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी ने इसके संपादन का दायित्व संभाला। ब्रज साहित्य संबंधी उनके भरपूर ज्ञान का लाभ 'ब्रज भारती' को मिला। अज्ञात लेखकों और ग्रंथों को प्रकाश में लाया गया। मैं भी इस कार्य में चतुर्वेदीजी का यथासंभव हाथ बंटाता रहा। बाद में डॉ. कृष्णदत्त वाजपेयी, डॉ. भगवानसहाय पचौरी, श्री वृंदावनदास और श्री शरणबिहारी गोस्वामी के ऊपर ये दायित्व आते रहे। प्रारंभ में श्री विश्वपाल शर्मा ने मेरे अनुरोध पर इसके प्रकाशन का व्यय-भार स्वीकार करने की कृपा की। जब तक वह यह भार उठाते रहे, पत्रिका नियमित निकलती रही। लेकिन बाद में यह समय-समय पर अनियमित होती गई। कभी इसका स्तर घटता रहा, कभी बढ़ता रहा। लेकिन 'ब्रज भारती' ने ब्रज साहित्य की शोध में, समीक्षा में, ब्रज के साहित्य और सांस्कृतिक महत्त्व के प्रकाशन में जो सहयोग दिया है, उसे कभी भुलाया नहीं जा सकता।

6. चल-अचल संपत्ति–ब्रज साहित्य मंडल प्रारंभ में पांच-पांच, दस-दस रुपयों के आपसी चंदों द्वारा चलाया गया। न इसका विधिवत् कहीं दफ्तर था और न आवश्यक कागज-पत्र तथा उनका रख-रखाव। जब मैंने विधिवत् मंडल का प्रधानमंत्रित्व स्वीकार किया तो किराए पर जगह लेकर दफ्तर बनाया। मिलिट्री एकाउंट्स की पक्की और पेंशनवाली नौकरी छुड़वाकर श्री रामनारायण अग्रवाल को दफ्तर में बिठाया। दफ्तर दफ्तर की तरह चलने लगा और विधिवत् हिसाब रखा जाने लगा। फिर अंबरीष टीले का अधिग्रहण कराया गया। मंडल का भवन बनाने के लिए उसका शिलान्यास श्री गोविंदवल्लभ पंत से कराया। चहारदीवारी बनाने के लिए सामग्री एकत्र की गई। परंतु टीले की खुदाई और उस पर बने हुए एक साधु महाराज के मंदिर से व्यवधान पैदा हो गया। ब्रज के लुटेरे एक-एक करके ईंटों को ले उड़े। सेठ भगवानदास के द्वारा जो बहुमूल्य पंचरत्न भूगर्भ में प्रतिष्ठित किए गए थे, वे भी गायब हो गए। मैं दिल्ली चला आया था, पीछे से मंडल के लोग न इसकी रखवाली कर सके और न इसे बनवा सके।

मंडल के एक से एक बढ़कर ख्यातिनामा व्यक्ति अध्यक्ष रहे हैं। लेकिन भरतपुर के रहनेवाले और भारत के केन्द्रीय मंत्री श्री राजबहादुर जैसा कर्मठ अध्यक्ष कोई नहीं रहा। वे मेरे अभिन्न मित्र थे। मैंने उनके सहयोग से मुरसान राजा के महल को अधिग्रहीत करवाया। राजबहादुरजी ने ही इसके लिए धन का प्रबंध बंबई के अपने मित्रों से किया। इस विशाल महल की सफाई और मरम्मत कराई। जो लोग इसमे जमे थे, उन्हें हटाया। कीमती फर्नीचर, पुस्तकालय और हस्तलिखित पांडुलिपियों का संग्रह इसमें रखा। इसमें सैंया चाचा के सुपुत्र श्री चुन्नीलाल 'शेष' ने बड़ा सहयोग दिया। राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने इस भवन का उद्घाटन किया। कुछ रुपया बच गया था। वह मथुरा के जिलाधीश के पास जमा करा दिया गया। सोचा अब ब्रज साहित्य मंडल का वर्चस्व स्थापित हो गया। अब वास्तविक रूप में अखिल भारतीय स्तर पर मंडल कार्य कर सकेगा।

मंडल के दैनिक खर्चों के लिए मैंने मथुरा की जिला परिषद, नगरपालिका और उत्तर प्रदेश सरकार के अनुदान भी स्वीकृत करा दिए। सोचा कि अब आर्थिक कष्ट

मिट गया। परंतु मथुरा तो तीन लोक से न्यारी है। इस चल-अचल संपत्ति, मंडल की देशव्यापी ख्याति और कार्यक्रमों का बाद में क्या हश्र हुआ, इसे क्या लिखूं ?

7. शोध और संग्रह–मुझे प्रसन्नता है कि मेरे कार्यकाल में शोध, संग्रह और प्रकाशन के कार्य ने भी गति पकड़ी। 'ब्रज भारती' के प्रकाशन के साथ-साथ मेरे कार्यकाल में मंडल ने कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथ भी प्रकाशित किए। उनमें डॉ. सत्येन्द्र की 'ब्रज की लोक कहानियां,' पं. कृष्णदत्त वाजपेयी द्वारा अथक परिश्रम से प्रस्तुत 'ब्रज का इतिहास,' श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी द्वारा लिखित 'सूर-साहित्य सामग्री' तथा श्री रामनारायण अग्रवाल द्वारा हस्तलिखित ग्रंथों पर महत्त्वपूर्ण शोध रिपोर्ट विशेष उल्लेखनीय हैं। ब्रज लोक साहित्य का महत्त्वपूर्ण संग्रह कराया गया। अष्टछाप के कवियों के स्थलों की खोज और करहला की कदमखंडी को काटे जाने से रोकने के प्रयास भी किए गए। अपनी प्रेरणा या प्रोत्साहन कहूं या उनकी लगन, परिश्रम या अध्यवसाय कहूं, ब्रज-साहित्य मंडल से संबद्ध अनेक विद्वानों ने ब्रज साहित्य की श्रीवृद्धि में आगे चलकर उल्लेखनीय योगदान दिया। इनमें डॉ. कृष्णदत्त वाजपेयी, डॉ. हरिवंशलाल शर्मा, डॉ. गोपालदत्त शर्मा, डॉ. अंबाप्रसाद 'सुमन', डॉ. गोवर्द्धननाथ शुक्ल, प्रो. हरिहरनाथ टंडन, श्री प्रभुदयाल मीतल, श्री भगवान सहाय पचौरी, श्री चुन्नीलाल 'शेष', श्री शरणबिहारी गोस्वामी, श्री वृंदावन दास और डॉ. राजेन्द्र रंजन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जोशी बाबा पं. राधेश्याम द्विवेदी जो ब्रजर्षि की पदवी से अलंकृत हुए, ने राजनीति से संन्यास लेकर अपना शेष जीवन ब्रज-साहित्य के प्रणयन, संपादन और संकलन के लिए समर्पित कर दिया। अपनी बहुमूल्य ग्रंथ राशि भी जब ब्रज साहित्य मंडल समाप्तप्राय हो गया तो वृंदावन की ब्रज अकादमी को भेंट कर गए। ब्रज साहित्य मंडल से जो चेतना की लहर चली, तो देश के अनेक विद्वानों ने अपनी लेखनी ब्रज साहित्य के लिए समर्पित की। जैसे डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, व्याकरणाचार्य किशोरीदास वाजपेयी आदि। श्री वियोगी हरि तो मंडल के जन्म से पहले ही ब्रज-संपदा के दोहन और लेखन तथा संपादन में प्रवृत्त थे।

अब तो राजस्थान में भी ब्रज साहित्य अकादमी बन गई है। वृंदावन की ब्रज अकादमी ने भी कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित किए हैं। ब्रज साहित्य मंडल से अलग होकर श्री रामनारायण अग्रवाल ने ब्रज कला केन्द्र नामक संस्था स्थापित की है जो साहित्य, कला आदि के साथ-साथ ब्रज के लोकनाट्य को पुनर्जीवित करने में संलग्न है। ब्रजभाषा में कई पत्रिकाएं भी निकलने लगी हैं। अनेक नए-नए लेखक उभरकर सामने आ रहे हैं। इन सबके पीछे ब्रज साहित्य मंडल का प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव ही है।

8. जनपदीय परिषद–ब्रज साहित्य मंडल का हाथरस अधिवेशन हमेशा याद किया जाएगा। प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद इसके उद्घाटन के लिए आए थे। सड़कें बनीं। सफाई हुई। अधिकारियों के ताम-झाम खड़े हुए। भीड़ों के रेले उमड़े। ये सब तो आम बातें हैं। उल्लेखनीय बात यह रही कि उसमें केवल ब्रज के ही नहीं, हिंदी प्रदेशों के अनेक जनपदीय विद्वान और कार्यकर्त्ता भी एकत्र हुए। ब्रज साहित्य मंडल के सभी संस्थापक सदस्य उपस्थित थे। आगरा, अलीगढ़ और दिल्ली से भी बड़ी संख्या में साहित्यकार पहुंचे थे। राजेन्द्र बाबू की घर की भाषा भोजपुरी थी। भोजपुरी के लोगों

को तो आना ही था। पं. बनारसीदास चतुर्वेदी, वासुदेवशरणजी अग्रवाल और श्री जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी के प्रयत्नों के फलस्वरूप जनपदीय परिषद के संगठन का विचार सामने आया। डॉ. सत्येन्द्रजी सहित सभी लोग इस परिषद के गठन के पक्षधर थे। लेकिन ऐसी संस्था का गठन मेरे गले नहीं उतरा। विद्वानों की परिषद में राष्ट्रपतिजी के सामने मैं खड़ा हो गया। कहा–"यह जनपदीय आंदोलन जनपदीय साहित्य, पुरातत्त्व और वहां की विशेषताओं की सुरक्षा के लिए हो। उन्हें प्रकाश में लाए। जो अपनी बोलियों में लोक-काव्य लिखने में रुचि रखते हैं, लिखें। लेकिन हिन्दी-क्षेत्र की बोलियां आपस में बंट जाएं और हिंदी को छोड़कर बोलियों के गद्य प्रचलित होने लगें तो इससे हिंदी की स्थिति कमजोर होगी। इन सभी बोलियों से हिंदी को ऊर्जा प्राप्त हुई है। इनकी शब्द-संपदा और साहित्य हिन्दी की निधि हैं। कृपया इन बोलियों को क्षेत्रीयता में परिवर्तित मत कीजिए। आगे चलकर इसके परिणाम शुभ नहीं होंगे। हिंदी को कमजोर करने के लिए देश तो भाषावार प्रांतों में बंटने जा ही रहा है, कृपया हिंदी को भी उसकी बोलियों में मत बांटिए। क्या तुलसीदास केवल अवधी के होकर रह जाएंगे ? सूरदास को केवल ब्रज तक सीमित बनाना चाहते हो ? ब्रज, अवधी और पंजाबी ही नहीं, उर्दू भी हिंदी की एक शैली है। इन सबके आत्मदान से ही हिंदी विकसित हुई है। क्या दिया हुआ दान कभी वापस लिया जाता है ? पूर्व काल में ब्रज के साहित्यकारों ने पद्य को अपनाकर अपने विकासमान गद्य को हिन्दी के लिए समर्पित कर दिया था। "आगे चलकर पीछे हटिहैं, होइहै जगत में हांसी।" कबीर के इस टुकड़े पर ध्यान दीजिए और ऐसा कुछ मत कीजिए जिससे भावी पीढ़ियां हमारे आचरण पर अंगुली उठा सकें।"

जवानी के दिनों का यह भाषण शायद कुछ जोरदार साबित हुआ। जो मुखर थे, वे मंद हुए। जो विचारक थे, वे सोच में पड़ गए। राजेन्द्र बाबू ने तटस्थता का रुख धारण कर लिया। लेकिन प्रस्ताव दिग्गज साहित्यकारों की ओर से आया था, वह स्वीकृत हो ही गया। परंतु केवल कागज पर। उक्त जनपदीय परिषद न तो ठीक से गठित हुई और न उसने कोई कार्य किया। लेकिन बनारसीदासजी डंडा लेकर जनपदीय आंदोलन के पक्ष में खड़े हुए थे। वासुदेवजी के बौद्धिक विचार उनका मार्गदर्शन कर रहे थे। चतुर्वेदी बंधु टीकमगढ़ से इसका सुनियोजित प्रचार कर रहे थे। उसका असर भी हुआ। कई जनपद जाग्रत हुए। ब्रज में भी ब्रजभाषा में लिखने का आग्रह बढ़ा। राजस्थान ब्रजभाषा अकादमी तो ब्रजभाषा गद्य को बड़ी प्रमुखता देती है। परंतु मैं आज भी यह मानता हूं कि हिंदी क्षेत्र की बोलियों को अपनी अस्मिता की सुरक्षा करते हुए राष्ट्रभाषा के आड़े नहीं आना चाहिए। वह अपने जनपद की कथा हिन्दी में कहें और हिंदी में ही लिखें। जब उर्दू, पंजाबी, तमिल, मलयालम, कन्नड़, बंगला, गुजराती, मराठी आदि की रचनाओं के लिए बाजार नहीं है, उनका उत्कृष्ट साहित्य धड़ाधड़ हिंदी में आ रहा है और उनके कालजयी साहित्यकार प्रतिष्ठित होकर सार्वदेशिक बन रहे हैं तो हिंदी के नक्कारखाने में बोलियों की तूती कौन सुनेगा ? कौन छापेगा ? कौन पढ़ेगा ?

9. मंडल और हिंदी– हिंदी के लिए मुझे ब्रज साहित्य मंडल के अंतरंग संगठन में भी थोड़ा परिश्रम करना पड़ गया। जब मंडल की नियमावली व्यवस्थित रूप से बनी,

उद्देश्य स्थिर किए जाने लगे, तब मैंने उसमें एक धारा जोड़ी–हिंदी का प्रचार करना। इस पर जनपदीय आंदोलन के कुछ समर्थक और कुछ उत्साही ब्रज के साहित्यकार भड़क उठे। कहने लगे–यह ब्रज साहित्य मंडल है या हिन्दी साहित्य मंडल ? हमारा उद्देश्य ब्रजभाषा की उन्नति और प्रचार करना है। मैंने उन्हें समझाया–ब्रजभाषा ही हिंदी है। सूरदास से लेकर रत्नाकर तक सब ब्रजभाषा के साहित्यकार हिंदी के शिरोमणि लेखक हैं। क्या आप इन्हें हिंदी से निकालना चाहते हैं ? या इनकी टीकाएं और शोध प्रबंध ब्रजभाषा में लिखना चाहते हैं ? कौन पढ़ेगा इन्हें ? कौन समझेगा आपके अनगढ़ ब्रजीय गद्य को ? हिंदी गंगा है और ब्रज यमुना। इन्हें अलग-अलग न बहाइए, प्रयाग बनाइए। कार्यसमिति में मेरा बहुमत था ही। पोद्दारजी, वासुदेवजी तथा सत्येन्द्रजी भी मेरे मत का समर्थन करने लगे। नियमावली में हिंदी-प्रचार की धारा जुड़ गई। लेकिन दुर्भाग्य से जैसे आज देश में सर्वत्र पृथकतावाद व्याप्त है, उसने ब्रजभाषा को भी लपेट में ले लिया है। और तो और, सरकारी सूचनाओं के माध्यम आकाशवाणी में भी ब्रजभाषा में बोलने का आग्रह होने लगा है तथा वहां से ब्रजभाषा में वार्ताएं प्रसारित हो रही हैं। सरकार का काम हिंदी का प्रचार करना है, वह तो ठीक से कर नहीं पाती। चली है ब्रज की माधुरी जताने के लिए ! ब्रज के गद्य का विकास करने की ओर ! सरकार की अनेक कुमतियों में एक यह कार्य भी जोड़ लीजिए।

10. आकाशवाणी में– श्री राजबहादुर को मंडल के विग्रही लोगों ने जवाहरलालजी को पत्र लिखकर मंडल का अध्यक्ष पद छोड़ने के लिए विवश कर दिया। मैंने भी कार्यवाहक अध्यक्ष पद से इस्तीफा दे दिया। नवीनजी भी अब मंडल में नहीं रहे। जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी तो पहले से ही पदों से दूर थे। लेकिन हम सब ब्रज मंडल की सेवा और उसकी सर्वांगीण उन्नति के लिए सदैव चिंतित रहते थे। जब मैं आकाशवाणी के दिल्ली केन्द्र की सलाहकार समिति का सदस्य था और राजबहादुरजी सूचना एवं प्रसाण मंत्री थे, तो मैं उनके पीछे लग गया। जगदीशजी भी इस कार्य में प्रवृत्त हुए। परिणामस्वरूप पहले आकाशवाणी के देहाती कार्यक्रम में हरियाणे के साथ ब्रज का प्रवेश हुआ, फिर प्रातः काल 'ब्रजमाधुरी' प्रसारित होने लगी। मथुरा में आकाशवाणी का एक छोटा-सा केन्द्र भी बन गया। अगर राजबहादुरजी के पास यह विभाग नहीं होता तो आज की परिस्थिति में यह कार्य नहीं हो पाता। तब जो हो गया सो हो गया। बहुत अच्छा हुआ। ब्रजांचल में ही नहीं, देश के अन्य भूभागों में भी ब्रज की माधुरी अपना सौरभ बिखेरने लगी। रास, नौटंकी, ब्रज-कथाएं, शोध-वार्ताएं, पदावलियां, लोकगीत और हवेली संगीत गूंजने लगे। सर्वश्री आचार्य बृहस्पति, शरणबिहारी गोस्वामी, रामनारायण अग्रवाल, गोकुलचंद गुसाईं ने आकाशवाणी के ब्रजीय कार्यक्रमों में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। मुझे प्रसन्नता है कि इस दिशा में मेरे द्वारा किए गए प्रयत्न सार्थक सिद्ध हुए।

11. विकासशील भारत के माध्यम से– जब सन् 83 में दैनिक 'विकासशील भारत' का प्रधान संपादक बनकर मैं आगरा गया, तो उस पत्र के सभी साधन मैंने वृहत्तर ब्रज की ओर मोड़ दिए। प्रमुख संवाददाता ब्रज क्षेत्र के, अधिकतर लेखक ब्रज के, शिकायतें ब्रज की दीन-हीन दशा की, योजनाएं ब्रज के विकास की, आंदोलन ब्रज की सर्वांगीण

प्रगति का, पत्र बन गया ब्रजांचल का प्रमुख दैनिक। एक तरह से इस समय ब्रज साहित्य मंडल का कार्य 'विकासशील भारत' ही कर रहा था। इस पत्र से प्रेरित होकर ब्रजवासी अपनी समस्याओं के प्रति संगठित होने लगे। जगह-जगह विकास और सुधार की मांग ने जोर पकड़ा। अपने स्वास्थ्य तथा अन्य कुछ कारणों से मैं इस पत्र में अधिक नहीं रहा। दिल्ली मुझे फिर खींच ले आई। लेकिन फीरोजाबाद जिला बन गया। यमुना पर गोकुल बैराज की नींव पड़ गई। ब्रज में कुछ वृक्षारोपण के कार्य भी हुए। पर्यटकों के लिए आवासगृह बने। मैंने आगरा में दूरदर्शन केन्द्र की मांग की थी, लेकिन वहां अभी तक रिले केन्द्र ही बन पाया है। मुझे शिकायत है कि ब्रज क्षेत्र से निकलनेवाले छोटे और बड़े अखबार दिल्ली के अखबारों की नकल करते हैं और राजनीति उनमें छाई हुई है। ब्रज के प्रमुख पत्रों का ध्यान ब्रज की समस्याओं, साहित्यिक और सांस्कृतिक गतिविधियों की ओर नहीं है। ब्रज में ही क्या, सारे देश के कुओं में भांग पड़ी हुई है।

12. **श्रीकृष्ण-जन्मभूमि**–बहुत-से लोगों को यह पता नहीं कि श्रीकृष्ण-जन्मभूमि के पुनरुद्धार में भी ब्रज साहित्य मंडल ने पहल की है। मस्जिद के पीछे मंदिर की भूगर्भ-वाली शिलाओं पर श्रद्धा-सुमन अर्पित करने की मंडल ने योजना बनाई। निश्चित हुआ कि नंगे पैर, हाथों में पुष्प लिये हुए एक यात्रा श्रीकृष्ण-जन्मभूमि पर जाएगी और पुष्पांजलि अर्पित करेगी। खबर से सरकार चौकन्नी हुई। मथुरा के जिलाधीश हरकत में आए। दिल्ली में मेरी डाक सेंसर होने लगी। सादे कपड़ों में गुप्तचर मेरी देखरेख करने लगे। शिकायत मौलाना आजाद तक पहुंची। देवदास गांधी के कान भरे गए। लेकिन उन्होंने इस बात पर कान नहीं दिए। जब मैं निष्क्रिय नहीं हुआ तो मथुरा के जिलाधीश ने प्रेमपूर्वक बुलाया और कोठी में रोक लिया। कहा–"गृह सचिव से बात करो।" मैंने बात की। उनके अफसराना अंदाज से बात बिगड़ गई। तब श्री गोविंदवल्लभ पंत, जो उस समय उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री थे, से जिलाधीश के फोन पर ही उनसे बातें हुईं। वह मुझे और स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान किए गए मेरे कार्यों को थोड़ा जानते थे। उन्होंने कहा–"आप जैसे व्यक्ति को ऐसे आंदोलनों में शामिल नहीं होना चाहिए। काशी में गड़बड़ चल रही है, वह मथुरा में भी फैल जाएगी।" मैंने उत्तर दिया–"पंतजी महाराज, यह कोई राजनीतिक या सांप्रदायिक आंदोलन नहीं है। ब्रज साहित्य मंडल के लोग निहत्थे अपने कन्हैया की जन्मभूमि पर श्रद्धा के सुमन अर्पित करने जा रहे हैं।" उन्होंने पूछा–"झगड़ा हो गया तो ?" मैंने उत्तर दिया–"सुमन अर्पित करनेवालों द्वारा हो तो जिम्मा मेरा। बाकी लॉ एंड आर्डर आपका और आपकी सरकार का काम है। उसमें मैं दखल नहीं देता।" पंतजी जैसा बुद्धिमान, कुशल राजनीतिज्ञ और श्रद्धासंपन्न व्यक्ति मैंने नहीं देखा। वह मान गए। सारे रास्ते में पुलिस बल तैनात कर दिए गए। पुष्पांजलि कार्य निर्विघ्न संपन्न हुआ। इससे जन्मभूमि के ट्रस्टियों में चेतना जाग्रत हुई और मंदिर तथा भागवत भवन खड़े हो गए। उ. प्र. सरकार वहां प्रतिवर्ष एक प्रदर्शनी भी लगाने लगी। कोई दंगा-फसाद नहीं। आज भी मंदिर-मस्जिद साथ खड़े हैं। कल क्या होगा ? कृष्ण जानें।

13. परिक्रमा का सौंदर्यीकरण–ब्रज में ही नहीं, देश-विदेश के कृष्णभक्तों में गोवर्द्धन पर्वत की बड़ी मान्यता है। प्रतिवर्ष लाखों भक्तजन इसकी सप्तकोसी परिक्रमा करते हैं। कई भक्त तो लेट-लेटकर इसकी दंडौती (दंडवती) परिक्रमा भी देते हैं। परिक्रमा मैंने भी कई बार दी है। लेकिन मिले हैं मार्ग में कंकड़, कांटे, नाली, नाले, कीचड़ और बीहड़। जब कन्हैयालाल माणिक्यलाल मुंशी, जो लेखक और केन्द्रीय मंत्री होने के नाते मेरे परिचित थे, उत्तर प्रदेश के राज्यपाल बने तो मैंने उनसे निवेदन किया कि हे कन्हैयालाल, ब्रज की सुधि लो ! श्रीकृष्ण की यादगार रूप में गोवर्द्धन पर्वत परिक्रमा योग्य नहीं रहा। वनावली नष्ट हो गई हैं। कुंड-सरोवर प्रदूषित हो गए हैं, सूख चले हैं। लाखों परिक्रमार्थियों को बहुत कष्ट पहुंचता है। सुझाव दिया कि मार्ग की सफाई की जाए। पूरे सात कोस में ब्रज-रज बिछाई जाए। गर्मियों में रेत के गर्म होने पर यात्रियों के पैर न झुलसें, इसलिए एक फुटपाथ भी बनाया जाए। पर्वत की तलहटी मे चारों ओर वृक्ष लगाए जाएं। पर्वत के ऊपर पर्वतीय वृक्ष आरोपित किए जाएं। कुंड-सरोवरों की सफाई और मरम्मत हो, आदि। मुंशीजी की कृपा से कुछ काम हुए। विशेषकर गोवर्द्धन पर्वत के एक-चौथाई भाग में सघन वृक्षावली लग गई। कन्हैयालाल वापस द्वारिकापुरीवाले गुजरात में पहुंच गए। काम अधूरे पड़े हैं। होने चाहिए, पर कब होंगे और कौन करेगा ?

14. नाम-परिवर्तन– मुस्लिम शासकों के काल में मथुरा, वृंदावन और परासौली नामक स्थानों का इस्लामीकरण कर दिया गया। मथुरा, वृंदावन में तो ये नाम नहीं चल पाए, लेकिन परासौली को आज भी महमदपुर या मोहम्मदपुर के नाम से जाना जाता है। जबकि इस गांव में न कोई मस्जिद है, न मुसलमान। यह सूरदासजी की साधनास्थली है और कृष्णभक्तों के लिए आदि वृंदावन और परम रासस्थली। सन् 47 से मैं इसका नाम बदलवाने का प्रयत्न कर रहा हूं। अनेक बार केवल परासौली के ही नहीं, आसपास के गांवों के हजारों लोगों के हस्ताक्षर कराके भिजवाए हैं। परगना और जिलाधीशों ने इन पर अनुकूल टिप्पणियां लिखी हैं। विभागीय मंत्रियों और मुख्यमंत्रियों ने आश्वासन भी दिए हैं। लेकिन महमदपुर अभी तक परासौली नहीं बना। इसके लिए मैंने ब्रजवासियों की एक अलग से संस्था भी पंजीकृत कराई है। वह इस दिशा में लगातार प्रयत्न कर रही है। क्या सरकार तभी राजी होगी, जब अयोध्या की तरह इस कार्य के लिए भी उग्र आंदोलन किया जाए ?

15. स्वतंत्र-लेखन–यों तो मैंने 'पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ' जैसे ऐतिहासिक और 'ब्रज विभव' जैसे देश-विदेशों में चर्चित उल्लेखनीय बड़े ग्रंथों का संपादन किया है। लेकिन स्वतंत्र रूप से दो मौलिक पुस्तकों का लेखन भी मुझसे बन पड़ा है। इसमें से प्रथम है–"मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।" इसमें ब्रज की विशेषताओं का सरल और रोचक शैली में प्राचीन तथ्यों और आधुनिक संदर्भों को रूपायित किया गया है। पुस्तक के दो संस्करण अभी तक निकल चुके हैं। इसके कुछ लेखों को कई पत्र-पत्रिकाओं ने छापा भी है। दूसरी पुस्तक कविता में लिखी गई है–'रास-रसामृत'। इसमें मुख्यतः श्रीकृष्ण की रासलीला को संगीतात्मक शैली में छंदबद्ध किया गया है। ब्रजभाषा, मथुरा-महिमा, गोवर्द्धन-गौरव,

वंशीवट आदि विषयों पर भी मेरे नए-पुराने छंद इसमें सम्मिलित हैं। प्रचीन कवियों और लोक में प्रचलित दोहों पर मैंने कुंडलियां भी लिखी हैं। कई प्रकार के छंद इस छोटी-सी पुस्तक में हैं। पुस्तक के अंत में 'कही कृष्ण नैं' के नाम से श्रीकृष्ण के पद्यमय वचनामृत भी हैं। इन वचनामृतों के द्वारा मैंने श्रीकृष्णचंद्र के विषय में फैली भ्रांतियों का भी निराकरण किया है। इस पुस्तक को मुक्तक छंदों का संग्रह भी कहा जा सकता है और इसमें प्रबंधात्मकता भी देखी जा सकती है। मेरी इच्छा ब्रजभाषा में संगीत नृत्यनाटिका लिखने की रही है। लिखते-लिखते क्या बन गई है, इसका निर्णय पाठक करेंगे।

विस्तार-भय से मैं उन छोटी-बड़ी स्मारिकाओं का जिक्र नहीं कर रहा, जिनका संपादन मैंने किया है। न उन लेखों के बारे में लिख रहा हूं जो समय-समय पर देश की प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में ब्रज और ब्रज-साहित्य की झांकी प्रस्तुत करते रहे हैं। न उन शोध-प्रबंधों का उल्लेख करूंगा, जो मेरे द्वारा प्रेरित होकर दसियों विद्वानों ने लिखे हैं। मैंने उनको विषय ही नहीं सुझाए, सिनॉपसिस भी बनाकर दी है और सामग्री भी जुटाई है। जब पूर्वकाल में मैंने अपने गुरुजनों और विद्वतजनों से कुछ लिया है तो मुझे अपने समकालीन लेखकों को भी जो दे सकता हूं, देना ही चाहिए—"दोऊ हाथ उलीचिए यही सयानौ काम।" अथवा यों कहूं कि "खरचे-खरचे ना घटे, बिन खरचे घट जाय।"

ऐसे ही अनेक कार्य हैं। उन्हें कहां तक गिनाऊं ? जो बन पड़ा सो किया। जो रह गया सो रह गया। ब्रज अनंत है। ब्रज-साहित्य अमर है। विद्वान पहले भी हुए हैं, आज भी हैं और आगे भी होंगे। किसी न किसी में भगवान ब्रजेश ब्रज के लिए लगन उत्पन्न करेंगे ही। ब्रज पुनः गौरव-गरिमा को प्राप्त करे। ब्रज-जन सुखी और आनंदमय जीवन व्यतीत करते रहें और कहते रहें—

एहो बिधना, तो पै अंचरा पसार कैं मांगत हौं,
जनम-जनम दीजौ मोहि यौंही ब्रज बसिबौ।

श्री गोपालप्रसादजी व्यास भारतवर्ष के जाने-माने प्रख्यात साहित्यकार एवं राष्ट्रीय भाषा हिन्दी के अनन्य भक्त हैं। उन्होंने अपने जीवन-काल में जहां उत्कृष्ट साहित्य का सृजन कर हिन्दी के साहित्य भंडार को बढ़ाने में योगदान दिया, वहां राष्ट्रीय भाषा हिन्दी की भी अनन्य सेवा की है। ऐसे महान साहित्यकार का 75वां जन्मदिवस मनाना अत्यंत ही सराहनीय कार्य है। मेरे प्रति व्यासजी का गहरा स्नेह रहा है।

मेरी भगवान से प्रार्थना है कि वह व्यासजी को लंबी उम्र प्रदान करे ताकि वो इसी प्रकार साहित्य साधना करते हुए राष्ट्रभाषा हिन्दी की और देश की लंबी अवधि तक सेवा करते रहें।

—बनारसीदास गुप्त

ब्रज साहित्य मंडल

यह उस समय की बात है जब खड़ीबोली राष्ट्रभाषा हिंदी का रूप धारण कर चुकी थी। स्वराज्य के आंदोलन के साथ-साथ स्वभाषा के जागरण के मंत्र भी देश के कोने-कौने में मुखरित होने लगे थे। जनमानस की राष्ट्रभक्ति और हिंदी की सहज बोधगम्यता ने देशवासियों में हिंदी के प्रति गहरी लगन उत्पन्न कर दी थी। गांधीजी द्वारा अपने रचनात्मक कार्यों में हिंदी के प्रचार को शामिल करने तथा दो बार हिंदी साहित्य सम्मेलन का अध्यक्ष बनने के कारण देश में हिन्दी-प्रचार संस्थाओं का जाल बिछ गया था। धुर दक्षिण मद्रास में दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, वर्धा में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति से लेकर हैदराबाद, बंबई, असम और सुदूर पूर्वांचल में गांधीजी के कई निष्ठावान साधक हिन्दी के आजन्म प्रचार के लिए बस गए थे। उन दिनों टंडनजी का हिन्दी साहित्य सम्मेलन भी पूरे उत्स पर था। कांग्रेस की तरह उसके देशव्यापी बड़े-बड़े वार्षिक समारोह हुआ करते थे। गांधीवादी ही नहीं, समाजवादी भी हिंदी के कार्य में बढ़-चढ़कर हिस्सा ले रहे थे। अंग्रेज हटाओ के साथ अंग्रेजी हटाओ का आंदोलन भी जोरों पर था।

अपनी भाषागत विशेषता के कारण ही नहीं, प्राचीनतम के साथ-साथ नवीनतम साहित्य-सर्जना में भी खड़ीबोली इस समय ऊंचाइयों को छू रही थी। प्रसाद, प्रेमचंद, निराला, महादेवी, पंत आदि के साथ-साथ सर्वश्री माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', मैथिलीशरण गुप्त और दिनकर जैसे दिग्गज साहित्य मनीषी हिंदी को सुशोभित कर रहे थे। हिंदी पत्रकारिता भी उस समय शिखर पर थी। हंस, सरस्वती, सुधा, विशाल भारत, कर्मवीर, चांद आदि कई पत्रिकाएं हिंदी के साहित्य गगन में चार चांद लगा रही थीं। सभी विषयों पर ज्ञान-विज्ञान का साहित्य अनुवाद के रूप में ही नहीं, मौलिक रूप में भी प्रकट हो रहा था। 'जय हिंद' के साथ 'जय हिंदी' कहना भी राष्ट्रीय गौरव का प्रतीक बन गया था। उन दिनों ब्रजभाषा और उसका साहित्य अपने में सिमटता जा रहा था। ऐसा कि उसकी आंचलिकता में भी संदेह होने लगा था। खड़ीबोली की नवीनता

ने ब्रजभाषा की प्राचीनता को पीछे धकेल दिया था। हिंदी में धड़ाधड़ लेखन-कार्य चल रहा था। लेकिन ब्रजभाषा के लोग हाथ पर हाथ रखे हुए बैठे थे। न उन्हें नए विषय सूझते थे और न वह देश की प्रगति के साथ कदम से कदम मिलाकर चल पा रहे थे। रत्नाकर और सत्यनारायण के बाद कोई उल्लेखनीय व्यक्तित्व ब्रजभाषा में उभरकर ही नहीं आया। जिस ब्रजभाषा ने कभी संस्कृत की भांति भारत की साहित्यिक भाषा होने का गौरव प्राप्त किया था, वह स्वयं संस्कृत, पालि और अपभ्रंश की तरह लोगों के लिए कठिन और दुरूह होती जा रही थी। ब्रजभाषा की मधुर शब्दावली और उसकी मांसल रसिकता तो मन को आनंदित करती थी, लेकिन वह हिंदीतर तो क्या हिंदीभाषियों की पहुंच से बाहर हो गई थी। समूचा ब्रज-साहित्य उपेक्षा का शिकार बन गया था। न वह पत्र-पत्रिकाओं में छपता था, न सरकारी माध्यमों से प्रसारित होता था। पाठ्यक्रमों से भी कुछ बड़े नामों को छोड़कर शेष बहिष्कृत कर दिए गए थे। यही बात हिंदी साहित्य के इतिहास के लेखन के संबंध में भी कही जा सकती है।

लेकिन देश में ब्रजभाषा और उसके साहित्य के प्रेमियों की कमी नहीं थी। वह धरोहर की तरह ब्रज-माधुरी को संजोए हुए थे। वृहत्तर ब्रज के और विशेषकर ब्रज चौरासी कोस के लोग तो दुःखी ही नहीं, आंदोलित भी थे। जहां विद्वानों के मन में ब्रज-साहित्य के संरक्षण और संपादन की ज्योति जल रही थी, वहां ब्रजवासी उसके संवर्द्धन और नवीन प्रतिभाओं के प्रोत्साहन की बाट देख रहे थे। लेकिन बात मन में थी, ओठों से बाहर नहीं आई थी।

इसके शब्द फूटे जनपदीय आंदोलन से। पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी ने अलख जगाया और डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, सत्येन्द्रजी, गुलाबरायजी, हरिशंकरजी शर्मा और ब्रज-कला और साहित्य के पारखी अनेक विद्वानों की कलम चलने लगी। जो मन में था, वह बाहर प्रकट होने लगा। समय आ गया था ब्रजभाषा के लिए कुछ करने का।

ब्रज और उसकी साहित्यिक तथा सांस्कृतिक संपदा के पुनरुद्धार के लिए मेरे मन में मथुरा में जो ललक पैदा हुई थी, वह आगरा में जाकर फलित हुई। 'साहित्य-संदेश' के संपादन के सिलसिले में रहता तो आगरा में था, पर मेरे मन-प्राण मथुरा में बसे थे। सप्ताह में एक बार अवश्य मधुपुरी की यात्रा करता। सेठ कन्हैयालाल, डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल, सत्येन्द्रजी, जवाहरलाल चतुर्वेदी और जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी (जो उस समय मथुरा में वकालत करते थे) इन सबसे मिलकर एक संगठन खड़ा करने की चर्चाएं करता रहता था। आगरा के सभी साहित्यकारों को, हिंदी के प्राध्यापकों को, प्रकाशकों को और पत्रकारों को भी इन चर्चाओं में सहभागी बना लिया। अंततोगत्वा वह समय आ ही गया जब सब ब्रज साहित्य मंडल के गठन के लिए सहमत हो गए। मथुरा के विद्वतजन तैयार थे। आगरा की साहित्यिक टोली चली। बड़े उत्साह और बड़ी-बड़ी योजनाओं के साथ अंततः मथुरा में ब्रज साहित्य मंडल का गठन हो ही गया—"प्राचीन ब्रजभाषा साहित्य को प्रकाश में लाने, उसका अनुसंधान करने तथा ब्रज की संस्कृति और लोकजीवन की गवेषणा के निमित्त ब्रजमंडल के केंद्रस्थल मथुरा में हिन्दी-साहित्य परिषद के द्वारा आयोजित एक सम्मेलन में कार्तिक कृष्णा 5 संवत 1977,

रविवार तारीख 2 अक्तूबर सन् 40 को ब्रज साहित्य मंडल स्थापित किया गया।" (पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ)

संयोजक बने श्री जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी। उनके संयोजन में मुख्य अधिवेशन तो प्रारंभ के दो ही दिन हुआ। पहले दिन के अध्यक्ष थे आगरा के यशस्वी साहित्यकार पं. हरिशंकर शर्मा और दूसरे दिन के अध्यक्ष थे अलीगढ़ के अतरौली नामक स्थान में जन्म लेनेवाले हिंदी के प्रख्यात कथाकार श्री जैनेन्द्रकुमार। शेष तीन दिनों तक संक्षिप्त नियमावली, कार्यक्रम और पदाधिकारी चुने गए। मंडल के प्रथम अध्यक्ष बने डा. वासुदेवशरण अग्रवाल और मंत्री सत्येन्द्रजी। श्री जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी और इन पंक्तियों के लेखक को संयुक्त मंत्री बनाया गया। मंडल की स्थापना में जिन मूर्धन्य साहित्यकारों ने विशेष यत्न किए उनके नाम थे–सर्वश्री सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ. गौरीशंकर 'सत्येन्द्र,' राधेश्याम द्विवेदी, जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी, लक्ष्मीरमण आचार्य और गोपालप्रसाद व्यास। इनको मंडल के संस्थापक का दर्जा प्रदान किया गया।

मंडल का गठन तो हुआ, लेकिन समस्या थी कि इसके द्वारा ब्रज का सांस्कृतिक और साहित्यिक अभ्युदय का कार्य किस प्रकार किया जाए ? इस पर विचार करने से पूर्व मैं यह बता दूं कि आरंभ में यह एक शुद्ध साहित्यिक संस्था थी। साहित्यकारों ने ही इसे खड़ा किया था। वही इसके आयोजन में आए और संस्था की बागडोर भी उन्हीं के हाथ में दी गई। ये विचारक अधिक थे। योजनाएं बना सकते थे। दिशा निर्देश दे सकते थे। लेकिन कार्यकर्त्ता के रूप में अपना श्रम और समय नहीं दे सकते थे। पोद्दारजी वयोवृद्ध थे और अपने रस-रीति और अलंकार तथा संस्कृत साहित्य के लेखन, आलोचन, अनुवाद आदि कार्यों के साथ-साथ स्वाध्याय और अध्यात्म चिंतन में ही अधिक रत रहते थे। वासुदेवजी मथुरा म्यूजियम के क्यूरेटर थे। उन दिनों संग्रहालय का विशाल भवन बन रहा था। स्थान-स्थान से कलाकृतियां आ रही थीं तथा संग्रहालय में स्थापित की जा रही थीं। उनके पास भी कहां समय था ? सत्येन्द्रजी चंपा अग्रवाल कालेज में पढ़ाते थे। स्काउटिंग और खेलों के भी इंचार्ज थे। कॉलेज के सांस्कृतिक आयोजन भी उनके जिम्मे रहते थे। इनसे जो समय बचता था, उसमें वह अपने शिष्यों को पढ़ाने और बढ़ाने का काम किया करते थे। वह संस्थाओं से अधिक व्यक्तियों के निर्माण के पक्षधर थे। व्यक्ति ही तो संस्थाओं के निर्माता होते हैं। जोशी बाबा श्री राधेश्याम द्विवेदी यद्यपि मूलतः साहित्यिक और सांस्कृतिक व्यक्ति थे, परंतु उन दिनों वह मथुरा की राजनीति में अगुआ थे। लक्ष्मीरमण आचार्य को अपनी वकालत से फुरसत नहीं थी। रह गए जगदीशजी और मैं। दोनों सत्येन्द्रजी के शिष्य और भक्त। दोनों में काम करने की लगन और उत्साह। जगदीशजी ने मथुरा संभाली, मंडल का दफ्तर संभाला। पेशे से वकील थे, लेकिन मन उसमें नहीं था। इसलिए वकालत नहीं चली, मंडल चला। मैंने आगरा और वृहत्तर ब्रज संभाला। साहित्यकारों और राजनेताओं को मंडल के साथ जोड़ा और जब तक मैं मंडल में रहा, धनसंग्रह का कार्य भी विशेष रूप से मेरे कंधों पर ही आ पड़ा। संयुक्त से प्रधानमंत्री बना। प्रधानमंत्री से मुझे कार्यवाहक अध्यक्ष बनाया गया और जब मैं दिल्ली में बस गया तथा मंडल निष्क्रिय हो गया तो एक बार मित्रों ने

मुझे मंडल का अध्यक्ष भी चुन लिया। लेकिन मैं किसी पद पर रहा या न रहा, ब्रज में रहा या न रहा, ब्रज साहित्य मंडल को मैं भुला नहीं सका। प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से जो मुझसे बन पड़ा, मैं मंडल के लिए करता ही रहा।

एक समय वह भी था कि जैसे हिंदी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन कांग्रेस अधिवेशनों की याद दिला दिया करते थे, वैसे ही हिंदी साहित्य सम्मेलन के शिथिल होने पर ब्रज साहित्य मंडल के अधिवेशन हिंदी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशनों की याद ताजा कर दिया करते थे। मंडल तब मथुरा तक सीमित नहीं रह गया था। पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ का समर्पण कलकत्ते में हुआ था। बंबई में विचार-परिषदें हुई थीं। वृंदावन, भरतपुर, आगरा, हाथरस, मैनपुरी, शिकोहाबाद, गाजियाबाद, सहारनपुर और भारत की राजधानी दिल्ली में भी इसके अधिवेशन धूमधाम से हुए थे। इनमें पधारे राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्र प्रसाद, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन, डॉ. संपूर्णानंद, पं. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सेठ गोविंददास, श्री कृष्णदत्त पालीवाल और पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी आदि। इतना ही नहीं, जो आयोजनों और समारोहों से बचती थीं, वह महादेवी वर्मा भी मंडल के अधिवेशन में आईं। निरालाजी भी आए। दिल्ली में जो मंडल का अधिवेशन बुलाया गया उसके पहले दिन का उद्घाटन बाबू श्रीप्रकाश और दूसरे दिन का उद्घाटन बैरिस्टर भूलाभाई देसाई ने किया। दिल्ली और बंबई के अधिवेशनों में तो देशभर के साहित्यकार सम्मिलित हुए। दिल्ली में पहली बार ब्रजभाषा कवि-सम्मेलन हुआ। दिल्ली की ब्रज-साहित्य परिषद में मिश्रबंधुओं में से एक शुकदेव बिहारी मिश्र आए। निरालाजी जो दूसरे दिन के कवि-सम्मेलन के अध्यक्ष थे, वह भी पधारे। लखनऊ, कानपुर, काशी, इलाहाबाद की मंडलियां तो इस अधिवेशन के अध्यक्ष पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी के साथ आई ही थीं। दिल्ली में जो उस समय साहित्यकार थे, वे सब उसमें उपस्थित हुए। जैसे—जैनेन्द्र, नगेन्द्र, अश्क उपेन्द्र, विजयेन्द्र, अज्ञेय और इसके संयोजक और प्रमुख कार्यकर्त्ता श्री विष्णु प्रभाकर तो थे ही। वृंदावन का अधिवेशन श्री विद्यानिवास मिश्र की कर्मठता और स्वामी अखंडानंदजी की कृपा से ही सफल हुआ। इसमें वृहत्तर ब्रज के साथ-साथ दिल्ली, काशी, प्रयाग, लखनऊ और अन्य कई नगरों के विद्वान, आलोचक एवं साहित्यकार सम्मिलित हुए थे। इन अधिवेशनों और उत्सवों से मंडल की महत्ता बढ़ी तथा उसे अखिल भारतीय स्वरूप प्राप्त हो गया। लेकिन ये शोभास्पद उत्सव प्रचारात्मक ही अधिक थे। संस्थाओं के कार्य में प्रचार का महत्त्व काफी होता है, वह तो हुआ, इस प्रचार ने मेरे नाम को भी प्रचारित कर दिया। जैसे टंडनजी को हिंदी साहित्य सम्मेलन का प्राण कहा जाता था, वैसे ही मुझे भी मंडल का प्राण मान लिया गया। मेरी कार्य-शैली को व्यास-नीति का नाम दे दिया गया। काफी है तसल्ली के लिए मोंठ का दलिया।

पंचम उल्लास

झोले से हिंदी भवन तक

भारती भातु भारते

भारत में भारत की वाणी सुशोभित हो–भारती भातु भारते ! यह भारती कोई और नहीं, हमारी हिंदी ही है। वाग्देवी है। "ज्ञानदा मुक्तिदा मातु शारदे।" मेरे लिए यही "सुखदां वरदां मातरम्" है। यही बंकिम बाबू की "सुहासिनीम् सुमधुर भाषिणीम् वंदे मातरम्" है। राजनीति और साहित्य दोनों के उज्ज्वल नक्षत्र कन्हैयालाल मानिकलाल मुनशी की राष्ट्रभाषा हिंदी है, जिसे वह भारती नाम से संबोधित किया करते थे। परंतु विडंबना देखिए कि कोटि-कोटि कंठों में कल-कल निनाद करनेवाली यह "भारती भातु भारते" के लिए अभी तक गाना नहीं, रोना पड़ रहा है–"केवल मां तुही अबले ! वंदे मातरम्" को गा–गाकर हमने स्वराज्य प्राप्त कर लिया। लेकिन वंदे मातरम् को भूलकर हम स्वभाषा कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? मेरे देश के लोग सोचें और समझें भी कि राष्ट्र-वंदन ही राष्ट्रभाषा का अभिनंदन है।

हमारे जैनी भाइयों का स्तुति-गीत है–श्रद्धा विनय समेत नमो अरहंतारम्। जब-जब यह गीत सुनता हूं तो मुझे लगता है जैसे यह हिंदीप्रेमियों के लिए आह्वान हो–हे हिंदी को अपने पद पर प्रतिष्ठित करने की इच्छा रखनेवालो, तुम्हारी आकांक्षा बिना श्रद्धा और विनय के पूरी नहीं होगी। हिंदी-हिंदी कहते रहना वैसा ही है जैसा कि बिना श्रद्धापूर्वक, बिना विनम्र हुए राम-राम जपना। यदि स्वराज्य के बाद हिंदी-नेताओं और कार्यकर्त्ताओं ने श्रद्धा और विनय-भावना से युक्त होकर हिंदी के संदेश को हिंदीतर प्रदेशों में पहुंचाया होता तो आज यह स्थिति नहीं होती कि न हिन्दी राष्ट्रभाषा रही और संविधान में प्रतिष्ठित होने के बावजूद न राजभाषा बनी। भूले-भटके कभी-कभी कोई कह देता है–संपर्क-भाषा, जोड़-भाषा। वह भी सिर्फ कहने के लिए। यह अभिशाप तो लगना ही था, क्योंकि हम भारत के मुक्तिदाता राष्ट्रपिता महात्मा गांधी को भूल गए, जिन्होंने कहा था–बिना हिंदी के हमारी स्वतंत्रता अधूरी होगी। पंद्रह अगस्त सन् सैंतालीस को जब गांधीजी नोआखाली में सांप्रदायिक सद्भाव स्थापित करने के लिए गांव-गांव में भटक

रहे थे, तब एक पत्रकार को बी. बी. सी. के लिए संदेश देते हुए उन्होंने कहा था—"दुनिया से कह दो कि गांधी अंग्रेजी नहीं जानता।" गांधी को भूलने का ही यह परिणाम है कि आज हिंदी-प्रदेशों के लोग भी गर्व से कहते हैं कि हम हिन्दी नहीं जानते। हिंदी नहीं लिख सकते। हिंदी बोलने में कठिनाई होती है। हे मेरे देश के लोगो, अब पुनः "गांधी शरणम् गच्छामि ! हिन्दी शरणम् गच्छामि !" कहो। कहो ही नहीं, करो कि जैसा गांधी ने राष्ट्रभाषा हिंदी के लिए किया था।

गांधीजी से प्रेरणा प्राप्त करके ही मैं हिंदी-सेवा के कार्य में प्रवृत्त हुआ हूं—सन् 27 से। चार पड़ाव—मथुरा की हिन्दी परिषद, आगरा की नागरी प्रचारिणी सभा, दिल्ली का हिन्दी साहित्य सम्मेलन और अब श्री पुरुषोत्तम हिंदी भवन न्यास समिति का हिंदी भवन। अपनी सामर्थ्य, शनैः शनैः अपनी बढ़ती लोकप्रियता, कविता और लेखन से प्राप्त व्यापक जनसंपर्क मैंने निष्ठा के साथ हिंदी-सेवा के लिए समर्पित कर दिए। आज मैं जो कुछ हूं वह हिंदी के कारण हूं। कविता गई, लेखन भी चला, आयु भी शेष होने को है, लेकिन अपनी जीवन-निधि हिंदी को थाती की तरह आज भी छाती से लगाए हुए हूं। पूरी लगन से कार्य किया। सफलता और असफलता तो मेरे वश की बात नहीं। जीव कार्य करने में स्वतंत्र है, परंतु फल उसके अधीन नहीं। फिर भी मानता हूं कि सच्चे मन से की हुई सेवा कभी निष्फल नहीं होती। देर हो सकती है, अंधेर नहीं। हिंदी भारत की वाणी है। उसे उसके अधिकार से कोई वंचित नहीं कर सकता। उसे अपने लक्ष्य से वंचित करनेवाले स्वयं वंचित होकर विस्मृति के गर्भ में विलीन हो जाएंगे। वह राजनीति जो मत पर नहीं, सत्ता पर टिकी है, नीति नहीं, राज करना ही उसका परम धर्म है, बहुत दिनों तक असत्य के मैले को अपने सिर पर नहीं ढोती रह सकती—सत्यमेव जयते।

शर्त एक ही है कि हिन्दीजन सिर्फ इसे अपनी ही वाणी न समझें। यह तो भारतीय जन-मन की वाणी है। हिंदी हिंदुओं की भाषा नहीं। हिंदी प्रदेश भी इसे अपनी बताकर गर्व न करें। हिंदी किसी एक जाति की, एक संप्रदाय की, एक वर्ग की, भूमि के एक टुकड़े की भाषा नहीं है। हिंदी 97 या 98 प्रतिशत बोलनेवालों के बहुमत से प्रतिष्ठित नहीं होगी। प्रतिष्ठित होगी उन दो-तीन प्रतिशत लोगों के हृदय-परिवर्तन से जिन्हें आज हम भ्रमवश हिंदी-विमुख कह रहे हैं। यदि हम सच्चे हिंदी-प्रेमी हैं तो उन्हें हिंदी का नहीं, प्रेम का संदेश दें। हिंदी का नहीं, भारतमाता का संदेश दें। उनके राष्ट्रीय स्वाभिमान को जाग्रत करें। जैसे स्वराज की लड़ाई भारत के हर घर से, हर प्रदेश से, हर भाषाभाषी के द्वारा लड़ी गई थी, वैसे ही स्वभाषा का संग्राम भी पूरे देश को, प्रत्येक भाषाभाषी को लड़ना होगा—"होगी सफलता क्यों नहीं, कर्त्तव्य-पथ पर दृढ़ रहो।"

मैंने इसी भावना से हिंदी की सेवा करने का प्रयत्न किया है। हिंदी ही मेरा कर्म है, हिंदी ही मेरा धर्म है। हिंदी ही मेरा जीवन है। वही मेरी संजीवनी शक्ति है। बिना हिंदी के मेरा ही क्यों, प्रत्येक हिन्दवासी का जीवन निरर्थक है। हम हिंदी को श्रेय और प्रेय मानकर उसके प्रचलन और प्रतिष्ठा को अपना ध्येय बना लें तथा अपने मन में बसा लें राष्ट्रकवि की ये पंक्तियां—"भगवान, भारतवर्ष में गूंजे हमारी भारती।"

हिंदी-सेवा की पूर्वपीठिका

तब भी यही हालत थी। जनता हिंदी बोलती थी और सरकार अंग्रेजी बोलती थी। सरकारी दफ्तरों में हिंदी के पत्र तब भी कूड़ेदानों में फेंक दिए जाते थे। सरकारी नौकरियां तब भी अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों के लिए सुरक्षित थीं। वकील तब भी अंग्रेजी में बहस करते थे। अदालती फैसले तब भी अंग्रेजी में सुनाए जाते थे। तब भी सरकार में अंग्रेजी अखबारों को महत्त्व दिया जाता था। अंग्रेजी पढ़े-लिखे राज और समाज में आज की तरह तब भी सुसंस्कृत और सभ्य समझे जाते थे। अंग्रेजों की फूट डालो और राज करो की नीति के अनुसार इतना अवश्य था कि जनता के संपर्क में आनेवाले सरकारी विभागों में उर्दू को मान्यता मिली थी, हिंदी को नहीं। हिंदी प्रदेशों की बजाय अंग्रेजी जाननेवाले बंगाली, मद्रासी और धर्म-परिवर्तन करके बने हुए ईसाई तथा पाजामा, अचकन और सिर पर हैट लगानेवाले या टाई बांधनेवाले लोगों पर भी सरकारी कृपादृष्टि बनी रहती थी। केवल हिंदू-मुसलमानों में ही नहीं, गोरी सरकार उत्तर-दक्षिण के बीच भी दरार डालने में लगी हुई थी।

लेकिन जब मैंने होश संभाला तो देश में स्वराज्य-भावना के साथ-साथ हिंदी-चेतना भी जाग्रत होने लगी थी। मालवीयजी महाराज की प्रेरणा और टंडनजी के पराक्रम से इलाहाबाद का हिंदी साहित्य सम्मेलन देश के कोने-कोने में हिंदी की दुंदुभी बजाने लगा था। सम्मेलन में गांधीजी के आने से जो चमत्कार पैदा हुआ, उसका प्रकाश पूरे देश में फैल गया था। उन्होंने राष्ट्र की स्वतंत्रता के लिए ही नहीं, राष्ट्रभाषा की प्रतिष्ठा के लिए भी ऐसे ठोस कार्य किए कि हिंदीतर प्रदेश भी तेजी से हिंदी की ओर अभिमुख होने लगे। गांधीजी के सद्प्रयत्नों से धुर मद्रास में 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा' की स्थापना हुई। वर्धा में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति का वट-वृक्ष खड़ा हुआ, जिसकी जड़ें एक तरफ उत्तर-पूर्व दिशा में जमने लगीं तो दूसरी तरफ पश्चिमोत्तर हिंदीतर क्षेत्रों में। देशभर में फैले हुए गाधा आश्रमों का ही नहीं, कांग्रेस का काम भी हिंदी में होने लगा। 'जय

हिंद' के साथ 'जय हिंदी' का उद्घोष भी चारों दिशाओं में गूंजने लगा था

तब तक लोकमान्य तिलक की प्रेरणा से मराठी ने हिंदी लिपि अपना ली थी। काशी विद्यापीठ में सभी विषय हिंदी माध्यम से पढ़ाए जाने लगे। साहित्य सम्मेलन ने हिंदी की परीक्षाएं प्रारंभ कर दी थीं। देश के हजारों लोग अपने नाम के आगे विशारद और साहित्यरत्न लिखकर स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करने लगे थे। प्रधानमंत्री लालबहादुरजी ने शास्त्री की पदवी काशी विद्यापीठ से ही प्राप्त की थी। गणेशशंकरजी 'विद्यार्थी' और श्री कृष्णदत्त पालीवाल ने भी सम्मेलन की साहित्यरत्न परीक्षा उत्तीर्ण करके अपने को धन्य माना था। मेरे पास भी विशारद और साहित्यरत्न परीक्षा के प्रमाणपत्र उपलब्ध हैं। कुछ लाचारी से और कुछ गांधीजी के आह्वान से मैंने भी स्कूली पढ़ाई अधूरी छोड़ दी थी।

उन दिनों आज से विपरीत एक बात विशेष थी। तब लोग साहित्य लिखते कम थे और पढ़ते अधिक थे। आज लिखते अधिक हैं, पढ़ते कम हैं। उन दिनों देश में हिंदी पुस्तकालयों की बाढ़ आ गई थी। लोग साहित्य की पुस्तकें खरीदकर अपने घर में छोटा-मोटा पुस्तकालय बनाने के शौकीन थे। आजकल के संपन्न लोगों की आलमारियों में मोटी-मोटी जिल्दोंवाली अंग्रेजी की पुस्तकें करीने से सजी रहती हैं। इनमें से अधिकांश ऐसे हैं जो अंग्रेजी के प्लीज, यस, नो आदि शब्द ही जानते हैं। अंग्रेजी पुस्तकों को पढ़ना तो दूर, वे उन्हें खेलकर भी नहीं देखते। हां, कॉलेजों के हिंदी प्राध्यापकों को शेक्सपीयर, शैली, कीट्स, मोपासां, फ्रायड, कामू और सार्त्र आदि के नाम गर्व से लेते हुए अवश्य सुना जाता था। कुछ लोग प्रिंस क्रोपाटकिन, टालस्टाय और गोर्की की भी यदाकदा चर्चा कर लिया करते थे। लेकिन आपस में ही, जन-समाज में नहीं। जन-समाज में और साहित्य में तो तुलसी, सूर, मीरा, कबीर, नानक, रहीम, रसखान देव, बिहारी और गिरधरदास की कुंडलियां तथा वृंद के दोहे ही अधिक लोकप्रिय और सम्मानित थे।

उन दिनों दिल्ली नहीं, कलकत्ता हिंदी का केन्द्र था। दिल्ली से अधिक विद्यार्थी मद्रास में हिंदी सीखते थे। हिंदी साहित्य सम्मेलन के लखनऊ, भोपाल, पटना की तो मुझे याद नहीं, लेकिन पूना, बंबई और करांची के अधिवेशनों में मद्रास के लोगों के हिंदी-प्रेम को मैंने अवश्य देखा है। हिंदीतर प्रदेशों के तत्कालीन हिंदी-प्रेम को देखकर जहां मेरे मन में हिंदी के प्रति श्रद्धा जाग्रत हुई, वहां हिंदी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशनों में प्रयाग, काशी और लखनऊ के लोगों को अंग्रेजी के बजाय सम्मेलन पर अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए लड़ते-झगड़ते देखकर दुःखद आश्चर्य भी हुआ है। पूना में काका कालेलकर ने मुझे बताया था कि उनसे गांधीजी ने कहा है—"हिंदी का प्रचार करना चाहते हो तो अवश्य करो, परंतु इस कार्य के लिए हिंदीतर क्षेत्रों को चुनना, हिंदी क्षेत्रों को नहीं। क्योंकि हिंदी क्षेत्रों के निवासी हिंदी की बात अधिक करते हैं, हिंदी का काम नहीं करते। भाषा को लेकर उनका स्वभाव भी झगड़ालू है। हमें तो हिंदी का काम प्रेम से करना है। ये प्रेम तुमको हिंदीतर क्षेत्रों से ही प्राप्त हो सकता है।" कुछ ऐसे ही विचार महापंडित राहुल सांकृत्यायन के भी थे। जब वह मास्को से लौटकर सम्मेलन के

अध्यक्ष बने तो उन्होंने मुझसे कहा था–"हिंदी का हित चाहते हो तो लिखो, ऐसा लिखो कि हिंदीभाषी ही नहीं, अहिंदीभाषी भी खोज-खोजकर पढ़ने के लिए उत्साहित हो जाएं। देखा तुलसी की 'रामचरित मानस' ने, देवकीनंदन खत्री की 'चंद्रकांत संतति' ने और पं. राधेश्याम कथावाचक की रामायण ने कैसा अद्‌भुत हिंदी का प्रचार किया है।"

हिंदी में मेरा प्रवेश भी साहित्य के माध्यम से ही हुआ है। मैं तो ब्रज क्षेत्र में पैदा हुआ। ब्रजभाषा का काम किया। लिखने के नाम पर ब्रज की कविता लिखा करता था। परतु पढ़ने का शौक मुझे प्रारंभ से ही था। मथुरा में उन दिनों कई अच्छे पुस्तकालय थे। पोद्‌दारजी, जवाहरलाल चतुर्वेदी, जोशी बाबा द्विवेदीजी आदि कई विद्वानों के निजी पुस्तकालयों में दुलर्भ पुस्तकों के भडार थे। मैंने इन निजी और सार्वजनिक पुस्तकालयों को छान डाला। मथुरा छोड़कर जब आगरा गया, तब महेंद्रजी के साहित्यरत्न भंडार द्वारा हिंदी की विपुल साहित्य-संपदा के दर्शन मुझे हुए। नई से नई विषयवार सैकड़ों पुस्तकें भंडार में सुलभ थीं। मै रात-रातभर जागकर इन पुस्तकों को पढ़ा करता था। आगरा ही क्यों, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, हिंदी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद सहित कलकत्ता की सेंट्रल लायब्रेरी के एक से एक अनूठे और दुर्लभ ग्रंथों का पारायण भी करने का सुयोग मुझे मिला है। मै गांधीजी के पत्रों का भी नियमित पाठक था। राष्ट्र की स्वतंत्रता के साथ-साथ बापू राष्ट्रभाषा हिंदी के संवध मे भी प्रायः अपने मार्मिक उद्‌गार प्रकट किया करते थे। जब-जब उनके वचनों और लेखनों को सुनता-पढ़ता तो मेरे मन में हिंदी के लिए कुछ करने की हूक उठा करती थी। मथुरा मे हिंदी के प्रति जो अंकुर जगा था, वह आगरा मे आकर पल्लवित हुआ और दिल्ली मे पुष्प खिलने लगे। उन दिनों आगरा नागरी प्रचारिणी सभा बडी सक्रिय सस्था थी। मैं यहां प्रतिदिन निःशुल्क सम्मेलन की परीक्षाओं में बैठनेवाले विद्यार्थियों को पढ़ाने लगा। महेन्द्रजी के सहयोग से चलते-फिरते पुस्तकालय की भी व्यवस्था में हाथ बटाया। ऐसे बक्स तैयार हुए जिनमें हिंदी की लोकप्रिय और नई-से-नई दस-पद्रह पुस्तकें रखी जा सकती थीं। उन्हें बदल-बदलकर लोगों के घर पहुचाया जाता था। उन दिनों ऐसी पचास पुस्तक-पेटियां आगरा में घूमा करती थीं। आगरा नागरी प्रचारिणी में मैंने प्रतिमाह हिंदी-पार्लियामेंट का भी आयोजन किया। तब तक संसद शब्द प्रचलन मे नहीं आया था। आगरा के प्रसिद्ध साहित्यकार इसमें भाग लिया करते थे। अक्सर श्री कृष्णदत्त पालीवाल इसके स्पीकर होते थे और सत्ता-पक्ष के रूप में बाबू गुलाबराय, हरिशंकर शर्मा, प्रो. जगन्नाथ तिवारी और हरिहरनाथ टंडन जैसे लोग मंत्री बनकर बैठते थे। मेरे जैसे युवक विरोधी बेंचों पर बैठा करते थे। साहित्य के संबंध में, साहित्यकारों के बारे में और विशेषकर हिंदी की स्थिति और परिस्थिति विषयक प्रश्न पूछे जाते थे और उत्तर मिला करते थे। पूरक प्रश्नों पर हास-परिहास भी फूट पड़ते थे। इस पार्लियामेंट को देखने के लिए बाहर से भी कुछ प्रसिद्ध साहित्यकार और साहित्य के अध्येता आते रहते थे। आगरा में मैंने एक घूमती-फिरती साहित्य-गोष्ठी का भी आयोजन किया था। जो एक बार एक साहित्यकार के यहा तो दूसरी बार दूसरे साहित्यकार के यहां हुआ करती थी।

लेखक होना और अपनी नई रचना लिखकर सुनाना ही इसकी सदस्यता थी। इसी गोष्ठी से मेरे हास्यरस का जन्म हुआ था। आगरा में प्रगतिशील लेखक संघ का गठन हुआ। एक उर्दू अदीब के साथ मुझे भी इसका सह-संयोजक बनाया गया। प्रो. प्रकाशचंद्र गुप्त इस संस्था के जनक थे। रांगेय राघव उर्फ पप्पू, भारतभूषण अग्रवाल उर्फ भाभू और पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' जैसे नवोदित साहित्यकार इसके सदस्य थे। इस संघ ने प्रगतिशील विचारों के साथ-साथ हिंदी-उर्दू साहित्यकारों को साझा मंच तो प्रदान किया ही, इसके द्वारा भाषागत हिंदी का पंडिताऊपन और उर्दू के कठमुल्लाई फारसी-अरबीकरण को सरल और सुबोध बनाने में उल्लेखनीय कार्य किया। उर्दू अदीब दीवाली पर हम लोगों के यहां आते और हम ईद के मौके पर उनके यहां जाकर सिंवइयां खाया करते थे। कहना नहीं होगा कि इस प्रगतिशील आंदोलन के कारण उर्दू के लोग हिंदी की ओर तेजी से झुक रहे थे।

टंडनजी के आह्वान पर उन दिनों अदालतों मे हिंदी के प्रवेश का आंदोलन चल रहा था। हम लोगों ने आगरा नागरी प्रचारिणी सभा को भी इस ओर प्रेरित किया। मैं इस कार्य में जुट गया। आगरा की कचहरी में लज्जाराम 'ललाम' नामक एक उत्साही युवक टाइपिस्ट को हिंदी टाइप-राइटर सुलभ कराकर बैठाया गया। नगर-भर मे अखबारों और प्रचार-सामग्री द्वारा लोगों को उत्साहित किया गया कि वे अदालतों म अपने प्रार्थना-पत्र और दूसरे कागज पत्र निःशुल्क टाइप कराकर हिंदी में ही दें। मैं समय-समय पर कचहरी में जाता और लज्जारामजी से कहता कि यदि अंग्रेजी के लिए कोई सरल हिन्दी शब्द न मिले तो इसे देवनागरी लिपि में ही टाइप कर दो। उर्दू और हिंदी तो एक ही हैं। उर्दू के प्रचलित शब्दों को आप बेखटक देवनागरी में लिख सकते हैं। मैं अपनी टोली के साथ वकीलों से भी मिलता, मुहर्रिरों से भी मिलता और न्यायाधीशों से भी प्रार्थना करता था कि विदेशी भाषा का मिथ्या-मोह छोड़ो। उत्तर प्रदेश के अन्य भागों में जबकि यह आंदोलन अधिकतर उर्दू के विरोध में चलाया जा रहा था तब आगरा की अदालतों में हिंदी प्रचार का जोर मुख्यतः देवनागरी लिपि का था और उसका विरोध अंग्रेजी के साथ था।

आगरा नागरी प्रचारिणी सभा के साथ बाबू गुलाबराय और महेंद्रजी के संपर्कों के कारण अनेक हिंदीतर भाषी प्राध्यापक, वकील, न्यायाधीश और प्रमुख नागरिक भी जुड़े हुए थे। जैसे प्रोफेसर भंभानी, प्रोफेसर अंटानी, श्री बागची और कई बंगलाभाषी परिवार, विशेषकर वह जिनका नाम मैं भूल रहा हूं, जिनके यहां नेताजी सुभाषचंद्र बोस ठहरा करते थे और भारतभूषण जिनकी संगत में बैठकर प्रायः गुनगुनाया करते थे—ऐलो शरते दुलाली मेये...।

हम लोगों ने आगरा में हिंदीप्रेमियों की अच्छी-खासी टोली तैयार कर ली थी। योजना बनाई थी कि सुदूर हिंदीतर क्षेत्रों की यात्रा पर चला जाए कि तभी शुरू हो गया गांधीजी का व्यक्तिगत सत्याग्रह आंदोलन और आ गया ऐतिहासिक सन बयालीस। तब स्वतंत्रता-संग्राम और हिन्दी आंदोलन एक-दूसरे के पर्याय थे। स्वतंत्रता सेनानी हिंदी का रचनात्मक प्रचार-कार्य करते थे और हिंदी के प्रेमी और प्रचारक स्वतंत्रता संग्राम

का बिगुल बजते ही भारत माता की जेलों की ओर कूच करते थे। मैं भी बच-बचकर स्वराज्य-आंदोलनों में कभी छिपकर और कभी प्रकट रूप में कार्य किया करता था। देश की पुकार पर मैंने कुछ काम आगरा में किया और कुछ काम मथुरा में। फिर भूमिगत हो गया। इटावा में प्रकट हुआ। भटकता हुआ दिल्ली आ पहुंचा। आगे चलकर दिल्ली तो मेरे लिए हिंदी का पर्यायवाची बन गई।

प्रिय भाई व्यासजी,

आपका पत्र मिला। जीवन मे जिनसे सदा भरोसे-भरा प्यार मिला, उनमें आप अग्रणी हैं। इस पत्र मे भी वही छलका है। आप उम्र के ख्याल से मेरे छोटे भाई हैं, पर आदर क भाव से और आपकी पहलवानी के रुआब से प्रणाम करता हूं।

अब आपकी पुस्तक की बात--

टॉलस्टाय का वचन है—"जैसे सब पैदा होते हैं, मैं भी हुआ। जैसे सब मरते हैं, मैं भी मरूंगा। पर मेरे जीने और मरने का एक अर्थ होना चाहिए। मेरे लिए भी और दूसरो के लिए भी।" अपनी पत्रकारिता पर एक पुस्तक लिख रहा हूं, आपका यह वाक्य मेरे लिए एक अशुभ समाचार है। मेरा हुक्म है कि आप अपनी पत्रकारिता पर कोई पुस्तक न लिखें और ऐसा कर मेरा मुंह काला न करें। खबरदार; जो ऐसी बेहूदा हरकत की ! मुंह बनाने से पहले मेरी बात को समझिए। आपकी पत्रकारिता कोई 'समग्र सत्य' नहीं है। समग्र सत्य है आपकी ज़िंदगी, जिसने आपको एक कंपोजीटर से एक प्रूफरीडर, प्रूफरीडर से सहायक संपादक, सहायक संपादक से रोनी सूरत के हिन्दी कवि-सम्मेलनों को हंसानेवाली कविता-सुंदरी का राजकुमार, राजकुमार से 'हिन्दुस्तान' के संपादक मंडल का प्रतिष्ठित सदस्य और संपादक, यानी पत्रकार से सिसकती नागरी प्रचारिणी सभा और अधमरे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के बीच राजधानी में हिन्दी संसार का एक स्तंभ बनाया ! गोपाल के बच्चे, यह सब सच है या झूठ सच है तो फिर मेरे यार, तू पत्रकारिता पर कागज काले क्यों कर रहा है ? अपनी जिंदगी पर पुस्तक लिख और उसका एक बडा अध्याय बना पत्रकारिता को। उसमें समीक्षा का गूदड़ और सिद्धांतवादिता का कूड़ा क्यों भरता है ? हां, संस्मरण जरूर रहे। पर वह संस्मरण न भूलना कि मुकुटजी ने एक कविता आपकी अस्वीकृत कर दी, तो कहीं और छपा दी आपने। इस पर देवदास गांधी से आपकी पटेबाजी हुई और वे बात करते-करते एक फुटपाथ तक चले गए और बातें हुई। क्या आपकी खोपड़ी में मेरी बात समाई ? या उससे टकराकर जमीन की धूल में जा गिरी ? फौरन जवाब दें। मैं चाहता हूं पुस्तक मुझे दिखाने के बाद प्रेस भेजी जाए !

आपका प्यारा और करारा भाई
कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

तब दिल्ली में हिंदी

दिल्ली मुझे लेनी-पावनी हुई। तन भरा, घर भरा, हिंदी-सेवा का सुयोग पाकर मन भी भरा। दिल्ली को केन्द्र बनाकर जो हिंदी की सेवा मुझसे बन पड़ी, उसका जिक्र आगे करूंगा। पहले मुगलिया छाप साहबी राजधानी की तब क्या स्थिति थी, उसका एक जायजा दे दूं।

सन् 43 में जब मैं दिल्ली आया तब वह चहारदीवारी से निकलकर मीलों फैली हुई नहीं थी। दिल्ली तब दिल्लीवालों की थी। चूड़ीदार पायजामों और अचकनों की बहार थी उस समय। तब संस्कृति और सभ्यता जैसे शब्द मुठ्ठीभर लोगों के मन में थे। रहन-सहन और बोलचाल में लोग तहज़ीव से काम लेते थे। उर्दू शायरी का तरन्नुम चारों ओर बुलंद था। नए लोग नई दिल्ली की ओर बढ़ रहे थे। नई दिल्ली यानी अंग्रेजी की ओर। स्कूल-कॉलेज के हिंदी अध्यापकों ने भी धोती छोड़, पैंट पहनना शुरू कर दिया था। दिल्ली के पुराने निवासी हिंदी को औरतों की जुबान और पूजापाठी पंडितों की बोली मानते थे। गली-गली में मुशायरे होते थे। जब मेरी पहली पुस्तक की पांडुलिपि तैयार हुई तो मैंने उसे अपने एक प्रेमी पाठक को दिखाया। उन्होंने मेरी भाषा शुद्ध की। शुद्ध की यानी, मैंने जो बोलचाल के उर्दू शब्द प्रयोग किए थे उनके नीचे नुक्ते लगा दिए। उनका शुद्ध उर्दू रूप क्या है, यह भी ठीक कर दिया।

लेकिन हिंदी का मैदान एकदम ऊजड़ नहीं था। उसमें जहां-तहां प्रेमांकुर फूटने लगे थे। कुछ लोग थे जो इन्हें बड़े प्यार और मेहनत से सींच रहे थे। बीज बिखेर रहे थे। एक हिंदी प्रचारिणी सभा भी थी। रामचंद्र महारथी इसे चलाते थे। इसका मुख्य कार्य सशुल्क पंजाब की प्रभाकर आदि हिंदी परीक्षाओं के लिए वर्ष में एक-दो सप्ताह छात्रोपयोगी भाषणमाला चलाना था। दरियागंज के सरस्वती समाज के हाल में कभी-कभी हिंदी के लोग भी मिलजुलकर व्याख्यान और चर्चाएं आयोजित कर लिया करते थे। वह भी छठे-छमाहे। एक कवि-समाज भी था, जिसमें पांच-सात वे विस्मृत कवि कभी

इसके घर तो कभी उसके घर बैठकर अपनी कविताओं का पाठ किया करते थे। परंतु श्रोताओं का सदा अभाव रहता था। नई दिल्ली में श्री अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार के प्रयत्नों से एक साहित्य-सभा भी खुली थी। एक मकान में सौ-दो सौ पुस्तकें रखकर हिंदी पुस्तकालय भी स्थापित हुआ था। इन पुस्तकों को पढ़नेवाले जुटाने पड़ते थे।

हां, दिल्ली के आर्य समाज मंदिरों में साप्ताहिक सत्संग अवश्य हिंदी में हुआ करते थे, लेकिन उनमें सत्यार्थ प्रकाश की चर्चा अधिक होती थी, रामचरित मानस और सूरसागर की नहीं। इस काम को सनातनधर्मी बंधु किया करते थे। रामायण समिति बनी थी। इसके कई केन्द्र भी स्थापित हुए थे, जहां अखंड रामायण गाई और सुनी जाती थी। स्कूलों और कॉलेजों के हिंदी अध्यापक जब-तब किसी साहित्यकार को बुलाकर उसका व्याख्यान और विशेषकर कविता-पाठ करा दिया करते थे तथा तुलसी-जयंती भी मनाई जाती थी। लेकिन दिल्ली में कुछ लोग थे जिनके घर हिंदी के केन्द्र बने हुए थे। याद आते हैं मुझे इंद्र विद्यावाचस्पति, रामधन शास्त्री, सत्यवती मलिक, डॉ. युद्धवीर सिंह, पुत्तूलाल वर्मा 'करुणेश' और श्रीमती राज्यलक्ष्मी राघवन आदि के कुछ नाम। अरे, मैं जैनेन्द्रजी और नगेन्द्रजी के नाम तो भूल ही गया। ये सब अपने-आप में एक संस्था थे। कहूं कि हिंदी के तीर्थ थे। इनमे हिंदी के साहित्यकार यदाकदा अवगाहन करते। हिंदी की धुन के धुनी योजनाओं के मंत्र जपते। श्रद्धा के दूध-फूल चढ़ाते।

मानना होगा कि दिल्ली के हिंदी-प्रचार में यहां से प्रकाशित होनेवाले इंद्रजी के दैनिक 'अर्जुन' और श्री सत्यदेव विद्यालंकार द्वारा संपादित दैनिक 'हिंदुस्तान' का बड़ा हाथ रहा है। प्रभाकर, विशारद आदि की परीक्षाओं से भी, जिन्हें सरकारी नौकरियों के लिए उस समय मान्यता मिल गई थी, हिंदी के पठन-पाठन को छात्र-छात्राओं में पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हुई थी। सच्चे आर्यसमाजी भी काम-काज को हिंदी में करने का आग्रह रखते थे। राजधानी के भाषा-महासागर के ये छोटे-छोटे सुंदर हिंदी-द्वीप थे। या कहूं कि रेगिस्तान के बीच जहां-तहां मिलनेवाले नखलिस्तान थे, जहां जाने में, अपनी भाषायी थकान मिटाने मे मुझे बड़ा सुख या सुकून मिलता था। मैं सबके साथ जुड़ा। सभी का स्नेहभाजन बना। सबसे पारिवारिकता स्थापित की। धीरे-धीरे भारत की राजधानी में हिंदी का यह परिवार बढ़ने लगा।

इसमें उत्साह की लहर तब आई, जब जनता को स्वतंत्रता आती हुई दिखाई देने लगी। स्वतंत्रता और हिंदी का चोली-दामन का साथ शुरू से ही रहा है। गांधीजी और टंडनजी बार-बार यह दोहराते रहे थे कि बिना हिंदी के भारत की स्वतंत्रता अधूरी ही रहेगी। जब अंतरिम सरकार बनी और उसमें हिंदीप्रेमी नेता सम्मिलित हुए तब तो लोगों को विश्वास हो गया कि अब हिंदी आई। संविधान निर्माण के समय ही हिंदी-चर्चा ने तो इस विश्वास को और भी दृढ़ कर दिया। लोग अपना भाषायी चोला बदलने लगे।

दिल्ली में हिंदी के कार्य को आगे बढ़ाने में पुराने गांधीवादी कांग्रेसियों, लोहियावादी समाजवादियों का ही नहीं, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की राजनीतिक संस्था जनसंघ का भी हाथ रहा है। दिल्ली के बड़े-बड़े व्यापारिक संस्थानो ने भी उन दिनों अनुभव कर लिया था कि अब तो सरकार के साथ हिंदी में ही कामकाज करना पड़ेगा। सरकारी

संस्थानों ने ही नहीं, व्यापारियों ने भी हिंदी-ज्ञाताओं की भरती करना शुरू कर दिया। हिंदी के टाइपराइटर खटखटाने लगे। अगर स्वतंत्रता के साथ-साथ हिंदी को राजभाषा बनाने की घोषणा हो गई होती तो आज ये दुर्दिन नहीं देखने पड़ते। परंतु हिंदी के भाग्य में तो पहले चौदह वर्ष का वनवास, और न जाने कब तक का अज्ञातवास लिखा था। हिंद महासागर में जो हिंदी का ज्वार उठा था, वह देखते ही देखते उतर गया। लहरें अदृश्य हो गईं। वह फिर कब आएंगी, इसका आज किसी को पता नहीं। परंतु सागर का नियम तो अटल है। वे आएंगी और अवश्य आएंगी और लाएंगी हिंदी के पोत को किनारे पर। न मन मारने की आवश्यकता है और न मुंह मोड़ने की। मेरा तो यह अटल विश्वास है कि जिस हिंदी को हिंदीतर भाषियों ने अपनाया है, जिसने सुब्रह्मण्यम भारती, स्वामी दयानंद, महात्मा गांधी, मालवीयजी, टंडनजी जैसे हिंदी-ऋषि उत्पन्न किए हैं, उनकी तपस्या कभी विफल नहीं होगी। मैं इन्हीं की मशाल को लेकर आगे बढ़ा हूं। दिल्ली को केंद्र बनाकर मैंने हिंदी का चतुर्दिक प्रकाश फैलाने की कोशिश की है। मैंने टंडनजी का यह कथन गांठ में बांध लिया है कि दिल्ली में हिंदी चलेगी तो देश में हिंदी चलेगी। मेरा यह प्रयत्न रहा है कि देशवासी राजनीति के लिए ही दिल्ली की ओर न देखें, वे हिंदी के लिए भी दिल्ली से प्रेरणा प्राप्त करें।

मित्रो ! लाल किले पर जो राष्ट्रध्वज फहराता है, उसकी ओर ध्यान से देखो। उसके मध्य में जो सुदर्शन चक्र है, वह हिंदी के चक्रवर्ती स्वरूप का ही द्योतक है। नेताजी का 'जय हिंद' जब बर्मा से चलकर भारत के जन-जन की जुबान पर आ गया है तो दिल्ली से उठा हुआ 'जय हिंदी' का प्रकाश संपूर्ण भारत को हिंदीमय कर देगा।

परमप्रिय भाई गोपालप्रसादजी,

हिन्दी में अब प्रचारकों की पीढ़ी ही समाप्त हो चली है। गांवों के युवक दुर्भाग्यवश इस समय केवल 'पॉलिटीकल' हिन्दी को ही जानते हैं; हिन्दी भाषा की शक्ति और उसके साहित्य से किसी को कुछ लेना-देना नहीं है। मेरा यह अनुभव कई हिन्दीप्रेमी ग्रामीण नवयुवकों से अक्सर बातें करने पर ही प्रौढ़ व परिपक्व हुआ है। अब स्वयं दौड़धूप कर पाना मेरे लिए संभव नहीं रहा। कान बेकार हो गए हैं और आंखों की रोशनी भी कम हो चली है।

आप हिन्दी प्रचार के लिए अथक लगन रखते हैं। आपके व आपकी हिन्दी सेवा के प्रति मेरे मन में प्रेम तो है ही, साथ ही आदरभाव भी है।

आपका
—अमृतलाल नागर

ःंदी के लिए संघर्ष : राष्ट्रीय स्तर पर

दिल्ली के हिंदी क्षेत्र में मेरा प्रवेश विद्यार्थी बनकर हुआ। यद्यपि मैं अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन की विशारद और साहित्यरत्न की परीक्षाएं प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर चुका था। लेकिन दिल्ली में उन दिनों पंजाब की प्रभाकर परीक्षा का बड़ा महत्त्व था। प्रति वर्ष सैकड़ों छात्र-छात्राएं इस परीक्षा में बैठते थे। भाई विष्णुजी के नाम के आगे प्रभाकर तभी से जुड़ा हुआ है। सहारनपुर के कन्हैयालाल मिश्र भी सगर्व अपने नाम के आगे प्रभाकर लिखते हैं। मैं प्रभाकर परीक्षा की जटिल पुस्तकों के सरल अध्ययन संबंधी छोटी-छोटी पुस्तिकाएं और चार्ट नई सड़क के कुंजी विक्रेताओं के लिए लिखा करता था। कनाट प्लेस के एक रात्रिकालीन स्कूल में बी. ए., एम. ए. और प्रभाकर के छात्रों को हिंदी पढ़ाया करता था। प्रभाकर पढ़ाते-पढ़ाते मैं प्रभाकर की परीक्षा में भी बैठ गया और प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण भी हो गया। इसका एक उद्देश्य इन परीक्षाओं में बैठनेवालों के संपर्क में आना था। इनके लिए मैंने परीक्षोपयोगी भाषणमाला भी निःशुल्क आयोजित कराई। आगे चलकर ये विद्यार्थी हिंदी के प्रचार कार्य और आंदोलनों में बड़े काम आए।

रेडियो में हिंदी की प्रतिष्ठा

सम्मेलन की स्थापना से पूर्व जब दिल्ली में टंडनजी ने रेडियो बहिष्कार आंदोलन चलाने के लिए श्री रामधन शास्त्री और मुझको नियुक्त किया तो मैंने अपनी छात्र सेना का जुलूस बनाकर रेडियो भवन को चारों ओर से घेर लिया। तब बुखारी साहब रेडियो के डायरेक्टर जनरल हुआ करते थे। अंग्रेजी और उर्दू के कार्यक्रमों की ही प्रधानता होती थी। कभी-कभी किराए के हिंदी के छुटभैयों को बुलाकर खानापूरी कर दी जाती थी। जिस समय हम लोग राजधानी के दर्जनों साहित्यकारों और हजारों छात्रों के साथ प्रदर्शन कर रहे थे, उस समय रेडियो में एक हिंदी कवि-गोष्ठी चल रही थी। अधिकारी और

कविगण इतने डर गए कि गोष्ठी में भाग लेनेवाले तथाकथित कवियों को पीछे के एक वाहन निकासी द्वार से चुपचाप खिसका दिया गया। हमारा यह आंदोलन केवल प्रदर्शन तक ही सीमित नहीं रहा। मैं निरंतर लिखा-पढ़ी करता रहा। अखबारों में लेख और बयान देता रहा। अधिकारियों से और मंत्रियों से शिष्टमंडल लेकर मिलना जारी रहा। तब तक चुप नहीं हुआ, जब तक कि रेडियो आकाशवाणी नहीं बन गया और इसकी भाषानीति नहीं बदली। अर्थात् जब तक इसकी सभी उद्घोषणाएं हिंदी में नहीं दी जाने लगीं, हिंदी वार्ता विभाग सुगठित नहीं हुआ और जब तक डॉ. नगेन्द्र से लेकर पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी तक को आकाशवाणी में विशिष्ट पदों पर आसीन नहीं किया गया। केवल दिल्ली के आंदोलन का ही क्यों, राष्ट्र के समस्त हिंदीजनों और संस्थाओं ने इसके लिए अलग-अलग और सामूहिक प्रयत्न किए। फलस्वरूप सर्वश्री सुमित्रानंदन पंत, भगवतीचरण वर्मा, इलाचंद्र जोशी व उदयशंकर भट्ट जैसे प्रतिष्ठित साहित्यकार आकाशवाणी के हिंदी सलाहकार बनकर दिल्ली आ गए।

जिन दिनों मैं सम्मेलन का मंत्री था, उन दिनों हमने 1962 के जुलाई मास के प्रारंभ में रेडियो की भाषानीति, जिसमें हिंदी को सरल बनाने के नाम पर अरबी-फारसी शब्दों को ठूंसकर विकृत किया जा रहा था, के विरुद्ध अखिल भारतीय स्तर पर आंदोलन चलाया। सम्मेलन ने आंदोलन चलाने के लिए मेरे संयोजन में एक उच्चस्तरीय समिति का गठन किया। सर्वश्री रामधारी सिंह 'दिनकर', मन्नूलाल द्विवेदी, जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी, डॉ. विजयेन्द्र स्नातक समिति के माननीय सदस्य थे। इस सिलसिले में मेरा आकाशवाणी के मंत्री श्री रेड्डी से लंबा पत्र-व्यवहार भी हुआ। अंत में सरकार को अपने मत में परिवर्तन करना पड़ा। इस मोर्चे पर सम्मेलन को सफलता प्राप्त हुई।

राजभाषा की प्रतिष्ठा के लिए

मेरे सम्मेलन संभालने से पूर्व जिन दिनों भारतीय संविधान की रचना की जा रही थी, तब टंडनजी के सत्प्रयत्नों से अखिल भारतीय स्तर पर राजधानी में राजभाषा व्यवस्था परिषद का आयोजन किया गया। इसका उद्देश्य संविधान में हिंदी को प्रतिष्ठित कराना और उसे राजभाषा का दर्जा दिलाना था। मुझे इस परिषद का प्रचारमंत्री बनाया गया। मेरा कार्य विज्ञप्तियां निकालने और देशभर के सभी भाषाओ के पत्रों के जरिये ऐसे वातावरण का निर्माण करना था, जिससे संविधान निर्मात्री सभा के सदस्यों के हृदय में यह बात गहरे पैठ जाए कि हिंदी का सार्वभौमिक और राष्ट्रीय महत्त्व क्या है ? केवल हिंदीभाषी लोग ही नहीं, समूचा देश और राष्ट्र की सभी भाषाएं हिंदी को ही राष्ट्रभाषा मानती हैं और उसे ही राजभाषा के पद पर आसीन करना चाहती हैं। मेरे प्रचार क्षेत्र से यह महत्त्वपूर्ण कारण जुड़ा हुआ था कि संविधान निर्मात्री समिति के सदस्यों से अलग-अलग और सामूहिक रूप से मिला जाए और उन्हें हिंदी की प्रतिष्ठा के लिए प्रेरित किया जाए। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए एक समिति बनाई गई। सेठ गोविंददास इसके मुखिया थे। उनके अतिरिक्त इस समिति में सर्वश्री इन्द्र विद्याधाचस्पति, बालकृष्ण

शर्मा नवीन, पं. कमलापति त्रिपाठी, मौलिचंद्र शर्मा, गोविंदकांत मालवीय, शंभूनाथ तिवारी, रामधन शर्मा, पुत्तूलाल वर्मा 'करुणेश' और श्री माधव सदस्य थे। गोविंददासजी ने प्रचार कार्य प्रारंभ करने के लिए मेरे पास पांच सौ रुपये का एक चेक भेजा। उसे मैंने सधन्यवाद लौटा दिया। लिखा कि मैं हिंदी की सेवा के लिए मेहनताना नहीं लेता। प्रचार कार्य में जो खर्च हो, वह कार्यालय करे। उससे मेरा कोई वास्ता नहीं।

राजभाषा व्यवस्था परिषद बड़े व्यापक स्तर पर आयोजित की गई। इसने संविधान में हिंदी की प्रतिष्ठा के लिए कार्य किया। विशेषता यह कि इसमें हिंदी के कम और हिंदीतर प्रदेशों के साहित्यकार, शिक्षाशास्त्री, न्यायविद, बुद्धिजीवी और राजनेता बड़ी संख्या में उपस्थित हुए तथा सर्वसम्मति से हिंदी के पक्ष में प्रस्ताव पारित किया। यह परिषद नई दिल्ली के कांस्टीट्यूशन क्लब के पुराने विशाल भवन में 6 और 7 अगस्त, 1949 को दो दिन तक चली। इसकी अध्यक्षता बम्बई विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर और अनेक भाषाओं के प्रकांड पंडित श्री पी. वी. काने ने की। इस परिषद में सर्वश्री प्रो. जगधर जाडू, डा. चोइथराम गिडवानी, भाई प्रताप दयालदास (कश्मीरी), पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी, राहुल सांकृत्यायन, वियोगी हरि, इन्द्र विद्यावाचस्पति, भदंत आनंद कौशल्यायन, डॉ. अमरनाथ झा, पं. गिरधर शर्मा, पं. मौलिचंद्र शर्मा, बलभद्रप्रसाद मिश्र (हिंदी), डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, रजनीकांत दास, डॉ. कालिदास नाग, क्षेत्रेशचंद्र चट्टोपाध्याय (बंगला), आर्त्तवल्लभ मोहंती, गिरिजाशंकर राय (उड़िया), प्रो. वी. कृष्णैया, जी. आई. सांमैया, जी. बी. सुब्बाराव, रोयम्प्रोलू सुब्बाराव (तेलुगू), डॉ. सी. कुन्नन राजा, आर. वी. पोडूवल, डॉ. पी. गोडा वर्मा, प्रो. चंद्रहासन, महाकवि वल्लतोल (मलयालम), एस. कृष्ण शर्मा (कन्नड़), पी. वी. काने, श्रीमती कमलाबाई किबे, रामराव देशमुख (मराठी), के. एम. मुंशी, प्रो. विष्णुप्रसाद त्रिवेदी, प्रो. रसिकलाल सी. पारिख (गुजराती), सूर्य विक्रम गेमाली, एल. इंबुगोहल सिंह, स्वामी अमृतानंद (अन्य भाषाएं)। इस राजभाषा व्यवस्था परिषद का संचालन बड़ी सूझबूझ से टंडनजी ने किया था और इसे सरदार पटेल का आशीर्वाद प्राप्त था। इस परिषद का एक अंग होने के कारण मैं उक्त महानुभावों के सहज रूप से संपर्क में आ गया और कुछ के साथ तो निकटता भी स्थापित हो गई।

परिषद के प्रस्ताव को पारित कराने में और कांग्रेस पार्टी में नेहरूजी के विरोध और सभा से उठकर बाहर निकलने के बाद भी नवीनजी, श्री कृष्णदत्त पालीवाल, श्री वेंकटेशनारायण तिवारी और मन्नूलाल द्विवेदी आदि सरदार पटेल के नेतृत्व में जमे रहे। बाद में अंग्रेजी के पत्रों ने लिखना प्रारंभ कर दिया कि संविधान में केवल एक वोट से ही हिंदी को राजभाषा बनाने की बात स्वीकृत हुई है। बहुत-से लोगों में यह भ्रम अभी तक बना हुआ है, जो गलत है। व्यवस्था परिषद और संविधान निर्मात्री सभा में तो हिंदी संबंधी प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ था। एक वोटवाली बात तो कांग्रेस पार्टी की बैठक की थी।

संविधान में हिंदी तो आई, लेकिन देवनागरी अंकों को खोकर। अहिंदी-भाषियों को सीखने में समय लगेगा, यह तर्क देकर उसे चौदह वर्षों का वनवास भी कैकैयी अंग्रेजी ने तत्कालीन राजा दशरथ से मांग लिया। वनवास की अवधि समाप्त हो जाने पर दुर्योधन

और दुःशासन आदि कौरवों ने पांडवीय हिंदी को पुनः अनिश्चित अज्ञातवास पर भेज दिया। हिंदी एक प्रकार से संविधान के कागजों पर ही लिखी रह गई। तभी से राष्ट्रीय संस्थाएं और देशभर के हिंदीप्रेमी लगातार विरोध करते रहे हैं। मैंने भी दिल्ली के सम्मेलन द्वारा कई बार राजभाषा सम्मेलनों की व्यवस्था करके सरकार के अंग्रेजी व्यामोह की खुलकर आलोचना की है।

राजभाषा सम्मेलन

सम्मेलन पहले अपने वार्षिक अधिवेशनों के साथ राजभाषा परिषद का भी आयोजन करता था। बाद में सन् 65 के स्वतंत्रता दिवस के मुक्तिपर्व पर सम्मेलन ने अलग से अ. भा. राजभाषा सम्मेलन की भी स्थापना कर दी। इस सम्मेलन में अनेक हिंदीतर विद्वान साहित्यकार और अहिंदी क्षेत्रों की कई संस्थाएं सम्मिलित हो गईं। बिहार के प्रमुख साहित्यकार और बिहार विधानसभा के अध्यक्ष श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु इसके सभापति बनाए गए। उन्होंने बड़ा भावनापूर्ण जोशीला भाषण दिया। उस सभा में श्री लालबहादुर शास्त्री भी उपस्थित थे। जब सुधांशुजी मुट्ठी तान-तानकर कांग्रेसी होते हुए भी कांग्रेस सरकार की कटु आलोचना कर रहे थे, तब शास्त्रीजी मुझसे कह रहे थे–"ये क्या कहे जा रहे हैं ? क्या मुझे ऐसे ही भाषण सुनवाने के लिए यहां बुलाया था ?" आदि-आदि।

राजभाषा सम्मेलन के लिए, जन और धन की आमद के लिए राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, सेठ गोविंददास और रामधारी सिंह 'दिनकर' के हस्ताक्षरों से युक्त एक अपील भी प्रचारित हुई। देश की अनेक संस्थाएं इसके साथ जुड़ गईं। मुझे इस राजभाषा सम्मेलन का मंत्री बनाया गया। इसके लिए देश के अनेक धनीमानी सज्जनों ने स्वतः अपनी प्रेरणा से धनराशि भेजना शुरू कर दिया। पहली राशि मिली श्री मुरलीधर डालमिया से और दूसरी मिली श्री रामगोपाल गाडोदिया से। श्री किशनलाल कटपीसवाले इसके अर्थमंत्री थे। बैंक में अलग से खाता खोला गया। राजभाषा के पक्ष में एक लहर व्याप्त हो गई देशभर में। हिंदी प्रदेशों के अतिरिक्त गुजरात, महाराष्ट्र, आंध्र और असम विशेष रूप से इस आंदोलन में सम्मिलित थे। जवाहरलालजी से पहली झड़प हुई। फिर श्रीमती इंदिरा गांधी और श्री मोरारजी देसाई से राजभाषा सम्मेलन के प्रतिनिधि मिले। लेकिन वही ढाक के तीन पात। हिंदी को राजभाषा कहने में भी सरकारी पक्ष की जुबान लड़खड़ाने लगी। उसे संपर्क भाषा, जोड़ भाषा और देश की एक प्रमुख भाषा कहा जाने लगा। हिंदी विरोधियों ने इसे दुरूह और अप्रचलनीय कहना शुरू कर दिया। सरलीकरण के उपदेश दिए जाने लगे। देश की सभी भाषाएं राष्ट्रभाषाएं हैं, जैसे नारे उछलने लगे। बड़े परिश्रम और अध्यवसाय से जो पारिभाषिक शब्दावलियां बनी थीं, वह गोदामों में फेंक दी गईं। कुछ लोगों ने तो हिंदी को राष्ट्रभाषा और राजभाषा की बजाय एक जनपदीय बोली भी कहना शुरू कर दिया। ये हमले जबर्दस्त थे। राजभाषावादियों के कदम लड़खड़ाने लगे। हमारे राजभाषा सम्मेलन का सूर्य भी प्रचंड आतप बनने से पूर्व ही अस्त हो गया। इसका एक बड़ा कारण तमिलनाडु में हिंदी विरोधी राहु का उदय होना था। मैं उसके

विस्तार में नहीं जाऊंगा। केवल यही कहूंगा कि इस राहु का ग्रहण लगभग सभी हिन्दीतर प्रदेशों पर पड़ा। जिन प्रदेशों ने हिन्दी को अपनी भाषा के साथ-साथ दूसरी भाषा के रूप में प्रचलित किया था, वे भी अंग्रेजी की ओर उन्मुख हो गए। विवशता से कहूं या मौका पाकर कहूं कि राष्ट्र की एकता के नाम पर केन्द्रीय सरकार ने संविधान के राजभाषा संबंधी अनुच्छेद में एक नहीं, दो बार ऐसे संशोधन कर डाले कि आज स्थिति यह हो गई है कि अगर एक भी राज्य हिंदी का समर्थन न करे तो अंग्रेजी राजकाज में अनंत काल तक चलती रहेगी।

संविधान संशोधनों का विरोध

लेकिन दिल्ली हिंदी साहित्य सम्मेलन और मैंने हिम्मत नहीं हारी। जब तमिलनाडु के मद्रास और सभी प्रमुख नगरों में हिंदी के साइनबोर्ड काले किए जा रहे थे, वहां की हिंदी संस्थाएं संकट में पड़ गई थीं, वहां रहनेवाले हिंदीभाषी भयभीत हो गए थे, तब मैंने दक्षिण भारत की पदयात्रा का निश्चय किया। इसकी खबर जब मेरे अनन्य मित्र और तत्कालीन गृहमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री को मिली तो उन्होंने मुझे ऐसा करने से रोकते हुए कहा—"लोग आपकी भावना को नहीं समझेंगे। देश में भाषायी विग्रह उत्पन्न हो जाएगा। जो दक्षिण में तमिलनाडु में हो रहा है, वह उत्तर में भी होने लगेगा। तमिलनाडु के राजनीतिक खेल से आप विचलित न हूजिए। यह तूफान स्वतः शांत हो जाएगा।" मैं उस समय तो रुक गया, लेकिन जब संशोधन विधेयक आया तो मुझसे नहीं रहा गया। उधर शास्त्रीजी विधेयक को लाने की तैयारी कर रहे थे और इधर मैं इसके विरोध में देशव्यापी आंदोलन की तैयारी में लगा था। शास्त्रीजी का फोन आया—"यह क्या कर रहे हो ?" मैंने किंचित आक्रोश में कहा—"आप अपना काम कर रहे हैं और मैं अपना काम कर रहा हूं।" इस पर वह बोले—"नहीं, एक बार जवाहरलालजी से मिल लो।" उन्होंने साक्षात्कार की व्यवस्था कर दी। मैं एक बड़े शिष्टमंडल के साथ उनके पास पहुंचा। नेहरूजी पहले गरम हुए, फिर नरम पड़े। इसका विवरण मैं अन्यत्र लिख चुका हूं। इस भेंट का एक परिणाम अवश्य हुआ कि संशोधन विधेयक के साथ एक हिंदी संकल्प भी पारित किया गया। ऐसा संकल्प जो आज तक पूरा नहीं हुआ है।

जब दूसरी बार संसद में भाषा संशोधन विधेयक आया तो दिल्ली से बिगुल बज गया। उत्तर प्रदेश और बिहार से छात्रों की वाहिनी दिल्ली की ओर चल पड़ीं। अंग्रेजी के साइनबोर्ड काले किए गए। धरने दिए गए। अनशन हुए। 6 दिसंबर, 1967 को सम्मेलन के आह्वान पर दिल्ली में शांतिपूर्ण हड़ताल हुई। उसके बाद से मैं गुप्तचर विभाग की गिरफ्त में आ गया। सादी वर्दी में पुलिसवाले मेरे मकान के सामने खड़े होने लगे। मैं जब दैनिक 'हिंदुस्तान' के दफ्तर को या किसी अन्य कार्य से बाहर निकलता तो एक खुफिया पुलिसवाला मेरे साथ लग लेता। डाक सेंसर होने लगी। सम्मेलन के कई कार्यकर्त्ताओं पर मुकदमे दायर हुए। यह सब मुझसे नहीं देखा गया। सन् 42 जैसा जोश मुझमें आ गया। दिल्ली के गांधी मैदान में अंग्रेजी शूर्पनखा का एक ऊंचा पुतला बनाया

गया। सेठ गोविंददास की अध्यक्षता में पहले आम सभा हुई। इसमें हिंदी के दिग्गजों के अतिरिक्त दक्षिण भारत के दो महानुभावों ने तेलुगू और हिंदी भाषा में संविधान संशोधन विधेयक का विरोध किया। सभा के चारों ओर सशस्त्र पुलिस लगी थी। उनकी उपस्थिति में ही अंग्रेजी का पुतला जलाकर राख कर दिया गया। लेकिन पुतला ही जला, उसकी आंच अंग्रेजी पर नहीं आई। स्वाधीनता संग्राम के सेनानी और हिंदीप्रेमी अंग्रेजों से तो लड़ सकते थे, उसमें उन्होंने विजय भी पाई, लेकिन अपनों से कैसे लड़ा जाए ? गांधीजी ने अपनी मृत्यु से एक माह पूर्व कहा था–"स्वतंत्रता तो मिली, लेकिन बिना हिंदी के यह स्वतंत्रता अधूरी है। अगर भारत को अपनी आजादी कायम रखनी है तो हमें आर्थिक, सामाजिक और नैतिक मोर्चों पर संघर्ष जारी रखना पड़ेगा। यह लड़ाई बहुत कठिन होगी। क्योंकि यह अपनों से ही लड़नी पड़ेगी।"

हे ब्रज मंडलेश्वर !

अत्र कुशलम् तत्रास्तु।

आपने कृपा करके मेरी 'सूर-शोध सामग्री' विषयक पुस्तक दिल्ली से प्रकाशित करा दी, अनुगृहीत हूं। अब शरीर साथ नहीं देता। जिस कमरे में मेरा पुस्तक भंडार और आसंदी थी, वह किराये का स्थान मुझे छोड़ना पड़ा। दुर्लभ पुस्तकों के ढेर के ढेर संदूकों में बंद पड़े हैं। अब लिखा-पढ़ा भी नहीं जाता। चबूतरे पर पड़ा-पड़ा धूप सेंकता रहता हूं। अगली बार मथुरा आओ तो सूर-संबंधी दुर्लभ पांडुलिपियों तथा ग्रंथों को संभालकर ले जाओ। आपसे कई बार बातें हुई हैं। मैं 'सूरसागर' को लीला-प्रधान ग्रंथ के रूप में संपादित करना चाहता था। वह काम अधूरा रह गया। इसे सत्येन्द्रजी या तुम ही कर सकते हो। परंतु सत्येन्द्रजी आर्यसमाजी हैं और तुम वैष्णव हो। सूर-साहित्य के मर्मज्ञ भी हो। मेरे अनन्य हो। यह वृहत्तर कार्य मैं तुमको सौंपकर मुक्त होना चाहता हूं।

–जवाहरलाल चतुर्वेदी

सम्मेलन : स्थापना, विकास और रीति-नीति

जब-तब, जहां-तहां हिंदी के लिए किए गए कार्य तो कई हैं। परंतु व्यापक रूप से, संगठनबद्ध हिंदी-सेवा मुझसे दिल्ली में ही बन पड़ी। यहां जो हिंदी का कार्य हुआ उसका श्रेय दिल्ली के हिंदी साहित्य सम्मेलन की हिंदीनिष्ठ, सेवाभावी उस मंडली को है जो तन-मन और धन से मेरे साथ सम्मेलन से जुड़ी थी। सम्मेलन के पच्चीसों मंडलों के हजारों सदस्य राजधानी के मुहल्ले-मुहल्लों और बस्ती-बस्तियों में "दिल्ली की भाषा हिंदी है।" "देश की भाषा हिंदी है !" का अलख जगाने लगे। मुझे ऐसा समय एक भी याद नहीं आता कि जब राजधानी के लोगों ने सम्मेलन के किसी आह्वान को अनसुना कर दिया हो। स्वयंसेवक मांगे, स्वयंसेवक मिले। आंधी हो, वर्षा हो, दिन हो, रात हो, जब जहां उन्हें तैनात कर दिया, वहां मुस्तैदी के साथ डटे ही रहे। सम्मेलन की झोली किसी के दरवाजे से खाली नहीं लौटी। सम्मेलन एक ताकत बन गया था दिल्ली में। वह हड़ताल करा सकता था। संगीनों के साये में गांधी मैदान में अंग्रेजी का पुतला जला सकता था। दिल्ली नगर निगम, दिल्ली प्रशासन और केन्द्र सरकार से किसी भी मुद्दे पर टकरा सकता था। तभी तो देश के हिंदी-प्रेमियों का ध्यान दिल्ली के हिंदी साहित्य सम्मेलन की ओर आकृष्ट हुआ।

राजधानी का तो कोई वरिष्ठ घराना, कोई प्रख्यात साहित्यकार या प्राध्यापक, कोई राज या समाजसेवी ऐसा नहीं था जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सम्मेलन से न जुड़ा हो। लोगों में आम धारण थी कि कांग्रेस और जनसंघ (अब भाजपा) को छोड़कर अगर कोई तीसरी ऐसी संस्था राजधानी में है, जो जन-मन को आकर्षित कर सकती है तो वह व्यास का हिंदी साहित्य सम्मेलन ही है। तभी तो हिंदी के प्राण और अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के जनक राजर्षि टंडनजी ने दिल्ली से विदा होते समय कहा था—"दिल्ली हिंदी साहित्य सम्मेलन की हिंदी-सेवा स्तुत्य है।" बहुत कुछ मेरे बारे में भी कहा, उसे मैं नहीं दोहराऊंगा। क्योंकि मैं तो सम्मेलन से एकाकार हो गया था।

उसकी बड़ाई, मेरी बड़ाई और उसकी बुराई, मेरी बुराई,। लेकिन फिर कहूंगा कि मैं तो निमित्त मात्र था। स्तुति के योग्य तो मेरे वे साथी थे, जिन्होंने बड़ी लगन से हिंदी के लिए अनथक परिश्रम तो किया, लेकिन उनका बड़प्पन कि अपने को पीछे रखकर सदैव मुझे आगे रखा। तभी तो मैं दिल्ली में कुछ उल्लेखनीय कार्य कर सका।

दिल्ली के साहित्य सम्मेलन से मेरा संबंध उसके जन्म से ही रहा है। जब सन् 1944 में अ. भा. हिंदी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन जयपुर में हुआ तो उसकी स्थायी समिति का सदस्य होने के नाते मैंने दिल्ली में प्रांतीय सम्मेलन की मांग उठाई। श्री मौलिचंद्र शर्मा ने इसका अनुमोदन किया। कुछ लोगों ने इसका विरोध भी किया कि जब दिल्ली प्रांत है ही नहीं, तो प्रांतीय सम्मेलन कैसा ? परंतु स्थायी समिति का बहुमत मेरे साथ था तथा टंडनजी का आशीर्वाद भी मुझ प्राप्त था, प्रस्ताव स्वीकार हो गया। तदनुसार 29 अक्तूबर सन् 1944 के दिन दीवान हाल में श्री रामधन शास्त्री के सभापतित्व में एक सार्वजनिक सभा हुई। इसमें श्री रामचंद्र महारथी के प्रस्ताव और सर्वश्री नगेन्द्र, अवनीन्द्र विद्यालंकार के समर्थन से दिल्ली प्रांतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन की स्थापना का संकल्प ग्रहण किया गया। इस संकल्प को नियमित और व्यावहारिक रूप देने के लिए श्री रामचंद्र महारथी के संयोजन में एक समिति बनाई गई जिसका एक सदस्य मैं भी था। यह समिति अंतरिम थी। 3 दिसंबर, 1944 को हिंदी संस्थाओं की एक सार्वजनिक सभा में प्रांतीय सम्मेलन की नियमावली स्वीकृत की गई और 23 दिसंबर को सर्वसम्मति से निर्वाचन संपन्न हुआ। मैं और श्री नगेन्द्र कार्य समिति में ही रहे। हमने कोई पद लेने में असमर्थता प्रकट कर दी। यद्यपि इस बीच मुझे प्रधानमंत्री बनाने या साहित्य मंत्री का पद देने के सर्वसम्मत प्रस्ताव आए। परंतु उन दिनों मैं ब्रज साहित्य मंडल से जुड़ा हुआ था। वहां की कई महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारियां मुझ पर थीं और पत्रकारिता के साथ-साथ मेरा लेखन भी जोरों से चल रहा था। मैंने नम्रतापूर्वक वे प्रस्ताव स्वीकार नहीं किए।

लेकिन टंडनजी की नजर मुझ पर शुरू से ही थी। वह स्वराज्य आंदोलन के सिलसिले में और ब्रज साहित्य मंडल में मेरे द्वारा किए गए कार्यों के कारण मुझ पर कृपालु थे। आखिर उन्होंने जोर देकर मुझे सन् 1952 में स्थायी समिति की एक बैठक में सम्मेलन का पुनर्गठन करने और संस्था का प्रधानमंत्रित्व संभालने के लिए विवश कर दिया। श्री मौलिचंद्र शर्मा मुझे बैठक से बाहर ले गए और कहा कि न मत करो। मेरे अग्रज तुल्य श्री वियोगी हरिजी ने तो भरी सभा में मुझे आदेश ही दे डाला। परिणामस्वरूप मेरे आग्रह पर डॉ. युद्धवीर सिंह को अध्यक्ष और श्री सुंदरलाल भार्गव को अर्थमंत्री बनाने का प्रस्ताव भी स्वीकार कर लिया गया। पुनर्गठन के समय मैंने राजधानी के कई प्रमुख साहित्यकारों और राज-समाजसेवियों को कार्य समिति में जोड़ा। अब तक जो सम्मेलन धुन के धनी, कर्त्तव्यनिष्ठ और सबके प्रिय श्री पुत्तूलाल वर्मा 'करुणेश' के चलते-फिरते झोले में था, वह व्यवस्थित और नियमित रूप से चलने की डगर पर आ गया। डॉ. युद्धवीर सिंह ने अपने निवास स्थान का एक कमरा सम्मेलन के लिए खाली कर दिया। कार्य

समिति के दस सदस्यों ने प्रति माह दस-दस रुपये देने का निश्चय किया। एक चपरासी रखा गया। श्री सुंदरलाल भार्गव ने हिसाब-किताब रखना तो शुरू किया ही, साथ ही उन्होंने मुझे वचन दिया कि आगे बढ़ो, धन की कमी के कारण कोई काम नहीं रुकने पाएगा।

किसी संस्था को जमाने और चलाने के लिए धन और जन ही पहली आवश्यकता होती है। मैं युद्धवीर सिंहजी के साथ इस मुहिम पर निकल पड़ा। बाजार-बाजार, मंडी-मंडी, गली-गली और धनीमानी व्यक्तियों के चक्कर लगने लगे। युद्धवीरजी दिल्ली के लोकप्रिय नेता थे और उन दिनों मैं अपनी कविताओं के दैनिक हिंदुस्तान में प्रति सप्ताह प्रकाशित होने और पत्रकारिता के कारण दिल्लीवालों का स्नेहभाजन होता जा रहा था। उस समय दैनिक 'हिंदुस्तान' हिंदी का सर्वश्रेष्ठ पत्र था और दिल्ली में खूब चलता था। पत्र के साथ-साथ मेरा भी नाम उछल रहा था। तब से लेकर जब तक मैं सम्मेलन का पहले प्रधानमंत्री और बाद में महामंत्री रहा, तब तक सम्मेलन का कार्य आर्थिक कठिनाई के कारण कभी नहीं रुका। हमें टंडनजी ने भी अपने निजी खाते से दो सौ रुपये का एक चेक दिया। राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्र प्रसाद ने भी अपनी निजी पास बुक देखकर एक चेक काटा। सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन ने भी निजी रूप से आर्थिक सहायता दी। बाबू जगजीवनराम से तो जब-जब जो मांगा सो मिला और पंडित कमलापति त्रिपाठी ने तो हर संकटकाल में देश के धनीमानी व्यक्तियों को चिट्ठियां लिखकर हजारों रुपये की सहायता सम्मेलन को उपलब्ध कराई। धन-संग्रह के कार्य में सहयोग देनेवाले नाम तो अनेक हैं, परंतु दो नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं–पहला, श्री किशनलाल कटपीस-वाले और दूसरा, साड़ी किंग श्री विपिनचंद्र रस्तोगी। जब आपातकाल लगा और सम्मेलन के कई कार्यकर्त्ता भूमिगत होगए या जेलों में बंद हो गए तथा बाकी के महत्त्वपूर्ण व्यक्ति निष्क्रिय हो गए, तब श्री रस्तोगी ही ऐसे व्यक्ति निकले जिन्होंने आपातकाल में सम्मेलन का संपूर्ण खर्च ही अपने ऊपर ले लिया।

सम्मेलन को चलाने में मैंने जो रीति-नीति बरती, उसकी जानकारी देना यहां जरूरी समझता हूं। मैंने सम्मेलन को सर्वदलीय मंच बनाया। कांग्रेसी भी शामिल थे, भूतपूर्व जनसंघी भी। समाजवादी भी शामिल थे और साम्यवादी भी। मुसलमान भी सम्मेलन से जुड़े थे तो सिख भी। प्रवेश की एक ही शर्त थी–हिंदीनिष्ठ होना। धार्मिक और दलीय कार्यों को करने के लिए अपनी-अपनी आस्थाओं के अनुसार वे सब स्वतंत्र थे, परंतु सम्मेलन में सब भाईचारे के साथ एकजुट होकर हिंदी का कार्य करते थे। मेरी नीति का दूसरा अंग था कि जो मिलकर चले उसका स्वागत और बेमेल रुख अख्तियार करे तो उसकी विदाई। सिद्धांत और व्यवहार की बात हो और हिंदीनिष्ठा संदिग्ध हो तो कोई भी सदस्य खुलकर मेरा और सम्मेलन की नीतियों का विरोध कर सकता था। लेकिन अप्रामाणिकता और जीवन में कदाचार बरतनेवाले को सम्मेलन में जगह नहीं थी। मैंने जिस रीति से काम किया, उसकी तीसरी नीति यह थी कि सम्मेलन में कभी इतना धन एकत्र करके नहीं रखा जाए कि जिसकी वजह से कभी विग्रह की स्थिति उत्पन्न हो जाए। एक बार जब सम्मेलन के पास चालीस हजार रुपये हो गए थे तो ऐसी स्थिति

आ भी गई थी। तब मुझे दृढ़ता के साथ विग्रहकर्त्ताओं को कई-कई साल के लिए निष्कासित भी करना पड़ा। ये लोग सम्मेलन को अदालत में भी ले गए। लेकिन सम्मेलन के लोगों ने सूझबूझ से काम लिया और मामला आपस में ही सुलट गया। मैंने गांधीजी की आंखें देखी थीं और टंडनजी के साथ काम किया था। इन दोनों महापुरुषों का यह सिद्धांत था कि संस्था में पाई-पाई का हिसाब रखा जाए और अपनी रोजी-रोटी का अलग से प्रबंध करके संस्था के धन को डसनेवाले सांप के समान समझा जाए। जब तक मैं 'हिंदुस्तान' दैनिक में रहा, कवि-सम्मेलनों और किताबों से कमाई चलती रही। तब तक मैं सम्मेलन के एक पैसे का दागी नहीं रहा। जब ये स्रोत सूख गए और आंखें खराब हो गई तो कार्य समिति का सर्वसम्मत निर्णय मुझे स्वीकार करना पड़ा कि मुझे टेलिफोन की सुविधा दी जाए, मेरी सम्मेलन संबंधी यात्राओं का व्यय भी दिया जाए और 'ब्रज विभव' जैसे बड़े ग्रंथ के लिए एक सहायक की व्यवस्था की जाए। अपने पैंतीस वर्ष के कार्यकाल में मुझसे दो कार्य ऐसे हो गए जिसके लिए मैं स्वयं को मानसिक अपराधी मानता हूं। केवल दो बार मैंने ग्रंथों के टाइटिल की बची हुई कतरनों पर अपने दो घरेलू निमंत्रण-पत्र छपवा लिए थे। यद्यपि वे वहां बेकार पड़े हुए थे। फिर भी मुझे उनका उपयोग अपने लिए तो नहीं ही करना चाहिए था।

जब मैं आगरा में 'विकासशील भारत' दैनिक का संपादक बनकर गया तब भी मुझे सम्मेलन के मित्रों ने नहीं छोड़ा। मैं आगरा से ही सम्मेलन का कार्य देखता था और बार-बार सम्मेलन के कार्य से दिल्ली आता था। लेकिन दिल्ली से बाहर रहने के कारण सम्मेलन में कुछ ऐसे महत्त्वाकांक्षी लोग महत्त्व पा गए कि जो मेरी दृष्टि से सम्मेलन के लिए हितकर नहीं थे। मेरे प्रवास का प्रभाव कर्मचारियों पर भी विपरीत पड़ा। जब मैं दिल्ली लौटकर आया और सम्मेलन के वार्षिक आय-व्यय का विवरण कार्यसमिति की बैठक में प्रस्तुत किया गया तो कुछ रुपये मेरे नाम निकाले गए थे। मैंने पूछा कि ये रकम मैंने कब ली और कैसे ली ? यह भी बताया जाए। यदि इसका प्रमाण नहीं है, तो यह राशि मेरे नाम क्यों निकाली गई ? कार्यसमिति चुप थी। एक कर्मचारी ने कुछ कैफियत देने की कोशिश की तो मैं समझ गया कि सम्मेलन की नाव अब किधर जानेवाली है ? संयोग से मेरी जेब में उस समय उतनी राशि थी कि मैंने तत्काल वह चुका दी और घोषणा कर दी—"सम्मेलन में यह मेरा आखिरी दिन है। कल से मैं इसकी चौखट पर पांव नहीं रखूंगा।" मैंने त्यागपत्र भेज दिया। इसे कार्यसमिति ने स्वीकार नहीं किया। स्थायी समिति ने भी उसे नहीं माना। मुझ पर चारों ओर से दबाव पड़ने लगे कि मैं त्यागपत्र वापस ले लूं। अंत में सम्मेलन के कार्यवाहक अध्यक्ष श्री कुलानंद भारतीय, जो दिल्ली प्रशासन में कार्यकारी शिक्षा पार्षद थे, ने अपने कार्यालय में सम्मेलन के कुछ विशिष्ट लोगों की एक बैठक बुलाई। सभी स्नेही मित्रों ने मुझे हठ त्यागने को विवश किया तो मैंने कहा—"त्यागपत्र तो वापस नहीं लूंगा। सम्मेलन की चौखट पर भी पैर नहीं रखूंगा। लेकिन अगले चुनावों तक मैं 'ब्रज विभव' का संपादन और 'हिंदी भवन' का ही काम देखूंगा, सम्मेलन का नहीं। आप जल्दी से जल्दी चुनाव कराइए। तब तक श्री दीवानचंद बंसल कार्यवाहक महामंत्री के रूप में सम्मेलन के सभी काम देखें।" चुनाव

देर से देर में हुए। इस बीच 'ब्रज विभव' ग्रंथ लोकार्पित हो गया। जब चुनाव हुए तब मैं उस बैठक में नहीं गया। चुनाव अधिकारी को लिखकर भिजवा दिया कि मैं सम्मेलन के किसी पद के लिए प्रत्याशी नहीं हूं। न ही मैंने किसी को अपना नाम प्रस्तावित करने के लिए सहमति दी है। बड़ी जोड़तोड़ के बाद चुनाव हुए। मेरा मान रखने के लिए मुझे सम्मेलन का सरंक्षक भी बना दिया गया। परंतु–"गही जौन गही, जौन छोड़ी तौन छोड़ दई।"

प्रिय व्यासजी,

जय जमुना मैया की !

बदायूं के कवि-सम्मेलन की घटनाओं को पढ़कर खेद हुआ। मुझे इस संबंध में कई पत्र मिले हैं। खेद है कि 90वीं वर्ष में मैं कुछ लिख-पढ़ नहीं सकता। आप दिल्ली में विराजमान हैं और शासकों से आपका परिचय भी है। इसलिए आप जो उचित समझें, करें। वैसे मेरी निजी राय तो यह है कि इसे आंदोलन का रूप न दिया जाय। खतरा यह है कि शासन की विरोधी पार्टियां इसका दुरुपयोग कर सकती हैं।

कवि-सम्मेलनों का नियंत्रण कैसे किया जाय, इस पर मेरे कुछ विचार हैं, पर उनके बारे में फिर कभी आपको लिखूंगा।

विनीत

–बनारसीदास चतुर्वेदी

राजधानी में हिंदी की प्रतिष्ठा के लिए

दिल्ली में किए गए कार्यों के विस्तार में जाने से पूर्व सम्मेलन के स्वरूप, उसके संविधान और उसकी प्रगति को आगे बढ़ानेवाली टोली के कार्यकर्त्ताओं के बारे में चर्चा करना आवश्यक है। इसकी स्थापना दिल्ली प्रांतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन के रूप में हुई। संविधान में संशोधन करके कुछ दिनों बाद इसका नाम दिल्ली प्रादेशिक हिंदी साहित्य सम्मेलन हो गया। जब अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन शिथिल हुआ और झगड़ों में पड़ गया तो राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन, पं. बनारसीदास चतुर्वेदी, पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी और सेठ गोविंददासजी की प्रेरणा से सम्मेलन अखिल भारतीय स्तर पर कार्य करने के लिए अग्रसर हुआ। पुनः संविधान बदला गया और सम्मेलन को स्वतंत्र इकाई के रूप में हिंदी की केन्द्रस्थ संस्था बनाने के लिए इसका नाम दिल्ली हिंदी साहित्य सम्मेलन रखा गया। निश्चय हुआ कि पहले दिल्ली-सम्मेलन के कार्यों का विस्तार हिंदी राज्यों में किया जाए। तदनुसार हरियाणा, हिमाचल, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य प्रदेश के शिथिल पड़े हुए प्रादेशिक सम्मेलनों को दिल्ली सम्मेलन से संबद्ध किया गया और कुछ स्थानों पर नए केन्द्र भी खोले गए। इनमें सर्वाधिक कार्य उत्तर प्रदेश के सम्मेलन ने किया। पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी ने उत्तर प्रदेश के विभिन्न नगरों में साहित्य को जोड़कर सम्मेलन के अधिवेशन किए। विद्वानों और साहित्यकारों को पुरस्कार और पदक भी भेंट किए। मुझे भी उत्तर प्रदेश सम्मेलन के एक सर्वोच्च स्वर्ण पदक से दिल्ली में आकर उपकृत किया गया। इसका नाम था 'राजर्षि टंडन स्वर्ण पदक'। इसी प्रकार हरियाणा में भी वहां के सम्मेलन के मंत्री तथा अध्यक्ष श्री राजेन्द्रप्रसाद जैन ने नगर-नगर और कस्बों-कस्बों में हिंदी की ज्योति प्रज्वलित की। राजस्थान की बागडोर पं. युगलकिशोर चतुर्वेदी ने संभाली। उन दिनों श्री भवानीप्रसाद मिश्र सम्मेलन के अध्यक्ष थे। उन्होंने सभी प्रदेशों के दौरे किए, शाखाएं स्थापित कीं और मैं भी कुछ स्थानों पर गया। हिंदी राज्यों ने इस प्रकार उस आरोप का उत्तर देने की कोशिश की कि हिन्दीवाले अहिंदीवालों

से तो हिंदी चलाने के लिए कहते हैं, लेकिन पहले अपने प्रदेशों में तो हिंदी चलाएं।

जैसा कि मैंने पहले कई बार कहा है, उसे फिर जोर देकर दोहराता हूं कि दिल्ली को हिंदीमय बनाने और भाषा तथा साहित्य की ज्योति जगाने में नाम भले ही मेरा लिया जाए, इसका वास्तविक श्रेय दिल्ली-भर में बिखरे हुए सैकड़ों निष्ठावान हिंदी-कार्यकर्त्ताओं को है। मेरे कार्यकाल में लगभग पच्चीस से तीस सम्मेलन के मंडल बड़ी लगन और निष्ठा से हिंदी के कार्यों में सक्रिय थे उन दिनों। प्रत्येक मंडल में सौ से लेकर, कहीं-कहीं तो हजार से भी ऊपर सदस्य हुआ करते थे। प्रत्येक मंडल में ग्यारह से इक्कीस सदस्यों की कार्यकारिणी हुआ करती थी। केन्द्र में भी कार्यकारिणी की सदस्य संख्या सदस्यों के अनुपात से चालीस तक पहुंच जाती थी। जिस संस्था के पास इतने अधिक कार्यकर्त्ता हों और जिसका संचालक मंडल हिंदी के लिए तन-मन-धन से समर्पित हो, वह क्या नहीं कर सकती ? इन्हीं के बल पर समय-समय पर केन्द्र की राजभाषा के लिए और दिल्ली की जनता और सरकार के कामकाज के लिए राजधानी में व्यापक आंदोलन हुए। लाख-लाख लोगों के हस्ताक्षर कराके केन्द्र और दिल्ली प्रशासन को दिए गए। प्रदर्शन आयोजित हुए, हड़तालें हुईं और जो-जो कुछ हुआ, उसका आगे वर्णन करूंगा। फिलहाल तो मैं अपने कुछ उल्लेखनीय साथियों का स्मरण करता हूं। जैसे, डॉ. युद्धवीर सिंह—जिन्होंने सम्मेलन को गरिमा और प्रामाणिकता दी। श्री वसंतराव ओक—जिन्होंने सम्मेलन के संगठन पक्ष को मजबूत किया। श्री महावीरप्रसाद बर्मन—जो सदैव सिद्धांतों पर अडिग रहे। अर्थ-मंत्री के रूप में हिसाब-किताब को आइने की तरह साफ रखा और हर संकट के समय अपने नाम को सार्थक करते हुए शुरू से लेकर अब तक ढाल की तरह मेरे आगे रहे। श्री सत्यनारायण बंसल—जो केवल नाम के ही प्रबंध मंत्री नहीं थे, उनके गंभीर और शालीन व्यक्तित्व ने सदैव सम्मेलन के कार्यकर्त्ताओं में अनुशासन बनाए रखा। श्री धर्मचंद गोयल—शुरू से अंत तक संगठन मंत्री रहे। इन्हें जो काम दिया गया, उसे प्रामाणिकता के साथ निभाया और बड़ी मेहनत के साथ मेरे कार्यकाल के तीस वर्षों का इतिहास भी लिखा जो सम्मेलन के कार्यों का प्रामाणिक दस्तावेज है। श्री ताराचंद खंडेलवाल—कार्यक्रमों की रूपरेखा बनाना। उन्हें स्तरीय सफलता प्रदान करना। निमंत्रण-पत्रों से लेकर स्मारिकाओं तक के प्रकाशन में कैसे चमक लाई जा सकती है, कोई इनसे सीखे। श्री विमलकुमार जैन-नेक सलाहकार। प्रामाणिक कार्यकर्त्ता। कांग्रेस और दिल्ली के राजनेताओं को सम्मेलन के साथ जोड़ना, मुख्यतः इन्हीं का कार्य था। श्री दीवानचंद बंसल—सम्मेलन से पूर्व ही हिंदी का कार्य करनेवालों में एक। प्रदर्शन और शोभायात्राओं के मामले में प्रवीण। पहले कार्यकारिणी के साधारण सदस्य थे। फिर मंत्री बने। बाद में कार्यवाहक महामंत्री भी। मैं सम्मेलन के कार्यों में सदैव इन पर निर्भर रहा। श्रीमती सरला भटनागर—कवयित्री सम्मेलनों की जननी। हर काम में पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलनेवाली। श्रीमती इंदिरा मोहन—साहित्यानुरागी, सुसंस्कृत रुचि, कार्यक्रमों के संचालन में पटु और आवश्यकता पड़ने पर धन-संग्रह के कार्यों में भी जुट जानेवाली और अंत में श्री हरिबाबू कंसल—मुझे इनका नाम पहले ही लेना था। केन्द्र और राज्य सरकारों, सरकारी और गैरसरकारी संस्थानों से लगातार पत्र-व्यवहार करना

तथा जहां भी कोई हिंदी-विरोधी बात दृष्टि में आए, उसके प्रतिकार के लिए कटिबद्ध हो जाना इनकी विशेषता थी। अपने साहित्यकार साथियों का जिक्र अगले लेख में करूंगा। अभी तो जिनके नाम छूट गए हैं, उनसे क्षमा-याचना ही करता हूं।

तब सम्मेलन के मंडल हिंदी के प्रेरक महापुरुषों जैसे—स्वामी दयानंद, महामना मदनमोहन मालवीय, महात्मा गांधी, राजर्षि टंडन आदि के साथ-साथ प्रतिष्ठित साहित्यकारों, जैसे—तुलसी, मीरा, कबीर, नानक, रत्नाकर, हरिऔध, प्रसाद, निराला आदि के नाम से अपना काम करते थे। एक मंडल सम्मेलन के प्रथम प्रधानमंत्री करुणेश जी के नाम पर भी था। इन मंडलों से कई ख्यातिनामा महापुरुष जुड़े हुए थे, जैसे—श्री धर्मवीर (आई. सी. एस.), श्री रामेश्वर ठाकुर (वर्तमान वित्त राज्यमंत्री), श्री कुलानंद भारतीय (पूर्व शिक्षा कार्यकारी पार्षद) तथा कई प्रमुख साहित्यकार, जैसे—सर्वश्री वियोगी हरि, उदयशंकर भट्ट, विजयेन्द्र स्नातक, भवानीप्रसाद मिश्र आदि। इन सभी महानुभावों ने मंडलों के अध्यक्ष पद को सुशोभित ही नहीं किया, महत्त्वपूर्ण कार्य भी किए। सम्मेलन का अध्यक्ष पद तो सदैव वरिष्ठ साहित्यकारों ने सुशोभित किया, जैसे—पं. कमलापति त्रिपाठी, श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', श्री प्रभात शास्त्री, पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी, श्री जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी और प्रो. वासुदेव सिंह आदि।

तब के सम्मेलन और आज के सम्मेलन पर जब दृष्टिपात करता हूं तब मेरी वही हालत होती है कि इस जांघ को उघाडूं तो दूसरी लाजों मरती है और दूसरी को उघाडूं तो पहली शर्म से पानी-पानी हो जाती है। एक ही उदाहरण पर्याप्त है। पहले दिल्ली का हिंदी साहित्य सम्मेलन अपने साथ संसदीय हिंदी परिषद और राष्ट्रभाषा प्रचार समिति को साथ लेकर प्रतिवर्ष 14 सितंबर, हिंदी दिवस को संसद के केन्द्रीय कक्ष में एक भव्य आयोजन किया करता था। इसमें प्रधानमंत्री, उपप्रधानमंत्री, शिक्षा मंत्री, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के माननीय न्यायाधीश तथा हिंदी एवं अहिंदी क्षेत्र के वरिष्ठ साहित्यकार और सुधीजन भाग लिया करते थे। हिन्दी-प्रेमी सांसदों सहित राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के सहयोग से अनेक हिंदीतर भाषी और वे अहिंदी भाषा-भाषी छात्र, जिन्होंने हिंदी की परीक्षा पास की होती, उन्हें पुरस्कृत किया जाता था और बाद में प्रसाद वितरण होता था। इस अवसर पर दिल्ली में एक विशाल हिन्दी शोभायात्रा भी निकलती थी, जिसमें साहित्यकारों की झांकियां होतीं, गाजे-बाजे के साथ आगे-आगे हाथी भी चलते। बिहार के विख्यात साहित्यकार शंकरदयाल सिंह हाथी पर बैठने में गर्व और गौरव का अनुभव किया करते थे। लेकिन अब जो सन् 91 के हिंदी दिवस का हाल मैंने सुना तो मन विषाद से भर गया। देखनेवालों ने बताया कि मंच पर जितने वक्ता थे, सामने उतने ही श्रोता थे। जिन विशिष्ट लोगों को निमंत्रित किया गया था, या तो वे आए नहीं और जो भूले-भटके आ गए वे बिना भाषण दिए बीच में ही उठकर चले गए। कहनेवालों ने यह भी कहा कि "वृक्ष की छाया और पुरुष की माया उसी के साथ चली जाती है।" लेकिन मैं क्या कहूं ? देश की सभी हिन्दी संस्थाओं का कम-बढ़ यही हाल है।

हां, तो अब सम्मेलन द्वारा किए गए पिछले हिंदी-कार्यों का संक्षेप में वर्णन करता हूं। यह सम्मेलन ही था कि जिसने श्री गोविन्दवल्लभ पंत के गृहमंत्री बनने पर सप्रमाण यह सिद्ध किया कि दिल्ली की क्षेत्रीय भाषा हिंदी ही है। जिस शिष्टमंडल को लेकर मैं उनसे मिला था, उसमें दिल्ली विश्वविद्यालय के अहिंदी भाषी उपकुलपति, पंजाबी भाषा-भाषियों के नेता, उर्दू के अदीब, प्रमुख प्रकाशकों में से दो, पत्रकारों में से चार जिनमें एक अंग्रेजी पत्र से भी संबंधित थे, शामिल थे। पंतजी आश्वस्त हुए, दिल्ली को हिंदी क्षेत्र घोषित कर दिया। यह प्रथम चरण था।

उन दिनों दिल्ली को हिंदी प्रदेश मानकर केन्द्र सरकार ने उसे असेंबली प्रदान कर दी थी। अब सम्मेलन प्रशासन की भाषा हिंदी बनाने के काम में असेंबली के पीछे लगा। उन दिनों के मुख्यमंत्री तो हिंदी के ज्यादा पक्ष में नहीं थे, परंतु उसके एक वरिष्ठ मंत्री डॉ. युद्धवीर सिंह भी थे। उन्होंने पुरजोर हिंदी का समर्थन किया। यद्यपि श्री गोपीनाथ 'अमन' उर्दू के आला शायर थे, लेकिन हम लोगों ने उनको भी वश में कर लिया। फिर असेंबली के सदस्यों की घेराबंदी की गई। तब मैं चप्पलें पहना करता था। वह घिस-घिस गईं, टूट-टूट गईं। लेकिन सदस्यों का बहुमत जुटाने में हम सफल होगए। इस बहुमत के आगे अल्पमत को झुकना पड़ा और दिल्ली की असेंबली ने हिंदी को प्रशासन की कामकाजी भाषा बनाने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। तब असेंबली में कांग्रेस का बहुमत था। हिंदी कागज पर आई और थोड़ा-थोड़ा काम होने लगा। लेकिन जब जनसंघ के लोग प्रशासन पर काबिज हुए तो श्री विजयकुमार मल्होत्रा और श्री केदारनाथ साहनी ने प्रशासनिक क्षेत्र में हिंदी को आगे बढ़ाया। लेकिन जब महानगर परिषद बनी तथा श्री जगप्रवेश चंद्र मुख्य कार्यकारी पार्षद बने तो अंग्रेजी के टाइपराइटर फिर से खटखटाने लगे। केवल श्री कुलानंद भारतीय ही ऐसे निकले जो सारा काम हिन्दी में करते थे। अब फिर असेंबली बननेवाली है। अब फिर जोर लगाने की जरूरत है। कुर्सी पर बैठे हुए लोग जिस तरह की भाषा को सुनकर काम करते हैं, उसी भाषा का प्रयोग उसी तरह अब हिंदीप्रेमियों को करना होगा। तभी सिद्धांत को व्यवहार में लाया जा सकता है। जब दिल्ली की गणना सात हिंदी राज्यों में होती है तब यहां का कामकाज हिंदी में न चले तो इससे ज्यादा शर्म की बात क्या हो सकती है ?

दिल्ली नगर निगम के कामकाज की भाषा हिंदी कराने में एड़ी-चोटी का जोर लगाना पड़ा। तब शिष्टमंडलों और ज्ञापनों से काम नहीं चला। जब सत्ताधारी दल (कांग्रेस) की पार्टी बैठक में भाषा के प्रश्न पर विचार हुआ तो मैंने कूटनीतिक उपायों का सहारा लिया। हिंदीप्रेमी निगम पार्षदों को तोड़ लिया और वे बड़ी संख्या में पार्टी बैठक में उपस्थित ही नहीं हुए। पार्टी नेता ने मुझसे कहा कि यह क्या करा रहे हो ? मैंने उत्तर दिया—"अभी क्या है, जब यह प्रस्ताव सदन के सामने आएगा, तब देखना"। समझौता हुआ। मैं सदल-बल बैठक की कार्यवाही देखने पहुंचा तो देखता क्या हूं कि सदन के बाहर विरोधी दल के लोग 'कांग्रेस हाय-हाय !' के साथ पंजाबी और उर्दू के पक्ष में

भी नारे लगा रहे थे। बाहर जो भी हुआ, अंदर दिल्ली नगर निगम की भाषा हिंदी का प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकार हो गया। तब मैंने हिंदी के कामकाज की देखरेख करने और उसे आगे बढ़ाने के लिए दिल्ली नगर निगम में एक हिंदी परिषद का गठन भी करा दिया। जब तक निगम के एक शिक्षा-अधिकारी और मेरे बालपन के साथी श्री महेशचंद्र अग्रवाल इसके अध्यक्ष रहे, इस परिषद का निगम की भाषानीति पर बड़ा दबदबा रहा। लेकिन अब देखता हूं कि नगर निगम में भी हिंदी दूसरी भाषा के रूप में चल रही है और हिंदी परिषद कहां है, इसका मुझे पता ही नहीं। किसी शुभ कार्य को मंजिल तक पहुंचा देना ही पर्याप्त नहीं होता, उसकी संपन्नता और प्रतिष्ठा के लिए निरंतर लगन के साथ काम करते रहना जरूरी होता है। प्रश्न अपनी जगह अब भी कायम है कि करे तो कौन करे ?

सम्मेलन उक्त निकायों में हिंदी को मान्यता दिलाकर ही संतुष्ट नहीं हुआ। उसने दिल्ली प्रशासन, तीस हजारी की अदालतों और दिल्ली नगर निगम के अंग्रेजी फार्मों का हिंदी-अनुवाद कराकर उन्हें प्रकाशित किया और जनता से आग्रह किया कि वह हिंदी-फार्मों को हिंदी में भरकर ही उक्त निकायों से पत्राचार करे। कुछ स्थानों पर सम्मेलन की ओर से हिंदी टंकण की भी व्यवस्था की गई। इसके लिए हिन्दी टाइपराइटर और टाइपिस्टों की व्यवस्था भी सम्मेलन ने की, जो सेवाभाव से मामूली शुल्क लेकर या निःशुल्क हिंदी में अर्जियां और फार्मों के भरने का काम किया करते थे। नगर में पोस्टर निकालकर जनता को इसकी सूचना भी दी गई। छोटे-बड़े व्यापारिक संस्थानों से लेकर दूकानदारों तक हिंदी में ही अपना कामकाज करने के निवेदन-पत्र पहुंचाए गए। कार्यकर्ताओं के शिष्टमंडल भी प्रमुख-प्रमुख कंपनियों, व्यापारियों तथा विशिष्ट व्यक्तियों से लगातार मिलते रहे। सरकारी और निगम आदि निकायों से भी सम्मेलन ने यह मंजूरी प्राप्त कर ली कि हिंदी-आवेदनों पर तुरंत ध्यान दिया जाएगा। इन सभी जगहों पर हिंदी अधिकारियों की नियुक्ति हो गई। प्रशासन ने तो भाषा विभाग ही खोल दिया। दिल्ली प्रशासन के भाषा विभाग में जब तक श्री नारायणदत्त पालीवाल रहे, तब तक वह हिंदी संबंधी कार्यों की तत्परता से निगरानी करते रहे।

उस समय सम्मेलन की बात लोग ध्यान से सुनते ही नहीं, मानते भी थे। सम्मेलन की प्रेरणा से अनेक लोगों ने अपना सारा कामकाज हिन्दी में ही करना शुरू कर दिया। हमने अंग्रेजी के नामपट्टों को हिंदी में बदलवाने का अभियान भी कई वर्षों तक चलाया। दिल्ली में जिस फर्म या दूकान का हिंदी में सबसे अच्छा नामपट्ट होता, उसे लाल किले के कवि-सम्मेलन के प्रारंभ में किसी विशिष्ट व्यक्ति द्वारा ट्राफी, प्रशस्ति-पत्र आदि प्रदान किए जाते। उन दिनों अंग्रेजी में ही निमंत्रण-पत्र छापने का रिवाज था। सम्मेलन ने इस दिशा में भी व्यापक प्रयत्न किए। हिंदी के सर्वश्रेष्ठ निमंत्रण-पत्र को भी लाल किले में पुरस्कृत किया जाता था। सम्मेलन कार्यालय में निमंत्रण-पत्रों को हिंदी में तैयार करने की सुविधा भी प्रदान की गई। श्री हरिबाबू कंसल के सहयोग से एक छोटा कामकाजी शब्दकोश भी प्रकाशित किया गया। आवेदन-पत्रों आदि के नमूने भी एक छोटी पुस्तिका में छापकर निःशुल्क वितरित किए गए। टेलीफोन की डायरेक्टरी हिंदी में भी हो, इसके

लिए लगातार तीन वर्ष तक आंदोलन किया गया। सफलता मिली। डायरेक्टरी हिंदी में छप गई। परंतु इसे स्वेच्छा से खरीदनेवालों का अभाव टेलीफोन विभाग को अखरा तो सम्मेलन ने हिंदी डायरेक्टरी की पांच सौ प्रतियां खरीदीं। जहां से शुल्क मिल गया तो ठीक, नहीं तो मुफ्त ही लोगों तक पहुंचा दीं। मंडलों से कहा गया कि जो मंडल सबसे अधिक डायरेक्टरी खपाएगा, उसको सम्मानित किया जाएगा। इस तरह हिन्दी की दूरभाष निर्देशिका दिल्ली में चल पड़ी। इसका अनुकरण अन्य हिंदी प्रदेशों में भी हुआ। उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश और बिहार का भी मुझे पता है, अब तो शायद लगभग सभी हिंदी राज्यों में हिंदी की टेलीफोन डायरेक्टरियां प्रकाशित होने लगी हैं। लेकिन अब सुनता हूं कि दिल्ली में हिंदी की डायरेक्टरी लेनेवालों की निरंतर कमी होती जा रही है। वह छपती भी अब कम है और बहुत देर बाद केवल रस्म अदायगी के लिए। सम्मेलन और हिंदी की अन्य संस्थाओं को इस ओर ध्यान देना चाहिए।

स्वतंत्रता के बाद दिल्ली में हिंदी की लहर कुछ अधिक जोर से ही चली। उन दिनों जहां एक ओर हिन्दीनिष्ठ कार्यकर्त्ता जनता में हिंदी का प्रचार कर रहे थे, तब श्री रामधन शास्त्री रक्षा विभाग में हिंदी को प्रचलित करने के लिए दिन-रात एक कर रहे थे। आज भारतीय सेना में जो हिंदी का सर्वाधिक प्रयोग होता है और सैनिकों के लिए हिंदी पढ़ना अनिवार्य बन गया है तथा कमांडरों द्वारा जो आदेश सैनिकों को कवायद और युद्ध के समय दिए जाते हैं, वे सभी हिन्दी में होते हैं। इसका बहुत कुछ श्रेय दिल्ली के साहित्य सम्मेलन के संस्थापकों में से एक स्वर्गीय भाई रामधनजी शास्त्री को ही है। इसी तरह आकाशवाणी पर हिंदी की प्रतिष्ठा के लिए विशेषकर उद्घोषकों व समाचारवाचकों की भाषा के हिंदीकरण के लिए डॉ. नगेन्द्र की सेवाएं भुलाई नहीं जा सकतीं। उन्होंने कुछ वर्षों तक आकाशवाणी में रहकर हिंदी की सराहनीय सेवा की। स्मरण रहे कि डॉ. नगेंद्र भी प्रारंभ से ही दिल्ली के साहित्य सम्मेलन के प्रमुख अंग रहे हैं।

जब रक्षा विभाग और आकाशवाणी में हिंदी का काम चल रहा था तो सम्मेलन ने दिल्ली की पुलिस लाइन में अधिकारियों से लेकर सिपाहियों तक को हिंदी पढ़ाने का काम हाथ में लिया। इसके लिए सेवाभावी और वैतनिक शिक्षक नियुक्त किए गए। सरल भाषा में पाठ्यक्रम बनाया गया। परीक्षाएं ली गईं। प्रमाणपत्र दिए गए। इन प्रमाणपत्रों के आधार पर पुलिस कर्मचारियों को पदोन्नति भी मिला करती थी।

स्थानाभाव के कारण कुछ महत्त्वपूर्ण कार्यों का उल्लेख-भर कर रहा हूं, जैसे—दिल्ली विश्वविद्यालय में शिक्षा-परीक्षा के लिए हिंदी को वैकल्पिक माध्यम बनाने के लिए व्यापक और सफल आंदोलन, जैसे—अदालतों के फैसले हिंदी में लिखने, वकीलों की जिरह हिंदी में करने और मुवक्किलों के आवेदन हिंदी में स्वीकार करने के कार्य। जैसे—हिंदी के दस सूत्रों को लाखों की संख्या में छापकर जन-जन में वितरित करना। इन सूत्रों में था—हिंदी पढ़ो और पढ़ाओ। अपना कामकाज हिंदी में करो। हिन्दी की पुस्तकें खरीदो। हिंदी के अखबार पढ़ो। सरकार के साथ सभी कामकाज हिंदी में करो। चिट्ठी से लेकर दस्तावेजों

तक, चेकों से लेकर आयकर के फार्म भरने तक, जहां भी हस्ताक्षर करने हों हिंदी में करो। आदि।

सम्मेलन ने हिंदी की आवाज कहां-कहां तक पहुंचाई ? किन-किन क्षेत्रों में हिंदी का बीजारोपण किया ? उनसे कितने फल प्राप्त हुए ? अगर एक-एक करके गिनाऊं तो एक लघु पुस्तिका ही बन जाए। यहां तो मैं इस संबंध के एक प्रस्ताव को उद्धृत कर रहा हूं जो इस प्रकार है–"दिल्ली प्रादेशिक हिंदी साहित्य सम्मेलन के इस अधिवेशन (1958-59) का यह दृढ़ मत है कि प्रदेश एवं केन्द्र के सरकारी कार्यालयों में तो राष्ट्रभाषा हिंदी का प्रचलन बढ़े ही, साथ ही गैर सरकारी, सार्वजनिक तथा निजी मर्यादित समवाय (लिमिटेड कंपनियों) व संस्थाएं भी अपना कार्य-व्यवहार हिंदी में करना प्रारंभ करें। रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक व अन्य अनुसूचित बैंक तथा बीमा निगम (कॉर्पोरेशन) आदि को भी जनहित में हिंदी को अपने कार्य-व्यवहार में शीघ्र अपनाना चाहिए।"

उक्त प्रस्ताव के कार्यान्वयन पर मैं सन् 58 से 78 तक स्वयं लगा रहा और अपने साथियों को भी लगाए रखा। इस कार्य में सर्वश्री जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी, मन्नूलाल द्विवेदी, हर्षदेव मालवीय, धर्मचंद गोयल और सबसे अधिक श्री हरिबाबू कंसल ने बहुमूल्य सहयोग प्रदान किया है। श्री कंसल लगातार वर्षों तक चिट्ठी-पत्री तथा आवेदनों से अपने व्यावहारिक सुझावों द्वारा उक्त विभागों को हिंदी अपनाने के लिए प्रेरित करते रहे। उसका सुफल आज हमारे सामने है कि बैंकों व बीमा निगम आदि अनेक क्षेत्रों में हिंदी में कुछ काम होने लगा है। जो काम अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन को करने चाहिए थे, वे हमने किए। जो काम केन्द्रीय भाषा विभाग को करने चाहिए थे, उनकी पहल हमने की। जनता, निजी क्षेत्र और कोई सरकारी संस्थान ऐसा नहीं बचा जहां हिंदी साहित्य सम्मेलन का आह्वान न पहुंचाया हो। सम्मेलन ने हरियाणा के हिंदी आंदोलन में भी सहयोग दिया और पंजाब में हिंदी को बचाने के लिए भी दिल्ली हिंदी साहित्य सम्मेलन ने अपनी भूमिका का निर्वाह किया। काम मेरे सभी साथियों ने किया, परंतु यह सम्मेलन के कार्यकर्त्ताओं की उदारमना महानता है या कहूं कि मेरे प्रति सहज स्नेह है कि उन्होंने सदैव मुझे आगे रखा और मान दिया। अपने मुख से क्या कहूं, सम्मेलन के एक प्रस्ताव को यहां शब्दशः उद्धृत कर रहा हूं–

"दिल्ली हिंदी साहित्य सम्मेलन की स्थायी समिति की यह बैठक प्रधानमंत्री श्री गोपालप्रसाद व्यास के प्रति हार्दिक कृतज्ञता और सम्मान प्रकट करती है। आपने सम्मेलन के प्रधानमंत्री पद पर रहकर जिस निष्ठा, त्याग, तपस्या, अध्यवसाय और योग्यता के साथ कार्य किया है वह सम्मेलन के इतिहास में सदैव अंकित रहेगा। प्रादेशिक सम्मेलन के जीवन में आपके द्वारा प्रवर्तित विविध योजनाओं एवं सक्रिय प्रयत्नों से नवजीवन का संचार हुआ है। मंडलों की स्थापना द्वारा तो हिंदी साहित्य सम्मेलन दिल्ली प्रदेश की एक प्रमुख साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संस्था बन गया है। इन सब सफलताओं का श्रेय आपकी कार्य-प्रणाली को ही है। अतः वह उसकी सराहना करती है। हमें विश्वास है कि भविष्य में भी आपकी सक्रिय सेवा सम्मेलन को सुलभ रहेगी और सम्मेलन के उत्कर्ष में आपका योग बना रहेगा।"

उक्त प्रस्ताव के सर्वसम्मति से स्वीकार होने पर आभार प्रकट करते हुए तब मैंने कहा था–"मैं तो निमित्त मात्र हूं। यह श्रेय तो राष्ट्र की जीवनी वाक्शक्ति हिंदी को ही है कि जिसने उसकी सेवा की वह धन्य हो गया। श्रेय मुझे नहीं, दिल्ली हिंदी साहित्य सम्मेलन को मिलना चाहिए। इसका श्रेय हमारी स्थायी समिति, कार्य समिति, मंडलों और हजारों की संख्या में सम्मेलन के सदस्यों तथा शुभेच्छुओं को ही है, जिन्होंने दिल्ली के माध्यम से हिंदी के प्रकाश को देशभर में पहुंचाने का अनथक प्रयास किया है, कर रहे हैं और करते रहेंगे। जिस दिन सम्मेलन का यह संगठन बिखर जाएगा, तब दिल्ली में हिंदी का कार्य भी... ।"

कृपानिधान,

आप सचमुच संत पुरुष हैं।

शास्त्रों में संतों के लक्षण बताते हुए कहा गया है–"जहँ-जहँ चरन पड़ैं संतन के, तहँ-तहँ बंटाधार।" सो चरितार्थ हो रहा है।

आपकी 'आपबीती' लेखमाला 7 जून से छपनी शुरू हुई और हालात ये हो गए कि 21 जून का ही अंक स्थगित करना पड़ा। अगले कुछ अंक जैसे-तैसे निकले। अब 26 जुलाई का अंक पुनः स्थगित करना पड़ रहा है। अंतिम सातवीं किस्त 2 अगस्त के अंक में छपेगी। लक्षण यही हैं कि 2 अगस्त का अंक भी 9 अगस्त का हो जाय–जय हो !

अब परिहार स्वरूप आप दो नए व्यंग्य लेख तुरंत तैयार कर दें–जोरदार, अनूठे, किसी नितांत अछूते विषय पर नई बांकी अदा वाले–

सस्नेह
–धर्मवीर भारती

सम्मेलन के साहित्यिक अनुष्ठान

"न हिंदी, न साहित्य, न सम्मेलन।" यह वाक्य है अपने को नोबेल पुरस्कार के योग्य समझनेवाले श्री सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' का। सम्मेलन को यह सम्मान अज्ञेय ने तब प्रदान किया जब सन् 1927 में हिंदी-जगत के सर्वोत्तम दस साहित्यकारों में उनको भी सम्मानित किया जा रहा था। इस अवसर पर सम्मेलन ने इन महापुरुषों के स्वयं के लेख और उनके कृतित्व और व्यक्तित्व पर भी मूर्धन्य लेखकों से दस लेख प्राप्त करके 'हिंदी मनीषा' नामक पुस्तक प्रकाशित की थी। ये दस मनीषी थे–सर्वश्री श्रीनारायण चतुर्वेदी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, सच्चिदानंद वात्स्यायन, जैनेन्द्र कुमार, यशपाल, लक्ष्मीनारायण मिश्र, बनारसीदास चतुर्वेदी, किशोरीदास वाजपेयी, सत्येन्द्र और कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर। उस अवसर पर मैंने अपने भाषण में उक्त कथन पर कुछ नहीं कहा। उसके तीन कारण थे–पहला, यह कि जिनका सम्मान किया जा रहा हो उनके विरुद्ध टिप्पणी करना उचित नहीं। दूसरा, यह कि मंच पर बैठे हिंदी के अन्य नवरत्नों ने न केवल इस वाक्य को गंभीरता से लिया, बल्कि अपनी चेष्टाओं और फुसफुसाहट से अपनी अप्रसन्नता भी व्यक्त कर दी। तीसरा, यह कि मैं जानता था कि अज्ञेयजी अटपटी बातें कहने और लिखने में शुरू से माहिर हैं। उन्होंने हिंदी की कई परंपराएं तोड़ीं तो इनमें से एक यह भी क्यों न मान ली जाए कि सम्मान करनेवाली संस्था का अपमान करना भी एक नई कला है।

अज्ञेयजी ही क्यों, उस समय के कुछ नामधारी, कुछ तथाकथित और कुछ हीनभाव से ग्रस्त साहित्यकार कहलाए जानेवाले लोगों का भी यही मत था कि यह हिंदी साहित्य सम्मेलन नहीं, बर्मन, बंसल, कंसल, गोयल एंड कंपनी है। यानी साहित्यकारों का नहीं, यह लालाओं का सम्मेलन है। कुछ साहित्यकार मेरे निष्ठावान साथियों को 'व्यास के कंठीबंध चेले' भी कहते थे। पीठ पीछे नहीं, सामने भी। मैंने सदैव ऐसे कथनों को मजाक में लिया है और तरस खाया है इनकी प्रखर बुद्धि पर। मन ही मन सोचा है कि अगर यह कंपनी न होती तो साहित्यिक आयोजनों के लिए तन-मन और धन लगानेवालों की

पंक्ति में ऐसा कहनेवाले लोग होते ? घर-घर से चंदा मांगने साहित्यकार जाते ? दूकान-दूकानों पर नोटिस बांटने ये घर से बाहर निकलते ? दरियां बिछाने से लेकर बड़े-बड़े पंडाल और मंच क्या हमारे मठाधीश साहित्यकारों के वश की बात थी ? संस्था चलाने के लिए, आयोजन करने के लिए, इन अवसरों पर स्मारिकाएं और पुस्तकें छपाने के लिए तथा साहित्यकारों को पुष्पहार, शाल-दुशाले, प्रशस्ति-पत्र और पुरस्कार क्या एक साहित्यकार को दूसरा साहित्यकार देता ? अगर मेरे साथ दिल्ली के लाला न होते तो राजधानी में हिंदी साहित्य का चतुर्दिक चौताला नहीं बजता। इस कथन की सत्यता को प्रमाणित किया दिनकरजी ने। उन्होंने हजारों लोगों के सामने मेरे नाम का उल्लेख करते हुए कहा कि "यदि दिल्ली का हिंदी साहित्य सम्मेलन नहीं होता तो हमें दिल्ली में कौन पूछता ? यह सम्मेलन ही है कि जिसने राजधानी में हिंदी भाषा की ही नहीं, साहित्य की भी ज्योति जगाई और किताबों में छपे-छिपे साहित्यकारों को जनता तक पहुंचाया है। उनका यशोगान किया है। उनकी अर्थियां कंधों पर उठाई हैं।" आदि आदि।

मैं इस लेख में सम्मेलन के कुछ विशिष्ट साहित्यिक कार्यों का उल्लेख विस्मृत सुधियों को ताजा करने के लिए कर रहा हूं।

जयंतियां

साहित्यकारों की जयंतियां तो स्कूल-कॉलेजों से लेकर विभिन्न सभा-सम्मेलनों द्वारा पहले भी मनाई जाती रही हैं और आज भी मनाई जाती हैं। लेकिन सम्मेलन की जयंतियों की गरिमा कुछ और ही थी। हमने दो बार तुलसी-जयंती मनाई। पहली का उद्घाटन किया श्री लालबहादुर शास्त्री ने। मैंने सोचा था कि अधिकारीगण उनको भाषण तैयार करके दे देंगे या नोट्स पकड़ा देंगे। लेकिन तत्कालीन रेल मंत्री शास्त्रीजी तुलसी-साहित्य पर इस प्रकार बोले कि शायद ही कोई तुलसी-साहित्य का मर्मज्ञ या अनुसंधानकर्त्ता अथवा कोई विश्वविद्यालय का हिंदी विभाग का प्रमुख बोल सकने में इतना सक्षम हो। मैं उसी दिन से शास्त्रीजी पर अनुरक्त हो गया और शास्त्रीजी सम्मेलन से संलग्न हो गए। दूसरी तुलसी-जयंती का उद्घाटन राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू ने किया। राजेन्द्र बाबू तुलसीकृत 'रामचरित मानस' का नियमित पारायण करनेवालों में थे। इसलिए उनके भाषण में श्रद्धा, विनय और भक्ति का समावेश स्वाभाविक था। श्रोताओं का गद्गद होना भी स्वाभाविक था। उपराष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन और गृहमंत्री श्री गोविंदवल्लभ पंत के भाषणों, श्री देवदास गांधी द्वारा रामायण के अंग्रेजी अनुवाद का लोकार्पण और भारत की सुविख्यात संगीत विभूति श्रीमती सुमति मुटाटकर के तुलसी-पद-गायन से यह जयंती अविस्मरणीय बन गई। हजारों दर्शकों के मध्य अपनी साहित्यिक मंडली के साथ नवीनजी भी बैठे हुए थे और विश्वभर में रामायण का प्रचार करनेवाले कपीशजी भी उपस्थित थे। चांदी की एक बहुत बड़ी पट्टिका पर मानस की कुछ पंक्तियां भी उत्कीर्ण कराकर राजेन्द्र बाबू को भेंट की गईं।

सूरदासजी की जयंती दिल्ली में प्रथम बार 27 अप्रैल, 1955 को सम्मेलन ने ही मनाई। संत-साहित्य के शिरोमणि व्याख्याता श्री वियोगी हरि इसके अध्यक्ष थे। उन्होंने पहली बार बताया कि वह खोजते-खोजते मेरे जन्मस्थान परासौली की चन्द्र सरोवर के तट पर बनी सूरकुटी के दर्शन भी करने गए थे, जहां सूरदासजी ने सूरसागर के सहस्रों पदों की रचना की थी। वहां बैठकर उन्होंने भी एक पद लिखा था। राजर्षि टंडनजी ने इस जयंती का उद्घाटन किया था।

हिंदी के साहित्यकारों की जयंतियां तो प्रायः सभी जगह मनाई जाती हैं, परंतु सम्मेलन ने वाल्मीकि, कबीर, नानक, रहीम आदि के साथ-साथ तिरूवल्लुवर और सुब्रह्मण्यम भारती की जयंतियां भी धूमधाम से मनाईं। सम्मेलन ने जयंती मनाने के लिए जयंतियां नहीं मनाईं। हमारा लक्ष्य था हिंदी-जगत को नया दिशाबोध देना। हिंदी के साथ अन्य भाषाओं के साहित्यकारों का स्मरण करना। इन जयंतियों को हम भाषणों तक सीमित नहीं रखते थे। इन जयंतियों के प्रमुख-प्रमुख भाषण पहले से छापकर निःशुल्क वितरित किया करते थे और कभी-कभी छोटी-छोटी पुस्तिकाएं भी।

नाटकों का मंचन

हिंदी में नाटकों का अभाव हमेशा से खलता रहा है। विशेषकर उन नाटकों का जो मंच पर अभिनीत किए जा सकें। प्रसाद आदि लेखकों के नाटकों को तो रंगकर्मी मंचन के योग्य मानते ही नहीं थे। ऐसे समय में राजधानी में सम्मेलन ने रंगमंच परिषद का गठन किया। प्रत्येक अधिवेशन के अवसर पर यथासंभव एक नाटक मंचित करने की परंपरा डाली। प्रसादजी के दुरूह समझे जानेवाले नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' का मंचन करके दिखाया। 'श्लोक का जन्म' नामक नृत्यनाटिका भी प्रस्तुत की। लोकमंचीय विधा में 'अमरसिंह राठौर' नामक नौटंकी का आनंद भी लिया और दिया। प्रेमचंद की 'पंच परमेश्वर' कहानी का नाट्य रूपांतर भी सम्मेलन ने मंचित किया। नाटकों में प्रयोगधर्मी श्री जगदीशचन्द्र माथुर के नाटक भी खेले।

सबसे पहले करुणेशजी के जमाने में सम्मेलन के अधिवेशनों में नाटक खेले जाते थे जिसमें दिल्ली के शौकिया (अमेच्योर) कलाकार पार्ट किया करते थे। सन् 1951 में लाल किले में पहली बार सम्मेलन द्वारा 'पाषाण' नाटक खेला गया। फिर तो 'बंदी' आदि कई नाटक अभिनीत हुए। एक ऐसा नाटक भी सम्मेलन ने खेला जिसे एक महिला अभिनेत्री ने लिखा था और जिसमें सिर्फ महिला कलाकारों ने ही अभिनय किया था।

सम्मेलन ने केवल नाटकों का अभिनय ही नहीं किया, नाट्य विधा पर कई संगोष्ठियों के भी समय-समय पर आयोजन किए। हमारा लक्ष्य नाटक खेलना नहीं, यह दर्शाना था कि हिंदी में भी अच्छे नाटक हैं और वे खेले भी जा सकते हैं। यह बात तब की है जब संगीत नाटक अकादमी नहीं बनी थी और न मेरे आगरा के साथी श्री नेमिचंद्र जैन ने अपने-आपको नाट्य विधा के लए समर्पित ही किया था। इस कार्य में शौकिया कलाकारों से लेकर आकाशवाणी दिल्ली तथा काशी, प्रयाग और लखनऊ

के कलाकारों और निर्देशकों का सहयोग सम्मेलन को मिला। कुछ प्रख्यात निर्देशकों के नाम याद आ रहे हैं जैसे–'श्लोक का जन्म' के निर्देशक श्री सूर्यम्, 'ध्रुवस्वामिनी' के निर्देशक श्री एफ. सी. माथुर और जगदीशचंद्र माथुर के 'बंदी' नाटक के निर्देशक श्री शिवसागर मिश्र। 'पंच परमेश्वर' का नाट्य रूपांतर श्री गोपालकृष्ण कौल ने किया था। कलाकारों और सहायकों के नाम अब याद नहीं रहे। याद रहीं वे स्मारिकाएं जो इस अवसर पर प्रकाशित की जाती थीं। याद रहे हैं नाटकों के रिहर्सल जो महीनों पहले शुरू हो जाते थे। याद रही है यह बात कि नाटकों में प्रवेश टिकटों द्वारा होता था। याद आता है वह समय जब सम्मेलन के सम्मानित कार्यकर्त्ता घर-घर, दूकान-दूकान जाकर टिकट बेचा करते थे और हाल ठसाठस भरे रहते थे।

नाटक सम्मेलन के केन्द्र द्वारा ही नहीं, उसके मंडलों द्वारा भी समय-समय पर खेले जाते रहे हैं। इन नाटकों का प्रदर्शन इस विधा में जनसाधारण की रुचि पैदा करने के साथ-साथ नाटकों के द्वारा दिल्ली की जनता के मन में हिंदी के प्रति प्रेम जाग्रत करना भी था।

अभिनंदन एवं सम्मान समारोह

यों हमने 'शिक्षक सम्मेलन,' 'व्यापारी सम्मेलन,' 'वकील सम्मेलन,' 'पत्रकार सम्मेलन,' भी समय-समय पर किए हैं। सम्मेलन की प्रेरणा से दिल्ली में हिंदी अकादमी, केन्द्रीय सचिवालय हिंदी परिषद, न्यायालय हिंदी परिषद, दिल्ली नगर निगम हिंदी परिषद और नई दिल्ली नगरपालिका हिंदी परिषद तथा कई सरकारी संस्थानों में हिंदी समितियां एवं हिंदी परिषदों की स्थापना हुई है। लेकिन जब से मैंने हिंदी का कार्य प्रारंभ किया है तभी से मेरा यह मन बना है कि हिंदी की श्रीवृद्धि तभी संभव है जब उसके प्राचीन और अर्वाचीन सृष्टाओं और उनकी कृतियों को जनसाधारण के साथ संवद्ध किया जाए। किसी भाषा की पहचान उसके बोलने या अक्षरज्ञान से ही नहीं हो सकती। भाषा की पहचान उसके साहित्य से होती है। यह पहचान स्थायी तब बनती है जब उसमें उच्चकोटि का साहित्य लिखा जाए। सच्चा लेखक पद, पुरस्कार और धन का लोभी नहीं होता। वह तो प्रेम और सम्मान के साथ-साथ यह चाहता है कि उसका लिखा हुआ पढ़ा जाए। इसीलिए मैंने सम्मेलन में यह नीति निर्मित की कि प्रबंध, अर्थ, कार्यालय, पुस्तकालय, वाचनालय आदि के विभाग तो कार्यकर्त्ताओं के पास रहें, लेकिन साहित्य मंत्री और रंगमंच मंत्री तथा सम्मेलन का अध्यक्ष साहित्यकार ही हों। हम लोग आयोजन छोटा हो या बड़ा, उसका अध्यक्ष किसी साहित्यकार को ही बनाते थे। उद्घाटन के लिए कभी-कभी सम्मानित राजपुरुषों को अवश्य बुला लिया करते थे और उनसे भी साहित्यकारों का सम्मान कराया करते थे। इसके पीछे सम्मेलन का उद्देश्य यह था कि राजधानी के लोग साहित्यकारों के कृतित्व के साथ-साथ उनके व्यक्तित्व से भी परिचित हों। उदाहरण के लिए उस समय विश्वविद्यालयों के हिंदी परीक्षार्थियों को छोड़कर दिल्ली के जनसाधारण को गालिब और जोश का नाम और काम तो मालूम था, लेकिन सुमित्रानंदन पंत, जयशंकर प्रसाद,

निराला, महादेवी वर्मा, राहुल सांकृत्यायन, लक्ष्मीनारायण सुधांशु, वृंदावनलाल वर्मा जैसे वरिष्ठ साहित्यकारों को न उन्होंने देखा था, न सुना था, न पढ़ा था। सम्मेलन ने इस अभाव की पूर्ति में साहित्यकारों का सम्मान करके यथासंभव सहयोग किया है। यहां मैं कुछ अभिनंदनों और साहित्यकारों के सम्मान का संक्षेप में विवरण दे रहा हूं। वह इसलिए भी कि सम्मेलन ने भाषा का ही नहीं, साहित्य का भी कार्य किया है। हिंदी के साहित्यकारों को अपने श्रद्धा-सुमन भी अर्पित किए हैं। जो भाषा अपने साहित्यकारों का सम्मान नहीं करती, वह समाज में और इतिहास में कभी आदरास्पद स्थान नहीं पा सकती।

श्री सुमित्रानंदन पंत का सम्मान सम्मेलन ने लाल किले के कवि-सम्मेलन में प्रथम बार किया। दिल्ली की जनता ने पैंट पर छोटा कोट, लहराती हुई लटाएं, कोमलकांत पदावली के साथ सुकोमल वाणी में मंत्रमुग्ध होकर उनका कविता-पाठ सुना। उनका अभिनंदन किया बाबू जगजीवन राम ने।

महादेवी वर्मा जब दिल्ली आईं तो उनके सम्मान में एक आयोजन किया गया, जिसमें सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', बनारसीदास चतुर्वेदी, दिनकर, इलाचंद्र जोशी, जगदीशचंद्र माथुर प्रभृति साहित्यकारों के अतिरिक्त नगर के प्रतिष्ठित गणमान्य सज्जन भी उपस्थित थे।

निरालाजी को राजपुरुषों और विश्वविद्यालयों के डॉक्टरों से बड़ी चिढ़ थी। वह साहित्यसृष्टा को सर्वोपरि मानते थे। इसलिए जब वह प्रथम और अंतिम बार दिल्ली आए तो सम्मान में पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी ने उनके गले को पुष्पहार से अलंकृत किया। इस अवसर पर दिल्ली और दिल्ली से बाहर से आए हुए साहित्यकारों और कवियों ने जय-जयकार करके उनका अभिनंदन किया। इस आयोजन में न कोई स्वागताध्यक्ष था और न कोई राजपुरुष। निरालाजी का पहलवानों जैसा शरीर, ग्रीकों जैसी नासिका, आर्य मनीषियों जैसा मुखमंडल, तहमद पर बिना बनियान के कुर्ता, कुर्ते पर चमेली के इत्र की सुगंध, अस्त-व्यस्त बाल–राजधानी की जनता ने ऐसा महाप्राण और महाकाय कवि देखा ही नहीं था। निरालाजी ने पूरे दो घंटे तक बिना रुके, बिना पानी पिए अपनी गंभीर और ओजस्वी वाणी में जैसा कविता-पाठ दिल्ली में किया, शायद ही कहीं किया हो। दिल्ली टूट पड़ी थी उनके कविता-पाठ को सुनने के लिए। गांधी मैदान में पैर रखने तक को जगह नहीं बची थी। निरालाजी के अनुरोध पर मैंने ही इस अवसर पर आयोजित कवि-सम्मेलन का संचालन किया।

हिंदी के दस मूर्धन्य लोगों के सम्मान का उल्लेख मैं लेख के प्रारंभ में ही कर चुका हूं। राजधानी के वरिष्ठ कवियों और साहित्यकारों के सम्मान का भी आयोजन सम्मेलन ने बड़े उत्साह के साथ किया है। राष्ट्रकवि मैथिलीशण गुप्त, दिनकरजी, नवीनजी, बनारसीदास चतुर्वेदी, भगवतीचरण वर्मा, इलाचंद्र जोशी, नरेन्द्र शर्मा, लक्ष्मीनारायण 'सुधाशुं' और डॉ. नगेन्द्र के सम्मान समारोह भी सम्मेलन ने बड़े आदर और स्नेह के साथ संपन्न किए हैं। महापंडित राहुल सांकृत्यायन जब अपने जीवन के अंतिम दिनों में दिल्ली आए तब उनकी वाक्शक्ति जा चुकी थी। लोगों को पहचान लेते थे, लेकिन

बोल नहीं पाते थे। तब सैकड़ों साहित्यकारों और हिंदीप्रेमियों को लेकर सम्मेलन स्वयं उनके निवास स्थान पर गया। वह एक-एक करके अश्रुपूरित नयनों से सबसे गले मिले। हम सबने दैव के इस निर्मम प्रकोप को विह्वल होकर देखा। यह मेरी उनसे अंतिम मुलाकात थी। मैंने उनका एक उपन्यास उन्हें भेंट किया तो उनकी हिचकियां बंध गईं। यह एक करुण विदाई समारोह था।

सम्मेलन ने हिंदी के अतिरिक्त मराठी के मामा वरेरकर, गुजराती के कन्हैयालाल माणिक्यलाल मुनशी सहित तेलुगू के अनंतशयनं आयंगार और तमिल के मोत्तुरि सत्यनारायण आदि साहित्यकारों के सम्मान में भी आयोजन किए हैं। वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति और मद्रास की दक्षिण भारत हिदी प्रचार सभा के शिष्टमंडलों में आए हुए साहित्यकारों के सम्मान का सुयोग भी सम्मेलन को प्राप्त हुआ है। उर्दू के जोश मलीहाबादी, फिराक गोरखपुरी और पंजाबी के गुरुमुख सिंह मुसाफिर तथा श्री इन्द्रजीत सिंह तुलसी को समादृत करने का अवसर भी सम्मेलन को मिला। कुछ फिल्मी कलाकार भी समय-समय पर सम्मेलन द्वारा समादृत हुए हैं। जैसे, पृथ्वीराज कपूर, नरगिस, महेन्द्र कपूर, गीतकार भरत व्यास आदि। सम्मेलन ने पांच महिला लेखिकाओं को भी उनकी रचनाएं 'पंचम स्वर' नामक पुस्तक छापकर सम्माननीया बनाया है। इससे पूर्व देश की प्रमुख महिला साहित्यकारों को एक आयोजन में सम्मेलन ने अपना हार्दिक सम्मान दिया है। इन लेखिकाओं में से कुछ के नाम इस प्रकार हैं–शिवानी, कृष्णा सोबती, अमृता प्रीतम, मन्नू भंडारी आदि। इन दोनों महिला साहित्यकार सम्मान समारोहों में श्रीमती कुसुम अंसल का सहयोग सराहनीय रहा।

सम्मेलन ने केवल हिंदी एवं भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों का ही नहीं, एशियाई लेखक सम्मेलन के अवसर पर दूर-दूर से आए विदेशी लेखकों का सम्मान करने का सुयोग भी प्राप्त किया है। यद्यपि आलोचक ज्ञान और ललित साहित्य के बीच में विभाजन की रेखा खींचते रहे हैं। लेकिन सम्मेलन ने जब-तब उस रेखा का उल्लंघन किया है। इसका केवल एक उदाहरण देता हूं। वह है अंतरिक्ष विज्ञान के शिखर पुरुष श्री यू. आर. राव का सम्मेलन द्वारा स्वागत समारोह। श्री राव ने हिंदी में भाषण दिया। उन्होंने न केवल भाषण दिया, बल्कि अपनी वैज्ञानिक उपलब्धियों का एक वृत्तचित्र भी समारोह में उपस्थित जनसमूह को दिखाया। केवल अंतरिक्ष विज्ञान ही नहीं, रक्षा अनुसंधान, विभिन्न उद्योगों में चल रहे अनुसंधान कार्यक्रमों पर सम्मेलन ने उपयोगी भाषणमालाएं कराकर इन विधाओं के विशिष्ट पुरुषों का अभिनंदन किया है। मैं गर्व नहीं करता, लेकिन इसे हिंदी संस्थाओ और उनका संचालन करनेवालों का कर्त्तव्य मानता हूं कि साहित्य और साहित्यकारों तथा ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में हुए कार्यों और कार्यकर्त्ताओं का अभिनंदन करें और बताएं कि ये हमारे राष्ट्र की विभूतियां हैं, इन्हें पहचानो। केवल हिंदी-हिंदी नहीं चलेगी। उसे हमें साहित्य के साथ-साथ ज्ञान-विज्ञान और प्रौद्योगिकी के प्रकाश से भी आलोकित करना पड़ेगा।

• •

सम्मेलन ने साहित्यकारों का अभिनंदन ही नहीं किया, उनकी इहलीला समाप्त होने पर उनके शवों को भी कंधा दिया है। कुछ असमर्थ साहित्यकारों की अंत्येष्टि भी सम्मेलन

ने अपने खर्चे से की है। कुछ को समय-समय पर आर्थिक सहायता भी दी है। जीते जी तो साहित्यकारों का सम्मान कम ही लोग करते हैं, लेकिन उनके दिवंगत होते ही शोकसभाओं का तांता और शोक संदेशों का ढेर लग जाता है। सम्मेलन ने वक्तव्य तो नहीं दिए, लेकिन शोकसभाएं बहुत की हैं। उनकी चर्चा करके मैं आपको गमगीन करना नहीं चाहता।

हां, इस सम्मान प्रकरण को मैं राजर्षि टंडनजी को श्रद्धा सुमन समर्पित करके समाप्त करना चाहता हूं। जब टंडनजी संविधान निर्मात्री सभा के माननीय सदस्य बनकर दिल्ली में पहली बार आए तो उनका हमने हार्दिक स्वागत किया। जब स्वेच्छा से वह संसद-सदस्यता त्यागकर दिल्ली से जाने लगे तो सम्मेलन ने उनको भाव-विह्वल विदाई दी। जीवन में पहली बार उन्होंने दूध की ठंडाई पी और मेरे हाथ से पान खाया। प्रयाग पहुंचकर जब वह अस्वस्थ रहने लगे और उस समय भी उन्हें अपने शरीर से अधिक हिंदी-हित की चिंता थी तो सम्मेलन ने प्रयाग में जाकर 'राजर्षि अभिनंदन ग्रंथ' भेंट किया। एक महती जनसभा का आयोजन किया गया। लाखों लोग इसमें सम्मिलित हुए। संपूर्णानंदजी, महादेवी वर्मा, सुमित्रानंदन पंत और वाचस्पति पाठक इस आयोजन के मुखिया बने। राजपुरुषों और साहित्यकारों में से शायद ही कोई बचा हो जो उस अवसर पर प्रयाग न पहुंचा हो। स्व. प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री की प्रेरणा और सहायता से यह महान कार्य संपन्न हो सका। अभिनंदन ग्रंथ स्व. राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसाद ने टंडनजी को भेंट किया। नेहरूजी ने समारोह के विस्तृत समाचार मुझसे पूछे। ग्रंथ देखा और कहा-"व्यास, अपने जीवन में तुमने इससे बड़ा क्या कोई कार्य किया है ? टंडनजी मुझे राजनीति में लाए थे। वह मेरे अग्रज तुल्य हैं। शाबास!"

अपने स्नेह-सलिल की वर्षा तो सम्मेलन ने मुझ पर भी की। जब मैं पचास वर्ष का हुआ तो 'घर के जोगी जोगना' की स्वर्ण जयंती मनाई गई। अलग से दो समितियां बनीं। एक अभिनंदन ग्रंथ तैयार करने के लिए और दूसरी जयंती समारोह को संपन्न करने के लिए। अभिनंदन ग्रंथ के संपादक-मंडल में थे-सर्वश्री पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामधारी सिंह दिनकर, अक्षयकुमार जैन, भवानीप्रसाद मिश्र, श्रीमती माजदा असद और श्री गोविंदप्रसाद केजरीवाल। सामग्री का चयन और संपादन समिति ने किया और प्रकाशित किया इसे एस. चांद एंड कंपनी, रामनगर, दिल्ली ने। मुझे आशीर्वाद देने आए पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी काशी से जो इस आयोजन के अध्यक्ष भी थे। यशपाल आए लखनऊ से। दिनकरजी आए पटना से। अज्ञेय चुपचाप पीछे की सीट पर आकर बैठ गए और समारोह समाप्त होने से पहले ही उठकर चले गए। किस-किसके नाम गिनाऊं सब ही तो आए थे। साहित्यकारों, पत्रकारों और राजनैतिक नेताओं तथा कार्यकर्त्ताओं का भारी जमाव था। डॉ. नगेन्द्र, डॉ. स्नातक, भवानी भाई सहित संस्कृत, उर्दू और पंजाबी के विद्वान इस समारोह में शामिल थे। श्रीमती राज्यलक्ष्मी राघवन को तो होना ही था, क्योंकि रिश्ता भाई-बहिन का था। जहां इस अवसर पर मेरे मित्र समुदाय के मुखमंडल प्रसन्नता से खिल रहे थे, वहां कुछ लोग ऐसे भी थे जिन्हें कबीर ने आंगन में कुटी छवाकर पास रखने को कहा है। वे एक-दूसरे के कानों में फुसफुसा रहे थे कि देखो, व्यास कैसा तिकड़मी

है। पहले संस्था बनाई, फिर अपना अभिनंदन करवा रहा है। क्या तीर मार लिया है इसने कि अभिनंदन किया जाए और अभिनंदन ग्रंथ भेंट किया जाए ? हमने तो दिल्ली में किसी साहित्यकार की स्वर्ण जयंती इस तरह मनते नहीं देखी। बातें यद्यपि ईर्ष्या में कही गई थीं, लेकिन इनमें सच्चाई भी थी। क्योंकि टंडनजी को अभिनंदन ग्रंथ स्वीकार करने के लिए मनाने में मुझे और लालबहादुरजी को तीन महीने लग गए थे। टंडनजी इस शर्त पर राजी हुए कि मेरे जीवन की जो मुख्य बातें हैं यानी तिथियां और संक्षिप्त कार्य, वह स्वयं तैयार करवाएंगे जिसे उन्होंने एक मुसलमान हिंदीप्रेमी से तीन-चार पृष्ठों में ही लिखवाकर भेज दिया और मुझसे कहा कि ग्रंथ मुझ पर नहीं, हिंदी पर ही केन्द्रित होना चाहिए। इसके विपरीत मेरा जीवन-वृत्त भी माजदा असद ने प्रशंसात्मक लहजे में अस्सी पृष्ठों में तैयार किया और पूरा ग्रंथ मुझ पर ही केन्द्रित रहा। जब जयंती और अभिनंदन ग्रंथ का प्रस्ताव आया तो मुझ यश-लोभी ने एक बार भी तो मना नहीं किया। उलटे भाई महावीरप्रसाद बर्मन से कहा–"शाल दे रहे हो तो पशमीने की हो जाए।" अपने अनन्य मित्र स्व. आनंदप्रकाश गोयल से कहा–"ब्रजवासी की जयंती में लोग आएं और मुंह मीठा किए बिना चले जाएं–यह ठीक नहीं। कुछ करो।" उन्होंने एक हज़ार से अधिक लोगों को चायपान के बहाने इतना खिलाया कि निंदकों के मुह बंद कर दिए और वे वाह-वाह करते हुए विदा हुए। उस अवसर पर मेरे अग्रजतुल्य पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मुझे आभार प्रकट करने से पहले आज्ञा दी थी–"उठहु राम भंजहु भव-चापू।"

सम्मेलन ने मेरी षष्टिपूर्ति भी कुछ अधिक उत्साह से मनाई। विस्तार में जाकर आपको बोर नहीं करूंगा। केवल दो मनोरंजक बातें बताता हूं। बाबू जगजीवन राम ने मुझे बिटकना लगी दूध की बोतल भेंट की कि व्यास तो अभी दूध पीता बच्चा ही है। गांव-नाते के मेरे चाचा भी इस अवसर पर आए तो नगेन्द्रजी बोल उठे–"क्या व्यास का भी कोई चाचा है।"

मेरी हीरक जयंती संस्थागत नहीं, पारिवारिक स्तर पर मनी। चिरंजीव गोविंद व्यास ने कहा कि बम्बई से पुष्पा जीजी का फोन आया है कि आपकी हीरक जयंती हम सब परिवारवाले मिलकर मनाएंगे। इस कार्यक्रम का निमंत्रण मेरे बेटों और बेटियों के परिवार के नाम से गया था और निमंत्रित किए गए थे केवल मेरे साहित्यिक और पत्रकार-परिवार के सपत्नीक पिचहत्तर मित्र। लेकिन खबर सभी मित्रों को लग गई और दो हजार से ऊपर लोग मेरे घर के सामने पार्क मे उपस्थित हो गए। सब आपस में बतियाए। मुझको बधाई दी। न मंच, न कोई भाषण, केवल प्रेमोपहार।

उस दिन एक मजेदार घटना हुई। डॉ. नामवर सिंह ने एक सुवासित पुष्पों का हार मेरे गले में डाल दिया। मैं जब उसे एक साहित्यिक डॉक्टर महिला को पहनाने यह कहते हुए आगे बढ़ा कि लो वरमाला स्वीकार करो तो वह कुछ शरमाकर और कुछ खीजकर पीछे हट गई। पहले हम दोनों अक्सर बतियाते थे, पर अब उनके फोन की घंटी नहीं बजती, लेकिन उस समय तो आलम ठहाकों से गूंज गया था। मैं तब भी गद्गद था और उस दिन भी गद्गद् था। अब सोच रहा हूं कि मेरे जीवन काल में तो वह दिन नहीं आएगा, लेकिन मेरे बाद मेरी जन्म शताब्दी भी मनानेवाला

कोई पैदा हो ही जाएगा। वाह रे नश्वर मनुष्य ! और वाह रे मेरी अमर होने की अभिलाषाएं !

अभिनंदन तो सम्मेलन ने बहुत किए। शायद ही कोई अभिनंदनीय साहित्यकार सम्मान करने से बचा हो। लेकिन कुछ विशेष अभिनंदनों का उल्लेख करना आवश्यक है। आवश्यक इसलिए कि वह पूरी तरह साहित्यिक थे। स्तर के वक्ता और स्तरीय लोगों की उपस्थिति। भाषण भी नेता टाइप नहीं, सिद्धांतगत। एक अभिनंदन था डॉ. नगेन्द्र का, जो साहित्य अकादमी द्वारा उनकी कृति 'रस सिद्धांत' के पुरस्कृत होने पर किया गया। इस समारोह की अध्यक्षता की काका कालेलकर ने और वक्ता थे–सर्वश्री गंगाशरण सिंह, हरिवंशराय बच्चन, डॉ. हरबंसलाल और श्री गोपीनाथ अमन। नगेन्द्रजी ने अपना लिखित भाषण पढ़ा। इस आयोजन से मुझे तो सुख मिला ही, जो साहित्यकार और बुद्धिजीवी आए थे, वे भी प्रसन्न हुए। क्योंकि इसमें बात व्यक्ति की नहीं, सिद्धांत की हुई। और हुई उस रस की जो साहित्यकार की संवेदना को अनुप्राणित करता है।

इसके विपरीत जब सम्मेलन ने दिनकरजी का सम्मान किया तो वक्तागण 'संस्कृति के चार अध्याय' की चर्चा कम, दिनकरजी के व्यक्तित्व और कृतित्व के साथ उनसे अपने संबंधों की चर्चा अधिक करते रहे। आयोजन की उल्लेखनीय घटना यह थी कि इसमें दिनकरजी के परम मित्र और इंडियन एक्सप्रेस समूह के स्वामी श्री रामनाथ गोयनका और उनको चाहनेवाले तथा चाहनेवालियां भी पर्याप्त संख्या में आए हुए थे। श्री गोयनका ने शायद सबसे पहली बार दिनकर को राष्ट्रकवि कहकर संबोधित किया था और कहा था–"दिनकर ऐसा कवि है जिसकी 'हुंकार' से भारत का जन-जन आंदोलित होता है।" इति अभिनंदन प्रकरणम्।

व्रज साहित्य शिरोमणि व्यासजी,

स्नेहाशीष !

आपके श्रीमुख से घड़ी लगाकर पूरे ढाई घंटे तक व्रजभाषा के चुटीले छंदों का अखंड पाठ सुना। मै तो अपनी गागर पर ही मुग्ध था। आप तो व्रज-काव्य रस के तरंगमान सागर हैं। किसको ईर्ष्या न होगी आपकी स्मृति पर।

–डॉ. रसाल

साहित्यानुशीलन की दिशा में

अभिनंदन और जयंतियों की बात यहीं समाप्त करके मैं अब उन कार्यों का जिक्र करूंगा जो साहित्य के विश्लेषण, समीक्षण और दिशा-निर्देशन के लिए सम्मेलन ने समय-समय पर किए थे। मेरा साहित्य क्षेत्र और हिंदी जगत में प्रवेश आगरा से निकलनेवाले 'साहित्य संदेश' नामक प्रथम समीक्षा-पत्र से हुआ था। भाषायी कार्य करते, जयंतियां और अभिनंदन मनाते और पत्रकारिता में कलम घिसते-घिसते भी मेरा आलोचक मरा नहीं था। वह हमेशा कुलबुलाता रहता था कि साहित्य के विचार पक्ष के लिए भी कुछ करो। जब साहित्यकार और विचारक सम्मेलन के साथ जुड़ गए तो मैंने इस काम को हाथ में लिया। यानी सम्मेलन को इस दिशा में प्रवृत्त किया। साहित्य की विभिन्न विधाओं पर संगोष्ठियां हुईं, विचार-मंथन हुए, हिंदी साहित्य की दशा और दिशा पर, साहित्यकार के दायित्व पर, हिंदी की विशिष्ट कृतियों के अनुशीलन पर चर्चा-प्रचर्चाएं आयोजित की गईं। यहां उनमें से कुछ का संक्षेप में वर्णन प्रस्तुत कर रहा हूं–

साहित्यकार का दायित्व

यह आयोजन 18 दिसंबर, 1955 को हुआ। महापंडित राहुल सांकृत्यायन इस संगोष्ठी के अध्यक्ष थे। 'साहित्यकार के दायित्व' पर प्रकाश डालनेवाले कुछ लोगों के नाम इस प्रकार हैं–सर्वश्री जैनेन्द्रकुमार, रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, शिवदानसिंह चौहान, नरेन्द्र शर्मा, डॉ. नगेन्द्र, पं. बनारसीदास चतुर्वेदी। संयोजन किया श्री गोपालकृष्ण कौल ने, जो उस समय सम्मेलन के साहित्य मंत्री थे। इस अवसर पर 'साहित्यकार का दायित्व' नाम से एक लघु पुस्तिका भी छापी गई। इस पुस्तक में दायित्वों के साथ-साथ उमके निर्वाह पर भी प्रकाश डाला गया था। संगोष्ठी में भाग लेनेवालों के विचार पहले से ही मंगा लिए गए थे, जो इस पुस्तक में संगृहीत किए गए। विषय प्रवेश इन पंक्तियों के लेखक ने किया और समाहर श्री कौल ने। संगोष्ठी में साहित्य के शास्त्रीय पक्ष से लेकर लोक

पक्ष तक की चर्चा हुई। भारतीय साहित्य पर पड़नेवाले विदेशी प्रभाव की चर्चा भी वक्ताओं ने की। चर्चा में आज की कविता, कथा, नाटक और समीक्षा इन दायित्वों की कसौटी पर कितने खरे उतर रहे हैं, इसको भी व्याख्यायित किया गया। अध्यक्ष पद से बोलते हुए राहुलजी ने कहा–"जो साहित्य घर में टेबिल पर बैठकर लिखा जाता है, वह तब तक अधूरा है, जब तक लेखक यायावर न हो। जो साहित्य जमीन से नहीं जुड़ता, वह काल्पनिक है, हवाई है। साहित्यकार का दायित्व एक ही है, कि वह जो जीवन जी रहा है, उसके लेखन काल में समाज जो भोग रहा है, जो विसंगतियां फैली हुई हैं, उनको साहित्यिक विधाओं में प्रस्तुत करे। जो साहित्य जीवन को गति प्रदान नहीं करता, वह दायित्वहीन है। घूमो और लिखो। देखो और लिखो। सोच-समझकर और विचारपूर्वक जो लिखा जाता है वही साहित्य है तथा ऐसा लिखनेवाला ही साहित्यकार है एवं वही अपने दायित्व का निर्वाह कर रहा है।"

समसामयिक कविता

इसे विश्वविद्यालय क्षेत्र के हंसराज कॉलेज में 19-20 अप्रैल 64 को आयोजित किया गया। दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष डॉ. नगेन्द्र ने इसकी अध्यक्षता की। विचार-विमर्श में भाग लिया–सर्वश्री नरेन्द्र शर्मा, डॉ. सावित्री सिन्हा, मन्मथनाथ गुप्त, डॉ. कैलाश वाजपेयी, डॉ. विजयेन्द्र स्नातक और गोपालप्रसाद व्यास ने।

गोष्ठी में कविता के शाश्वत तत्त्वों, प्राचीन साहित्य से आधुनिक साहित्य की तुलना, कविता के ह्रास और गद्य के उत्कर्ष तथा समसामयिक कवियों की रचनाओं को विशेष रूप से समीक्षा का आधार बनाया गया। दोनों दिन की गोष्ठियों में विश्वविद्यालय के हिंदी अध्यापक ही नहीं, अन्य भाषाओं के प्रवक्ता भी शामिल थे। स्थापितों के साथ उदीयमान और विस्थापित कवियों का भी जमावड़ा था। शोध-कार्यों में संलग्न और हिंदी की उच्च कक्षाओं के छात्र-छात्राएं तो काफी संख्या में थे ही। डॉ. नगेन्द्र ने अपना लिखित भाषण पढ़ा जिसमें वक्ताओं द्वारा व्यक्त किए गए विचारों के समावेश के साथ उनकी समीक्षा भी थी। इस गोष्ठी के आयोजन को साहित्य वर्ग में बहुत सराहना मिली।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य

यह गोष्ठी नवंबर 1963 में डॉ. नगेन्द्र की अध्यक्षता में सम्मेलन कार्यालय में हुई। इसमें सर्वश्री भारतभूषण अग्रवाल, डॉ. हरिवंशराय बच्चन, जैनेन्द्रकुमार, नरेन्द्र शर्मा, विजयेन्द्र स्नातक आदि विद्वानों ने भाग लिया। गोष्ठी में श्री भारतभूषण अग्रवाल ने उक्त विषय पर मत व्यक्त करते हुए कहा कि "स्वतंत्रता ने साहित्य को कोई नया मोड़ नहीं दिया, अपितु साहित्य ने स्वतंत्रता-प्राप्ति में महत्त्वपूर्ण योग दिया, क्योंकि साहित्य भारत के स्वतंत्र होने के पहले ही स्वतंत्र हो चुका था।"

डॉ. हरिवंशराय बच्चन ने गोष्ठी में विचार व्यक्त किया कि "हमें इस युग अर्थात् स्वतंत्रता के बाद का गांधी नहीं मिला, जवाहर अवश्य मिला। अतः स्वतंत्रता के बाद

नए आदर्श ही स्पष्ट नहीं हो पाए।"

सुप्रसिद्ध कथाकार एवं उपन्यासकार श्री जैनेन्द्र कुमार ने कहा कि "स्वतंत्रता के बाद हमारे पुरुषार्थ में ढील आ गई है, जो अनिवार्य भी था। किंतु इससे घबराने की आवश्यकता नहीं। समय के साथ शिथिलता सक्रियता में बदलेगी।"

श्री नरेन्द्र शर्मा ने आशा प्रकट की कि "भविष्य में साहित्य अवश्य व्यापक होगा। किंतु हृदय-परिवर्तन के बिना स्थायी साहित्य का सृजन संभव नहीं।"

डा. स्नातक ने स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् रचे हुए साहित्य का विस्तृत विवेचन किया।

अध्यक्ष पद से बोलते हुए डॉ. नगेन्द्र ने कहा कि "साहित्य जिस वर्ग के लिए लिखा जा रहा है, वह वर्ग कौन-सा है ? पहले इसकी खोज होनी चाहिए।"

हिंदी के पच्चीस वर्ष

जब स्वतंत्रता की रजत जयंती मनाई गई तो सम्मेलन ने भी स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य की रजत जयंती मनाई। हमने स्वतंत्रता रजत जयंती के अभिनंदन ग्रंथ का नाम ही 'हिंदी के पच्चीस वर्ष' रख लिया और इस अवधि में हिंदी की विविध विधाओं में जो काम हुए थे उन पर प्रामाणिक लेखों का समावेश ग्रंथ में किया। पच्चीस वर्ष का नाम देकर ही हम संतुष्ट नहीं हुए। हमने इस अवसर पर पच्चीस दिन का साहित्य अनुशीलन अभियान प्रारंभ किया। इसका दायित्व हमने सम्मेलन के पच्चीस बड़े मंडलों को सौंप दिया और निर्देश दिया कि अपने क्षेत्र की प्रतिभाओं को और विद्वानों को सम्मिलित करके साहित्य की जो विधा उन्हें प्रिय हो, उस पर गोष्ठियां आयोजित करें। परिणामस्वरूप कहीं कविता पर तो कहीं कहानी पर, कहीं उपन्यास पर तो कहीं नाटक पर, कहीं समीक्षा-समालोचना पर तो कहीं बाल-साहित्य पर, कहीं महिलाओं पर लिखे हुए साहित्य पर तो कहीं पत्रकारिता पर, कहीं विज्ञान साहित्य पर तो कहीं क्रीड़ा साहित्य आदि पर लगातार एक के बाद एक गोष्ठियों का क्रम सारी दिल्ली में चलता रहा। दो सौ से अधिक विद्वानों तथा साहित्यकारों ने इनमें भाग लिया। कुछ मंडलों ने छोटी-छोटी पुस्तिकाएं भी इन विषयों पर छापीं। कुछ ने भाषणों को साइक्लोस्टाइल करके वितरित किया तो कुछ ने अखबारों का सहारा लिया। मैं लगभग सभी गोष्ठियों में गया। मुझे मालूम नहीं कि इस प्रकार का इतना विशद और गंभीर विवेचन करनेवाला पच्चीस दिन का ऐसा साहित्यिक अनुष्ठान कभी कहीं हुआ है या नहीं ? तब सम्मेलन के मंडल कितने सक्रिय थे, इसका पता पाठकों को सहज में ही लग सकता है।

कविता की वाचिक और लिखित परंपरा

यह अपने प्रकार की एक ऐसी गोष्ठी थी जिसमें केवल कवियों ने भाग लिया। इन कवियों के दो वर्ग थे—एक, मंचीय और दूसरा, पुस्तकीय। मंचीय कवियों की शिकायत थी कि हम जन-जन में भाषा और साहित्य का अलख जगा रहे हैं। समय के साथ,

युग की आवश्यकता के साथ ऐसा लिख रहे हैं जो जनता को आंदोलित करता है। लेकिन जो लोग पत्र-पत्रिकाओं और प्रकाशकों को कब्जे में किए हुए हैं वे हमें हीनभाव से देखते हैं और कवि ही नहीं मानते। मंचीय कवि का अर्थ उनकी दृष्टि में यह है कि पहले बाइयों के मुजरों में मजमे लगते थे और अब मंचीय कवि मुजरे करते हैं। उनका यह दृष्टिकोण स्वयं हीनभावना से ग्रसित है। उनकी भी आंतरिक इच्छा मंच पर प्रतिष्ठित होने की है। यश के साथ धन की उपलब्धि उनके सोच का प्रमुख आधार है। परंतु न उनके पास जनभाषा है और न समसामयिक विषयों पर प्रभावशाली ढंग से जनभावना को उद्वेलित करने की सामर्थ्य उनमें है।

इसके विपरीत दूसरे वर्ग के प्रतिष्ठित कवियों का कहना था कि कविता का मंच आज विकृत हो गया है। उस पर शुद्ध साहित्य लिखनेवाले गीतकार तक को भी अब अछूत माना जाने लगा है। कवियों में अधिकतर लोग तुक्कड़ हैं, जोकर हैं या राजनीतिक मतवाद के पक्षधर होकर एक-दूसरे को भला-बुरा कहनेवाले है। क्या इनकी कविताओं को साहित्यिक माना जा सकता है ? मंच पर आजकल हास्य-व्यंग्य छाया हुआ है। उसमें भी नब्बे प्रतिशत फूहड़ होता है। एक कवि की इस पर टिप्पणी थी कि मानो मंच पर ट्रक पर ट्रक मैला उड़ेला जा रहा हो। इस पर उन्हें जवाब दिया गया कि महाशयजी, कविता से अधिक भूमिका बांधते हो और सुनाने से पहले ही हूट हो जाते हो तथा दोष देते हो मंचीय कवियों को।

इस परिचर्चा में मुझे भी नहीं बख्शा गया। कहा गया कि मंच पर साहित्यकारों को प्रतिष्ठित करने का ही नहीं, इसे विकृत करने का श्रेय भी व्यासजी को ही मिलना चाहिए। इन्होंने ऐसे-ऐसे औघड़ शिष्य पैदा किए जिनके नाम तक साहित्य के आसपास नहीं हैं। किसी ने कपड़े रंग लिए हैं और मालाएं लटका ली हैं। कोई मंच पर हुक्का गुड़गुड़ाता है। कोई दाढ़ी हिलाता है। कोई शब्दों की बाजीगरी दिखाता है। आदि-आदि। गोष्ठी के अध्यक्ष डॉ. नामवर सिंह और मुख्य अतिथि डॉ. विजयेन्द्र स्नातक इन नोक-झोंकों का मजा ले रहे थे। इस अखाड़े के मल्ल थे—सर्वश्री देवराज 'दिनेश', रामावतार त्यागी, रामानंद 'दोषी', रमानाथ अवस्थी, रमेश रंजक, बालस्वरूप राही, कैलाश वाजपेयी आदि।

गोष्ठी का सबसे अधिक आनंद तो मैंने लिया। क्योंकि इधर या उधर दोनों पक्षों के लोग मुझसे जुड़े हुए होने पर भी आज खरी और मसखरी पर उतारू थे। अध्यक्ष और मुख्य अतिथि कुछ नहीं बोले। दोनों का लगभग एक ही मत था कि जो हमें कहना था वह इन लोगों ने पहले ही कह दिया। अंत में मेरा लंबा भाषण हुआ, लेकिन उसका केवल एक वाक्य ही यहां लिख रहा हूं—"जब तक श्रवण सुखद कविता नयनाभिराम नहीं बनेगी और वाचिक कविता जनमंच को नहीं अपनाएगी, तब तक कविता इसी अधोगति को प्राप्त होती रहेगी जैसी कि आज है।"

गोष्ठियों का चरमोत्कर्ष

साहित्यिक चर्चा-प्रचर्चा और गोष्ठियों-संगोष्ठियों का सिलसिला चरमोत्कर्ष पर तब पहुंचा

जब सप्ताह में तीन बार ऐसी गोष्ठियां नियमित रूप से चलने लगीं। इनमें से एक का नाम था 'काव्य कल्लोलिनी', दूसरी का था 'साहित्यिकी' और तीसरी थी 'पत्रकार परिषद'। जब सम्मेलन कार्यालय कनाट प्लेस में स्थित थियेटर कम्युनिकेशन बिल्डिंग में था, तब वह दिल्ली में एकमात्र साहित्यिक केन्द्र के रूप में जाना जाता था। केवल राजधानी के ही नहीं, देशभर के साहित्यकार जब दिल्ली पधारते तो सम्मेलन के कार्यालय में जरूर आते। यहां हिंदी के वरिष्ठ साहित्यकारों के चित्र लगे थे और शीशे की आलमारियों में चारों तरफ हिंदी साहित्य के दुर्लभ ग्रंथ संजोकर रखे हुए थे। पास में ही कैंटीन थी–ताजा मिठाई, ताजा नमकीन और गर्मागर्म चाय। पचास कदम की दूरी पर ताजा खुला हुआ कॉफी हाउस भी था। साहित्यसेवियों को और क्या चाहिए ? सुनने को मिले, सुनाने को मिले, देखने को मिले और खाने-पीने को भी मिले। शाम चार बजे से रात दस बजे तक सम्मेलन कार्यालय गुलजार रहता था। हां, तो गोष्ठियों की संक्षिप्त चर्चा–

काव्य कल्लोलिनी : इसमें नए-पुराने कवियों का कविता-पाठ होता था। एक विद्वान को समीक्षा के लिए आमंत्रित किया जाता था। वह कवियों की रचनाओं पर अपने विचार व्यक्त करता था। कवियों के साथ कवयित्रियां भी इसमें शामिल होती थीं। हिंदी कवियों के साथ उर्दू के शायर भी इन गोष्ठियों में भाग लेते थे। कहूं कि रस बरसता था।

साहित्यिकी : इसमें हिंदी के विद्वान, रचनाधर्मी लेखक और साहित्य-समीक्षक शामिल होते थे। एक व्यक्ति अपना लिखित निबंध पढ़ता था और उस पर अनुकूल और प्रतिकूल, समन्वयात्मक और प्रेरक चर्चाएं होती थीं। तब टेप-रिकार्डर की आवश्यकता अनुभव की गई। गोष्ठियां टेप की जाने लगीं। लेकिन खेद है कि जब देश में आपातकाल लगा और कुछ घंटों के नोटिस के बाद ही वह बिल्डिंग गिराई जाने लगी तो बहुत से चित्र, टेप-रिकार्डर-कैसेट्स तथा मूल्यवान पुस्तकें नहीं निकाली जा सकीं और वे दबकर नष्ट हो गईं।

पत्रकार परिषद : इस गोष्ठी में पत्रकारिता के विभिन्न अंगों, हिंदी पत्रकारिता की दयनीय दशा और उसके अभाव-अभियोगों पर लिखित निबंध पढ़े जाते थे। इसमें अधिकतर हिंदी के पत्रकार और कभी-कभी उर्दू और अंग्रेजी के पत्रकार भी शामिल हुआ करते थे। एक...अग्रवाल इसके संयोजक थे। वह चर्चाओं के नोट्स लेते और निबंधों को अपने पास रखते थे। खेद है कि वह उस सामग्री को हजम कर गए। नहीं तो मेरा मन उसे प्रकाशित कराने का था। यदि यह सामग्री छप जाती तो समकालीन हिंदी पत्रकारिता का दिग्दर्शन करानेवाली एक उपादेय पुस्तक बन जाती।

मानस चतुःशताब्दी

जब देशभर में तुलसीकृत 'रामचरित मानस' के चार सौ वर्ष की जयंती मनाई गई, तब सम्मेलन ने संवत्सरी प्रतिपदा से लेकर रामनवमी तक राजधानी के नौ अंचलों में इसके लिए विशद साहित्यिक समारोह आयोजित किए। इनमें रामायण के सस्वर-पाठ, रामचरित

के प्रवचन आयोजित किए गए। इनमें मानस मर्मज्ञ रामकिंकरजी, कपीन्द्रजी, डॉ. कर्ण सिंह, शास्त्रीजी और बाबू जगजीवनराम के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सम्मेलन ने राजधानी को मानसमय करने का बीड़ा उठाया था, वह रामकृपा से पूरा हुआ। लगातार नौ दिन तक चलनेवाले कार्यक्रमों में हजारों नहीं, लाखों लोगों ने राम-रसायन का पान किया। इस अवसर पर देश में एक दिन की जयंती तो मनाई गई, लेकिन यह दिल्ली का सम्मेलन ही था जिसने नवरात्रि के धार्मिक अनुष्ठान को पूरे नौ दिन तक साहित्यिक गरिमा प्रदान कर दी।

सूर पंचशती

जब महात्मा महाकवि सूरदास की पंचशती का सुअवसर आया तो सम्मेलन ने राजधानी में कोई आयोजन नहीं किया। हमने एक नई योजना बनाई कि इस अवसर पर साहित्यकार और हिंदीप्रेमी ब्रज की यात्रा पर चलें और सूरस्थलों के दर्शन करें। बस और कारें चल पड़ीं। पहला पड़ाव सूरदासजी के जन्मस्थान सीही (बल्लभगढ़ के निकट) पड़ा। वहां सूर-सभागार में एक संगोष्ठी हुई। उस स्थान के दर्शन किए जहां सूरदासजी का जन्म हुआ बताया जाता है। लोकगीतों और लोकनृत्यों का आनंद लिया। यात्रा आगे चली।

दूसरा पड़ाव गोवर्द्धन के निकट परासौली ग्राम में चंद्र सरोवर के पास बनी सूरकुटी पर पड़ा। मुगलकालीन ईंटों से बनी छोटी-सी सूरकुटी गाय के गोबर से लिपी हुई, धूप-दीप और फूलों से सुवासित थी। कुटी के आगे दालान और बाहर प्रांगण में सब बैठ गए उस वृक्ष के निकट जिसके नीचे सूरसागर के सहस्रों पद लिखे गए थे। आसपास के गांवों के तथा मथुरा के लोग भी इस अवसर पर उपस्थित थे। यहां व्याख्यान नहीं हुए, केवल सूर के पदों का हवेली संगीत और लोक संगीत में गायन हुआ। लोग मुग्ध रह गए। गांववालों ने अतिथियों का यथोचित स्वागत किया। चंद्र सरोवर की परिक्रमा करके यात्रा आगे चल पड़ी।

तीसरे पड़ाव में यात्रा आई रुनकुता (आगरा के निकट) में। गऊघाट पर यमुना के निर्मल जल में सबने स्नान किया। सूर स्मारक के दर्शन किए। आगरा के कई साहित्यकार इस अवसर पर आए। उनके भाषण हुए। प्रसाद-वितरण हुआ। सूर-सरोवर और आसपास की वनावली का आनंद लेते हुए यात्रा मथुरा आई। यहां महाप्रभुजी की बैठक के दर्शन किए जहां मुगल बादशाह अकबर ने छिपकर सूरदासजी का भक्ति संगीत सुना था। मथुरा के जमुना बाग में बड़े-बड़े वृक्षों के नीचे केले के पत्तों पर दिव्य दालबाटी और खुरचन-पेड़ों का आनंद लिया गया तथा सूरदास के आराध्य श्रीकृष्ण की जन्मभूमि के दर्शन किए। यात्री कृतकृत्य हो गए।

इससे पूर्व यात्रा एक रात वृंदावन में भी रुकी। वृंदावन के गोस्वामियों तथा साहित्यकारों ने ठहरने के साथ-साथ भोजन का भी उत्तमोत्तम प्रबंध किया। स्वामी रामस्वरूप की मंडली ने यात्रियों को रासलीला का आनंद भी दर्शाया। स्वरूपों की मीठी

ब्रजबोली और रासलीला की विधा के मंचन को देखकर यात्रियों को ब्रज का सच्चा आनद मिला।

इस यात्रा में जो वरिष्ठ साहित्यकार सम्मिलित हुए, वे थे—पं. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' श्री रामधारी सिंह 'दिनकर', डॉ. विजयेन्द्र स्नातक, सुकवि श्री भवानीप्रसाद मिश्र, डॉ. महीपालसिंह, कवि और कवयित्रियां, हिन्दुस्तान और नवभारत टाइम्स के पत्रकार, सम्मेलन की कार्य समिति के लोग एवं अनेक ब्रजप्रेमी भी। सूरस्थलों की यात्रा का ऐसा कार्यक्रम न कभी इससे पहले हुआ था, न बाद में बना। इसका श्रेय दिल्ली हिंदी साहित्य सम्मेलन को ही है।

कवि-सम्मेलन ही कवि-सम्मेलन

दिल्ली का सम्मेलन कवि-सम्मेलनों से ही उठा और लाल किले के कवि-सम्मेलन की समाप्ति से ही ठंडा पड़ गया। मुशायरों के शहर दिल्ली को सम्मेलन ने कवि-सम्मेलनी बना दिया। कोई गली, कोई नुक्कड़, कोई चौक और राजधानी का कोई भी पार्क ऐसा नहीं बचा जहां सम्मेलन ने कवि-सम्मेलन न किए हों। राष्ट्रपति भवन के अशोक कक्ष से लेकर हरिजन बस्ती तक, लाल किले के दीवाने आम और दीवाने खास से लेकर विशाल रामलीला मैदान तक में हजारों-लाखों श्रोताओं ने हिंदी कविता का आनंद लिया है। इन कवि-सम्मेलनों ने दिल्ली को हिंदी की ओर उन्मुख किया है। साहित्य के प्रति रुचि जाग्रत की है। दिल्ली ही क्यों, देश के अनेक बड़े नगरों में कवि-सम्मेलनों की परंपरा विकसित हुई है।

हमने वीर रस के कवि-सम्मेलनों को जन्म दिया, हास्य रस के कवि-सम्मेलनों की पहल की और चलाई हिंदी-जगत में कवयित्री-सम्मेलनों की परंपरा जो आज भी चल रही है। यह बात दूसरी है कि उनका स्वरूप बदल गया है, लेकिन मानना पड़ेगा कि कवि सम्मेलनों के प्रति जनाकर्षण पहले से अधिक बढ़ा है। इस प्रकार के अनेक साहित्यिक कार्यक्रमों की चर्चा कहां तक करूं ? समझें तो इतना ही पर्याप्त है।

राजधानी का हिन्दी भवन हमारे व्यासजी की एकनिष्ठ हिन्दी साधना का जीवंत स्मारक है।

• •

—कृष्णचंद्र पंत

दिन शेष हैं। महीने-भर प्रतीक्षा करूंगा। इस बीच भूमि का कब्जा नहीं मिला तो मैं अपने को दांव पर लगा दूंगा। मंच पर बैठे नेता, साहित्यकार और विद्वान लोग अब जो कुछ कर सकते हैं, करें और जनता तैयार रहे। मेरे भाषण को सुनकर कुछ लोग चिंतित हुए। कुछ ने ओजस्वी स्वरों में मेरा समर्थन किया और कुछ लोगों ने मुंह भी बिचका दिए कि देखेंगे कि महीने-भर बाद क्या तीर मारा जाता है ? लेकिन त्रिपाठीजी जो उस सभा के अध्यक्ष थे, उनकी धीर-गंभीर गर्जना ने मेरा हौसला बढ़ा दिया। उन्होंने कहा–"व्यासजी हमारे सेनापति हैं, वह जो कदम उठाएंगे, उस पर हम पीछे-पीछे दृढ़ता के साथ चलेंगे। अंग्रेजों के जमाने में लाठियां-गोलियां खाने और जेल जाने का अभ्यास हमें है। यदि टंडनजी महाराज के काम में फिर से यह सब सहना पड़े तो मैं पीछे नहीं हूं।"

मेरा हौसला बढ़ गया। मैंने एक हजार परिपत्र छपवाए। उनके ऊपर लिखा–"यह चिंतन, और कर्त्तव्य निर्धारण के लिए है, प्रकाशन के लिए नहीं।" नीचे लिखा कि "प्रतीक्षा के बीस वर्ष होने को आए। अब मैं कुछ विकल्पों पर आपकी राय लेना चाहता हूं।" विकल्प इस प्रकार थे–

1. जनता और सरकार का ध्यान आकृष्ट करने के लिए मैं निश्चित अवधि का उपवास प्रारंभ करूं। पं. कमलापति त्रिपाठी को मैंने लिखा है कि यह उपवास मैं आपके निवास पर करना चाहता हूं। अगर आप अनुमति नहीं देंगे तो मैं यह अनशन हिंदी भवन की भूमि पर करूंगा।
2. राउज एवेन्यू पर हमें जो 11 नं. का प्लाट आबंटित हुआ है, उस पर किसी शुभ मुहूर्त में भूमि पूजन कराकर निर्माण प्रारंभ करा दिया जाए। लोग अनधिकृत स्थानों पर निर्माण प्रारंभ कर देते हैं। यह तो हमारी अधिकृत भूमि है। अगर इसमें रुकावट डाली जाएँ तो फिर उसके परिणाम भोगने को तैयार रहा जाएं।
3. एक संवाददाता सम्मेलन बुलाया जाए और उसमें अब तक की कार्यवाही तथा इस विलंब पर न्यास और सम्मेलन का अभिमत प्रकट करते हुए जनता से सहयोग की अपील की जाए।
4. इस मामले को पूरी तैयारी से संसद में उठाया जाए, उससे पहले एक सार्वजनिक सभा की जाए और एक जुलूस आवास मंत्री के निवास तक ले जाया जाए।
5. एक उपाय यह भी है कि सर्वोच्च न्यायालय में यह मामला दायर कर दिया जाए और जमा रकम की ब्याज तथा हर्जे और खर्चे के साथ भूमि पर कब्जा मांगा जाए।

इन विकल्पों का प्रभाव पड़ा। मेरे पत्रकार मित्र इसे छापना चाहते थे। वे मुझसे साक्षात्कार करने के लिए भी आए। मैंने उन्हें विनयपूर्वक लौटा दिया। लेकिन अखबारों में छपे बिना ही मेरे इस पत्र का देशभर में व्यापक असर हुआ। सैकड़ों लोगों ने अनशन पर साथ बैठने की अनुमति मांगी। इनमें महिलाएं भी थीं। युवकों, विशेषकर छात्रों ने वोट क्लब पर रैली करने, जुलूस निकालने, धरना देने के प्रस्ताव भी किए। कुछ मित्रों ने रामलीला मैदान में सर्वदलीय सभा करने का भी सुझाव दिया। सर्वोच्च न्यायालय

के वकीलों में से कई ने निःशुल्क पैरवी करने का प्रस्ताव भी किया। लेकिन कुछ ऐसे भी सज्जन थे, जिन्होंने मुझसे अनशन न करने तथा संसद में मामला उठाने और सुप्रीम कोर्ट में मामला डालने को मना किया। उनका तर्क था कि अनशन से सरकार बिदकेगी और विपक्ष इसका राजनैतिक लाभ लेगा तथा जुलूस आदि में असामाजिक तत्वों पर काबू रखना मुश्किल हो जाएगा। संसद और सर्वोच्च न्यायालय में यदि दुर्भाग्य से फैसला विपरीत गया तो फिर उक्त स्थान पर हिंदी भवन बनाने की उम्मीद हमेशा के लिए खत्म हो जाएगी।

मैं उहापोह में पड़ा था कि हमेशा की तरह से त्रिपाठीजी महाराज आगे आए और लिखा—कृपया अनशन का विचार और अपने विकल्पों को थोड़े दिन के लिए स्थगित रखिए और मुझे कुछ करने दीजिए। उन्होंने प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी और आवास मंत्री को पत्र लिखे और दोनों से बातें भी कीं। न्यास से संलग्न उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मंत्री प्रो. वासुदेव सिंह से भी प्रधानमंत्री, वित्त मंत्री, रक्षा मंत्री, उद्योग मंत्री तथा आवास मंत्री को लिखा और फोन भी किए। न्यास के अध्यक्ष बंगाल के भूतपूर्व राज्यपाल श्री धर्मवीरजी ने नब्ज पर हाथ रखा। उन्होंने आवास सचिव से सीधे बात की। आश्वासन ही नहीं मिला, कब्जे की कार्यवाही भी प्रारंभ हुई। मेरे परिपत्र ऊपर से नीचे तक सब जगह पहुंच चुके थे। हमारे कर्मठ और अत्यंत उत्साही न्यासी श्री आनंद मोहन और डॉ. मोतीलाल चतुर्वेदी भूमि एवं विकास अधिकारी, मुख्य इंजीनियर, ओवरसीयर इंजीनियर सी. पी. डब्लू. डी., दिल्ली नगरपालिका के अधिकारियों से लगातार मिलते रहे और कागज पत्रों के द्वारा उन्हें पकड़ते रहे। शायद ऊपर से भी फोन खटके हों। मेरे अनशन की तिथि तो करीब आ ही रही थी। प्रमुख बात यह है कि काम जब होना होता है, तभी होता है। शुभ घड़ी आ गई थी। एक दिन हमारे प्रतिनिधिमंडल को भूमि विकास अधिकारी ने सूचित किया कि आप कब कब्जा चाहते हैं ? न्यास के कोषाध्यक्ष श्री महावीरप्रसाद बर्मन ने कहा कि आज ही क्यों, अभी। यह बात भी 27 अक्तूबर, 1985 को संध्या 4 बजे की है। अधिकारी श्री तेजस्वी ने कहा, कल 11 बजे प्लाट पर पहुंचिए। हमारे ओवरसीयर-इंजीनियर वहां मिलेंगे। कब्जा ले लीजिए। हम लोग निश्चित समय पर पहुंच गए। श्री आनंद मोहन, श्री मुल्कराज भल्ला और श्री आनंद सिंघल भी देखते-देखते हवनकुंड, हवन-सामग्री, धूप, दीप और नैवेद्य लेकर उपस्थित थे। बीस वर्ष बाद साध पूरी हुई थी। बर्मनजी सबका मुंह मीठा कराने के लिए चांदनी चौक की मिठाई लेकर आते हुए दिखाई दिए। साथ में श्री सत्यनारायण बंसल भी थे। इस तरह 29 अक्तूबर, 1985 को दोपहर के एक बजे हमें भूमि पर कब्जे का कागज प्राप्त हो गया। मिठाई बंटी। वेद-मंत्रों की ध्वनि के साथ हिंदी का जय-जयकार हुआ। एक मंजिल पूरी हुई।

कब्जा मिलते ही हमने चारदीवारी बनवाने और प्लाट की सफाई कराने का काम तुरंत हाथ में लिया। चारदीवारी उठने लगी। पर अभी एक बाधा और बच गई थी। हमारे प्लाट में से एक पक्की सड़क गुजर रही थी। उस पर सरकारी और गैरसरकारी यातायात दिन-रात चलता था। डी. टी. सी. की बसें भी वहां से गुजरती थीं। हमने रास्ता बंद कर बोर्ड लगाया। बल्लियों की बाधा खड़ी की, लेकिन वे उखाड़ दी गईं।

साइन बोर्ड फेंक दिया गया। यहां तक कि हमारी चारदीवारी को गिराने तक की नौबत आ गई। चिट्ठी-पत्रियों और टेलीफोनों से काम नहीं बन रहा था। जिस दिन चारदीवारी को गिराने का मौखिक नोटिस हमें मिला था उस दिन मैं सवेरे 9 बजे प्लाट पर पहुंच गया। पड़ोस की झुग्गी से खाट निकलवाई। उसे सड़क पर डलवाकर बैठ गया और अपने सहायक से कहा कि जाओ अब धर्मवीरजी, श्री कृष्णचंद्र पंत, श्री सत्यनारायण बंसल और न्यास के लोगों को खबर कर दो कि वे मौके पर पहुंचें और जो कुछ कर सकते हों, करें। फटाफट धर्मवीरजी ने निगमायुक्त को फोन किया। पुलिस आयुक्त श्री वेदप्रकाश मारवाह को सूचना दी। पंतजी के प्राइवेट सेक्रेट्री भी सक्रिय हुए। लेकिन दिल्ली नगर निगम की स्थायी समिति के भूतपूर्व अध्यक्ष और न्यास के महत्त्वपूर्ण सदस्य श्री सत्यनारायण बंसल इलाके के निगम पार्षद श्री रमेश दत्ता को लेकर स्वयं प्लाट पर उपस्थित हुए। श्री रमेश दत्ता ने हमारे कागज-पत्र देखे और जब यह पाया कि कब्जा विधिवत् मिला है और यातायात को मोड़ने के लिए अलग से सड़कें बनी हुई हैं तो उन्होंने एक कागज लिखकर मुझे दिया, लिखा था–"इस प्लाट की एक भी ईंट खिसकाने की हिम्मत करने से पहले मुझसे संपर्क करो।" कागज मेरे हाथ में थमाकर वह बोले कि मैं अभी 15-20 मिनट में आता हूं। कोई आए तो यह कागज दिखा दीजिएगा। जब वह लौटे तो उनके साथ नगर निगम की मजदूरवाहिनी भी थी। इस दबंग पार्षद ने मजदूरों को आदेश दिया कि तोड़ो इस सड़क को। हमारे मजदूरों से कहा कि उठाओ इस सड़कवाली चारदीवारी को। लगाओ अब यहां रास्ता बन्द करने का साइन बोर्ड। देखता हूं अब यहां से कौन-सी बस गुजरती है और कौन झगडा करता है। न्यास के लोग तो थे ही, आसपास के लोग भी इकट्ठे हो गए थे। कुछ पुलिसवाले भी आ गए थे। इस तरह रास्ता बंद हुआ। सड़क कटी। चारदीवारी पूरी हुई। प्लाट की सफाई हुई। मुख्य द्वार पर 'हिंदी भवन' का नामपट्ट लगा दिया।

अब हम लोग भवन निर्माण के कार्य में जुट गए। भवन कैसा बने, उसमें क्या हो, आजीवन न्यासियों के साथ-साथ न्यास-परिवार का भी गठन किया जाए, कितनी लागत आएगी और इसके लिए धन प्राप्त करने के लिए क्या-क्या किया जाए, आदि बातों पर विचार करने के बाद निश्चय हुआ कि तुरंत शिलान्यास कराकर निर्माण कार्य प्रारंभ कर दिया जाए। संवत्सर की प्रतिपदा के शुभ अवसर पर शिव संकल्पमस्तु के वेदपाठ और शंखध्वनि के साथ 8 अप्रैल, 1989 को तत्कालीन रक्षा मंत्री श्री कृष्णचंद्र पंत ने हिंदी भवन के मॉडल का निरीक्षण करते हुए इसका विधिवत् शिलान्यास किया। इस प्रकार पंडित कमलापति त्रिपाठीजी के आशीर्वचनों के साथ भवन निर्माण का श्रीगणेश हो गया।

हिंदी भवन की परिकल्पना

भवन भूमि पर पहला फावड़ा चला 25 दिसंबर। सचमुच यह हिंदी भवन के लिए 'बड़ा दिन' था। लेकिन मेरे लिए ? दोनों हाथों से पकड़कर मजबूती से फावड़ा ताना। पोजीशन ली। कैमरे ने क्लिक किया। परंतु हर्षपुलक के साथ मन में एक आशंका भी थी कि फावड़ा कुछ मिट्‌टी खोद भी पाएगा या नहीं ? कहीं वह जमीन की बजाय मेरी चरण-वंदना तो नहीं करने लगेगा ? आशंका निर्मूल हुई। मैंने कुछ मिट्‌टी खुरच ही डाली।

इसके पश्चात् निश्चय हुआ कि हिंदी भवन के निर्माण को ऐतिहासिकता प्रदान की जाए। इसकी नींव में 'जय हिंदी' अंकित ईंटें स्थापित की जाएं। श्रीमती इंदिरा गांधी ने लाल किले की ऐतिहासिक भूमि में बड़ी शोध और तैयारी के बाद एक कालपात्र उतारा था। लेकिन इस ऐतिहासिक कीर्तिमान को लोगों ने बाद में उखाड़ फेंका। विपक्ष को उसके कथ्य और तथ्य पर आपत्ति थी। हमारी न्यास समिति ने भी कालपात्र की अवधारणा को मूर्त रूप देने की बात निश्चित की कि इसे किसी व्यक्ति या संस्था का नहीं, हिंदी के कालपात्र का रूप प्रदान किया जाए। तदनुसार एक विशिष्ट धातु का बेलनाकार (सिलेंडरनुमा) पात्र तैयार कराया गया। इसमें ताम्र-पत्रों पर उत्कीर्ण हुआ हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास। पच्चीस फुट गहरे भूमि-तल में इसे 14 फरवरी, (फाल्गुन कृष्णा पंचमी, 2046 विक्रमी) को उतारा गया। इसकी डोर साधी न्यास-परिवार के सदस्यों ने। अनुपम दृश्य था। स्वस्तिवाचन हो रहा था। फूल बरस रहे थे। शंखध्वनि चल रही थी। अहिंदी क्षेत्रों की दूर-दूर से आईं विशिष्ट महिलाएं नींव में 'जयहिंदी' की इष्टिकाएं स्थापित कर रही थीं। तमिल, तेलुगू, कन्नड़, मलयालम, बंगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं की महिलाओं ने श्रीमती राज्यलक्ष्मी राघवन के नेतृत्व में भवन की सार्वदेशिकता का दृश्य उपस्थित कर दिया। आयोजन में कोई राजपुरुष आमंत्रित नहीं था। आमंत्रित थे—सर्वश्री विष्णु प्रभाकर, विजयेन्द्र स्नातक, प्रसिद्ध कथाकार राजेन्द्र यादव,

नवभारत टाइम्स के पूर्व संपादक स्व. राजेन्द्र माथुर, भाषा (पी. टी. आई.) के संपादक डॉ. वेदप्रताप वैदिक, संस्कृत के विद्वान और लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विश्वविद्यालय के उपकुलपति डॉ. मंडन मिश्र। सैकड़ों की संख्या में कवि, लेखक, पत्रकार और हिंदीप्रेमी इस समारोह को गरिमा प्रदान कर रहे थे। अध्यक्षता न्यास के अध्यक्ष श्री धर्मवीरजी ने ही की। मैंने भवन की आवश्यकता, इसकी रूपरेखा और इसके मूल उद्देश्यों–भाषायी सौमनस्य, राष्ट्रीय एकता और हिंदी के चहुंमुखी विकास पर प्रकाश डाला। अपनी उस भवन संबंधी परिकल्पना को यहां प्रस्तुत कर रहा हूं।

भवन संबंधी परिकल्पना

हमारे देश में शांति निकेतन (बंगाल) से लेकर गाजियाबाद (उ. प्र.) तक कई हिंदी भवन हैं। दिल्ली में भी कुछ दिनों तक बनारसीदासजी चतुर्वेदी ने थियेटर कम्युनिकेशन बिल्डिंग कनाट सर्कस में दो कमरे किराये पर लेकर कुछ दिनों तक हिंदी भवन नाम से एक संस्था चलाई थी। लेकिन अब जो हिंदी भवन प्लाट नंबर ग्यारह, राउज एवेन्यू, नई दिल्ली में निर्माणाधीन है, वह केवल ईंट-पत्थर, लोहे और सीमेंट-कंक्रीट से बनी एक बहुमंजिली इमारत ही नहीं होगी और न वह गुप्तकालीन नागर शैली के तोरणों, गवाक्षों, स्तम्भों, छतरियों और मरमरी सुंदर शिलाखंडों से युक्त राजधानी का एक दर्शनीय स्थल ही होगा। यह राष्ट्रीयता का मंदिर बनने जा रहा है और इसमें भारत की वाग्देवी राष्ट्रभाषा हिंदी की प्राण-प्रतिष्ठा होगी।

अपने साठ वर्ष के हिंदी-सेवाकाल से मैंने यह सीखा है कि केवल इनकी या उनकी आलोचना करने, उत्तेजक भाषणों, आंदोलनों और नारों से राष्ट्र में हिंदी पूरी तरह प्रतिष्ठित नहीं होगी। प्रचार तो बहुत हो चुका। इस दृष्टि से देखें तो हिंदी परतंत्रता के काल से स्वतंत्रता के युग में अधिक फैली है और तब से अब अधिकाधिक बोली और समझी जाती है। अब प्रचार की उतनी नहीं, जितनी विचार की आवश्यकता है। विचार अर्थात् रचनात्मक कार्यों को हाथ में लेने की जरूरत है। हिंदी किसी एक जाति, एक प्रदेश या मात्र हिंदी प्रदेशों के बल पर नहीं चलेगी। हमें सभी भाषाओं, वर्गों और विचारधाराओं को हिंदी के साथ जोड़ना पड़ेगा। हिंदी के लिए कुछ ऐसा करना पड़ेगा, जिससे हमारे हिंदीतर भाषाभाषी भाई हिंदी की ओर स्वयं आकर्षित हों। हमारे साहित्यकारों को ऐसा लिखना पड़ेगा कि जिसके लिए लोग हिंदी सीखने के लिए लालायित हों। आदि।

इसी दृष्टि से मैंने जो हिंदी भवन की परिकल्पना की है, उसमें क्या-क्या होगा और वह किन-किन दिशाओं में कैसे कार्य करेगा, उसकी मोटी रूपरेखा इस प्रकार है–

सभा भवन

वातानुकूलित सभा भवन, जिसमें मंच, सज्जागृह (ग्रीन रूम), सामग्री कक्ष, स्टोर, दूरभाष नियंत्रण कक्ष, (टेलीफोन कंट्रोल रूम) भी होंगे।

सभा भवन (आडिटोरियम) में कुर्सियां लगेंगी और इसमें बालकनी भी रहेगी। लगभग 500 व्यक्तियों के बैठने का स्थान इसमें रहेगा।

पुस्तकालय

इसमें एक लाख पुस्तकों के रखने की व्यवस्था होगी। हिंदी की प्राचीन-से-प्राचीन और नई-से-नई भाषा, ज्ञान-विज्ञान आदि की मौलिक और अनूदित सभी प्रकार की पुस्तकों का संग्रह इसमें विषयवार किया जाएगा।

पुस्तकालय में केवल हिंदी ही नहीं, हिंदी की सभी बोलियां और प्रादेशिक भाषाओं की लोकमान्य और प्रसिद्ध पुस्तकों के साथ-साथ अंग्रेजी, रूसी, जर्मनी, फ्रांसीसी, चीनी, जापानी आदि भाषाओं के विश्वविख्यात चुने हुए ग्रंथ भी इस पुस्तकालय मे रखे जाएंगे।

वाचनालय

भवन में एक बड़ा वाचनालय कक्ष भी होगा। इसमें देश मे निकलनेवाले हिदी के सभी दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक, अर्द्धवार्षिक और वार्षिक पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ने की व्यवस्था रहेगी। हिदी की पुरानी पत्र-पत्रिकाओ के संग्रह की व्यवस्था इसमें रखी जाएगी।

सग्रहालय

भवन में एक अखिल भारतीय संग्रहालय भी रहेगा। इसमे हिंदी के साहित्यकारों के चित्र, मूर्तियां, उनकी हस्तलिखित पांडुलिपियां, उपयोग में आनेवाली वस्तुए, उनसे संबंधित स्थलों के चित्र या मॉडल रखे जाएंगे। साहित्यकारों के साथ-साथ हिंदी के विशिष्ट पत्रकारों, विद्वानों, कलासेवियों, रगकर्मियों, हिंदी-नेताओं तथा हिंदी-कार्यकर्त्ताओ से सबंधित सामग्री भी इस संग्रहालय में संजोई जाएगी। संग्रहालय का एक भाग प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य-मनीषियों के लिए सुरक्षित रहेगा। इसमें उनके चित्र, मूर्ति तथा प्रसिद्ध ग्रंथो को संग्रहीत किया जाएगा।

शोध कक्ष

इस कक्ष में विभिन्न विषयों, प्रवृत्तियों, व्यक्तियों, भाषाओं आदि के तुलनात्मक अध्ययनों पर काम करनेवाले शोध छात्रों के लिए बैठकर कार्य करने की सुविधा रहेगी। हमारी शोध-कार्य की परिकल्पना यह है–

1. संस्कृत भाषा और साहित्य तथा देशी और विदेशी भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन।
2. हिंदी (पश्चिमी, पूर्वी, राजस्थानी, बिहारी और पहाड़ी) तथा उसकी उपभाषाओं,

बोलियों (ब्रजभाषा, बांगरू, बुंदेली, कन्नौजी, अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती, मालवी, भोजपुरी, मगही, मैथिली, कुमाऊंनी तथा गढ़वाली) के ग्रंथों, साहित्यकारों, विशेषताओं पर पृथक-पृथक और तुलनात्मक अध्ययन।

3. हिंदी की सहयोगी या उपभाषाओं जैसे उर्दू, पंजाबी, गुजराती और मराठी आदि के योगदान और तुलनात्मक विषयों पर कार्यशाला।
4. हिंदी एवं गुरु ग्रंथ साहब और सिख गुरुओं की वाणी का शोधकार्य।
5. हिंदी-गुजराती आदान-प्रदान पर शोधकार्य।
6. हिंदी-मराठी आदान-प्रदान पर शोधकार्य।
7. दक्षिण भारतीय भाषाओं तमिल, तेलुगू, मलयालम, कन्नड़ पर शोधकार्य और हिंदी के साथ उनके तुलनात्मक सबध पर शोधकार्य।
8. विभिन्न सम्प्रदायों के साहित्य पर शोधकार्य।
9. हिंदी और साधु-संन्यासी, व्यापारी, तीर्थयात्री, आर्यसमाज पर शोधकार्य।
10. हिंदी और जैन धर्म।
11. हिंदी और बौद्ध धर्म।
12. हिंदी की एकरूपता।

हिंदी कार्यशाला

इस कार्यशाला में हिंदी के समान रूप अर्थात् वर्तनी, समूचे देश में मान्य हिंदी का व्याकरण, भिन्न-भिन्न प्रदेशों में प्रयुक्त होनेवाले भिन्न-भिन्न शब्दों की एकरूपता को स्थिर करने के लिए कार्य किया जाएगा। इसके साथ सर्वसाधारण जनता के लिए भाषा को सरल, वैज्ञानिक और तकनीकी बनाने के लिए उपयुक्त और समानांतर शब्द स्थिर करने, प्रशासनिक तथा तकनीकी शब्दावली को सर्वसम्मत रूप देने और देश में ऊपर कही हुई बातों का प्रयोग करने के लिए कार्य किया जाएगा।

इसके लिए कक्षाएं भी लगाई जाएंगी। पुस्तकों का प्रकाशन भी किया जाएगा और समय-समय पर देशी-विदेशी विद्वानों को आमंत्रित करके उनके भाषण भी कराए जाएंगे। इसके लिए 250 व्यक्ति बैठ सकें, ऐसा एक संगोष्ठी कक्ष भी रहेगा।

हिंदी टंकण और आशुलिपि का प्रशिक्षण

श्री पुरुषोत्तम हिंदी भवन न्यास समिति हिन्दी के अच्छे टाइप करनेवाले और आशुलिपिकों को प्रशिक्षित करने का काम भी करेगी। इसके लिए हिन्दी टाइपराइटरों की व्यवस्था की जाएगी और आशुलिपि विशेषज्ञ नियुक्त करके श्रेष्ठ आशुलिपिक भी तैयार किए जाएंगे।

सूचना केन्द्र

भवन में एक हिंदी सूचना केन्द्र की व्यवस्था होगी, जो देशी-विदेशी, सरकारी-गैरसरकारी व्यक्तियों और संस्थाओं को हिंदी संबंधी जानकारी तथा अंग्रेजी एवं अन्य भाषाओं के पर्यायवाची शब्दों की जानकारी प्रदान करेगा। साथ ही शब्द प्राप्त करने में सहायता करेगा।

प्रकाशन विभाग

न्यास का अपना एक प्रकाशन विभाग होगा। इसमें हिंदी की उन पुस्तकों का प्रकाशन किया जाएगा, जो कि भाषा की धरोहर है और अब अनुपलब्ध हैं।

न्यास प्रादेशिक भाषाओं तथा विश्व की अन्य भाषाओं के भी उपयोगी ग्रंथों का अनुवाद कराकर अपने यहां से प्रकाशित करेगा। इसके लिए प्रकाशन विभाग के साथ-ही-साथ पुस्तकों को रखने के लिए एक विशाल कक्ष रखा जाएगा।

उक्त सभी कार्यों के लिए आधुनिकतम उपकरणों और कम्प्यूटरों का प्रयोग किया जाएगा।

इस महत्त्वाकांक्षी योजना की पूर्ति में कितने साधनों और कितने विशेषज्ञों का योगदान होना आवश्यक है, यह आप सहज में ही अनुमान लगा सकते हैं। इस संकल्पना की पूर्ति ही आज हिंदी की आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति ही हिंदी भवन की सार्थकता है।

प्रिय व्यासजी,

काशी चला आया तो मथुरा दूर हो गई। आपके दर्शन भी दुर्लभ हो गए। मुझ पर आपने लेख लिखा, वह पढ़ा। इसमें अपनत्व ही अधिक है। अपनों पर कहीं ऐसे लिखा जाता है। मैं भी आप पर लिख सकता हू। पर लिखूंगा नहीं। लोग कहेंगे—परस्परं प्रशंसति। सौभाग्यवती जग्गो की जीजी को मेरे नमस्कार कहें।

आपने पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ के लिए 'सूर व्युत्पत्ति कोश' तैयार करने का वादा किया था। वर्षों हो गए। अब तो इस काम को हाथ में ले लो। इधर आना हो तो मिलना अवश्य।

—वासुदेवशरण अग्रवाल

• •

हिंदी भवन : याचक और यजमान

जीवन के अंतिम चरण में मैंने लिया हिंदी भवन के निर्माण का संकल्प। तब जब आंखों से पूरी तरह दिखाई नहीं देता, कानों से ठीक तरह नहीं सुन पाता और मधुमेह के कारण मेरे पैर भी लड़खड़ाने लगे। एक-एक करके मेरे हिंदीनिष्ठ साथी या तो प्रभु को प्यारे हो गए अथवा शारीरिक दृष्टि से मुझसे भी अधिक अशक्त हो गए। जमाना भी बदल गया। राज और समाज में देखते-देखते जो हिंदी कभी प्रबल आंदोलन का, अटूट निष्ठा का और राष्ट्र-सेवा का सशक्त माध्यम थी, वह अब चर्चा का विषय भी नहीं रह गई। हिंदीतर क्षेत्रों की बात छोड़िए। हिंदी क्षेत्रों के लोग भी हिंदी के प्रति गंभीर नहीं रहे। केन्द्र और राज्य सरकारें अंग्रेजी की ओर दौड़ रही हैं। "यथा राजा तथा प्रजा" के अनुसार जो लोग कभी हिंदी के दीवाने थे, उनके कार्य-व्यवहार में ही नहीं, रसोईघर में भी अंग्रेजी प्रवेश कर गई। अब से तीस वर्ष पहले अगर हमने राजधानी में हिन्दी भवन का काम हाथ में लिया होता तो न जन की कमी रहती और न धन की। तब तीस महीनों में ही राजधानी में विशाल हिंदी भवन खड़ा हो जाता। लेकिन अब न मेरे पास कोई संस्था है, न अखबार और न सरकारी पद, तब तीन करोड़ के संकल्प को कैसे पूरा किया जाए ? परंतु इच्छाशक्ति प्रबल थी और है। शुरू से ही आदत रही है कि जिस कार्य को हाथ में लेता हूं उसके पीछे धुन बांधकर लग जाता हूं। बाधाएं तो शुभ कार्यों में आती ही हैं। लेकिन संकल्प शुभ हो, उसके लिए निष्ठा से कार्य किया जाए और लोगों को यह दिखाई दे कि इसमें कार्यकर्त्ता का अपना कोई स्वार्थ नहीं है तो मेरा यह अनुभव है कि कार्य कितना ही कठिन हो, असंभव नहीं होता। मैं भी सब कुछ भुलाकर हिंदी भवन के पीछे पड़ गया।

हां, सब कुछ भुलाकर। भूल गया कविता को। लोग भी भूल गए कि मैं कभी लेखक था। कवि-सम्मेलनों के 'सार्थक' निमंत्रण आते हैं, नहीं जाता। अखबारों से लेख लिखने का आग्रह आता है, नहीं लिख पाता। पचास में से पैंतालीस पुस्तकों के संस्करण

समाप्त हो गए, उनके पुनः प्रकाशन की ओर भी मेरा ध्यान नहीं रहा। पाठक मांग करते, प्रकाशक आग्रह करते, परंतु मेरे पास समय ही नहीं बचा। घर के लोगों से भी बातचीत करने का समय नहीं रह गया मेरे पास। वृहत्तर परिवार और मित्र समुदाय के मांगलिक अवसरों की बात तो छोड़िए, उनके रंज-ओ-गम में भी शरीक नहीं हो पाता। एक ही धुन, एक ही काम, एक ही चिंता–हिंदी भवन ! हिंदी भवन !!

कैसे-कैसे पापड़ बेलने पड़ रहे हैं मुझे इस हिंदी भवन के लिए। जिनका मुंह देखने को मन नहीं करता था, उनके दर्शनों के लिए दौड़ लगाने लगा "जिनके मुख देखे दुःख उपजत, तिनको करनी पड़ी सलाम।" जिनके आगे सीना तानकर चला करता था, बार-बार शीश नवाकर नमन करना पड़ा। जो कभी मेरी दृष्टि में अनादर के पात्र थे, उन्हें बार-बार आदरणीय संबोधन देना पड़ा। जिन्हें मैं कभी तिरस्कार के योग्य भी नहीं समझता था, वे मेरे लिए अब 'सस्नेह नमस्कार' के योग्य बन गए। साहित्यकार का अहम विगलित हो गया। जिसने जीवन में कभी किसी के सामने एक पैसे के लिए हाथ नहीं पसारा, वह उजली या काली कमाई करनेवालों के आगे झोली फैलाने लगा। जो कभी सगर्व यह पंक्ति दुहराता रहता था–"आपको न चाहे, वाके बाप को न चाहिए," वह राजनीति के काठ के मोहरों, जो कुर्सी से उतरते ही तीन कौड़ी के भी नहीं रहते, उन्हें माननीय, श्रद्धेय कहकर बार-बार स्मरण-पत्र भेजने लगा। जो थोड़े-से निष्ठावान साथी बच गए थे या मुझे अभी तक कवि या लेखक माने बैठे थे, उनको दुहने में मैंने कसर नहीं छोड़ी। भले ही उनके थनों से बूंद ही निकली हो। पर बूंद-बूंद एकत्र करने से ही तो सागर बनता है। इस दोहन और शोषण का परिणाम यह भी निकलने लगा कि लोग टेलीफोन पर मेरा नाम सुनकर कहलवा देते हैं कि बाबूजी घर में नहीं हैं। एक-दो मित्र तो ऐसे भी निकले कि मेरे पीछे पड़ने पर उन्होंने कुछ दे तो दिया, लेकिन कहने लगे कि यह हिंदी भवन नहीं, व्यास की कब्र बन रही है और मुझसे दुआ-सलाम करना भी बंद कर दिया। "रूठ जाए संसार, एक भगवती न रूठी चहियै।" भगवती माने मां सरस्वती, जिसने मुझे बुद्धि दी, लगन दी और श्रेय प्राप्त करने का वरदान भी।

इस वरदान के ही फलस्वरूप देखते-देखते ही हिंदी भवन के लिए एक उत्साही टीम खड़ी हो गई। एक वृहत्तर न्यास-परिवार गठित हो गया। मित्र लोग इसे विनोद में व्यास-परिवार कहने लगे। यह परिवार लग गया हिंदी भवन के लिए साधन जुटाने में। सबसे पहले उनका जिक्र करूंगा जो न्यास-परिवार के सदस्य भी नहीं हैं, लेकिन हिन्दी भवन के लिए पूरी तरह समर्पित हैं। विशेषकर कर्त्तव्यनिष्ठ महिलाएं, जैसे श्रीमती इंदिरा मोहन, श्रीमती इन्दु गुप्ता, श्रीमती लीला प्रकाश, श्रीमती सुशीला त्यागी, जिन्होंने स्वयं तो हजारों दिए ही, अपने संपर्कों से भी हिंदी भवन के लिए धन एकत्र किया। धन ही नहीं, हिंदी भवन के आयोजनों और निर्माण-कार्यों में भी मेरे पुरुष मित्रों से बढ़कर आगे काम किया। श्रीमती सुमित्रा चरतराम जो हमारे न्यासी मंडल की सदस्या हैं, लेकिन देश की जानी-मानी कलाकार श्रीमती शरनरानी बाकलीवाल तो अभी तक न्यास-परिवार में ही हैं, इन महीयसी महिलाओं की उदार सहायता ने मेरे हौसले को दुगुना कर दिया है। बड़े-बड़े दानी-मानी महानुभावों से पहले मैं दो समर्पित कार्यकर्त्ताओं का उल्लेख करना चाहता हूं। इनमें एक हैं, श्री आनंद मोहन और दूसरे हैं, स्वतंत्रता सेनानी और पत्रकार

श्री शोभालाल गुप्त। आनंद मोहनजी ने अपने किसी परिचित मित्र को हिंदी भवन के साथ जोड़ने में कोई कसर नहीं छोड़ी। जब जो मिला, जिसने जो दिया, प्राप्त करते ही रहे और प्राप्त करते ही रहते हैं। आयु वृद्ध होने के बावजूद वह जवानों की तरह अहर्निश काम करते रहे हैं। हिंदी भवन के कार्य के लिए वह अस्वस्थ रहते हुए भी पूर्ण स्वस्थ हैं। उनके साथ रत्नाकर मंडल की एक मंडली भी है जो पूरी तरह हिंदी भवन के साथ जुड़ी हुई है। भाई शोभालालजी ने तो हिंदी भवन की खातिर देश छान मारा। एक हाथ भग्न है, एक टांग में छड़ पड़ी हुई है। आंखों में ग्लास लगे हैं। आयु अट्ठासी पार कर गई है। लेकिन तमिलनाडु, केरल, आंध्र, कर्नाटक, महाराष्ट्र और राजस्थान में उन्होंने घूम-घूमकर हिंदी भवन का अलख जगाया है और लगभग एक लाख रुपये के हिन्दी भवन के कूपन, विशेषकर हिन्दीतर क्षेत्रों में वितरित करके हिन्दी भवन की जैसी सेवा की वह एक अनुकरणीय और अनुपम उदाहरण है। कुछ दिन पहले अपने झोले में हिंदी भवन के कूपन रखकर राजस्थान गए थे। वहां हल्का-सा हृदय का दौरा पड़ा, लेकिन परवाह नहीं की। हिंदी भवन-हिंदी भवन का जाप करते रहे। दिल्ली लौटे तो हालत ज्यादा बिगड़ गई। लगातार तीन अटैक हुए। न जाने कौन-सी जीवनी शक्ति उन्हें बचाए हुए है। अब जब भी होश में होते हैं तो यही कहते हैं कि मद्रास में, नागपुर में, जयपुर में, बंबई में इतने कूपन दिए हुए हैं, वहां से रुपये मंगवाओ। जिन्होंने उन्हे आश्वासन दिए हैं उनके भी नाम बताते हैं। ऐसा कोई व्यक्तित्व और स्नेही बंधु अब मेरे पास नहीं है। हैं तो श्री इन्द्रनारायण हाथीदांतवाले और प्रसिद्ध समाजसेवी श्री रामनिवास लखोटिया जो तन-मन-धन से हिंदी भवन के साथ जुड़े हुए हैं। अपने भाई, भवन के कोषाध्यक्ष श्री महावीरप्रसाद बर्मन के संबंध में क्या कहूं ? अस्वस्थ रहते हैं। कहीं आ-जा नहीं पाते। लेकिन हिंदी भवन के आय-व्यय पर उनकी अब भी कड़ी नजर है। अपने एक पुत्र चि. हरी बर्मन को उन्होंने भवन की कोष-व्यवस्था का कार्य प्रामाणिकता के साथ करने हेतु समर्पित कर दिया है। अपने अध्यक्ष महोदय श्री धर्मवीरजी के बारे में क्या कहूं ? उन्होंने ही हिंदी भवन के लिए भूमि दिलवाई, कब्जा दिलवाया और वही अब हिदी भवन का निर्माण करा रहे हैं। उन्हीं के व्यापक संपर्कों के कारण आर्थिक कष्ट बाधक नहीं बन पाता और न कोई रुकावट ही हिंदी भवन के मार्ग में रोड़े अटका पाती है। हिंदी भवन में अध्यक्ष बहुत आए, लेकिन 'वीर' तो एक ही निकला जिसके आगे हिंदी-'धर्म' जुड़ा हुआ है। उनके नाम-प्रताप और प्रयत्नों से श्री रामकृष्ण बजाज सहित न जाने कितने दानदाताओं, ट्रस्टों और सरकारों से भवन को अनुदान प्राप्त हुए हैं। वही भवन निर्माण समिति के काम को देख रहे हैं। छोटी से छोटी बात की बारीकी में जाते हैं और न्यास की बैठकों में अनुशासन और व्यवस्था कायम रखते हुए काम को आगे बढ़ा रहे हैं। मैं श्रद्धा और स्नेह के साथ अपने अनन्य मित्र डॉ. विजयेन्द्र स्नातक और पुराने पत्रकार साथी श्री क्षितीश वेदालंकार का आदर्श हिंदी-जगत के सामने रखना चाहता हूं। इन दोनों वरेण्य मित्रों ने पहले एकमुश्त राशि भवन को प्रदान की और जिस दिन से भवन निर्माण का श्रीगणेश हुआ, उसी दिन से एक रुपया प्रतिदिन आजीवन देने का संकल्प ले चुके हैं। क्षितीशजी की विद्यालंकृता पत्नी श्रीमती पवित्रा देवी ने भी अपने पति का अनुगमन किया और वह भी हिंदी भवन को एक रुपया रोज

दे रही हैं। नहीं दे रहे हैं तो वे लोग जो हिंदी से खाते-कमाते और सुयश प्राप्त करते रहते हैं। इसमें केवल एक ही अपवाद रहे हैं, मेरे दिल्ली के प्रथम साथी मित्र श्री विष्णु प्रभाकर। बाकी तो पत्रों के उत्तर तक देने की कृपा नहीं करते। लेकिन मैं इन्हें छोड़ूंगा नहीं। धन न सही, हिंदी भवन के पुस्तकालय के लिए इनके घरों से पुस्तकों के संग्रह उठा लाऊंगा। सहयोगियों के नाम अनेक हैं, जैसे श्री रामगोपाल गाडोदिया, श्री राधेलाल खिलौनेवाले, श्री रोशनलाल अग्रवाल तथा कूपन वितरण के कार्य में निरंतर संलग्न श्री दीवानचंद बंसल। मैंने अपने परिवार के लोगों और सगे-संबंधियों को भी नहीं छोड़ा। समधियों से भी लिया। समधियों के समधियों से भी लिया। यहां तक कि जिन्हें देना चाहिए उन बेटी-दामादों के सामने हाथ पसारने में भी नहीं हिचका। याचक की यही नियति हुआ करती है।

जब से जन्म लिया है तभी से मेरा जन्मदिन मनाया जाता रहा है। लेकिन जब से मेरे जीवन में हिदी भवन आया है, तब से ये जन्मदिन भी हिदी भवन के लिए धनसंग्रह का माध्यम बन गए। मै शाल-दुशाला और माला नहीं, हिंदी भवन के लिए इस अवसर पर झोली फैलाता हूं। याद आता है मुझे 'ब्रज विभव' ग्रथ के लोकार्पण का दिन जिसमें भाईजी श्री जयदयाल डालमिया भी श्रोता समुदाय के बीच बैठे थे। जब मेरी पुकार पर लोग बढ़-चढ़कर दानराशियों की घोषणा कर रहे थे, तब डालमियाजी मौन रहे। केवल ग्रंथ की दस प्रतियां अपने साथ ले गए। लेकिन वह तीसरे दिन श्री श्रीकांत गोविल के साथ मेरे घर पर स्वयं पधारे और छह अंकों का एक चेक मुझे हिंदी भवन के लिए प्रदान किया। उसके कुछ महीनों बाद फिर छह अंक प्राप्त हुए। दाता बहुत देखे, प्रायः प्रत्येक दाता दान के साथ अपना नाम और मान भी चाहता है। लेकिन भाईजी जीवन में ऐसे मिले जो उद्देश्यों के प्रति समर्पित हैं तथा अपने नाम और मान के प्रति पूरी तरह उदासीन हैं।

अब हिंदी भवन का चाहे कालपात्र प्रतिष्ठापन समारोह हो अथवा पं. जसराज के गायन का 'स्वर गंगा' समारोह हो, जैसे गंगा के तीर पर एक टांग पर खड़े बगुले का ध्यान सामने आनेवाली मछली पर रहता है वैसे ही मैं उपस्थित जनसमूह में अपना शिकार तलाश करता रहता हूं। ऐसे ही 'स्वर गंगा' समारोह में मेरी चोंच में फंस गए भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री चंद्रशेखर और दे गए दस लाख। इससे पहले 'ब्रज विभव' के लोकार्पण समारोह में मेरी पकड़ मे आ गए थे तत्कालीन केन्द्रीय मंत्री श्री नारायणदत्त तिवारी। मंच पर बगल में बैठे थे। कहा—केन्द्रीय सरकार को इस शुभकार्य के लिए एक करोड़ देना चाहिए। मेरा हौसला बांसों उछल पड़ा। लेकिन देखते-देखते ही वह भेज दिए गए उत्तर प्रदेश। वहां उन्होंने पच्चीस लाख स्वीकृत किए। पहली किश्त दस लाख की भेजी। दूसरी का नंबर ही नहीं आ पाया कि सरकार बदल गई।

आप कहेंगे कि मैं हिंदी के नाम पर क्या धन-पट पीटने लगा। बात वाणी मंदिर की हो रही है और रोना रोया जा रहा है मुद्राराक्षस का। सुन लिए आपके गुन ! अब बस कीजिए। तो यह कहकर "सर्वे गुणः कांचनमाश्रयंति" इस धन्ना भगत की कथा को यहीं विराम देता हूं।

भवन तो बन चला, लेकिन...?

हिंदी भवन बन चला तो बन भी जाएगा। ढांचा खड़ा हो गया है तो आवश्यक सुविधाएं और अंदर-बाहर की साज-सज्जा यथासाध्य संपन्न हो ही जाएगी। अब प्रश्न यह है कि जिन लक्ष्यों की प्राप्ति की संकल्पना की गई है, वे कब और कैसे प्रारंभ होंगे और उन्हें कौन संपन्न करेगा ? इमारत खड़ी करना तो इन लक्ष्यों की पूर्ति का आधार-भर है। यदि भवन जायदाद बनकर ही रह गया तो फिर वही होगा जो मिल्कियत को लेकर उसका मालिकाना हक प्राप्त करने के लिए हुआ करता है—झगड़े-टंटे, नियमावली की व्याख्या और उनकी तोड़-मरोड़। फौजदारी और दीवानी की अदालतों की गोद में चला जाएगा न, तब हिंदी भवन ? जहां आर्थिक गुड़ की भेली मिल जाती है, वहां बदर उत्पात करने लगते ही हैं। यदि संगोष्ठी कक्ष, सभागार और अन्य कोई हिस्सा किराये पर दे दिया गया तो उस आमदनी और हुकूमत के लिए क्या-क्या हो सकता है, इन आशंकाओं से अपने स्वभाव के विपरीत मैं आजकल चिंतित हूं।

आशंकाएं निर्मूल नहीं हैं। वे अनुभवजन्य भी हैं। देश की अनेक संस्थाएं विशेषकर हिंदी के सगठन, जिनमें मेरे द्वारा संस्थापित संस्थाएं भी शामिल हैं, उनकी दुर्दशा को देखकर मेरी व्यथा को आप अस्वाभाविक नहीं कहेंगे। चुनावों द्वारा संचालित होनेवाली सामाजिक और सांस्कृतिक संस्थाओं में ऐसे अशोभनीय कांड अधिक होते हैं। हमने इसीलिए सम्मानित हिंदीनिष्ठ नागरिकों का एक न्यास हिंदी भवन को चलाने के लिए गठित किया। नियमों में ऐसे प्रावधान किए गए कि सात आजीवन सदस्यों के अतिरिक्त जो शेष आठ सदस्य न्यास में सम्मिलित किए जाएं, वे आम सहमति के आधार पर निर्वाचित हों। इस तरह न्यास एक मन और एक आस्था से समर्पित हिंदी-भावना के साथ एक टीम की तरह काम करे। सभी ट्रस्टों के निर्माताओं ने निश्चय ही अपने गठन के समय ऐसी ही भावनाओं को ध्यान में रखते हुए, सोच-विचारकर नियमों का निर्धारण किया होगा। लेकिन कितने ट्रस्ट आज ऐसे हैं जो उनके संस्थापकों की भावना के अनुसार चल रहे हैं ? अधिकतर ट्रस्ट किसी एक दबंग व्यक्ति और उसकी हां में हां मिलानेवाली टोली के अधीन हो गए हैं और परमार्थ की जगह स्वार्थ-साधन में संलग्न हैं। रात

में जब नींद उचटती है, जब सुबह-शाम भगवान का नाम लेने की कोशिश करता हूं तो रह-रहकर मेरे अंतर्मन में यह मंथन चलता रहता है कि इससे अमृत निकलेगा या विष ? विष को पीनेवाला शिव कहां से आएगा ? अमृत के लिए देवताओं और दैत्यों को परस्पर लड़ने से कौन बचाएगा ? मैं मन ही मन इन दु:शंकाओं के निवारण के लिए सोचता रहता हूं। सोचता रहता हूं उन चेतावनियों के बारे में जो समय-समय पर मुझे लोग दिया करते हैं कि व्यास, जिस हिंदी भवन के लिए तुम मर-खप रहे हो, देख लेना एक दिन इसका भी वही हाल होगा जो अन्य हिंदी संस्थाओं का आज हो रहा है। वे ऐसी संस्थाओं के नाम ले-लेकर मुझसे सोदाहरण वार्ता किया करते हैं। छिपाऊं क्यों, मेरे मन में भी इन दु:शंकाओं का डर न हो, ऐसी बात नहीं।

बात यह है कि आज जो हिंदी भवन क काम में जी-जान से जुटे हैं, जो आजीवन न्यासी हैं या न्यासी न होकर भी हिंदी भवन से पूरी तरह जुड़े हुए हैं, वे आयु के आठवें दशक की दहाई को छूने के लिए दौड़ लगा रहे हैं। इनमें से कुछ महापुरुष तो ऐसे भी हैं कि जिन्हें शताब्दी मनाने का सुअवसर भी प्राप्त हो सकता है। लेकिन मैं अपनी जानता हूं–"सामान जा चुका है, हम भी तैयार हैं।" "जीवस्य मरण ध्रुवम्।" जो आता है, वह जाता ही है। कोई आज, कोई कल। हिंदी भवन के प्रसंग में मेरी चिंता का मुख्य विषय है कि हम लोग जाने की तैयारी में हैं, परंतु समर्पित भाव से आनेवाले लोगों की तैयारी मैं नहीं देख पाता। निरंतर खोज करते रहने पर भी मैं अभी तक हिंदी और हिंदी भवन के लिए एक भी जीवनदानी की तलाश नहीं कर पाया हूं।

यह संकट केवल मेरे सामने ही नहीं, सामाजिक व सांस्कृतिक कार्य करनेवाले हर संस्था के निष्ठावान संचालक के सामने है कि वह जीते-जी किसी योग्य उत्तराधिकारी को अपना उत्तरदायित्व सौंपकर संतोष की अंतिम सांस ले सके। संकट व्यक्तिगत नहीं, राष्ट्रगत है। चिंता सिर्फ मेरी नहीं, अब तक जैसे-तैसे जीवित पुरानी पीढ़ी की है। वह दर्द से कराह-कराहकर कहती है कि देश में नेताओं का तो बाहुल्य है, परंतु रचनात्मक कार्यकर्त्ता ढूंढ़े नहीं मिल रहे। केवल पुराने लोग पुरानी लीक पर चल रहे हैं। लेकिन कब तक ?

हिंदी भवन की व्यवस्था के लिए एक व्यवस्थापक चाहिए। एक पुस्तकालयाध्यक्ष चाहिए। कम से कम एक ऐसा विभिन्न भाषाओं का विद्वान चाहिए जो शोधार्थियों का मार्गदर्शन कर सके। एक ऐसा बहुज्ञ पत्रकार चाहिए जो प्रत्येक अपेक्षित और जिज्ञासाओं का समाधान कर सके। अनुवादकों की एक टोली भी चाहिए। हिंदी साहित्य के इतिहास का एक ज्ञाता भी चाहिए। एक कला विशेषज्ञ की भी आवश्यकता है। एक ऐसा आधुनिक तकनीक का ज्ञाता भी चाहिए जो हिंदी को नए वैज्ञानिक उपकरणों के साथ जोड़ सके। इन पदों पर कार्य करनेवाले वैतनिक लोग तो मिल जाएंगे। लेकिन आज के युग में वेतनभोगियों की जो मन:स्थिति बन गई है, उसे देखते हुए खानापूरी तो हो सकती है, संकल्प की सक्षम पूर्ति नहीं। मैंने जो ऊपर पद गिनाए, जब तक इन पदों पर अनुभवी और समर्पित लोग त्याग-भावना से नहीं जुटेंगे, तब तक हिंदी भवन की संकल्पनाएं कागजी ही रहेंगी।

इसके लिए आवश्यकता है देश में हिंदी चेतना जाग्रत करने की। ऐसे लोगों की तलाश करने की और निर्माण करने की जो राष्ट्रभाषा के कार्य को राष्ट्र का कार्य समझें। हिंदी-कर्म को ही परम धर्म मानें। समझें कि हिंदी-सेवा से बढ़कर भारत माता की सेवा करने का कोई सहज और सुलभ माध्यम नहीं है। यह काम राजनीति नहीं कर सकती। सरकार के वश का तो यह काम है ही नहीं। तब इसके लिए दयानंद कहां से लाएं ? गांधी जैसा व्यक्तित्व तो हजारों वर्षों बाद पैदा होता है। विनोबा जैसे संत भी अब नहीं रहे।

लेकिन पीछे देखने की आवश्यकता नहीं, आगे की ओर देखो। सन् बयालीस में जैसे गांधी ने कहा था कि अब स्वराज्यप्राप्ति के लिए हर व्यक्ति नेता है, तो कहो देश के हर जागरूक आदमी से कि अब हिंदी के कर्णधार तुम्हीं हो। टटोलकर देखो, ऋषि तुम्हारे विचारों में है, संत तुम्हारे वचनों में है और हृदय के आसन पर बैठा हुआ महात्मा कह रहा है कि स्वराज्य के लिए इतना किया तो स्वभाषा के लिए भी उतना ही करो। इसी भावना से कार्यकर्त्ता पैदा होंगे। हमें अपने वचनो से नहीं, आचरण से हिंदी की नई पीढ़ी को प्रेरित करना है। तभी हिंदी प्रतिष्ठित होगी और तभी हिंदी भवन चलेगा। नहीं तो मेरा क्या है ? मैं अपनी जितनी भूमिका अदा कर सकता था, कर दी। मैं कितने दिन का हूं ? मेरे जीवनकाल में ही यदि कोई हिंदी के लिए जीवनदानी मिल जाए तो आज नहीं, अभी न्यास का मंत्री पद छोड़ सकता हूं। वह हिंदी और हिन्दी भवन की सेवा करे और मैं जब तक जिऊंगा, उसकी सेवा करता रहूंगा।

और क्या लिखूं ? मैंने एक झोले को लटकाकर हिंदी का काम शुरू किया था और हिंदी भवन तक पहुंचकर अब लौटना चाहता हूं जीवन के शेष दिन फिर से साहित्य को समर्पित करने के लिए। आंतरिक अभिलाषा यह भी है कि इस जीवन की कमाई तो बहुत कर ली, अब उस जीवन के लिए भी कुछ करना चाहिए। अर्जी हमारी। मर्जी मेरे कर्त्ता की—"यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।"

नहीं तो संस्कृत के महाकवि भवभूति का यह श्लोक लिख देने में क्या हर्ज है—

उत्पत्स्यते हि मम कोऽपि समानधर्मा
कालो हृदयं निरवधिर विपुला च पृथ्वी।

कभी न कभी, कोई न कोई तो आएगा ही।

जब भी हाथ लग जाता है, मैं 'साहित्य-संदेश' अवश्य पढ़ता हूं। तुम सौभाग्यशाली हो कि बाबू गुलाबरायजी का सान्निध्य प्राप्त हुआ है। इनके बहुमुखी व्यक्तित्व से कुछ सीखना।

—रामचन्द्र शुक्ल

बिन हिंदी सब सून

हिंदी ही मेरे लिए भारतमाता है–

"तुमि विद्या, तुमि धर्म
तुमि हृदि, तुमि मर्म
त्वं हि प्राणाः शरीरे !
बाहुते तुमि मा शक्ति,
हृदये तुमि मा भक्ति,
तोमारइ प्रतिमा गड़ि मंदिरे-मंदिरे !
त्वं हि दुर्गा दशप्रहरणधारिणी
कमल कमल दल-विहारिणी
वाणी विद्यादायिनी नमामि त्वां
नमामि कमलां अमलां अतुलाम्
सुजलां सुफलां मातरम् !
वन्दे मातरम् !
श्यामलां सरलां सुस्मितां भूषिताम्
धरिणीं भरिणीं मातरम् !
वन्दे मातरम् !"

हिंदी मेरे लिए गांधीजी का निर्देश है। वह निर्देश, जिसने पचास वर्ष पूर्व मुझे हिंदी-सेवा के लिए प्रेरित किया। वह निर्देश, जिससे मैंने जाना कि हिंदी-सेवा ही देश-सेवा है। वह निर्देश, जो आज भी मेरे कानों में गूंजता रहता है–

"अगर आज मेरे हाथों में तानाशाही सत्ता हो, तो मैं आज से ही विदेशी माध्यम के जरिए दी जानेवाली हमारे लड़कों और लड़कियों की शिक्षा बन्द कर दूं और सारे

शिक्षकों और प्रोफेसरों से यह माध्यम तुरंत बदलवा दूं। मैं पाठ्य पुस्तकों की तैयारी का इंतजार नहीं करूंगा; वे तो माध्यम के परिवर्तन के पीछे-पीछे अपने-आप चली आएंगी। यह एक ऐसी बुराई है, जिसका तुरंत इलाज होना चाहिए।"

हिंदी मेरे लिए टंडनजी को दिया हुआ वचन है। हिंदी के 'भीष्म पितामह जब राजनीति की शर-शैया पर पड़े स्वर्गारोहण की तिथि की प्रतीक्षा कर रहे थे, तो उन्होंने मुझे प्रयाग बुलाया। क्षीण और उदास स्वरों में कहा–मेरा हिंदी का स्वप्न धूमिल हो रहा है। सम्मेलन पर भी संकट के बादल घिर रहे हैं। अपना हाथ मेरे पास लाओ। कहो–"दिल्ली में हिंदी की ज्योति नहीं बुझने दोगे। दिल्ली में हिंदी चलेगी तो देश में हिंदी चलेगी।" स्मरण हो आए हैं उनके ये शब्द–"हिंदी की सेवा का भाव मेरे श्वास-श्वास में रमा है, मैं हिंदी का और हिन्दी मेरी है। हिंदी के लिए मेरे प्राण भी प्रस्तुत हैं।"

न मैं गांधीजी की भांति क्रांतद्रष्टा महात्मा हूं और न टंडनजी की तरह त्यागी-तपस्वी राजर्षि। गोविन्ददासजी की तरह न मैं सेठ और भारतीय संसद का पितामह ही हूं। चाहूं भी तो राममनोहर लोहिया के समान मैदान में उतरकर अंग्रेजी के विरुद्ध खुला विद्रोह नहीं कर सकता। मैं अपने को हिंदी का नेता भी नहीं मानता। मैं एक सामान्य व्यक्ति हूं और अपने को एक साधारण हिंदी कार्यकर्त्ता से अधिक कुछ नहीं समझता। लेकिन इतना अवश्य जानता हूं कि स्वराज्य के बाद हम भारतीयों के सामने एक ही राजनीतिक प्रश्न, एक ही सामाजिक समस्या और एक ही सांस्कृतिक चुनौती है–स्वदेश में स्वभाषा की प्रतिष्ठा। छिपाऊंगा नहीं, अंग्रेजी के चलते मुझे अपना ही देश पराए जैसा लगता है। हर समय मुझे एक ही बात सालती रहती है कि तब अंग्रेजों ने हमें गुलाम बना रखा था और आज अंग्रेजी ने हमारे हाथ-पैरों में बेड़ियां कस रखी हैं। विवशता यह है कि विदेशियों से लड़ते समय हमारे हौसले बुलंद थे। तब लुटना और पिटना भी कष्टकारक नहीं था। मर जाना भी शहादत की निशानी थी। लेकिन अब न अपनों से लड़ना आनंददायक है और उन्हें कोसना भी कम क्लेशकारक नहीं –"घुट-घुटके मर जाऊं, यही मर्जी मेरे सय्याद की है।"

मैं ही क्यों, आज हर देशभक्त इसी दुविधा में पड़ा हुआ है और अंग्रेजी के स्वार्थी सरपरस्त हमारी इस कमजोरी का पूरा-पूरा लाभ उठा रहे हैं। शायद इस प्रतीक्षा में कि न जाने कब अंग्रेज वापस लौट आएं और उन्हें अपनी वफादारी का सबूत पेश करना पड़ जाए।

अंग्रेजी को बनाए रखने के लिए आज वैसे ही तर्क दिए जा रहे हैं जो कभी अंग्रेजों को बनाए रखने के लिए स्वयं गोरे साम्राज्यवादी दिया करते थे। उनका कहना था भारतीय लोग शासन चलाने के योग्य नहीं। हम हटे तो देश टुकड़े-टुकड़े हो जाएगा। इसलिए पहले भारतीय अपने को सक्षम सिद्ध करें, तभी उन्हें स्वराज्य देने की बात सोची जा सकती है। हिंदी को भी आज राज-काज चलाने में अक्षम और राष्ट्रभाषा के आग्रह को देश की एकता के मार्ग में दुराग्रह घोषित किया जा रहा है। कैसी विडंबनामूलक समानता है यह। तकलीफ तब और भी बढ़ जाती है जब ऐसे तर्क उन लोगों द्वारा दिए जाते हैं जो कभी भारत से अंग्रेजों को निकालने के लिए प्राणपण से जूझे थे।

लेकिन मैं निराश नहीं हूं। निराश वही हैं जो हिंदी के हित-संवर्धन के लिए राज की ओर देखते हैं। दुखी वही हैं जो सरकार से पहल करने की आशा लगाए हुए हैं। वे यह क्यों नही समझते कि हिंदी किसी राजा की नहीं, जनता की भाषा है। हिंदी के जगन्नाथी रथ को राजा के घोड़े नहीं, जनता के हाथ खींचते हैं। वह सदा-सदा से संतों की वाणी रही है, सामंतों की नहीं। वह हाथ में तलवार लेकर आगे नहीं बढ़ी, हमेशा प्रेम और एकय का संदेश लेकर अग्रसर हुई है। फिर भी आज हमारे कुछ भाई हैं जो उसे साम्राज्यवादी कहने में नहीं हिचकते। इनमं से अनेक ऐसे हैं जिनके मुख पर अंग्रेजों की साम्राज्यशाही के समय ताले पड़े हुए थे।

मैंने बार-बार दोहराया है कि हिंदी एक प्रदेश की, एक जाति की या वर्ग-विशेष की भाषा नहीं है। वह निखिल राष्ट्र की वाणी है। हमारी राष्ट्रीय चेतना का उत्स है। अंतरात्मा की अनुगूंज है। हिंदी भाषा नही, विचार है। भारतीय अस्मिता की प्रतीति है। मेरे कथन का कथ्य एक ही है और वह यह कि पराधीन बनी हिंदी का हम स्वतंत्र बने भारतीयों को यही सदेश है कि कुर्सी की ओर नहीं, उस जमीन की ओर देखो जिस पर यह कुर्सी बिछी हुई है। जैसे भारत में बहनेवाली सभी नदियां बिना भेदभाव के अपने-अपने क्षेत्र को हरा-भरा करती है, वैसे ही हमारी सभी प्रादेशिक भाषाएं राष्ट्र की धरा को सिंचित कर रही हैं। इसमें अवगाहन करके हमें पुण्य-लाभ करना है। अंग्रेजी का आक्रमण केवल हिंदी पर नहीं, सभी भारतीय भाषाओं पर है। भाषा के मोर्चे पर सभी भारतीय भाषाओं के लश्कर तैनात हुए बिना भाषायी युद्ध नहीं जीता जा सकता। प्रत्येक हिंदीप्रेमी यह भली प्रकार समझ ले कि उसका विरोध किसी प्रादेशिक भाषा के साथ नहीं, केवल और केवल अंग्रेजी के साथ है। हम भाषा के रूप में अंग्रेजी के विरोधी नहीं। हां, सत्ता के रूप में उसे स्वीकार नहीं कर सकते। क्योंकि अंग्रेजी ने हमारे संपूर्ण आभिजात्य, बुद्धिवादी वर्ग और प्रशासनिक तत्र पर बलात् कब्जा करके हमें मानसिक गुलाम बना रखा है।

राजभाषा की कुंजी मंत्रियों के पास नहीं, बाबुओं के पास है। मेरा यह भी मानना है, यदि व्यापारी-वर्ग पुनः हिंदी को अपना ले तो उसके सामाजिक प्रचलन को कोई रोक नहीं सकता। हिंदी के लिए हम दूसरों की ओर न देखकर पहल अपने से करें। जब तक हिन्दी प्रदेशों में हिंदी नहीं चलेगी, तब तक हिंदीतर प्रदेशों से अपेक्षा करना बेमानी है।

मेरा निवेदन यह है कि वास्तव में हिंदी हिंद का ही पर्याय है। हिंद उठेगा तो हिंदी उठेगी। हिंद गिरेगा तो उसकी गिरावट हिंदी में भी परिलक्षित होगी। अगर हिंद टूटता है तो हिंदी को भी टूटने से नहीं बचाया जा सकता। क्योंकि हिंदी, हिंद के हृदय की धड़कन है, आत्मा की अनुगूंज है और सच्चे अर्थों में राष्ट्र की वाणी है।

इस राष्ट्रवाणी को अब हमें भाषा-स्वातंत्र्य के पुनीत कार्य में नियोजित करना है। ठीक उस तरह जैसे हमने स्वातंत्र्य-युद्ध के समय निखिल भारत में राष्ट्रीय चेतना को ज्योतित और जागृत किया था। जब तक दक्षिण से उत्तर और पूर्व से पश्चिम तक 'हिन्दी माता की जय हो' के प्राणस्पर्शी उद्घोष कोटि-कोटि कंठों से भारतीय गगन को गुंजायमान

नहीं करते, भाषा-स्वातंत्र्य हमसे दूर ही रहेगा। हिन्दी के गोवर्धन को उठाने के लिए जब तक "पंजाब, सिंधु, गुजरात, मराठा, द्राविड़, उत्कल, बंग" के सामर्थ्यवान ग्वालवालों की लकुटियां नहीं लगतीं, स्वर्ग के मदमाते देवता और उसकी वज्रशक्ति अंग्रेजी से हमारी रक्षा नहीं हो सकती। कहने का तात्पर्य यह है कि हिंदी की लड़ाई को समूचे हिंद की लड़ाई बनाना अत्यंत आवश्यक है। यह कठिन कार्य अत्यंत प्रेम, विवेक, धैर्य और सच्ची राष्ट्रभक्ति से ही संभव हो सकता है।

हिंदी भारत की आब, यानी पानी है। अगर राष्ट्र का पानी उतर गया तो यह भौतिक समृद्धि, विज्ञान की दिशा में बढ़ते हुए हमारे कदम और अंतर्राष्ट्रीयता की मृग-मरीचिका, सब शून्य जैसे हैं। इसलिए महाकवि रहीम कह गए हैं कि "रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून।"

खानखाना के स्वर में स्वर मिलाते हुए मैं भी यही कहता हूं–"बिन हिंदी सब सून।" तो आओ, इस शून्य को हम देवनागरी के प्रकाश से आलोकित करें और अपने भटके हुए भाइयों से कहें कि मां को अपना काला-कलूटा बेटा भी कनुआ और बबुआ लगता है। गृहिणी, गृहिणी ही है, वह कभी पराई नहीं हो सकती। पराई, पराई ही है। वह कभी अपनी नहीं हो सकती। जय हिंदी ! जय हिंद !!

■

हमारे व्यासजी स्वभाव से फक्कड़, मन से मौजी और ठेठ ब्रजवासी हैं। वर्षों से दिल्ली में रह रहे हैं और खूब रह रहे हैं। लेकिन दिल्ली का रंग उन पर नहीं चढ़ा। आज भी उनके घर में सोटा, लंगोटा, अंगोछा और सिल-लोढ़ी आपको मिल जाएगी। जरा छेड़ दो तो ब्रजभाषा के कवित्त-सवैयों की झड़ी लगा देंगे। ब्रज और ब्रजभाषा के लिए उन्होंने जितना काम किया है उतना सैकड़ों व्यक्ति भी मिलकर नहीं कर सकते। व्यंग्य-विनोद अपनी जगह है। लेकिन जो सरसता, माधुर्य, विद्वता उनके ब्रजीय लेखन में है, वह उनकी अन्य विधाओं में नहीं।

–डॉ. कृष्णदत्त वाजपेयी

षष्ठ उल्लास

ओम शांति

संस्थाओं से सबक

संस्थाएं मेरे जीवन का प्रमुख अंग रही हैं। जब से होश संभाला है, तभी से मैं संस्थाओं से संबद्ध हूं। ऐसा समय याद नहीं आता कि जब मैं संस्थाविहीन रहा होऊं। आदरपूर्वक स्वीकार करता हूं कि ये संस्थाएं ही मेरे व्यक्तित्व-विकास की सीढ़ियां रही हैं। लोक, साहित्य, राजनीति और भाषा के क्षेत्र में जो मेरी सिद्धि-प्रसिद्धि है, उसका बहुत बड़ा कारण समय-समय पर मेरे द्वारा बनाई या जमाई गई संस्थाएं भी हैं।

इन संस्थाओं से ही मैंने लोक-रुचि को पहचाना है और लोक-व्यवहार भी सीखा है। भिन्न-भिन्न विचारों के लोगों के साथ काम करने से मुझमें समन्वय बुद्धि भी विकसित हुई है। कार्यकर्त्ताओं के गुण-दोषों की निकट से जानकारी होने के कारण मुझे कुछ भले-बुरे की पहचान भी हुई है। लोगों से कैसे काम लिया जाता है, रूठों को कैसे मनाया जाता है और नाक पर स्वाभिमान रखनेवाले लोगों को कैसे निभाया जाता है, यह ज्ञान मुझे संस्था-कर्म से ही प्राप्त हुआ है। इतना ही नहीं, अवसरवादियों, दुराचारियों और चन्दा हड़प करनेवाले लोगों से संस्थाओं को कैसे बचाया जाता है, यह जानते-जानते मेरा वास्ता असामाजिक तत्त्वों से भी पड़ा है और उनसे दूर रहने या अपने से दूर कर देने की कला भी मुझमें आ गई है। इसलिए मैं संस्थाओं का बड़ा ऋणी हूं और उन्हें जीवन की सर्वोत्तम पाठशाला मानता हूं।

मेरी अधिकांश शिक्षा-दीक्षा इन्हीं संस्थाओं में हुई है। स्कूली शिक्षा मेरी पूरी नहीं हुई और फिर आंखें खराब हो जाने से स्वाध्याय का सुयोग भी जाता रहा। अब तो सुनाई भी कम पड़ने लगा है। लेकिन संस्थाओं की कृपा से मेरी लोक-शिक्षा और व्यवहार विद्या के अर्जन मे कोई कमी नहीं पड़ी। मैं उनमें काम करके व्यक्तियों को पढ़ता हूं। व्यक्ति ही तो समाज का नियन्ता है, साहित्य का उत्स है, राजनीति का मुकुट है, और है भगवान की ही नहीं, शैतान की भी सर्वोतम कृति। इसके अलग-अलग चेहरे हैं। काव्य, नाटक, उपन्यास और ज्ञान-विज्ञान के ग्रंथ इसी के ललित आख्यानों से भरे पड़े हैं। अगर

हिये की आंखें खुली हों और सामान्य बुद्धि साथ देती हो, तो संस्थाएं इसके लिए सर्वोतम शिक्षण-केन्द्र हैं।

संस्थाओं द्वारा सेवा का सुयोग तो प्राप्त होता ही है, इनसे व्यक्तित्व का निर्माण भी होता है। संस्थाओं के प्रचार पा जाने से व्यक्ति का नाम भी प्रचारित हो जाता है। उसके गुण ही नहीं, अवगुण भी प्रचारित होने लगते हैं। संस्था चाहे छोटी हो या बड़ी एक कुटुंब के रूप में कार्य करती है। धीरे-धीरे जब उसमें धन और जन की आमद बढ़ने लगती है तो कार्यकर्त्ताओं के मन में उस पर कब्जा करने की लालसा बढ़ जाती है। उठक-पटक और झगड़े-टंटे शुरू हो जाते हैं। इसे संभालना और सहेजना तथा पुष्ट करना और आगे बढ़ाना सामान्यजन के बूते की बात नहीं। संस्था चलानेवाले को विनयी, मृदुभाषी, निरंतर कार्यशील, धन-संग्रह में पटु और पुरस्कार तथा दंड देने की क्षमता रखने-वाला होना चाहिए। परिवार के मुखिया से लेकर राजनीति के कर्णधारों तक में इन गुणों का होना बहुत आवश्यक है, जो कुशल संस्था-संचालन से ही सीखे जा सकते हैं।

संस्था की सेवा माता के समान करनी चाहिए और पुत्री के समान उसका पालन-पोषण करके, उसे उचित समय पर योग्य व्यक्ति को सौंप देना चाहिए। संस्थाएं तपोवन के समान हैं। इसमें तपस्वीजनों का महत्त्व स्थिर रहता है, भोगियों का नहीं। जो इनमें रहकर राज और भोग की लालसा पालते हैं, वे जीते-जी नारकीय क्लेशों को भोगने से नहीं बच सकते।

संस्थाएं अपने-आप में कुछ नहीं होतीं, व्यक्ति ही उनको बनाता है। संस्थाएं तब बनती हैं, जब व्यक्ति अपने को उनमें खपा देता है और मिटा भी देता है। लेकिन संस्थाएं निर्मोही भी कम नहीं होती। जब तक व्यक्ति उनमें काम करता है, तब तक उन्हें वे याद रखती हैं और लोग उन्हें मान देते हैं। संस्था-मंच से व्यक्ति के हट जाने से उसका नाम भी हट जाता है और लोग उसके कृतित्व को भी भूल जाते हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा का इतिहास इसका साक्षी है। आज उसकी नींव की ईंटों का कोई नाम भी नहीं जानता। इसलिए संस्थाओं द्वारा कोई अजर-अमर होना चाहता है, तो यह उसकी बड़ी भारी भूल है। संस्थाओं की सेवा व्यक्ति को निर्मोही होकर ही करनी चाहिए। गीता के उपदेश के अनुसार संस्था में कर्म का अधिकार ही स्वीकार करना चाहिए, फलाशा नहीं। जो फल की आशा रखते हैं, वे प्रायः निष्फल ही रहते हैं।

संस्थाओं के संचालन में बड़े-बड़े विष पीने पड़ते हैं। व्यक्ति हृदय से जो नहीं चाहता, वह संस्था के हित में करना पड़ता है। ऐसे कार्यों से नेकनामी कम, समाज में अपवाद ही अधिक फैलते हैं। सरदार पटेल और श्रीमती इंदिरा गांधी इसके प्रमाण हैं। संगठन की शुद्धि और संचालन के लिए उन्हें जब-जब जो करना पड़ा उसके लिए उन्हें अपनी लोकप्रियता भी दांव पर लगानी पड़ी है। मैं भी उसका अपवाद नहीं हूं। मुझे भी लोग पार्टीबाज, अपनी-अपनी चलानेवाला, विरोधियों को न सह सकनेवाला, संस्था के बहाने अपने-आपको बढ़ानेवाला, आदि-आदि कहने से नहीं चूकते।

यश-अपयश तो संस्था चलानेवाले को मिलते ही हैं। इसकी चिंता न करके, संस्था चलानेवालों को चाहिए कि वे लंगोट के पक्के और हाथ के सच्चे रहें। संस्था की रकम

डायन के समान होती है। जो इसे खाता है वह उसे खा जाती है। संस्था की नकदी या तिजोरी सांप का बिल है। जो इसमें हाथ डालेगा, वह बच नहीं सकता। इसी प्रकार चरित्रहीन भी कलंकित होकर संस्थाओं से निकाल दिए जाते हैं या अपने साथ संस्थाओं को भी ले डूबते हैं।

निस्तेज, कायर, अनिश्चयी, भ्रमित और मित्रहीन लोग संस्था नहीं चला सकते। जो व्यक्ति अपने साथ कार्यकर्त्ताओं की मंडली एकत्र नहीं कर पाता, वह संस्था में सफल नहीं हो सकता। इस मंडली को साम, दाम, दंड और भेद से सदा अपने वश में रखना चाहिए। जिस संस्था चलानेवाले की मंडली में फूट पड़ी कि संस्था गई। संस्था शायद बच भी जाए, किंतु वह अदूरदर्शी व्यक्ति नहीं बच सकता। संस्था का संचालन मेंढकों को तोलने के समान है। अगर इसका नेता विवेकी न हो, तो इसे बंदर-सभा बनने में भी देर नहीं लगती। मैंने छोटी-बड़ी दर्जनों संस्थाएं चलाई हैं। सन् 27 में अपने सहपाठियों के साथ एक "बाल नवयुवक क्लब" संस्था चालू की थी। फिर डॉ. सत्येन्द्र के संरक्षण में "सुहृद साहित्य गोष्ठी" का निर्माण किया। आगरा में 'प्रगतिशील लेखक संघ' का भी मंत्री रहा हूं। दिल्ली में आया तो भाई विष्णु प्रभाकर के साथ मिलकर "साहित्य संघ" नाम से एक संस्था खड़ी की। फिर कृतिकार लेखकों के लिए "शनिवार समाज" की स्थापना की। कुछ दिनों पं. बनारसीदास चतुर्वेदी राज्यसभा के सदस्य बनकर दिल्ली आए तो उनके निर्देश से राजधानी में "हिंदी-भवन" की भी नींव डाली। "ब्रज साहित्य मंडल" तो मेरी जवानी को ही सोख गया। मैं इसका संस्थापक भी रहा, प्रधानमंत्री भी बना। जब राजबहादुरजी अध्यक्ष थे, तो मुझे कार्यवाहक अध्यक्ष भी बनाया गया। बाद में मैं इसका अध्यक्ष भी रहा। दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन के द्वारा पिछले 40 वर्षों से मेरे द्वारा जो कार्य हुआ है, उसकी थोड़ी-बहुत जानकारी हिंदी-जगत को है। इस तरह संस्थाओं की सेवा करते मुझे लगभग बासठ वर्ष हो गए हैं। इसलिए मित्रों का कहना है कि मैं बिना संस्थाओं के रह ही नहीं सकता। कोई-न-कोई संस्था मेरी जेब में रहनी ही चाहिए। अगर संस्थाएं मेरे पास न रहें, तो उनके कथनानुसार मैं निष्क्रिय-ही नहीं, शायद अधिक दिन तक जी भी न सकूं। बात कुछ हद तक ठीक भी है। संस्था-संलग्नता मेरे लिए अपरिहार्य व्यसन बन चुकी है। लेकिन ऐसा व्यसन जो निष्ठा के साथ जुड़ा हो। साहित्य, कला, संस्कृति के साथ जुड़ा हो। यही देखिए कि जीवन के अंतिम दिनों में राजधानी में "हिंदी भवन" खड़ा करने के लिए टंडनजी के नाम पर एक न्यास बना लिया और अब उसके लिए दर-दर भीख मांगता फिर रहा हूं।

मुझ पर एक बड़ा इल्जाम यह भी है कि जब तक मैं संस्था में रहता हूं, वह चलती रहती है। किंतु जाते-जाते मैं उसे ऐसा बना जाता हूं कि वह अस्तित्वहीन हो जाती है। यह आरोप किसी साधारण व्यक्ति का नहीं, डॉ. विजयेन्द्र स्नातक जैसे विद्वानों का भी है। भाई जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी मेरे संस्था-कौशल को 'व्यास नीति' से अभिहित करते हैं। कहते हैं कि संस्थाएं तो व्यास का खेल हैं। जब तक व्यास चाहते हैं, खेलते हैं। नहीं तो कूदकर अलग हो जाते हैं। उनके कथनानुसार मैं ऐसा मल्लाह हूं कि जिसका लंगोटा ही लंगोटा भीगता है, बाकी कुछ नहीं बिगड़ता। जब से मेरी आंखें खराब हुई

हैं, तब से मेरे दल को लोग कौरव सभा और मुझको धृतराष्ट्र कहने में भी नहीं चूकते। परंतु तथाकथित पांडव किस अज्ञातवास में हैं, इसका पता नहीं चल रहा।

यारों के आरोप सिर-माथे। कारवां जब चलता है तो खड़े हुए लोगों की आंखों में धूल गिरती ही है। लोग तैरने के लिए पानी में कूदते नहीं, किनारे पर बैठे लहरें ही गिनते रहते हैं। मुझे याद नहीं आता कि मैंने कब, किस काम करनेवाले का तिरस्कार किया है और किस श्रेष्ठ कार्यकर्त्ता को पुरस्कृत नहीं किया ?

जो भी हो, अपने लंबे अनुभवों के आधार पर मैं संस्था चलाने के कुछ गुर आपको बताता हूं। लगन, परिश्रम और निष्ठा की बात तो सब कहते हैं।

सच्चरित्रता और ईमानदारी की बात मैंने भी ऊपर कही है। लेकिन संस्था चलाने वाले में आज सबसे बड़ा गुण यह होना चाहिए कि वह उसे चलाने के लिए धन एकत्र कर सके, यानी उसे चंदा मांगने की कला आती हो। दूसरी प्रमुख बात यह है कि उसकी अखबारवालों से दोस्ती हो, जिससे संस्था का ही नहीं, उसके कार्यकर्त्ताओं का भी प्रचार हो सके। तीसरी और शायद सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसकी नेताओं के साथ रैंट-पैट हो। अगर संस्था का संचालक अपनी संस्था को राज के प्रकोप से नहीं बचा पाता तो वह अयोग्य है। केवल राजपुरुषों से ही नहीं, विरोधी दल के लोगों में भी उसकी पैठ आवश्यक है—सर्व-संग्रह कर्त्तव्यं, को काले फलदायकः ?

पुरानी कहावत है कि जिससे दुश्मनी निकालनी हो उसे चौधरी बना दो। इसका नया रूप यह है कि जिसको तबाह करना हो, उसे किसी संस्था का मंत्री बना दो। मंत्री बनते ही वह उससे चिपक जाएगा और फिर कहीं का नहीं रहेगा। न घर का न बाहर का। तेली के बैल की तरह वह संस्था के ही चक्कर काटता रहेगा। शेष दुनिया के लिए उसकी आंखों पर पट्टी बंध जाएगी। गले में पड़ी घंटियों की धुन को सुनकर मगन रहना और सुस्त पड़ने या रुक जाने पर चाबुक खाते रहना ही उसकी नियति बन जाएगी। इसलिए अपने अनुभव के आधार पर मैं यह कहता हूं कि जिसे अपने बाल-बच्चे पालने हैं, उद्योग-धंधे बढ़ाकर नाम और नामा कमाना है या फिर सुख-शांति से भगवान जो दें, उसमें संतोष करना है, उसे संस्थाओं के जाल में नहीं फंसना चाहिए। संस्था चलाना तो घर फूंककर तमाशा देखना है। संस्थाएं बलि ले-लेकर पुष्ट होती हैं। जिसे अपना खून सुखाना हो या व्यर्थ के झगड़े मोल लेने हों वह संस्था का पट्टा अपने गले में बांधे और भौंकता रहे तथा चौकीदारी करता रहे।

कवि, लेखक और कलाकारों के लिए तो संस्थाओं का मोह प्राणघातक है। मिल जाए तो संस्थाओं से यश, पुरस्कार और शोभनीय पद ही लेने चाहिए, जिम्मेदारी कदापि नहीं। इससे उनके व्यक्तित्व-कृतित्व दोनों का ह्रास होता है। मैं स्वयं इसका साक्षी हूं। ब्रज साहित्य मंडल में बीस वर्ष न लगाकर और दिल्ली हिंदी साहित्य सम्मेलन में चालीस वर्ष न खपाकर मैंने साहित्य सृजन को ही अपना परम इष्ट माना होता, तो मैं आज पांचवें सवारों में नहीं, दावे के साथ कहता हूं कि हिंदी साहित्यकारों की प्रथम पंक्ति में होता। ब्रजभाषा साहित्य के संवर्द्धन, शोध और संपादन में कदाचित् मैंने भी कीर्तिमान स्थापित किए होते। ब्रजभाषा और हिंदी के प्राचीन साहित्य का मैंने परिश्रमपूर्वक अध्ययन

किया है। उसके लोक और साहित्य दोनों में मेरी गति है। ब्रजभाषा के शब्दकोश, सूर शब्दों के निरूक्त पाठ, बिहारी सतसई की रीतिकालीन कवियों के साथ तुलना, ब्रज के कवित्त-सवैयों का नवीनतम हजारा आदि कार्य कभी मैंने बड़े जोर-शोर से प्रारंभ किए थे। जिन्होंने देखा, उन्होंने सराहा। लेकिन या तो इन कार्यों के पन्ने बिखर गए और लुप्त हो गए या कुछ संदूकों और बस्तों में बंद पड़े हैं। ब्रजभाषा के तीन-चार हजार कवित्त-सवैये कभी याद थे। अब वे भी विस्मृत होते जाते हैं। इन्हें ही कोई लिख लेता या उनके अर्थ पूछ लेता !

जब सन् 45 में दिल्ली में कार्य प्रारंभ किया और सन् 53 में दिल्ली हिंदी साहित्य सम्मेलन बना तो उस समय मेरा व्यंग्य-विनोदी लेखन पूरे उत्स पर था। पत्रकारिता में मेरे स्तम्भ चमक रहे थे। देश में चारों ओर मेरी लोकप्रियता बढ़ रही थी। राज में भी और समाज में भी। लेकिन मैं दिल्ली के सम्मेलन में ऐसा फंसा कि उसी का होकर रह गया। पत्नी झींकती, परिवार के लोग टोकते और हितैषी रोकते रहे। लेकिन संस्थाओं का नशा शराब से भी अधिक चढ़ता है। उसमें भी एक प्रकार की हुकूमत का नशा होता है। बड़े-बड़े लोगों से मिलने और आम लोगों से सीधा संपर्क साधने का एक मिथ्या गर्व हुआ करता है। इस सबने मुझे भी अपने मोहपाश में जकड लिया। कवि-सम्मेलनों के निमंत्रण आते रहे और मैं सम्मेलन के आयोजनों के कारण उन्हें ठुकराता रहा। प्रकाशक नई पुस्तकें मांगते रहे और मैं वादे करता रहा। पुरानी पुस्तकों के संस्करणों की मांग होती रही, मैंने ध्यान नही दिया। ऐसा नहीं कि मेरा कवि, लेखक और पत्रकार इस बीच बिल्कुल मर ही गया हो। विचार उठते। कविताओं की पंक्तियां और लेखों के विषय सूझते। किसी की नई पुस्तक आती तो रह-रहकर मुझमें भी नई पुस्तक लिखने की उमंग उठती। लेकिन आज कार्य समिति, कल स्थायी समिति, परसों बजट और अनुदान। कभी लालकिले का कवि-सम्मेलन, कभी मूर्ख महासम्मेलन, कभी शरदोत्सव तो कभी वंसतोत्सव। आज इस मंडल में यह तो कल उस मंडल में वह। किसे अध्यक्ष बनाना है और किसे अन्य मंत्री पद सौंपने हैं। इसे कैसे काबू में रखना है और उसे कैसे बहिष्कृत करना है। धीरे-धीरे सारी जिम्मेदारियां अपने ऊपर ओढ़ लीं। हाल यहां तक पहुंचा कि पहले योजना बनाओ फिर चंदा उगाहो, फिर आयोजन की एक-एक तफसील को देखो। दो-तीन घंटों का तमाशा, किंतु सिरदर्द महीनों का। कवि कहां तक जीवित रहता ? कलम कब तक साथ देती ? "ऊधो, मन न भये दस-बीस-" वह तो एक ही है और वह श्याम से नहीं, काजल की कोठरी से लगा हुआ है–

काजर की कोठरी में कैसोहु सयानों पैठे,
कारिख की एक रेख लागि है, पै लागि है।

दोस्तो, हम तो तबाह हुए, पर तुम यदि साहित्य, कला, उद्योग आदि के क्षेत्रों में कुछ करने की तमन्ना रखते हो तो भूलकर भी इधर कदम मत रखना।

परंतु मैं बहुत ज्यादा असंतुष्ट नहीं हूं। ब्राह्मण हूं न ? नीतिज्ञों ने कहा है कि "असंतुष्टा द्विजा नष्टा"। मैं संतुष्ट हूं कि ब्रज साहित्य मंडल भले ही शिथिल हो गया

हो, मेरे यत्किंचित् योगदान से देश में ब्रज-भावना तो जागृत हुई है। ब्रज जनपद में चेतना तो आई है। विभिन्न प्रदेशों में बिखरा हुआ ब्रज एकत्र तो होने लगा है। ब्रज के साहित्य और कला वैभव पर इन पचास वर्षों में काफी काम हुआ है। आशा ही नहीं, विश्वास भी है कि सन् 40 में मैंने जो सपना देखा था, वह कभी न कभी तो साकार होगा ही। यही बात दिल्ली के हिंदी के काम के बारे में है। मुझे अपने सृजन कार्यों के अवरुद्ध होने का दुख तो है, लेकिन संतुष्ट हूं कि उर्दू और अंग्रेजी के गढ़ भारत की राजधानी दिल्ली में नगर निगम की भाषा हिंदी तो हो गई। दिल्ली प्रशासन ने भी इसे काम-काज के रूप में स्वीकार कर लिया। जहां गली-गली में मुशायरों की धूम थी, वहां कवि-सम्मेलन तो लोकप्रिय हुए। जहां जी-हुजूरों और राजबहादुरों के लिए जश्न मनाए जाते थे वहां हिन्दी साहित्यकारों के अभिनंदन समारोह तो आयोजित होने लगे। साइन बोर्डों पर थोड़ी बहुत हिंदी आई तो सही। हिंदी के नाम पर राजधानी में दस-बीस हजार लोग तो काम करनेवाले पैदा हो गए। दिल्ली विश्वविद्यालय में हिंदी का बहुत बड़ा विभाग तो गठित हुआ। सम्मेलन के उद्योग से उसके कार्यकर्त्ताओं ने केन्द्रीय सचिवालय हिंदी परिषद और न्यायालय हिंदी परिषद का गठन तो किया। प्रशासन में भाषा विभाग, साहित्य-कला परिषद और हिन्दी अकादमी की स्थापना तो हुई। हिंदी के साहित्यकार सम्मानित और पुरस्कृत तो होने लगे। यह दिल्ली का हिंदी साहित्य सम्मेलन ही था, जिसने संविधान में हिंदी को स्वीकृत कराने के लिए जी-जान की बाजी लगा दी। राष्ट्रभाषा व्यवस्था परिषद बुलाई। बाद में भाषा विधेयकों में संशोधनों के अवसर पर देशभर को आंदोलित कर दिया और सरकार को भी हिला दिया। दिल्ली बंद करवा दी। संगीनों के पहरे में चादनी चौक में अंग्रेजी के पुतले को आग लगवा दी।

गर्व कर लेने दीजिए। यदि मैं नहीं करता तो इसे कौन करता ? क्या राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त करते ? या सुमित्रानंदन पंत प्रयाग से दौड़े हुए आते ? बच्चनजी और दिनकरजी तो सरकारी सेवाओं में लगे थे। उनसे क्या उम्मीद की जा सकती थी ? इनके लिए हिंदी का लेखन प्रमुख था और मेरे लिए इन लेखकों की भाषा हिंदी प्रमुख थी।

मैं इस बात का भी गर्व करना चाहता हूं कि जैसे स्वराज्य से पूर्व हर भारतवासी का कर्त्तव्य स्वराज्य प्राप्त करना था, वैसे ही स्वराज्य के बाद प्रत्येक राष्ट्रवासी का प्रथम कर्त्तव्य अंग्रेजों की तरह अंग्रेजी को निकालकर वहां स्वभाषा की प्रतिष्ठा करना है। बूते-भर मैंने अपने इसी कर्त्तव्य का पालन दोनों बार किया है। न मिले पुरस्कार, न सही, न लिखे महाकाव्य, नाटक और उपन्यास, न सही। हो गया हिंदी-द्वेषियों में बदनाम तो यह भी सही। संस्थाओं से लगा तो इस लगन से कि आज कोई व्यापक असंतोष मेरे मन में नहीं है। हिंदी को तो राजभाषा होना ही है। वह हो जाए। भले ही लोग मुझे भूल जाएं।

कहो व्यास, कैसी कटी ?

हां, तो ऐसे कूदती-फांदती, गिरती-उठती, पढ़ती-लिखती निरंतर सक्रिय कटी हमारी श्रम-श्लथ मोद-विनोद से उत्फुल्ल जिंदगी। मन-भाया खाया जन-भाया पहना और सबके मनभावन कार्य करते रहे। अपने लिए तो सब करते हैं, मैंने भी किए। लेकिन दो बातों का ध्यान रखा–राष्ट्र और राष्ट्रभाषा। जैसे अनेक नदी-नाले मिलकर यमुना सहित पुण्यतोया भागीरथी में मिलकर पतित पावनी गंगा बन जाते हैं और गंगाजल निरंतर अनेक तटों को छूते हुए महासागर में चला जाता है, ऐसे ही मेरी ब्रजभूमि और ब्रजभाषा की सेवा, पत्रकारिता, व्यग्य-विनोद के पीछे समाज-परिष्कार की भावना और जब से होश संभाला है, तब से अब तक हिन्दी का अलख जगाना, सब राष्ट्र-गंगा में समाहित होकर जन-कल्याण के महासागर की ओर ही बढ़ते रहे।

यह मेरा ही नहीं, मेरे समय का युग-धर्म था। मैंने क्या-क्या किया और उनमें कितनी सफलता या विफलता मिली, यह मेरे वश की बात नहीं थी। मेरे वश में तो समय के साथ चलना था। पंडित परिवार में जन्म लिया तो पुराणपंथी हुआ। आर्यसमाज की लहर में बहा तो पाखंड-विखंडनी बन गया। कांग्रेस का ज्वार आया तो मेरा तिनका भी लहरों में उछलने लगा। प्रगतिवादी आंदोलन चला तो मैं भी चल पड़ा। चारों ओर शोषण और विसंगतियां ही दिखाई देने लगीं। हिंदुत्व का शंख बजा तो मैं भी हिंदू हो गया। लगा कि हिंदुओं के देश में ही हिंदुओं की उपेक्षा हो रही है। जब सर्व धर्म समभाव की बात चली तो मैंने भी यह अनुभव किया कि "एक नूर से सब जग उपज्या, कौन भले को मंदे।" सब खुदा के बंदे हैं। विभिन्न धर्म तो अलग-अलग उपासना पद्धतियां हैं, जो सबको उसी अलख निरंजन की ओर ले जाती हैं। धर्म के नाम पर झगड़े गलत। धर्म को राजनीति से जोड़ना महापातक।

जब सोचने का समय आया तो धर्म के संबंध में सोचने लगा। धर्म कर्मकांड नहीं है। सभी धर्मों में अहिंसा, सत्य, प्रेम और मानवता की सेवा का उपदेश है। सभी धर्म

वंदनीय हैं और सभी धर्मग्रंथ पठनीय हैं, आदरणीय हैं। मानता हूं कि "मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर करना।" जो एक-दूसरे के धर्म के विरोधी हैं, वे कठमुल्ले हैं। न सच्चे हिंदू हैं और न सच्चे मुसलमान। सच्चा हिंदू कभी मुसलमानों का दुश्मन नहीं हो सकता और न सच्चा मुसलमान हिंदुओं से नफरत कर सकता है। सिख तो हमारे जनम-जनम के भाई ही हैं। गौ-ब्राह्मण हिताय ही गुरुओं ने जन्म धारण किया था। मैंने यह माना ही नहीं, इस दिशा में कुछ कार्य भी किया है। अनेक मुस्लिम और सिख मेरे प्रियजन हैं। अब तो मैं यह मानने लगा हूं कि धर्मों में विभक्त इस दुनिया को मानव धर्म के झंडे के नीचे एकत्र किया जाए। तभी हम आसन्न विनाश से बच सकते हैं। छोटे-बड़े भूखंडों में तथाकथित राष्ट्रीय अहंतामूलक जिसे आज राजनीति कहते हैं उस दुर्नीति से त्राण पा सकते हैं।

बहुत गई, थोड़ी रही। न जाने कब कूच का नक्कारा बज जाए ? तब बार-बार मन में ये पंक्तियां उभरती रहती हैं—"अब मैं कौन उपाय करूं ? जनम पाय कछु भलौ न कीनौ, याते अधिक डरूं।"

सचमुच मैंने कोई ऐसा भला काम नहीं किया जो धर्मराज के खाते में दर्ज होने योग्य हो। साधारण से साधारण मनुष्य मुझसे श्रेष्ठ है। मनुष्य की श्रेष्ठता मुझमें आई ही नहीं। आईं उसकी कमजोरियां। मान बैठा कि मनुष्य के माने ही कमजोरियां है। इस तरह अपने को भुलावे में रखता रहा। पर सच कहूं तो सूरदासजी की यह पंक्ति मुझ पर चरितार्थ होती है—"मो सम कौन कुटिल खल कामी"। वास्तविकता यही है कि मैं किसी से कम स्वार्थी नहीं। साक्षात् अहंकार का पुतला हूं मैं। यशलिप्सुओं की कतार में मुझे आप आगे ही खड़ा पाएंगे। जीवन-भर कुछ न होने पर भी अपने को प्रतिष्ठित और महिमामंडित करने का काम किया है।

मैं उस हिंसक वन्यप्राणी के समान हूं जो तिलक लगाकर नदी के तट पर बैठ गया है और कहता है कि मैंने शिकार करना बंद कर दिया। परंतु उन्यासी वर्ष की उम्र हो आई, मैंने शिकार खेलना अभी तक बंद नहीं किया है। आ जाए कोई मेरे छलावे की परिधि में। बच नहीं सकता। इंद्रियां शिथिल हो गई हैं, लेकिन मनोविकार नहीं गए। बतरस नहीं गया। मीठे सपने नहीं गए। सुबह-शाम माला फेरता हूं, लेकिन मन ईश्वर में नहीं, रह-रहकर एषणाओं की ओर दौड़ता रहता है। ज्ञान का संचय तो कुछ किया है, लेकिन न भक्ति प्राप्त हुई और न वैराग्य ही।

आप कहेंगे कि यह बढ़ी उम्र का सोच है। इसी को श्मशान-वैराग्य कहते हैं, परंतु व्यास, तू तो हमेशा दोहराता रहा है कि "न दैन्यं न पलायनं।" यीशु अनुयायियों का मत है कि पादरी के सामने अपने पापों का बखान करने से वे नष्ट हो जाते हैं। भारतीय दर्शन का भी यही मत है कि दीनभाव से अपने किए पापों का पश्चाताप करो तो ईश्वर क्षमा कर देता है। परंतु ऋषि यह भी कहते हैं कि डाल पर दो पक्षी बैठे हैं—एक जीव और दूसरा ईश्वर। जीव फुदकता है। फल-फूल और पत्ते खाता है। लेकिन ईश्वर कुछ नहीं करता, सिर्फ देखता रहता है। जीव कर्म करने में स्वतंत्र है, फल पाने में नहीं। इस कर्म-बंधन से करोड़ों में से किसी एक को मुक्ति मिली हो तो मिली हो, मुझे तो

नहीं मिल सकती।

हमारे मनोविज्ञानवेत्ता ऊपर कही गई बातों से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि यह कन्फेशन अथवा यों कहूं कि अपने पापों के प्रति व्यक्त किया हुआ परिताप भी प्रकारांतर से कहने या लिखनेवाले की महानता का ही विज्ञापन करता है। कुछ हद तक यह ठीक भी है। विनम्रता का प्रदर्शन करनेवाले प्रायः बड़े अहंकारी होते हैं। शपथ खाकर अपने को सही साबित करने वाले प्रायः झूठे होते हैं। "मन न रंगाए, रंगाए जोगी चोला"—ऐसे साधुओं की बावत कबीर काफी कुछ कह गए हैं। अगर आप भी मुझे असाधु, असत्यवादी, अहंकारी और स्वार्थी संसारी मान लें तो मैं इन विशेषणों से आनंदित ही होऊंगा। क्योंकि भला या बुरा, मैंने जो कुछ भी किया है वह अपने आनंद के लिए ही तो किया है। किसी के कहने से नहीं, अपने मन से—"पाप-पुण्य जो भी किया, किया पूरे मन से।"

कहो तो फिर ज्ञान बघारूं ? ईश्वर क्या है—सच्चिदानंद। जगत क्या है—जिधर देखो उधर आनंद ही आनंद बिखरा है। जीव क्या है—आनदघन परमात्मा का एक अमृत-बिंदु ही तो है। मेरे व्यक्तित्व और कृतित्व का परमलक्ष्य भी आनंद ही है। मैंने जो भी काम किए. जो भी लिखा, वह अपने को ही नहीं, दूसरों को भी आनंदित करने के लिए। दुःख आए, विघ्न आए और क्लेश भी पधारे, परंतु मैंने उनका स्वागत आंसुओं से नहीं, पसीने से किया है। या यों कहूं कि जीवन की लंबी दौड़ में अपने दुःख-दर्दों की ओर देखने का मुझे अवसर ही नहीं मिला। अगर उनकी तरफ ध्यान देता तो जो मैं हूं, वह नहीं हो पाता।

जीवन में ऐसे अवसर भी आए है, जब मैंने कुर्ता पहनकर धोती पछाटी है और धोती पहनकर एकमात्र कुर्ते को धोया है। व्यथित होकर नहीं, प्रेमपूर्वक मल-मलकर। बीस वर्ष की अवस्था तक मुझे मोजे और स्वेटर नसीब नहीं हुए। जाडो में जिसने शीतलहर का आनंद नहीं लिया, वह कोई आदमी है ? जो गर्मियों में अंगोछा या तहमद पहनकर न घूमा हो, बरसात को जिसने छाती पर नहीं, छाते पर झेला हो, समझो कि वह पावस की फुहारों से, रस की बौछारो से, बिजली की स्वर्णिम चमक से वंचित ही रह गया। मुझे इन सब चीजों का आनंद प्राप्त हुआ है।

जीवन में कुछ दिन ऐसे भी आए, जब भुने हुए चने बूंदी के दाने लगते थे। मुट्ठी-दो मुट्ठी खाए। ऊपर से भरपेट पानी पिया और डकार लेते हुए कहा—"हजम हलवाई, भसम परचूनिया।"

तो यारो, अपनी तो ऐसी कटी। कहूं कि मजे में कटी, मौज में कटी। यह तो नहीं कह सकता कि आपकी भी ऐसी कटे कि भरी जवानी में आंखें दगाबाजी पर उतर आएं, आंखों का काम जब कानों से लिया जाए तो वे भी बुरा मान जाएं और आपके जीवन में भी ऐसा क्षण आ जाए जब आप कबीरदास की इन पंक्तियों को दोहराने लगें—

संपत्ति, संतति, दुख के कारन,

याते भूल परी।
भजो रे भइया, राम-गुविंद हरी।

इस हरि-भजन के बारे में एक बात और बता दूं कि लोग प्रायः दुःख में हरि का स्मरण करते हैं। मैंने यह शुभ काम कभी नहीं किया। दुःख आए तो और जोर-शोर से उनके निवारण में लग गया। पर जब सुख आए तो मैंने हमेशा ईश्वर का नाम लिया और उसे उसकी कृपा का फल माना तथा यह सिद्ध कर दिया कि "सुख में सुमिरन जो करे तो दुख काहे को होय।" सुख-दुःख तो दिन-रात की तरह हैं। आते-जाते रहते हैं। जीवन और मरण कपड़े बदलने की तरह हैं—"पुनरपि जननं पुनरपि मरणं" इसमें दुःख क्या मानना ? अब भी आनंद से कटी और तब भी आनंद से कटेगी। क्योंकि यारों का सिद्धांत तो यह है कि "शक्कर घोरा को शक्कर और मूजी को टक्कर।" इसलिए इस पुस्तक के समापन पर आप भी मेरी तरह इस शेर को दोहराए। दोहराइए ही नहीं, दिल में भी जमाइए कि—

दिल दे तो इस मिजाज का
परवरदिगार दे,
जो रंज की घड़ियां भी
खुशी से गुजार दे।

प्रिय व्यासजी,

स्वयं प्रसन्न रहो और सबको प्रसन्नता प्रदान करते रहो। श्रीमती कौल के मार्फत मैंने ही तुम्हें जयपुर बुलाया था। परतु आपकी स्वीकृति प्राप्त नहीं हुई। मेरे अनुरोध के साथ जयपुर के निवासी भी हिन्दी के चक्रवर्ती साहित्यकार को सुनना चाहते हैं। अवश्य आइए।

—डॉ. सत्येन्द्र

ओम शांति

लिखते-लिखते लो उन्यासी वर्ष बीत चले। ऐसे बीते कि पता ही नहीं चला। अचरज होता है कि इतने दिन जिए तो जिए कैसे। अपनी तरफ से तो कोई कसर छोड़ी नहीं। पिछले पचास वर्षों में मनों तंबाकू और टनों चाय के रूप में निकोटिन चूस लिया होगा, पी लिया होगा। आज भी उठते ही राम का नाम लेने से पहले चाय का नाम लेता हू। फिर तबाकू का पान जम जाता है, तब राम-कृष्ण का ध्यान आता है। कविता और पत्रकारिता तथा अल्हड़पन के साथ-साथ काम करने के दबाव ने मेरे जीवन को अनियमित बना दिया। बड़े गर्व के साथ कहता हूं कि भाइयो, मैं अनियमितताओं को बरतने के मामले में अत्यंत नियमित रहा हूं। शायद ही उन्यासी वर्ष का कोई ऐसा आदमी मिले जो दिन में कम-से-कम बीस प्याले चाय और तंबाकू के पच्चीस पान पी जाता हो, चबा जाता हो। जो ग्यारह बजे नाश्ता करता हो। तीन बजे से पहले लंच न लेता हो और रात का भोजन, मतलब कि डिनर ग्यारह बजे से पहले न करता हो। बुढ़ापे में जब मृत्यु का डर अधिक सताने लगता है और जीवन तथा जगत् के प्रति मोह दिन-पर-दिन बढ़ता जाता है, तब ऐसे आचरण करनेवाले व्यक्ति को आप क्या कहेंगे ? इस पर तुर्रा यह कि मैं सोलह घंटे हिंदी के लिए काम करता हूं और अब राजधानी में हिंदी का विश्व मंदिर बनवाने में जुटा हूं। मूर्ख कहीं का मैं ! ऐसे कर्त्ता-धर्त्ता न जाने कितने हुए हैं, कितने हैं और न जाने कितने आगे होंगे ? लेकिन वाह रे मेरे दंभ ! जो अपनी अक्षमताओं को भी गुण-गौरव प्रदान करने से बाज नहीं आता। लेकिन इतनी बात सच है कि जब वैद्यों ने बताया कि मुझमें तपेदिक के आसार बढ़ रहे हैं तब मैं हंसा और हंसते-हंसते बिना किसी उपचार के तपेदिक को भगा दिया। जब आंखें जवाब देने लगीं, तब सोचा—व्यास, अब देखने को क्या बचा है ? देश-विदेश, नदी-सरोवर, वन-पहाड़, पुरातत्त्व के पवित्र स्थान, तीर्थस्थल, देश का कोई बड़ा नगर या कस्बा रह गया क्या देखने से ? अपने देखे, पराये देखे। सुंदर देखे, सुदरियां देखीं। सिंह देखे, गीदड़ देखे।

विषधर नाग देखे, बल खाती नागिनें देखीं। बहुतों को मित्र बनाकर देख लिया और शत्रु बनाकर भी। शिष्य बनाकर देख लिया और शिष्या बनाकर भी। परंतु जब देखा–

चेले हुए रफूचक्कर,
चेलीं गईं पराये घर,
साथी गए किनारा कर,
जय बम बोले शिवशंकर !

अब जितना दीखे वह ठीक और न दीखे वह भी ठीक। कान जितना सुनें, ठीक और न सुनें तो भी ठीक। मधुमेह जब तक जिलाए तब तक ठीक, ले जाए तो–राम-नाम सत्य है। न लगकर दवा की, न मन से दुआ मांगी। ऐसों की दुआ कबूल होती भी कहां है ?

जो हो रहा है, होने दो। जो चल रहा है, चलने दो। जो जला है, वह बुझेगा ही। जो खिला है, वह मुरझाएगा ही। आग बुझ जाती है। पानी सूख जाता है। हवा रुक जाती है। सूरज, चाद और सितारे उदय होते हैं और अस्त हो जाते हैं। तब इस नश्वर काया की क्या बात ? धरती पर जो आया है, वह जाएगा ही, तो चिंता क्यों?

परंतु भाई, इस नश्वर देह के जाने पर तुम शोक न करना। अनमोल आंसुओं को न बहाना। मेरी ये पक्तियां याद रखना–

खुशियों को खरीदा है हमने,
सेहत को सदा नीलाम किया,
लमहा वह याद नहीं आता,
जिस वक्त कि हो आराम किया।
रोगों को सहेजा है हमने,
भोगों को नहीं परहेजा है,
गम बांटे नहीं, खुशियां बोईं,
मुस्कान को सब तक भेजा है।

तो शिव के निकल जाने पर शव को देखकर रोना क्या ? खुशियां मनाना कि यह रोगग्रस्त जर्जर देह से व्यास नामक जीवधारी का पिंड छूटा। चलो अच्छा हुआ।

मैं ज्ञानी तो नहीं, पर इतना अवश्य जान गया हूं कि यह जो देह मेरी समझी जाती है, वह मेरी नहीं है। मैं देह नहीं हूं। "ईश्वर-अंश जीवन अविनाशी" हूं। हिन्दू हूं न। शास्त्रों की वह बात संस्कारों में बैठी हुई है कि जीव तो कर्मों के बंधन में जकड़ा हुआ है। कर्मों का नाश जप-तप और साधनों से नहीं होता। वह तो श्रद्धा, भक्ति और अच्युत भगवान के अनुग्रह से संभव है। ज्ञान की बड़ी महिमा है। भगवान कहते हैं कि मुझे ज्ञानी प्रिय हैं। लेकिन उनका यह भी कथन है कि "हम भक्तन के भक्त हमारे।" महात्मा कवि सूरदास के मन में भी यह द्वंद्व था। लेकिन उन्होंने समाधान पा लिया और गाया–

इक माया, इक ब्रह्म कहावत,

'सूरदास' झगरौ।
अबकी बेर मोहि पार उतारौ,
नहिं प्रन जात टरौ।।

ज्ञान और भक्ति के संबंध में एक बड़ा रोचक प्रसंग है। एक साधक मोक्ष-मार्ग को जानने के लिए व्याकुल था। उसके गांव में एक साधु आए। उसने रास्ता पूछा। साधु ने बताया कि "सोऽहम्-सोऽहम्" का जाप करो। कुछ दिन बाद दूसरे साधु आए। उन्होंने कहा—सोऽहम् नहीं, "दासोऽहम्" जपा करो। पहले वाले साधु फिर से घूमते-घामते आ गए। देखा कि चेला तो दासोऽहम्-दासोऽहम् जप रहा है। तो उन्होंने समझाया कि दासोऽहम् नहीं, सदासोऽहम् जपा करो। इसके उत्तर में अंत में भक्तिवादी कह गए—नहीं बच्चा, "सदासोऽहम्" क्या ? "दासदासोऽहम् जपो।" कहने का तात्पर्य यह कि ज्ञान-मार्ग हो या भक्ति-मार्ग, जब तक प्रभु का अनुग्रह प्राप्त नहीं होता, जब तक "पुनरपि जननं, पुनरपि मरणं, पुनरपि जननी जठरे शयनम्।"

ईश्वर क्या है ? बड़ा झमेला है। कोई कहता है कि वह क्षीरसागर में है। कोई कहता है कि वह सातवें आसमान पर है। कोई कहता है कि वह साकेत में है। कोई कहता है कि वह गोलोक मे है। कोई कहता है—"मुझको कहाँ ढूंढ़े बंदे, मैं तो तेरे पास में।" महर्षि अंगिरा कहते है कि ईश्वर तुम्हारे बाईं तरफ है, दाहिनी ओर है, पीठ पीछे है और देखो, वह सामने भी है। बहुत सारी लोकोक्तियां हैं जो कहती है—"मोमें, तोमें, खड्ग-खंभ में व्याप रह्यौ जगदीश।" संत कहते हैं—"पुष्प मध्य ज्यों वास बसत है, मुकुर मध्य ज्यो छांहीं।" ऐसे ही ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है। कोई सूंघे तो सही। कोई झांके तो सही। कोई कहता है कि इस जग-जंजाल से बचने के बाद ही ईश्वर को पाया जा सकता है। तो कोई कहता है "जगत साक्ष्यरूपं नमामः"। कोई कहता है कि हृदयरूपी गुहा में स्थित आत्मा के परमात्मा से मिलन में माया ही सबसे बड़ी बाधा है। यह माया ही मन को चलाती है। मन ही इंद्रियों को आदेश देता है। इंद्रियां ही कर्म करती हैं। इन्हीं कर्मों का फल भोगने के लिए जीव विवश हैं—"माया महाठगनि हम जानी।" लेकिन कुछ ज्ञानियों का कहना है कि माया ही ब्रह्म की आदिशक्ति है। उसी के द्वारा जगदीश्वर निखिल ब्रह्मांड की उत्पति करते है, परिचालन करते हैं और फिर अपनी माया को समेटकर अपने में लीन कर लेते हैं। माया शक्ति है, अनुरक्ति है, भक्ति है, कला और संस्कृति है। वह उमा है, रमा है और शारदा है। है न यह झमेले की बात ?

संत कहते हैं कि ईश्वर को तर्क से नहीं पाया जा सकता। तर्क विवेक नहीं है। लेकिन दुनिया में करोड़ों लोग हैं, उनमें असंख्य चिंतक भी हैं जो मानते हैं कि ईश्वर नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। जो कुछ है, वह प्रकृति है। जो भी जड़-चेतन इस जगत में है, वह प्रकृति के नियमों से बंधा हुआ है। उन नियमों और उनके कारणों को जानकर ही हम व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और जगत का कल्याण कर सकते हैं। सबसे अद्यतन वैज्ञानिक खोज है कि हो न हो, कहीं कोई ज्योति-पुंज अवश्य है। प्रकाश का अक्षय केन्द्र है। उससे ही सृष्टि की उत्पत्ति, विकास और विनाश होता रहता है। उसी से ग्रह या लोक बनते-बिगड़ते हैं, उल्काएं टूटती हैं, सूर्य प्रकाशित होते हैं और ठंडे पड़ते हैं,

ग्रह-नक्षत्र घूमते हैं, उसी एक धुरी पर। अब बताइए, किसकी बात पर विश्वास करें और कैसे उस ईश्वर को प्राप्त करें ? आदमी ने जबसे होश संभाला है, तभी से वह अदृश्य के प्रति जिज्ञासु रहा है। उसने सूर्य को नमस्कार किया। चंद्रमा के दिव्य प्रकाश को नमन किया। वरुण को, पवन को, धरित्री को, अग्नि को पहले ईश्वर माना, बाद में देवता कह दिया। फिर ब्रह्म माना और "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" शुरू हो गई।

मनु के पुत्र की ईश्वरीय रहस्य को भेदने, उसे खोजने और जानने की लगन जारी रही। समुद्र की उत्ताल तरंगों के ऊपर जब उसने नाचती हुई मछली को देखा तो कहा—यही ईश्वर है। जब उसने हिरण्यकश्यप जैसे शक्तिशाली और प्रतापी राजा को एक सिंह जैसे नर द्वारा अपने नखों से विदीर्ण करते देखा, तब बोला—अब समझ में आया, यही ईश्वर है। जब कुठारधारी एक पराक्रमी ब्राह्मण ने इक्कीस बार इस धरती के योद्धाओं (क्षत्रियों) को अकेले पराजित कर दिया, तब उसने शक्ति-पुंज महाबली परशुराम को ही परमेश्वर मान लिया। लेकिन जब परशुराम के तेज को दाशरथी राम ने आत्मसात कर लिया और दण्डकारण्य में अकेले दस हजार आतंकवादियों को धराशायी कर डाला तथा उसके बाद विश्वविजयी, महापराक्रमी लंकाधिपति रावण को परिजन-पुरजन समेत नष्टकर सीता को छुड़ा लिया तो कौशल्या नंदन राम घट-घटवासी हो गए। "उठते राम, बैठते राम, सोते राम, जब बोलो तब रामहि राम, खाली जिम्वा कोने काम।" राम जनजीवन में रम गए। लोगों ने कहा—अरे, यह तो राजा है। पर तुलसीदास ने उत्तर दिया—

जो जगदीश तो अति भलो, जो महीप तौ भाग।
तुलसी चाहत दुहूं विधि, राम-चरण अनुराग।

स्तोत्रों में स्तुति की गई—

राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे,
सहस्रनाम तत्तुल्यं राम नाम वरानने।

लेकिन मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम बारह कलाओं से युक्त रहे। लोकमानस ने श्रीकृष्ण में सोलह कलाओं के दर्शन किए और घोषणा हो गई—"कृष्णस्तु भगवान स्वयं" और कृष्ण ही क्यों, उनका गुणगान करते-करते "व्यासस्तु भगवान् स्वयं बन गए। व्यास-लेखक और संपादक थे तो क्या मैं उस परंपरा में नहीं हूं।

बुद्ध और महावीर को तो भगवान कहा ही गया है। लोकमान्य तिलक भी भगवान कहकर सम्मानित किए गए। बचपन में हम गाया करते थे—"अवतार महात्मा गांधी है, इस गवरमेंट के मारन को।" कहने का तात्पर्य यह है कि जिसमें भी मनुष्य को सत्य, शिव और सुंदर के दर्शन हुए, जो भी शक्तिसंपन्न और तेजोमय लगा, वही भगवान का अवतार मान लिया गया। अवतार क्या, स्वयं भगवान मान लिया गया। स्वय श्रीकृष्ण भगवान कह ही गए हैं—

यद् यद्   श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत् तदेवावगच्छं त्वं मम तेजोंऽश सम्भवम्।

मैंने वेद, उपनिषद, पुराण, गीता, भागवत पढ़े। पढ़े कम, सुने ज्यादा। कुरान और बाइबल भी देख गया हूं। मन को ईश्वर में लगातार लगाने की कोशिश भी की है। यथासमय भजन और मनन भी करता हूं। लेकिन यह निगोड़ा चंचल मन ?

अंत में, जहां तक समझा वह यह कि न मैं लोक को जान पाया, न परलोक को। आत्म-तत्त्व की खोज में लगा हूं, परंतु उसने भी अभी तक परमात्मा तक पहुंचाने में कोई सहायता नहीं की। तो फिर जो होना है, हो। जो नहीं होना है, न हो। सार यही है–

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।"

कर्म किए जाओ। भाव यह रखो कि "यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।" जब कर्म करने का अधिकार हमें मिला है तो क्यों न करें ? जब फल-प्राप्ति पर हमारा वश नहीं है तो उसे लेकर परेशान क्यों हों ? और कर्म ? पाप-पुण्य ? महर्षि व्यास के ये वचन–"परोपकार : पुण्याय, पापाय परपीडनम्।" भला सोचो, भला कहो, भला करो। कोई ऐसा काम न करो जिससे दूसरों को कष्ट पहुंचे।

परंतु महाभारत मे ही कहा है–

जानामि धर्म न च मे प्रवृत्ति
जानामि अधर्म न च मे निवृत्ति।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।।

"मैं धर्म को जानता हूं, परंतु उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं हो पाती। अधर्म और अकर्म को भी जानता हूं, परंतु उनसे निवृत्ति नहीं हो पाती।" मित्रो, यही हाल मेरा भी है--

जनम पाय कछु भलौ न कीनौ,
याते अधिक डरौं।
अब मैं कौन उपाय करौं ?

जिज्ञासाओं का अंत नहीं। पर समाधान का कोई ठिकाना नहीं। इतना अवश्य पता है कि ईश्वर है और अवश्य है। साकार है और निराकार भी है। उसे ग्रहण भी किया जा सकता है–श्रद्धा, भक्ति और प्रेम के द्वारा। उसे समझा भी जा सकता है–सत्-चित और आनंद के रूप में।

उसमे से मैंने आनन्द को पकड़ लिया है–वही मेरे व्यक्तित्व और कृतित्व का केन्द्र है। इसे समझकर जितना कर सकता हू, किया है, और जिया है।

हां, तो मैं कह रहा था कि उन्यासी वर्ष का हो गया। जीवन की अंतिम बेला निकट आ रही है–"सब ठाठ पड़ा रह जाएगा, जब लाद चलेगा बंजारा।" यह पुत्र-कलत्र, यह संपत्ति और संतति सब यही रह जाएंगे। लोग कहते हैं कि साहित्य बचेगा। यह भ्रम है। कालिदास और सूरदास से पहले न जाने कितने कवि हुए हैं, उनका पता नहीं चलता। मेरे देखते-देखते सैकड़ों बहुप्रचारित और बहुप्रसारित साहित्यिक व्यक्तित्व ऐसे लुप्त हुए कि आज उनका कोई नाम भी नहीं जानता। सूर, तुलसी, मीरा और कबीर

आज हैं, कल उनकी प्रासंगिकता रहेगी, यह कौन कह सकता है ? वेदों की रचना जिन ऋर्षियों ने की, उनके नाम किसी को पता हैं ? सारे पुराण, महाभारत, श्रीमद्भागवत, गीता, यहां तक कि वेद भी, उनके रचयिताओं का पता न लगने पर, व्यास के साथ जुड़ गए। अब व्यास को भी उन सबका कर्त्ता नहीं माना जा रहा है। नैमिषारण्य के अठ्ठासी हजार शौनकादिक ऋषि कौन थे, इसका किसी को क्या पता ? तब मैं और मेरा साहित्य क्या पिद्दी और क्या पिद्दी का शोरबा ! लोग कहते हैं कि मैंने हिन्दी व्यंग्य-विनोद में नई जमीन तोड़ी है। यह भुलाए नहीं भूलेगी। इस खुशफहमी के लिए मैं क्या कहूं ? लोग यह भी कहते हैं कि मेरी बनाई और चलाई हुई संस्थाओं से मेरा नाम चलेगा। परंतु मैंने बड़ी-से-बड़ी संस्थाओं को अपने सामने ही ध्वस्त होते देख लिया है। आगे आनेवाले लोगों ने उन संस्थाओं के प्रवर्तकों और परिचालकों के नाम मिटा दिए। कुछ लोगों का कहना है कि मेरी ब्रज और ब्रजभाषा, दिल्ली, हिन्दी और हिन्दी-भवन के निर्माण की सेवाओं को लोग नहीं भूलेंगे। किंतु मैं ऐसे भ्रम नहीं पालता। मैं वर्तमान में जिया हूं। जो करने योग्य मेरे वश के काम मेरे सामने आए हैं, उन्हें हंसते-खेलते किया है। अपने समय में यदि मैं कर्त्तव्य का पालन कर सका तो मेरे लिए यही बहुत है। भविष्य की चिंता न तब थी और न अब है।

हां, तो मैं कह रहा था कि मेरे न रहने पर शोक न करना। मैंने हंसी-खुशी से अपना जीवन गुजारा है। तुम भी हंसी-खुशी से मेरी देह को ठिकाने लगा देना। शोक सभाएं मत करना। हो सके तो हास्य-रस के कवि-सम्मेलन कराना। हिन्दी को आगे बढ़ाने की बात निश्चित करना। भाषा के रूप में नहीं, भारत-वाणी के रूप में। भारतीय संस्कृति के रूप में। भारत की अमर आत्मा के रूप में। अगर मेरे परवर्ती लोग मानें तो मैं यह कहना चाहता हूं कि–

मेरी इस देह को किसी जंगल में फेंक देना, जिससे जीव-जंतु इस मृत शरीर को खाकर कुछ क्षणों के लिए तो आनंद प्राप्त कर सकें–"माटी खाय जिनावरा, महा-महोच्छव होय।" अथवा, जल-जीवों के निमित्त इसे किसी नदी में प्रवाहित कर देना। परंतु लोक-लाज और परंपराओं के कारण यदि ऐसा संभव न हो तो इसे साधारण ढंग से वेद-मंत्रों के साथ अग्नि को समर्पित कर देना। मेरी कर्मकांड में रुचि नहीं है, न पिंडदान में, न शय्या-दान में और न मृतकभोज में। शव से दूषित घर को, शरीर को, वस्त्रों को स्वच्छ करना और देह की नश्वरता का स्मरण करते हुए षट्कर्म करना, प्यारे भाई ! ओम शांति !

करी गोपाल की सब तोय।
जो अपनौ पुरुषारथ मानत अति झूठौ है सोय।।
जप-तप जन्त्र-मन्त्र बल-साधन ये सब डारौ धोय।
'सूरदास' भगवंत-भजन में मन राखौ नित पोय।।

■■■